समर्पण

श्रद्धेय गुरुवर

हृदयनारायण सिंह जी, एम० एल० सी०

के

कर-कमलों में सादर समर्पित

—त्रिभुवन सिंह

हिन्दी उपन्यास के आलोचना-क्षेत्र में तात्विक एवं प्रौढ़ आलोचकों का अभाव सदैव खटकता रहा है। मुझे यह सूचित करते अत्यन्त हर्ष हो रहा है कि हमारे प्रतिमा-सम्पन्न आलोचक डा० त्रिभुवन सिंह ने अपनी अध्ययनशीलता, विचारकता एवं साहित्य-विश्लेषण की अभूतपूर्व क्षमता द्वारा इस अभाव की प्रशंसात्मक पूर्ति की है। लेखक की इस कृति पर राज्य-सरकार की ओर से ५००) का जो पुरस्कार प्रशंसा एवं सम्मान के साथ प्रदान किया गया है, उससे पाठक अनभिज्ञ न होंगे। लेखक अपनी अन्य कृतियों 'आधुनिक हिन्दी कविता की स्वच्छन्द धारा', 'दरबारी संस्कृति और हिन्दी मुक्तक' तथा 'महाकवि मतिराम और मध्यकालीन हिन्दी कविता में अलंकरण वृत्ति' पर भी राज्य सरकार की ओर से पुरस्कार एवं सम्मान से विभूषित हुआ है।

प्रस्तुत पुस्तक भारत के कई विश्वविद्यालयों के एम० ए० और बी० ए० परीक्षा के सहायक ग्रन्थ के रूप में स्वीकृत हो चुकी है। शिक्षा-संस्थाओं एवं साहित्य-मर्मज्ञों ने जिस उत्साह एवं प्रशंसा से इस कृति का स्वागत किया है, लेखक की ओर से हम उनके आभारी हैं। लेखक की इस कृति का संशोधित एवं परिवर्द्धित चतुर्थ संस्करण पाठकों के सम्मुख उपस्थित किया जा रहा है। आशा और अनुमान के पूर्व ही तृतीय संस्करण जिस शीघ्रता से समाप्त हो गया वह पाठकों की रुचि एवं सराहना का द्योतक है। आशा है चतुर्थ संस्करण द्वारा सहृदय पाठकों का और भी रुचिवर्द्धन होगा।

—प्रकाशक

लेखक की कृतियाँ

१. रोदन (काव्य)
२. नये स्वर (काव्य)
३. हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद (समीक्षा)
४. आधुनिक हिन्दी कविता की स्वच्छन्द धारा (समीक्षा)
५. दरबारी संस्कृति और हिन्दी मुक्तक (समीक्षा)
६. महाकवि मतिराम और मध्यकालीन हिन्दी कविता में अलंकरण वृत्ति (शोध ग्रन्थ)
७. ऐतिहासिक उपन्यास की सीमा और बाणभट्ट की आत्मकथा (समीक्षा)

कविता यथार्थवाद की उपेक्षा कर सकती है,
संगीत यथार्थ को छोड़ कर भी जी सकता है,
पर उपन्यास और कहानी के लिये यथार्थ प्राण है।

—हजारीप्रसाद द्विवेदी

संस्तुति

साहित्यिक कृतित्व एवं-विषयगत रचनाओं की संख्या का यदि विचार किया जाय तो आधुनिक युग को हम आलोचना का युग कहेंगे। सामान्य परीक्षोपयोगी कुञ्जियो और निम्न स्तर के बाजारू नोटो का जैसा प्रचलन आज दिखाई पड़ रहा है वे सब समीक्षा के नाम से चलें भले ही, पर उसके गम्भीर और दायित्वपूर्ण लक्ष्य से सर्वथा भिन्न और उसके निम्नतम स्वरूप की विकृति मात्र कहे और माने जायेंगे। वस्तुतः इस प्रकार की पुस्तकों को आलोचना के अन्तर्गत नही लेना चाहिए और यदि हो सके तो उनकी बाढ़ को रोकना ही हितकर होगा :—शैक्षणिक सौन्दर्य के विचार से भी और अध्ययन के आधार पर भी। जहाँ एक ओर बरसाती बाढ़ के कूड़ाकर्कट का यह प्रसार फैला है वहाँ अनेकानेक रंग-ढंग की उच्चस्तरीय समीक्षा की दिव्य कृतियाँ भी प्रभूत मात्रा में सामने आ रही हैं। यथार्थ में आलोचना के शुद्ध स्वरूप की प्रतिष्ठा में इन्हीं तत्वाभिनिवेशमयी रचनाओ का योग मानना चाहिए और इन्हें ही हिन्दी साहित्य के आधुनिक समीक्षादर्श का प्रामाणिक स्तर स्वीकार करना चाहिए।

इस द्वितीय कोटि की कृतियों में आनेवाली जो रचनाएँ आज प्रकाशित हो रही हैं उनमें आधुनिक हिन्दी आलोचना को निखार मिल रहा है। वाणी के अनेक वरद पुत्रों में व्यावहारिक और सैद्धान्तिक समीक्षा के सच्चे रूप का सन्तोषप्रद विकास दिखाई पड़ता है। यो तो इतना सत्य ही है कि सिद्धान्त पक्ष के आलोड़न में जैसा तत्वाभिनिवेश दिखाई पड़ना अधिक श्रेयस्कर हो सकता है उतना नहीं हो पा रहा है और सामान्यतः लोग व्यवहारगत विशेषताओं की ओर अधिक झुक पड़ते हैं, पर उसे युग की आकांक्षा मानकर स्वीकार करना चाहिए। इस व्यावहारिक समीक्षा के प्रसार से साहित्य के भीतर प्रवेश का अवसर अधिक सरल और स्वस्थ हो जाता है, साथ ही नवीन साहित्यप्रेमी को प्रामाणिक दृष्टिकोण पाने का सुखद अवसर भी मिलता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ ने इस प्रकार के स्वस्थ दृष्टिकोण के निर्माण में बड़ा उपयोगी कार्य किया है। इधर कई वर्षों में इस कृति को जैसा प्रसार और महत्त्व मिला है उससे उसकी उपादेयता और योग्यता दोनों सिद्ध है। हिन्दी उपन्यास का भण्डार जैसा परिष्कार

श्रीर वृद्धि पा रहा है उसका चिन्तन श्रौर श्राकलन-पक्ष भी उतना ही स्वस्थ श्रौर पूर्ण हो तभी कारयित्री श्रौर भावयित्री प्रतिभा का संयुक्त स्वरूप गतिमान बन सकेगा। 'हिन्दी उपन्यास श्रौर यथार्थवाद' हिन्दी उपन्यास-साहित्य पर लिखी एक प्रामाणिक श्रालोचनात्मक कृति है। विश्वविद्यालयों के अध्ययन-अध्यापन-क्षेत्र में प्रस्तुत पुस्तक ने श्रद्भुत लोकप्रियता प्राप्त की है। यथार्थवादी दृष्टि से हिन्दी उपन्यासों की गम्भीर एवं संतुलित समीक्षा प्रस्तुत करने में लेखक को पूर्ण सफलता मिली है। अनेक दृष्टियों से 'हिन्दी उपन्यास श्रौर यथार्थवाद' अपने ढंग की उत्तम कृति है। इसमें सन्देह नहीं, इस ग्रन्थ ने हिन्दी उपन्यासों के अध्ययन में नवीन दृष्टिकोण का समर्थ सुझाव दिया है। डा० त्रिभुवन सिंह नई पीढ़ी के आलोचकों में जिस मार्मिकता से आगे बढ़ रहे हैं उससे इन पंक्तियों के लेखक को जितना सन्तोष हो रहा है उतना ही गर्व भी।

श्रौरंगाबाद, काशी
१०।४।६५

जगन्नाथप्रसाद शर्मा
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

भूमिका

हिन्दी उपन्यासों का जन्म उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम बीस-पच्चीस वर्षों में हुआ था। उस समय तक पश्चिम में इस साहित्य-रूप ने पूर्ण विकास प्राप्त कर लिया था और अंगरेजी साहित्य से प्रभावित हो बँगला में धड़ाधड़ उपन्यास निकल रहे थे। पड़ोसी बंगाल की इस साहित्यिक हलचल से भारतेन्दुयुगीन साहित्यकार भी परिचित और प्रभावित हो रहे थे और हिन्दी में भी उपन्यास लिखे जाने की आवश्यकता प्रतीत होने लगी थी। १८७३ ई० में सबसे पहले गदाधर सिंह ने बँगला से दो उपन्यासों का हिन्दी में अनुवाद किया और १८७५ ई० में राधाकृष्ण दास ने 'नाटकोपन्यास' नामक पाक्षिक पत्रिका के प्रकाशन का विज्ञापन प्रकाशित कराया जिसमें हिन्दी में नाटक और उपन्यास लिखने की प्रेरणा देने के लिए बँगला से अनूदित कर नाटक और उपन्यास प्रकाशित करने की योजना थी। यद्यपि इस योजना को कार्यान्वित नहीं किया जा सका, फिर भी बँगला से अनूदित उपन्यास 'भारतेन्दु पत्रिका' में धारावाहिक रूप से निकलने लगे और अनेक मौलिक तथा अनूदित उपन्यास प्रकाशित भी होने लगे, जिससे धीरे-धीरे लोगों में उपन्यास लिखने और पढ़ने की रुचि जाग पड़ी।

हिन्दी में उपन्यास बँगला के माध्यम से ही आया इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। स्वर्गीय पंडित माधवप्रसाद मिश्र ने स्पष्ट शब्दों में लिखा था :

"जो हो, रिक्तहस्ता हिन्दी ने बँगला के सद्यः पूर्ण भंडार से केवल 'उपन्यास' शब्द ही को ग्रहण नहीं किया वरंच इसका बहुत-सा उपकरण भी इस लघीयसी को उसी महीयसी से मिला है। हिन्दी के प्राणप्रतिष्ठाता स्वयं भारतेन्दु जी ने बँगला के उपन्यासादि के अनुवाद से हिन्दी के भंडार में वृद्धि की और उनके पीछे स्वर्गीय पंडित प्रतापनारायण मिश्र जी ने भी इसी मार्ग का अनुसरण किया। इसके साथ ही उक्त महानुभावों ने कृतज्ञतावश यह भी स्वीकार किया है कि जब तक हिन्दी भाषा अपनी इस बड़ी बहन बँगला का सहारा न लेगी, तब तक वह उन्नत न होगी।"[1]

परन्तु हिन्दी उपन्यास मूलतः पश्चिम की देन है जो बँगला से छनकर आया था। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अंगरेजी शिक्षा के प्रचार और प्रसार से जहाँ पश्चिमी विचार-धारा, पश्चिमी रहन-सहन और पश्चिमी वेशभूषा का चलन बढ़ रहा था, वहाँ पश्चिम के नए साहित्य-रूपों का भी हिन्दी में प्रचार होने लगा था और उपन्यास उन नए साहित्य-रूपों में सर्वप्रमुख था।

---

१. [माधव मिश्र निबंधमाला का प्रथम संस्करण, चतुर्थ खंड-साहित्य—उपन्यास और समालोचक, पृ० १००-१०१।

हिन्दी-उपन्यासों का जहाँ एक ओर बड़ी धूमधाम से स्वागत और प्रचार हो रहा था वहाँ इसके विरोधियों की संख्या भी कम नहीं थी। कुछ लोगों का अनुमान था कि पश्चिमी वेश-भूषा के समान यह पश्चिमी साहित्य-रूप भी भारतीय जलवायु के अनुरूप नहीं और इसके प्रकाशन पर रोक लगाये बिना उगती पीढ़ी के चरित्र-भ्रष्ट होने की पूरी आशंका बनी रहेगी। शास्त्रीय और सात्विक ग्रन्थों के पढ़ने में परिश्रम अधिक पड़ता है, इसलिए पढ़े-लिखे आलसी उपन्यास की ओर टूट पड़ते हैं जिससे एक ओर तो वे ज्ञान-सम्पादन नहीं कर पाते, दूसरी ओर सस्ते उपन्यासों से उनमें काम-प्रवृत्ति और विकार की वृद्धि होती है। ब्रह्म, आत्मा और माया की जिज्ञासा में मग्न रहनेवाले भारतीयों को तिलस्मी, ऐयारी, चक्करदार चोरी और विलासिता के पंक में फँसते देख कितने ही मनीषी व्याकुल हो उठे थे। परन्तु दीपक पर जैसे शलभ टूट पड़ते हैं वैसे ही उपन्यासों पर साधारण जनता टूटी पड़ रही थी। अस्तु, कुछ उपन्यास-लेखक पाठकों के नैतिक पतन की रक्षा के लिए ऐसे शिक्षाप्रद उपन्यासों की सृष्टि में लग गए जिनमें हिन्दू समाज के नियमों की रक्षा की गई हो। लज्जाराम मेहता ने इसी विचार से 'आदर्श हिन्दू,' 'आदर्श गृहस्थ' आदि उपन्यासों की रचना की। ईश्वरीप्रसाद शर्मा ने 'मागधी कुसुम वा सरला सुन्दरी' की भूमिका में लिखा है :

"अन्ततः यह कहना यहाँ परमावश्यक है कि इस पुस्तक को लिखने में बड़ी शीघ्रता की गई ... तो भी हिन्दी के उपन्यासों में जिस प्रकार हिन्दू समाज के नियमों को लात मारी जाती है वैसा इस उपन्यास में नहीं किया गया है और ग्रन्थकार की इस ओर दृष्टि बराबर रही है कि उसके उपन्यास में हिन्दू समाज के नियम का उल्लंघन न होने पावे।"

हिन्दी उपन्यासों में हिन्दू समाज के नियमों का किस प्रकार उल्लंघन हो रहा था, इसका भी निर्देश लेखक ने अपने एक उपन्यास "स्वर्णमयी वा जैसी करनी वैसा भरनी" (१९१०) में किया है। उपन्यास के सातवें बयान में 'विवाह' शीर्षक देकर लेखक लिखता है :

"हमारे बहुतेरे पाठक 'विवाह' यह हेडिंग देखकर चौंकेंगे; हमें बड़ा बेवकूफ समझेंगे, कहेंगे, 'अभी ही यह हेडिङ्ग क्यों दिया गया? अभी तो ग्रन्थ अधौरे पर भी नहीं आया और विवाह की सूझी। यार! क्या ऐसे ही उपन्यास लिखना होता है? जरा चटपटी चुलबुली नायिका हो, सुन्दर सलोना नायक हो; कुटनियों की कूट, ऐयारों की ऐयारी, माशूक-आशिक के चोचले हों, तिलस्म की पेंचदार कथा हो, तब उपन्यास की बहार होती है। अंग्रेजों की तरह वर्षों कोर्टशिप होने पर विवाह होना है! नायक-नायिका का प्रेम हुआ ही नहीं और चले विवाह की तैयारी करने! वाह रे उपन्यास लेखक!! धिक्!!![1]

---

१. स्वर्णमयी, पृ० १८।

कुछ आगे चलकर लेखक लिखता है :

"हमारे पाठक यदि ऐसे उपन्यासों के शौकीन हों तो इस उपन्यास को आले पर रख दें और मुझे जली-कटी सुनावें मैं चूँ भी नहीं करूँगा। परन्तु जो पाठक सीधे-साधे हिन्दू गृहस्थ की कथा पढ़ना चाहते हैं वे इसका चाहें तो पाठ कर सकते हैं।"[1]

-इसीलिए लेखक ने भूमिका में पहले ही लिख दिया है कि—

"ग्रन्थ किसी अन्य भाषा का न तो अनुवाद और न छाया है एवं असम्भव तथा अतिरंजित बातें भरने के बदले उपयोगी और शिक्षाप्रद विषयों का ही सन्निवेश किया गया है। पतिव्रता का पति-प्रेम, पाप का परिणाम, मैत्री का नमूना आदि बातें अच्छी तरह सरल भाषा में दिखाने की चेष्टा की गई है।"

अस्तु, प्रेमचन्द के हिन्दी क्षेत्र में पदार्पण करने से पूर्व हिन्दी उपन्यासों का मूल उद्देश्य या तो जनता का मनोविनोद था, अथवा जनता का सुधार। अधिकतर लोग उपन्यास को केवल मनोविनोद का साधन समझते थे। इसीलिये गोपालराम गहमरी ने उपन्यास की विवेचना बड़े मनोरंजक ढंग से इस प्रकार की थी :

"दीनदयाल एक दिन माघ में सारी रात जाड़े के मारे ठिठुरा पड़ा था, प्रातःकाल होते ही धूप में आ बैठा है। इधर की दुनिया उधर हो जाय पर यह अब यहाँ से टलने वाला नहीं। लाला किशोरीमल अपने पड़ोसी की बैठक में बैठे शतरंज खेल रहे हैं। दाई ने घर में आकर कहा, 'लाला, घर में आग लग गई है, जल्दी चलो।' लाला घोड़े को उठाकर बोले, 'ऐं क्या कहा, आग लगी है, अच्छा, यह लो घोड़े की किश्त'। तात्पर्य यह कि जब तक कोई पक्ष मात न हो लेगा, लाला उठने को नहीं—घर जल के राख हो जाय तो हो जाय। नन्हकू अभी दोनों हाथों से संघ की दाद खुजला रहा है, ऐन ऐसे ही समय में इनके दादाजी खड़ाऊँ खटखटाते चले आते हैं। नन्हकू बोले, 'भली, शायत पहुँनीं, लो अब दादा जी जो चाहें समझें पर बन्दा तो खुजलाना नहीं छोड़ता है।' उपन्यास भी ठीक ऐसे ही पदार्थों में से एक है।[2]

कहने का तात्पर्य यह कि उपन्यास शतरंज के नशे के समान मनोरंजन और विलास का एक साधन मात्र है जो मनुष्य को बेकार बना देता है इसीलिए प्रेमचन्द से पूर्व उपन्यास को साहित्य क्षेत्र में 'अछूत' ही समझा जाता था और जनता में उपन्यासों की लोकप्रियता चाहे जितनी रही हो, साहित्य क्षेत्र में उनका प्रवेश निषिद्ध था।

प्रेमचन्द ने पहले-पहल हिन्दी उपन्यासों को कलात्मक रूप दिया और उन्होंने ही हिन्दी में सबसे पहले उपन्यास को 'मानव-जीवन का चित्र' स्वीकार किया। उपन्यास तत्कालीन युग के मानव-जीवन का चित्र हुआ करता है और वह चित्र जितना ही

१. स्वर्णमयी, पृ० १६। २. समालोचक, अक्टूबर १६०२, पृ० २०।

स्वाभाविक और यथार्थ होगा उतना ही वह सुन्दर और प्रभावशाली होगा। इस कारण उपन्यासों का प्राण उसकी स्वाभाविकता और यथार्थवाद है। प्रेमचन्द जी ने पहले-पहल यथार्थवादी उपन्यासों की सृष्टि की और 'सेवासदन' हिन्दी उपन्यासों के कलात्मक विकास की पहली मंजिल है।

परन्तु यथार्थवाद क्या है इसको भी समझ लेना आवश्यक है। यथार्थवाद आधुनिक विज्ञान युग की देन है। यों तो जीवन सर्वदा से ही प्रायः एक ही प्रकार का चला आ रहा है, परन्तु उसको निकट से देखने की दृष्टि विज्ञान ने ही पहले-पहल दी। पानी हम सदा से पीते रहे हैं और सबका प्रयास यही रहा करता है कि स्वच्छ और निर्मल जल पान करें। प्रसिद्ध भी है 'पानी पीजे छानकर' परन्तु आज कपड़े से छानने से भी जल स्वच्छ नहीं हो पाता; हाँ स्थूल चर्म-चक्षुओं से चाहे वह जितना भी स्वच्छ जान पड़े। कारण यह है कि विज्ञान ने हमें लघुवीक्षण यंत्र (Microscope) द्वारा दिखला दिया है कि स्वच्छ से स्वच्छ जल में भी कीटाणुओं की संख्या गणनातीत हुआ करती है। यही लघुवीक्षण यथार्थ दृष्टि है। इसीलिए प्रसाद जी ने यथार्थवाद की परिभाषा देते हुए कहा था कि 'लघुता की ओर साहित्यिक दृष्टिपात ही यथार्थवाद है।' आज के यथार्थवादी उपन्यास में इसी लघुता की ओर दृष्टिपात होता है। परन्तु इस लघुता की नाप तोल क्या है? प्रसाद जी के कंकाल उपन्यास में यह लघुता कहाँ है जिस पर लेखक ने दृष्टिपात किया? यह लघुता श्रीचन्द्र की व्यवसाय-बुद्धि को कहें या देव-निरंजन के स्खलन को, तारा की कष्टसहिष्णुता को कहें या घंटी के उन्मुक्त हास को, विजय की उच्छृङ्खल प्रवृत्तियों को कहें या मंगलदेव के जीवन के विविध आरोह और अवरोह को। वास्तव में प्रसाद जी का लघुता की ओर दृष्टिपात समाज के ऊपरी विधि-निषेध के भीतर छिपे हुए उस कंकाल की ओर दृष्टिपात है जहाँ सब समान हैं। परन्तु प्रेमचन्द का यथार्थवाद इनसे कुछ भिन्न है। उनका यथार्थवाद जीवन के व्यापक क्षेत्र की ओर दृष्टिपात करता है, उस व्यापक क्षेत्र की ओर जहाँ एक ओर होरी और धनियाँ हैं तो दूसरी ओर राजा साहब और रायसाहब, एक ओर झुनियाँ और गोबर हैं तो दूसरी ओर मालती और मेहता हैं। मध्यकाल में साहित्य जहाँ राधा और कृष्ण, राम और सीता, शिवाजी और छत्रसाल, पद्मावती और रतनसेन पर दृष्टि डाल पाता था वहाँ आधुनिक युग का यथार्थवादी साहित्य सिलिया चमाइन[१] कादिर मियाँ[१], भैरो पासी[३], नायकराम पण्डा[३], ठाकुरदीन तमोली[३], जगधर खोंचेवाला[३], ताहिर अली मुंशी[३], सूरदास चमार[३] और सलोनी[४] से लेकर डिप्टी ज्वाला सिंह, जस्टिस एम० दयाल[५], जमींदार रामनाथ तिवारी[६], क्रान्तिकारी जितेन्द्र[७] और लखपती शिवकुमार सेठ तक

१. गोदान। २. प्रेमाश्रम। ३. रंगभूमि। ४. कर्मभूमि। ५. त्यागपत्र। ६. टेढ़े मेढ़े रास्ते। ७. विवर्त। ८. आखिरी दाँव।

सबके जीवन पर अपनी सूक्ष्म दृष्टि डालता है। साहित्य के उपादान और उपकरणों की यह व्यापकता और विशालता, यह सीमातीत विस्तार भी आधुनिक यथार्थवाद की एक विशेषता है।

परन्तु यथार्थवाद की सबसे बड़ी विजय उसका 'आन्तरिक अभियान' है जो आधुनिक वैज्ञानिक युग की ही देन है। पहले हम समझते थे कि देखना केवल आँख से ही होता है और सुनना भी केवल श्रवण का उत्तरदायित्व है, परन्तु आज के मनोविज्ञान ने बताया कि देखना और सुनना केवल आँख और कान का ही काम नहीं है, मन के सहयोग बिना वे नितान्त व्यर्थ हैं। यदि आपका मन कहीं दूर देश में रम रहा है तो आँख कान रहते भी आप न सामने से आती साइकिल देख सकेंगे न उसकी अनवरत घंटी की पुकार को सुन सकेंगे और आपको अंधे-बहरे की उपाधि ही नहीं कुछ और भी दण्ड देना पड़ सकता है। बिना मन के सहयोग के आँख ज्योति रहते भी नहीं देख सकती, कान निर्दोष होकर भी सुन नहीं सकते। प्रेमचन्द से पूर्व उपन्यासों में हमें हाथ, पैर, कान, आँख की ही करामात अधिक मिलती है, हाँ उसमें बुद्धि का कुछ योग अवश्य है, परन्तु वहां मन की करामात कम ही मिलती है। आधुनिक यथार्थवादी उपन्यासों में बाह्य इन्द्रियों का कम परन्तु मन की करामात ही अधिक मिलती है। मन की जादूगरी से आधुनिक उपन्यासों में आभ्यन्तरिकता की जो एक झलक आ जाती है उससे चरित्रों के प्रति पाठकों का विश्वास जम जाता है। ये चरित्र पाठकों को अधिक निकट और विश्वस्त जान पड़ते हैं, कारण यह है कि वे चरित्र के भीतर पैठकर उनका अन्तःप्रदेश तक झाँक आते हैं जिससे न कोई गोपनीयता रह पाती है, न कोई रहस्य। ऐसे ही चरित्रों को वे यथार्थ मान सकते हैं और ऐसे चरित्रों का ही उन पर प्रभाव पड़ सकता है। इसी कारण आधुनिक उपन्यासों के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की इतनी धूम है।

परन्तु इस मनोवैज्ञानिक विश्लेषण में एक कठिनाई भी है। मन पर वातावरण का प्रभाव पड़ता अवश्य है, परन्तु कुछ मन ऐसे भी होते हैं जिन पर इस प्रकार का प्रभाव पड़कर भी नहीं पड़ पाता जहाँ मन विवेक के शासन में रहता है। यथार्थवादी उपन्यासों में ऐसे चरित्रों के लिए कम ही स्थान रहता है जिनका मन विवेक से अनुशासित है। इसीलिए यथार्थवादी उपन्यासों में प्रायः ऐसे ही चरित्रों का बाहुल्य होता है जो दुर्बल हैं, जो अस्थिरचित्त हैं, जो प्रायः विवेकभ्रष्ट हो जाते हैं। इसी कारण प्रेमचन्द ने एक नए यथार्थवाद की उद्भावना की थी 'जिसे उन्होंने 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' की संज्ञा दी। यों देखने में यह विरोधाभास जान पड़ता है और कहीं-कहीं इसमें अस्वाभाविकता की भी झलक मिलने लगती है, परन्तु साधारण पाठकों के मानसिक स्वास्थ्य के लिए उसकी अनिवार्य उपयोगिता की बात कभी रुचिकर

अपनी ओर से—

पहली बार

प्रस्तुत पुस्तक में विवेचना के लिये मैंने जिस साहित्य अंग को चुना है वह इतना व्यापक तथा गतिशील है कि उसे निश्चित सीमा के अन्दर बांध देना सम्भव नहीं। आधुनिक काल में उपन्यास साहित्य की उपादेयता तथा लोकप्रियता इतनी बढ़ गई है कि अन्य रचनात्मक साहित्य-अंगों में उपन्यासों की वृद्धि अपेक्षाकृत अधिक हो रही है। इस विकासशीलता के कारण हिन्दी उपन्यास-साहित्य की आज जो सीमा है, वह कल नहीं रहने की। जिससे मैं कदापि दावा नहीं कर सकता कि यथार्थ की प्रवृत्तियों को दिखलाने के लिए मैंने आधुनिकतम उपन्यासों को दृष्टि में रखा है, किन्तु इतना तो अवश्य कह सकता हूँ कि नवीनतम विकसित प्रवृत्तियों को लेकर लिखे जाने वाले उपन्यासों की उपेक्षा भी इसमें नहीं की गई है। कुछ ऐसे उपन्यास जो यथार्थवादी किसी निश्चित प्रवृत्ति के अन्दर नहीं लाए जा सकते किन्तु यथार्थता के निकट आये हैं, उनकी चर्चा पुस्तक के अन्त में परिशिष्ट जोड़कर कर दी गयी है।

जिन महानुभावों की प्रेरणा और आशीर्वाद से मुझमें कुछ लिखने-पढ़ने की शक्ति आई है उन आदरणीय गुरुवर शिवनारायण श्रीवास्तव तथा श्रद्धेय गुरुवर श्रीपालसिंह जी 'क्षेम' का आभार क्या शब्दों में प्रकट किया जा सकता है? इस पुस्तक को प्रकाशित देखकर भाई रूपनारायणजी त्रिपाठी, 'अमर', प्रिय चन्द्रकान्ता तथा 'ज्ञान' को कितनी प्रसन्नता होगी मैं नहीं कह सकता। मैं नहीं समझ पा रहा हूँ कि प्रिय कमला का आभार किन शब्दों में प्रकट करूँ जो मुझसे निरन्तर लिखने का आग्रह करती रही है।

प्रस्तुत पुस्तक के प्रणयन में मुझे जो सहायता श्रद्धेय गुरुवर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी से मिली तथा आदरणीय गुरुवर डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा के जिन सुझावों का लाभ मैंने उठाया है क्या उनके प्रति कृतज्ञता प्रकाशन करूँ......श्रद्धावनत रहूँगा। प्रो० नामवर सिंह से जो सहायता मिली है तथा अंग्रेजी साहित्य की प्रवृत्तियों को समझने में आंग्ल भाषा के समर्थ-पंडित डा० रामअवध द्विवेदी ने योग दिया है और जिन साहित्यकारों, मित्रों तथा पुस्तकों से उपकृत हुआ हूँ और उल्लिखित नहीं कर पा रहा हूँ, किस प्रकार भुला दूं समझ में नहीं आ रहा है।

प्रो० विजयशंकर मल्ल ने पुस्तकों और आवश्यक सुझावों से मेरी बड़ी सहायता की है तथा उन्हीं की कृपा का यह परिणाम है कि यह पुस्तक पाठकों के हाथ इस रूप में

जा रही है। प्रो० साहब का मेरे ऊपर जो स्नेह है उसकी तुलना में आभार-प्रकाशन, कोई मूल्य नहीं रखता।

इस पुस्तक की प्रेरणा मुझे एम० ए० की परीक्षा में प्रस्तुत किये गये 'प्रेमचन्द और प्रेमचन्दोत्तर उपन्यास-साहित्य में यथार्थवाद' नामक मेरे ही प्रबन्ध से मिली जिसकी साहित्यिक साधना गुरुवर डॉ० श्रीकृष्णलाल जी की देख-रेख में सम्पन्न हुई थी, और उन्हीं की ही प्रेरणा के कारण इसे यह रूप भी दे सका हूँ। अत्यधिक व्यस्त रहने पर भी समय-समय पर डा० साहब ने यदि दिव्य दृष्टि न दी होती और पुस्तकों और सुझावों का कोष मेरे लिए न खोल दिया होता तो इस ग्रंथ के इस रूप में सम्पन्न होने में सन्देह ही था। डॉ० साहब ने इसका प्रत्येक शब्द पढ़ा है और अपने अमूल्य सुझावों के कारण इसे सम्भावित त्रुटियों से बहुत कुछ बचा लिया है। इतना ही नहीं, बल्कि अस्वस्थ रहने पर भी अत्यन्त कष्ट उठाकर डा० साहब ने विस्तृत भूमिका लिखकर मेरी इस कृति को गौरवान्वित किया है; मैं किसी भी प्रकार का आभार प्रकट करना डा० साहब के सम्मान के प्रतिकूल समझता हूँ......धृष्टता नहीं करूँगा। मैं अपनी इस कृति को उन्हें ही समर्पित कर, जो उनकी ही है, डा० साहब के गुरु ऋण का मूल्य घटाना नहीं चाहता जिससे उऋण होने के लिए श्रेष्ठतर ग्रन्थ अपेक्षित है।

पुस्तक का प्रकाशन इतनी शीघ्रता में हुआ है कि जिससे इसमें सम्भावित त्रुटियों का आ जाना स्वाभाविक है। इतनी बड़ी पुस्तक को बारह दिनों में ही यह रूप दे देना श्री कृष्णचन्द्र जी बेरी तथा पं० सुधाकरजी का चमत्कार ही है जिसके लिए धन्यवाद के शब्द अत्यन्त ओछे होंगे। इसके अतिरिक्त भाई अमरनाथ ने मेरी पाण्डुलिपि की जो टाइप प्रतिलिपि तैयार की उसके लिए मैं अत्यन्त आभारी हूँ।

खानजहाँपुर
८ नवम्बर, सन् १९५५ ई० } —त्रिभुवनसिंह

दूसरी बार

'हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद' का द्वितीय संस्करण संशोधित एवं परिवर्द्धित रूप मे सहृदय पाठकों के पास जा रहा है। लिखते हुए मैं प्रत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव कर रहा हूँ कि हिंदी के शीर्षस्थ विद्वानों से लेकर सहृदय पाठकों तक ने पुस्तक का आशा से अधिक आदर किया है। एक वर्ष के भीतर ही पुस्तक के प्रथम संस्करण के समाप्तप्राय हो जाने के कारण मैं इसे उतना निर्दोष न बना सका जितना मैं चाहता था मेरे एक मित्र प्रो० पारसनाथ सिंहजी ने सुझाव दिया था कि द्वितीय संस्करण मे पुस्तक का यदि आकार कम हो जाय तो कुछ बुरा न होगा पर सिद्धान्त पक्ष पर ही अधिक बल दिया जाय। अनेक कठिनाइयों के कारण जिसमें पाठकों एवं समीक्षकों का आग्रह प्रधान है, मैं पुस्तक का आकार न घटा सका बल्कि मुझे कुछ और बढ़ाना ही पड़ा। हिंदी उपन्यासों की नवीन उपलब्धियों में सम्पर्क बनाये रखने के कारण परिशिष्ट का विस्तार हो गया है जिसमें कुछ उपन्यासों के नाम तो केवल सूचनार्थ ही दे दिये गये हैं। आशा करता हूँ कि मेरे मित्र भाई पारसनाथ सिंह जी मेरी कठिनाइयों को देखते हुए मुझे क्षमा करेंगे। उन पाठकों को दृष्टि में रखते हुए जो हिंदी उपन्यास के विकास-क्रम से परिचित होना चाहते है पुस्तक के परिशिष्ट भाग में हिन्दी के प्रमुख उपन्यासों का रचना-काल भी दे दिया गया है क्योंकि विशेष प्रवृत्ति को सामने रखकर लिखी इस पुस्तक में उपन्यास का पूर्ण ऐतिहासिक विकास दिखाना सम्भव नहीं था।

प्रस्तुत संस्करण में यदि कुछ विशेषताएँ आ सकी हैं तो वे उन महानुभावों के कारण जिन्होंने अपने बहुमूल्य लिखित अथवा अलिखित सुझावों से मुझे लाभान्वित किया है। उनके प्रति कृतज्ञताज्ञापन के सिवा और मैं कर ही क्या सकता हूँ। अपने गुरुजनों को छोड़कर सबसे अधिक बल इसे समृद्ध बनाने में जिससे मिला है वे हैं डा० रामकुमार वर्मा (रीडर इलाहाबाद युनिवर्सिटी) जिन्होंने न कि केवल अपनी लिखित सम्मति ही भेजी बल्कि मौखिक प्रोत्साहन भी दिया जिसके लिये आजीवन आभारी रहूँगा। नवीन उपलब्धियों द्वारा जो मैं प्रस्तुत पुस्तक को समयानुकूल बना पाया हूँ उसके लिए भाई मुदमंगल सिंह जी एम० ए० बधाई के पात्र हैं, जिसकी उन्होंने कभी कामना नहीं की। बूँद और समुद्र पर दिये गये विचार तो पूर्णतः उनके ही हैं। श्रीमती विमल प्रतिभा की मूक कामना ही ग्रंथ का परिवर्द्धित स्वरूप है। श्री पं० रामचन्द्र जी त्रिपाठी आचार्य ने प्रथम संस्करण के कतिपय मुद्रण सम्बन्धी दोषों को सुधारा है जिसके लिये वे बधाई के पात्र है। मेरे सहयोगी अनेक मित्र बधाई के कम अधिकारी नहीं हैं जिन्होंने संयुक्त प्रयास द्वारा पुस्तक की अनुक्रमणिका तैयार की है।

प्रथम संस्करण से भी अधिक उतावली में पुस्तक का प्रकाशन हुआ, जिससे कुछ स्थल तो बिना मेरे देखे ही छापने पड़े हैं जिसमें समयाभाव तथा मेरे शीत ज्वर में पीड़ित होने का विशेष हाथ है। यदि कतिपय मुद्रण संबंधी त्रुटियाँ रह गई हों तो सहृदय पाठकों से क्षमा-प्रार्थी हूँ।

मैं 'भारत' के उन अनेक विश्वविद्यालयों का सबसे अधिक आभारी हूँ जिन्होंने 'हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद' को अपने यहाँ बी० ए० तथा एम० ए० के पाठ्यक्रम में सहायक ग्रन्थ के रूप में स्वीकार किया है। उन सभी पत्र-पत्रिकाओं के प्रति कृतज्ञ हूँ जिन्होंने पुस्तक की प्रशस्ति की है।

ग्रंथ को नवीनतम बनाये रखने तथा विद्वानों के सुझावों से लाभान्वित होते रहने के लिये ही इसका प्रकाशन सीमित संख्या में ही किया गया है, जिससे विश्वास है कि प्रथम संस्करण की भाँति सहृदय पाठक अपने अमूल्य सुझावों द्वारा तृतीय संस्करण को समृद्ध बनाने में योग देंगे।

अन्त में हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय के अध्यक्ष श्री कृष्णचन्द्र जी बेरी को धन्यवाद दिये बिना मेरा कार्य इसलिये नहीं पूरा हो सकता कि उनके सुन्दर व्यवहारों ने प्रकाशक और लेखक में बीच उत्पन्न होनेवाली कठिनाइयों का मुझे अनुभव ही नहीं होने दिया।

खानजहाँपुर
(आजमगढ़)
मातृनवमी (सं० २०१४)
१८ सितम्बर, १९५७

त्रिभुवन सिंह

तीसरी बार

'हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद' के इस तृतीय संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण में मुझे कुछ ऐसी सामग्रियाँ जोडनी पडी हैं कि जिनपर मैं अलग स्वतन्त्र रूप से ही लिखना चाहता था, पर सहृदय पाठको एव कतिपय उपन्यासकारो की प्रेरणा के फलस्वरूप उन्हें इस पुस्तक के साथ भी देना पड रहा है। उपन्यास-शिल्प-प्रकार के सम्बन्ध में कुछ भी इस पुस्तक में नही लिखा गया था जिससे उच्च कक्षाओ के छात्रो की दृष्टि में रखते हुए पुस्तक कुछ अपूर्ण-सी लगती थी। मूल पुस्तक के आरम्भ में प्रवेश खण्ड के नाम से सामग्री प्रस्तुत की गयी है, उससे यदि पाठको की दृष्टि में पुस्तक को पूर्णता मिली हो तो मैं अपना प्रयत्न सार्थक समझूँगा। बीच-बीच में भी जहाँ कहीं मुझे अपूर्णता दिखलाई पडी है, मैंने उसे पूर्ण करने का प्रयत्न किया है। आंचलिक उपन्यासो को भी पुस्तक में स्थान देने के लिए 'हिन्दी उपन्यासो के नवीन अचल' नाम से एक स्वतन्त्र अध्याय ही इस संस्करण में बढा दिया गया है। हिन्दी का उपन्यास-साहित्य उत्तरोत्तर विकासोन्मुख है जिससे उसकी गतिविधि से पाठको को परिचित कराना आवश्यक था, फलतः मैंने 'हिन्दी उपन्यास की वर्तमान गतिविधि' शीर्षक के भीतर हिन्दी उपन्यास साहित्य की श्रीवृद्धि में लगे वर्तमान उपन्यासकारो की प्रमुख रचनाओ का भी संक्षिप्त परिचय दे दिया है। इस परिचयात्मक व्याख्या में यदि पाठक किसी प्रकार का क्रम देखना चाहेंगे तो उन्हे बहुत कुछ निराश ही होना पडेगा क्योकि उस ढंग से प्रस्तुत करने मे पुस्तक के आकार के अधिक बढ जाने का भय था। मैंने केवल सामान्य परिचय देकर कथा साहित्य के इतिहास लेखको का थोडा श्रम ही हल्का किया है। अभी पुस्तक का सस्करण एवं परिवर्धन करने को मैं तैयार नहीं था पर पाठको का आग्रह टालना मेरे लिये अत्यन्त कठिन हो गया। श्री देवेन्द्र प्रताप उपाध्याय, शारदा प्रसाद सिंह, कल्पनाथ राय और महेन्द्रनाथ द्विवेदी आदि मित्रों ने यदि अपनी अमूल्य सहायताएँ न दी होतीं तो जिस रूप में पुस्तक पाठकों के हाथ में जा रही है, वह कभी भी सम्भव न हो पाता। हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय (सत्यनारायण मंदिर) ने पुस्तकों से मेरी बडी सहायता की है जिससे उससे सम्बन्धित सभी लोग साधुवाद के पात्र हैं। विशेष कर उमेश ने तो पुस्तक-सूची तैयार करने में मेरी बडी ही सहायता की है।

सबसे अधिक कृतज्ञ तो मैं उन सहृदय पाठकों का हूँ जिन्होंने पुस्तक का इतना अधिक स्वागत कर मेरे उत्साह का वर्द्धन किया है। सरस्वती के उन वरद पुत्रों के सम्मुख मैं क्षमाप्रार्थी हूँ जिनकी महत्त्वपूर्ण कृतियों की चर्चा मैं नहीं कर पाया हूँ।

यदि विद्वान् पाठक अपने अमूल्य सुझावों से मुझे लाभान्वित कर सकें तो उनका आभारी रहूँगा।

दुर्गाकुंड
१३ अप्रैल, सन् १९६१ } त्रिभुवन सिंह

चौथी वार

चतुर्थ संस्करण पाठकों के हाथ में जा रहा है। बीच-बीच में पड़ने वाले अनेक व्यवधानों के कारण ही मैं इसे समय से पूरा न कर सका और लोगों को बड़ी प्रतीक्षा करनी पड़ी। इस संस्करण के लिए अनेक अमूल्य सुझाव मेरे पास आए थे, पाठकों के भी और प्राध्यापकों के भी। मैंने उन सुझावों के आलोक में पुस्तक को समृद्ध बनाने की चेष्टा की है। पूर्व के संस्करणों में विषय का जो क्रम था, उसमें भी कुछ परिवर्तन कर देना इस संस्करण में आवश्यक समझा गया है। सिद्धान्त नामक प्रथम खण्ड मे यथार्थवाद से सम्बन्धित सभी सामग्री को ऐतिहासिक क्रम से एक ही स्थान पर पाठकों की सुविधा के लिए रखा गया है जबकि अन्य संस्करणों में यथार्थवाद के विभिन्न रूपों की व्याख्या उन विभिन्न अध्यायों के आरम्भ में की गई थी जिनका सम्बन्ध हिन्दी उपन्यासों के प्रवृत्तिगत विवेचन से था। कुछ ऐसी प्रवृत्तियाँ जैसे 'आंचलिकता' और लघु उपन्यास जिनका सीधा सम्बन्ध सिद्धान्त तथा शिल्प से नहीं था, उन्हें उपन्यासों के विवेचन के साथ ही रखा गया है। सिद्धान्त खण्ड की सामग्री को पूर्णता प्रदान करने के लिए अंग्रेजी और हिन्दी की नवीनतम पुस्तकों का उपयोग कर लेने का प्रयत्न मैंने किया है। एक प्रकार से इस प्रसंग को नए सिरे से ही लिख दिया गया है। कुछ नए अध्याय इस संस्करण में बढ़ा दिए गए हैं तथा हिन्दी उपन्यास-साहित्य की वर्तमान गतिविधि से पाठकों को परिचित कराने के लिए पुस्तक के 'विकास खण्ड' में प्राप्त नवीनतम प्रमुख उपन्यासकारों की कृतियों की व्याख्या की गई है।

अन्य संस्करणों की तुलना में पुस्तक का ढाँचा कुछ अधिक सदोष हुआ है, इसे स्वीकार करने में मुझे कोई आपत्ति नहीं है। उच्च कक्षा के विद्यार्थियों ने इस पुस्तक का जिस उत्साह से स्वागत किया है, उसे देखते हुए मुझे भी उनकी माँगों के अनुरूप पुस्तक की विषय-व्यवस्था करनी पड़ी है। इस परिस्थिति में यह पूर्ण सम्भव था कि कुछ उपन्यासों को आवश्यकता से अधिक महत्व दिया जाय। ऐसा करने के कारण ही पुस्तक के विषय-चयन में अनुपात-बोध का अभाव आ गया है। यह मेरी विवशता थी। शीघ्रता में मुद्रण सम्बन्धी त्रुटियाँ पुस्तक के प्रथम खण्ड (सिद्धान्त) में रह गई हैं। सामग्री की दृष्टि से यह संस्करण पर्याप्त समृद्ध है (मेरी दृष्टि में)।

इस संस्करण को स्वरूप देने में मेरे अनेक मित्रों एवं शिष्यों ने मुझसे अधिक श्रम किया है। सहृदय पाठकों ने यदि इस पुस्तक को इतना सम्मान न दिया होता, तो क्या यह सब कुछ मैं कर सकता? उनके प्रति मैं कृतज्ञ हूँ। पुस्तक की सीमा के कारण जिन उपन्यासकारों की कृतियों का मैं उल्लेख नहीं कर पाया, उनसे क्षमा-याचना के अतिरिक्त और क्या कर सकता हूँ।

पाठकों के अमूल्य सुझावों की इच्छा रखते हुए यह चतुर्थ संस्करण उन्हीं के हाथों में।

दुर्गाकुण्ड
रामनवमी, स० २०२२ वि०
१० अप्रैल, सन् १९६५

त्रिभुवन सिंह
(हिन्दी विभाग)
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

अनुक्रम

विषय	पृष्ठ संख्या

विषय पृष्ठ संख्या

नवाँ अध्याय

दसवाँ अध्याय

ग्यारहवाँ अध्याय

विषय | पृष्ठ संख्या

विषय

विषय पृष्ठ संख्या

चतुर्थ खण्ड

विषय	पृष्ठ संख्या

विषय | पृष्ठ संख्या

विषय-प्रवेश

हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद

प्रस्तुत ग्रन्थ में मैंने हिन्दी उपन्यास साहित्य मे पाई जानेवाली यथार्थवादी प्रवृत्तियों को दिखलाने का प्रयत्न किया है। 'यथार्थवाद' आधुनिक साहित्य का बडा ही ज्वलन्त विषय है। अनेक साहित्य-मर्मज्ञो ने इसके स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। यथार्थवाद को लेकर लिखे जानेवाले निबन्धो से हिन्दी साहित्य की प्रमुख पत्रिकाएँ भी निरन्तर विषय को स्पष्ट करने का प्रयत्न करती आ रही हैं, परन्तु आजतक इस विषय पर जितना भी विचार किया जा सका है मुख्य उसका सम्बन्ध इसके शास्त्रीय एवं सैद्धान्तिक पक्ष से ही है। जिन विद्वानों ने साहित्यिक कृतियों की विवेचना यथार्थ-वादी दृष्टि से की है, उन्होंने विवेचना करते समय यूरोपीय साहित्य को सामने रखा है। हिन्दी-साहित्य की विवेचना इस दृष्टि से जो नही की जा सकी है, इसका मूल कारण यही है कि 'यथार्थवाद' मुख्यत. पाश्चात्य साहित्य की देन है। प्रस्तुत ग्रन्थ में मैंने यथार्थवादी दृष्टि से विवेचना करने के लिए हिन्दी साहित्य को ही सामने रखने की चेष्टा की है।

साहित्यिक क्षेत्र मे उपन्यास ही एक ऐसा उपकरण है, कि जिसके द्वारा सामूहिक मानवजीवन अपनी समस्त भावनाओं एवं चिन्तनायों के साथ सम्पूर्ण रूप मे अभिव्यक्त हो सकता है। मानव-जीवन के विविध चित्रों को चित्रित करने का जितना अधिक अवकाश उपन्यासों में मिलता है उतना अन्य साहित्यिक विधाओं में नहीं। प्रेमचन्दजी ने तो उपन्यासों को इसीलिए मानवजीवन का चित्र ही कहा है। 'यथार्थवाद' की अभिव्यक्ति के लिए उपन्यास, साहित्य की सर्वोत्तम विधा है। यथार्थ चित्रण की सामा-जिक आवश्यकताओं ने ही उपन्यासों को जन्म दिया। हिन्दी-साहित्य में यथार्थवादी प्रवृत्तियों के विकास को सुस्पष्ट करने के लिए मुझे उपन्यास-साहित्य ही अधिक उपयुक्त जान पड़ा और मैंने उसे ही प्रस्तुत ग्रन्थ मे विवेचन का आधार बनाया है।

'यथार्थवाद' के सिद्धान्त पक्ष को जानकर ही हम उसके प्रभाव को रचनात्मक साहित्य मे ढूँढ सकते हैं। यही कारण है कि मैंने ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही 'यथार्थवाद' का विवेचन प्रस्तुत कर दिया है। इस विचारधारा को स्पष्ट करने मे जितने भी देशीय और विदेशीय विचारकों के मत सहायक हो सकते थे मैंने उनका संग्रह किया है। और जहाँ तक हो सका है विषय को स्पष्ट करते समय मैंने उदार दृष्टि अपनायी है। यथार्थवाद का यदि व्यापक अर्थ लगाया जाय तो, यह साहित्य की वह शैली अथवा प्रवृत्ति है जो

सदैव से रचनात्मक साहित्य की मूल भित्ति रही है, परन्तु आजकल साहित्य में इसका जिन अर्थों में प्रयोग किया जा रहा है, वह नितान्त इससे भिन्न है। मुख्यतः यह विचार-धारा हिन्दी-साहित्य मे पाश्चात्य साहित्य के सम्पर्क से आई, जिससे इसकी परिभाषा देते समय पाश्चात्य विद्वानो के मतो को उद्धृत करना अत्यन्त आवश्यक समझा गया है। हिन्दी अथवा अग्रेजी साहित्य के विद्वानो के मतो को उद्धृत करते समय उनके विचारो का व्याख्यात्मक मूल्यांकन इसलिए प्रस्तुत कर दिया गया है कि जिससे उनकी मान्यताओ की तर्कसंगत सीमा पाठको के सामने स्पष्ट हो जाय। 'यथार्थवाद' के उदय और विकास की दार्शनिक पृष्ठभूमि प्रस्तुत करते हुए उसके क्रमिक विकास में योग देनेवाले समस्त बाह्य प्रभावो का उल्लेख करते समय उनकी संक्षिप्त तुलनात्मक व्याख्या इसलिए कर दी गई है, कि जिससे सिद्धान्तो को समझने मे किसी प्रकार की बाधा न हो। किन किन आन्तरिक प्रेरणाओ ने यथार्थवाद' के लिए अनुकूल भूमि तैयार की तथा उनके कारण इसके स्वरूप पर कैसा और कितना प्रभाव पड़ा आदि सभी तत्वो की विस्तृत व्याख्या ग्रन्थ के सिद्धान्त खण्ड मे की गई है। साथ ही-साथ इसका भी हल्का-सा संकेत कर दिया गया है कि भारतीय साहित्य परम्परा मे 'यथार्थवाद' की रूपरेखा क्या थी।

उपन्यास का उदय और यथार्थवाद का विकास किन परिस्थितियो में हुआ और दोनों एक दूसरे के कितने निकट है आदि विषयो पर विचार प्रकट करते हुए उपन्यासो के तत्वो तथा शैली आदि के निश्चित रूपो को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। हिन्दी साहित्य के अन्दर 'यथार्थवाद' का उदय किन परिस्थितियों में हुआ और उसका प्रारम्भिक स्वरूप क्या था, इसको दिखलाने के लिए तत्कालीन लेखको के विचारो तथा परवर्ती विद्वानो के मतों का सहारा लिया गया है। उपन्यासो के अन्दर यथार्थवाद किस रूप में ग्रहण किया गया तथा उसके आधार पर समाज की व्याख्या किस प्रकार आरम्भ हुई, इसका मूल्यांकन करते समय उपन्यासकार की सामाजिक स्थिति तथा उसकी साहित्यिक सीमा की ओर विशेष ध्यान रखा गया है।

जहाँ तक हो सका है यथार्थवादी साहित्य के साहित्यिक रूपो की सीमा के अन्दर आनेवाले उपन्यासों एवं उपन्यासकारो की मूल प्रवृत्तियो की विवेचना की गई है, परन्तु आग्रहपूर्वक प्रत्येक उपन्यास में विवेच्य प्रवृत्ति को ढूँढ निकालने का किसी भी प्रकार का प्रयत्न नही किया गया है। इसके अतिरिक्त ऐसी भी यथार्थ प्रवृत्तियो की उपेक्षा नही की गई है जो यथार्थवाद के शास्त्रीय वर्गीकरण के अन्दर नही आती जैसे ऐतिहासिक यथार्थवाद तथा मध्य वर्ग का चित्र आदि। आधुनिक हिन्दी उपन्यास साहित्य के नवीन-तम उपलब्ध उपन्यासो की विवेचना करते समय इसे दृष्टि में रखने का प्रयत्न तो अवश्य हुआ है, परन्तु विवरणात्मक सूची देने की प्रवृत्ति से जहाँ तक हो सका है बचने का प्रयत्न किया गया है।

'यथार्थवाद' साहित्य में आजकल जिस रूढ़िगत शैली एवं विचार परम्परा के लिए प्रयुक्त किया जा रहा है, यदि उस कसौटी पर हम हिन्दी-उपन्यासों को कसना चाहें तो अधिक सम्भव है कि एक भी उपन्यास खरा न उतरे। कोई भी साहित्य शास्त्रीय बन्धनों को वहीं तक स्वीकार कर सकता है, जहाँ तक वे बन्धन उसकी स्वाभाविक प्रगति में बाधा नहीं पहुँचाते। साहित्य के अन्दर प्रगति की चेतना का होना अनिवार्य है, जिसके लिए साहित्यिक को कल्पना का सहारा लेना ही पड़ता है। कल्पना ही चेतना की वह स्थिति है जो किसी भी असंगति को संगति में बदल सकती है। जिस वस्तु की स्थूल सत्ता का प्रमाण हमारे पास है, उसका चित्रण हम तब तक नहीं कर सकते जब तक वह सम्भावित सत्य की सीमा के अन्दर नहीं आ जाती। हिन्दी-साहित्य के आरम्भिक उपन्यासों के अन्दर हमें कल्पना का विलास अधिक दिखलाई पड़ता है। जासूसी और तिलस्मी उपन्यासों के अन्दर ऐसी-ऐसी घटनाओं का चित्रण मिलता है जिसे पढ़कर बुद्धि चकरा जाती है। जो घटनाएँ बुद्धि एवं तर्क की सीमा के भीतर नहीं आतीं, जिनकी आरम्भिक हिन्दी-उपन्यासों में बहुलता है, उनका चित्रण तो यथार्थ और यथार्थवाद के भीतर किसी भी प्रकार से नहीं किया जा सकता, परन्तु उन घटनाओं की उपेक्षा भी नहीं की जा सकती जिनके किसी भी प्रकार के प्रमाण समाज में मिल जाते हैं। यथार्थ से दूर होते हुए भी आरंभ के उपन्यासों में कुछ ऐसे स्थल मिल जाते हैं जो सम्भावित सत्यों पर आधारित हैं, और यही कारण है कि उन्हें भी प्रस्तुत पुस्तक में प्रासंगिक स्थान देना पड़ा है। मनुष्य में कल्पना-शक्ति का होना यथार्थ है और भावुकता उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है। यथार्थ का चित्रण करनेवाला उपन्यासकार जब उचित संगति में अपने चरित्र की कल्पना या भावुकता का चित्रण करता है तो वह यथार्थ का ही चित्रण है। आरम्भिक उपन्यासों की भूमि कल्पना और रोमांस की अवश्य थी, फिर भी उनका आधार सामयिक जीवन और ऐतिहासिक तथ्यों के निकट है।

हिन्दी उपन्यास-साहित्य में प्रेमचन्द जी के आगमन से एक नवीन मोड़ आया। समाज के जिन महत्त्वपूर्ण प्रश्नों को प्रेमचन्द और उनके समकालीन उपन्यासकारों ने उठाया है और उनका जैसा हल प्रस्तुत करना चाहा है, वह नितान्त स्वप्निल एवं कल्पनामात्र है। इन लोगों के द्वारा जो सुधार की आदर्शात्मक गाथा उपस्थित की गई है, उसमें कला का इतना अभाव था तथा आदर्शवादी आवरण इतना मोटा था कि, वह अभेद्य बन गया। परन्तु इनमें जो सबसे बड़ी विशेषता पाई जाती है, जिसका कि आरम्भिक उपन्यासों में अभाव था, वह यह कि इस खेवे के उपन्यासकार कल्पना से उतर कर समाज के निकट आये और उन्होंने अपनी रचनाएँ समाज के लिए कीं। इन उपन्यासों के भीतर आदर्श की मात्रा भले ही अधिक आ गई हो परन्तु जिस समाज को इन लोगों ने प्रेरणा देनी चाही है, उसका अत्यन्त ही यथार्थ चित्रण हुआ है। आदर्श

और यथार्थ के अद्भुत गठबन्धन को प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासो मे खूब निभाया है। आगे चलकर इन्होंने अपने सुधारवादी दृष्टिकोण को सूक्ष्म और कलात्मक भी बना लिया है और हम देखते हैं कि 'गोदान' तक आते-आते प्रेमचन्द बिल्कुल बदल गये। उन्हें उनकी सारी पूर्व .ी मान्यताएँ सारहीन जान पडने लगी और वे धीरे धीरे यथार्थ की कठोर भूमि पर उतर आये। उनके अन्तिम उपन्यास 'गोदान' मे यथार्थ की विजय है और आदर्श नई तथा कटु वस्तु-स्थितियो की चोट से टकराकर चकनाचूर हो गया है।

प्रेमचन्द जी के साथ उपन्यासकारो का एक दल ही चल रहा था जिसपर उनका अत्यधिक प्रभाव था। इस युग के उपन्यासो मे सामाजिक यथार्थ के विविध रूपो का चित्रण हमे मिल जाता है। यह काल भारतवर्ष के इतिहास मे एक ऐसा काल था जिसमें देश के अन्दर अनेक क्रान्तिकारी परिवर्तन लाने की चेष्टा की जा रही थी। राष्ट्रीय, सामाजिक, धार्मिक अनेक सुधारवादी संस्थाएँ बडे जोरो के साथ अपना प्रचार-कार्य कर रही थी। महात्मा गाधी के सबल नेतृत्व के अन्दर कांग्रेस का महान राष्ट्रीय आन्दोलन अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच रहा था, तथा आर्यसमाज और रामकृष्ण मिशन, हिन्दू महा-सभा जैसी सुधारवादी संस्थाएँ भी अपनी पूरी शक्ति के साथ जागरण लाने का प्रयत्न कर रही थी। तत्कालीन वातावरण से प्रभावित होकर उपन्यासकारो ने अपनी कृतियो के द्वारा आवश्यक प्रश्नों को उठाया और यथाशक्य उसका समाधान प्रस्तुत करने का भी प्रयत्न किया, समाज-सुधार और राष्ट्रीयता की भावना जिसकी मेरुदण्ड थी। इस क्षेत्र के उपन्यासो मे ऐसी ही दूषित परम्पराओ एवं मान्यताओ का चित्रण किया गया है, जो उस समय समाज मे वर्तमान थी। जैसे—वृद्ध-विवाह, बाल विवाह, दहेज, वेश्यागमन, हिन्दू-मुस्लिम-वैमनस्य आदि, जिससे उस समय की यथार्थ सामाजिक स्थिति का चित्रण, इस क्षेत्र के उपन्यासो में मिल जाता है। जिन कृतियो एव कृतिकारो में सुधारवादी हल प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति प्रधान रही हे उनकी व्याख्या 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' नामक शीर्षक के भीतर की गयी है। यद्यपि प्रेमचन्द जी ने 'गोदान' को छोडकर अपने अन्य पूर्ववर्ती उपन्यासो मे 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' को ही अपनाया है, फिर भी उपन्यासो में प्रेमचन्द की यथार्थवादी दृष्टि' नाम से एक स्वतन्त्र अध्याय को इस पुस्तक मे इसलिए व्यवस्था की गई है, कि जिससे तत्कालीन समाज एवं राष्ट्र के क्रमिक विकास को आसानी के साथ समझा जा सके। प्रेमचन्द जी के उपन्यासो मे हमें तत्कालीन समस्त युग-जागरण का व्यवस्थित चित्र मिल सकता है। यदि दुर्भाग्य से उस समय का कही हमारा इतिहास लुप्त हो जाय तो उसकी गतिविधि का ज्ञान हम प्रेमचन्द जी के साहित्य से कर सकते हैं।

प्रेमचन्द युगीन उपन्यासो में सामाजिक समस्याओ को जितना अधिक महत्त्व दिया गया उतना वैयक्तिक समस्याओ को नही। समाजगत मूल्यो और वैयक्तिक मूल्यो की

सीमाएँ उनके उपन्यासों में केवल उठकर रह गईं, उनका स्पष्टीकरण नहीं हो पाया। प्रेमचन्द जी के जीवनकाल में ही ऐसे प्रश्न उठने लगे थे कि समाज के लिए व्यक्ति नहीं बल्कि व्यक्ति के लिए समाज है। प्राचीन मान्यताओं के प्रति नवीन मान्यताओं का स्पष्ट विरोध हमें 'जैनेन्द्र' आदि जैसे उपन्यासकारों में दिखलाई पड़ जाता है। नवीन नैतिक मूल्यों की समस्या जागरूक उपन्यासकारों ने समाज के सामने लाकर रखने की कोशिश की। भगवतीचरण वर्मा का उपन्यास 'चित्रलेखा' ऐसी ही नवीन नैतिक समस्या लेकर सामने आता है। प्राचीन समस्याओं को देखने की दृष्टि में भी भेद उपस्थित हुआ। विवाह आदि सामाजिक व्यवस्थाओं में ऐसे परिवर्तन आने प्रारम्भ हो गये कि बाल-विवाह तथा विधवा-विवाह आदि की समस्याओं का कोई मूल्य ही नहीं रहा, क्योंकि एक प्रकार से इनका अस्तित्व उस समय समाप्त हो जाता है, जिस समय समाज में वैयक्तिक मूल्यों की स्थापना हो जाती है। नारी (जो उपन्यास साहित्य का केन्द्र बिन्दु रही है) के स्वरूप को लेकर अवश्य आधुनिक कहलानेवाले उपन्यासकारों ने अपनी उच्छृङ्खल वैयक्तिक रुचियों का परिचय अपनी-अपनी कृतियों में दिया है। प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासों में पाई जानेवाली इन मान्यताओं की चर्चा मैंने सामाजिक 'यथार्थवाद' एवं 'सामाजिक समस्याओं' के अन्दर की है। विशिष्ट शैली को लेकर वर्ग-विशेष के प्रति सहानुभूति दिखलाते हुए लिखे जानेवाले सामाजिक उपन्यासों की व्याख्या 'व्यंग्य और मध्य वर्ग' के अन्तर्गत की गयी है।

कला के प्रति बढ़ती हुई आस्था तथा योरोपीय-साहित्य के प्रभाव से विकसित नवीनतम शैलियों ने कृतिकारों को अत्यधिक बुद्धिवादी बना दिया, जिसके कारण हिन्दी-उपन्यासों के अन्दर विविध वादों को स्थान मिलने लगा। यथार्थवाद के शास्त्रीय वर्गीकरण के अन्दर आनेवाले अथवा उससे प्रभावित उपन्यासकारों को 'प्रकृतवाद' 'अतियथार्थवाद', 'समाजवादी यथार्थवाद' तथा 'मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद' के अन्दर रखा गया है। 'अति-यथार्थवाद' यानी 'सुररियलिज्म' यद्यपि शास्त्रीय वर्गीकरण के अन्दर नहीं आता, परन्तु मूर्तिकला तथा विज्ञान के प्रभाव में आकर जिस साहित्य की सृष्टि हो रही है वह प्रकृतवाद से मिलता-जुलता अपना एक विशिष्ट स्थान बनाता जा रहा है, जिसका संक्षिप्त परिचय दे देना अत्यन्त आवश्यक था। इसे कभी भी नहीं भूलना चाहिये कि यह प्रकृतवाद से किसी भी प्रकार का साम्य नहीं रखता है; और न इसका विकास ही इससे हुआ है। दोनों के साहित्यिक एवं सामाजिक लक्ष्यों में मौलिक भेद है। 'ऐतिहासिक यथार्थवाद' का भी शास्त्रीय वर्गीकरण से कोई सम्बन्ध नहीं है। परन्तु आधुनिक लेखकों द्वारा प्राचीन ऐतिहासिक तथ्यों की जो व्याख्या की जा रही है, उससे भी अतीत को यथार्थ रूप में समझने में बड़ी सुविधा हुई है। इसमें सन्देह नहीं कि यदि ऐतिहासिक उपन्यासकार को इतिहासकार-सा विवेक मिल जाय तो उसकी कृतियों द्वारा अनेक भ्रान्तियों का निवारण हो सकता है और उससे वर्तमान समाज को प्रेरणा भी मिल सकती है।

इस श्रेणी के उपन्यासो को 'ऐतिहासिक यथार्थवाद' के भीतर रखा गया है। व्याख्या करते समय विवेच्य वस्तु का ध्यान रखते हुए यदि सम्भव हो सका है तो ऐतिहासिक असगतियो की ओर भी हल्का सा सकेत कर दिया गया है। ऐसी कृतियो को भी उपेक्षा नहीं की गई है जिन पर किसी 'वाद' का भ्रामक प्रभाव आ पाया है। 'समाजवादी यथार्थवाद' को लक्ष्य मान कर लिखी जानेवाली कृतियो में प्रायः इस प्रकार की भ्रान्तियाँ मिल जाती हैं। शास्त्रीय नियमो के आधार पर यदि हिन्दी-उपन्यासो को परख की जाय तो एक भी ऐसा उपन्यास नही है जिसे 'समाजवादी यथार्थवाद' के अन्तर्गत रखा जा सके। परन्तु समस्या यह है कि जिन कृतियो को 'वाद' रूपी कूबड ने कुबरा दिया है, उनको किस आवरण में छिपाया जाय? यही कारण है कि बहुत सा ऐसी सुन्दर कृतियो की शल्यक्रिया करनी पडी है, जिसके लिए लेखक तैयार नही था।

विषय क्रम को आधार बनाकर पुस्तक को सिद्धान्त खण्ड, शिल्प खण्ड, प्रयोग खण्ड और विकास खण्ड नामक चार खण्डो में विभक्त कर दिया गया है। सिद्धान्त खण्ड का सम्बन्ध मुख्यतः यथार्थवाद के विवेचन से है, शिल्प खण्ड में उपन्यास के विधा सम्बन्धी समस्त अगो का विस्तृत विवेचन किया गया है, प्रयोग खण्ड में हिन्दी उपन्यासो की व्याख्या यथार्थवाद के सिद्धान्तो को सामने रखकर की गई है तथा यह बतलाने की चेष्टा की गई है कि हिन्दी उपन्यास साहित्य पर 'यथार्थवाद' के भेद-प्रभेद का प्रभाव किस सीमा तक पडा है तथा विकास खण्ड में हिन्दी उपन्यास साहित्य को आगे बढानेवाली रचनाओ की व्याख्या की गई है।

★

प्रथम खंड

सिद्धान्त

यथार्थवाद की दार्शनिक पृष्ठभूमि

दैनिक जीवन के प्रयोग, आलोचना और अन्य विविध क्षेत्रो मे यथार्थवाद एक विचित्र शब्द के रूप में प्रयुक्त हुआ है। इसकी प्रारम्भिक पृष्ठभूमि दार्शनिक विश्वासो से आरम्भ होकर इससे प्राय दूर पहुँच चुकी है। आज इस आधुनिक युग मे इसकी विवेचना गम्भीर वाद-विवाद का विषय बन चुकी है। दार्शनिक आदर्शवाद ससार की प्रमुख विचारधाराओ का मेरुदण्ड रहा है। यह सस्रृति का स्वरूप 'विज्ञानमय, चिन्मय और मनोमय' मानता है। यह 'मैटर' को प्रधानता न देकर चेतना को प्रधानता देता है और इसी को परम तत्व और परम सत्य की सज्ञा से अभिहित करता है। इसीलिए वैज्ञानिक पद्धति को वह इसके रहस्यो का उद्घाटन करने के लिए अनुपयुक्त घोषित करता है। उसके अनुसार सस्रृति का कोई-न-कोई अश हमारे सम्वेदन के माध्यम से इन्द्रियो का आश्रय ग्रहण कर स्वतः स्पष्ट होता रहता है। वह इस सस्रृति को अर्थपूर्ण और सोद्देश्य मानता है और व्यष्टि एवं समष्टि अथवा पिण्ड और ब्रह्माण्ड में एकसूत्रता का पक्षपाती है। उसके लिए मानव एक सोद्देश्य विश्वास का निवासी है। 'दार्शनिक यथार्थवाद' की निष्पत्तियाँ इससे प्रायः सर्वथा भिन्न हैं, इस विचारधारा के अनुसार "विश्व का निर्माण एकाधिक सक्रिय तत्व से हुआ जो आपस मे सम्बद्ध हैं पर द्वैत की सत्ता अक्षुण्ण है। इन सत्ताओ का मस्तिष्क द्वारा अवबोध सम्भव है, इस अवबोध के विषयस्वरूप का वर्णन और यथार्थ प्रमाणो के सन्दर्भ में इनका स्पष्टीकरण प्रमाणवाद (Epistemology) का विषय है।"[1] मानव इस विश्व मे निवास ही नहीं करता अपितु इस सत्य से अवगत रहता है कि वह इसमें रह रहा है। उसके इस अभिज्ञान के कारण उसकी चेतना एवं सस्रृति के कार्य-व्यापारो में एक सम्बन्ध होता है और वह सजीव एवं स्पन्दन प्रधान जीव माना जाता है। उसकी जिजीविषानुभूति मे सस्रृति का यथार्थ जीवित रहता है। इसी विशिष्टता के कारण यह दृश्य जगत का प्रत्यक्षदर्शी कहा जा सकता है और इस सस्रृति के सभी क्रियाकलाप उसकी अवबोध क्षमता के विषय रहते हैं। उसकी बौद्धिक क्षमता अद्भुत होती है। इसी आधार पर वह यथार्थ के अन्तरसाक्ष्य और बहिरसाक्ष्य का तत्ववेत्ता होता है। परन्तु हमारी चेतना का स्वरूप द्विविध होता है। अपने प्रथम

1. John Wild—The return to reason; Essay in Realistic Philosophy Preface—VII

यथार्थवाद—पृष्ठभूमि एवं प्रेरणास्रोत

उन्नीसवीं शताब्दी इतिहास में संक्रमणकालीन विशिष्टताओं से सम्बद्ध है। इस काल में चिरकालीन भौतिकता एवं आध्यात्मिकता के द्वन्द्व का निराकरण हुआ और भौतिक निष्पत्तियों की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट हुआ। इसके पूर्व 'कोपरनिकस, बेकन तथा न्यूटन' के नवीन विचारों ने जनमानस को एक बार आन्दोलित किया था। विश्व-साहित्य धीरे-धीरे मानव की दैनिक समस्याओं, उसके वास्तविक जीवन तथा विकासशील विचारों को अपने अन्दर समेट लेने के लिए आतुर हो चुका था। फ्रान्स की राज्यक्रांति के 'समता, भ्रातृत्व एवं विश्व बन्धुत्व' के नारे से मानव-महत्वाकांक्षा उद्बुद्ध होकर एक नवीन दिशा प्राप्त कर रही थी। इसी परिस्थिति में निम्नांकित विचारों के आगमन से यथार्थवादी सिद्धान्त और भी प्रशस्त पृष्ठभूमि प्राप्त कर सका।

अ—डार्विन की नवीन गवेषणा

"इस काल के भौतिकतावादी सिद्धान्त के प्रमुख स्रोत जीव-विज्ञान, मनोविज्ञान एवं भौतिक विज्ञान थे। डार्विन की गवेषणा ने इस सत्य को सिद्ध किया कि आदि से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी के विकसित मस्तिष्क तक के व्यक्तियों के विकास को उन उपजातियों के सामान्य परिवर्तन के घटना-क्रम के सन्दर्भ में प्रस्तुत किया जा सकता है जो भौतिक शक्तियों के विरुद्ध क्रियाशील थी और सुनिश्चित नियमों के आधार पर विकसित हो रही थीं[1]।" उसके अनुसार मानव आरम्भ में जल-जन्तु था जो लहरों के द्वारा समुद्र के किनारे फेंक दिया गया और धरातल के ठण्डे होने के साथ साथ उस पर पलता और विकसित होता गया। आरम्भ में मानव का जन्म कीटाणुओं के रूप में हुआ है और अनेक परिवर्तनों के पश्चात् वह अपने इस मानव स्वरूप को प्राप्त कर सका है।

जहाँतक हिन्दू धर्म का प्रश्न है यह स्वभाव से आदर्शवादी होते हुए भी संसार के सब धर्मों से अधिक वैज्ञानिक है। इसकी जानकारी हम इसके अन्दर निहित सांकेतिक दृष्टियों को पकड़कर कर सकते हैं। पुराणों के अन्दर अवतारवाद की कल्पना बड़े ही मनोरंजक ढंग से की गयी है। जहाँ एक ओर भगवान के परिस्थितिजन्य नानावतारों की कल्पना करके भक्तों की भावना में आस्था दृढ़ करने की सफल योजना की गयी है वहीं उसका दूसरा वैज्ञानिक रूप भी हम ले सकते हैं। मत्स्य, कच्छप, वाराह, नृसिंह, वामन आदि अवतारों की कल्पना स्पष्ट कर देती है कि मानव आरम्भ में जल-जन्तु रहा पुनः धरती का जीव बना और उसके पश्चात् उसमें परिवर्तन आया तब कहीं जाकर वह

---

1. A Guide to Modern Thought—C. E. M. Joad—Page 30

जन्तु और मानव दोनों का संयुक्त रूप धारण कर सका। इतने विग्रह के पश्चात् कहीं उसे बावन अंगुल का शरीर नसीब हो सका।

'डार्विन' के विकासवादी सिद्धान्त पर वैज्ञानिकों ने भी विचार किया है और इसका सम्वर्द्धन एवं परिवर्द्धन करने का प्रयत्न किया है, फिर भी वे अधिक सफल नहीं हो सके हैं। कुछ लोगों ने उपजातियों के परिवर्तन के आधार पर नवीन जातियों के विकास की कल्पना की है। उपजातियों का परिवर्तन तो सर्वमान्य सत्य है। पर इन परिवर्तनों को दो प्रकार से देखा जा सकता है : पहला जीवनेच्छा के संघर्ष में सहायक एवं दूसरा बाधक : नवीन उपजातियों का आरम्भ उस जीवन के लिए महत्त्वपूर्ण विधाओं में परिवर्तन का प्रतिफलन है, अतएव जीवनेच्छा की दृष्टि से इनका महत्त्व है। इन्हीं के आधार पर उसने प्राकृतिक चुनाव (Natural Selection) तथा जिसकी लाठी उसकी भैंस (Survival of the fittest) के सिद्धान्त का निर्माण किया है। इसके पश्चात्, 'लेमार्क' नामक प्रसिद्ध फ्रांसीसी विद्वान का अभिमत कि उपजातियों में परिवर्तन का प्रमुख कारण व्यक्तियों का नवीन आदतों को ग्रहण करके वातावरण के अनुकूल अपने व्यक्तित्व को बनाना कम महत्त्व का नहीं है।

इस विकासवाद के सिद्धान्त द्वारा जिस वैज्ञानिक दृष्टिकोण का आविर्भाव हुआ उसने मनुष्यों को प्रकृति के निकट ला दिया और उसने आसपास की वस्तुओं से अपने सम्बन्धों को ढूँढ़ निकाला। यह विज्ञान मानवजीवन और पशुजीवन में अभेद स्थापित करने का प्रयत्न करता है। इसने अपना चमत्कार कई दिशाओं में दिखाया। सभी जीव-जन्तुओं की वैज्ञानिक दृष्टियों से परख हुई, यहाँतक कि पेड़ पौधों तक की वैज्ञानिक छानबीन सफलतापूर्वक की गई। इस आधुनिक सिद्धांत का साहित्य पर अविलम्ब प्रभाव पड़ा और मानव ने अज्ञात आदर्शों के अतिरिक्त अपने पैर के नीचे की धरती को भी देखना आरम्भ किया। उस सिद्धान्त को लक्ष्य करके लिखे जानेवाले साहित्य को 'प्रकृतिवाद' का नाम दिया गया।

ब. मनोविश्लेषण और यथार्थवाद

'फ्रायड' के अनुसार मानव की वास्तविक परिस्थितियों का ज्ञान कर लेना ही वास्तविक ज्ञान नहीं है। यथार्थ ज्ञान का आरम्भ तो मानव मन के अन्दर पलनेवाले क्रियाकलापों के अध्ययन से आरम्भ होता है। 'फ्रायड' मनुष्य के अन्दर काम-प्रवृत्ति और उसके अवचेतन दमन को विशेष महत्त्व प्रदान करते थे वे इसे 'लिबिडो' के नाम से अभिहित करते हैं। मानव मन का भी उन्होंने चेतन, अर्धचेतन और अचेतन नामक तीन विभाजन किया है। युद्ध बाद में अपने सिद्धान्त को और भी प्रभावशाली बनाने के लिए उन्होंने इदं (Id) अहं (Ego) और आदर्श अहं (Super Ego) नामक विभाजन

पुनः प्रस्तुत किया। "मानस के जन्मजात नैसर्गिक पक्ष को वे 'इदं' (Id) कहते हैं यह लिबिडो (कामशक्ति) का कोष है।.... 'इद' व्यक्ति के अस्तित्व की प्रेरक शक्तियो या मूल प्रेरक का भण्डार है, ये प्रवृत्तियाँ विशेष इच्छाओ का रूप लेकर परिवेश की ओर उन्मुख होती हैं और इस प्रकार चेतन मन को प्रभावित करती हैं। 'इदं' मे किसी प्रकार का संघटन या व्यवस्था नही है। यह यथार्थ से पूर्ण उदासीन है और केवल सुखेच्छा से परिचालित होता है।... इदं प्रबल उत्तेजना का अव्यवस्थित रूप है—इसके लिए शुभाशुभ, नैतिक-अनैतिक आदि मूल्यो का अस्तित्व नही, व्यक्ति की जन्मजात सुखेच्छा की तृप्ति ही इसका मात्र काम है[१]।"

"अहं (Ego) शब्द का दार्शनिक दृष्टिकोण से अर्थ व्यावहारिक अविद्या से सीमित, अनात्मा से एकीकृत आत्मा है, जो मैं या मेरे की भावना उत्पन्न करती है... फ्रायड के मनोविज्ञान मे कामवृत्ति, संघर्ष, दमन और अवरोध महत्वपूर्ण हैं 'अहं' संसार और 'इद' के बीच मध्यस्थ का कार्य करता है। यह 'इदं' की मौलिक प्रवृत्तियो को संसार के यथार्थ के अनुरूप और ससार को 'इदं' की वासनाओ के अनुकूल बनाने का प्रयास करता है[२]।"

'इदं' और 'अहं' (Ego) के अतिरिक्त आदर्श अहं (Super ego) पर भी फ्रायड ने दृष्टिपात किया है। इसे हम फ्रायड के शब्दो में प्रयुक्त अन्तर्बोध और अन्तरात्मा का प्रतिरूप कह सकते हैं। "....उचित अनुचित की नैतिक मान्यताएँ इसी अंश द्वारा निर्मित होती हैं, यह अहं और इदं दोनो पर नियन्त्रण रखता है[३]।"

'फ्रायड' द्वारा विभाजित मन के चेतन, अर्धचेतन और अचेतन का महत्व भी विशेष रूप से विचारणीय है। अर्धचेतन मन, चेतन मन और अचेतन मन के बीच की कडी है। मानव प्रमुख रूप से 'काम' प्रधान प्राणी है। उसकी वासनात्मक वृत्तियाँ जब उद्बुद्ध होकर प्रचण्ड वेग से क्रियाशील हो जाती हैं तब उनका स्वरूप कुछ हद तक असामाजिक हो जाता है। समाज की नैतिकता के भय से वह उन्हें दबाता है, परिणामस्वरूप वे अचेतन मन में दबकर सुप्त पडी रहती हैं पर अवसर पाते ही पुनः चेतन मे प्रवृत्त हो जाती हैं। अवचेतन में पडी हुई क्रियाएँ हमारे स्वप्न द्वारा प्रकट होती हैं। फ्रायड का सिद्धात प्रमुख रूप से "यौनवादी" है। वह कला और धर्म दोनो को ही संचित प्रेरणाओ और इच्छाओ के उन्नयन का परिणाम मानता है।

'फ्रायड' के पश्चात् दूसरे प्रमुख विचारक "एडलर" हैं। इनके अनुसार फ्रायड की कामवृत्ति का वर्णन अतिरंजित है। ये आत्मस्थापन (Self assertion) को विशेष महत्वपूर्ण समझते हैं। 'युंग' ने भी फ्रायड के विचारो का विरोध किया है और उसने

१. हिन्दी साहित्य कोष—इदं (Id) पृष्ठ १२३। २. वही—पृष्ठ ८६

३. वही—पृष्ठ ८५६

"लिबडो" को व्यापक अर्थ में ग्रहण किया है जिसमें 'फ्रायड' की कामवृत्ति एवं एडलर की आत्मस्थापन की प्रवृत्ति का समन्वय दृष्टिगोचर होता है। इसे उन्होंने मनःशक्ति अथवा जीवनीशक्ति के नाम से अभिहित किया है और विकास-क्रिया और जनन तीनों लक्ष्यों में इसकी अभिव्यक्ति को स्वीकृति प्रदान की है।

पावलोव और व्यवहारवाद
(Pavlov and Behaviourism)

मनोविश्लेषण के अन्तर्गत मनोविज्ञान और यथार्थवाद पर विचार किया गया। व्यवहारवाद का भी सम्बन्ध भौतिकतावाद से है। अतः इसकी चर्चा समीचीन जान पड़ती है। आधुनिक मनोविज्ञान में 'व्यवहारवाद' पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। 'पावलोव' के पश्चात् अमेरिकी विचारक 'वाट्सन' ने इसको निश्चित दिशा प्रदान की है। इस सिद्धान्त के अनुसार मानव के मानसिक स्वरूप को हम उसके आंगिक संचालन के द्वारा जान सकते हैं। आपेक्षिक प्रतिवर्तन (Conditioned reflex) का सिद्धान्त व्यवहारवाद सिद्धान्त की आधारशिला है। इससे मानव-मस्तिष्क एवं उसके शरीर के सम्बन्धों पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। भौतिकतावाद के अन्तर्गत नाड़ी-प्रक्रिया और मस्तिष्क पर पर्याप्त विचार हुआ है। उसकी मान्यता है कि इनसे सम्बन्धित मानव-ज्ञान अभी पूर्ण विकसित नहीं हुआ है। अतएव 'पावलोव' ने कुत्तों पर किये गए अपने प्रयोग द्वारा कुछ निष्कर्ष निकाले हैं। उसके अनुसार केवल मन एवं मस्तिष्क की व्याख्या करनेवाला विज्ञान अवैज्ञानिक है। 'व्यवहारवाद' के सन्दर्भ में 'बिहेवियर' (आचरण) का अर्थ होता है आंगिक क्रिया। यह 'दृश्य' और 'अदृश्य' दोनों प्रकार का हो सकता है। इसीलिए व्यवहारवादी (आचरणवादी) मनोवैज्ञानिक का उद्देश्य सभी आचरणों का 'उद्दीपकों' (Stimuli) के प्रति प्रतिक्रिया के रूप में प्रस्तुत करना होता है। 'जेस्टाल्ट' मनोविज्ञान एवं इच्छा-सिद्धान्त' की नवीन विचारधाराएँ हैं जिनसे मनोविज्ञान की प्रगति हुई है। पर विचारणीय यह है कि 'व्यवहारवाद' की व्यवस्था में प्रयुक्त शब्दावली नैतिक विज्ञान से ली गई है। इसकी भी एक प्रमुख पृष्ठभूमि है।

'जेस्टाल्ट' मनोविज्ञान का भी अपना महत्त्व था। यह मनोविज्ञान प्रमुख रूप से रूपवादी मनोविज्ञान माना जा सकता है। इनके अनुसार किसी भी परिस्थिति या पूर्णता के साथ दर्शन, इसका आरम्भ में किसी आदर्श अथवा विग्रह के रूप में दर्शन का सापेक्षी है।

"यह वर्ग अपनी संस्कृति और सभ्यता के रोगों का निदान समाज की नाड़ी देखकर नहीं करता बल्कि व्यक्ति विशेष के अन्तर्मन के द्वारा एक्स-रे का अपना नुस्खा पेश करता है। इस पद्धति के द्वारा व्यक्ति के सारे कष्ट, अप्रसन्नता, निराशा, मलिनता

आदि किसी न किसी कुण्ठा के कारण उत्पन्न होते हैं। ये कुण्ठाएँ व्यक्ति के अचेतन मन में अव्यक्त रूप में छिपी रहती हैं।"[1]

मनुष्य के अवचेतन मन में दबी कामवासनाओं के ऊपर मनुष्य के गुण-दोष की विवेचक शक्ति का नियन्त्रण रहता है जिससे समाज की मर्यादा का निर्वाह होता है। परन्तु अवसर पाकर मनुष्य की कामवृत्ति प्रतिबन्ध तोड कर हिंसक पशु की भाँति अपना शिकार करने के लिए बाहर आ जाती है, कभी-कभी जब अवचेतन मन की इच्छा को रोकने में विवक-शक्ति असमर्थ हो जाती है तो अवचेतन मन की इच्छा प्रकट होकर चेतनता का रूप धारण कर लेती है और जब लगातार अन्तर्मन की इच्छाओं का विवेक द्वारा दमन किया जाता है तो उनकी स्वाभाविक धारा का विपरीत प्रभाव चेतन मन पर वैसा ही पडता है जैसे बहती सरिता को बाँध देने पर उसकी लौटती हुई धारा का।'[2] 'फिर भी अपनी पूर्णताओं एव अपूर्णताओं के बावजूद यह सिद्धान्त यथार्थवाद के इतिहास में क्रान्तिकारी सिद्धान्त के रूप में प्रकट हुआ है और आधुनिक मनीषा का एक अविभाज्य भाग बन गया है। कला के क्षेत्र में 'दादावाद' 'अति यथार्थवाद' जैसे सिद्धान्तों की भित्ति का प्रमुख आधार यही रहा है और स्वच्छन्द मनोवृत्ति के लेखकों के लिए प्रमुख प्रेरणा स्रोत के रूप में आज भी अपना महत्वपूर्ण योगदान प्रदान कर रहा है। 'डॉ० एच० लारेन्स', 'जेम्स ज्वायस', इलाचन्द जोशी प्रभृत्त लेखक इसका प्रतिनिधित्व करते हैं।

मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद

मनोविज्ञान ने आधुनिक विचारकों को सर्वाधिक प्रभावित किया है। इसके प्रभाव को कई दृष्टियों से स्पष्ट किया जा सकता है, पर इनमें नियतिवाद और बुद्धिशून्यता प्रमुख हैं।[3] मनोविज्ञान के व्यापक अध्ययन के कारण साहित्यकारों के दृष्टिकोण में

1 डॉ० बच्चन सिंह—आलोचना (उपन्यास अक), पृष्ठ १३२

2. Some times, however, he is unable completely to bar the way and the unconscious desire succeeds in making its way up and appearing in the conscious...Unconscious desire which suffer from continuous repression by the censor finding their natural channel of expression in the conscious abstracted, are turned back upon themselves, and like a river which has been dammed from a kind of swamp in the unconscios, which is called a complex.

C. E. M. Joad—Guide to Modern Thought—Psychanalysis and its Effect—page 205

3. Ibid Page. 263

महान् परिवर्तन उपस्थित हुआ। साहित्य के क्षेत्र में मनोविज्ञान का सर्वाधिक प्रभाव कथा साहित्य पर पड़ा। उपन्यासों के अन्दर कथा कहने की प्राचीन ऐतिहासिक प्रणाली, सुधारवादी कथानकों की व्यवस्था तथा व्यापक सामाजिक चित्रों के अंकन के स्थान पर स्मरण करने योग्य चरित्रों का निर्माण होने लगा। आधुनिक उपन्यासकार इन्ही चरित्रों के द्वारा नैतिकता का संकेत तथा भावों तथा का शृंगार करते हैं। मनुष्य के असली रूप का ठीक-ठीक पता लगाना इन उपन्यासकारों का मुख्य लक्ष्य रहता है, अथवा वे अपनी अन्वेषित अनुभूतियो की एक सूची तैयार करना चाहते है। वे मनुष्य के सम्बन्ध मे मनोवैज्ञानिक खोज करना चाहते हैं तथा मानव मन के अन्तर्गत प्रदेशों मे चलनेवाले गहनतम रहस्यपूर्ण विचारों को यथावत् चित्रित कर उसे सर्वसुबोध बनाना चाहते हैं। इस प्रकार आधुनिक उपन्यासकार अपनी खोजों के द्वारा जानना चाहता है कि वह कौन सा तत्व है जिसके कारण मानव सहज साधारण जीव नही बन पाता, तथा वह पूर्ववर्ती उपन्यासों में आए मनुष्यों से सर्वथा भिन्न है जिनमे अच्छे और बुरे की पहचान करना अत्यन्त सरल था। पहले जब मानव में इतनी ग्रन्थियाँ नहीं थी और उसके जीवन मे कुछ थोडे से ही आवश्यक तत्व थे, तो दो विशेष प्रकार के व्यक्तित्व सामने रखकर अच्छे बुरे की पहचान कर लेना अत्यन्त ही सरल था, जिससे हम किसी भी पुस्तक को समाप्त कर लेने पर निर्भ्रान्त भाव से निर्णय दे सकते थे कि कौन व्यक्ति बुरा और कौन अच्छा है। परन्तु आज के नवीनतम उपन्यासों में स्थिति बिल्कुल बदल गई है।

वास्तव में यदि सच पूछा जाय तो लोग न तो पूर्णत: अच्छे ही होते हैं, और न तो बुरे ही, उनका चरित्र न तो साधारण ही होता है और न तो मिश्रित ही। मनोविज्ञान के अनुसार मानव अधिक अर्थों में नदी के समान[1] है, वह उन तत्वों का गट्ठर मात्र नही है जिसे गुण कहते हैं, जो कभी तीव्र और कभी मंद गति से प्रवाहित होता है, जो कभी स्वच्छ है तो कभी गँदला। वह नदियों की भाँति प्रत्येक क्षण विभिन्न धरातल उपस्थित करता रहता है। किसी क्षण तो उसके अन्दर नेता के श्रेष्ठ गुण आ जाते हैं और दूसरे ही क्षण वह निम्नतम प्रवृत्तियों की प्रतिमूर्ति बन जाता है। प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तिगत जीवन तथा उसके पारस्परिक सम्बन्धों में यह बात लागू हो सकती है।

"चेतना धारा (Stream of consciousness) सतत प्रवहमान रहती है और उसका ऊपरी धरातल ऊर्मियों और बड़ी लहरों से सदैव आलोडित रहता है। जीवन के

---

1. Psychology teaches, a human being is more like a river than a bundle of qualities.

C. E. M. Joad. Aguide to modern thought.

वाह्य दैनिक व्यापार आन्तरिक चेष्टाओं और क्रियाओं की तुलना में नगण्य प्रतीत होते लगते हैं।"[1]

"मनोविज्ञान के क्षेत्र में बौद्धिक पलायनवाद और चारित्रिक नियतिवादिता के कारण, प्रभाव की अच्छी दृष्टि नहीं हो पाती। मनोविश्लेषणवाद विकसित मानवात्मा के मूल्यांकन मे त्रुटिपूर्ण दृष्टिकोण अपनाता है और इसमें बौद्धिकता के लिए अविश्वास है, परिणामस्वरूप अबौद्धिकता को प्रश्रय मिलता है। इसके अतिरिक्त यह जानने का प्रयत्न करना कि मनोविज्ञान की सत्यता की सीमा कहाँ तक है, इससे बढ़कर भूल दूसरी हो ही नहीं सकती।"[2]

"आज मनोविज्ञान मे सजीव प्रक्रिया की सोद्देश्यता अवश्य महत्वपूर्ण है, पर विभिन्न प्रोत्तेजना का विभेद आपत्तिपूर्ण है।" इस विभाजन के अनुसार बौद्धिकता और तर्क, सहज प्रवृत्ति के हाथ का खिलौना सिद्ध होता है। वह अपने इच्छानुसार सक्रिय न होकर इसी के आदेशो का अनुगामी है। अच्छा हो कि हम सजीव प्रक्रिया को उसकी सभी अभिव्यक्तियों में एकान्तिक और निरन्तर गतिशील मानें और पुनः इन अभिव्यक्तियों के उद्देश्य के आधार पर उनमें विभेद करें।"[3] एक ही सजीव प्रक्रिया हमें बुभुक्षित होने पर भोजन, तृषित होने पर जल, सासारिक होने पर वासना एवं मनोविकार तथा विरक्ति की अवस्था में ससार की निस्सारता दिखाने मे समर्थ होती है। यथार्थ मे मानव उद्देश्यो की दृष्टि से वह पाशव प्रवृत्ति से भिन्न है, उसकी प्रोत्तेजना एक विशिष्ट प्रोत्तेजना है। मनोविकारो की दृष्टि से मानव एवं पशु एक हो सकते हैं, पर विवेक एवं प्रोत्तेजना के क्षणो में उद्देश्य की दृष्टि से उनमे भिन्नता है। मानव को पशु के स्तर पर ले जाने का प्रयत्न सास्कृतिक विश्रृखलता एवं नग्नता का ही परिचायक है। इससे बड़ी विवेकशून्यता और क्या हो सकती है। अपने मन की खोज आवश्यक है, पर व्यक्तित्व को मान सकीर्णता से आबद्ध करके सीमित बना देना भयंकर अदूरदर्शिता है।

मानव हित मे होनेवाले सभी विकासो को उदारता पूर्वक ग्रहण करना जीवित जाति का लक्षण है, पर उसके अशुभ पक्ष की ओर से सदैव सावधान भी रहना चाहिए। 'विकास वह प्रक्रिया है जो हमारी अवचेतनीय अभिलाषाओं एवं अविवेकी इच्छाओ तथा पाशविक प्रवृत्तियो को तर्कपूर्ण दिशा प्रदान करता है। जो प्रोत्तेजना हमे पशु तुल्य बना देती है, वही हमें उच्चादर्शों पर भी ले जाती है। बौद्धिक प्रोत्तेजना के क्षणो में मानव उतना ही स्वतन्त्र है जितना कि सहज प्रवृत्तियो की प्रोत्तेजना के क्षणो में।...बौद्धिकता भी उच स्तर पर सहज प्रवृत्ति है। सत्य का आधार बौद्धिक है,

1. साहित्य सिद्धान्त—डॉ० रामअवध द्विवेदी पृ० १२२
2. C. E. M. Joad. Aguide to modern thought.
3. " "

पाशव नहीं।" जीवन की गति एवं विकास को स्वतः स्फुरित मान कर इसकी व्याख्या करना समीचीन है। हर अभिलाषा एवं सर्जन को अपनी मन.ग्रंथि का उदात्तीकरण मानना हास्यास्पद है।

विक्टोरियन उपन्यासों में एक रूपवती आकर्षक स्त्री के प्रति मनुष्य की भावना या तो पवित्रतम रहती थी, या तो वह अत्यन्त ही निम्न पंकिल दृष्टियों से देखी जाती थी। प्रत्येक प्रेम-प्रसंग स्वर्णिम तत्वों से भरे होते थे अथवा उसमें पंकिलता ही रहती थी। या तो उसके अन्दर सूर्य के प्रकाश की भाँति जीवन ज्योति रहती थी अथवा जंगलीपन से पूर्ण बर्बरता। इसके विपरीत आधुनिक व्यस्त मानव के जीवन में स्त्रियाँ साबुन के फेन की भाँति प्रयोग कर लेने के पश्चात् परित्यक्त कर दी जाती हैं, अथवा उनका मानव-प्रगति को बाधा पहुँचानेवाला स्वरूप ही सामने आ पाता है।

मानव मस्तिष्क जो साठ वर्ष पूर्व था वह आज नहीं है। उसके अन्दर पूर्व की अपेक्षा अधिक सूक्ष्मदर्शिता आ गई है। वह प्राचीन साधारण नैतिक चरित्रों की माँग नहीं करता और न तो मानव-जीवन सम्बन्धी सूचनाओं की ही अब उसे आवश्यकता रह गई है। वह मनुष्य के बाह्य जीवन की अपेक्षा उसके नित्यप्रति के आन्तरिक जीवन के अनुभवों तथा एक ही व्यक्ति के विभिन्न तत्वों के संघर्षों को अधिक जानना चाहता हैं। उसका एक व्यक्ति के दूसरे व्यक्ति से होनेवाले संघर्षों के प्रति उतना आकर्षण नहीं रह गया है जितना वह जीनेवाले के द्वारा उसकी जिन्दगी का अनुभव जानना चाहता है, जो वह जी रहा है। सदैव उपन्यासकार सच्चे जीवन के निकटतर पहुँचने का प्रयत्न करना चाहते हैं।

मनोविज्ञान का आन्दोलन हिन्दी साहित्य में जीवन-चरित्रात्मक उपन्यासों से ही आरम्भ हुआ। प्रायः ऐसी ही स्थिति विश्व के प्रत्येक साहित्य की रही है। इस प्रकार के उपन्यासों में उपन्यासकार एक व्यक्ति की कथा का सूक्ष्मातिसूक्ष्म चित्रण करना ही अपना चरम लक्ष्य मानता है। मानव-चरित्र विकास के विभिन्न स्तरों को स्पष्ट करने के लिए लेखकों ने पाठकों के सामने अनेक चित्रों की एक सूची उपस्थित की है जिसका सम्बन्ध एक व्यक्ति के जीवन से ही रहता है। उसे पालने पर खेलते, दाई की उपेक्षा करते, माता को प्यार करते, पिता पर क्रोधित होते, प्रथम बार स्कूल जाते, धार्मिक दीक्षा लेते, प्रेम करते, व्याह करते, तलाक देते, सफल असफल होने से लेकर मृत्यु आदि अवस्थाओं के सजीव चित्रों को उपस्थित करना उपन्यासों के द्वारा सम्भव हो सका। इस प्रकार उपन्यासों के अन्दर घटनाओं ने कथावस्तु का स्थान ग्रहण कर लिया है। उन्नीसवीं सदी के उपन्यासों की भाँति कथानक का महत्त्व अक्षुण्ण नहीं रह सका बल्कि उसका स्थान अत्यन्त गौण हो रहा। इस वर्ग के लेखकों ने प्रत्येक वस्तु को साहित्य के लिए समीचीन माना। मनुष्य के जीवन में जिन-जिन बातों का जिस प्रकार स्थान

;बनना रहता है, उसी प्रकार उन वस्तुओं को साहित्य के अन्दर स्थान मिलना आवश्यक है। इस प्रकार की मान्यताओं को स्वीकार करने का यह परिणाम हुआ कि आज के उपन्यास घटनाओं तथा धारणाओं से युक्त उलझे हुए थैले बनते जा रहे हैं जिनका एकमात्र सम्बन्ध नायक के जीवन तथा व्यक्तित्व के विकास से ही रह गया है।[1]

प्रथम विश्व महायुद्ध के आरम्भ के साथ-साथ साहित्य में यह भावना बढ़ने लगी थी कि प्रत्येक वस्तु को साहित्य के अन्दर उचित स्थान प्रदान करना चाहिए। इस प्रकार यदि लेखक का लक्ष्य साहित्यिक दृष्टि से प्रत्येक वस्तु को एक ही व्यक्ति के जीवन में रखना है तो यह एक इतना विशाल घेरा है कि जिसको पूर्ण करने के लिए लेखक को काफी दौड़ लगानी पड़ेगी। इसका अभिप्राय तो यही हुआ कि एक उपन्यासकार का क्षेत्र-विस्तार संक्षिप्त होना चाहिए परन्तु इस प्रकार के उपन्यासों से लक्ष्य की पूर्ति किस सीमा तक होगी, यह उपन्यासकार की उमड़ती हुई नई पीढ़ी अपनी कृतियों के द्वारा ही बतलायेगी। इस प्रकार हम यह भी आशा कर सकते हैं कि उनके अन्दर एक दिन, एक घण्टे और एक क्षण को घटनाओं एवं मनोदशाओं को भी समाहित किया जाय। यही कारण है कि अनुभव के एक क्षण को सम्पूर्ण रूप से उसकी भिन्नताओं एवं अधिकताओं के साथ उद्धृत करना उपन्यासकार का क्रमिक आदर्श बनता जा रहा है।

सभ्यता के आवरण में मनुष्य ने अपनी पाशविक प्रवृत्तियों को ढँक अवश्य लिया, परन्तु उसके अवचेतन मन में वे अत्यन्त सजग रूप में विद्यमान हैं, जो थोड़ा भी अवसर पाकर गेंद की भाँति उछल कर बाहर आने का प्रयत्न करने लगती हैं।

"मनुष्य के सारे कार्य व्यापारों में अन्तर्मन के अतल में दबी पड़ी इन प्रवृत्तियों का विशेष हाथ होता है। इस मनोवैज्ञानिक तथ्य से प्रभावित हो योरोप के उपन्यासकार बड़े वेग से अपनी रचनाओं में इसकी सत्यता प्रतिपादित कर चले। एक समय ऐसा आया कि मनोविश्लेषण की प्रवृत्ति संक्रामक रोग की तरह वहाँ के उपन्यास वाङ्मय में फैल गई। विज्ञान का ज्ञान कला का साधक होता है, किन्तु इसके लिए आवश्यकता इस बात की है कि कलाकार उस ज्ञान को पूर्ण आत्मनिमज्जित करके ही कलात्मक अभिव्यंजना करे। किसी भी वैज्ञानिक सिद्धान्त के प्रकाश में व्यक्ति को देखना बुरा नहीं। 'डास्टायवस्की' जैसे सिद्ध कलाकार सदैव ऐसा करते रहे हैं किन्तु आवश्यकता इस बात

---

1. Hence the Novel tended to become a rag bag of incidents and impressions linked to gether by nothing but the developing personality of the Hero.

   C. E. M. Joad Guide.to Modern Thought p. 292.

की है कि ध्यान व्यक्ति पर रहे सिद्धान्त पर नहीं।"[1] 'फ्रायड' के मनोविश्लेषण ने मनुष्य को और भी बड़ा आश्रय दे दिया है। उसने अच्छी प्रकार समझ लिया, मनुष्य ने सबसे गलत और अत्यधिक महत्त्व अगर किसी चीज को दिया है तो सेक्स को और उसकी यही गलती दिनों दिन समाज को और भी जर्जरित करती जा रही है। एक दिन ऐसा आयेगा जब 'सेक्स' को इतना अधिक महत्त्व देने के कारण ही सारा सामाजिक जीवन छिन्न भिन्न हो जायगा। उसे अफसोस इस पर होना था कि समाज मे दुनिया के एक कोने से दूसरे कोने तक दिन-रात चलनेवाले उच्छृङ्खल असामाजिक यौन व्यापार को देखते हुए भी मनुष्य और समाज ने अपने को ऐसा अन्धा बना रखा है कि अपने सिद्धान्तों की पुनः परीक्षा करने के बजाय उन्ही दकियानूसी सिद्धान्तों पर दृढ है। वास्तविकता को देखने का साहस और यथार्थता की रोशनी में नये सिद्धान्तों को कायम करने की प्रवृत्ति न रहने के कारण ही समाज को इतनी हाय-हाय करनी पड़ती है।

मनुष्य के होनेवाले कार्य-व्यापारों को लेकर ही नहीं, बल्कि उसके विचारों को लेकर ही उपस्थित किये गये चित्र मानव-जीवन के यथार्थ चित्र कहे जा सकते हैं। "आदिकाल से लेकर आज तक के विकास काल में सृष्टि के एक अज्ञात रहस्यमय नियम के क्रम से जो-जो वृत्तियाँ मानव अथवा पूर्व मानव के भीतर बनती और बिगड़ती चली गई, उनमें समयानुक्रम से संस्कार परिशोधन हुआ, वे नष्ट न होकर उसके अज्ञात चेतना लोक में संचित होती चली गईं। विकास की प्रगति के साथ-ही-साथ परिशोधित वृत्तियों के भी पुनः परिशोधन होते चले गये। पर जिन प्रारम्भिक प्रवृत्तियों का परिशोधन हुआ और उस नये परिशोधन के पूर्व की वृत्तियाँ भी अज्ञात चेतना के उसी अतल लोक में छिपकर अज्ञात ही रूप में संचित हो गईं, यह क्रम आजतक बराबर प्रवर्तित होता चला गया। इस अपरिमित दीर्घकाल के भीतर असंख्य मूल पशु प्रवृत्तियाँ और उनके संस्कार उस अगाध अज्ञात चेतना-लोक में दबे और भरे पड़े हैं। आधुनिक मनुष्य ने सभ्यता के ऊपरी संस्कारों के बल से अपने मन में अवश्य सफेदपोशी कर ली है, पर जिस परदे पर वह सफेदपोशी की गई है वह इतना झीना है कि जरा-सी बात में वह फट जाता है और उसमें तनिक भी छिद्र पैदा होते ही उसके नीचे दबी पड़ी पशु प्रवृत्तियाँ परिपूर्ण वेग से विस्फुटित होने लगती हैं। इन मूल पशु प्रवृत्तियों को जितने ही जोर से सभ्य मनुष्य नीचे को दबाता है उतने ही प्रवेग से वे रबर के गेंद की तरह ऊपर उछाल मारने लगती हैं।[2]

जहाँ तक यथार्थ चित्रण का प्रश्न है, उपन्यासकार यदि मनुष्य के कार्यों का तद्वत् चित्र उतारना चाहेगा तो उसे उसके कार्य-व्यापारों की भाँति ही उसके विचारों का भी

१—शिवनारायण श्रीवास्तव। हिन्दी उपन्यास पृ० २५४ तृतीय संस्करण

२—इलाचन्द्र जोशी—'प्रेत और छाया' की भूमिका से।

लेखा-जोखा लेना ही पड़ेगा कि वे करने के साथ ही साथ सोच क्या रहे हैं। इस प्रकार उपन्यासकार को बाध्य होकर लोगों के मस्तिष्क से भी सम्बन्ध रखना पड़ेगा और उसके भीतर (उपन्यासों में) अधिक पृष्ठों की व्यवस्था उसे केवल मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मातिसूक्ष्म मानसिक क्रियाओं तथा दिवा-स्वप्न आदि को चित्रित करने के लिए सुरक्षित रखनी होगी। इसका संकेत ऊपर कर दिया गया है कि मानव का क्रियाशील जीवन ही उसका सम्पूर्ण जीवन नहीं है, यहाँ तक कि वह सबसे महत्वपूर्ण जीवन भी नहीं है। सबसे अधिक महत्व है विचारों तथा भावनाओं से निर्मित आन्तरिक जीवन का। इसलिए उपन्यासों को यथार्थवादी बनने के लिए, उन्हें मनोवैज्ञानिक बनना ही पड़ेगा। 'अर्नोल्डबेनेट' के विरोध में जो मत प्रस्तुत किया जाता है, वह यही कि उपन्यासकार को विचारों एवं भावों से युक्त आन्तरिक जीवन का अंकन करना चाहिये।[1]

यदि और भी सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाय तो यह अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है कि जीवन का सत्य न तो मनोविश्लेषण में पाया जा सकता है, न तो मस्तिष्क में क्रिया और विकास में और न तो मनोवैज्ञानिक मनोभावों में, बल्कि वह मनोवैज्ञानिक क्षणों में पाया जाता है। एक प्रतिभावान उपन्यासकार जब अपनी कृति में अपना एक सन्देश देना चाहता है, तो वह जीवन किस प्रकार का होना चाहिए, इसके प्रति अपनी एक निश्चित धारणा बना रखता है। परन्तु साथ ही साथ जीवन किस प्रकार का है, इस ओर से भी उपन्यासकार अपनी आँखें मूँद नहीं लेता। जीवन के रहने का उसका सिद्धान्त 'फ्रायड' से प्रभावित है। यहाँ उसके सिद्धान्त से हमारा तात्पर्य 'अर्नोल्ड बेनेट' से है। इन्होंने फ्रायड से अपने दो सिद्धान्त लिये हैं, १—मनुष्य का चारित्रिक स्रोत विचार और भावना से जो अवचेतन मन में रहता है, २—दूसरा यह कि मानव जीवन यौन-व्यापारों से अत्यधिक प्रभावित रहता है। 'लारेंस' ने अवचेतन मन को एक 'अण्डर ग्राउण्ड' कैदी के समान माना है, जो जमीन के अन्दर रहते-रहते अस्वस्थ हो गया है, जो सामाजिक जीवन से बहिष्कृत कर दिया गया है, परन्तु कभी-कभी उन्माद के क्षणों में, मुख्यतः यौन सम्बन्धी शारीरिक भूख के क्षणों में वह दीवाल तोड कर बाहर आ जाता है, जहाँ वह जोर जोर से चिल्लाता है। बहुत से लोग सोचते हैं कि वे उसी प्रकार प्रसन्न हृदयवाले व्यक्ति हैं, जिस प्रकार बन्दी श्वान अपने स्वामी की इच्छाओं के अनुसार प्रसन्न रहता है, क्योंकि वे भी सामाजिक परतन्त्रताओं को उसी श्वान की भाँति ही स्वीकार कर लेते हैं, उन्हें जंगली कामोत्तेजना से रोका गया है, और इच्छा रूपी लौह द्वार से उनपर प्रतिबन्ध लगाया गया है। इन प्रतिबन्धों के

1—Novelist should seek to record the inner life of thought and feeling.

C. E. M. Joad, Guide to Modern Thought.

भीतर कुलाँचनेवाली स्वाभाविक प्रवृत्तियो के सहज चलनेवाले कार्य-व्यापारो की अभिव्यक्ति से बहुत लोगो को सन्तोष मिला है और उन्होंने अपने जीवन के शुष्क क्षणों के अभाव की इसमे पूर्ति की है। 'लारेन्स' ने आत्मसंयम को अच्छा नहीं माना, उसके अनुसार, "इच्छाओं का दमन और त्याग करके मनोवृत्तियो को सन्तुष्ट करना बुरा है। मनुष्य के जीवन को बन्द कैदी की भाँति रखने की अपेक्षा यदि उसे खुली धूप मे रखा जाय तो उससे मानव-जीवन कहीं अधिक सुखी हो सकता है।"[1]

'डायकाट' का कहना है कि मैं किसी भी चीज को तब तक सत्य नहीं मानता जब तक कि उसका पूरा ज्ञान नहीं प्राप्त कर लेता। मैं हर एक विषय पर ऐसी छान-बीन करना चाहता हूँ कि कोई भी वस्तु कहीं छूट न जाय। वह मनुष्य के जीवन का कोई ध्येय नहीं मानता। वह मनुष्यो को इन्द्रियो की कठपुतली मात्र समझता है। मनुष्यों के अधिकतर कार्य उसके अनुसार स्वेच्छा पर निर्भर हैं। मनुष्य वही कार्य करता है जो उसकी अन्तर्वृत्तियो को प्रिय लगता है। 'हाब्स' के अनुसार मनुष्य की सब प्रवृत्तियाँ तथा भावनाएँ इन्द्रियों पर आश्रित हैं। इच्छा और घृणा मनुष्य की दो मूल वृत्तियाँ हैं, जिनके आधार पर भूख, वैभव, रोना, हँसना, दया, क्रोध, प्रेम, दान, लज्जा, दुःख और सुख आश्रित हैं। हाब्स' ने मानव जीवन की तुलना घोडे की दौड़ से की है। इस दौड का एकमात्र ध्येय सर्व-प्रमुख होना है। अधिकार सुख की मादकता ही मनुष्य जीवन को अनेक मार्गों पर चलने के लिए प्रेरित करती है। व्यक्ति का प्रत्येक कार्य जीवनरूपी दौड में सर्व-प्रथम होने के लिए ही होता है। मनुष्य का अपना कोई लक्ष्य नहीं होता, उसके सारे कार्य उसकी अन्तरप्रवृत्तियो के संकेतों पर होते हैं। वह इतना चैतन्य नही है कि बैठकर सुख-दुःख की मात्राओं की नाप-जोख करता रहे और तब कोई कार्य करे।

मनुष्य प्रकृति से ही एकाकी होता है। उसके साथ साथ रहने मे दुःख होता है, सुख नहीं, जब तक कि कोई शक्ति उसे रहने के लिए वाध्य न करे। 'हाब्स' का व्यक्ति घर से बाहर निकलता है तो पूरब में एक आकर्षक वस्तु दिखलाई पड़ती है, वह उसी ओर बढ़ने लग जाता है। फिर दक्षिण की ओर इसी ध्येय से उठता है। इस प्रकार वह टकराता हुआ कहीं-का-कहीं पहुँच जाता है। 'मेकियोवेली' के अनुसार मनुष्य

1—His view is that the supression and renunciation of instinctive satisfactions which society demands of human beings are bad for them, and men's lives woule be happier and freer if the unconscious instead of being kept a cabinprisoner withheld from the light were, given free access to consciousness."

C. E. M. Joad. Guide to Modern Thonght P. 310

स्वभावतः कृतघ्न, सनकी, धोखेबाज भीरु और लालची होते हैं। उनमें इच्छाएँ होती हैं जिनकी पूर्ति के लिए वे निरन्तर प्रयत्नशील रहते हैं। मनुष्य को साधारणतः धर्म या अधर्म का विचार नहीं रहता। प्रेम के बन्धन को जनक ऐसे अवसरों पर वे तोड़ देते हैं जहाँ उनके स्वार्थ पर आघात होने लगता है। उन्हें सुगमता से धोखा दिया जा सकता है। "यदि मनुष्य किसी को धोखा देना चाहता है, तो उसे कुछ न कुछ ऐसे व्यक्ति अवश्य मिल जाते हैं, जो धोखे में पड़ जाते हैं।" ऐसी प्रवृत्तिवाले मनुष्यों को बल प्रयोग द्वारा ही अच्छा बनाया जा सकता है। प्रत्येक मनुष्य अपने परिवार को अपना ही वृहत्तर रूप समझता है, यही कारण है कि वह इससे उतना एकान्त नहीं ग्रहण करना चाहता।

जहाँ तक सभ्य समाज का प्रश्न है, सभ्य लोगों की रुचि भावुकता से नहीं, बल्कि बुद्धि से सीमित होती है और किसी भी वस्तु को सत्य मानने के पूर्व वे उसे तर्क की कसौटी पर पूर्णरूपेण कस कर देख लेते हैं। भावुकता और भूख के समय विश्व के सभी प्राणी समान स्तर पर आ जाते हैं। यह भूख चाहे क्षुधा सम्बन्धी हो अथवा यौन सम्बन्धी। भूख में अच्छे भोजन और पीने (नशा) के बाद एक सुन्दरी की कामना सभी करने लगते हैं।

मनोविज्ञान एवं मनोविश्लेषण के माध्यम से उपन्यासों के अन्दर किस प्रकार मानव-जीवन का यथार्थ चित्रण किया जा सकता है, इसके सिद्धान्तों की विवेचना ऊपर की जा चुकी है। अब इसकी परीक्षा करके भी देख लेना है कि कहाँतक उपन्यासकार अपने प्रयत्नों में इस प्रकार सफल हो सका है। मानव-जीव विज्ञान की अपेक्षा कला के अधिक निकट है, क्योंकि मन एवं विचार सम्बन्धी उसके जितने भी कार्य-कलाप हैं, वे विज्ञान के नियमों की भाँति निश्चित नहीं, बल्कि कला के नियमों की भाँति अनिश्चित हैं। मनोविश्लेषणात्मक उपन्यास जिनका कि मूल आधार वैज्ञानिक है, कभी भी व्यापक-मानव जीवन का स्पर्श करके चल ही नहीं सकते। कोई भी उपन्यास कितना ही यथार्थ क्यों न हो यदि उसके अन्दर मनुष्य की जीवन-चेतना नहीं है तो सामाजिक दृष्टि से उसका कोई मूल्य नहीं। मनोविश्लेषणात्मक उपन्यासकारों का कहना है कि वे इसके द्वारा मनुष्य के अवगुणों को उसके सामने खोलकर रख देते हैं, जिससे उसे स्वयं अपने अवगुणों के प्रति घृणा उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार हम यह प्रयत्न करते हैं कि अपने आप समाज के दोष दूर हो जायँ। परन्तु यही एक सिद्धान्त अन्तिम सत्य के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि जहाँ पर किसी एक व्यक्ति के मन में स्त्री के नग्न स्वरूप को देखकर विकर्षण एवं विराग उत्पन्न हो सकता है, वहाँ दूसरे ऐसे व्यक्ति भी मिलते हैं जिनके अन्दर प्रबल आकर्षण एवं आलिंगन की उत्कट अभिलाषा भी जग सकती है।

इस प्रकार के उपन्यासो के अन्दर मनुष्य-समाज की अपेक्षा एक व्यक्ति के यथार्थ जीवन-चित्रण पर अधिक बल दिया जाता है। इस सीमा तक तो बात समझ में आ जाती है कि किसी एक वस्तु को लेकर उसका सूक्ष्म विवेचन अधिक ईमानदारी के साथ किया जा सकता है, जितनी ईमानदारी वस्तु-समूह के साथ सम्भव ही नही है। परन्तु व्यक्ति जड़ वस्तु नही है, -वह एक चेतनाशील जीव है। मनुष्यों के अन्दर एकता होते हुए भी उसके विचारो में अनेकता है। जहाँ तक निर्जीव वस्तु का प्रश्न है एक वस्तु का विवरण उपस्थित कर देना, उस प्रकार की अनेक वस्तुओ के लिए पर्याप्त ही नही सत्य भी हो सकता है, परन्तु एक व्यक्ति का विवरण उपस्थित करके मानव मात्र के विवरण कर देने अथवा जान लेने की कामना कर लेना असत्य ही नही, निर्मूल और अपर्याप्त भी है। समाज के अन्दर व्यक्ति भी दो प्रकार के होते हैं, एक तो साधारण औसत व्यक्ति से कम मस्तिष्क (सब-नार्मल माइण्ड) रखनेवाले और दूसरे साधारण औसत व्यक्ति से अधिक मस्तिष्क (अबनार्मल माइण्ड) रखनेवाले व्यक्ति। मनोवैज्ञानिक एवं मनोविश्लेषणात्मक उपन्यासों के अन्दर साधारण औसत व्यक्तियों का चित्रण नही होता, बल्कि उपन्यासकार असाधारण व्यक्तियों को लेकर ही उनका सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन करता है, जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इस प्रकार के उपन्यासों के अन्दर समाज में पायेजाने वाले एक प्रकार के सभी व्यक्तियों का भी चित्रण नहीं हो पाता। ऐसी स्थिति मे यदि हम ऐसे उपन्यासों के ऊपर विश्वास कर सम्पूर्ण मानव-समाजके वास्तविक जीवन का अनुमान लगा बैठें तो बड़ा ही धोखा होगा।

ऐसे उपन्यासो के द्वारा एक भी ऐसा चित्र नही उपस्थित किया जा सकता जो सम्पूर्ण मानव का चित्र हो, पर इसका तात्पर्य यह नही कि इस प्रकार के चित्रणों का कोई मूल्य नही है। जबतक उपन्यासकार इसे अपने चित्रण का साधन समझ कर प्रयोग मे लाता है, वह उपन्यासो की दुनिया के एक बहुत बड़े अभाव की पूर्ति करता है, क्योकि उपन्यासों के अन्दर बाह्य यथार्थ का व्यापक चित्र तो आ चुका था परन्तु आभ्यांतर यथार्थ का चित्रण इन्ही मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के द्वारा ही सम्भव हो सका, परन्तु जब लेखक इसे साध्य के रूप में स्वीकार करने लग जाता है तो वहीं कला में विकार उत्पन्न हो जाता है जिससे साहित्य मंगल के स्थान पर अमंगलकारी हो जाता है।

साहित्य मे आधुनिक मनोवैज्ञानिक प्रणाली के समर्थको ने मानव-जीवन के यथार्थ चित्रण के प्रश्नों के उत्तर ढूँढ़ने में काफी छानबीन की है और इसमें सन्देह नही कि उसमें तथ्य भी है, परन्तु इस प्रणाली द्वारा "मनोविज्ञान शास्त्र की प्रगति अवश्य हुई है और अनेक कलात्मक कार्य करने का एक नया आधार साहित्य को भी मिला। परन्तु स्वतः साहित्य का लाभ क्या हुआ, कहना कठिन होगा।"[1] जब

१—एस० पी० खत्री 'आलोचना इतिहास तथा सिद्धान्त', पृष्ठ ५५७।

कृति के अन्दर कृतिकार के सिद्धान्त साधन न होकर साध्य हो जाते हैं तो ऐसी स्थिति में साहित्य अपने लक्ष्य से दूर चला जाता है। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते समय कलाकार के लिए आवश्यक है कि वह अपने पात्रों के विकास-क्रम में स्वयं अपनी मानसिकता का दुर्बल पहलू अज्ञात रूप में सामने न रख दे[१]।' मनोविज्ञान के सहारे साहित्य के अन्दर जहाँ तक स्वाभाविकता लाने के लिए चित्रण किये जाते हैं, वहाँ तक यह प्रणाली साहित्य के लिए अत्यन्त उपयोगी है।

इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दी-साहित्य के अन्दर कुछ उपन्यासों द्वारा प्रेमचन्दयुगीन कला सम्बन्धी अभावों की पूर्ति हुई है। आचार्य पण्डित रामचन्द्र जी शुक्ल को भी यह अभाव खटका है। उन्होंने पूर्ववर्ती उपन्यासकारों के सम्बन्ध में लिखा है कि "मनोवृत्ति की अस्थिरता का वह चित्रण अभी बहुत कम दिखाई पड़ा है जिसके अनुसार कुछ परिस्थितियों में मनुष्य अपने शील-स्वभाव के सर्वथा विरुद्ध आचरण कर जाता है[२]।" जिसका चित्रण मनोवैज्ञानिक प्रणाली द्वारा संभव हो सका है।

यदि हम मनोविज्ञान के सामान्य अर्थ को लें तो इसका प्रयोग हमें पात्रों के चरित्र-निर्माण में प्रेमचन्द के उपन्यासों से ही मिलने लग जाता है। प्रेमचन्द जी ने पात्रों का निर्माण अत्यन्त मनोवैज्ञानिक ढंग से किया है। उदाहरण के लिए हम उनके 'निर्मला' उपन्यास के पात्रों को ले सकते हैं। 'जैनेन्द्र कुमार' के उपन्यासों में हमें इससे कुछ भिन्न प्रणाली के दर्शन होते हैं क्योंकि उनके उपन्यासों की आधार-भूमि प्रेमचन्द की भाँति व्यापक न होकर वैयक्तिक है। इसका प्रधान लक्ष्य कहानी सुनाना नहीं है; अतः इसमें बाह्य संघर्ष का प्राधान्य नहीं है। 'सुनीता' इसी प्रकार की रचना है, जिसमें अन्तःसंघर्ष है। इनके उपन्यासों को चरित्र-प्रधान उपन्यास कहना ही संगत होगा। चरित्रों के अन्तर्द्वन्द्व दिखलाने में शरद् की भाँति जैनेन्द्र कुमार को भी कमाल हासिल है।

आज जिन उपन्यासों से हम मनोवैज्ञानिक उपन्यासों का अर्थ लेते हैं, उनकी रचना-पद्धति एवं वस्तु विन्यास सर्वथा नवीन है। मनोविज्ञान की चरम उन्नति और उससे पाई हुई मनोविश्लेषण पद्धति इस काल की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण घटना है जिसमें अन्तर्जगत, जो बाह्य जगत से कहीं अधिक जटिल है, पर ही विशेष आग्रह दिखलाया जाता है।

मार्क्सवाद

'मनोविज्ञान' की भाँति 'मार्क्सवादी' सिद्धान्तों ने भी 'यथार्थवाद' के क्षेत्र में युगान्तर प्रस्तुत किया है। इस विधा के विचारकों के अनुसार साहित्यिक एवं सामाजिक

१—श्री गंगाप्रसाद पाण्डेय एम० ए० 'आधुनिक कथा साहित्य' पृ० २०५।
२—आचार्य पण्डित रामचन्द्र जी शुक्ल 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' पृ० ५३६।

व्यवस्था का आधार आर्थिक है। यह सिद्धान्त प्रमुख रूप से दो रूपों में विभक्त है। प्रथम स्वरूप में वह सृष्टि और समाज का विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत करता है और द्वितीय स्वरूप में इसी के आधार पर सामाजिक परिवर्तन के मानदण्डो को निर्धारित करता है। 'ऐंजिल्स' ने सामाजिक गत्यात्मकता को नियमबद्ध माना है। अतएव ये प्रमुख रूप से इसकी व्याख्या के लिए प्राकृतिक नियमों को समझने और समझाने का साधन प्रस्तुत करते हैं। इसीलिए इनके दर्शन' में हमें सृष्टि एवं समाज के आधारभूत सिद्धान्तों का समन्वय दृष्टिगोचर होता है। 'मार्क्सवाद' का प्रमुख दार्शनिक दृष्टिकोण द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद है। "द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद वह दर्शन है जिसके अनुसार सृष्टि का मूल सत्य पदार्थ है किन्तु जो निरन्तर परिवर्तनशील अवस्था में होने के कारण द्वन्द्वात्मक प्रणाली से ही जाना जाता है। भौतिकवादी प्रत्यय और पदार्थ में पदार्थ को प्रथम स्थान देते हैं।"[१]

'मार्क्स' के पूर्व भी इस सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ था। 'हीगेल', 'लुडविगफ़ायर वाख' और वास्तविकतावाद (Positionist) के लेखकों के विचारों में हमे इसके सूत्र उपलब्ध होते हैं। 'मार्क्स' के परवर्ती 'लेनिन', 'स्टालिन', 'प्लेखनोव', 'ट्राटस्की', 'माओ-त्से-तुङ्' तथा 'ख्रुश्चेव' के प्रवचनों में उसका परिष्कार हुआ है। 'हीगेल' के द्वन्द्व सिद्धान्त में हमे 'थीसिस' "एण्टीथीसिस' एवं 'सिंथिसिस"[२] का सिद्धान्त उपलब्ध होता है। 'फ़ायरवाख' की कृतियों में भौतिकता की व्याख्या स्पष्ट शब्दों में दीख पड़ती है। 'मार्क्स' के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के मेरुदण्ड के रूप में पूर्ववर्ती विचारकों के इन सिद्धांतों को ग्रहण किया जा सकता है। 'मार्क्स' ने भी 'हीगेल' के वाद-प्रतिवाद एवं संवाद को कुछ भिन्नता के साथ मान्यता दी है। उसके अनुसार हर वस्तु में विरोधी तत्व निहित रहते हैं। ये ही तत्व कालान्तर में उसका विरोध करने लगते हैं, इस प्रकार द्वन्द्व की स्थिति का आविर्भाव होता है। इसी द्वन्द्वात्मक स्थिति से नवीन परिस्थिति का आविर्भाव सम्भव होता है। इसी मान्यता के सन्दर्भ मे उसने मानव इतिहास का अध्ययन प्रस्तुत किया है। उसके अनुसार समाज के आदि से लेकर अद्यतन काल तक उसे पाँच श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है।

(१) प्राचीन समाज—Primitive Society
(२) मध्यकालीन समाज—Medieval Society
(३) सामन्तवादी समाज—Feudal Society
(४) पूँजीवादी समाज—Capitalistic Society
(५) सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व—Dictatrship of the proletariat

१—हिन्दी साहित्य कोष-मार्क्सवाद—५६०
२—वाद, प्रतिवाद एवं संवाद

'सोवियत साहित्य के मानसिक स्वरूप में निहित हैं और जिस पर उसका भविष्य निर्भर करता है।

'समाजवादी यथार्थवाद' अपने यथार्थ स्वरूप में एक सिद्धान्त न होकर उलझन-पूर्ण विचार है। 'समाजवादी यथार्थवाद' के सिद्धान्त पक्ष पर स्वयं 'सोवियत' लेखक सहमत नही हैं। देश एवं काल के अनुसार सभी सिद्धान्तो मे परिवर्तन होता है। सोवियत का समाजवादी यथार्थवाद भी चिन्तन के कई स्तरो से गुजर चुका है। 'मार्क्स' से लेकर 'प्लेखनोव' तक इसकी एक स्थिति है और 'प्लेखनोव' के उपरान्त व्याख्याओ के पेबन्द से यह इस प्रकार भर गया है कि समयानुसार इसके यथार्थस्वरूप के अभिज्ञान मे भी कठिनाई होती है। मैं कला को 'जीवन के लिए' के सिद्धान्त को मान्यता प्रदान करता हूँ, पर इस मान्यता में कला को सामाजिक प्रचार और राजनीतिक टक्सालेबाजी के हाथ का कठपुतला मानने के लिए कभी भी उत्सुक नही हूँ। इन विवेचको के लिए 'समाजवाद' प्रथम महत्त्व की वस्तु है और यथार्थवाद द्वितीय। इस प्रकार की सोद्देश्यता कलात्मकता के लिए प्राय भयङ्कर अभिशाप सिद्ध होती है। इस प्रकार की सैद्धान्तिक अवसरवादिता से साहित्य का अहित होता है। "मार्क्सवादी सिद्धान्त १९वी शताब्दी के जर्मन दर्शन, अंग्रेजी अर्थशास्त्र, फ्रांसीसी समाजवाद से प्रभावित था।"[1] ऐंजिल्स ने स्वत इस बात को स्वीकार किया है "हम जर्मनी के समाजवादी इस बात का गर्व करते हैं कि हमने अपने सिद्धान्त को न केवल 'फोरियर ओवेन' और सन्त 'साइमन' के विचारों से अलङ्कृत किया अपितु 'काण्ट', 'फिक्टे' और 'हीगेल' के भी हम ऋणी हैं। जर्मनी का श्रमिक आन्दोलन वहाँ के दार्शनिक विचारो की छत्रछाया मे पला है।"[2] आज कहाँ है 'समाजवादी यथार्थवाद' की वह पाचन क्षमता। 'मार्क्स' एव 'ऐंजिल्स' के नाम पर उनके सिद्धान्तो की दुहाई देकर उन्ही के कलात्मक विचारो को त्रुटिपूर्ण ढग से प्रस्तुत करके क्रान्ति के गीत गाना तो सरल है, पर समन्वयवादी दृष्टिकोण अपना कर जनहित की बात सोचना कठिन।

जिस प्रकार की परम्परावादिता, अन्धानुकरण एवं विकासावरोध की स्थिति आज इस सिद्धान्त मे है वह इसके अच्छे भविष्य की सूचक नही। सैद्धान्तिक कठोरता एवं आग्रह, सौन्दर्यबोध की मसृणता की उच्च आकांक्षाओं का समन्वय कर सकने मे असमर्थ है। मानवमात्र मास का लोथडा नही उसे मात्र रोटी के टुकडो की आवश्यकता नहीं उसकी भी आकांक्षाएँ हैं, इच्छाएँ हैं, अभिलाषाएँ हैं। इन सबकी अवहेलना करके उसे मात्र अर्थ का गुलाम मानना असगत है :

---

1. Gutar a Walter–Dialechical materialism P. 3
2. Ibid. P. 3

'समाजवादी यथार्थवाद' का प्रयोग जिन अर्थों में हो रहा है उसके अनुसार 'समाजवादी यथार्थवाद' के मूल में जीवन को गतिशील रूप में चित्रित करने की अभिलाषा निहित है। यह जीवन के क्रमिक विकास तथा व्यक्ति और समाज के भाग्य-सूत्रों का सम्मिलित एक ऐसा चित्र उतारना चाहता है जो विस्तृत ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की विपरीत दिशा की ओर उन्मुख हो। समाजवादी यथार्थवाद सामाजिक विषमताओं के मूल कारण को पहचान कर उन्हें विनष्ट करने का प्रतिक्रियात्मक हल प्रस्तुत करता है। इसके अन्दर ऐसे समाजों का चित्र उपस्थित किया जाता है जो उपेक्षित निम्न श्रेणी के हों तथा जीवन-यापन के लिए प्रस्तुत अपनी विषम परिस्थितियों से संघर्ष कर रहे हों।

रूसी राज्यक्रान्ति के बाद साहित्य को मार्क्सवादी संकेतों पर चलने के लिए बाध्य किया गया और नये समाज के निर्माण हो जाने पर रूसी विचार के समर्थकों ने एक नये वाद का नाम गढ़ा, वही था 'समाजवादी यथार्थवाद' (सोशलिस्टिक रियलिज्म)। राज्य की योजनाओं का समर्थन साहित्यकारों से कराया गया और उन्हें प्रचार का माध्यम बनाया गया। साहित्य की कोई अपनी सत्ता वहाँ न रह गई जिससे उसमें स्थायित्व बहुत कम है। समाजवाद अभी अपनी प्रारम्भिक स्थिति में है, जितनी अवस्था में से नवजात शिशु आगे बढ़ता है, वैसी ही स्थिति इसकी है। फिर भी इसमें इतनी योग्यता है कि इसकी जाँच-पड़ताल की जाय।

'पूँजीपतियों के यथार्थवाद और समाजवादी यथार्थवाद में अन्तर है, एक स्पष्टतः स्थायी रूप से सीमित है, दूसरा सम्भावित रूप से सीमित नहीं बल्कि गतिशील है और इतना इसके विषय में और जान लेना आवश्यक है कि यह दलगत साहित्य नहीं है और न इसका किसी राजनैतिक संस्थाओं से ही सम्बन्ध है, बल्कि दूसरे शब्दों में, व्यापक दृष्टिकोण से यह एक प्रकार की ग्राहकता तथा विशेष दृष्टिकोण है[1]।'

साहित्य का पहला अंग है भाव जिसके लिए कल्पना का योग अपेक्षित है, और ऐसी कल्पना जो अनुभूति के आधार पर खड़ी हो। साहित्य काव्य है, इतिहास नहीं। इसमें हृदय को स्पन्दित करने की शक्ति होती है। साहित्य में उन उच्चतम भावों की व्यंजना होती है, जो समाज को उन्नतिशील बनाने में सहायक भी होते हैं। अतः विशिष्ट भावों की व्यंजना करने का साधन काव्य है। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या

1. "There is differance between bourgeioust and socialist realism, the one is fairly rigidly limited, the other is potentially unlimited. And again it must be repeated that this is not a matter of Party or political affiliaton but outlook and perception in the broadest sense."

H. Fast, Literature and Reality, p. 46-47

काव्य के द्वारा विशेष साम्प्रदायिक मतो के आचार-विचार का प्रचार करना ठीक है। काव्य के उद्देश्य और प्रचार मे महान अन्तर होता है। साहित्य लोक मंगल की भावनाओं का अनुभव करता है और प्रचार अपने मत विशेष का विज्ञापन तथा अपनी ओर आकृष्ट करने की चेष्टा करता है। आचार्य मम्मट ने काव्य रचना को यश, अर्थ, व्यवहार-कुशलता, अनिष्ट से रक्षा तथा तत्काल आनन्द की प्राप्ति और उपदेश कहा है।

मार्क्सवादी आलोचना साहित्य को स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार नहीं करती है बल्कि उसे समाज के विकास मे एक अङ्ग के रूप मे ही स्वीकृत करती है। इस प्रकार के आलोचक साहित्य मे आर्थिक आधार पर सामाजिक दशा का विवेचन करने की माग करते है। जिस युग के अन्दर आलोच्य काव्य का निर्माण हुआ हो, उस युग की आर्थिक प्रणाली की विवेचना उनके अनुसार होनी आवश्यक है। उपर्युक्त दोनो परिस्थितियो के अनुसार सामाजिक मनोविज्ञान तथा मानसिक और बौद्धिक अवस्था का निर्धारण साहित्य के अन्दर होना चाहिये।

'काडवेल' काव्य का मूल आधार आर्थिक मानता है। काव्य मे सामूहिक भाव की व्यजना होती है अर्थात् साहित्यकार अपनी रचना मे अपने वर्ग या समाज के स्वार्थों से परिचालित होकर तदनुरूप भावो की व्यजना करता है। साहित्य समाज में योग देने वाला एक अङ्ग है, और यह श्रम को हल्का भी बनाता है। समाजवादी यथार्थवाद की विवेचना प्रगतिवादी साहित्य के अन्दर की गई है। यह प्रगतिवादी साहित्य का एक प्रधान अंग है।

प्रगतिवादी शब्द आजकल दो अर्थों के लिए प्रयोग में लाया जा रहा है, एक तो सामान्य राष्ट्रीय और सामाजिक कविताओं के लिए दूसरे मार्क्सवादी विचारधारा से अनुप्राणित रचनाओं के लिए, जिसमे कम्युनिस्ट पार्टी का दलगत साहित्य है, और इसमे रूसी कम्युनिस्ट पार्टी के नेता को ही अधिक महत्त्व दिया जा रहा है। इस प्रकार के साहित्य की रचना कुछ निश्चित प्रवृत्तियो को लेकर की जाती है, जैसे—

१—स्वतन्त्रता की भावना
२—क्रान्ति की पुकार
३—समाजवादी यथार्थवाद
४—सामाजिक समस्याओं के प्रति जागरूकता
५—काव्य के विषय में अति सामान्य धारणा
६—बौद्धिकता और व्यग्य का प्रसार।

जब कोई विदेशी राजसत्ता भारत पर अपना प्रभुत्व बनाये रखने की चेष्टा करे तो यह स्वाभाविक है कि यहाँ के निवासियो के मन में देश की स्वतन्त्रता प्राप्त करने की दुर्दमनीय भावना प्रकट हो, परन्तु दूसरे रूप में आर्थिक स्वतन्त्रता की भावना आज प्रबल

हो रही है। आज की दुनिया दो प्रकार की है, एक गरीबों की और दूसरी अमीरों की, एक शोषित की और दूसरी शोषक की। परन्तु यह कहना नितान्त भ्रान्तिमूलक है कि 'अन्याय' शोषण को जो व्यक्त करे, जिसमें मजदूरों की पुकार हो, किसानों का क्रन्दन हो, जो वर्गवाद का गला टीप दे तथा जो पूँजीवाद की पूँछ में पलीता लगा दे', वही प्रगतिवादी साहित्य है।' ऐसा साहित्य प्रगतिवादी साहित्य नहीं, वर्गवादी साहित्य है। साम्यवादी यथार्थ के बारे में भारी भ्रम है कि केवल मजदूर किसान के विषय में लिखा साहित्य ही यथार्थवादी साहित्य है। जो साहित्य सम्पूर्ण समाज की भावनाओं को उकसा कर उन्नति के सामान्य धरातल पर लाने का प्रयत्न नहीं करता, न तो वह प्रगतिवादी साहित्य कहा जा सकता है और न वह समाजवादी यथार्थवाद की अभिव्यक्ति का ही गौरव प्राप्त कर सकता है।

समाजवादी यथार्थवाद के साथ-साथ एक निश्चित भाव-धारा सन्निहित हो चली है। इस प्रकार के साहित्य की उपयोगिता यही है कि इससे पूँजीवाद के नाश और समाजवाद की विजय में योग मिल सके। इससे यह आवश्यक हो जाता है कि लेखक समाज के उन मूल तत्वों को पकड़ने का प्रयत्न करे जिनके द्वारा समाज की क्रान्तिकारी शक्तियों को बल प्रदान किया जा सके। समाज की वे शक्तियाँ यथार्थ की आधारशिला पर खड़ी होकर यदि समाज को आमूल परिवर्तित कर आर्थिक समानता के लिए सभी को समान अवसर प्रदान करने और वर्गहीन समाज की स्थापना करने में सफल हुई तो लेखक की पूरी सफलता कही जा सकती है।

कोई भी साहित्य समाज के निम्न वर्ग की भयंकर यातनाओं से भरी स्थिति का चित्रण मात्र कर देने तथा उनकी दयनीय बस्तियों, उनकी क्षुधातुरता और उनकी अनेक कष्ट-गाथाओं को चित्रित मात्र कर देने से समाजवादी यथार्थवाद का प्रतिनिधि साहित्य नहीं कहा जा सकता और न तो अल्पसंख्यक पूँजीपतियों की विलासिता और अकर्मण्यता आदि को ही दिखला देने से यथार्थवादी साहित्य बन सकता है क्योंकि इस प्रकार वह जीवन के एक पक्ष का ही उद्घाटन करेगा जो निष्क्रिय तथा निराशापूर्ण होगा। यथार्थवादी साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि वह समाज के मूल में सक्रिय क्रांतिकारी शक्तियों को पहचान कर और उनके द्वारा बढ़ते हुए आन्दोलन का उल्लेख करके पूँजीवाद के नाश और निम्न वर्ग की विजय में पूरी आस्था व्यक्त करे जिससे निराशा तथा जीवन के दाँव हारे हुए निम्न स्तर के लोगों में आशा का संचार हो और वे अपने को इस योग्य बना सकें कि समाज की विषम परिस्थितियों से धीरता के साथ संघर्ष कर सकें।

---

१. कृष्णदेव प्रसाद गौड़—सरस्वती पत्रिका जुलाई '४२।

"इस प्रकार यह स्पष्ट है कि समाजवादी यथार्थ पहले समाजवादी और तब यथार्थवादी है। वह अर्थ को समाजवादी दृष्टि से देखता है। वह प्रकृतवादियो (नेचुरलिस्ट) की तरह सम्पूर्ण बाह्य जगत को ज्यो का त्यो स्वीकार करके जीवन की ऊपरी सतह पर दिखायी देनेवाली स्थूल अवस्थाओ को चित्रित मात्र नही करता, बल्कि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के आधार पर जीवन और जगत की परिस्थितियो का विश्लेषण करके समाज के भीतर छिपी भविष्य की नियामक शक्तियो की अभिव्यक्ति करनेवाली सामाजिक परिस्थितियो का चित्रण करता है'[1]।

समाज का बहुसख्यक भाग थोडे से शोषक धनाढ्यो द्वारा शोषित हो रहा है। तटस्थ पर्यवेक्षण करनेवाले बहुत से लेखक भी इस बात को बहुत अंशो मे सत्य मानते हैं। व्यक्तिगत रूप से उनके विचार साहित्यिक सिद्धान्तो के सम्बन्ध में जो भी हो, पर वर्तमान समय मे अर्थ की प्रधानता और शोषकवर्ग की स्वार्थलोलुपता के प्रश्न पर सभी मे मतैक्य हो सकता है। बालजक, फ्लावेयर, इलियट और लारेंस मे कोई रायलिस्ट, कोई पैसिफिस्ट है और कोई कैथोलिक है, पर समाज का जैसा चित्रण इन्होने किया है वह यथार्थ है। यही स्थिति हिन्दी-साहित्य में 'अज्ञेय', दिनकर आदि की भी है जिनकी विचारधारा साम्यवादी नही है, पर इन्होने अपनी अनेक रचनाओ मे समाज की परिस्थितियो का जो चित्रण किया है वह यथार्थ है और परिस्थितियो का विश्लेषण भी सामाजिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

ऐसे आलोचक जो मार्क्सवादी विचारधारा के शिकंजे मे घिरे हैं, कभी-कभी ऐसे लेखको को यथार्थवादी मानने के लिए तैयार नही हो सकते जो केवल सामाजिक परिस्थितियो का यथार्थ चित्रण भर ही कर देते हैं। ऐसी यथार्थवादी कृतियो को वे तब तक यथार्थवादी नही मान सकते जब तक कि कृतिकार मार्क्स की विचारधारा मे पूर्णरूपेण विश्वास नही करता। उनके यहाँ जो मार्क्सवाद को नही मानता वह सच्चा यथार्थवादी नही हो सकता। 'काडवेल' का तो यहाँ तक कहना है कि लेखको के लिए मार्क्सवादी होना ही केवल आवश्यक नही है, बल्कि वर्ग संघर्ष में उसे सक्रिय भाग भी लेना चाहिये। किसी न किसी रूप में मार्क्सवादी प्रवृत्ति का दिग्दर्शन करना लेखक के लिए आवश्यक है, तभी वह सच्चा यथार्थवादी हो सकता है। 'काडवेल', बुखारिन, राबेक, एलिकवेस्ट, राल्फाक्स, सभी किसी न किसी प्रकार इन बातो को स्पष्टतः स्वीकार करते हैं।

समाजवादी यथार्थवाद की अभिव्यक्ति के लिए लेखक का मार्क्सवादी होना ही आवश्यक नही है, इसके एक नहीं, अनेक प्रमाण दिये जा सकते हैं कि विचारधारा मे मार्क्सवादी न होते हुए भी ऐसे लेखक हुए हैं जिन्होंने समाज का अत्यन्त ही सजीव यथार्थवादी चित्र खींचा है। 'शा' और 'गाल्सवर्दी' जैसे लेखको ने मध्यवर्ग की ढलती

१—प्रो० विजयशंकर मल्ल, हिन्दी काव्य में प्रगतिवाद' पृ० सं० ११६।

हुई अवस्था का बहुत ही मार्मिक और यथार्थ चित्रण किया है। इसे 'काडवेल' भी मानता है, पर उसके अनुसार इन लेखकों के मार्क्सवादी न होने से इनके सब किये-कराये पर पानी फिर गया। इससे तो यह स्पष्ट होता है कि लेखक का मार्क्सवादी होना आवश्यक है। इसी दृष्टि से वह स्वयं स्पेन में युद्ध करने गया जहाँ वह मारा गया।

'मार्क्स' ने कभी भी खुलकर अपने विचारों को नहीं व्यक्त किया है कि लेखक को प्रत्यक्ष रूप से राजनीतिक विचारों का प्रचार करना चाहिये। किसी सैद्धान्तिक मतवाद की सीमाओं में बँधना साहित्यकार के लिए कभी भी श्रेयस्कर नहीं हो सकता; वह तो वर्तमान परिस्थिति का वास्तविक चित्रण और उनकी साहित्यिक व्याख्या या विश्लेषण, हो कर सकता है, वह कभी भी वर्तमान सामाजिक समस्याओं का ठोस समाधान नहीं दे सकता।

'स्टेफन स्पेंडर' के शब्दों में "जब तक कम्युनिस्ट यह स्वीकार नहीं करते कि एकदम दूसरे क्षेत्र से आनेवाले लेखक भी कभी-कभी सत्य के विषय में ठीक-ठीक बातें कहने की क्षमता रखते हैं, तब तक मार्क्सवादी आलोचना अपने को केवल यह सिद्ध करने में सीमित कर लेती है कि जिन लेखकों ने कभी कम्युनिस्ट होने का दम नहीं भरा, वे कम्युनिस्ट नहीं हैं। ......वह सभी मार्क्सवादी आलोचना जो लेखकों को उनके घोषित राजनीतिक मतों के द्वारा परखती है या उनके घोषित राजनीतिक मतों पर जोर देती है, अपने सबसे अच्छे रूप में, अव्यवस्थित और अचकचरी होती है और अपने सबसे बुरे रूप में विध्वंसात्मक' है।"

सच पूछा जाय तो यथार्थवाद के पहले समाजवाद शब्द का जोड़ना कुछ अच्छा नहीं जँचता क्योंकि इससे एक निश्चित राजनीतिक मत की प्रमुखता व्यक्त होने लगती है। इसमें एक सामान्य सामाजिक भावना हो नहीं, वरन् एक राजनीतिक मत की पूरी विचार-परम्परा व्यक्त होती है। देश, काल के अनुसार प्रत्येक वस्तुओं के विषय में हमारी धारणा बदलती रहती है, परन्तु प्रायः नाम एक-सा ही रहता है। इसी प्रकार यदि समाज शब्द बदलने में कठिनाई है तो हमें इसकी व्याख्या उदारतापूर्ण ढंग से करने की आवश्यकता होगी।

किसी भी प्रकार की उच्च श्रेणी की रचना एकमात्र बाह्य निरूपिणी नहीं हो सकती, लेखक की आन्तरिक अनुभूतियों का प्रभाव उस रचना पर अवश्य रहता है। अतः किसी मत या वाद से बाहर निकले बिना यथार्थ का वास्तविक और मार्मिक रूप साहित्य के भीतर प्रस्तुत करने में साहित्यकार को अनेक कठिनाइयाँ उठानी पड़ेंगी।

आजकल प्रायः ऐसा भी देखने को मिल जाता है कि समाजवादी यथार्थ के नाम पर लिखे जानेवाले साहित्य के भीतर मानव की दमित कामवासना मूल प्रेरक शक्ति के

१—प्रो० विजयशंकर मल्ल—'हिन्दी काव्य में प्रगतिवाद'।

रूप में वर्तमान रहती है। 'मार्क्स' और 'फ्रायड' के सिद्धान्तो मे मौलिक अन्तर है, एक जब कि समाज के सघर्षो में 'अर्थ' को मूल मानता है तो दूसरा मानव की दमित अतृप्त वासनाओ को प्रधान रूप मे स्वीकार करता है। इस प्रकार 'मार्क्स' और फ्रायड के सिद्धान्त कभी भी एक साथ नही बैठाये जा सकते, परन्तु समाजवादी यथार्थवाद के प्रसिद्ध लेखको की कृतियो में हमें इन दोनो सिद्धान्तो का साथ-साथ विश्लेषण मिल जाता है।

हिन्दी साहित्य के अन्दर एक भी ऐसा उपन्यास नही लिखा गया जिसे हम 'समाजवादी यथार्थवाद' के सकीर्ण साचे में फिट कर सकें। मार्क्स के सिद्धान्तो को आधार मानकर लिखा उपन्यास यदि मिल भी जायगा तो यह आवश्यक नही कि उसका लेखक कम्यूनिस्ट पार्टी का सक्रिय कार्यकर्ता ही हो और ऐसा न होने पर सब किये-कराये पर पानी फिर ही जाता है। कुछ लेखक 'यशपाल' की भाँति यदि ऐसे मिल भी जायँ जो मार्क्स के सिद्धान्तो पर रचना भी करते हो, पार्टी के सक्रिय कार्यकर्ता भी रहे हो तथा क्रान्ति मे स्वयं भाग भी लिए हो, फिर भी उनमे कुछ अपनी ऐसी व्यक्तिगत ग्रन्थियाँ हैं जिनसे सारे सिद्धान्तो का गला घुट जाता है। 'समाजवादी यथार्थवाद' की सृष्टि के लिए जो सबसे बडी अडचन है वह यह कि लेखक को 'सोवियत यूनियन' का समर्थन करना चाहिए जिससे उसके लिए वहाँ का नागरिक होना भी अनिवार्य हो जाता है। यदि इस दृष्टिकोण को अपनायें तो 'सोवियत भूमि' को छोड़कर 'समाजवादी यथार्थवाद' की रचना अन्यत्र हो ही नही सकती।

इतना तो अवश्य मानना ही पडेगा कि साम्यवादी रचनाओं को लक्ष्य मानकर हिन्दी मे भी उपन्यास लिखे गए और उनके अन्दर मार्क्स के सिद्धातो के प्रचार की स्पष्ट गन्ध भी मिलती है। इस प्रकार के लेखको में 'राहुलसांकृत्यायन', 'यशपाल', 'रागेय राघव', 'नागार्जुन' और 'भैरवप्रसाद गुप्त' प्रमुख हैं। इन उपन्यासकारो के अन्दर सामाजिक यथार्थवाद अधिक है, परन्तु न तो हम इन्हे पूर्णतः सामाजिक यथार्थवाद की श्रेणी मे ही रख सकते हैं और न तो समाजवादी यथार्थवाद की ही। इन्ही दोनो दृष्टिकोणो के बीच हमें इन उपन्यासकारो को परखने का प्रयत्न करना चाहिए।

ऐतिहासिकतावाद और यथार्थवाद

साहित्य में 'ऐतिहासिकतावाद' का कार्य सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक पक्षो का विश्लेषण करके उसके 'मूल्य' एवं 'मान' का निर्धारण करना है। इस विचारधारा के प्रमुख विचारक इस बात का निर्णय करना चाहते हैं कि समाज विशेष का युग विशेष के साहित्य पर कितना प्रभाव पडा है। वह किन बातो से अनुशासित और नियन्त्रित है, समाज का विकास करके इसकी उन्नति में वह किस सीमा तक सहायक है और साथ ही प्राचीनकाल से चली आती हुई साहित्यिक-परम्परा मे उसका क्या स्थान है। साहित्य

के सामाजिक परिपार्श्व में मूल्यांकन का प्रयत्न इटली के दार्शनिक 'विकोकी' से प्रारम्भ होकर 'हर्डर', 'हीगेल', 'ओसवाल्ड स्पेंग्लर' आदि विविध देशीय विद्वानों के प्रतिपादन का विषय रहा। उपर्युक्त विचारकों के पश्चात् 'हिप्पोलाइट टेन' ने जातीय तत्व (Race) परिसर (Milieu) तथा काल (Moment) के सन्दर्भ में इसका विश्लेषण प्रस्तुत करके इसके सहज निर्माण की प्रक्रिया पर प्रकाश डाला। इसके पश्चात् अन्य कई समाजशास्त्रीय इस क्षेत्र में आये और अपने विचारों से उन्होंने साहित्य का मार्गदर्शन किया। यहाँ हम इतना ही कहना चाहते हैं कि 'ऐतिहासिकतावाद' के इस विवेचन ने भी यथार्थवाद का मार्ग प्रशस्त किया है।

समाजशास्त्र एवं यथार्थवाद

समाजशास्त्र आधुनिक दृष्टि का समाज-विज्ञान है। इसका प्रमुख कार्य निश्चितकाल और देश में समाज के ढाँचे का निरीक्षण करना और उस ढाँचे से उद्भूत व्यवहारों का मूल्यांकन करना है। इस निरीक्षण एवं मूल्यांकन के लिए समाजशास्त्रियों ने सामाजिक अध्ययन के आधार पर कतिपय सैद्धान्तिक पक्षों का प्रतिपादन किया है। समाजशास्त्री इस बात को विशेष रूप से मान्यता प्रदान करते हैं कि युग विशेष में सांस्कृतिक परिपार्श्व के अन्तर्गत जीवन के अंशविशेष की व्यापक मान्यता सम्भव हो पाती है। इनके अनुसार दर्शन और धर्म, साहित्य और कला, कानून और नीति, नियम, राजनीति और अर्थनीति आदि विविध सामाजिक एवं सांस्कृतिक प्रथाएँ तथा प्रवृत्तियाँ नित्य, सार्वजनीन और सार्वकालिक न होकर समाजानुसारी अथवा युगानुसारी होती हैं। वे भिन्न समाजों या युगों में भिन्न हो जाने को बाध्य हैं। ...... स्पेंग्लर के अनुसार तो संस्कृति और संस्कृति की आत्मा में इतना भेद है कि उनके बीच परस्पर आदान-प्रदान सम्भव ही नहीं। .... उसका अभिमत है कि सत्य किसी विशिष्ट मानवता की अपेक्षा से ही सत्य हुआ करता है, कोई सत्य सार्वजनीन और सार्वकालिक नहीं। यह तो सभी मानेंगे कि प्रत्येक समाज अथवा युग के सत्य-असत्य, नीति-अनीति, औचित्य-अनौचित्य, शुभ-अशुभ सम्बन्धी अपने प्रतिमान और मानदण्ड होते हैं और उन्हीं के आधार पर उस समाज अथवा युग के विषय में निर्णय देना समीचीन है।"[१] इन्हीं आधारों पर समाजशास्त्र विविध दिशाओं में प्रगति कर सका है और उसकी मान्यताओं से यथार्थवाद को शक्ति मिलती है। वास्तव में आधुनिक युग की यथार्थवादी परिकल्पना जिस संकीर्ण एवं एकांगी दृष्टिकोण से आवृत हो चुकी है, उसके निराकरण के लिए समाजशास्त्रीय अध्ययन का विशेष सहयोग अपेक्षित है। ऐतिहासिक एवं सामाजिक परिप्रेक्ष्य का यथार्थवादी विवेचन में विशेष सहयोग है, इससे इन्कार करना एक प्रवंचना है। 'टेन', 'सेण्ट ब्यव', 'सोरोकिन',

---

१. हिन्दी साहित्यकोश पृ० ८१३

'शुकिंग', 'बेलिजयम डंकन' के साथ ही अन्य 'जान डेबी' आदि के विचारो से यथार्थवाद को पर्याप्त सहायता मिली है और इसका उचित मार्गदर्शन हुआ है।

ऐतिहासिक यथार्थवाद

साहित्य मे 'यथार्थवाद' और 'ऐतिहासिक यथार्थवाद' मे कोई मौलिक भेद नही है। देश-काल के अन्तर आ जाने के कारण यथार्थवाद ही ऐतिहासिक यथार्थ कहलाने लगता है। कल के लिए जो यथार्थ था वह आज के लिए यदि परिस्थिति में भेद पड जाय तो ऐतिहासिक यथार्थ है और आज जो यथार्थ है, कल के लिए ऐतिहासिक यथार्थ हो सकता है। ऐतिहासिक यथार्थवाद के अन्दर बीते हुए काल की सामाजिक एव राष्ट्रीय परिस्थितियों का वास्तविक चित्र उपस्थित किया जाता है। परन्तु इतिहास और ऐतिहासिक यथार्थवाद एक-दूसरे के लिए प्रयुक्त किए गए शब्द नही हैं, बल्कि दोनो मे अन्तर है। इतिहास तिथियो, घटनाओं तथा परिणामो का ठीक-ठीक वर्णन उपस्थित करता है, परन्तु ऐतिहासिक यथार्थ के अन्दर तिथियाँ तथा घटनाओं आदि की सत्यता पर इतना अधिक जोर नही दिया जाता जितना कि उस समय की सामाजिक एव राष्ट्रीय तथा धार्मिक परिस्थितियो को उभार कर रखने के प्रति आग्रह दिखलाया जाता है। इसका एक मात्र कारण है कि ऐतिहासिक यथार्थवाद की रचना साभिप्राय होती है। इसके द्वारा साहित्यकार को ऐसे चरित्रो का निर्माण करना रहता है, जो कि वर्तमान समाज को प्रेरणा प्रदान कर सकें तथा उस समय की परिस्थितियो को इस प्रकार उभार कर सजीव रूप मे रखना चाहता है कि जिसके परिणामो के आधार पर हम वर्तमान समाज को उसके दोषो तथा दुर्बलताओं से बचा सकें।

सभी ऐतिहासिक यथार्थ के अनुसार, ऐतिहासिक उपन्यासो को सचाई के साथ राष्ट्रीय जीवन के महान् आन्दोलनो का सजीव चित्र उपस्थित करना चाहिए। इस प्रकार साहित्यकार को यह प्रयत्न करना चाहिए कि वह इतिहास के माध्यम से वर्तमान समस्याओं का हल प्रस्तुत कर सके। परन्तु इसका तात्पर्य यह नही कि हम प्राचीनता का अन्धानुकरण करने लगें। यदि इस प्रकार का साहित्य ऐतिहासिक यथार्थवाद द्वारा निर्मित होने लगे कि हमे समाज के केवल एक पक्ष का ही ज्ञान हो और उसमे आदर्श की प्रतिष्ठापना करने के लिए कल्पना का योग अधिक हो, तो वह कभी भी यथार्थवादी साहित्य नही कहा जा सकता। ऐतिहासिक यथार्थवादी साहित्य तो वही होगा, जो तत्कालीन समाज एवं राष्ट्र का सजीव चित्र उपस्थित करने के साथ-साथ अपनी कला तथा कल्पनात्मक गुणो के द्वारा समस्याओं का हल प्रस्तुत करता चले।

प्रत्येक युग की वास्तविकता को ढूँढना ऐतिहासिक यथार्थ का मुख्य कर्तव्य है। इतिहास पर दृष्टिपात करने पर ही हम जानते हैं कि साहित्य में अपने युग का जो सर्वश्रेष्ठ वास्तविक चित्रण हुआ है, वही सर्वश्रेष्ठ साहित्य बन कर आजतक जीवित रह

सका है। वेद की ऋचाओं में तत्कालीन समाज का चित्र है, रामायण और महाभारत में तत्कालीन व्यापक से व्यापक और जटिल से जटिल मानव-जीवन की समस्याएं अधिक से अधिक सुलझे हुए रूप में रखी गई हैं। कालिदास विलासी ही नहीं थे, उनमें स्त्री के अधिकारों के लिए मार्मिक वेदना भी थी, ऐसी योजना उनके साहित्य में मिलती है।

कला के क्षेत्र में अविकृत और विकृत चित्रण का ऐतिहासिक यथार्थवाद में बड़ा महत्व है। वास्तविक चित्रण विकृत और अयथार्थ तब कहा जाता है, जब उसमें तत्कालीन समाज के चित्रण में आधुनिक दृष्टि को ही एकमात्र पैमाना बना लिया जाता है और पुराने पात्रों के मुख से आधुनिक लेखक बोलने लगते हैं। उदाहरण के लिए हम पण्डित राहुल सांकृत्यायन के उपन्यासों को ले सकते हैं। उनके उपन्यासों में दिशाकाल को भेद कर प्रायः एकाध मार्क्सवादी पात्र अवश्य दिखलाई पड़ेगा।

इतिहास का आधार जितना ही ठोस होता है, उतना ही कलापक्ष में निखार लाने का भी अवसर होता है। यशपाल की 'दिव्या' इस प्रकार की सफल रचना है। जहाँ तक ऐतिहासिक यथार्थ का प्रश्न है, वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यास सफल कहे जा सकते हैं। ऐतिहासिक यथार्थ की एकमात्र कसौटी है लेखक की निरपेक्ष दृष्टि का होना। यदि लेखक ऐतिहासिक यथार्थ का चित्रण करते समय अपने वैयक्तिक आग्रहों से ऊपर नहीं उठ पाया, तो उसकी रचना में विकार का आना स्वाभाविक है।

मुख्यतः दो प्रकार के सत्य हुआ करते हैं, एक तो कठोर सत्य होता है, जो आँखों देखा सत्य है और दूसरा सत्य सम्भावित सत्य होता है, जो आँखों देखा न भी हो तो भी उस पर विश्वास किया जा सकता है। इन सम्भावित सत्यों को भी ऐतिहासिक यथार्थ के रूप में स्वीकार किया जा सकता है, यदि वे तर्क एवं संभावना से परे की घटनाएँ नहीं हैं। ऐतिहासिक उपन्यासों में हमें ऐसे समाज और उसके व्यक्तियों का चित्रण करना पड़ता है, जो सदा के लिए विलुप्त हो चुके हैं, किन्तु उन्होंने पदचिह्न कुछ जरूर छोड़े हैं, जो उनके साथ मनमानी करने को इजाजत नहीं दे सकते।"[1] ऐतिहासिक वातावरण, घटनाओं एवं पात्रों का चित्रण तत्कालीन ऐतिहासिक संगति का ध्यान रखते हुए करना ही श्रेयस्कर है।

ऐतिहासिकता का रंग चढ़ाकर पात्रों एवं कथानकों की कल्पना करने की उपन्यासकार को वहीं तक छूट है जहाँ तक ऐतिहासिक संगति का निर्वाह होता रहे। "किसी ऐतिहासिक उपन्यास में यदि बाबर के सामने हुक्का रक्खा जायगा, गुप्त-काल में गुलाबी और फ़िरोजी रंग की साड़ियाँ, इत्र, मेज पर सजे गुलदस्ते झाड़-फानूस लाये जायँगे, सभा के बीच खड़े होकर व्याख्यान दिए जायँगे और उन पर करतल-ध्वनि होगी, बात-बात

१—राहुल सांकृत्यायन, उपन्यास अङ्क, पृ० १७०।

में धन्यवाद, सहानुभूति ऐसे शब्द तथा सार्वजनिक कार्यों में भाग लेना ऐसे फिकरे पाये जायेंगे तो काफी हँसनेवाले और नाक-भौं सिकोडनेवाले मिलेंगे।''[१] इस दृष्टि से उपन्यासकार को ऐतिहासिक यथार्थ की ओर चलने के लिए अत्यन्त सावधानी के साथ चरण रखने होंगे। ऐतिहासिक यथार्थ की सबसे बड़ी परख है, उपन्यासों में कृतिकार की तटस्थ एवं निर्मल ऐतिहासिक दृष्टि का होना। किसी भी युग की वास्तविकता को समझ लेना ही सच्चा ऐतिहासिक यथार्थ है।

ऐतिहासिक तथ्य के आकलन में यदि वर्ग का इतिहास है, तो निश्चित ही वह वर्ग का साहित्य होगा। परन्तु सच्चा यथार्थवादी साहित्य वर्ग आदि के पचड़े में कभी भी नहीं पड़ता, वह निष्पक्ष भाव से समाज के हित में तत्कालीन परिस्थितियों का यथार्थ चित्र उपस्थित करता है, इसके अन्दर केवल जैसे का-तैसा ही चित्र नहीं उतार दिया जाता, बल्कि वर्ग-भेद के कारणों को भी समझने का प्रयत्न किया जाता है तथा वर्गों के पारस्परिक सम्बन्धों की भी विवेचना की जाती है। वर्ग-भेद का यह विकास अपने द्वन्द्वात्मक रूप में रहा है और द्वन्द्वों के भीतर भी विरोध रहे हैं जो पारस्परिक विरोधों के कारण द्वन्द्वात्मकता में मनुष्य को निरन्तर विकास की ओर बढ़ाते रहे हैं।

'मार्क्स' ने इतिहास का गहन अध्ययन करके यही तथ्य निकाला था कि समाज का भी द्वन्द्वात्मक विकास होता है। दो के संघर्ष से परिणाम में गुण बदलता है और तीसरा जन्म लेता है। इसीलिये 'मार्क्स' ने मनुष्य समाज को प्रकृति से संघर्ष करने को कहा है। जिस साहित्य के अन्दर प्रकृति का बीज रहता है वही युग का महान् साहित्य होता है। ''कला मनुष्य की सामूहिक क्रियाओं की वह अनुभूति है, जो अपने सुख दुःख तथा श्रम को हलका करने के लिए बनाई गई थी। प्रत्येक युग में उसकी अनुभूति का स्वरूप बदलता है और रूप भी बदलती रही है[२]।''

विगत युग का सामाजिक यथार्थ ही वर्तमान युग का ऐतिहासिक यथार्थ है। इस प्रकार जो प्रचार साहित्य के द्वारा किया जाता है, इसका तात्पर्य यह है कि असलियत खोलकर सामने रख दिया जाय। साहित्य में यह कार्य बहुत सरल है। वास्तविकता के हम जितने निकट होंगे, उतनी ही सरलता से हम वर्गों की परिस्थिति पर प्रकाश डाल सकेंगे।

ऐतिहासिक कथा-साहित्य के लिए हम ऐसे काल को ले सकते हैं जिसकी कुछ भी प्रामाणिक समकालीन लिखित सामग्री प्राप्त है। भारतवर्ष का कुल लिखित इतिहास लगभग तीन-चार हजार वर्षों का है, जिसके भीतर ही हमें ऐतिहासिक उपन्यासों की सामग्री ढूँढनी होगी। हमारे लिए ऐतिहासिक उपन्यास लिखते समय यह आवश्यक

१—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ५३७–३८।
२—डा० रांगेय राघव (आलोचना, अप्रैल १९५२)।

नहीं है कि हम सारे काल की सम्पूर्ण प्राप्त सामग्री का समवगाहन करें, क्योंकि यह कभी भी सम्भव नहीं हो सकता। ऐतिहासिक सामग्री का सामान्य अध्ययन भी पर्याप्त नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सामान्य अध्ययन के आधार पर जो कल्पनाएँ उपन्यासकार करेगा उनमें उपहासास्पद बातों का भी आ जाना सम्भव है। उपन्यासकार को हमेशा ध्यान रखना चाहिए कि हमारी एक-एक पंक्ति पर एक बड़ा निष्ठुर मर्मज्ञ समूह पैनी दृष्टि से देख रहा है, जो हमारी जरा भी गलती को सहने के लिए तैयार नहीं है। कृतिकार को स्वतन्त्रता है कि वह जिस ऐतिहासिक चरित्र को चाहे आकर्षक रूप में रख सकता है, परन्तु उसके लिए तत्कालीन देश और काल के बारे में जितनी ज्ञातव्य बातें हैं, उन सब का समन्वय उसे चरित्र के विकास में दिखलाना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है।

ऐतिहासिक उपन्यासकार को इतिहासकार से कम विवेक की आवश्यकता नहीं है। उसके लिए यह जानना परम आवश्यक है कि कौन-सी वस्तु को सबसे अधिक महत्व देना चाहिए और किनको कम। उपन्यासकार ऐतिहासिक अनौचित्य से तभी बच सकता है जबकि उसका ऐतिहासिक ज्ञान पूर्ण हो। कभी-कभी उपन्यासकार घटनाओं को चित्रित करते समय ऐसी भयंकर भौगोलिक भूल-कर बैठते हैं कि उनकी सारी ऐतिहासिक कल्पना पर पानी फिर जाता है। यदि कहीं उसने राजपूताने में गंगा बहा दी और काश्मीर को मरुभूमि के रूप में चित्रित कर दिया तो उसके सारे किये-कराये कृतित्व पर पानी फिर जायगा। ऐतिहासिक उपन्यासकार को अनौचित्य से बचने के लिए जिस तरह तत्कालीन ऐतिहासिक सामग्री और इतिहास का-अच्छी तरह अध्ययन आवश्यक है, वैसे ही भौगोलिक अध्ययन की भी आवश्यकता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि बहुत-सी छूटों के मिलने पर भी ऐतिहासिक उपन्यासकार के लिए अन्य कृतिकारों की अपेक्षा अधिक कड़े बन्धनों का पालन करना पड़ता है। उसकी कथा की कोई भी कल्पना विगत अथवा इतिहास से उसी प्रकार अपने को सर्वथा मुक्त नहीं कर सकती, जिस प्रकार इतिहास अपने को कल्पना से पृथक् नहीं कर सकता।

प्रत्येक युग में कैसे-कैसे परिवर्तन होते हैं और उनमें परिवर्तन लानेवाली कौन-कौन-सी शक्तियाँ हुआ करती हैं तथा प्रत्येक युग की सामाजिक रूप-रेखा क्या थी, आदि सभी ऐतिहासिक यथार्थवाद के ही विषय हैं। मानवता के आरम्भ में स्त्री समाज की अप्सरा थी जो स्वेच्छाचारिणी थी, उस समय स्त्री पर किसी प्रकार का यौन प्रतिबन्ध नहीं था। परन्तु आज की परिस्थिति में पहले की अपेक्षा महान् अन्तर हो गया है। इन सभी समस्याओं को सजीव रूप में ऐतिहासिक यथार्थवाद के अन्दर चित्रित किया जाता है।

साहित्य में ऐतिहासिक यथार्थ की सृष्टि सोद्देश्य की जाती है।। वर्तमान से अतीत को सुन्दर समझने की भावना तथा प्रस्तुत परिस्थितियों से असंतुष्ट अथवा वर्तमान से

पराजित होने के कारण अतीत की शरण में जाने की प्रवृत्ति ऐतिहासिक यथार्थ को जन्म देती है। वर्तमान की दुर्बलताओं को अतीत के वैभवों से शक्तिशाली बनाने, कुछ ऐतिहासिक पात्रों, जिनके प्रति इतिहासकार न्याय नहीं कर सके हैं, के प्रति न्याय करने, इतिहास के प्रति सहज आकर्षण होने, जाति-गौरव, राष्ट्रप्रेम तथा वीर पूजा की भावना रखने तथा जीवन की किसी नवीन व्याख्या को प्रस्तुत करने की सबल प्रेरणा उपन्यास-कार को ऐतिहासिक यथार्थ की सृष्टि करने के लिए बाध्य करती है।

हिन्दी में सफल ऐतिहासिक उपन्यासों का नितान्त अभाव है। बंगला साहित्य में लिखे गये श्री राखालदास बन्द्योपाध्याय के ऐतिहासिक उपन्यास उत्कृष्ट कोटि के हैं। इनके उपन्यासों में तत्कालीन युग की सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों का जैसा जीता-जागता चित्र मिलता है, हिन्दी के उपन्यासों में कम ही आ पाया है। राष्ट्रीयता और आत्मबलिदान की भावना जितनी तीव्र होकर 'बङ्किमचन्द्र' के 'आनन्द मठ' जैसे उपन्यास में व्यक्त हुई है वैसी अन्यत्र दुर्लभ है।

*

यथार्थवाद—परिभाषा और व्याख्या

साहित्य में यथार्थवाद

"यथार्थवाद अपने निश्चित सैद्धांतिक रूप में कला और साहित्य के क्षेत्र में १९ वी शताब्दी में प्रकट हुआ। हम यह नही कह सकते कि इस सम्बन्ध में निश्चित तिथि का देना कहाँ तक उचित है, किन्तु सामान्यतः दो तिथियो का उल्लेख किया जाता है। सन् १८५५ ई० में 'कोर्वे' ने अपने चित्रो का प्रदर्शन किया। इन चित्रो मे यथातथ्य निरूपण की शैली व्यवहृत हुई और उसके सम्बन्ध में 'रियलिज्म' शब्द का प्रयोग उसके निर्माता ने स्वयं किया। इसके कुछ समय पश्चात् सन् १८५६ ई० में 'फ्लावेयर' का प्रसिद्ध उपन्यास 'मेडम बावरी' प्रकाशित हुआ। यह तिथि भी यथार्थवादी आन्दोलन के आविर्भाव का संकेत देती है[1]।" वास्तव में इस तिथि का सम्बन्ध इसके आन्दोलन के स्वरूप से है। 'यथार्थवाद के स्तर' शीर्षक के अन्तर्गत इस पर दृष्टिपात किया गया है कि १९ वीं शताब्दी के पूर्व भी यह सर्जक साहित्य का मेरुदण्ड रहा है। सन् १८५० ई० के पश्चात् विविध सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक, वैज्ञानिक, समाजशास्त्रीय एवं अर्थशास्त्रीय कारणों से यह एक आन्दोलन के रूप मे जनता के सम्मुख आया।

यथार्थ और यथार्थवाद

सम्बन्ध की दृष्टि से 'यथार्थवाद' और यथार्थ एक दूसरे के पूरक ठहरते हैं। 'मार्क्सवाद' एवं 'प्रकृतवाद' में इस सम्बन्ध की अन्योन्याश्रयता का स्रोत निहित है। 'जोला' ने प्रकृति और समाज की निजी व्यवस्था को मान्यता प्रदान करते हुए यथातथ्य चित्रण की ओर संकेत किया है। पर कला की दृष्टि से उसकी यह निष्पत्ति शंका के लिए भूमि प्रस्तुत कर देती है। कहा गया है कि—*Realism is stylised picture of* reality. It is reality put within a frame work."

कलात्मकता की दृष्टि से यथार्थवाद और यथार्थ में एक सीमातक अन्तर देखा जा सकता है। यथार्थ जीवन को यथार्थवादी कला के माध्यम से मोड़ने का प्रयत्न करता है। मोडने का यह प्रयत्न कल्पना द्वारा सम्पादित होता है। यह इन दोनों को निश्चित स्वरूप प्रदान करने की क्रिया का निर्देशक तत्व है। जीवन की सच्ची अनुभूति यथार्थ है, पर इसका कलात्मक अभिव्यक्तीकरण यथार्थवाद है। नग्न यथार्थवादी कुरूपता एवं

१—डा० रामअवध द्विवेदी—साहित्य सिद्धान्त—पृ० ११५-१६

पड़ता है। साहित्य का सत्य वस्तु जगत के सत्य से सदैव कुछ न कुछ भिन्न रहेगा। यदि हम यथार्थवादी साहित्य को वस्तु जगत का तद्वत चित्र मान लें तो भी चित्र और मूल में स्पष्ट अन्तर रहता ही है।

('यथार्थवाद' वह साहित्यिक संश्लेषण है जो चुनाव तथा रचना के माध्यम से अपने वास्तविक विचारों को समुन्नत रूप में पाठकों के सामने उपस्थित करता है।"[1] "सच तो यह है कि सत्य उस स्थूल सेब सदृश नहीं जिसे हम जब चाहे तोड़ लें। यह उभय-पक्षीय होता है। लेखक को इसकी प्रकृति को समझने के पहले, इसके पक्ष विशेष को समझना पड़ता है। यह तटस्थ न होकर स्थिति विशेष का परिचायक है।"[2] लेखक के सम्मुख दोनों पक्ष होते हैं जिनमें से उसे चुनना पड़ता है। अतएव उसके लिए आवश्यक है कि वह नित्य के स्वभाव की परख करके उसका रूप निश्चित कर ले। सत्य के सम्बन्ध में समझौते की कोई भी स्थिति नहीं होती उसकी अलग स्थिति ही है। सत्य एक होता है। प्रस्तुत यथार्थ की रूपरेखा विलक्षण है। इसका सम्बन्ध बीते और आनेवाले दोनों काल से है। परन्तु निश्चित ही यह दोनों काल से भिन्न है। सौ वर्ष पहले जो सत्य था, आवश्यक नहीं कि वह आज भी सत्य हो। इस प्रकार यदि यथार्थ की रूपरेखा बढ़ती है तो स्तर का बदलना आवश्यक है। जहाँतक स्तर का प्रश्न है, न तो कोई चिरन्तन स्तर रहा है और न हो सकता है। स्तर के शब्दों में चिरन्तन का प्रयोग एक मात्र पूर्व कल्पित धारणा है।)

आर० एल० स्टीवेन्सन के अनुसार "यथार्थवाद" का प्रश्न साहित्य में मुख्यतः सत्य से अल्पांश भी सम्बन्ध नहीं रखता। बल्कि उसका सम्बन्ध केवल रचना की कलात्मक शैली मात्र से है।" यह निर्विवाद सत्य है कि यथार्थवाद सत्य की प्रवह मानवधारा में एक प्रधान मोड़ है। इसकी अपनी एक विशेष धारा है जो साहित्य की परम्पराओं में एक आधुनिकतम नूतन परम्परा के रूप में विकसित हुई है। समाज में कुटिल एवं छल-छद्मों से भरी हुई कहानियों की अत्यधिक माँग तथा भद्दे एवं कुत्सित चलचित्रों के प्रति बढ़ती हुई अनुरक्ति यथार्थ नहीं है, विनाशोन्मुख और कुत्सित जीवन का चित्रणमात्र है।

---

1. Realism being that Literary synthesis which through selection and creation heightens for the reader his understanding of reality (Ibid P 17 chapt. VI)

2 Obviously the truth is not an apple that anyone can pick. The truth is on one side or other, and before the writer can as certain the nature of the truth he must choose. The truth is...... not neutral.

H Fast, Literature and Reality, Page 18

"यथार्थवाद' का प्रमुख गुण अवतारवाद का खण्डन है। वह मानव एवं उसके मस्तिष्क को इस संसृति के क्रियाकलापों एवं व्यवसायों में सन्निहित करके उन्हें उनका उचित स्थान प्रदान करता है। यह एक ओर तो भौतिकता को आदर्शवादी संस्पर्श से मुक्त करता है और दूसरी ओर उन्हें चेतन जीवन का आधार प्रस्तुत करता है....। यथार्थवाद मस्तिष्क को एन्द्रजालिक विद्रूपताओं से मुक्त करता है और इसके मूल्यों की रक्षा करता है।"[1]

'फ्लावेयर वस्तुगत दृष्टिकोण और जीवन के सामान्य पक्षों के महत्वपूर्ण उद्घाटन को यथार्थवाद की विशिष्टता मानता है। 'हावेल' ने सामान्य जीवन के यथार्थ को महत्व देते हुए नैतिक जीवन की अवज्ञा को अनुचित बताया है। कुछ लोग 'मोंपासा' की तरह संवेदन उत्पन्न करने के पक्षपाती हैं। 'डब्ल्यू० यल० कोर्नें' W. L. Courney ने मानव जीवन के स्पष्ट यथार्थ को महत्व दिया है। पर यथार्थवाद की सचमुच परम-सजीव एवं व्यापक उपलब्धि साहित्य के लिए निरन्तर नवीन विषय, परिस्थिति और भाषा की गवेषणा में निहित है।"[2]

'बी० आअोगेन्सन' का अभिमत है कि यथार्थवादी' कलाओं की विशिष्टता पाठक तक विचारों को इस स्पष्टताएवं स्वच्छन्दता से प्रेषित करने में निहित है कि सर्वप्रथम आतुर होकर लेखक के हृदय के स्पन्दन का श्रोता बन जाय।"[3]

'जोला' का कथन है "मानव का सामान्य तत्वों की भांति अध्ययन. करके उसकी प्रतिक्रिया को नोट करो। मेरे लिए प्रकृतवादी एवं शरीर-विज्ञान सम्बन्धी क्रियाओं का विशेष महत्व है। मैं सिद्धान्त निर्माण के स्थान पर इन्हीं नियमों का अनुगमन करना चाहता हूँ। मैं एक वैज्ञानिक की तरह तथ्यों का रहस्योद्घाटन करते समय वस्तु स्थिति के अभिज्ञान से संतुष्ट हूँ।"[4]

(यथार्थवाद के सम्बन्ध में स्वर्गीय प्रेमचन्द की धारणा है कि "यथार्थवाद चरित्रों को पाठक के सामने उनके यथार्थ नग्न रूप में रख देता है। उसे इससे कुछ मतलब नहीं कि सच्चरित्रता का परिणाम बुरा होता है या कुचरित्रता का परिणाम अच्छा। उसके चरित्र अपनी कमजोरियाँ और खूबियाँ दिखाते हुए अपनी जीवन-लीला समाप्त करते हैं और चूँकि संसार में सदैव नेकी का फल नेक और बदी का फल बद नहीं होता, बल्कि उसके विपरीत हुआ करता है, नेक आदमी धक्के खाते हैं, यातनाएँ सहते

1. Poderick Mchisholm–Realism and Phenomenology—p. 186
2. Dictionary of world literature p. 335–336.
3. Soviet Litt Today—George Reavey, p. 21.
4. Matthew Josephson—Zola and his time. p. 97–98.

हैं, मुसीबतें झेलते हैं, अपमानित होते हैं, उनको नेकी का फल उल्टा मिलता है। प्रकृति का नियम विचित्र है।"[१])

(यथार्थवादी अनुभव की बेड़ियों में जकड़ा रहता है। चूँकि संसार में बुरे चरित्रों की प्रधानता है, यहाँ तक कि उज्वल से उज्वल चरित्र में भी कुछ न कुछ दाग-धब्बा रहता है, इसलिए यथार्थवाद हमारी दुर्बलता, हमारी विषमताओं और क्रूरताओं का नग्न चित्र होता है। वास्तव में यथार्थवाद का यह लक्ष्य नहीं, यह तो उसके बारे में बना ली गई गलत एवं संकीर्ण धारणा है। आज जो इस प्रकार के आक्षेप करने का अवसर लोगों को मिल रहा है उसके लिए बहुत कुछ अधकचरे यथार्थवादी साहित्यकार उत्तरदायी हैं। वास्तव में यथार्थवाद की सृष्टि हमें निराशावादी बनाने के लिए नहीं होती वरन् उसकी सृष्टि आशा को दृढ़तर बनाने के लिए की जाती है। न उसका यही लक्ष्य है कि वह हमारे सामने एक ऐसा चित्र उपस्थित कर दे कि हमको अपने चारों तरफ बुराई ही बुराई नजर आने लगे।)

(स्वर्गीय जयशंकर प्रसाद के अनुसार 'यथार्थवाद' एक साहित्यिक दृष्टि है। उन्होंने स्वीकार किया है कि "यथार्थवाद की विशेषताओं में प्रधान है लघुता की ओर साहित्यिक दृष्टिपात। उसमें स्वभावतः दुःख की प्रधानता और वेदना की अनुभूति आवश्यक है।) लघुता से मेरा तात्पर्य है, साहित्य के माने हुए सिद्धान्त के अनुसार महत्ता के काल्पनिक चित्रण से अतिरिक्त व्यक्तिगत जीवन के दुःख और अभावों का वास्तविक उल्लेख।"[२] परन्तु यह कोई आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक साहित्यकार के प्रस्तुत करने का ढंग एक-सा हो। साहित्यकार की लेखनी यंत्र नहीं है जिसमें कि एक ही आकार प्रकार की वस्तुओं का निर्माण होता रहे। साहित्य और साहित्यकार के अनुसार विभिन्न शैली तथा विभिन्न शिल्प-विधान का होना स्वाभाविक है। क्योंकि यह कोई स्वाभाविक वस्तु नहीं है कि प्रत्येक साहित्यकार का रचनातत्व तथा रूप-विधान एक-सा ही हो।

साहित्यकार की विभिन्न मनोदशाएँ होती हैं, जिनमें वह अपने साहित्य के लिए आसपास बिखरी हुई, वस्तुजगत सम्बन्धी सामग्रियों में से चुनाव करता है और फिर उसे अपनी कल्पना का रंग देकर क्रम से सजा कर रखता है। ऐसी स्थिति में यह भी कोई आवश्यक नहीं कि एक ही लेखक की सभी रचनाएँ एक दूसरे से मेल खायें, तो यह कब सम्भव हो सकता है कि विभिन्न लेखकों की कृतियों में एकरूपता हो। इतना अवश्य स्वीकार किया जा सकता है कि यथार्थवादी साहित्य की दृष्टि एवं उसका आग्रह सदा एक-सा रहा है, प्रत्येक सच्चा ईमानदार कलाकार सत्य का अन्वेषक होता है।

१—'प्रेमचन्द उपन्यास नामक लेख—गद्य काव्य तरंगिणी पृ० ५०२।

२—जयशंकर प्रसाद—काव्य और कला तथा अन्य निबंध—पृ० १२०।

वास्तविकता एकांगी नही होती। 'यथार्थवाद' क्षुद्रों का ही नहीं अपितु महानो का भी है। वस्तुतः यथार्थवाद का मूल भाव है वेदना; जब सामूहिक चेतना छिन्न-भिन्न होकर पीडित होने लगती है तब वेदना की विवृत्ति आवश्यक हो जाती है।"[१] यही कारण है कि समयानुसार साहित्य के रूपो मे परिवर्तन होता रहता है, पर इस परिवर्तन मे वास्तविक जीवन के प्रति आग्रह वर्तमान रहता हे, जो यथार्थवाद का मूल है।

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दो मे "कला क्षेत्र मे यथार्थवाद ऐसी एक मानसिक प्रवृत्ति है, जो निरतर अवस्था के अनुकूल परिवर्तित और रूपायित होती रहती है।"[२] मनुष्य जिज्ञासा प्रधान प्राणी है। प्रत्यक्ष रूप में जिज्ञासा के दो रूप माने जाते हें, एक बाह्य और दूसरा आतरिक। बाह्य जगत से सभी जीव प्रभावित होते हैं, परन्तु मनुष्य उस प्रभाव का अनुभव भी करता है और यहीं वह अन्य प्राणियो से ऊपर उठ जाता है। मनुष्य की यह अनुभव करने की शक्ति ही, उसकी दृष्टि को अन्तर्मुखी बना देती है और वह अन्तःकरण की शक्तियो द्वारा अपने भीतर और बाह्य जगत मे छिपी हुई किसी अज्ञात सत्ता का अनुसन्धान करके आत्मा और परमात्मा तथा ब्रह्म आदि की सृष्टि करता है।

पं० नन्ददुलारे वाजपेयी के मत से "यथार्थवाद वस्तुओं की पृथक् सत्ता का समर्थक है। वह समष्टि की अपेक्षा व्यष्टि की ओर अधिक उन्मुख रहता है। यथार्थवाद का सम्बन्ध प्रत्यक्ष वस्तुजगत से है[३]।" "यथार्थवादी अपने को वैज्ञानिक दृष्टि सम्पन्न बताता हे। वह सत्य का खोजी हुआ करता है और उसका सत्य वही है जिसे वह अपनी इन्द्रियो से जान पाया है। आदर्शवादियो के ऊपर यथार्थवादी व्यग्य करते थे कि "वे घोडे की पीठपर बैठकर शून्य मे दौड लगा रहे हैं[४]।" वास्तव मे यथार्थवाद एक जीवन दृष्टि है, जिसका प्रभाव साहित्य के विकास पर पडता हे।

"महान साहित्य और कला सदा निर्विकल्प रूप से जीवन की वास्तविकता को ही प्रतिबिम्बित करती है, अत उसकी एक मात्र कसौटी भी उसका यथार्थवाद है[५]।" केवल रसो आदि की सृष्टि ही तथा अन्य साहित्यिक अलकारो के प्रयोग मात्र से ही महान कला अथवा साहित्य की सृष्टि नहीं हो सकती, क्योकि इनका सम्बन्ध कला के रूप से है, उसके मौलिक सत्य विषय से नहीं 'इसका अर्थ कदापि नहीं कि यथार्थवाद

१—वही।

२. डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी—विचार और वितर्क पृ० ९५

३. पं० नन्ददुलारे वाजपेयी—आधुनिक साहित्य', तृतीय सं० पृ० ४२०

४. They are riding on horse back over vacuum"

५. शिवदान सिंह चौहान—'आलोचना' सम्पादकीय सन् १९५२ :

के लिए अभिव्यक्ति, टेक्नीक और शैली का कोई महत्व ही नहीं है। या यह कि वास्तविकता को केवल जान-समझ लेना पर्याप्त है और शैली, अभिव्यक्ति तथा टेक्नीक चाहे बचकानी, भोंडी और व्यंग्य—गर्वोक्तियों की बैशाखियों पर चलने वाली लंगड़ी ही क्यों न हो[१]।" यथार्थवाद कलाहीन, मानव अनुभूतियों से शून्य नीरस साहित्य की रचना नहीं है। यथार्थवादी साहित्य महान प्रतिभा की सृष्टि है।

प्रगतिवादी लेखकों की साहित्यिक मान्यताओं को यदि रचना का मानदंड मान लें तो निश्चित ही उस प्रकार का साहित्य, साहित्य तो न हो सकेगा चाहे और जो कुछ भी हो ले। "जहाँ तक मैं समझ सका हूँ प्रगतिवादी लेखकों का कहना है कि साहित्य, मनुष्य के लिए ही मानवता की पीड़ा, वेदना, अन्याय, शोषण को, जो व्यक्त करे, जिसमें मजदूरों की पुकार हो, जो वर्गवाद का गला टीप दे, पूँजीवाद की पूँछ मे पलीता लगा दे, जिसमें कल्पना की कल्लोल न हो, वस्तुवाद का स्वाद हो। जहाँ तक मेरी बुद्धि जाती है, अब तक का सारा का सारा साहित्य मनुष्य के लिए है। बैल या गधे के लिए साहित्य-सृजन करने वाले महापुरुष मुझे कभी देखने में नहीं आये[२]।"

यथार्थवाद और प्रकृतवाद

यथार्थवाद साहित्य में उस सत्य को मान्यता प्रदान करता है जिसमें जीवन हो, केवल चित्र मात्र नहीं, जैसा कि प्रकृतवादी मानते हैं। प्रकृतवादियों के अनुसार साहित्य यथार्थ वस्तु का यथावत् चित्र मात्र है। जिस प्रकार कैमरे द्वारा लिये गए चित्र में किसी प्रकार का भेद नहीं आने पाता उसी प्रकार साहित्यकार द्वारा लिये गये चित्र मे अन्तर नहीं पड़ना चाहिए। क्योंकि साहित्य किसी व्यक्ति विशेष के व्यक्तिगत सिद्धान्तों की ही अभिव्यक्ति है जिनको उसने अपनी सुविधाओं के लिए बना रखे हैं और व्यवहार मे जिनका कुछ भी मूल्य नहीं है। 'जार्ज ल्यूकाक' के अनुसार "यथार्थवाद मे ऐसे तथ्यों को मान्यता दी जाती है जिनके अनुसार साहित्य की कार्यभित्ति न तो निर्जीव वस्तुओं पर आधारित है, जैसा कि प्रकृतवादियों का अनुमान है और न तो व्यक्तिगत सिद्धांतों पर ही, जिनका निर्माण व्यक्तिगत स्वार्थों को लेकर होता है और जो व्यवहार में अपना कुछ भी मूल्य नहीं रखते, जो शून्यता में परिणत हो जाते हैं।"[३]

---

१ शिवदान सिंह चौहान – वही सन् १९५२।

२. कृष्णदेव प्रसाद गौड़—'सरस्वती' पत्रिका जुलाई १९४२।

3. Realism is the recognition of the fact that a work of literature can rest, neither on an lifeless average, as the naturalists suppose, nor on an individual principle which dissolves its ownself in to nothingness—"

George Lukacs–Study in European realism.

यथार्थवादी साहित्य की मूल दृष्टि मौलिक रूप से वर्ग एवं विशिष्ट संमिश्रण को, जो कि सर्वसाधारण एवं विशिष्ट चरित्रों तथा परिस्थितियों दोनों को पारस्परिक संबंध-सूत्र में लाने की सामर्थ्य रखता है, प्रस्तुत करने में है। प्रकार अथवा वर्ग यथार्थवादी साहित्य की साधारण विशेषता नहीं है, और न तो इसका संबंध व्यक्ति मात्र से ही है। बल्कि इसके भीतर समस्त मानवीय एवं सामाजिक विशेषताओं का अपनी चरम सीमा को प्राप्त विकास निहित है।

"प्रकृतवाद यथार्थ में स्वच्छन्दतावाद का विकृत रूप था, वह विकृति अतिरंजना से उत्पन्न हुई थी। प्रकृतवाद के अन्दर हमें सूक्ष्म विस्तारों, अनियमित विकारों, स्थानीय परिपार्श्वों के अतिरिक्त उन सभी स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियों का अतिरंजित स्वरूप प्राप्त होता है जिन्हें हम पहले देख चुके थे।"[1]

डॉ॰ हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'हिन्दी साहित्य' के अन्दर जहाँ पर यथार्थवादी साहित्य की विशेषताओं का वर्णन किया है, वे विशेषताएँ अधिकांशतः प्रकृतवादी साहित्य की विशेषताएँ हैं। उनके अनुसार यथार्थवादी लेखक अपने साहित्य-सर्जन के लिए कुछ कौशलों का सहारा लेता है। वह (१) वक्तव्यवस्तु के इर्द-गिर्द की प्रत्येक बात का ब्यौरेवार विवरण उपस्थित करता है और गन्दी तथा घिनौनी समझी जानेवाली चीजों का विशेष रूप से उल्लेख करता है। (२) वक्तव्यवस्तु के साथ अत्यन्त क्षीण सूत्र में सम्बद्ध नगण्य व्यक्तियों की भी चर्चा करता है। (३) सम-सामयिक घटनाओं और रीति-रस्मों का विस्तारपूर्वक उल्लेख करता है। (४) भिन्न-भिन्न पात्रों की बोलियों का सेवन करता है और उनमें यदि जुगुप्सित, अश्लील गालियाँ भी हों तो उन्हें ज्यों का त्यों रख देने में नहीं हिचकता। (५) भिन्न-भिन्न व्यवसाय और पेशे के लोगों की पारिभाषिक शब्दावली को चुन-चुन कर संग्रह और व्यवहार करता है। (६) घटना की सचाई का वातावरण उपस्थित करने के लिये चिट्ठियों, सनदों और अन्य प्रामाणिक समझी जानेवाली बातों को उपस्थित करता है।'[2]

उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी के कुछ उपन्यासकारों ने जिन्होंने यथार्थवाद को अपनाया है, यथार्थवाद और प्रकृतवाद का प्रयोग एक साथ किया है। इस प्रकार यथार्थवाद तथा प्रकृतवाद परस्पर एक दूसरे का रूप धारण करते हैं। इसके एक मात्र कारण वे लेखक हैं, जो यथार्थवाद की अभिव्यक्ति अपने एक विशेष ढंग से करते हैं और जिनके मान पूर्वाग्रहों तथा भौतिक तत्वों से परिपूर्ण हैं। यही कारण है कि वे वाह्य,दृश्यों तथा मानव-विचारों को परखने में धोखा खा जाया करते हैं। ऐसे लेखक

1. History of French novel—G. Saints bury Page—173.

२. डा॰ हजारी प्रसाद द्विवेदी—'हिन्दी साहित्य' पृ० २८।

यथार्थवादी होने से वंचित रखे गये हैं, जो प्रयत्न करके भी बाह्य दृश्यों या लघु अंश ही उतार पाते हैं। यथार्थवाद शब्द को लेकर लोगों ने अनेक धारणायें भी साहित्य के अन्दर बना रखी हैं।

"यथार्थवाद शब्द बहुत गलतफहमी का शिकार बन गया है। साहित्य में यथार्थवाद शब्द का प्रयोग नये सिरे से होने लगा है, यह अंग्रेजी साहित्य के 'रियलिज्म' शब्द के तौल पर गढ़ लिया गया है। यथार्थवाद का मूल सिद्धान्त है वस्तु को उसके यथार्थ रूप में चित्रित करना। न तो उसको कल्पना के द्वारा विचित्र रंगों में अनुरंजित करना और न किसी धार्मिक या नैतिक आदर्श के लिए उसे काट छांट कर उपस्थित करना[1]।" परन्तु यथार्थवाद और प्रकृतवाद के नाम पर जिस नवीन शैली या वाद का विकास हुआ उसमें भी क्रमशः जीवन के स्वस्थ उपकरणों का अभाव ही दिखलाई पड़ने लगा।

सत्य और यथार्थ के नाम पर जो रचनायें प्रस्तुत की गईं, उनमें प्रायः विकृत और असंतुलित चरित्रों की जीवन गाथा रहा करती थी। इसमे आदर्शवादियों ने उनके सम्बन्ध में कहा कि 'उन्होंने हमें एक नया संसार देने को कहा था, पर हमें उनसे मिला एक नया अस्पताल[2]।' मार्क्सवादी सिद्धान्तों के कट्टर विरोधी होते हुए भी अन्तश्चेतनावादी लेखक अपने को यथार्थवादी कहते हैं। उनका यथार्थवाद अन्तश्चेतना का यथार्थवाद है। इस मत के अनुयायी भी यही कहते हैं कि "काव्य हमारी अन्तश्चेतना में पड़े हुए संस्कारों और भावों का यथार्थ उन्मेष है[3]।"

'जोला' (Zola) ने निर्भीकतापूर्वक स्वीकार किया है कि प्रत्येक साहित्यकार का यह कर्तव्य है कि वह जीवन के विश्वसनीय यथातथ्य चित्रों को चित्रित करे, चाहे वे कितने ही बुरे एवं भ्रष्ट हों। जब वह मनुष्यों के रोगों तथा कुरीतियों को चित्रित करे तो वह इतना तत्वपूर्ण हो कि पाठकों को उसकी वास्तविकता में किसी भी प्रकार का संदेह न हो। यथार्थवादी साहित्यकार पाठकों को विश्वास में रखने के लिए स्वयं भी यथार्थ बन जाता है। ऐसा करने के लिए उसे सावधान रहना पड़ता है कि कहीं पाठक उसके ऊपर अविश्वास न करने लगे। इस प्रकार के यथार्थ चित्रण के लिए लेखक के कुछ विशेष शिल्पविधान हैं। वह (१) जिस किसी भी वस्तु का वर्णन करने लगेगा, उसका इतने विस्तार से वर्णन करेगा कि कोई सम्भावित वस्तु या घटना छूटने

---

१. वही पृ० २७।

२. उद्धृत—आधुनिक साहित्य, पं० नन्ददुलारे वाजपेयी—पृ० ४२२
"They promised to give us a world instead they gave a hospital."

३. पं० नन्ददुलारे वाजपेयी—'आधुनिक साहित्य'। पृ० ४२३

न पाये और वह मुख्य वस्तुओं का वर्णन करना भले भूल जाय परन्तु साधारण तथा नगण्य वस्तुओं का वर्णन अवश्य करेगा। (२) लेखक कुछ अखबारों की कटिंग की बात करेगा, क्योंकि उसे ज्ञात है कि अखबार आज के दैनिक जीवन में कितना महत्वपूर्ण बन बैठा है। (३) डायरी के कुछ पन्ने तथा पत्रों को अवसर पाने पर उद्धृत करने से वह कभी भी नहीं चूकता।

लेखक के ये सारे स्वांग उसे यथार्थवादी होने की मान्यता प्राप्त करवाने के लिए हैं। परन्तु यथार्थवाद के सम्बन्ध में यह अति सामान्य धारणा ही है। जिस साहित्यकार को युग के सत्य पर विश्वास नहीं, वह कभी भी यथार्थवादी कलाकार नहीं हो सकता। युग के सत्य से शून्य साहित्य घासलेटी साहित्य बनकर रह जायगा, यही उसकी उपादेयता है। 'फ्लावेयर' (Flaubert) पहला व्यक्ति था जिसने साहित्यकारों से माँग की कि वे दैनिक जीवन के छोटे से छोटे एवं नगण्य चित्रों को अपनी कला द्वारा साहित्य के उच्चस्तर पर चित्रित करें। कुशल कलाकार की लेखनी द्वारा वर्ण्य वस्तु का सौंदर्य आकर्षक बन जाता है, चाहे वह वर्णन की दृष्टि से कितनी ही निम्न कोटि की वस्तु क्यों न हो।

यथार्थवाद का यह कदापि अर्थ नहीं होता कि गन्दी बातों को चाहे जितना भी नग्न प्रदर्शन किया जाय। हमारे अनेक शारीरिक धर्म हैं किन्तु शिष्टता की माप यही है कि उनमें जो जघन्य हैं वे परोक्ष के लिए हैं। इसी के साथ साथ एक और समस्या प्रकृतवादी साहित्य ने सुलझाने का बीडा ले लिया है वह है यौन-समस्या यानी सेक्स प्राब्लेम। इस प्रकार के साहित्य ने स्त्री-जाति के साथ बड़ा ही अन्याय किया क्योंकि इनकी दृष्टि स्त्रियों के प्रति अत्यन्त एकांगी है और उनके साढ़े तीन हाथ के शरीर की नाप-जोख में ही इनका मन विशेष रमता है।

प्रकृतवाद (नेचुरलिज़्म)

"ऐतिहासिक दृष्टि से 'प्रकृतवाद' 'यथार्थवाद' के बाद का आन्दोलन है और वह 'यथार्थवाद' का सुधारक और इसी का विकसित रूप कहा जाता है। 'जोला' के सन् १८८० और १८८१ के लेखों में इसकी सर्वोत्तम व्याख्या उपलब्ध होती है। 'जोला' की यह मान्यता थी कि मानवीय सत्य निरावृत सत्य है। इसीलिए कला को जीवन के यथार्थ स्वरूप के रूप में ग्रहण करते हुए कलाकृति को उसने मानव एवं प्रकृति के समन्वय के रूप में स्वीकृति प्रदान की। प्रकृति को उसने अपरिवर्तनीय स्वीकार किया। उसका कथन था कि 'यथार्थवाद' का मेरे लिए कोई विशेष महत्व नहीं है। क्योंकि वह यथार्थ को वैयक्तिक प्रकृति से सम्बद्ध करके प्रस्तुत करना चाहता था। सौंदर्य को भी वह परम सत्य मानकर एक मानवीय तत्व मानता था। अतएव कलाकार का उद्देश्य

समसामयिक सौन्दर्य का चित्रण करना था।"[1] वह कला के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण का पक्षपाती था।

"स्थूल रूप से 'प्रकृतवादी' रचनाएँ उन्हें कहा जाता था जो प्रकृत-प्रेम का वर्णन करती हो। सामान्यत. 'प्रकृतवाद' के अन्तर्गत वे रचनाएँ आती थी जो प्रकृति के साथ प्रत्यक्ष सम्पर्क रखने की चेष्टा करके 'यथार्थवाद' का रूप प्रस्तुत करती हो। विशेष रूप के 'प्रकृतवाद' उन्नीसवी शती के उन कलाकारो द्वारा प्रतिपादित मत है जो मानव को प्रकृत रूप में अंकित करना चाहते थे, मानववादी अथवा धार्मिक रूप में नहीं।"[2] जोला ने इसे लेकर नए प्रयोग किए, परन्तु वे प्रयोग के लिए किए गए थे। उसने जीव-विज्ञान के आधार पर मनुष्य की गहन-रहस्यमयी अन्तरवृत्तियो का लेखा जोखा लिया और इस प्रकार एक नए 'प्रकृतवाद' (नेचुरलिस्ट) स्कूल की स्थापना की। 'जोला' एक समाधान देने का उद्योग करते हैं। श्रमिकों के उद्वेग पूर्ण जीवन से परिचय प्राप्त करके वे 'प्रकृतवाद' के आधार पर समस्या को सुलझाने का प्रयास करते हैं। परन्तु हम सबको पता है कि जटिल एवं अव्यवस्थित सामाजिक समस्याओ को हल करने मे वे कुछ विशेष सफल नही हुए।"[3]

'जोला' का 'प्रकृतवादी' सिद्धात प्रमुख रूप से तीन आधारों को अपने अन्दर समाहित किए हुए। (१) 'गोनकोर्ट' का निरीक्षण पर आधारित प्रयोगवाद (२) डार्विन का विकासवाद और स्पेंसर का वश परम्परा, वातावरण एवं विकास सिद्धात तथा (३) क्षति सम्बन्धी औषधि और कानूनी सिद्धात। इनपर दृष्टिपात करते हुए हम कह सकते हैं कि यह 'क्षति' का सिद्धात अनौचित्यपूर्ण और त्रुटिपूर्ण ढग से प्रस्तुत किया गया है। इसके पश्चात् वंश परम्परा, प्राकृतिक चुनाव, विकास और वातावरण का उपयोग सिद्धात निर्माण में सीमित अश तक होना चाहिए। निरीक्षण पर आधारित प्रयोगवाद और भी भयंकर है। 'जोला' ने गोनकार्ट' की निष्पत्तियो को अनावश्यक ढग स विस्तृत किया है। अनुभूति का यथार्थ में महत्व है, पर मात्र निरीक्षण श्रेयस्कर नही।"[4]

'जोला', 'हाइस्मैन', 'ड्रेजियर' और 'फैरेल' आदि प्रकृतवादी विचारकों का दृष्टि-कोण निराशावादी, भौतिकवादी और नियतिवादी था। "ये प्रकृति और समाज की ऐसी वाह्य और आतरिक शक्तियो पर विशेष रूप से दृष्टि पात करते थे जो मानव स्वतत्रता के लिए बाधक और उसके विवेक एवं नैतिक उत्तरदायित्व को सकीर्णता से

1. Joseph Chiari—Realism and imagination P. 77–78.
२. अजीतकुमार (आलोचना उपन्यास अङ्क पृ० २३)
३. वही (पृष्ठ २१)
4. Hist. of French Novel.—G. Saintsbury. p. 469–70.

आबद्ध करने वाली थी। ये मानव एवं पशुओं की प्रवृत्ति में साम्य देखते थे। अतएव इस विचारधारा के लेखक प्रमुख रूप से व्यवहारवादी एव प्रकृतवादी स्वरूप के आधार पर प्राकृतिक विवेचन को विशेष महत्व देते थे। इस विवेचन का प्रमुख अंश यौन विकृति से सम्बद्ध था।"[1]

प्रकृतवाद दर्शन शास्त्र के एक ऐसे सिद्धान्त के रूप में प्रयुक्त किया जाता है जिसके अनुसार यह मान लिया गया है कि प्रकृति को प्रकृति में रह कर ही समझा जा सकता है। प्रकृति को समझने के लिए अन्य किसी उपादान की आवश्यकता नहीं है। इसके अतिरिक्त मनुष्य को इसके अनुसार पूर्णतः प्रकृति का एक अंग माना जाता है। साहित्य के अन्दर निश्चय ही इसके प्रति धारणा अभी अस्पष्ट है। कुछ आलोचकों के अनुसार यथार्थवाद और प्रकृतवाद शब्द एक दूसरे के लिए प्रयुक्त किये जाते हैं। दोनों शब्दों में कोई तात्विक भेद नहीं है। यह शब्द साधारणतः (१) साहित्यिक कृतियों के लिए प्रयुक्त हुआ है, जिसके अनुसार प्रकृति के प्रति आत्मीयता तथा उसके सौन्दर्य के प्रति आस्था प्रकट की जाती है। (२) साहित्य को अधिक से अधिक प्रकृति के निकट आना चाहिये, यानी 'रूसो' के अनुसार 'पूर्व प्रकृति की ओर लौटने'[2] वाला सिद्धान्त स्वीकार किया जाना चाहिये। (३) मनुष्य के शारीरिक प्रसंगों की ओर अत्यधिक जोर डालता है तथा उसकी पशुओं से निकटता स्थापित करता है।

प्रकृतवाद रोमेन्टिसिज्म तथा आदर्शवाद का विरोधी है तथा मानवतावाद से भी इसका मेल नहीं खाता। साहित्य में कुछ अवस्थाएँ ऐसी हैं जब कि यथार्थवाद और प्रकृतवाद एक दूसरे के समानान्तर होकर चलने लगते हैं। डाक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार प्रकृतवाद इसे स्वीकार करता है कि 'मनुष्य प्रकृति का उसी प्रकार विकसित जन्तु है, जिस प्रकार संसार के अन्य प्राणी। उसमें पशु-सुलभ सभी आकर्षण-विकर्षण ज्यों के त्यों वर्तमान है। प्रकृतवादी लेखक मनुष्य को काम-क्रोध आदि मनोरोगों का गट्ठर मात्र समझता है और उसके अर्थहीन आचरणों, कामासक्त चेष्टाओं, अहंकार से उत्पन्न धार्मिक वृत्तियों का विशेष भाव से उल्लेख करता है।'[3] यथार्थवाद प्रकृतवाद के सिद्धान्तों का ठीक-ठीक पोषण नहीं करता, बल्कि मनुष्य की ब्योरेवार चेष्टाओं का चित्रण करते-करते प्रकृतवाद के समानान्तर चलने लगता है। वस्तुतः यथार्थवाद का उल्टा शब्द आदर्शवाद और प्रकृतवाद का उल्टा शब्द मानवतावाद है।

जब आदर्शवाद कल्पना के नाम पर काव्य को इस लोक से बहुत दूर खींच ले गया तो यहां प्रवृत्ति भौतिक विज्ञान का बल लेकर योरोपीय साहित्य में 'प्रकृतवाद' के नाम

1. Dictionary of world'litt —99.

2—'Back to Nature'—Rousseau.

३—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी (हिंदी साहित्य पृष्ठ, २८-२९)

समसामयिक सौन्दर्य का चित्रण करना था।"[1] वह कला के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण का पक्षपाती था।

"स्थूल रूप मे 'प्रकृतवादी' रचनाएँ उन्हें कहा जाता था जो प्रकृति-प्रेम का वर्णन करती हों। सामान्यत 'प्रकृतवाद' के अन्तर्गत वे रचनाएँ आती थीं जो प्रकृति के साथ प्रत्यक्ष सम्पर्क रखने की चेष्टा करके 'यथार्थवाद' का रूप प्रस्तुत करती हो। विशेष रूप के 'प्रकृतवाद' उन्नीसवी शती के उन कलाकारो द्वारा प्रतिपादित मत है जो मानव को प्रकृत रूप मे अंकित करना चाहते थे, मानववादी अथवा धार्मिक रूप मे नहीं।"[2] जोला ने इसे लेकर नए प्रयोग किए, परन्तु वे प्रयोग के लिए किए गए थे। उसने जीव-विज्ञान के आधार पर मनुष्य की गहन-रहस्यमयी अन्तरवृत्तियो का लेखा जोखा लिया और इस प्रकार एक नए 'प्रकृतवाद' (नेचुरलिस्ट) स्कूल की स्थापना की। 'जोला' एक समाधान देने का उद्योग करते हैं। श्रमिको के उद्वेग पूर्ण जीवन से परिचय प्राप्त करके वे 'प्रकृतवाद' के आधार पर समस्या को सुलझान का प्रयास करते हैं। परन्तु हम सबको पता है कि जटिल एव अव्यवस्थित सामाजिक समस्याओ को हल करने मे वे कुछ विशेष सफल नही हुए।"[3]

'जोला' का 'प्रकृतवादी' सिद्धात प्रमुख रूप से तीन आधारो को अपने अन्दर समाहित किए हुए। (१) 'गोनकोर्ट' का निरीक्षण पर आधारित प्रयोगवाद (२) डार्विन का विकासवाद और स्पेंसर का वंश परम्परा, वातावरण एवं विकास सिद्धांत तथा (३) क्षति सम्बन्धी औषधि और कानूनी सिद्धात। इनपर दृष्टिपात करते हुए हम कह सकते हैं कि यह 'क्षति' का सिद्धात अनौचित्यपूर्ण और त्रुटिपूर्ण ढग से प्रस्तुत किया गया है। इसके पश्चात् वश परम्परा, प्राकृतिक चुनाव, विकास और वातावरण का उपयोग सिद्धात निर्माण में सीमित अश तक होना चाहिए। निरीक्षण पर आधारित प्रयोगवाद और भी भयकर है। 'जोला' ने गानकार्ट' की निष्पत्तियो को अनावश्यक ढग स विस्तृत किया है। अनुभूति का यथार्थ में महत्व है, पर मात्र निरीक्षण श्रेयस्कर नही।"[4]

'जोला', 'हाइसमैन', 'ब्रुजियर' और 'फैरेल' आदि प्रकृतवादी विचारको का दृष्टिकोण निराशावादी, भौतिकवादी और नियतिवादी था। "वे प्रकृति और समाज की ऐसी वाह्य और आतरिक शक्तियो पर विशेष रूप से दृष्टि पात करते थे जो मानव स्वतत्रता के लिए बाधक और उसके विवेक एव् नैतिक उत्तरदायित्व को सकीर्णता से

1. Joseph Chiari—Realism and imagination P. 77–78.
२. अजीतकुमार (आलोचना उपन्यास अङ्क पृ० २३)
३ वही (पृष्ठ २१)
4. Hist. of French Novel —G. Saintsbury, p. 469–70

ग्राबद्ध करने वाली थी। ये मानव एवं पशुग्रों की प्रवृत्ति में साम्य देखते थे। ग्रतएव इस विचारधारा के लेखक प्रमुख रूप से व्यवहारवादी एवं प्रकृतवादी स्वरूप के ग्राधार पर प्राकृतिक विवेचन को विशेष महत्व देते थे। इस विवेचन का प्रमुख ग्रंश यौन विकृति से सम्बद्ध था।"[1]

प्रकृतवाद दर्शन शास्त्र के एक ऐसे सिद्धान्त के रूप में प्रयुक्त किया जाता है जिसके ग्रनुसार यह मान लिया गया है कि प्रकृति को प्रकृति मे रह कर ही समझा जा सकता है। प्रकृति को समझने के लिए ग्रन्य किसी उपादान की ग्रावश्यकता नहीं है। इसके ग्रतिरिक्त मनुष्य को इसके ग्रनुसार पूर्णतः प्रकृति का एक अंग माना जाता है। साहित्य के ग्रन्दर निश्चय ही इसके प्रति धारणा ग्रभी ग्रस्पष्ट है। कुछ ग्रालोचको के ग्रनुसार यथार्थवाद ग्रौर प्रकृतवाद शब्द एक दूसरे के लिए प्रयुक्त किये जाते हैं। दोनो शब्दो मे कोई तात्विक भेद नही है। यह शब्द साधारणतः (१) साहित्यिक कृतियो के लिए प्रयुक्त हुग्रा है, जिसके ग्रनुसार प्रकृति के प्रति ग्रात्मीयता तथा उसके सौन्दर्य के प्रति ग्रास्था प्रकट की जाती है। (२) साहित्य को ग्रधिक से ग्रधिक प्रकृति के निकट ग्राना चाहिये, यानी 'रूसो' के ग्रनुसार 'पूर्व प्रकृति की ग्रोर लौटने'[2] वाला सिद्धान्त स्वीकार किया जाना चाहिये। (३) मनुष्य के शारीरिक प्रसगो की ग्रोर ग्रत्यधिक जोर डालता है तथा उसकी पशुग्रो से निकटता स्थापित करता है।

प्रकृतवाद रोमेन्टिसिज्म तथा ग्रादर्शवाद का विरोधी है तथा मानवतावाद से भी इसका मेल नही खाता। साहित्य मे कुछ ग्रवस्थाएँ ऐसी हैं जब कि यथार्थवाद ग्रौर प्रकृतवाद एक दूसरे के समानान्तर होकर चलने लगते हैं। डाक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी के ग्रनुसार प्रकृतवाद इसे स्वीकार करता है कि 'मनुष्य प्रकृति का उसी प्रकार विकसित जन्तु है, जिस प्रकार ससार के ग्रन्य प्राणी। उसमें पशु-सुलभ सभी ग्राकर्षण-विकर्षण ज्यो के त्यो वर्तमान है। प्रकृतवादी लेखक मनुष्य को काम-क्रोध ग्रादि मनोरोगो का गट्ठर मात्र समझता है ग्रौर उसके ग्रर्थहीन ग्राचरणो, कामासक्त चेष्टाग्रो, महंकार से उत्पन्न धार्मिक वृत्तियो का विशेष भाव से उल्लेख करता है।'[3] यथार्थवाद प्रकृतवाद के सिद्धान्तो का ठीक-ठीक पोषण नही करता, बल्कि मनुष्य की ब्योरेवार चेष्टाग्रो का चित्रण करते-करते प्रकृतवाद के समानान्तर चलने लगता है। वस्तुतः यथार्थवाद का उल्टा शब्द ग्रादर्शवाद ग्रौर प्रकृतवाद का उल्टा शब्द मानवतावाद है।

जब ग्रादर्शवाद कल्पना के नाम पर काव्य को इस लोक से बहुत दूर खीच ले गया तो यहा प्रवृत्ति भौतिक विज्ञान का बल लेकर योरोपीय साहित्य मे 'प्रकृतवाद' के नाम

1. Dictionary of world'litt—99.

2—'Back to Nature'—Rousseau.

३—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी (हिंदी साहित्य पृष्ठ, २८-२६)

से प्रकट हुई। यह वाद मार्यतः किसी प्रकार के साहित्यिक अलंकारो या, अथवा वस्तुओ या भावो में किसी प्रकार के आदर्शीकरण का विरोधी है और इस बात का समर्थक है कि मनुष्य सभी बातो में पशु के समान है, विशेषकर रति के सम्बन्ध में यह अत्यन्त निम्न और पतित श्रेणी के लोगो के जीवन को अपना सर्वोत्तम विषय समझता है। इसे हम यथार्थ की पराकाष्ठा कह सकते हैं। जीवन के विषय में मूलतत्व को ढूंढ निकालना ही यथार्थवादी का मुख्य ध्येय रहता है। इसलिये उसमें दो बातें विशेष रूप से पायी जाती हैं। एक तो यह कि भद्दे-से भद्दे और समाज द्वारा निषिद्ध विषयों का भी वह परित्याग नही करना चाहता, दूसरे वह अपनी वर्ण्य वस्तुओ की यथार्थता पर ही अधिक बल देता है और यथा सभव उन्हे ज्यो का-त्यो पाठको के सामने रखना चाहता है।

बहुत से नाच प्रवृत्तियो के लेखक यथार्थ का दुष्प्रयोग कर उसे बहुत बदनाम कर देते हैं। उनका उद्देश्य सत्यान्वेषण नहीं होना, वरन् वे केवल जीवन के हेय और अश्लील पक्ष का ही चित्रण करके पाठको की पाशविक प्रवृत्तियो का मनोरजन करना चाहते हैं। इसलिए यथार्थवाद अपने विकृत रूप में प्रकृतवादका रूप धारण कर लेता है। यौन समस्याओ (सेक्स प्राब्लेम्स) का उतना ही रूप श्रेयस्कर है जो अपने सापेक्ष रूप मे उचित और स्वस्थ है। 'तालस्ताय' ने महान यथार्थवादी लेखको की शैली एवं परम्परा को नहीं अपनाया, बलिक अनेक सिद्धान्तो मे उसका मतभेद ही रहा, परन्तु अन्य पुराने लेखको ने जो प्रकृतवाद (नेचुरलिज्म) का स्वस्थ एवं गम्भीर विरोध किया था, उसने कभी भी अपनी असम्मति नहीं प्रकट की।

'फ्लावेयर,' 'जोला' और 'मोपासा' घोर प्रकृतवादी लेखक थे, 'तालस्ताय' के पूर्व रूस और स्केन्डनेविया के लेखक जो कि 'तालस्ताय' की प्रतिमा से घट कर थे, फिर भी उनकी कृतियो मे कला के चिह्न मिलते ही हैं, जो कला कि योरोपीय साहित्य में कुम्हला रही थी। परन्तु इनके चरित्रो में शक्ति थी, आग्रह था और समस्यात्मक बुद्धि तथा उसके हल महान थे। उनके दृष्टिकोण रक्त से रंजित तथा प्रवृत्ति क्रान्तिकारी थी। जिन लेखकों ने विद्रोही भावनाओ से प्रेरित होकर ससार का चित्र खींचना चाहा है, वे केवल उन घृणित सामाजिक वातावरणो का चित्रण कर सके हैं, जिनसे वे घिरे हुए थे। इस प्रकार जिस यथार्थ की सच्ची झलक वे दे सके हैं, वह सकीर्ण प्रकृतवादी हो उठी है।

'जोला' ने निर्भीकतापूर्वक स्वीकार किया है कि प्रत्येक साहित्यकार का यह कर्त्तव्य है कि वह जीवन के विश्वसनीय यथातथ्य चित्रो को चित्रित करे, चाहे वे कितने ही बुरे एवं भ्रष्ट क्यो न हो। जब वह मनुष्यों की कुरीतियो तथा रोगो का चित्र उपस्थित करे तो वह इतना तथ्यपूर्ण हो कि पाठकों को उसकी वास्तविकता में किसी भी प्रकार

का सन्देह न हो। उसके अनुसार "लेखक का कर्त्तव्य है कि वह किसी भी वस्तु का जब चित्रण करने बैठे तो उसका विश्वसनीय एवं ठीक-ठीक चित्र उपस्थित कर दे, भले ही वे कुरूप तथा जीवन के गन्दे चित्र क्यों न हो। जब वह मनुष्यों की दुर्बलताओं तथा रोगों और नैतिक कमजोरियों का चित्र उपस्थित करने लगे तो उसे चाहिये कि वह किसी भी अंश का चित्र खींचना भूल न जाय जिससे कि पाठक को उसकी चित्रोपमता में सन्देह होने लगे[1]।"

प्रकृतवादी साहित्य जीवन को उसके वास्तविक नग्न रूप में उपस्थित करता है। वह किसी भी वस्तु को साहित्य के लिए गोपनीय नहीं समझता, जब कि दूसरी ओर शुद्ध कला के समर्थक अपने आस-पास के वातावरण से मुख मोड़कर दूरस्थ रहस्य की बात करते हैं। इस प्रकार या तो हम कीचड़ में हैं, या बादलों में और हमारे लिए बीच का कोई तीसरा मार्ग ही नहीं मिल पाता।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने प्रकृतवाद को यथार्थवाद के नाम पर विकसित हुई नवीन शैली माना है, "जिसमें क्रमश जीवन के स्वस्थ उपकरणों का अभाव दिखलाई पड़ने लगा। सत्य और यथार्थ के नाम पर जो रचनाएँ प्रस्तुत की गई उनमे प्राय. विकृत और असंतुलित चरित्रों की जीवन-गाथा रहा करती थी[2]।" प्रकृतवाद एक प्रकार से औपचारिक प्रवृत्तियों का साधन है, जिसके द्वारा हम पड़े हुए बीच के प्रतिरोधों के विषय में उसकी सीमा तक सोचना आरम्भ करते हैं तथा आधुनिक प्रतिक्रिया को साहित्य मे रखकर कला का रूप प्रदान करते हैं[3]।"

'प्रकृतवाद के भीतर स्त्रियों के सम्बन्ध में नारीत्व की दृष्टि ही प्रमुख होकर मातृत्व से उत्पन्न हुए सब सम्बन्धों को तुच्छ कर देती है। वर्तमान युग की ऐसी प्रवृत्ति है। जब मानसिक विश्लेषण के इस नग्न रूप मे मनुष्यता पहुँच जाती है तो

---

1. "Zola proclaimed the duty of a writer to give a precise and faithful discription of even the ugliest and most drab things of life without sparing the readers susceptibilities when it comes to portraying human vices, diseases and moral deformities."

Tomara Motyleva: Soviet Literature and World Culture, p, 1-2

२. नन्ददुलारे वाजपेयी (आधुनिक साहित्य)

3. "Naturalism on theother side formalistic coin, we begin to realize extent of the barriers modern reaction places in the path of the artist."

H. Fast : Literature and Reality; p, 57.

उन्हीं सामाजिक बन्धनों की बाधा घातक समझ पड़ती है और इन बंधनों को कृत्रिम और अस्वाभाविक माना जाने लगता है[1]।"

मुख्यतः प्रकृतवादी साहित्य जड़ विज्ञान की देन है। जड़ विज्ञान की प्रगति हो जाने पर मनुष्यों ने प्रकृति पर विजय करनी आरम्भ कर दी, और ज्यों-ज्यों प्रकृति पर मानव को विजय मिलती गई, उसका विश्वास ईश्वरीय विधान की ओर से हटने लगा। नास्तिकता का जो इतना प्रचार बढ़ा, उसका मूल कारण मनुष्य की यह विजय ही है। इसके साथ ही साथ दूसरी ओर नैतिकवाद तथा मनोविज्ञान की भी प्रगति हुई जिससे मनुष्य के अन्दर यह एक अपार जिज्ञासा उत्पन्न हुई कि वह जाने कि मनुष्य के अन्दर अथवा जीवन में वह कौन सा रहस्य छिपा है जिसके कारण वह संसार के अन्य जड़ पदार्थों से भिन्न है। जब कि संसार की सभी जड़ वस्तुएँ अधोगामिनी हैं वे ऊपर से नीचे की ओर गिरती हैं, तब भी जीवांकुर नीचे से ऊपर की ओर बढ़ता ही जाता है। जीव का जीव के प्रति आकर्षण भी अन्य संसार की जड़ वस्तुओं से भिन्न एक अनोखी वस्तु है। इन्हीं जिज्ञासाओं ने साहित्य में प्रकृतवाद को जन्म दिया।

प्रकृतवाद के अन्दर मनुष्य की आदिम वासनाओं तथा उनकी शारीरिक चेष्टाओं के प्रति विशेष आग्रह पाया जाता है। यह सिद्धांत स्वाभाविक एवं आवश्यक सत्य के रूप में स्वीकृत किया जा सकता है, परन्तु यह शक्तिशाली किन्तु कमजोर बनाने वाला विज्ञान है। यह समाज की निर्धारित परम्पराओं के बंधन को स्वीकार नहीं करता, बल्कि अपने शक्तिवेग से उसकी मर्यादाओं को अस्त-व्यस्त करके प्राणी को उसके प्राकृतिक रूप में देखना चाहता है तथा आवरण में छिपी हुई रहस्य की वस्तुओं को वह सामने लाकर अपनी जिज्ञासु भावना को तृप्ति देना चाहता है। यह मनुष्य को उसकी मानवता के वास्तविक स्वरूप को नहीं देखना चाहता, बल्कि उसके कुत्सित एवं जघन्य प्रदेशों में ही इसका मन विशेष रमता है।

यही कारण है कि प्रकृतवादी लेखक वास्तविक चरित्र को भूल जाते हैं और एक भी ऐसे चरित्र का निर्माण नहीं कर पाते जो रीढ़ वाला हो, जो अपने सहारे खड़ा हो सके। सदैव मनुष्यों के, विशेष कर नारी के शारीरिक चीर-फाड़ में ही इनकी सारी शक्ति का अपव्यय होता है। मनुष्य की वासनाएँ इतनी प्रबल होती हैं कि जरा भी सहलाहट पाकर झनझना उठती हैं। यही कारण है कि जो लेखक इन दुर्बलताओं के शिकार बन जाते हैं तथा इन कुत्सित प्रवृत्तियों के दास बने रहते हैं, वे कभी भी उत्तम साहित्य की सृष्टि नहीं कर पाते और जो भी इनका साहित्य सामने आता है वह बिल्कुल घासलेटी साहित्य होता है।

---

१. जयशंकर प्रसाद, काव्य और कला तथा अन्य निबंध पृ० १२२।

'मोपासा' का साहित्य प्रकृतवादी होते हुए भी जो घासलेटी साहित्य नहीं हुआ, उसका मूल कारण यह है कि जिस समय उसने अपनी रचनाएँ कीं, उस समय जीव विज्ञान का साहित्य अपनी चरम सीमा पर था, और वही युग का सत्य था। जिस साहित्यकार को युग के सत्य पर विश्वास नहीं होगा उसका साहित्य निम्न कोटि का न होगा, तो और क्या होगा? परन्तु हमारे हिन्दी साहित्य मे जो इस कोटि की रचनाएँ हो रही हैं उनकी प्रत्येक पंक्ति युग सत्य नहीं, बल्कि उनकी दमित वासनाएँ तथा नारी के प्रति स्वच्छन्द रमण की अभिलाषा है। वे मानव से पशु बनना चाहते हैं। यही कारण है कि लेखक प्रकृतवाद के नाम पर साहित्य के अन्दर घृणा और जुगुप्सा का अशोभन प्रचार कर रहे हैं।

हिन्दी उपन्यासों के अन्दर शुद्ध प्रकृतवादी चित्रण बहुत कम मिलते हैं क्योंकि हिन्दी साहित्य के अन्दर उपन्यासों की सृष्टि किसी न किसी सामाजिक उद्देश्य को लेकर ही की गयी है। केवल कला की दृष्टि से लिखने वाले लेखकों का अभाव ही है। परन्तु पाश्चात्य साहित्य में कला की जो विजय हुई है, उससे हिन्दी उपन्यास साहित्य बिल्कुल अछूता नहीं है। हिन्दी के उपन्यासकार भी अपनी योग्यता, रुचि एवं सामाजिक औचित्य के अनुसार जहाँ तक बन पड़ रहा है नवीन शैलियों की ओर आकर्षित जान पड़ते हैं। प्रकृतवादी शैली को लक्ष्य मान कर भले ही अधिक उपन्यास नहीं लिखे गये हैं, फिर भी अनेक ऐसे प्रमुख उपन्यास वर्तमान हैं, जिनमे किसी न किसी प्रकार प्रकृतवादी शैली का निर्वाह हुआ है।

अतियथार्थवाद (सररियलिज्म)

अतियथार्थवाद प्रथम महायुद्ध जनित विभीषिका का स्पष्ट प्रतिफल था। महायुद्ध जनित विशृंखलता से ऊबकर नवीन लेखकों ने नग्नयथार्थ से दूर हटकर एक स्वप्नों की दुनियाँ बसाने का प्रयत्न किया था। ये भग्नाशा भग्नमन व्यक्ति कठोर यथार्थवाद का आघात सहन न करके मन के रहस्य मय गह्वरों मे प्रविष्ट होकर सृष्टि के उपादानों को ढूँढने का प्रयत्न करने लगे थे। वास्तविकता से सम्बन्ध विच्छेद करने के परिणाम स्वरुप इन्हें अतियथार्थवाद में ही शरण मिल सकती थी क्योंकि सांसारिक प्रवंचना के ये स्पष्ट भुक्त भोगी थे।

'डाडाइज्म' का जन्म प्रथम युद्धकाल में ही हो चुका था। यथार्थ में 'सररियलिज्म' दादावाद का ही विकसित रूप है। सामाजिक विद्रूपता को सर्वप्रथम प्रश्रय मूर्तिकला में ही मिला था। अतएव इस आन्दोलन का आरम्भ भी मूर्तिकला के क्षेत्र से ही होता है। 'पालम्लो' 'फ्रायडियन' मनोविश्लेषण से परिचित थे। अतः इसके चित्रों में इसकी सफल अभिव्यक्ति हुई है। ये सचमुच अर्धचेतन मन की विद्रूपताओं के कलाकार थे। वे स्पष्ट सत्य की तुलना में अस्पष्ट एवं धूमिल सत्य की अभिरंजना को विशेष महत्व देते

संसार की सबसे रहस्यमयी वस्तु है, परन्तु समाज की आदिम अवस्थाओं में न तो पुरुष का नारी के प्रति इतना प्रबल आकर्षण था और न वह इतने रहस्य की ही वस्तु थी। आज जब कि मनुष्य सारी प्रकृति पर विजय कर लेने का दम भरता है, फिर भी साढे तीन हाथ का नारी शरीर उसके लिये अभेद्य बना हुआ है। इसी अभेद्य दुर्ग पर विजय प्राप्त करने का हल लेकर अतियथार्थवादी साहित्य सामने आता है, और वह हल है नारी को उसके प्रकृत रूप मे देखना। यही कारण है कि अतियथार्थवादी साहित्यकार गोपनीय एवं मन के गहन प्रदेशों का यथातथ्य चित्र अनावृत रूप मे पाठकों के सामने उपस्थित करने का प्रयत्न करता है, जिससे उनकी जिज्ञासायें शान्त हो जायँ और वह नारी को केवल विलास एवं आकर्षण की वस्तु न समझें।

मनुष्यो के अतिरिक्त आज भी अनेक जीवधारी हैं जिनके अन्दर परस्पर कोई दुराव छिपाव नही है। उन्हे जब भूख लगी भोजन कर लिया और भोग की इच्छा हुई तो अपनी वासना की तृप्ति कर ली। इसके लिए उन्हे उलझने, तथा मानसिक संसार में एक संघर्ष उपस्थित कर लेने की कोई भी आवश्यकता नही होती। अतियथार्थवाद, मनुष्य की ऐसी ही स्थिति का समर्थक है। अतियथार्थवाद और मनोविश्लेषणात्मक यथार्थ के सिद्धान्तो का किन्हीं-किन्हीं स्थानो पर भेद करना कठिन हो जाता है। मनोविश्लेषणात्मक यथार्थवाद के अन्दर मनुष्य के स्वाभाविक अवगुणो को चित्रित करके उनसे घृणा उत्पन्न करने का प्रयास किया जाता है, परन्तु अतियथार्थवाद के अन्दर गोपनीय एवं रहस्यपूर्ण स्थलों को चित्र द्वारा सामने लाकर मानव की जिज्ञासाओं को निर्मूल करने का प्रयत्न किया जाता है।

अतियथार्थवादी साहित्य के अन्दर जो नारी शरीर की इतनी नाप-जोख हो रही है, तथा उसके अप्रत्यक्ष अंगो का चित्रण वीभत्स रूप मे उपस्थित किया जा रहा है, किस सीमा तक समाज के लिए कल्याणकारी होगा, उसका परिणाम ही बतलायेगा। अतियथार्थवाद के अन्दर जो यौन समस्या ही प्रधान हो उठी है, उसे साहित्यकार की एकांगी दृष्टि ही कहा जा सकता है। यथार्थ चित्रण के अन्दर नारी-अंगो की चीर फाड ही नही आती, बल्कि ससार मे और भी बहुत सी वस्तुएँ ऐसी हैं जिनकी यथार्थ रूप से व्याख्या होनी चाहिये। परन्तु जो मनुष्य अपनी दमित कामवासना की प्रेरणा से विकल हो रहे हैं, उनके लिए ये यथार्थवादी चित्र कभी भी घृणा नही उत्पन्न कर सकते, क्योंकि मनुष्य जब कामासक्त होता है तो रति के सम्बन्ध मे वह पशुओं से भी बढ जाता है। अतः इस प्रकार के साहित्य से समाज में भ्रष्टाचार फैलने के सिवा और कुछ भी नहीं हो सकता।

हिन्दी उपन्यासो के अन्दर अतिनग्नवादी शैली का सर्वथा अभाव है। हमारे भारतीय समाज की सांस्कृतिक मान्यताएँ ही कुछ इस प्रकार की हैं कि जिनके द्वारा

मनुष्यों की स्वतन्त्रता पर बड़े-बड़े प्रतिबन्ध लगाये गये हैं। और जहाँ तक स्त्री और पुरुष के रति सम्बन्धी कार्य व्यापार हैं, उन पर तो और भी कड़ी व्यवस्था रखी गयी है। हमारा भारतीय समाज यौन पवित्रता को इतना महत्वपूर्ण समझता है कि वह मानव चरित्र की पवित्रता की एकमात्र कसौटी यौन पवित्रता को ही मानता है। बड़े से बड़े पापों एवं अनाचारों को करके भी कोई भी व्यक्ति समाज के अन्दर चरित्रवान बनकर सम्मानित हो सकता है, यदि उसने अपनी यौन पवित्रता को अक्षुण्ण रखा है। यही कारण है कि भारतीय साहित्य के अन्दर कहीं भी ऐसे अश्लील चित्र नहीं आ सके हैं जिनसे मानव की सुरति-कामनाओं को सहलाहट मिले और उसका मन बासना की तृप्ति के लिए आकुल हो उठे। परन्तु विदेशी साहित्य के सम्पर्क में आ जाने के कारण सामाजिक सीमाएँ कुछ टूटती-सी जान पड़ती हैं। अश्लील एवं नग्न चित्रों का जितना आधिक्य अमेरिकी साहित्य के अन्दर है उतना किसी भी साहित्य में नहीं। अमेरिकी सभ्यता और संस्कृति से भारतीय सभ्यता और संस्कृति में महान अन्तर है। किसी भी देश की सामाजिक परम्पराएँ उस देश की स्थिति और जलवायु को लेकर ही बनती हैं क्योंकि जो चुम्बन और आलिंगन एक ठंडे प्रदेश के निवासियों के लिए किसी भी प्रकार का मानसिक उत्पीड़न नहीं पैदा कर सकता, वही एक चुम्बन भारत ऐसे गर्म देश के निवासियों का सर्वस्व लूट सकता है।

यथार्थ और रोमांस

"साहित्य में वह सभी यथार्थ है जिसके पीछे साहित्यकार की अपनी अनुभूति है और जिसे वह दूसरों को अनुभूत करा सकता है। मानव अनुभूति के विषय असीम और असंख्य हैं। इनके सीमा को निर्धारण का प्रयत्न कोरी विडम्बना ही होगी। साहित्यकार के लिए एक निमंत्रण स्वीकार किया जा सकता है, वह है उसके साहित्य का लोक-कल्याणकारी रूप, उसे समाज का अकल्याण करने का कोई अधिकार नहीं है। उसे कदापि ऐसे यथार्थ चित्रण नहीं करना चाहिए जिससे पाठकों को कुरुचिपूर्ण कुत्सित पशु-वृत्तियों को सहलाहट मिले। परन्तु स्वस्थ रोमांस मानव-जीवन में ताजगी लाने तथा उसे गतिशील बनाये रखने के लिए अति आवश्यक है। साहित्य के क्षेत्र में रोमांस भी उतना ही यथार्थ है जितना रोटी-कपड़ा।"[1] लोगों की सामान्य धारणा है कि 'रोमांस' विलासी जीवन की क्रोड़ में फलता-फूलता है और उसकी सुकुमार लता संघर्ष-रत मानव-जीवन के ताप को पाकर मुरझा जाती है।

कहा जाता है कि आज का संघर्ष-रत मानव किसी प्रकार की रोमानी भावनाओं में दिलचस्पी नहीं ले सकता, जो रोटी कपड़े के लिए अपने अधिकारों के लिए, अपने जीवन के लिए शोषकों से लड़ रहा है, उसे प्रेम कहानी पसंद आएगी? किन्तु यह

१. कल्पना सम्पादकीय—अक्टूबर १९५१ पृ० ७४३

तथ्य नहीं है। शोषित और संघर्ष-रत व्यक्ति भी मानव है, 'आटोमेटन' नहीं है जो सदा एक ही बात सोचता रहेगा। पेट की भूख के अतिरिक्त मानसिक भूख भी उसे लगती है, उसका अकाट्य प्रमाण प्रत्येक देश के लोक-गीत और लोक-कथायें हैं। लोक-गीत और लोक-कथायें बुर्जुआ-वर्ग की कृतियाँ नहीं हैं, प्रत्येक देश और काल के शोषितों की सर्वहारा वर्ग की रचनायें हैं। कोई नहीं कह सकता कि ये रचनायें यथार्थ का चित्रण नहीं हैं। इनमें हमें जन-जीवन की सच्ची झाँकी देखने को मिलती है। यह कट्टर से कट्टर प्रगतिवादी भी स्वीकार करेगा, और लोक-साहित्य में केवल संघर्ष की, रोटी-कपड़े की बातें नहीं हैं?' मानव जीवन मे प्रेमतत्व का पाया जाना चिरंतन सत्य है और फलस्वरूप साहित्य के अन्दर रोमांस उतना ही शाश्वत है जितना साहित्य में मानव।

'रोमांस' शब्द की प्राचीनता की ओर जब हम ध्यान देते हैं तो स्पष्ट हो जाता है कि आज जो 'रोमांस' से हम तात्पर्य लेते हैं, वह प्राचीन 'रोमांस' से सर्वथा भिन्न है। 'रोमांस' की वास्तविक अभिव्यक्ति तब होती है जब साहित्यकार तर्क को सामने रख कर चेतन अवस्था में अपनी कल्पना स्वप्न तथा आन्तरिक प्रेरणाओं की अभिव्यक्ति करता है। मध्ययुगीन 'रोमांस' इसलिए रोचक नहीं है कि वह उस समय के व्यक्तियों के विचार तथा जीवन की अभिव्यक्ति करता है अथवा उन्हें सामने लाता है, बल्कि इसलिए रोचक है कि वह तत्कालीन पुरुषों के स्वप्नों का प्रतिनिधित्व करता है। साधारणतः उस शब्द अथवा साहित्य से हम रोमांटिक (Romantic) शब्द का बोध कर सकते हैं जिसके द्वारा 'रोमांस' की अभिव्यक्ति होती है। इस शब्द का आरम्भ सत्रहवीं शताब्दी के पूर्व हो चुका था और सत्रहवीं शताब्दी मे जो दृष्टिकोण पाश्चात्य साहित्य मे अपनाया गया उसके मुख्यतः दो रूप थे। (१) रोमांस और (२) कल्पना।

यदि हम पाश्चात्य साहित्य के क्रमिक विकास पर विहंगम दृष्टि डालें तो हमें ज्ञात होगा कि देश की जिस सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों ने साहित्य मे यथार्थ अथवा यथार्थवाद को जन्म दिया, उन्हीं परिस्थितियों ने रोमांस अथवा रोमांटिक साहित्य को भी उत्पन्न किया, यदि इन दोनों विचारधाराओं में कोई अन्तर है तो केवल अभिव्यंजना शैली मे अन्यथा दोनों का सामाजिक लक्ष्य प्राय एक-सा है। उनमें से एक यदि वास्तविकता को सामने रख कर वर्तमान की निस्सारता प्रकट करना चाहता है तो दूसरा कल्पना के माध्यम से सम्भावित श्रेष्ठतर परिस्थितियों का ज्ञान। उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी के मध्य मे यूरोप के अन्दर सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों मे अनेक मोड़ उत्पन्न हुए, जिनके परिणामस्वरूप साहित्य की विचारधाराओं में भी अनेक प्रकार के परिवर्तन आये। युग की आवश्यकताओं ने ही यथार्थवाद और स्वच्छ-

१. कल्पना सम्पादकीय—अक्तूबर, १९५१ पृ० ७४३

न्दतावाद को जन्म दिया। उन्नीसवी शताब्दी में विश्वसाहित्य धीरे-धीरे मानव की दैनिक समस्याओं, उसके वास्तविक जीवन तथा एक विशेष विकासशील दिशा के निकट आया जिसका निर्माण पश्चिमी यूरोप के ऐतिहासिक यथार्थवाद के द्वारा हुआ। इसके अतिरिक्त उन्नीसवी शताब्दी के अन्त में हुई फ्रांस की राज्यक्रांति ने यूरोप की प्रायः सभी पुरानी संस्कृति को ही बदल दिया, जिससे एक नवीन दृष्टिकोण उदित हुआ। इस महान परिवर्तन की प्रेरणा से जो एक अभिनव कला परिपाटी का जन्म हुआ उसे ही स्वच्छन्दतावादी कला के नाम से पुकारा गया। "इस काव्य परिपाटी में सामयिक परिवर्तनों का प्रभाव प्रमुख रूप से व्याप्त था। कवियो की कल्पना सारी पूर्व परम्परा का अतिक्रमण कर अत्यन्त नवीन रूप में व्यक्त हुई।"[१]

नवीनता की कामना ने ही किसी वस्तु को देखने के लिए, जो अनेक ढंग उपस्थित किए उन्हों के कारण परम्परा के प्रति आये विद्रोही भाव अनेक दिशाओं में विभिन्न शैलियों मे अभिव्यक्त हो उठे और यथार्थवाद तथा स्वच्छन्दतावाद दोनो वैसी ही साहित्यिक शैलियाँ है जो वास्तविकता; असन्तोष तथा अभाव को व्यक्त करती हुई परिवर्तन तथा महत्वाकांक्षा की ओर प्रेरित करती हैं। फ्रांस की राज्यक्रान्ति से समाज की जो रूपरेखा बनी उसने पढे लिखे लोगों की महत्वाकांक्षा, साहित्य और उनके समय की जनता में विग्रह उत्पन्न कर दिया। इस काल में वही लेखक महान बन सकता था, जो नवीनतम समस्याएँ लेकर दैनिक जीवन को चित्रित करता। इसके अतिरिक्त अन्य नूतन ज्ञान, विज्ञानों के प्रभावों ने मानव समाज के सामने सोचने की ऐसी भूमि तैयार करदी कि जिसके आधार पर वह सोचने लगा कि- वर्तमान जो उसके सामने है वही अन्तिम सत्य नही है और जो जिन्दगी वह जी रहा है न वही उसकी एकमात्र जिन्दगी है जिसे उसे जीना है। इस प्रकार जिस साहित्य ने जीवन अथवा जगत को वास्तविकता को उसके नग्न रूप में उपस्थित किया, उसे तो साहित्य में यथार्थ वाद के नाम से पुकारा गया, और जिसने सम्मानित-श्रेष्ठतर जीवन अथवा जगत की झाँकी दी उसे स्वच्छन्दतावादी विचारधारा के नाम से अभिहित किया गया, किन्तु दोनो के मूल में प्रेरणा श्रेष्ठतर जीवन की कल्पना ही है।

आधुनिक युग में हम यथार्थवाद को रोमान्सवाद से बिल्कुल भिन्न वस्तु समझने लग गये हैं; पर रोमांटिक युग के विचारकों की विचार धारा ऐसी नही थी। रोमांटिक विचारकों की उत्पत्ति ही कृत्रिमता, एवं असत्यता के विरोध में हुई थी, अतः वे स्वाभाविकता एवं यथार्थता के पक्षपाती थे। उनके मत में यथार्थता रोमांसवाद की सार वस्तु है। 'बायरन' ने सत्य के महत्वका उद्घोष करते हुए कहा था कि "Truth is always stronger than fiction अर्थात् सत्य सदा ही विचित्र होता है,

१. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी—आधुनिक साहित्य।

कथा कहानी से भी अधिक विचित्र। 'हैजलिट' ने एकबार कहा था कि 'मौलिकता की परीक्षा और विजय इसमें नहीं है कि वह हमें ऐसी वस्तु दिखाए जो कभी घटी नहीं है और जिसकी हम आसानी से कल्पना भी नहीं कर सकते, पर इसमें है कि वह हमें उसमें उस चीज को दिखाए जो हमारी आँखों और पैरों के तले हो, फिर भी अपनी प्रतिभा और मस्तिष्क की दृढ़ पकड़ के अभाव में उसके अस्तित्व की कल्पना भी हम नहीं कर सकते। वड्‌सवर्थ में इस रोमान्सवाद और यथार्थ वाद के सम्मिश्रण के बारे में अधिक कहने की आवश्यकता नहीं, वह एकदम स्पष्ट है जिसे कोई भी आसानी से देख सकता है।'[1] ? इस प्रकार हम देखते हैं कि आरम्भ से ही ये दोनों साहित्यिक प्रवृत्तियाँ स्वरूप में भिन्न होते हुए भी एक ही प्रेरणा से उद्भूत हैं।

यथार्थवाद जो कि एक प्रकार से काल्पनिकता के विरोधी अर्थों में प्रयुक्त किया जाता है, यदि उसे भी हम गम्भीरता पूर्वक विचार करें तो वह भी कहीं कहीं कल्पना का दामन नहीं छोड़ पाता। अंग्रेजी साहित्य में आजकल यथार्थवाद का स्वरूप बहुत कुछ बदल गया है। वह अब कल्पनामय और रहस्य मय हो गया है और उसमें बहुत सी ऐसी वस्तुयें प्रवेश पा गई हैं, जो कि सत्य से बहुत दूर और असम्भव तथा अविश्लेष्य मालूम पड़ती हैं। परन्तु यथार्थवाद के समर्थक अब भी यही कहते हैं कि हमने सत्य के अन्वेषण के लिये अपने क्षेत्र को और विस्तृत कर लिया है जिसमें साहित्य की पुरानी लीक पर चलने की आवश्यकता नहीं। 'मार्क्स' के अनुसार तो वास्तवाद ने ही अपने नग्न, निकृष्ट और नीरस वाग्विस्तार को अधिक से अधिक अर्थ-गर्भित बनाने के लिये प्रतीक वाद का रूप धारण कर लिया है।

कितने वास्तववादी लेखक आगे चल कर स्वयं प्रतीक वादी बन गये हैं। प्रभाव वादी कवि उस घटना का वर्णन करते हैं जो निरपेक्ष दृष्टि से उनके हृदय पर अपना प्रभाव डालती है; जबकि यथार्थवादी उसका तद्वत् वर्णन कर देता है। वह प्रभाव वादियों की भाँति हृदय पर पड़े हुए प्रभावों के अनुसार नहीं करता। 'चित्रकार जब चित्र बनाने बैठता है तब वह तथ्य का सम्वाद देने नहीं बैठता। वह तथ्य को उसी हद तक स्वीकारता है, जिस हद तक उसको लक्ष्य करके किसी एक सुषमाका छन्द विशुद्ध-रूप में मूर्त हो उठता है। यह छन्द विश्व का नित्य पदार्थ है। इस छन्द के ऐक्य सूत्र मे ही हम तथ्यों के सत्य का आनन्द पाते हैं। इस विश्व छन्द के आलोक में बिना उद्‌भासित हुये तथ्य का हमारे लिये कोई मूल्य नहीं।'[2]

---

१. श्री देवराज उपाध्याय—रोमांटिक साहित्य शास्त्र पृष्ठ १४५

२. रवीन्द्रनाथ ठाकुर—रवीन्द्र साहित्य भाग २४, अनु० हंस कुमार तिवारी, पृष्ठ ४३-४४।

यथार्थवादी लेखक जैसे 'बालजाक' या 'टालस्टाय' अपनी रचना की अन्तिम प्रश्नावली को समाज की सब से महत्त्वपूर्ण तथा नवीनतम समस्या से चुनते हैं और वहीं से उनकी रचना का आरम्भ होता है। जन-समुदाय की कठिनाइयाँ जो उस समय तीव्रतम रूप में सामने रहती हैं, उसी के प्रति सहानुभूति एवं उदारता दिखलाने के लिये वे अपने साहित्य की सृष्टि करते हैं। यही कठिनाइयाँ तथा दर्द उनके अनुराग अथवा घृणा का स्वरूप निश्चित करते हैं और इसी भावुकता के द्वारा ही उनकी कल्पनात्मक दृष्टि का निर्माण होता है, तथा उसी से पता चलता है कि उन लोगों ने इसे किस प्रकार और कैसे देखा है। यही देखने की दृष्टि की विशिष्टता ही यथार्थवाद और स्वच्छन्दवाद के स्वरूप में अन्तर डालती है। जो लोग इसका प्रयोग विरोधी अर्थों में करते हैं उनका दृष्टिकोण नितान्त भ्रामक है। उनका यह कहना है कि यथार्थवादी साहित्य अपना विषय-वस्तु काल्पनिक संसार से न लेकर वास्तविक संसार से लेता है, कोई मूल्य नहीं रखता क्योंकि यथार्थवादी लेखक अपनी कल्पनात्मक प्रतिभा के बलपर बाह्य यथार्थों का यथातथ्य चित्र उपस्थित करने का भी प्रयत्न करता है, अथवा भौतिक तत्वों का चित्रण करते समय अपनी भावुकता तथा अपनी अनुभूतियों को बाधक नहीं होने देता और यही कल्पना, भावुकता और कवि की अनुभूतियाँ ही रोमांटिक काव्य की जननी है। जब हम यह स्वीकार करने में नहीं हिचकते कि यथार्थवाद यथार्थता की आधार भूमि पर जीवन का नूतन चित्र है, तो हमें यथार्थवाद और स्वच्छन्दतवाद के पारस्परिक सम्बन्ध को स्वीकार करना ही होगा।'[1]

यथार्थ और वास्तविकता

आज के साहित्यकारों का कहना है, भौतिकता और कल्पना का संयोग नहीं हो सकता। दोनों के संयोग से किसी रचनात्मक साहित्य की सृष्टि नहीं हो सकती, बल्कि एक साधारण संग्रह मात्र ही होगा। 'मिल्टन' ने कविता के अन्दर तीन बातों की माँग की है। उसके अनुसार कविता 'सरल हो, और अनुभूतिजन्य तथा उत्तेजक हो'।[2] बाह्य सत्य एवं रचनाकार के बीच के संघर्ष से उद्भूत आवश्यकता, कौशल की माँग करती है जिसके द्वारा सत्य का निर्माण होता है, यही रचनात्मक प्रक्रिया की विशेषता

१. लेखक—आधुनिक हिन्दी कविता की स्वच्छन्द धारा, पृष्ठ ५७-६१।

२. Milton demanded three things of poetry, that it be simple sensuous and passionate. The essence of the creative process is the struggle between the creator and external reality, But does not a marxism claim that works of art are merely a reflection of economic needs and economic process ?' Rolph ox The Novel and the People.

है। परन्तु मार्क्स ने कभी भी इसका दावा नहीं किया कि कला का कार्य केवल आर्थिक आवश्यकताओं तथा आर्थिक प्रक्रिया की प्रतिच्छाया उपस्थित करना है।

'एनजिल' ने बड़े जोरदार शब्दों में कहा है, कि मनुष्य की इच्छाओं तथा उत्तेजनाओं का संघर्ष मानव के भावात्मक तत्वों को लेकर नहीं होता, वल्कि उसका वास्तविक आधार मानव की शरीर सम्बन्धी अवस्थाएँ ही हैं और मूलतः तो उनका आधारभूत तत्व आर्थिक समस्याओं पर आधारित है। 'लेनिन' के अनुसार तो लेखक का सम्बन्ध निश्चित ही सत्य से होना चाहिये। साहित्य वास्तव में एक मानवीय कला है इसी कारण मार्क्सवादी लेखकों का कहना है कि एक समाजवादी कला, नवीन यथार्थवाद ही आज एकमात्र प्रकट साहित्य है जिसके द्वारा रचनात्मक लेखक सत्य के साथ अपना संग्राम जीतते हैं। सत्य की जो मनचाही कल्पना कर ली जा रही है, उससे तो ऐसा लगता है कि भविष्य में वास्तविक सत्य का गला ही घुँट जायगा। यथार्थवाद वास्तविक सत्य तक पहुँचने का साधन मात्र है, वह साध्य कभी भी नहीं हो सकता।

'यथार्थवाद' को जैसे हमारे लेखकों ने विश्वास के रूप में नहीं, बल्कि आजकल के आवश्यक साधन के रूप में ग्रहण कर लिया है, यानी हर व्यक्ति में कुछ ढुलमुलपन और कुछ पतन स्खलन दिखा देने का नाम ही यथार्थवाद हो और आधुनिक बनने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक छोड़ा ही न जा सकता हो"[1] परन्तु इस प्रकार के चित्रण मात्र से यथार्थवाद का कार्य पूर्ण नहीं हो जाता, बल्कि उसका संकल्प कुछ और, इससे महान और पवित्र है जो अधूरा ही रह जाता है। "वास्तविकता की निष्कपट अभिव्यक्ति ही यथार्थवाद का लक्ष्य है।"

यथार्थ और सामयिकता

यथार्थवादी साहित्य के अन्दर युग-सत्य की ही नहीं अपितु उसके स्तर विशेष की भी अभिव्यक्ति होती है। परिस्थितियों के अनुसार युग का सत्य भी बदलता रहता है। 'हेवर्ड फास्ट' के अनुसार "जो कविता कभी महान् समझी जाती थी, वह आज केवल अच्छी समझी जाती है और आज से बीस अथवा पचास वर्ष बाद उसकी क्या स्थिति होगी कोई नहीं कह सकता[2]।" किसी भी साहित्य का मूल्यांकन हम उसकी लोकप्रियता के आधार पर करते हैं तथा उसकी ख्याति के द्वारा उनसे परिचय प्राप्त करते हैं। परन्तु पूर्ववर्ती साहित्य का मूल्यांकन करना इस रीति से थोड़ा कठिन होगा। आज से तीन सौ वर्ष पूर्व जो साहित्य रचा गया था, और उस समय उसकी जो लोकप्रियता एवं प्रशंसा

१. डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी—'विचार और वितर्क।'

2. The great poem has become a rather nice poem and what it will be in future twenty orfifty years from now, no one can say."—H. Fast, 'Literature and Reality' P. 12.

थी वह आज सम्भव नही। क्योंकि मान लीजिये आज से तीन सौ वर्ष पूर्व वहाँ एक ऐसा समाज था जो कि बहुसंख्यक जनसमूह के शोषण पर अपना जीवन व्यतीत करता था, जैसे कि आज का हमारा अमरीकी समाज है। पर आज जब कि वहां की स्थिति बिल्कुल बदल गयी है और वहाँ का अमेरिकी जीवन रूसी जीवन मे परिवर्तित हो गया है, तो वहाँ की लोकप्रियता एवं प्रशंसाओ की मान्यताओ में अवश्य ही अन्तर पड़ेगा। अतः ऐसी स्थिति मे साहित्य के स्तर तथा उसके सभी अगो का बदलना अनिवार्य है। स्तर, जो एक मात्र सांस्कृतिक, आध्यात्मिक और नैतिक गुणो की माप है, अपने विषय के परिवर्तन के साथ-साथ परिवर्तित होता रहता है।

ऐतिहासिक सत्य के आँकलन मे यदि वर्ग का इतिहास है, तो निश्चित ही वह समाजवादी साहित्य, वर्गगत साहित्य होगा। यदि देश की प्रमुख विचारधारा शासक वर्ग से अत्यधिक प्रभावित है, तो अत्यन्त स्वाभाविक है कि देश का अधिक से अधिक साहित्य उसी विचार-धारा की अभिव्यक्ति करेगा। यह कभी भी अन्तिम सत्य के रूप में नही स्वीकार किया जा सकता कि पूँजीवादी युग में यथार्थवादी साहित्य की सृष्टि नही की जा सकती। सत्य तो यह है कि पूँजीवाद प्रगतिवादी, व्यंग्यात्मक तथा प्रत्यक्ष विरोधी साहित्य को विकसित होने में सहयोग प्रदान करता है।

साहित्यिक भाषा मे यदि हम कहे तो कह सकते हैं कि जो प्रस्तुत सत्य के प्रति उदासीन हैं, भयभीत हैं और वास्तविकता में गोते नही लगाना चाहते वे अपने साहित्यिक 'प्रकाश' (फोकस) को जगत से परे उन्मुख कर देते हैं तथा वे एक स्वप्न कार्यालय का रूप धारण कर लेते हैं। न कभी कला स्वप्निल तत्वों के द्वारा आहृत रही है, और न है। संसार का महान् तथा स्थायी साहित्य सदैव सत्य की झलक रहा है और उस पर कलाकार की प्रतिभा अवश्य ही अपना चमत्कार दिखलाती रही है। वस्तुतः कला मानव समाज और सत्य में सम्बन्ध सूत्र की कडी रही है। "कला के निर्माण के लिए यथार्थवाद ही साहित्य मे सर्वोत्तम शैली है" और जिसके द्वारा सम-सामयिक वास्तविक परिस्थितियो का यथार्थ चित्रण किया जाता है।

यथार्थ और सत्य

जो कुछ है वह सत्य है। जो कुछ हम देखते हैं या सुनते हैं, जिसका अनुभव या अनुमान करते हैं, जिसकी कल्पना करते हैं, जिसे बुद्धि से जानते हैं अथवा जिसका हमें आभास मिलता है वह सब है, इसलिये सत्य है। इस दृष्टि से सत्य के दो भेद हुए, एक व्यक्त सत्य अथवा नित्य और दूसरा अव्यक्त अथवा अनित्य सत्य। यदि यथार्थ सत्य ही है तो उपर्युक्त दोनों रूप यथार्थ के ही हैं।

यथार्थ से हमारा तात्पर्य केवल व्यक्त पदार्थों अथवा बाह्य पदार्थों से ही है। व्यक्त सत्य के अतिरिक्त किसी अन्य पूर्ण एवं अनन्त सत्ता की कल्पना यथार्थ नहीं है। इस

बिन्दु पर पहुँचकर यथार्थ आदर्श से अलग हो जाता है। कल्पना भी वही सत्य हो सकती है जिसका कि हमने अपने वास्तविक जीवन में उपयोग किया है। जिस व्यक्ति ने अपने जीवन में कभी भी अंगूर नहीं खाये, वह प्रशंसा सुनकर केवल अंगूर पर श्रद्धा ही कर सकता है। अंगूर की मिठास उसके लिए यथार्थ नहीं कही जा सकती। परन्तु ऐसा संभव है कि जो एक वस्तु किसी व्यक्ति के लिए कल्पना की वस्तु है, वही दूसरे व्यक्ति के लिए यथार्थ भी हो सकती है। आज की कल्पित वस्तु कल यथार्थ का रूप धारण कर सकती है। आज के गगनगामी वायुयान पूर्व में किसी की कल्पना की वस्तु ही रहे होंगे। अतः इसी से अनुमान किया जा सकता है कि कल्पना में वह वस्तु आती है जिसका इस लोक में अस्तित्व न हो। प्रतीकात्मक कल्पनायें साकार हो जाने पर यथार्थ का रूप धारण कर लेती हैं।

विभिन्न लेखकों ने अपनी परिस्थितियों एवं कलात्मकता के द्वारा यथार्थ साहित्य का विभिन्न रूप सामने प्रस्तुत किया है। परन्तु सबके अन्दर एक समय की सर्वमान्यता का आग्रह रहा है और गम्भीरतापूर्वक जहाँ तक देख सके हैं वहाँ तक सबने सत्य को देखा है। जगत के व्यक्त सत्य तथा साहित्य के सत्य में अन्तर होता है। साहित्य फोटोग्राफी नहीं है कि वह किसी भी वस्तु का तद्वत् निर्जीव चित्र उपस्थित कर दे, बल्कि वह जगत् के मानव-सम्बन्धी यथार्थ चित्रों को कल्पना के रंग से मनोहर बनाकर उपस्थित करता है। "साहित्य का सत्य कल्पना को बिलकुल नहीं छोड़ देता, वह यथार्थ के आधार पर जितना ही दृढ़ होता है, उतना ही गहराइयों तक पहुँचता है[१]।"

कल्पना भी दो प्रकार की होती है—एक तो कोरी कल्पना जो माथा-पच्ची करके की जाती है जिसका न तो समाज पर सीधा और न परोक्ष ही प्रभाव पड़ता है, और दूसरी कल्पना वह है जो यथार्थ को सुंदर ढंग से प्रस्तुत करने के लिए कुछ ताने-बाने की व्यवस्था भी करती है।

साहित्य में यथार्थवाद जीवन का वह वास्तविक चित्रण है जो समाज का पूर्ण जीवन्त चित्र उपस्थित कर देता है। प्रत्येक युग में वास्तविकता को ढूँढना ही साहित्य में सच्चा यथार्थवाद है। निरपेक्ष भाव से समाज के सम्बन्धों को ठीक तरह से देखना ही यथार्थवाद का कार्य है। हम समाज में यह यथार्थ इसलिए ढूँढते हैं कि हमारा विकास हो सके। 'गोर्की' का विश्वास था कि "निराशा और दासता के युगों को पार करते हुए, शोषक वर्ग द्वारा पैदा की गयी परिस्थितियों से लोहा लेते हुए, यदि जनता लोक-साहित्य और कला की श्रेष्ठ परम्परा को आगे बढ़ा सकी और उसमें आश्चर्य-जनक गहराई, कलात्मक रूप और ओज ला सकी तो इसका मुख्य कारण यथार्थवादी दृष्टि-

१. डा० रांगेय राघव (आलोचना १९५२)।

कोण की प्रौढ होती हुई शक्तियाँ।" सत्य का पुट ही लोक-साहित्य को युग-युग तक सजीव रखता है। परन्तु यथार्थवादी साहित्य का केवल यही कार्य नहीं है कि वह जीवन की प्रगति का समर्थन ही करता चले। ऐसा करने में तो साहित्य-साहित्य न रह जायगा बल्कि वह एक संग्रहालय बन कर ही रह जायगा।

यथार्थवादी साहित्य के अन्दर उन मोडों का सक्रिय उल्लेख मिलना आवश्यक है जिनके द्वारा समाज में परिवर्तन उपस्थित होता है। इसलिए किसी जाति या समाज की यदि रहन सहन तथा उसकी सांस्कृतिक परम्परा जानना हो, तो हमें उसके साहित्य का अध्ययन करना आवश्यक हो जाता है। शाहजादी जेबुन्निसा ने भी एक स्थल पर कहा है कि तुम मुझे देखना चाहते हो तो मुझे मेरी शायरी में देखो। रवीन्द्रनाथ ठाकुर के अनुसार "रसवस्तु और तथ्यवस्तु का एक धर्म और एक मूल्य नहीं होता।' तथ्यजगत् की जो आलोकरश्मि दीवार पर आकर रुक जाती है, रस-जगत में वह रश्मि स्थूल को भेद कर अनायास ही पार हो जाती है। उसे न तो किसी राज्य को बुलाना पड़ता है, न सेंध मारनी पड़ती है'। "साहित्यकार भाषा के माध्यम से कल्पित सत्य को जब अपनी तीव्रतम अनुभूति के द्वारा व्यक्त करता है तो उससे साहित्यिक सत्य की सृष्टि होती है।

"जिस ज्ञान-राज्य में हमारा मन विचरण करता है, उसका रूप दोरुखा है। उसका एक रुख है 'तथ्य' और दूसरा 'सत्य'। जैसा कुछ है वैसा ही होना तो हुआ तथ्य, और वह तथ्य जिस वस्तु के अवलंबन पर रहता है वह हुआ सत्य।" इस प्रकार साहित्य के अन्दर जिन परिस्थितियों, समस्याओं तथा घटनाओं का लेखा-जोखा चित्रित रहता है, उन्हें हम तथ्य के रूप में स्वीकार कर सकते हैं और लेखा-जोखा के अतिरिक्त वे परिस्थितियाँ समस्याएँ तथा घटनाएँ ही सत्य के नाम से अभिहित की जा सकती है। 'साहित्य और ललित कला का काम है, 'प्रकाश करना' इसलिए तथ्य के पात्र को आश्रय करके हमारे मन को सत्य का स्वाद देना ही उसका मुख्य काम है। यह स्वाद है 'एक' का स्वाद, असीम का स्वाद।'[3]

यथार्थवाद का वास्तविक स्वरूप

सच्चा यथार्थवाद मानव एवं समाज को एक इकाई के रूप में देखता है। वह उसके एक या कुछ अंगों को ही सामने नहीं लाता। यथार्थवाद की अपनी तीन प्रमुख सीमाएँ

---

१. रवीन्द्रनाथ ठाकुर (रवीन्द्र साहित्य भाग २४—साहित्य के पथ पर, अनु० हंसकुमार तिवारी पृ० ४८)।

२. रवीन्द्रनाथ ठाकुर।

३. वही पृष्ठ, ४३

हैं—(१) सम्पूर्णता, (२) स्वतन्त्र जीवन-चित्रण और (३) मानव के सामाजिक सम्बन्ध। यथार्थवादी साहित्य के अन्दर उन तत्वो को पूर्णरूप से बहिष्कृत किया गया है जो मानव व्यक्तित्व को पूर्ण बनने मे बाधक होती हैं। ऐसी परिस्थितियों तथा वस्तु-विन्यासो का तिरस्कार किया गया है जिसका निर्माण मनुष्य अपनी क्षणिक मनोदशाओ के बीच कर लेता है। उन्नीसवीं सदी के यथार्थवादी-साहित्य के अन्दर इन्हीं उपर्युक्त मनोवृत्तियो से सघर्ष करने वाली प्रवृत्तियो को स्थान दिया जाता था। बहुत पहले इन प्रवृत्तियो को प्रयुक्त किया गया था। 'बालजक' ने पूर्व मे ही इसे देख लिया और उन्होंने सभी समस्याओ का चित्र खीच डाला है।

रहस्यवाद के जो बादल एक बार साहित्य गगन पर अपनी कविता की रगीनियो के साथ सम्पूर्ण दृश्यो पर मँडराये जिससे एक मनोमय वातावरण सर्वत्र फैल गया, अब विलीन हो गये हैं। आज का आकाश उन रहस्यमय वातावरणो से निर्मल हो चुका है और उसके स्थान पर भौतिक तत्वो की प्रतिष्ठापना हो चली है, जो मार्क्स के उपदेशो से ओतप्रोत हैं। रहस्य के स्थान पर स्पष्ट और अत्यन्त तीव्र प्रकाश जो कुछ लोगो के लिए दुष्कर तथा कठोर प्रतीत हो रहा है, मार्क्स के प्रभाव से भासित है। 'मार्क्स' प्रत्येक वस्तु का भौतिक आधार स्वीकार करता है। उसके अनुसार ससार की सभी क्रियाओं के मूल में आर्थिक तत्व है। इसी तत्व के कारण ही वह ससार मे विकास-क्रम तथा अन्य मानवीय क्रियाओ का होना स्वीकार करता है। यथार्थवाद अवास्तविक वस्तुपरक तथा व्यक्तिपरक रचनाओ का मध्य मार्ग नही है और न तो यह वास्तविक वस्तुपरक तथा व्यक्तिपरक रचनाओ का विरोधी ही है। मिथ्यावादी समस्याओ का हल यथार्थवाद अपने ढंग से उपस्थित करता है।

ऐसा लेखक न तो सच्चा यथार्थवादी हो हो सकता है और न महान साहित्यकार ही हो सकता है, यदि वह अपने चरित्रो के विकास को अपनी इच्छाओ के अनुसार चित्रित करे। यह सब केवल वर्णन-व्यवस्था है। मूल वस्तु तो यह है कि रचनाकार की नीयत क्या है, वह रचना किस लिये करना चाहता है, अमुक-अमुक दृष्टियो से यथार्थवाद का दर्शन करके वह करना क्या चाहता है? परन्तु लेखक की इस दृष्टि से भी हमे किसी प्रकार का प्रकाश नही मिल सकता, बल्कि इसके आगे हम जानना चाहेंगे कि लेखक कौन-सी वस्तु देखता है और किस प्रकार देखता है। यही पर कला के सामने समाज की रुपरेखा निश्चित करने की महत्वपूर्ण समस्या उपस्थित होती है।

लेखक की सामाजिक स्थिति के कारण भी उसकी रचना मे अन्तर पडता है। लेखक जिस समाज में रहता है, यदि उसके सघर्षो में भाग लेता है, तो ऐसी अवस्था में की गयी रचना, और यदि वह घटनाओं का केवल तटस्थ रहकर निरीक्षण ही करता है तो ऐसी अवस्था में की गयी रचनाओ में मौलिक अन्तर होगा। एक रचना में

अनुभव निहित होगा और दूसरी में केवल रचनिर्माण का प्रयत्न। कौन लेखक समाज में अंग स्वरूप है और कौन तटस्थ निरीक्षक, इसका निर्णय केवल उसके शारीरिक सहयोग से ही नहीं किया जा सकता और न तो इस आधार पर ही किया जा सकता है कि वह किस विशिष्ट समुदाय का है क्योंकि प्रायः कार्यों के आधार पर ही समुदायों का निर्माण होता है। इसका निर्णय केवल लेखक की विकास दिशाओं के आधार पर ही किया जा सकता है। बहुत से लेखक ऐसे हुए हैं जो समाज के संघर्षों को कोसते रहे पर अन्त में समाज की प्रस्तुत मांग को ठुकरा न सके, और समयानुकूल उन्हें सक्रिय भाग भी लेना पड़ा। 'जोला', जो स्वभाव से ही कार्य में विश्वास करने वाला लेखक था, परन्तु सक्रिय भाग न लेकर तटस्थ निरीक्षक ही बना रहा और जब उसने जीवन की आवश्यकताओं की ओर आँख उठायी तो समय निकल चुका था जिससे उसके विचार विलम्ब से उसकी रचनाओं में विकसित हुए।

यथार्थवाद के अन्दर युग तथा जनसमूह की सच्ची भावना होती है। जो साहित्यकार इस भावना का यथार्थ चित्र अपनी रचना द्वारा प्रस्तुत करने में सफल होता है, वही युग का महान् लेखक बन बैठता है। लेनिन ने इसी आधार पर 'टालस्टाय' को युग का महान् लेखक माना है, जब कि प्रगतिवादी श्रमिकों के प्रतिनिधियों का यह कहना है कि 'यद्यपि टालस्टाय ने यह नहीं समझा कि सामाजिक व्यवस्था का सुधार किस प्रकार होगा और वह इस प्रश्न की ओर से उदासीन ही रहा; फिर भी उसने यह अनुभव किया था कि वर्तमान सामाजिक व्यवस्था अमान्य है जिसे सहन नहीं किया जा सकता।' इसी भावना की अनुभूति के कारण वे भी टालस्टाय को महान् कलाकार के रूप में स्वीकार करते हैं जब कि उनकी दृष्टि में महान् कलाकार वही है जो अपनी रचना द्वारा वर्तमान सामाजिक दुर्व्यवस्था के सुधार की योजना प्रस्तुत करता है।

यथार्थवाद न तो इतिहास है कि वह किसी भी घटना की सूची तैयार करता चले, न तो वह कैमरा है जो वस्तु उसके सामने जिस रूप में आये उसका हू-बहू चित्र उपस्थित कर दे, न तो अजायब घर है कि दुनिया भर की तमाम चीजों को कागज के पन्नों पर संग्रहीत कर दे और न तो उसने मानव की जुगुप्सित तथा विलासी प्रवृत्तियों को सन्तुष्ट करने के लिये अज्ञेय एवं गोपनीय जघन्य स्थलों तथा घटनाओं को उपस्थित करने का ही बीड़ा उठा रखा है।

यथार्थवाद का एकमात्र लक्ष्य वस्तुजगत की स्थितियों को समक्ष रखते हुए सुन्दर से सुन्दरतर स्थितियों की ओर समाज को उन्मुख कराना है। यही कारण है कि 'रवीन्द्र', 'शरत्', 'प्रेमचन्द्र' आदर्शवादी दृष्टि रखते हुए भी जनता के हृदय को स्पर्श करने में सफल हुए। वे अपने युग की समस्याओं और संघर्षों के तटस्थ दर्शक ही नहीं थे, बल्कि इनकी सहानुभूति जनता के व्यापक संघर्ष, वेदना और पीड़ा के प्रति भी थी। इतना अवश्य है कि उनके यथार्थवाद की उनकी अपनी सीमाएँ हैं।

अब परिस्थितियाँ बदल गयी हैं। राष्ट्रीय आन्दोलन का व्यापक रूप विघटित हो चुका है। उसका बुर्जुआ अर्थात् शोषक पक्ष समझौतावादी बनकर जनहितों से अपना अंचल खींच चुका है और जनपक्ष की शक्तियां अभी संयुक्त होकर एक ऐसे महान् राष्ट्रीय आन्दोलन को जन्म नहीं दे पायी हैं जो देश के समूचे वातावरण को बदल दें। अब लेखक को सहज ही इतिहास की उभड़ती हुई शक्तियों को देखना होगा और ऐसे पात्रों की सृष्टि करनी होगी जो कि युग की वास्तविकता का सच्चे रूप में प्रतिनिधित्व कर सकें, ताकि लेखक साहित्य में एक नयी उदात्त मानवतावादी नैतिकता का स्वर भर सके। लेखक के सामने यथार्थ और साहित्य की आज यही एक प्रमुख समस्या है।

यथार्थवाद की विशेषताएँ

यथार्थवाद का लक्ष्य निस्सन्देह समाज की कुप्रथाओं की ओर ध्यान आकर्षित करने का है। समाज की कुप्रथाओं की ओर उसका ध्यान आकर्षित करने के लिए यथार्थवाद अत्यन्त उपयुक्त है क्योंकि इसके बिना बहुत सम्भव है कि हम उस बुराई को दिखाने में अत्युक्ति से काम लें और चित्र को उसस कहीं अधिक काला दिखलायें जितना कि वह वास्तव में है। ऐसा करने में जब लेखक मर्यादाओं का उल्लंघन कर बैठता है, तो ऐसी दुर्बलताओं का चित्रण शिष्टता की सीमा के प्रतिकूल तथा आपत्तिजनक हो जाता है।

परिभाषा द्वारा किसी साहित्यिक तत्त्व को समझाने तथा उसके एक निश्चित रूप को स्थिर करने के प्रयास में प्रायः असफलता ही मिलती है, तो भी यथार्थ की वास्तविकता को समझाने का अनेक विद्वानों ने प्रयत्न किया है। एक सहृदय विद्वान के अनुसार "यथार्थता कुछ नहीं, केवल कथा-वस्तु का सत्यपूर्ण वर्णन है।" यथार्थवाद की सच्ची परिभाषा नहीं हो सकती। 'इमर्सन' ने यथार्थ को दृष्टि में रखते हुए यथावस्तु के सम्बन्ध में कहा है कि 'मुझे महान्, दूरस्थ और काल्पनिक नहीं चाहिये, मैं साधारण का आलिंगन करता हूँ, मैं सुपरिचित और निम्न के चरण मे बैठता हूँ।' देश काल के अन्तर पड़ने पर मनुष्य की व्यवस्थाओं में भी अन्तर पड़ जाता है। मानव की प्रस्तुत स्थिति जो उसकी वर्तमान यथार्थ स्थिति कही जा सकती है, तथा भविष्य में उसकी वर्गहीन समाज की स्थापना की इच्छा, अपनी अलग यथार्थ स्थिति रखती है। वास्तव में इन्हीं दो स्थितियों के अन्तर (गैप) को पाटना यथार्थवाद की सबसे बड़ी विशेषता है।

वास्तविकता परिवर्तनशील है। जो कल था, वह आज नहीं रहा; जो आज है वह कल नहीं रहेगा। परिवर्तन ही एक शाश्वत सत्य है। यथार्थवादी कलाकार की प्रतिभा की उर्वरता इसी में है कि वह इस शाश्वत सत्य को पहचाने तथा समाज में परिवर्तन लाने वाले उन तत्त्वों को अपने साहित्य में चित्रित करे। "जो अपनी

उपयोगिता समाप्त करके मिट रहा है, वह असत्य है, और जो उभर रहा है, वही सत्य है[1]।" यथार्थवाद साहित्य किसी पिटीपिटायी सड़क पर चलकर, अपनी नियामक शक्ति का जलवा नहीं दिखाना चाहता। वह बहुत ही स्थूल, एकदम एकांगी और असंवेद्य होगा। उसके लिये बंधन इतना ही लगाया जा सकता है कि वह सामाजिक हो और सामान्य अनुभूतियों के मेल में यथार्थ का अंकन करे[2]।"

यथार्थवादी साहित्य के कला-पक्ष को लेकर प्रायः लोगों में भ्रम रहता है, कि यथार्थ चित्रण के क्षेत्र में कला अपना कोई स्थान नहीं रखती। पर सच तो यह है कि कला के अभाव में यथार्थवादी साहित्य की सृष्टि ही नहीं की जा सकती। "प्रतिभा के अभाव में यथार्थवाद की सृष्टि असम्भव है तथा कला की अनुपस्थिति तो और भी अखर जाती है। यथार्थवाद उस मलिन पथ पर अन्धे की दौड़ नहीं जो कीचड़ों के बीच से होकर जाता है, यथार्थवाद गन्दे रहस्यों, प्रत्येक भाषा के लिए विचारहीन पसन्द करने वाले शब्दों के बदले प्रयुक्त किया जानेवाला शब्द नहीं, यथार्थवाद साहित्य को कारागार से कला की हथकड़ियों की मुक्ति की कामना करने वाला विधान सभा का विरोधी सदस्य नहीं, सिद्धांतों अथवा मतों को रंजकता प्रदान करने के लिए प्रयोग में आने वाला शब्द नहीं, और न तो यथार्थवाद रचना वर्द्धन के लिए जोड़ी जाने वाली विशेषताओं के बदले प्रयुक्त होने वाली ही कोई वस्तु है, बल्कि वह इन्हीं गुणों की मनुष्य कृत सृष्टि है[3]।"

कलाकार मशीन नहीं और न वह कभी मशीन रहा है। कलाकार की देन रचनात्मक होती है। वह रचना करता है और वह रचना अपने जीवन के भौतिक तत्त्वों के साथ करता है। यदि उसने रचना अपने लिए की तो उसकी रचना का हमारे लिए

---

१. शिवदान सिंह चौहान—आलोचना, सम्पादकीय टिप्पणी १९५२ ई०।

२. विजय शंकर मल्ल—'हिन्दी साहित्य में प्रगतिवाद।'

3. Realism is no excuse for a lack of talent, realism is not an apology for an absence of teachnique, realism is not a grubbing mediocre moles run through the mud, realism is not the substitution of bagoo of idiotic, thoughtless political claptrap for all the language, realism is not the "leftist" imprisonment of art in manacles, a substitution of dogmagog taste of vainness, realism is not a substitution of addtion for creativity but rather the hand maiden of these qualities." Haward Fast : Literature and Reality.

कोई महत्व नहीं। कलाकार यदि अपनी कृति कला के रूप में स्थायी रखना चाहता है तो उसे अपने और पाठकों के बीच में संबन्ध स्थापित रखने के लिए भावों के आदान-प्रदान का पुल बनाना पड़ेगा। यथार्थवादी रचना धरातल पर धरातल के लिए ही होती है। वायवी तथा आकाश कुसुमों के लिए नहीं। यथार्थ का अभिप्राय यह भी नहीं कि उसका सम्बन्ध नियमतः सत्य से ही हो, बल्कि वस्तुजगत सम्बन्धी सत्यों का परिष्कृत रूप ही यथार्थवाद का वास्तविक स्तर है।

आजकल के अधिकांश यथार्थवादी लेखकों की दृष्टि विश्व के सम्पूर्ण परिवर्तन-क्रम की ओर रहती है। वे यह मानते हैं कि व्यक्ति किसी वर्ग की ही केवल उत्पत्ति नहीं है बल्कि वह समाजवादी समाज की भी इकाई है।

☆

शिल्प खण्ड

उपन्यास-शिल्प-प्रकार

उपन्यास-शिल्प-प्रकार

उपन्यास साहित्य

भारतीय विद्वानों की यह विशेषता रही है कि वे साहित्य के प्रायः सभी रूपों को प्राचीनता प्रदान करने के लिए उसका सम्बन्ध वेद आदि से जोड़ने का प्रयत्न करते रहे हैं। उपन्यासों को लेकर भी कुछ लोग ऐसी क्लिष्ट कल्पना करते दिखाई पड़ते हैं और इन्हें संस्कृत कथा साहित्य के आधार पर विकसित होनेवाली एक विशिष्ट साहित्यिक सृष्टि मानते हैं। जिस प्रकार मानवीय भावों का उत्तरोत्तर विकास होता रहता है, उसी प्रकार उससे सम्बन्धित साहित्य रूपों का भी विकास होता है। पुरानी पड़ जाने के कारण परम्परायें टूटती हैं और उपयोगिता के आधार पर नवीन मान्यताओं का जन्म होता है। कालानुसार साहित्य रूपों में विकास भी होता है और आवश्यकतानुसार नये साहित्य रूपों का आविर्भाव भी। उपन्यास साहित्य वर्तमान परिस्थितियों की देन है। यह साहित्य का नितान्त नवीनतम रूप है, फिर भी जो हम यह जानने की जिज्ञासा रखते हैं कि इस साहित्यरूप का उद्भव पूर्व के किस साहित्य रूप से हुआ है, वह हमारे मानव भाव का परिचायक है। जब किसी परिवार में कोई बहुत बड़ा व्यक्ति उत्पन्न हो जाता है, तो स्वभावतः लोग उसके पूर्वजों के सम्बन्ध में जानने की इच्छा रखते हैं, क्योंकि ऐसा अनुमान कर लिया जाता है कि महान् व्यक्ति को उत्पन्न करने वाला परिवार अवश्य ही परम्परागत महान् होगा। ठीक ऐसी ही जिज्ञासा उपन्यास साहित्य के सम्बन्ध में देखी जाती है। उपन्यास जैसे सशक्त साहित्यरूप को देखकर सहसा विश्वास ही नहीं हो पाता कि इसकी न तो कोई वंश परम्परा है और न तो वह पूर्व के किसी समृद्ध साहित्य रूप का विकसित परिणाम ही है। यह जिज्ञासा साधारण व्यक्ति के मन में कभी भी उत्पन्न नहीं हो सकती, बल्कि इन विचारों के लिए तो एकमात्र स्थान किसी गम्भीर चिन्तक एवं विचारक के उर्वर मस्तिष्क में ही मिल सकता है। १८ वीं शताब्दी के पूर्व कथा साहित्य का क्या रूप था इस पर केवल शोधकार्य करने वाले विद्वान् ही माथा पच्ची करना चाहेंगे न कि आलोचक एवं साधारण पाठक।

उपन्यासों को उद्भव काल से ही कटु, आलोचनाएँ सहनी पड़ी हैं। इसको प्रतिष्ठा न तो साहित्यकारों में थी और न तो सुरुचिपूर्ण पाठकों में ही। श्री 'मान्टगोमरीवेलगन'

(Mr. Montgomery Belgion) ने तो स्पष्ट कह दिया है कि उपन्यासों में रचनात्मक साहित्य ऐसी कोई वस्तु है ही नहीं। जब उपन्यासकार एक रचनात्मक कलाकार नहीं है तो हम उसे प्रचारक-रूप में ही स्वीकार कर सकते हैं।[1] श्री मान्टगोमरी बेलगन ने जिस रचनात्मक शक्ति का अभाव उपन्यास साहित्य में देखा है, उस रचनात्मक शक्ति के सम्बन्ध में दूसरे ढंग से विचार करते हुए हम उनका प्रतिवाद प्रस्तुत कर सकते हैं। हम स्वयं को तथा अपने पड़ोसी को निर्मित प्राणी के रूप में मानते हैं, यद्यपि हम में से कोई भी ऐसा नहीं है जो शून्य में से उत्पन्न कर दिया गया हो (was made out of nothing) और हम में एकाधिक रूप में मौलिक विशेषताएँ भी वर्तमान हैं। बुद्धि और गुण का अस्तित्व व्यक्ति में वर्तमान रहता है, जब कि उस में से किसी को भी हाथों पर रख कर नहीं देखा जा सकता। सभी व्यक्ति एक ही प्रकार के नहीं हो सकते यह सत्य है, क्योंकि बुद्धि और गुण की मात्रा सब में समान नहीं होती। उपन्यासकार भी व्यक्ति या व्यक्ति समूह का निर्माण करता है जो असमान बुद्धि और गुण वाले होते हैं। अतः उनका भी अस्तित्व है। कुछ विद्वान् ऐसे भी हैं जिन्होंने यह तो स्वीकार कर लिया है कि उपन्यास साहित्य रचनात्मक कला का परिणाम है, पर वे भी यह कहते हुए पाये जाते हैं कि उपन्यास कला अत्यन्त निम्नकोटि की साहित्यिक कला है: उपन्यास साहित्य का इसे दुर्भाग्य ही कहना चाहिये कि बहुत से उपन्यासकार भी इस मत के रहे हैं।[2] ऐसे लेखकों में 'फार्स्टर' का नाम प्रमुख है। 'फार्स्टर' कम से कम इतना तो स्वीकार कर भी लेता है कि उपन्यासों में चरित्रों को चित्रित किया जाता है, पर 'हक्सले' का तो कहना

1—Mr. B elgion says that there is no such thing as a creative artist and since a novelist is not a creative artist, there is only one thing he can be, a propagandist for his own particular view of life an irresponsible Propagandist at that. The title of ereative artist is denied to the novelist because 'to creat' means to bring into existance out of nothing characters in fiction have never been made out fo nothing but always out some shreds of experience, and they never come in to existance—we can not take them by the hand.

(A Treatise on the novel by
Robert Liddell Published in 1955 P. 14)

2—'Oh dear, the novel tells a story' says Mr. Foreter regretfully and clearly wishes that it did not.

है कि उपन्यास वासनायुक्त प्रेम, लोभ, भय, महत्वाकांक्षा, कर्त्तव्य और ममता से सम्बन्धित तथ्यों के एक बृहत संग्रह को छोड़कर और कुछ नहीं है।[1] अधिक दिनों तक लोगों ने उपन्यास साहित्य के प्रति अत्यन्त सामान्य धारणा बना रखी थी। लोग उपन्यासकार की शक्ति और उसके महत्व को उचित मूल्य नहीं दे पाते थे और सदैव उसे घटिया साहित्य घोषित करने की चेष्टा करते रहे। इस प्रकार न तो उपन्यासकार के श्रम का ही मूल्यांकन हो पाता था और न तो उसके साहित्यरूप के प्रति न्याय ही। ऐसे साहित्य को हेय दृष्टि से देखा जाता रहा जो एक मात्र प्रतिभा, व्यंग्य तथा आकर्षण का समन्वित रूप है। उपन्यास के आरम्भ काल में यदि किसी कुमारी युवती को उपन्यास पढ़ते देख लिया जाता था तो यह उसके लिये लज्जा की बात समझी जाती थी। उससे प्रश्न करने पर कि वह कौन-सी पुस्तक पढ़ रही है, उपेक्षापूर्ण उत्तर मिल जाता 'कुछ नहीं केवल उपन्यास पढ़ रही हूँ' जिसे कहते हुए वह पुस्तक अलग रख क्षणिक लज्जा का भी प्रदर्शन करती थी। अपनी कतिपय विशेषताओं के कारण उपन्यास आज सबसे अधिक पढ़ा जाने वाला साहित्य है। वर्तमान समाज की बढ़ती हुई विविध परिस्थितियों ने ही इस सशक्त साहित्य रूप को जन्म दिया है, जिससे वह मानव जीवन की विषमताओं तथा उसके विभिन्न ज्ञान-विज्ञानों को सफलतापूर्वक अभिव्यक्ति देने में समर्थ हो सका है, जो कविता, कहानी और नाटकों द्वारा सम्भव नहीं हो पा रहा था। अत्युक्ति न होगी यदि कहा जाय कि मानव स्वभाव के विविध पक्षों का सर्वांगीण ज्ञान, विभिन्न आमोदप्रद प्रसंग, मार्मिक व्यंग्य तथा हास्य की जितनी सुन्दर व्याख्या एवं चित्रण अत्यन्त चुनी एवं सशक्त भाषा में उपन्यासों के माध्यम से सम्भव है, उतनी विश्व के किसी भी अन्य साहित्य रूप के माध्यम से सम्भव नहीं।

उपन्यास शब्द से जो हम आज अर्थ समझते हैं, वह आधुनिक साहित्य का नितान्त नवीनतम रूप है। एक लम्बी अवधि तक हमारे देश पर अंग्रेजों का स्वामित्व रहा है और उनके सम्पर्क में आने के कारण हमारी साहित्यिक, राजनैतिक एवं सांस्कृतिक रीति-नीति में अनेक परिवर्तन हुए हैं। पाश्चात्य-साहित्य का जो प्रभाव हिन्दी साहित्य पर पड़ा है, हिन्दी उपन्यास उसका शुभ परिणाम है। इस प्रकार के साहित्य-रूप के लिए अंग्रेजी में 'नावेल' (novel) शब्द का प्रयोग किया गया है जिसका अर्थ होता

1. Just a huge callection of facts about lust and greed, fear and ambition, duty and affection, just facts and imaginary facts at that with no coordinating philosophy superior to common sense and the local system ef convention, no principle of arrangement more rational than simple aesthetic expediency.

(A Treatise on the novel by Robert Liddell)

है कल्पित कथा और जब 'नावेल' शब्द विशेषण के लिए प्रयुक्त किया जाता है तो उससे अपूर्व, विलक्षण, अनोखे तथा अनूठेपन का बोध होता है। हिन्दी का 'उपन्यास' शब्द अंग्रेजी के 'नावेल' शब्द की तौल पर ही गढा गया है जिसके द्वारा एक ऐसे अपूर्व साहित्य रूप का बोध होता है जो अपने पूर्ववर्ती समस्त साहित्य-रूपों से विलक्षण, अनोखा और अनूठा है और जिसकी सृष्टि साहित्यकार अपनी कल्पनाशक्ति द्वारा करता है। वर्तमान सुशिक्षित समाज के लिए पाश्चात्य साहित्यकारों ने यह आवश्यक समझा कि उनके सम्मुख जो साहित्य प्रस्तुत किया जाय उसमें कुछ न कुछ नवीनता का होना आवश्यक है। इस दृष्टि से उन लोगों ने जो साहित्य प्रस्तुत किया वह विषय और शिल्प सभी दृष्टियों से 'नवीन' का पर्यायवाची 'नवल' था। इस प्रकार 'नवल' संस्कृत शब्द का समानार्थी तथा समध्वनि वाला 'नावेल' शब्द अंग्रेजी भाषा में एक विशिष्ट साहित्य-रूप के लिए प्रयुक्त होने लगा। इस नवीन साहित्य-रूप को हिन्दी साहित्य में 'उपन्यास' की संज्ञा दी गई जिसके लिए गुजराती भाषा मे 'नवल' शब्द का ही व्यवहार होता है।

उपन्यास शब्द 'उप' और 'न्यास' दो शब्दों के संयोग से बना है। 'उप' शब्द से समीप, निकट और 'न्यास' शब्द से रखने अथवा उपस्थित करने के अर्थ का बोध होता है। साहित्य-कला की आधार भूमि कल्पना ही हुआ करती है, परन्तु उपन्यासों के द्वारा सर्व प्रथम अवास्तविक एवं मर्मयुक्त काल्पनिक चित्रों को निकटस्थ करने के लिए उसे अत्यन्त वास्तविक एवं यथार्थ रूप मे प्रस्तुत किया गया।

कुछ विद्वानों का यह स्वभाव-सा बन गया है कि वे हिन्दी के प्रत्येक साहित्य रूप का उत्स संस्कृत साहित्य में ढूँढना चाहते हैं। उपन्यासों का उत्स भी संस्कृत साहित्य में ढूँढ निकालने का असफल प्रयास किया गया है। संस्कृत साहित्य में उपन्यास शब्द व्यवहृत हुआ अवश्य है पर वह गद्य साहित्य के लिए नहीं, बल्कि पद्य साहित्य के लिए ही आया है। ऐसा भी नहीं कहा जा सकता कि संस्कृत साहित्य में गद्य साहित्य का नितान्त अभाव रहा अथवा वह साहित्य के अत्यन्त अविकसित रूप मे ही वर्तमान रहा, क्योंकि बाणभट्ट कृत 'कादम्बरी' और दण्डी कृत 'दशकुमार चरित' के रूप मे संस्कृत का गद्यात्मक कथा साहित्य अपनी प्रौढता को प्राप्त कर चुका था, पर पद्यात्मक साहित्य को छोड़कर संस्कृत भाषा मे कथा साहित्य के लिए 'उपन्यास' शब्द अपरिचित ही था। अतः इससे स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी में जिस कथा साहित्य के लिए 'उपन्यास' शब्द का प्रयोग होने लगा है, उसका वह अर्थ संस्कृत साहित्य में अपरिचित था। 'उपन्यास' आधुनिक समाज की विषमताओं, विचित्रताओं, समस्याओं तथा मानव की बढ़ती हुई आवश्यकताओं को सफल अभिव्यक्ति देने के लिए अस्तित्व मे आया है, जिसके लिए प्रबन्धकाव्य, महाकाव्य, गीति, नाटक तथा कहानियाँ असमर्थ सिद्ध हो चुकी थीं।

उपन्यास आधुनिक युग की देन है, जो भारतीय संस्कृति के रस से सिक्त होकर, पूर्ववर्ती साहित्य की आधार भूमि में उगकर, विज्ञान-किरणों से ऊष्मा प्राप्त कर, पाश्चात्य साहित्य की सुखद वायु में पुष्पित एवं पल्लवित हो रहा है।

उपन्यास गद्य साहित्य का वह समर्थ रूप है जिसमें प्रबन्ध काव्य का सा सुसंगठित वस्तु विन्यास, महाकाव्य की सी व्यापकता, गीतों की सी मार्मिकता, नाटकों का सा प्रभाव गाम्भीर्य तथा छोटी कहानी की सी कलात्मकता एक साथ मिल जायगी। शृंखलाबद्ध कथानक द्वारा सरल तथा गूढ़ मानवचरित्रों का निर्माण, उनकी समस्याओं, सक्रिय गतिविधियों तथा सामाजिक एवं मानसिक संघर्षों से युक्त उसके स्वभावों एवं मन की महती शक्तियों का पूर्ण जीवंत एवं यथार्थ चित्र कल्पना के द्वारा जिस साहित्य रूप द्वारा प्रस्तुत किया जाता है, उसे उपन्यास कहते हैं। इसी को स्वर्गीय प्रेमचन्द जी ने मानव जीवन का चित्र कहा है। मानव जीवन की विभिन्न परिस्थितियों, अनुभूतियों रहस्यों तथा वास्तविकताओं का उद्घाटन उपन्यासों के द्वारा ही सम्भव हो सका है। 'उपन्यास' यथार्थ की भूमि पर मार्मिक ढंग से कही हुई कल्पनामयी विस्तृत सरस कहानी ही है।

विषय-स्वरूप

उपन्यास साहित्य के विषय विस्तार की कोई सीमा नहीं है। मानव जीवन से सीधे प्रेरणा प्राप्त करने के कारण इसकी व्यापकता मानव की सामाजिक व्यापकता से किसी भी प्रकार कम नहीं है। कर्म, विचार, उत्कर्ष, अपकर्ष, दया, करुणा, नृशंसता, कोमलता तथा विभिन्न मनोभावों से प्रेरित होकर मनुष्य सृष्टि के जिन-जिन अंचलों का स्पर्श करता है, वे सभी हिन्दी उपन्यास के विषय हैं। उपन्यास साहित्य की सृष्टि सोद्देश्य की जाती है जिससे कल्पना, मनोरंजन तथा चमत्कार आदि कला-तत्वों को उपन्यास एक निश्चित सीमातक ही स्वीकार करता है क्योंकि उसे ऐसी घटनाओं तथा पात्रों का निर्माण करना रहता है जो आधुनिक समाज का मार्ग-निर्देश कर सकें। उपन्यास साहित्य के विषय विस्तार की परिधि इतनी विशाल है कि उसमें सभी प्रकार की घटनायें तथा सभी वर्ग के व्यक्ति सरलतापूर्वक रह सकते हैं। इसकी व्यापकता शास्त्रीय शृंखलाओं में नहीं बँध पाई जिससे उसकी सभी कड़ियाँ एक साथ टूट गई हैं। महाकाव्यों की भाँति वह अतीतकालीन राजाओं एवं राजवंशों तक ही अपने को सीमित नहीं रखता है और न तो नाटकों की भाँति उसे केवल धीरोदात्त नायक की ही आवश्यकता है। उपन्यास साहित्य के लिए अतीत वर्तमान का न तो कोई बन्धन है और न तो साधारण जन के लिए किसी प्रकार की रोक-थाम ही। ऐतिहासिक, अनैतिहासिक, राजनैतिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक सभी सामाजिक विषयों को उपन्यास साहित्य का विषय बनने का समान अधिकार प्राप्त है और समाज के किसी भी वर्ग के व्यक्ति

चर्चा के विषय बन सकते हैं, यदि वे मानव सम्बन्धी किसी भी समस्या का समाधान प्रस्तुत करते हों।

वैज्ञानिक प्रगति के कारण मानव के सामाजिक मूल्यों में भी परिवर्तन हुआ है और प्रत्येक वस्तु को देखने की उसकी दृष्टि में भी अन्तर आया है। यही कारण है कि विषय विस्तार की दृष्टि से पूर्ववर्ती साहित्य रूपों की अपेक्षा उपन्यास साहित्य का दायित्व बहुत अधिक बढ़ गया है। मानव जीवन का चित्र होने के नाते उपन्यास में व्यक्ति के सामाजिक रूप और उसके अलग एक सामाजिक इकाई के रूप में किये जाने वाले कार्यव्यापारों का चित्रण किया जाता है। वह व्यक्ति के पूर्ण जीवन का चित्र उतारने का पक्षपाती है। गतिशील मानव के कार्यों का जो स्वरूप हम अपनी आंखों से देखते हैं, वही उसके जीवन का पूर्णवृत्त नहीं है। आंखों के सामने तो व्यक्ति का केवल बाह्य जीवन ही प्रकट हो पाता है, इससे केवल बाह्य तथ्यों को आधार मानकर चित्रित जीवन व्यक्ति का पूर्ण जीवन नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ऐसा समझ बैठने से मानव जीवन का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पक्ष अछूता रह जायगा जो बाह्य जीवन से भी अधिक महत्वपूर्ण है। व्यक्ति के मन में चलने वाली भावलीला उसके जीवन का महत्त्वपूर्ण अंग है! बाह्य संघर्षों की अपेक्षा व्यक्ति के मन में चलने वाला संघर्ष अधिक महान् होता है क्योंकि शक्ति, पराक्रम, उत्साह, तत्परता एवं सामाजिक सहयोग के बल पर तो वह बाह्य संघर्षों पर विजय पा लेता है पर कभी-कभी मानसिक संघर्षों के सम्मुख उसे बुरी तरह हार खानी पड़ती है। अतः व्यक्ति के इस मानसिक रोग का निदान भी उतना ही आवश्यक है जितना कि उसके सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक तथा पारिवारिक रोगों का। उपन्यास ही आधुनिक साहित्य का वह समर्थ रूप है जो मानव जीवन के अन्तर्जगत में प्रविष्ट होकर उसका चित्रण उसी सचाई एवं ईमानदारी से कर देता जैसा कि बहिर्जगत का।

जिस प्रकार उपन्यास साहित्य के विषय विस्तार की सीमा उसकी सामाजिक सीमा की भांति महान् है, उसी प्रकार उसके उद्देश्य भी अत्यन्त व्यापक हैं। अतीत काल से लेकर आज तक विकसित मानवता का परम्परागत इतिहास, उसकी सफलता-असफलता तथा उसे प्रेरित करने वाले वांछित-अवांछित सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक एवं सांस्कृतिक तत्व आदि उपन्यास साहित्य के विषय हैं। अतीत को वर्तमान से जोड़कर उसकी असफलताओं एवं भूलों को सफलता में बदल देने का जो आधार उपन्यासों द्वारा प्रस्तुत किया गया है, वह अत्यन्त सराहनीय है। इतिहासकार एवं आत्मकथाकार की भांति उपन्यासकार तथ्यों का संग्रह मात्र नहीं कर देता, बल्कि वह अपनी कल्पनात्मक प्रतिभा के द्वारा उन शक्तियों को ढूंढ़ निकालता है जिनके कारण समाज में परिवर्तन उपस्थित होता है और साथ ही साथ उसे वह इस रूप में प्रस्तुत भी करता है कि

आधुनिक समाज को उमड़ती हुई नवीन मान्यताओं को उससे बल भी मिले जिससे स्थिर सामाजिक परम्परा का उत्तरोत्तर विकास होता रहे। साहित्यकार प्रायः कल्पना-चित्रों पर ही अधिक आस्था रखते हैं, क्योंकि उसके माध्यम से ही वे पाठकों को कुछ नई वस्तु दे पाते हैं और वे साहित्यिक उद्देश्य के नाम पर आदर्शों को ही मूर्तिमान स्वरूप देने की चेष्टा में अपनी प्रतिभा का अपव्यय करते रह जाते हैं। उपन्यासों में भी इन साधनों का उपयोग किया जाता है पर ये साध्य के रूप में नहीं बल्कि साधन के रूप में ही स्वीकार किये जाते हैं। कल्पना के द्वारा उपन्यासों में वर्णित चित्रों को यथार्थ रूप देने की चेष्टा की जाती है और अनुपयोगी आदर्शों को छोड़कर युगानुरूप बदलते हुये आदर्शों को स्वीकार करने पर ही बल दिया जाता है, न कि निष्प्राण आदर्शों की पूजा करते रहने पर। कल्पना, आदर्श, मनोरंजन, हास्य, चिन्तन तथा प्रेम आदि सभी उपन्यास साहित्य के लिये आदरणीय हैं। पर वह इन सबका उपयोग अपने ढंग से करता है। किसी भी प्रकार की एक सामग्री उपन्यास के लिए रूढ़ि नहीं हो सकती, क्योंकि यह एक विकासशील साहित्य है और सामाजिक विकास के साथ-साथ इसके विषय में नवीनता आती जाती है। उपरोक्त सभी लक्षण श्रेष्ठ उपन्यासों के हो हैं। स्रष्टा की दुर्बलता यदि सृष्टि को विकृत बना दे, तो उसमें सृष्टि का नहीं बल्कि स्रष्टा का ही दोष समझना चाहिये। यदि ऐतिहासिक उपन्यासकार अपने पूर्वग्रहों से ऊपर नहीं उठ पाता और वह ऐतिहासिक उपन्यास के नाम पर ऐतिहासिक विकृति की ही सृष्टि करने लग जाता है, तो यह उपन्यासकार की दुर्बलता है न कि ऐतिहासिक उपन्यास का दोष। यदि सामाजिक उपन्यासकार विधवा समस्या बालविवाह समस्या, अनमेल विवाह समस्या, वेश्यासमस्या तथा स्वच्छन्द प्रेम की समस्या का कलात्मक चित्रण न प्रस्तुत कर अपनी व्यक्तिगत कुण्ठाओं एवं दमित कामवासनाओं को ही अभिव्यक्ति देने लग जाय और वह सुधार की अपेक्षा रखने वाली कुप्रथाओं को उभाड़ कर न रख सके, तो यह सामाजिक उपन्यासों का दोष नहीं, बल्कि उपन्यासकार का इसे व्यक्तिगत दोष समझना चाहिए। सामाजिक आन्दोलनों को चित्रित करते समय वर्ग विशेष के प्रति न्याय करते-करते दूसरों के साथ अन्याय करने का उपन्यासकार को कोई अधिकार नहीं है। मजदूरों के प्रति वह न्याय की मांग तो कर सकता है, भिखारियों की दशा सुधारने के लिये वह आन्दोलन का आह्वान तो कर सकता है तथा शोषितों को स्वाधिकार दिलाने की वकालत तो वह कर सकता है, पर मिल-मालिकों, पूँजीपतियों तथा शोषकों के कत्लेग्राम का आदेश देने का उसे कोई अधिकार नहीं है। यदि उपन्यासकार ऐसा करता है, तो हम यही कह सकते हैं कि उसने अपनी सीमा का अतिक्रमण कर दिया है, जिससे इस प्रकार के साहित्य के द्वारा वर्ग-संघर्ष समाप्त न होकर और बढ़ेगा ही जो उपन्यासकार की महान् असफलता होगी।

सामाजिक चेतना के अधिक निकट होने के कारण स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों की चर्चा

का अधिक पाया जाना उपन्यासों के लिये स्वाभाविक ही है। मनोविज्ञान अथवा मनोविश्लेषण के नाम पर विकृत यौन-सम्बन्धों की ही चर्चा करना, प्रकृतवादिता के नाम पर नारी के अनावरित शरीर की नापजोख में ही लगे रहना तथा मर्यादा का उल्लंघन करके स्वलिंगी रति में ही पूर्ण आनन्द प्राप्त करना उपन्यास का विषय नहीं बल्कि उपन्यासकारों का ही विषय है। इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि यह जीवन का सत्य नहीं है, पर ऐसे सत्य को उपस्थित करने के लिये प्रौढ़कला की भी आवश्यकता है, जिसका प्रायः हिन्दी उपन्यासकारों में नितान्त अभाव दिखाई पड़ता है जिससे वे उपर्युक्त साहित्य के माध्यम से जीवन के घिनौने चित्र ही उपस्थित कर रहे हैं। प्रतिभा, कल्पना एवं जीवन्त आदर्शों की सामाजिक यथार्थवादी व्याख्या ही उपन्यास साहित्य का मुख्य विषय है। उपन्यास साहित्य की व्यापकतायें, उसकी सभावनाएँ तथा उसके उद्देश्य महान् हैं, जिससे कलात्मकता का हल्का सा अभाव उसे उसी प्रकार दूषित बना देता है जैसे मदिरा का एक बूँद एक घड़े दूध को।

नवीनता

व्यापक दृष्टि से यदि विचार किया जाय तो उपन्यास और अन्य साहित्य-रूपों में विषय की दृष्टि से कोई मौलिक अन्तर नहीं जान पड़ता और जो भी भेद दिखलाई पड़ता है उसका सम्बन्ध सामर्थ्य एवं व्यापकता से है। प्रबन्धकाव्य, महाकाव्य, गीति, नाटक, एकांकी तथा छोटी कहानियाँ आदि सभी अपने-अपने ढंग से मानव जीवन की घटनाओं का ही वर्णन करती हैं। विषय की व्यापकता एवं समर्थता को यदि छोड़ दिया जाय तो जो कुछ अन्तर दिखाई पड़ता है उसका सम्बन्ध वर्णन विधि से ही है। प्रकृति का निर्माण कार्य निरन्तर चलता रहता है और निर्माण में कुछ ऐसे सूक्ष्म तत्व सलग्न रहते हैं कि हमारे लिए उनको देख पाना भी कठिन है, जिनका परिचय हमें परिणाम से ही लगता है। नाशवान न जाने कितने तत्वों के मिटने अथवा उनकी सामूहिक शक्ति को लेकर तब कहीं एक बड़ी सृष्टि हो पाती है। जगल में विशाल वृक्षराजि के जीर्ण शीर्ण न जाने कितने अगणित पत्ते गिरते रहते हैं, क्या उनके इस पतन का कोई मूल्य नहीं है। इन्हीं पत्तों की सड़न एवं खाद का रस लेकर तब कहीं सैकड़ों वर्ष बाद उन्हीं की छाती पर हमें कोमल किसलयों से युक्त लहलहे नये वृक्षों के जंगल देखने को मिलते हैं। पूर्ववर्ती साहित्य एवं साहित्यकारों के अनुभव के आधार पर ही अभिनव वन की भाँति नये सशक्त साहित्य रूप का उदय होता है जिसमें न जाने कितनी परम्पराओं का पर्यवसान हो जाता है और न जाने कितनी रूढ़ियाँ दबकर पुरानी पड़ जाती हैं। उपन्यास साहित्य भी साहित्यिक परम्परा के विकास की अगली कड़ी है न कि वह उससे नितान्त भिन्न कोई साहित्य रूप। पर अपनी ताजगी, क्षमता और शैली की नवीनता के कारण वह अन्य साहित्य रूपों से नितान्त भिन्न जान पड़ता है।

गद्य साहित्य के अभाव में भी प्रबन्ध काव्य, महाकाव्य, और गीतिकाव्य के माध्यम से मानव के सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति होती रही और हम देखते हैं कि भावाभिव्यक्ति के लिए उस समय भी एकाधिक काव्य रूपों का प्रचलन था। परिस्थितियों के कारण गद्य ने जब कविता का स्थान ग्रहण किया तो उसके माध्यम से भी एकाधिक साहित्यांगों की उत्पत्ति हुई। इससे स्पष्ट है कि साहित्यकार के भावना जगत में विचार भी एकाधिक रूप में ही आते हैं, जिससे वह पद्य में खण्डकाव्य, प्रबन्धकाव्य, महाकाव्य, मुक्तक काव्य यथा गद्य में नाटक, उपन्यास, एकांकी, छोटी कहानी अथवा गद्यगीत के रूप में उन्हें अभिव्यक्ति प्रदान करता है। परिणामस्वरूप पद्य और गद्यकाव्य में जो प्रमुख भेद है वह अभिव्यक्ति के माध्यम का ही, न कि वर्ण्य विषय का। गद्य अपनी कतिपय विशेषताओं के कारण पद्य की अपेक्षा विषय को अधिक व्यापक एवं विस्तृत बना सका है जिससे समान्यतः काव्य के ये दोनों शैली गत रूप परस्पर एक दूसरे से नितान्त भिन्न जान पड़ते हैं। अलंकार, छन्द एवं तुक आदि सम्बन्धी काव्य की अपनी सीमाएँ एवं दुर्बलताएँ हैं जिससे इच्छा रहते हुए भी कवि मानव जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली विविध घटनाओं तथा मनोदशाओं का सूक्ष्मातिसूक्ष्म वर्णन करना चाहे भी तो नहीं कर सकता जो गद्य-लेखक के लिये अत्यन्त सुगम है। प्रबन्ध काव्य का विषय-विस्तार महाकाव्य से भी सीमित होता है और खण्डकाव्य का उससे भी अधिक। मुक्तककाव्य के माध्यम से तो केवल मानव-मन से सम्बन्धित खण्डचित्रों की ही अभिव्यक्ति हो पाती है जिससे विषय-विस्तार की दृष्टि से उसकी असमर्थता स्वयं सिद्ध है। महाकाव्य कार विस्तृत भूमि पा जाने के कारण अपेक्षाकृत मानव जीवन के विविध पक्षों पर प्रकाश डालने में अधिक समर्थ हो पाते हैं, पर उनकी भी शास्त्रीय सीमायें हैं जिससे उसकी कृति में न तो सभी प्रकार के विषय समाहित हो पाते हैं और न तो सभी वर्ग के व्यक्ति ही उसमें स्थान पाते हैं। पद्यमय रचना के जितने भी प्रकार गद्य-रचना प्रकार में विकास पा सके हैं उनमें उपन्यास महाकाव्य के सबसे निकट दिखलाई पड़ता है। प्रबन्ध काव्य, खण्ड काव्य तथा मुक्त काव्य के विषय का उत्तराधिकार जिन गद्य काव्य रूपों को मिला है, वे इतने बदल चुके हैं कि सन्दर्भ में उनका परिचय जानना भी कठिन है। पर महाकाव्य और उपन्यास अपनी कतिपय विशेषताओं के कारण एक दूसरे के बहुत अपरिचित नहीं जान पड़ते। महाकाव्य और उपन्यास की मूल प्रेरक शक्ति में अन्तर है; इसमें दो मत नहीं हो सकते। इस दृष्टि से दोनों एक दूसरे के अत्यन्त निकट होते हुए भी, साहित्य के दो भिन्न प्रकार हैं। महाकाव्यों के आदर्श उपन्यासों से नितान्त भिन्न होते हैं। उपन्यास महाकाव्यों की भांति न तो केवल महान् व्यक्तियों का ही चित्रण-करता है और न तो उसके चित्र महाकाव्य की भांति अधिकतर कल्पना पर ही आधारित होते हैं। इसमें साधारण से साधारण व्यक्तियों को लेकर उनके प्रतिदिन

के साधारण कार्यों का वर्णन किया जा सकता है, जब कि महाकाव्यो मे केवल महान् व्यक्तियो के महान् कार्यों का ही वर्णन हो सकता है।

नायक सम्बन्धी शास्त्रीय नियमों का जिस कडाई के साथ पालन महाकाव्यो में किया जाता है, उपन्यासो मे उसका पालन करना वाछनीय नही। महाकाव्य के नायक और उपन्यास के नायक मे उतना ही अन्तर है जितना महाकाव्य और उपन्यास मे। उपन्यास साहित्य आधुनिक युग की परिस्थितियो की देन है जो कुछ अशो में पूर्ण परम्पराम्रो एवं मान्यताम्रो को दबाकर उठ खडी हुई हैं। अत. उपन्यास साहित्य के कथा-नायक की स्थिति में भिन्नता का आना अनिवार्य है। महाकाव्यो की भाति उपन्यासों के नायक के लिये उसका विशिष्ट ऐतिहासिक पुरुष अथवा राजा या राजवश का ही होना आवश्यक नहीं बल्कि साधारण तथा निम्न वर्ग का अत्यन्त दुर्बल व्यक्ति भी हो सकता है और उसके लिए यह भी आवश्यक नही है कि वह पुरुष हो हा, वह स्त्री भी हो सकती है उपन्यास के पूरे कथानक पर जिस पात्र का व्यक्तित्व छाया हो अथवा जिस को घेरकर उपन्यास की सारी कथा चलती हो उसको उपन्यास के नायक के रूप में स्वीकार कर लेना असंगत न होगा। उपन्यास के कथानक का निर्माण नायक के आधीन होता है और उसके जीवन का क्रमिक विकास तथा उसमे आनेवाली घटनायें, उसके कार्यव्यापार अथवा उसका समूचा जीवन ही उपन्यास के कथानक का निर्माण करता है। यही नहीं बल्कि कथानक और नायक सापेक्ष हो गये है तथा उसकी स्थापना ही कथा-सूत्र के विकास में सहायक सिद्ध होती है। आत्मकथात्मक शैली में लिखे गये उपन्यासो के कथानक मे घटने वाली समस्त घटनायें, उनके समस्त कार्य व्यापार उपन्यासकार द्वारा वर्णित न होकर नायक के माध्यम से ही कही जाती हैं। इतना तो स्वीकार करना ही पडेगा कि विषय की व्यापकता की दृष्टि से अपेक्षाकृत महाकाव्य अन्य पद्यमय काव्यो मे उपन्यास के अधिक निकट है। युगानुरूप बदलते हुये महाकाव्य के नायक सम्बन्धी लक्षणो को देखकर कहा जा सकता है कि वह भी विकासशील साहित्यांग बनने की चेष्टा कर रहा था और यदि उपन्यासों की इतनी श्री वृद्धि न हुई होती तो महाकाव्य की विशाल परम्परा में गतिरोध भी न उपस्थित हो पाता और वह अपने को परिस्थितियों के अनुसार उसी प्रकार ढाल लेता जिस प्रकार कि उसने एक नायकत्व के स्थान पर कालिदास के महाकाव्य 'रघुवश' के रूप मे 'राजवंश' को नायक के रूप मे स्वीकार कर लिया। असम्भव नहीं था कि आज 'सूरदास' और 'होरी' को भी महाकाव्य के नायक बनने का सौभाग्य प्राप्त होता। इस प्रकार महाकाव्य के सम्मुख उपन्यास साहित्य की सक्षमता और व्यापकता स्पष्ट है। प्रबन्ध, खण्ड और मुक्तक काव्य की विशेषतायें रूप बदलकर उपन्यास के मार्मिक स्थलो पर अपनी झलक दिखलाया करती हैं जिससे उनके समकक्ष प्रतिद्वंदिता का प्रश्न ही नहीं उठता।

नाटक और उपन्यास

नाटक-साहित्य का इतिहास काफी पुराना है और देखने मे यह उपन्यास साहित्य के सबसे निकट भी जान पडता है। हिन्दी नाटको का विकास उपन्यासो के अस्तित्व में आने से पूर्व ही हो चुका था और यही स्थिति अंग्रेजी नाटको की भी है। हिन्दी गद्य-साहित्य पर सबसे अधिक प्रभाव अंग्रेजी साहित्य का है और ठीक उसी क्रम से हिन्दी उपन्यासो का विकास हुआ है, जैसा कि अंग्रेजी साहित्य के इतिहास मे देखा जाता है। यदि यह कहा जाय कि उपन्यास नाटक का योग्य उत्तराधिकारी है, तो कुछ अर्थो मे यह कथन सत्य ही जान पडता है। 'सेन्टसबरी' का कहना है कि उपन्यास साहित्य का उस रूप मे अपना कोई पिछला इतिहास नही है, जिससे इसकी तुलना किसी अन्य साहित्य प्रकार से नहीं की जा सकती। उपन्यास के दर्शन साहित्य क्षेत्र मे हमे सर्वप्रथम अठारहवी शताब्दी मे ही होते हैं।[1] 'सेन्टसबरी' के इस कथन मे पूर्णत सहमत हो पाना अत्यन्त कठिन है। उसी के कथन को इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है कि उसके कथन का महत्व बिल्कुल समाप्त हो जाय। इतना तो स्वीकार किया जा सकता है कि पूर्व मे हमे किसी ऐसे साहित्य रूप के दर्शन नही मिलते जिसकी ठीक-ठीक तुलिया आधुनिक उपन्यास साहित्य से मिल जाती हो, पर निश्चित ही ऐसा साहित्य रूप हमारे सामने है जिसमें उपन्यास साहित्य का सूत्र ढूँढा

1—Saintsbury, the genealogist of the novel insisted on its ancient history For its history identical with that of the Romance whether in prose or verse He argued that it was unhistorical, and other wise unexampled for a literary genre to appear for the first time in the eighteenth century—when epic, tragedy, comedy, the essay and the epigram can all be traced back to the literatures of Greece and Rome. Moreover, he argued, if we are to call the Romance and the Novel different genres before the eighteenth century, then we must logically maintain this difference during and after the eighteenth century which it would be difficult to do. Lastly he said that it was artificial to contrast the Romance or story of incident with the novel or story of character and motive-since every story with people in it is potentially a novel.

(A Treatise on the novel by Robert Liddell, Add 1955 P. 17)

के साधारण कार्यों का वर्णन किया जा सकता है, जब कि महाकाव्यों में केवल महान् व्यक्तियों के महान् कार्यों का ही वर्णन हो सकता है।

नायक सम्बन्धी शास्त्रीय नियमों का जिस कड़ाई के साथ पालन महाकाव्यों में किया जाता है, उपन्यासों में उसका पालन करना वाञ्छनीय नहीं। महाकाव्य के नायक और उपन्यास के नायक में उतना ही अन्तर है जितना महाकाव्य और उपन्यास में। उपन्यास साहित्य आधुनिक युग की परिस्थितियों की देन है जो कुछ अंशों में पूर्व परम्पराओं एवं मान्यताओं को दबाकर उठ खड़ी हुई हैं। अतः उपन्यास साहित्य के कथा-नायक की स्थिति में भिन्नता का आना अनिवार्य है। महाकाव्यों की भांति उपन्यासों के नायक के लिये उसका विशिष्ट ऐतिहासिक पुरुष अथवा राजा या राजवंश का ही होना आवश्यक नहीं बल्कि साधारण तथा निम्न वर्ग का अत्यन्त दुर्बल व्यक्ति भी हो सकता है और उसके लिए यह भी आवश्यक नहीं है कि वह पुरुष ही हो, वह स्त्री भी हो सकती है उपन्यास के पूरे कथानक पर जिस पात्र का व्यक्तित्व छाया हो अथवा जिस को घेरकर उपन्यास की सारी कथा चलती हो उसको उपन्यास के नायक के रूप में स्वीकार कर लेना असंगत न होगा। उपन्यास के कथानक का निर्माण नायक के आधीन होता है और उसके जीवन का क्रमिक विकास तथा उसमें आनेवाली घटनायें, उसके कार्यव्यापार अथवा उसका समूचा जीवन ही उपन्यास के कथानक का निर्माण करता है। यही नहीं बल्कि कथानक और नायक सापेक्ष हो गये हैं तथा उसकी स्थापना ही कथा-सूत्र के विकास में सहायक सिद्ध होती है। आत्मकथात्मक शैली में लिखे गये उपन्यासों के कथानक में घटने वाली समस्त घटनायें, उनके समस्त कार्य व्यापार उपन्यासकार द्वारा वर्णित न होकर नायक के माध्यम से ही कही जाती हैं। इतना तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि विषय को व्यापकता की दृष्टि से अपेक्षाकृत महाकाव्य अन्य पद्यमय काव्यों में उपन्यास के अधिक निकट है। युगानुरूप बदलते हुये महाकाव्य के नायक सम्बन्धी लक्षणों को देखकर कहा जा सकता है कि वह भी विकासशील साहित्यांग बनने की चेष्टा कर रहा था और यदि उपन्यासों की इतनी श्री वृद्धि न हुई होती तो महाकाव्य की विशाल परम्परा में गतिरोध भी न उपस्थित हो पाता और वह अपने को परिस्थितियों के अनुसार उसी प्रकार ढाल लेता जिस प्रकार कि उसने एक नायकत्व के स्थान पर कालिदास के महाकाव्य 'रघुवंश' के रूप में 'राजवंश' को नायक के रूप में स्वीकार कर लिया। असम्भव नहीं था कि आज 'सूरदास' और 'होरी' को भी महाकाव्य के नायक बनने का सौभाग्य प्राप्त होता। इस प्रकार महाकाव्य के सम्मुख उपन्यास साहित्य की सक्षमता और व्यापकता स्पष्ट है। प्रबन्ध, खण्ड और मुक्तक काव्य की विशेषतायें रूप बदलकर उपन्यास के मार्मिक स्थलों पर अपनी झलक दिखलाया करती हैं जिससे उनके समकक्ष प्रतिद्वन्दिता का प्रश्न ही नहीं उठता।

नाटक और उपन्यास

नाटक-साहित्य का इतिहास काफी पुराना है और देखने में वह उपन्यास साहित्य के सबसे निकट भी जान पड़ता है। हिन्दी नाटकों का विकास उपन्यासों के अस्तित्व में आने के पूर्व ही हो चुका था और यही स्थिति अंग्रेजी नाटकों की भी है। हिन्दी गद्य-साहित्य पर सबसे अधिक प्रभाव अंग्रेजी साहित्य का है और ठीक उसी क्रम से हिन्दी उपन्यासों का विकास हुआ है, जैसा कि अंग्रेजी साहित्य के इतिहास में देखा जाता है। यदि यह कहा जाय कि उपन्यास नाटक का योग्य उत्तराधिकारी है, तो कुछ अर्थों में यह कथन सत्य ही जान पड़ता है। 'सेन्टसुबरी' का कहना है कि उपन्यास साहित्य का उस रूप में अपना कोई पिछला इतिहास नहीं है, जिससे इसकी तुलना किसी अन्य साहित्य प्रकार से नहीं की जा सकती। उपन्यास के दर्शन साहत्य क्षेत्र में हमें सर्वप्रथम अठारहवीं शताब्दी में ही होते हैं।[1] 'सेन्टसुबरी' के इस कथन से पूर्णतः सहमत हो पाना अत्यन्त कठिन है। उसी के कथन को इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है कि उसके कथन का महत्व बिल्कुल समाप्त हो जाय। इतना तो स्वीकार किया जा सकता है कि पूर्व में हमें किसी ऐसे साहित्य रूप के दर्शन नहीं मिलते जिसकी ठीक-ठीक हुलिया आधुनिक उपन्यास साहित्य से मिल जाती हो, पर निश्चित ही ऐसा साहित्य रूप हमारे सामने है जिसमें उपन्यास साहित्य का सूत्र ढूंढ़ा

1—Saintsbury, the genealogist of the novel insisted on its ancient history For its history identical with that of the Romance whether in prose or verse. He argued that it was unhistorical, 'and other wise unexampled for a literary genre to appear for the first time in the eighteenth century—when epic, tragedy, comedy, the essay and the epigram can all be traced back to the literatures of Greece and Rome. Moreover, he argued, if we are to call the Romance and the Novel different genres before the eighteenth century, then we must logically maintain this difference during and after the eighteenth century which it would be difficult to do. Lastly he said that it was artificial to contrast the Romance or story of incident with the novel or story of character and motive-since every story with people in it is potentially a novel.

(A Treatise on the novel by Robert Liddell, Add 1955 P. 17)

जा सकता है। थोड़ी देर के लिये यदि हम यह स्वीकार भी कर लें कि उपन्यास साहित्य का कोई पूर्व-इतिहास नहीं है तो इसका यही तात्पर्य हुआ कि यह प्राचीन परम्परा शून्य साहित्यांग है जो सर्वप्रथम लगभग दो सौ वर्षों पूर्व ही साहित्य के रंगमंच पर प्रकट हुआ। एक समर्थ साहित्य रूप के विकसित होने के लिये दो सौ वर्षों का ही समय पर्याप्त नहीं कहा जा सकता, बल्कि इससे अधिक लम्बे काल की अपेक्षा उपन्यास साहित्य रखता है। अतः किसी भी प्रकार के निर्णय देने के पूर्व उपन्यास साहित्य की ऐतिहासिक संभावनाओं पर पूर्ण विचार कर लेना ही उचित है।

ऐसी भी संभावनायें हैं कि काल विशेष में आकार किसी भी साहित्य रूप के गुणों में इतने महत्वपूर्ण परिवर्तन हो जायें कि देखने में उसका पूर्व रूप ही अपरिचित-सा लगने लग जाय। परिवर्तन के एक विशेष बिन्दु पर पहुँच कर नवीनतम साहित्य रूप की जब अलग स्वतन्त्र सत्ता बन जाती है, तो विद्वानों का उस पर अलग से विचार करने लग जाना भी स्वाभाविक है। ऐसी ही सम्भावना उपन्यास साहित्य के क्षेत्र में हो सकती है। हो सकता है, जहाँ से हम उपन्यासों का आरम्भ मानते हैं, वह वही परिवर्तन बिन्दु है जहाँ से उपन्यास अपने पूर्वजों से अलग हो गया है, जिससे हम इसका सम्बन्ध इसके विकास काल के पूर्व के साहित्यरूप से नहीं जोड़ पाते। इस प्रकार के एक नहीं बल्कि अनेक परिवर्तन हमें साहित्य के इतिहास में देखने को मिल जाते हैं। श्रेष्ठ साहित्य के किसी भी 'प्रकार' को शास्त्रीय स्तर प्राप्त करने के पूर्व लोकजीवन के बीच अविकसित अवस्था में जीवन शक्ति संचय के लिए वर्तमान रहना पड़ता है। लोकसाहित्य के रूप में जब उसकी लोकप्रियता बहुत बढ़ जाती है, तो विद्वान उसे निखार-सँवार कर साहित्य का सम्मानित रूप प्रदान कर देते हैं। ऐसी स्थिति में उसका पहचानना उसी प्रकार कठिन हो जाता है जैसे कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व के कितने नेताओं के चित्रों को सत्तारूढ़ होने के बाद पहचानना कठिन हो गया है। इसी से मिलती-जुलती कुछ समस्या विद्वानों के सम्मुख उपन्यास साहित्य के सम्बन्ध में भी है।

आधुनिक-काल में उपन्यासों की जो रूप-रेखा हमारे सामने है, उस रूप में उपन्यासों की अपनी कोई अलग परम्परा नहीं है बल्कि नाटकों से ही विभिन्न परिस्थितियों में उसका विकास हुआ होगा, ऐसा जान पड़ता है। युग की आवश्यकताओं ने जिस प्रकार नाटकों को जन्म दिया था, उसी प्रकार उसने उपन्यासों को भी नाटकों में विकसित किया होगा। शास्त्रीय शब्दों में यदि हम कहना चाहें तो कह सकते हैं कि नाटकों का इतिहास ही उपन्यासों का पूर्व इतिहास है। अंग्रेजी साहित्य के इतिहास से पता लगता है कि अंग्रेजी नाटकों का रंगमंचीय वैभव १७०० ई० में 'द वे आफ द वर्ल्ड' (The way of the world) के साथ ही समाप्त हो गया और १७४० ई० में 'पमेला' (Pamela) की रचना के साथ ही अंग्रेजी उपन्यास साहित्य का जन्म हुआ।

साहित्य की दो महत्वपूर्ण घटनायें हैं जो केवल ४० वर्ष के अन्तर से एक ही शताब्दी में घटीं तो निश्चित ही उनका कोई न कोई पारस्परिक सम्बन्ध अवश्य होगा। इसमें सन्देह नहीं कि इन दो घटनाओं का एक दूसरे से घनिष्ट सम्बन्ध है।[1] विज्ञान की उत्तरोत्तर वृद्धि के कारण कल्पना के स्थान पर यथार्थ के प्रति लोगों का आग्रह बढने लगा जिससे धीरे-धीरे कविता नाटकों से अलग होकर स्वतन्त्र रूप से विकसित होने लगी थी, जो पहले नाटकों का महत्वपूर्ण अंग थी। यदि कविता का कहीं नाटकों में प्रयोग होता रहा तो केवल पात्रों के चरित्रों के मार्मिक स्थलों एवं तीव्रतम अनुभूतियों को प्रकट करने के लिए ही। ज्यों ज्यों नाटकों में कविता की उपेक्षा होती गई, त्यों-त्यों नाटकों के माध्यम से आधुनिक उपन्यासों की भूमिका उसी प्रकार तैयार होती गई जिस प्रकार ब्राह्म मुहूर्त में ऊषा की भूमिका प्रस्तुत होती रहती है। यही वह स्थान है जहां से उपन्यासों ने नाटकों का स्थान लेना आरम्भ कर दिया। अंग्रेजी साहित्य की सी ही स्थिति हिन्दी साहित्य की भी रही। भारतेन्दुकालीन नाटकों के गर्भ से ही हिन्दी उपन्यासों का विकास हुआ। कृतिकारों के मन में यह ध्यान सदैव बना रहा कि अपने कथा तत्व के कारण ही नाटक पूर्वकाल में लोकप्रिय रहा जिससे उन्होंने उपन्यासों में भी कथा तत्व को प्रमुख स्थान दिया।

हम ऊपर हो कह आये हैं कि हिन्दी उपन्यास साहित्य पर सबसे अधिक प्रभाव अंग्रेजी साहित्य का पड़ा है जिससे यदि हम अंग्रेजी नाटकों से अंग्रेजी उपन्यासों का विकास समझ लें तो हमारी बहुत कुछ समस्या अपने आप हल हो जायगी। अंग्रेजी नाटकों के विकासकाल के अन्तिम चरण में अच्छे नाटककारों का इसलिए भी अभाव सा हो गया कि वे अभिनय के क्षेत्र में चले आये। परिणाम स्वरूप प्रतिभा-सम्पन्न नाटककारों की कमी हो गई और दो सौ वर्षों में एक भी ऐसा नाटक नहीं लिखा गया जो नाटकों की समृद्धशाली परम्परा को आगे बढ़ाता। सत्रहवीं शताब्दी में उत्तमकोटि के नाटकों की रचना हुई थी और जिनके माध्यम से ऐसे अतुलनीय महान् पात्रों की सृष्टि हुई जो अठारहवीं शताब्दी के लोगों की कल्पना में भी नहीं आ सकते थे और जिनके सम्बन्ध में उनके लिए सोच पाना भी अत्यन्त कठिन सा हो गया था। 'फील्डिंग' (Fielding) जिसे एक असफल नाटककार ही कहना चाहिये, उसने सोचा कि यह

1—English theatre died in 1700—a glorious death after its most brilliant comedy 'The way of the world'—and that the English novel was born, with 'Pamela', in 1710. There must be some connection between these two events and ofcourse there is.

(A Treatise on the Novel by Robert Liddell.)

अपनी कृतियों के द्वारा पूर्ववर्ती नाटककारों की अपेक्षा कुछ भिन्न चरित्रों की सृष्टि कर रहा है, जो अपेक्षाकृत युगानुरूप हैं। इसके अतिरिक्त उसकी यह भी निश्चित धारणा थी कि 'हास्य महाकाव्य' (Comic Epic) के माध्यम से वह एक नवीन नाट्यकला को भी जन्म दे रहा है। इससे स्पष्ट है कि पात्र और वस्तुवस्तु के सम्बन्ध में उसका दृष्टिकोण निश्चित ही नाटकीय कम और महाकाव्यात्मक अधिक था। अतः अपने नाटकों में उसने महाकवियों की सी छूट भी ली है और अपने नाटकीय पात्रों के निर्माण में युगानुरूपता का भी निर्वाह करना चाहा है। इस प्रकार अपने आरम्भकाल में उपन्यास साहित्य की कोई निश्चित रूप रेखा नहीं बन पायी थी और वह कल्पना के आधार पर आश्चर्यजनक घटनाओं से युक्त मनोरंजन पूर्ण कहानी कहने का एकमात्र साधन समझा जाता रहा। 'जार्जइलियट' (George Eliot) के यह कहने के पूर्व की उपन्यासों के कथानक अथवा उसके पात्रों के कार्य व्यापारों में एक सूत्रता का होना अति आवश्यक है, अंग्रेजी उपन्यास साहित्य की यह सामान्य विशेषता रही कि लेखक मनमाने ढंग पर अपनी रचनायें प्रस्तुत कर दिया करते थे। इसके अतिरिक्त 'हेनरीजेम्स' (Henry James) दूसरा असफल नाटककार था जिसने अपने नाटक 'द आकवर्ड एज' (The Awkwardage) द्वारा प्रमाणित कर दिया कि उपन्यासों द्वारा वे सभी बातें सम्भव हैं जो नाटककार करने में समर्थ हैं। आगे चलकर उसने अपने दूसरे नाटक 'द एमबेसडर्स' (The Ambassadors) द्वारा यह भी सिद्ध कर दिया कि उपन्यासों द्वारा वह भी सम्भव है जो नाटकों के लिये सम्भव नहीं है। हिन्दी के प्रारम्भिक उपन्यासों को यदि हम देखें तो स्पष्ट हो जायगा कि किस प्रकार तिलस्मी, ऐय्यारी तथा जासूसी उपन्यासों के माध्यम से अवास्तविक घटनाओं का आश्चर्यजनक वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा था। मुंशी प्रेमचन्द जी के कथा साहित्य में प्रविष्ट होने के उपरान्त ही हिन्दी उपन्यासों की साहित्यिक रूप-रेखा बन पाई।

उपरोक्त वर्णन से इसमें किसी प्रकार का भी सन्देह नहीं रह जाता कि नाटक का सच्चा उत्तराधिकारी उपन्यास ही है, जो अपनी कतिपय नवीनता के कारण ही अधिक लोकप्रिय हो सका है। उपन्यास के पाठकों की रुचि का बराबर सम्वर्द्धन होता रहता है तथा उसे पढ़ने की उनकी जिज्ञासा बराबर बढ़ती रहती है। उपन्यासकार को नाटककार की अपेक्षा अपनी प्रतिभा का परिचय देने का अवकाश अधिक रहता है, जो सुविधा न तो कवि को मिल पाती है और न तो कहानीकार को। उपन्यास साहित्य ऐसे लोगों को भी साहित्यकार बनने के लिए आकर्षित करता है जो लिखने की स्थिति में नहीं भी रहते। उपन्यास एक प्रकार का फँसाने का ऐसा जाल है, जिसमें उन्मत्त युवक से लेकर आलसी आदि लोग तक फँसते हैं और उनकी लिखी कृतियाँ काफी लोकप्रिय होती हैं, ऐसा भी देखा गया है।

कहानी और उपन्यास

आधुनिक कहानी और उपन्यास को लेकर विद्वानों में निरन्तर विवाद चलता रहता है। अधिकांश लोग इन दो साहित्य रूपों में साम्य ढूँढने की चेष्टा करते हैं। उपन्यास और कहानी को लेकर साहित्य के क्षेत्र में यह भारी भ्रम बहुत दिनों तक बना रहा, कि दोनो केवल आकार की गुरुता और लघुता में ही भिन्न हैं; अन्यथा दोनो एक ही रचना प्रकार हैं। इस भ्रांति के कारण स्वयं पाठक तो रहे ही, मूल में कहानी लेखक (विशेष कर आलोचक कहानीकार) भी थे। आधुनिक कहानी के शैशवकाल के प्रशस्त लेखक 'एडगर एलेन पो' ने इसे समय की सीमा में बांधते हुए कहा कि "कहानी वह गद्य रचना-प्रकार है जो आधे, एक या अधिक से अधिक दो घण्टे में पढ़ ली जा सके।"[1] एच० जी० वेल्स ने इसी को और कम करते हुए कहा कि "कहानी केवल इतनी ही बड़ी हो जो बीस मिनट में पढ ली जाय।"[2] किसी-किसी ने शब्दो और पृष्ठों की सीमा बांधी। इन लोगों के अनुसार एक सीमित परिधि तक कोई रचना कहानी होगी और जहां उसने सीमा लाघा कि उपन्यास का नाम पा जायेगी। इस आधार पर प्रसाद की 'सालवती' उपन्यास कही जाएगी और जैनेन्द्र के 'त्यागपत्र' को उपन्यास के नाम से त्याग पत्र दे देना होगा। ऐसी थी दशा गणमान्य लेखकों की।

इस भ्रांति को और बल इस कारण भी मिला कि प्रायः उपन्यास लेखकों ने आवश्यकतावश कहानी लिखना भी प्रारम्भ कर दिया, तो उधर अवकाश पाकेर कहानी लेखक उपन्यासकार बन बैठा। इस तरह लेखकों की व्यापक संख्या उपन्यासकार और कहानीकार दोनो थी जिससे साधारण पाठक रचना का भेद विस्तार से ही कर पाता था। पर यदि यही सूक्ष्म दृष्टि से काम लिया जाय तो स्पष्ट हो जायगा कि कहानीकार तथा उपन्यासकार की प्रतिभा भिन्न होती है। आचार्य चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' उपन्यास न लिखकर भी श्रेष्ठ कहानी दे सके और उपन्यास सम्राट प्रेमचन्द के कहानीकार से उनके पाठकों को कला की दृष्टि से अधिक शिकायतें हैं अपेक्षाकृत नाटककार प्रसाद के कहानीकार से।

तीसरा कारण था हिन्दी का अविकसित कहानी साहित्य, जिसके कारण अंग्रेजी, बंगला आदि भाषाओं के उपन्यास एवं कहानियों के अनुवाद धड़ल्ले से होने लगे और कहीं उपन्यास सिमटकर कहानी हो गया तो कहीं अनुवादक की कल्पना का योग पाकर कहानी उपन्यास बन गई। इस तरह पाठकों की भ्रांति पर बराबर बल पड़ता गया।

1—'A short story is a prose narrative requiring from halfan hour to one or two hours in its perusal' Edger Allenpoe.

2—'A story should be of no greater length than enables it read in some twenty minutes.'—H. G. Wells

वस्तुतः कहानी और उपन्यास में मौलिक भेद हैं। यह भेद इनके वस्तु विन्यास, चरित्र चित्रण और शैली तीनों ही दृष्टियों से है।

उपन्यास में कथानक का महत्वपूर्ण स्थान होता है। इसमें एक प्रमुख कथानक के साथ ही साथ कई अवान्तर कथाएँ भी लिपटी चलती हैं। इसका चित्र फलक व्यापक होता है जिसमें कथानक का उत्थान-पतन बारी-बारी से होता रहता है। पर कहानी विस्तार से सदा बचना चाहती है। कहानी लेखक को अर्जुन की भांति लक्ष्य पक्षी के केवल सिर पर दृष्टि टिकानी होती है अन्यथा निशाना चूक जाने की अधिक सम्भावना रहती है। दोनों के क्षेत्र को और भी स्पष्ट रूप में हम यों समझ सकते हैं। "यदि बन्द दरवाजे के भीतर से एक छोटे छिद्र के सहारे बाहर के किसी उपवन में ताका जाय तो गुलाबों का एक राजा अपनी हरी-हरी डाली पर मस्ती से झूमता दिखाई पड़ेगा। वह अपनी उत्फुल्लता और कोमल रमणीयता में आपूर्ण खिला मिलेगा। इसके उपरान्त यदि दर्वाजा पूरा खोल दिया जाय तो विशाल उपवन का मनोहर दृश्य सामने खुल पड़ेगा। इस उदाहरण में छिद्र के माध्यम से दिखाई पड़ने वाला गुलाब, कहानी के रूप में कहा जायेगा और उपवन की दिव्य सामूहिकता उपन्यास की प्रतिनिधि मानी जायेगी। दोनों ही अपने दो रूपों में सर्वथा पूर्ण हैं।"[१]

इस तरह हम देखते हैं कि उपन्यास का वैशिष्ट्य उसकी विविधता में है। जहां बहुत सी वस्तुओं का प्रसार सम्भव है। ऐसा नहीं कि जो कुछ कहानी में है, उसी का विस्तार उपन्यास में हो। इस तरह कहानी कभी भी उपन्यास का खण्डांश नहीं कही जा सकती और न तो उसका सारांश ही।

कथानक के आरोह अवरोह में भी दोनों में भिन्नता होती है। कहानी अपने आरम्भ में भारी भरकम भूमिका नहीं बाँधती वह तो झरने की प्रखर धारा के सदृश वेग से चल पड़ती है। उसकी दौड़ छोटी अवश्य होती है पर उसमें गति की क्षिप्रता होती है। इसके विपरीत उपन्यास में लम्बी दौड़ तो होती ही है उसे वह मन्थर गति से चलकर भी पूरा कर लेता है। उपन्यास में 'नाटकं ख्यात वृत्तं स्यात् पंच सन्धि समन्वितम्' का सिद्धान्त भी निबाहा जा सकता है पर कहानी को इतनी फुरसत कहाँ? इसी तरह इसका मध्य भी अपनी लघुता में गति वेग लिए होता है। जब कि उपन्यास मध्य में जाकर प्रायः विचार के बोझ से लद कर कुछ विश्राम से बढ़ते जान पड़ते हैं और अन्त तो कहानी का और विलक्षण होता है। सफल कलाकार तो प्रकर्ष पर ही लेजाकर कथा को छोड़ कर अलग हट जाता है। पाठक के हाथों कथा की गति और पात्रों के व्यक्तित्व की सौंप बड़ी पटुता से दूर हट कर वह देखता है कि उनसे कौन सा निष्कर्ष पाठक निकालते हैं। यदि यह कहीं सफल अन्त करने के फेर में पड़ा और सूक्ति ढूँढने

१—डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा—कहानी का रचना विधान पृ० १७

का ओर बढ़ा तो उसका तो असफल हो जाना निश्चित ही समझिये। प्रेमचन्द की कथाओं का ऐसा ही दोव्रान्त अन्त अरुचिर कर लगता है।

उपन्यास का अन्त अन्तर्मुखापेक्षी होता है। प्राप्त परिणाम पर यदि कोई कुतूहल भी जगता है तो पाठक पीछे की पढ़ी सामग्री में ही उसका तर्क संगत उत्तर ढूँढ़ लेता है पर कहानी का अन्त पाठक की कल्पना को उद्दीप्त भर कर देता है। फिर अपनी प्रतिभा के अनुरूप परिणाम वह निकाला करे। 'पुरस्कार' में जब मधूलिका राजा के पुरस्कार माँगने के कहने के उपरान्त पाठक की आशा के विपरीत 'तो मुझे भी प्राण-दण्ड मिले कहती हुई'''बन्दी अरुण के पास जाकर खड़ी हो जाती है।' तदनन्तर लेखक भी कूँच कर जाता है और फिर पाठक विचारों में गोते लगाने लगता है कि क्या दोनों को फांसी हो गयी? या जब राजा मधूलिका से इतना प्रसन्न था तो क्या उसने उसी के लिए अरुण को भी छोड़ दिया आदि आदि। साधारण पाठक कभी-कभी लेखक के इस व्यवहार पर झुंझला भी पड़ता है, पर यह झुंझलाहट, यह औत्सुक्य, यह टीस ही तो कहानी का प्राण है।

इसका यह भी अर्थ नहीं कि कहानी का अन्त अधूरा होता है। नहीं वह तो पूरा होता है पर लेखक उतना ही कहता है जितना उसे कहना उचित है, फिर भी उसका अन्तिम वाक्य पाठक के मन तक पहुँचते पूरी व्याख्या स्वयं कर देता है। हाँ पाठक में ग्राहिणी प्रतिभा की अवश्य आवश्यकता होती है। 'पूस की रात में सारी खेती चर जाने पर जब मुन्नी चिन्तित भाव से कहती कि अब मजदूरी करके माल गुजारी भरनी पड़ेगी' तब हलकू प्रसन्न मुख से कहता है 'रात की ठंड में यहाँ सोना तो न पड़ेगा।' तो उसका कातर मन सारी स्थिति को पूर्णतः प्रगट कर देता है। 'गोदान' के होरी के अन्त के प्रभाव से हलकू के इस वचन का प्रभाव अपने में कम नहीं। इससे अधिक और पाठक क्या चाहेगा?

आधुनिक कहानी में कथानक का होना उतना अनिवार्य भी नहीं। "आधुनिक कहानियों में कथानक का होना आवश्यक होते हुए भी अनिवार्य नहीं। कितनी कहानियों में कथानक होता ही नहीं। कुछ कहानी कार तो कथानक का बल पूर्वक बहिष्कार भी करना चाहते हैं।[1]" जहां कहीं कथानक होगा भी तो वह जीवन के किसी एक अंश के किसी एक पहलू की झलक मात्र होगा। जिससे वह पाठक में एक सिहरन एक चुभन मात्र जगा सके।

कहानी और उपन्यास जिस विन्दु पर जाकर सर्वथा पृथक खड़े दिखायी देते हैं, वह विन्दु है इनकी प्रभावान्विति। उपन्यास अपनी व्यापकता में न जाने कितनी समस्याओं का समाधान करने का लक्ष्य छिपाये रहता है। उसे किसी एक प्रतिपाद्य के

1—Franais Vivian—Creative technique in Fiction P P. 42, 43

प्रति ही मोह नहो होता। उसमें देश काल की सारी समस्याएँ समाहित रहती हैं। अकेले 'गबन' उपन्यास में हम देखते हैं कि आभूषण प्रेम, आर्थिक संकट, अनमल (वृद्ध, युवता) विवाह, परतन्त्रता, पुलिस के धांधली पूर्ण हथकण्डे और दिखावे पन का क्रूर अभिशाप आदि अनेक समस्याएँ लिपटी हुई हैं। उसे पढ़ कर उस काल की परी भाकी पाठक के सामने भूल जाती है। इसी से एक सफल उपन्यासकार यह दावा कर सकता है कि यदि कालान्तर में उस समय का इतिहास खो भी जाय और मेरे उपन्यास बने रह तो उनमे उस काल का इतिहास सरलता से पाया जा सकेगा। पर कहानी कार में यह महत्वाकांक्षा स्वप्न में भी नही आ सकती।

कहानी में एक ही मूल वस्तु होती है और सारा आयोजन उसी पर केन्द्रित होता हे। उसी प्रभाव को घना लेन पर कहानी कार का कर्त्तव्य पूर्ण हो जाता है 'हडसन' ने उसी बात पर बल देते हुए कहा है कि 'कहानी एक हो और केवल एक ही भाव को लेकर ऐकान्तिक रूप मे उसी की तर्क सगत एकोन्मुख पूर्ति कर सकती है।'[1]

दुहरे कथानकों मे भी प्रतिपाद्य लक्ष्य एक ही होता है। दूसरे कथानक उसी प्रभाव को और गहरा बनाने के लिए जुटाए जाते हैं। चन्द्रगुप्त विद्यालकार की 'काम काज' नामक कहानी में तीन भिन्न कथाएँ हैं। पर सबका प्रतिपाद्य एक ही है। पहले में हम देखते हैं कि लाला कस्तूरीमल को पूरा विश्वास हो जाता है कि उनके निकट सम्बन्धी की मृत्यु हो गई है। इसका उन्हे भारी सदमा भी होता है, पर कामकाज के पीछे उन्हे इतनी फुरसत नहीं कि क्षण भर बैठ कर उसका शोक मना लें। दूसर मे जेलर साहब के सेव को भट के हनु युसुफ को यह जानते हुए भी कि ससुर की सास उठ चुकी होगी, दो दिन बाद चलने को बाध्य होना पड़ता है। तीसरे में पाच सौ रुपये के पोमेड वेसलीन के पार्सल को रेलवे रसोद के लिए दसराज, गरीब होते हुए भी एक प्यास से तड़पते गरीब को पानी देने का अवसर नही पाता और उस प्यासे की अर्थी उठ जाती है। ऊपर से देखने पर ये तीन नजर आते हैं, पर तीनो की पुकार एक ही है। तीनो चिल्ला-चिल्ला कर यही कहते हैं कि काम-काज के पीछे मानवता की बलि चढ़ती जा रही है।[2]

इस तरह कहानी चाहे कितने ही परिवेशों में और भंगिमाओं से गुजरे उसका प्रतिपाद्य एक ही होगा। एक से अधिक कहानी नो सब ही नहो। और विषय का यही

1—A short story must contian one and informing idea and that the idea must marked out to its logical conclusion with absolute singleness of aim and directness of method—An Introduction to study of litt,

१—डा० श्री कृष्णलाल—भूमिका हिन्दी कहानियाँ—पृ० ४९

एकत्व उपन्यास में सम्भव नहीं। यदि वहाँ भी एकत्व बना रहे तो वह चाहे कितना ही बड़ा क्यों न हो कहानी ही कहा जाएगा।

उपन्यास में चरित्र का प्रधान स्थान होता है, पर कहानी के लिए चरित्रांकन नितान्त आवश्यक नहीं। प्रभाव परक वातावरण प्रधान कहानियों में तो चरित्र केवल साधन मात्र ही होते हैं। कहानियों का प्रतिपाद्य मनुष्य के लिए ही होता है पर उसका विवेच्य भी मनुष्य ही हो ऐसा बन्धन कहानियों में नहीं।

जिन कहानियों में चरित्र चित्रण ही अपेक्षित होता है वहाँ भी उपन्यास से उसका भेद होता है। उपन्यास में एक चरित्र को प्रचलित करने के लिए कितने ही धूमिल चरित्रों को इकट्ठा किया जा सकता है। विवेच्य चरित्र की भी प्रारम्भ में कमजोरियाँ दिखाकर अन्त में उसकी महानता दिखाई जा सकती है, या महान चरित्र को पतन के गर्त में गिराने का अवसर होता है। पर कहानी में न तो चरित्रों की भीड़ ही आ सकती है और न चरित्र के विभिन्न पहलुओं का अंकन ही सम्भव है। वहाँ तो जहाँ चरित्र की एकात्मकता में विभिन्नता दिखाई दी कि फिर उसकी उज्वलता पर ठेस आए बिना न रहेगी।

उपन्यास कार चरित्र में किसी विलक्षण वस्तु का भी समावेश कर सकता है, जिस विलक्षणता के लिए आगे चलकर वह दाद भी दे सकता है। वह कल्पना की भारी छलांगें भर सकता है, व्यक्तित्व के किसी एक ही पहलू में देर तक पाठक को उलझा सकता है, पर कहानीकार के लिए इतनी छूट नहीं। वह यथार्थ से दूर नहीं जा सकता। असम्भव की अवतारणा उसके लिए घातक सिद्ध होगी। उसे पाठक का हर क्षण विश्वास बनाए रखना होगा और पाठक को भुलावा देने की बात तो वह सोच ही नहीं सकता। जहाँ कहीं पाठक ने कुछ शिथिलता अनुभव की वह दूसरी कहानी के लिए पन्ने उलट सकता है क्योंकि कहानियाँ प्रायः संकलन के रूप में ही होती हैं। अतः कहानी कार को इस बात के लिए बराबर सजग रहना होगा कि पाठक कहीं भी कुछ असंगति या कटुता का अनुभव न करे। उसे अयथार्थ के लिए भी ऐसी परिस्थितियाँ लानी पड़ेंगी कि वह यथार्थ प्रतीत हों। इसके अतिरिक्त चरित्र की सारी विशेषताओं को एक ही स्थल पर व्यक्त न करके उसे पूरी कहानी में फैलाए रखना होगा।

कहानी में उपन्यास की भाँति चरित्र के अचेतन के सूक्ष्मातिसूक्ष्म भागों के विश्लेषण के लिये उतनी जगह नहीं होती। फिर भी उत्कृष्ट कहानी लेखक अपने चरित्रों में द्वन्द्व भाव को जगाता है। चरित्र के इस द्वन्द्व को वह परिस्थितियों के परिवेष्ठन में बड़ी ही कुशलता से आवेष्ठित करता है। प्रसाद की 'पुरस्कार और आकाशदीप' नामक कहानियाँ क्रमशः मधूलिका और चम्पा के अन्तर्द्वन्द्व को ही सामने रखती हैं। हाँ यहाँ इस बात का ध्यान रखना नितान्त आवश्यक है कि चरित्रों के क्रियाकलाप कहीं से

टपके या चिपकाए न जाने पड़ें। सब की तर्क सम्मत व्याख्या कहानी में मिल जानी चाहिए। 'मधूलिका' कुमार की बन्दी बनवाकर भी अन्त में उसी के साथ सूली पर चढ़ने का पुरस्कार माँगती है। उसका यह कार्य अतवर्य नहीं। पहले ही लेखक ने उसके द्वन्द्वात्मक व्यक्तित्व को सामने रखा है, वह अरुण को प्यार करती है, पर कुल गौरव एवं राष्ट्र-प्रेम भी उसमें उत्कट रूप में आता है। प्रेम के इसी द्विविध पटल पर वह अल्हड़ युवती घूमती रह जाती है। 'चम्पा' बुद्ध गुप्त के लिए कटार लिए घूमती है, अवसर की ताक में, पर हठात उसका घायल मन उसे छिपा नहीं पाता और वह कटार को अवल जलराशि में डुबो देती है। वह स्वयं अपने हृदय की गति से अनभिज्ञ है। वह बुद्ध गुप्त से स्वीकार करती है "मैं तुम से घृणा करती हूँ फिर भी तुम्हारे लिए मर सकती हूँ। अंधेर है जलदस्यु मैं तुम्हें प्यार करती हूँ।" और इन्हीं दो भावनाओं ने उसे एक बार यौवन के तूफानी झोंकों में बुद्धगुप्त से लिपटने को बाध्य किया और दूसरी ओर पितृ हिंसक जानकर मन खुलकर उससे मिल न सका। चम्पा के हृदय में बुद्धगुप्त तथा अपनी जन्मभूमि दोनों के प्रति प्रेम है, फिर भी वह उस एकाकी द्वीप में अकेली रह जाती है। बुद्धगुप्त के साथ नहीं लौटती। फिर भी क्या बुद्धगुप्त को वह खो पाती है? उसका प्रकाश स्तम्भ सागर में भूले-भटके नाविक के लिए तिल-तिल करके प्रकाश दीप के सहारे से जो प्रकाश विकीर्ण करता, वह स्पष्ट कर देता है कि वह उसे खोकर भी नहीं खो पाती।

कहानी बस इससे अधिक अन्तर मन्थन को स्थान नहीं दे सकती। उपन्यास केवल इन्हीं बातों को लेकर अनेकानेक परिस्थितियों के घटाटोप 'प्रेत की छाया' और 'नदी के द्वीप' खड़ा कर सकता है, पर कहानी अपने इस सीमित क्षेत्र में भी उस लक्ष्य को पा लेती है।

शैली की दृष्टि से उपन्यास और कहानी में कोई विशेष अन्तर नहीं। जो कुछ है वह आकार की लघुता एवं गुरुता के कारण ही जैसे कहानीकार प्राकृतिक चित्रणों एवं वातावरण की प्रत्येक छोटी वस्तुओं की ओर से अपना ध्यान समेटेगा। हाँ एक वस्तु है जिसे कहानी अपने अंचल में जगह दे सकती है, पर उपन्यास अपने पूरे अहाते में उसे उतनी पटुता से नहीं रख पाता और वह है नाटकीयता। कहानी के वस्तु विन्यास में तथा प्रायः हर हाव भाव में नाटकीयता शोभा देती है। कहानी की प्रवृत्ति ही नाटक की ओर अधिक है। शैली में भी जहाँ कहानी नाटक का सहारा लेती है, उसके सौन्दर्य में निखार आ जाता है। यह नाटकीयता उसके औत्सुक्य वर्धक आरम्भ, कलात्मक संवाद और क्षिप्र अन्त में अधिक सहायक सिद्ध होती है। इस दृष्टि से प्रसाद की 'आकाश दीप' कहानी अग्रगण्य है।

इस प्रकार हमने देखा कि कहानी और उपन्यास साहित्य की सर्वथा दो विधाएँ हैं, जिनका अन्तर और बाह्य दोनों अलग-अलग एक दूसरे से पृथक हैं। वैसे अपने गन्तव्य

मार्ग में कहानी जहाँ एकांकी, नाटक, कविता आदि विधाओं को छूती है और उपन्यास को भी, पर उपन्यास से उसका कोई गाढ़ा गठबन्धन नहीं। अपनी लघुता में गुरुता छिपाए कहानी अपने आप में पूर्ण है, और आज के प्रचार युग में तो उसने दिखा दिया है कि उपन्यास की अपेक्षा उसकी चाह अधिक है। पर जीवन की सम्पूर्णता को अभिव्यक्ति देने के कारण जितनी सामर्थ्य उपन्यास साहित्य को मिली है, वह अन्य साहित्य रूपों के लिये ईर्ष्या की वस्तु है जिसके कारण उपन्यास का आकर्षण उत्तरोत्तर बढ़ता ही रहेगा। भले ही उसके शैलीगत रूप में आवश्यकतानुसार परिवर्तन होता रहे।

उपन्यास साहित्य की व्यावहारिक समीक्षा प्रस्तुत करने के हेतु आवश्यक है कि केवल उसके सामान्य प्रभावों की ओर ही ध्यान न दिया जाय बल्कि उस पर अधिक विद्वत्तापूर्ण चिन्तन भी किया जाय जिसके लिए शैली का गम्भीर होना भी आवश्यक है। व्यावहारिक समीक्षा के लिये केवल इतना ही जानना पर्याप्त नहीं है कि उपन्यास में कृतिकार के मस्तिष्क का पूर्ण चमत्कार व्यक्त हो सकता है बल्कि इतना और भी जानना आवश्यक है कि उसके व्यक्त करने का ढंग भी विषयानुकूल है। एक अच्छे उपन्यासकार के विचार कितने सुलझे हुए अथवा कितने श्रेष्ठ हैं, इतना ही जान लेना पर्याप्त नहीं है बल्कि यह भी जान लेना आवश्यक है कि लेखक ने उन विचारों को किस ढंग से व्यक्त किया है और उसे ऐसा करने में कहाँ तक सफलता मिल सकी है। उपन्यास का कितना अंश अनिवार्य है, जिसकी प्रशंसा समीक्षक को करनी है अर्थात् चरित्र की श्रेष्ठता तथा कथावस्तु की निर्माण कुशलता पर उसे विशेष ध्यान देना पड़ेगा। इन्हीं दृष्टियों से विचार करने पर यदि कृति का का कोई मूल्य स्थिर हो सके तो उसे अच्छे उपन्यास साहित्य की श्रेणी में रखा जा सकता है।

उद्देश्य

उपन्यासकार ने किस वस्तु का निर्माण किया है अथवा वह अपनी कृति के माध्यम से क्या कहना चाहता है, यह सर्व प्रमुख विषय है जिस पर हमें विचार करना चाहिए। उपन्यासकार की रचना भूमि तथा उसके दृष्टिकोण से परिचित हो जाने पर ही हम उपन्यास साहित्य का उचित मूल्यांकन कर सकते हैं। इस प्रसंग की जानकारी के लिये हमें अनुमान का ही सहारा लेना पड़ेगा। रचना चाहे जैसी भी हो उसमें कुछ न कुछ रहस्य का अंश तो रहता ही है। कभी-कभी तो ऐसा होता है कि कलाकार अनजाने में ही ऐसे स्थल का निर्माण कर बैठता है जो उसकी सृष्टि का हृदय बन जाता है जिसे कभी-कभी प्रयत्न करने पर भी वह निमित नहीं कर पाता। कलाकार की सृष्टि का यह रहस्य उसी प्रकार का है जैसे दो अपरिचित सहसा एक दूसरे के अंकस्थ हो जायँ और बाद में उन्हें इस रहस्य का भी पता न लग पाये कि यह अद्भुत घटना कैसे घटी। उपन्यासकार को सदैव इसका ज्ञान नहीं रहता कि उसने अपनी रचना कैसे पूरी कर

ली। यह हम भले मान लें कि किसी भी कृति के सम्बन्ध मे पूर्ण जानकारी प्राप्त कर लेना सम्भव नही है पर आंशिक जानकारी तो सम्भव है ही। रहस्यात्मक मिलन के सम्बन्ध मे भी तो इतना कहा ही जा सकता है कि मिलने के पूर्व लोगो ने एक दूसरे के रूप को तो देखा अवश्य ही होगा। उपन्यासकार यदि किसी भी रूप में अपनी कृति उसके उद्देश्य तथा शैली और प्रेरणा के सम्बन्ध मे कुछ कहता है तो उसे भले ही हम पूर्ण विश्वासनीय न मानें फिर भी वह प्रथम श्रेणी की अधिकारिक अथवा प्रामाणिक जानकारी तो मानी ही जा सकती है। लोगो की यह एक सामान्य धारणा हो गयी है कि लेखक इसके सम्बन्ध में पूर्ण विज्ञ नही रहते कि उनकी रचना किस उद्देश्य की ओर बढ रही है बल्कि उससे अधिक तो उसके कार्यों से सम्बन्ध मनोविज्ञान वेत्ता ही जानकारी रख सकता है। विचार करने का यह एक पक्ष हो सकता है पर इसे ही हम एक मात्र कलाकार की कसौटी के रूप मे नही स्वीकार कर सकते।

काव्य रचना के सम्बन्ध में हम बहुत कुछ जानते हैं और उसका सहानुभूति पूर्ण अध्ययन करने से और भी बहुत कुछ जाना जा सकता है, पर इसकी तुलना मे उपन्यास साहित्य का अध्ययन बहुत कम हुआ है। विषय वस्तु के चुनाव में लेखक के उद्देश्य का महत्वपूर्ण स्थान है और विषय का चुनाव करते समय उसे अपनी कलात्मकता एव प्रतिभा का पूर्ण परिचय देना पडता है क्योंकि उसे इसका निश्चय करना पडता है कि प्राप्त सामग्री में से उसे कितना ग्रहण करना है और कितना छोड देना है। अत: उपन्यासकार की अपनी कुछ निश्चित सीमायें है जिनका पालन करना एव सफल उपन्यासकार के लिए अति आवश्यक है। सीमा अथवा क्षेत्र (Range) से हमारा केवल तात्पर्य यथातथ्य चित्रण की सीमा से है जिसे 'फोटोग्रैफिक' (Pho togra phic) चित्रण की सज्ञा दी जाती है। 'फोटोग्राफी' स्वय एक कला है और उपन्यास रचना भी साहित्य कला का एक अंग है। दो स्वतन्त्र कलाओ का स्वस्थ विकास बहुत दूर तक एक साथ नही हो सकता, जिससे 'फोटोग्रैफिक' (Photo graphic) चित्रण को एक सीमा तक ही उपन्यास क्षेत्र में स्वीकार किया जा सकता है। हम इसे वही तक स्वीकार कर सकते हैं जहाँ तक कि इससे उपन्यास साहित्य के क्षेत्र को समझने में सहायता मिलती है। इसका बिल्कुल तिरस्कार भी नही किया जा सकता क्योंकि इससे कुछ विचारो को समझने मे सहायता तो अवश्य ही मिलेगी। कुछ उपन्यासकारो ने इस शब्द (Photo graphy) को पकड लिया हैं जिससे उनका दावा है कि उनके द्वारा प्रस्तुत किये गये यथार्थ चित्र कैमरे द्वारा लिए गये यथार्थ चित्र के समान हीं हैं।[1] उपन्यासकारों के उपर्युक्त

1—I am camera with its shutter over quite passive recrding not thinking. Recording the manshaving at the window opposite

कथन को केवल सामान्य अर्थों में ही नही लेना चाहिए कि वे कैमरे द्वारा लिए गये चित्र ही उपस्थित करते हैं, साहित्य रचना नही करते, बल्कि उसके विशिष्ट अर्थ तक भी पहुँचने की चेष्टा करनी चाहिए। जब वे 'फोटोग्रैफिक (Photo graphic) चित्र की बात करते हैं तो उसका यह कदापि अर्थ नहीं कि मानव जीवन के चित्रों को वे विवेक हीनता के साथ उसी प्रकार उतार लेते हैं जैसे कि कैमरा उतार लेता है। कैमरे का उसके द्वारा लिए गये चित्रों के साथ कोई सम्बन्ध नही होता जब कि उपन्यास में आये चित्रों के साथ उपन्यासकार की आत्मीयता भी होती है। यह अपने चित्रों को कैमरे की भांति जैसे-तैसे प्रेरणाहीन प्रति लिपि के रूप में ही नहीं प्रस्तुत कर देता बल्कि उनका उपर्युक्त चुनाव भी करता है।

यदि हम विचार करके देखें तो कैमरे द्वारा लिया गया चित्र भी जैसे-तैसे खींचा हुआ हूबहू चित्र नहीं हुआ करता बलिक उसमे भी चित्रकार अपनी कला के द्वारा सौन्दर्य लाने की चेष्टा करता है।

'फोटोग्रैफी' (Photogra phy) भी एक कला है और उसके माध्यम से प्रस्तुत किये गये चित्र भी कहानी (Fiction) के चित्रों की भाँति ही मार्मिक एवं महत्वपूर्ण स्थलो की सृष्टि हुआ करते हैं। फोटोग्राफर समय, स्थान तथा भाव भंगिमाओ को अपने चित्रों में सौंदर्य लाने के लिए महत्वपूर्ण स्थान देता है। वह किसी भी अच्छी एवं कुरूप अवस्था एवं मनोदशा को चित्रित करने में अपनी कला एवं श्रम का अपव्यय नही करता। श्रेष्ठ कथा साहित्य के लिए 'हार्डी' ने जिस चुनाव (Selection) की बात कही है, वह महत् कार्य फोटोग्राफर' भी करता है। इसी प्रकार आधुनिक युग के उपन्यासकारो को यदि हम देखें तो वे अपनी कृतियों में मानव जीवन के सम्पूर्ण क्षेत्रों पर बल देते नहीं जान पडते बल्कि वे जीवन के किसी एक विशिष्ट पक्ष का ही चित्रण करना अधिक पसन्द करते हैं। मानव जीवन के बहुत से अंश ऐसे हैं जिन्हें उपन्यासकार अनावश्यक समझ कर इस लिये त्याग देते हैं कि वे व्यर्थ पाठक का समय नष्ट करेंगे क्योंकि उन्हें तो वह अपने जीवन में सर्वत्र पालेगा। उपन्यास मे ऐसे ही चित्रो को प्रस्तुत करना चाहिए जिन्हें या तो सामान्य लोग पहचान न सकते हो और यदि पह-

---

and the woman in the kimono washing her hair, Some day all this will have to be developed care fully fixed printed.

(mr. christopher I sher wood).

Do you know how I passed a whole ofter noon the day before yester day ? In looking at the country side through coloured glasses. I needed it for a hage of my 'Bovory' which will not I think be one of the worse hages (Floubert)

चानते भी हो तो उनके मर्म तक पहुँचने में कठिनाई का अनुभव करते हो। इस प्रकार मिल मजदूरो के जीवन का शुद्ध सूची पत्र तैयार करना जीवन के हेय तथा गन्दे स्थलो का इतिवृत्तात्मक विवरण प्रस्तुत करना तथा कल्पना की नितान्त उपेक्षा करके यथार्थ वाद के नाम पर अश्लील साहित्य की सृष्टि करना ही उपन्यास साहित्य का विषय नहीं, बल्कि उसके द्वारा मानव जीवन के उपयोगी चित्रो का ही कलात्मक वर्णन प्रस्तुत किया जाता है।

कुछ उपन्यासकारो का यह भी कहना है कि शुद्ध यथार्थवादी चित्रो को प्रस्तुत कर वे कला के क्षेत्र का तो विकास कर ही रहे हैं साथ ही साथ वे कला क्षेत्र में ऐसे जीवन को समाहित करने का सफल प्रयत्न भी कर रहे है जिसके प्रति पूर्ववर्ती कलाकार बिल्कुल उदासीन रहे। इस धारणा के नेताओ ने साहित्य के कलात्मक जीवन दर्शन को बिल्कुल समाप्त कर दिया है। इस प्रकार कला क्षेत्र मे नवीन तथ्यो का समावेश तो सम्भव है, पर इससे कला का कोई विकास नही हो सकता। ऐसे कथाकार कथानक को महत्वपूर्ण रूप (Form) प्रदान करने मे पूर्णतः असफल रहे हैं। जिन्हें पलायनवादी कहना अधिक समीचीन जान पड़ता है जो कला के क्षेत्र से भाग कर जीवन मे घुस गये हैं। उपन्यासकार का यह पलायन अथवा उसका यह उड़ान कला की दृष्टि से उसके लिए मौके की उड़ान सिद्ध होगी। विषय संग्रह करते समय उपन्यासकार के समक्ष कुछ ऐसी मार्मिक घटनायें घट जाती हैं कि वह उसे ही अपने उपन्यास का प्रमुख विषय बना लेता है। ऐसी घटनाओं की परख करने के लिये भी साधारण प्रतिभा की आवश्यकता नही होती क्योकि इस तो महान् कलाकार की आँखें ही ताड़ सकती हैं। फ्लाबेयर (Flaubert) ने विषय संग्रह के सम्बन्ध मे एक ऐसी घटना का उल्लेख किया है जिससे उपरोक्त कथन पर अच्छा प्रकाश पड जाता है। वह अपने मित्र की पत्नी के दाह संस्कार मे इसलिये भाग लेने गया था कि वहाँ पर उसके उपन्यास के लिए सामग्री मिल जायगी। उस समय वह अपना प्रसिद्ध उपन्यास 'मेडम बावरी' लिख रहा था। उसने जाने के पूर्व अपने एक अनन्य मित्र को पत्र द्वारा सूचित किया था कि मेरे ये विचार एक दुःखी व्यक्ति के लिये घृणास्पद हो जान पड़ेंगे कि मैं दाह संस्कार में सम्वेदना प्रकट करने नही बल्कि उपन्यास के लिये विषय सामग्री ढूँढ़ने आ रहा हूँ, पर इसमे बुराई ही क्या है ? ऐसा करके मैं अपनी शैली द्वारा एक ऐसे व्यक्ति का निर्माण कर सकूँगा जिसके आँसू से अनेक लोगो की आँखो में आँसू छलक पड़ेंगे।" 'फ्लावेयर' के उपन्यास का पात्र 'चार्ल्स बावरी' उसके मित्र की भाँति ही था और 'मेडम बावरी' स्त्री थी जिसकी आकस्मिक मृत्यु हो गई थी। 'फ्लावेयर' जब पहुँचा तो उसके मित्र की पत्नी की अन्त्येष्टि-क्रिया सम्पन्न हो रही थी। वहाँ उसे अनेक लोग मिले जिनमे से कुछ ऐसे भी थे जो उससे बेवकूफी भरे प्रश्न पूछने लगे कि वह उन्हें 'इजिप्ट'

के जनता पुस्तकालयों (Public libraries) के बारे में कुछ बताये जहाँ वह पिछले दिनों हो आया था। इन सब बातों के पूँछने का क्या यही उपयुक्त अवसर था, जब कि वे एक ऐसे व्यक्ति के दुःख-दर्द के प्रति सहानुभूति प्रकट करने के लिए इकट्ठे हुए हैं जो पत्नी-वियोग के दुःख भार से शोकसागर में डूबा जा रहा है। बेवकूफी भरे प्रश्नों के कारण 'फ्लावेयर' परेशानी मे पड़ गया और मित्र का दुःख जिसे वह देखने आया था उसके सम्मुख अत्यन्त गौड़ हो गया। वह चिल्ला उठा कि निश्चित ही ईश्वर विलक्षण है।[1] दुःख और हास्य की जो विलक्षण भूमिका 'फ्लावेयर' के सामने उपस्थित हुई, क्या वह उपन्यास के लिये अपने में पूर्ण एक स्वतन्त्र विषय नहीं है? सच्चे उपन्यासकार का उद्देश्य न तो केवल सूचनायें मात्र देना है और न तो प्रचारवादी बनना ही, बल्कि विषय संग्रह के क्षेत्र में उसकी विलक्षण स्थिति देखने को मिलती है। जिन बहुत से चित्रों के द्वारा उपन्यासकार अपने विषय का श्रृंगार करना चाहता है तथा जिन घटनाओं के द्वारा अपनी कला को समृद्ध बनाना चाहता है, प्रायः ऐसा होता है कि न तो अपनी इच्छानुसार वह उन चित्रों को ही ला पाता है और न तो उन घटनाओं को ही समाहित करने में समर्थ होता है। उपन्यासकार की इच्छित घटनायें कभी तो उसकी इच्छानुसार नहीं घटतीं और उनमें से बहुत चीजें तो बहुधा घटती ही नहीं। इन घटनाओं की वास्तविकता की उसे चिन्ता उस सीमा तक होनी भी नहीं चाहिये जिस सीमा तक कि उनकी चिन्ता इतिहासकार करता है।

'फ्लावेयर' (Flaubert) के अनुसार लेखक के मस्तिष्क में एक ही विषय से सम्बद्ध जो पूर्ण खण्ड चित्र एक बार आता है वही उपन्यास के लिये सर्वोत्तम विषय कहा जा सकता है जिसे केन्द्र मानकर अन्य प्रासंगिक विषयों का समावेश उपन्यास की कथा वस्तु में होता रहता है। अनावश्यक प्रसंगों को लाने की बिल्कुल छूट उपन्यासकार को नहीं है[2]। किसी भी उपन्यास की श्रेष्ठता उसके समन्वित प्रभाव

1—"Decidedly God is a Romantic' complained Flaubert of this mixture of the tragic and comic.

2—'A good subject for a novel' says Flaubert 'is one that comes all in one piece in one single jet. It is the mother idea whence all the rest flow, one is not at all free to write this or that One does not choose one's subject. That is what the public and critics do not under stand. The search of the master pieces lies in the concordance, between the subject and temperament of the author. (A Treatise on the novel by Robert Liddle, P. 37.)

पर ही आधारित है। किसी स्थल विशेष को लेकर यह कह बैठना कि यह सुन्दर अथवा कलात्मक है, उपन्यास की प्रशंसा नहीं बल्कि उसकी निंदा है क्योंकि उसकी अच्छाई और बुराई का मूल्यांकन उसके समग्र प्रभाव पर ही किया जा सकता है। ऐसी भी सम्भावना हो सकती है कि उपन्यास का कोई स्थल विशेष बड़ी ही ललित भाषा में अत्यन्त भावुकतापूर्ण लिखा गया हो जिसका सम्बन्ध न तो कथा प्रसंग से हो और न तो उससे लेखक के किसी दृष्टिकोण का ही परिचय मिलता हो। ऐसे प्रसंग सामान्यतः उपन्यासों में मिल जाया करते हैं जिससे उपन्यास के विषय की एकता (single ness of subject) समाप्त हो जाती है। उपन्यासकारों को ऐसे प्रसंगों की उपेक्षा करनी चाहिये। विषय की एकता के निर्वाह में प्रसिद्ध उपन्यासकार 'हेनरी' जेम्स' (henry james) के उपन्यासों को विशेष ख्याति मिली है। प्रेमचन्द जी के 'सेवासदन', 'निर्मला' तथा 'गबन' आदि आकार में अपेक्षाकृत छोटे तथा जैनेन्द्र जी के आरम्भिक उपन्यासों में भी विषय की एकता का निर्वाह हुआ है। विषय एकता का निर्वाह उपन्यासकार की कल्पना का एक ऐसा चमत्कार है जिसके घटने पर उपन्यास कला अद्भुत प्रकाश से पूर्ण होकर मानव मात्र पर प्रसन्नता की किरण बिखेर सकती है। विषय की एकात्मकता के अभाव में कोई भी श्रेष्ठ उपन्यास अपनी कला से नीचे गिर सकता है और जिन कलात्मक विशेषताओं की पाठक उससे अपेक्षा रखते हैं, अधिक सम्भव है वह उन्हें न प्रस्तुत कर सके।

विषय की एकता का आग्रह वहीं तक उपयुक्त है जहाँ तक कि अन्य कलात्मक प्रसंगों के विकास में बाधा नहीं उपस्थित होती। रोमैन्टिक (RoMantic) उपन्यास जो अनेक असम्बद्ध सुन्दर विषयों के संग्रह प्रस्तुत करने के लिए प्रसिद्ध हैं, यदि विषय की एकात्मकता का कड़ाई के साथ पालन करने लगे जायँगे तो निश्चित ही उन्हें अपनी अनेक अच्छाइयों से हाथ धोना पड़ जायगा। पूर्ण शास्त्रीय उपन्यास भी (classical Perfect novel) विषय की एकता का निर्वाह वहीं तक कर सकते हैं जहाँ तक कि उपन्यास की सुपाठ्यता में अवरोध नहीं आता क्योंकि एक सीमा ऐसी भी आ सकती है जहाँ पहुँच कर पाठकों में अरुचि अवश्य उत्पन्न हो जायगी और यह कहना कठिन हो जायगा कि पाठकों की रुचि आगे भी बनी रहेगी। कथा के प्रति उत्तरोत्तर आकर्षण का बनाये रखना उपन्यासकार का सर्वप्रथम कर्तव्य है जिसके अभाव में उपन्यास साहित्य की मर्यादा ही समाप्त हो जायगी। हिन्दी के कुछ श्रेष्ठतम उपन्यास अपनी इसी दुर्बलता के कारण कहीं-कहीं अपना आकर्षण खो बैठे हैं उदाहरण के लिए 'गोदान', 'दिव्या' तथा 'शेखर एक जीवनी (प्रथम खण्ड)' को लिया जा सकता है और एक सीमा तक ही विषय की एकात्मकता को स्वीकार करने वाले 'वैशाली की नगर वधू' 'चित्रलेखा' तथा 'बाणभट्ट की आत्मकथा' आदि जैसे उपन्यास कला की दृष्टि से अत्यन्त सफल प्रमाणित हुए, जिन्हें पढ़ते समय पाठक कहीं भी अपना आकर्षण नहीं खोता।

उपन्यासकार अपने वैयक्ति अनुभव के द्वारा ही अपने चरित्र का निर्माण करते हैं और कल्पना के आधार पर संगठित चरित्रों को जन-जीवन के निकट लाने के लिए उसके लिए ऐसा करना अत्यन्त आवश्यक भी है।- उपन्यासों में वैयक्तिक अनुभवों को किस सीमा तक स्वीकार किया जा सकता है, यह भी एक विचारणीय प्रश्न है। अनुभव (Experience) शब्द का दुरुपयोग आधुनिक उपन्यासकारों ने उसी प्रकार किया है, जिस प्रकार कि जीवन (life) शब्द का। अधिकांश आलोचकों ने अनुभव शब्द का तात्पर्य लेखक के कार्यों और कष्टों (Doing and suffering) से ही लिया है। लेखक के जिन कार्यों और कष्टों को आलोचकों ने अनुभव से सम्बद्ध किया है, उसे भी उन्होंने केवल बहिर्जगत तक ही सीमीत रखा है न कि मतिष्क के कार्यों एव कष्टों से, जिसमें बुराइयाँ कार्य करती रहती हैं तथा भद्दे से भद्दे कष्ट पलते रहते हैं। यहाँ हमारा सम्बन्ध केवल उस सांसारिक अनुभव से है जहाँ स्त्री-पुरुष एक दूसरे से मिलते, लड़ते-झगड़ते, पीते-पिलाते तथा प्रेम व्यापार करते दिखाई पड़ते हैं। इन्हीं सांसारिक कार्य व्यापारों का अनुभव लेखक तटस्थ होकर करता है और अपने उसी अनुभव को जब वह कला के माध्यम से व्यक्त करता है तो उसमें एक नवीन सौन्दर्य फूट पड़ता है। इस प्रकार पाठक लेखक की कला के सहारे विषय के मर्म तक पहुंच कर आनन्द का अनुभव करने लग जाता है जिसका आनन्द साधारण आँखें केवल देखकर आंशिक रूप में ही ले पाती हैं क्योंकि कलाकार के देखने में और साधारण व्यक्ति के देखने में काफी फर्क होता है।

व्यक्तिगत अनुभव के विशेष आग्रह के कारण कतिपय दोषों के आ जाने की भी सम्भावनायें रहती हैं। कलाकी मर्य्यादा का उलंघन करके जब उपन्यासकार अपने अनुभव थोपने लग जाते हैं तो वहीं से कला कृति में विकृति का प्रवेश होने लग जाता है। यदि उपन्यासकार किसी धर्म विशेष से सम्बन्ध रखता है तो निश्चित ही वह दूसरों के प्रति अपने उपन्यास में न्याय नहीं कर सकेगा। यदि वह किसी जाति विशेष, धर्म विशेष, तथा अंचल विशेष का पक्षपाती है तो ऐसी स्थिति में जो चित्र उसके द्वारा प्रस्तुत किया जायगा वह सर्वथा एकांगी तो होगा ही साथ ही साथ उससे सामाजिक राष्ट्रीय एवं साहित्यिक एकता को छिन्न-भिन्न करने वाले विचारोंको बल भी मिल सकता है। यह तो हुई बहिर्जगत के अनुभव की बात। इसके अतिरिक्त मनोविज्ञान की बढ़ती हुई लोकप्रियता के कारण उपन्यासकार जो मानव के अन्तर्जगत का यथार्थ चित्र उपस्थित करने लगे हैं, उससे वैयक्तिक अनुभव का दूसरा ही रूप सामने आता जाता पड़ता है। मनोवैज्ञानिक चित्रों को उपस्थित करने के लिये वैयक्तिक अनुभव ही एक मात्र प्रामाणिक साधन माना जा सकता है, जिससे अनुभव के नाम पर वैयक्तिक कुण्ठाओं तथा मानसिक अश्लील चेष्टाओं को ही उपन्यास साहित्य में अधिकतर अभिव्यक्ति मिलती जा रही है। उपन्यासकार का दायित्व इसके कुछ बड़ा है। उसे न तो केवल किसी विशिष्ट जाति, प्रान्त, धर्म, विचार अथवा

वर्ग का ही चित्र उपस्थित करना है और न तो केवल किसी व्यक्ति विशेष की मानसिक गन्दगियो का ही लेखा-जोखा प्रस्तुत करना है बल्कि उसे तो सम्पूर्ण मानवता को दृष्टिपथ मे रखते हुए सामाजिक दुर्बलताओ का निदान प्रस्तुत करना है, जो वैयक्तिक भी हो सकती है और सामाजिक भी। साहित्यकार के लिये अनुभव का उपयोग उतना ही महत्व रख सकता है जितना कि उसके लिये कला-मर्यादा की रक्षा का महत्व है। उसके अनुभव के कुछ ही अश उसकी कल्पनात्मक प्रतिभा को उद्बुद्ध कर सकते हैं, सब नही।

अनुभव के क्षेत्र मे एक और भी बाधा है और वह यह कि कलाकार तटस्थ द्रष्टा के रूप मे अनुभव नहीं अर्जित कर सकता। उपन्यासकार यदि तटस्थ रहकर अनुभव अर्जित करने का दावा करता है, तो उसके अनुभव के माध्यम से प्रस्तुत किया गया चित्र ठीक वैसा ही होगा जैसा कि १६ वी शताब्दी के हस्त निर्मित कैमरे से लिये गये चित्र हुआ करते थे जिनके दो बार लिये गये रूप कभी भी समान नही हो सकते थे।

रचना की पूर्णता के लिये प्रयोग मे लाये जाने वाले अनुभव की सीमा पर उपन्यास के विषय विस्तार का महत्वपूर्ण नियन्त्रण रहता है। जो सामान्यतः लेखक के स्वभाव तथा उसके रहन-सहन एव वातावरण पर भी बहुत कुछ आश्रित रहता है क्योंकि उपन्यासकार के आरम्भिक सस्कार उसके क्षेत्र (The novelist's Range) निर्माण मे महत्वपूर्ण कार्य करते हैं। सामान्यत. उपन्यासकार स्वदेश के सम्बन्ध में लिखना पसन्द करते हैं जिसपर उनके मानसिक प्रभाव, सामाजिक वातावरण तथा भौगोलिक आकर्षण का महत्वपूर्ण प्रभाव होता है। ये ही उपन्यासकार की मुख्य प्रेरक शक्तियाँ है जो उपन्यास के क्षेत्र को स्वाभाविक विस्तार प्रदान करती हैं और उनमे भी दुःख का स्थान सबसे अधिक महत्व का होता है, चाहे वह मानसिक हो अथवा सामाजिक। 'फ्लावयर' (Flaubert) और 'प्राउस्ट' (Proust) दोनो ने एक मत से इस स्वीकार किया है कि प्रेम का जीवन में जो इतना मूल्य आँका जाता है, उसका एकमात्र कारण यही है कि इसी के कारण वेदना अथवा दुःख सम्भव हो पाता है। उपन्यास साहित्य के विषय विस्तार के प्रश्न को लेकर विद्वान आलोचक अथवा लेखक एक मत नही हो पाये हैं। 'ईशरवुड' (Isherwood) तथा 'जॉनआस्टिन' (Jane Austen) का कहना है कि उपन्यासकार को अपनी सीमा के भीतर ही रहना चाहिये और 'हार्डी' (Hardy) के अनुसार वह बाहर भी जा सकता है।

प्रमुख तत्त्व

कथा (Story)

कहानी कहना उपन्यास का मुख्य धर्म है। कहानी तत्व उपन्यास का मूलाधार है। उपन्यासों के माध्यम से मुख्यत कथा ही कही जाती है। विभिन्न रुचि अथवा श्रेणी के लोग उपन्यास मे इस कथा तत्त्व को विभिन्न रूपो में ले सकते हैं।

कुछ लोग ऐसे हैं जिनसे यदि पूछा जाय कि आप उपन्यास साहित्य से क्या तात्पर्य समझते हैं तो वे स्पष्ट उत्तर दे बैठेंगे कि इस सम्बन्ध में मैं कुछ नहीं बतला सकता, पर यह प्रश्न ही मुझे बेकार-सा जान पड़ता है—उपन्यास उपन्यास है—इसके सम्बन्ध में तो यही कहा जा सकता है कि उपन्यास कहानी कहने का एक ढंग है। इस प्रकार के उत्तर देनेवाले व्यक्तियों को अच्छे स्वभाव का मानना चाहिये जिन्हें हम बस अथवा मोटर चालक के रूप में देख सकते हैं, जिनका साहित्य की विशेषताओं से कोई सरोकार नहीं रहता। इसी प्रश्न के उत्तर में दूसरे लोग यह कह सकते हैं कि "उपन्यास का जो भी कार्य हो पर यदि वह कहानी नहीं है तो मेरे लिये उसका कोई उपयोग नहीं। मैं केवल कहानी के लिए उपन्यास पढ़ता हूँ, जो मुझे पसन्द है। इसे आप मेरी बुरी रात मान सकते हैं, पर इसमें सन्देह नहीं कि मैं कहानी ही पसन्द करता हूँ। आपका साहित्यिक कला से मेरा कोई वास्ता नहीं, आपके साहित्य से मेरा कोई सरोकार नहीं और न तो आपके संगीत से ही मुझे कुछ लेना देना है। मुझे तो केवल अच्छी कहानी चाहिये। कहानी का चाव होने के कारण मुझे उपन्यास पसन्द है और मेरी पत्नी को भी।" तीसरी श्रेणी का व्यक्ति जो उपरोक्त दोनों प्रकार के लोगों से भिन्न है, प्रश्न करने पर पश्चाताप के स्वर में कहेगा कि हां प्यारे! उपन्यास कहानी कहता है। 'ई० यम० फार्स्टर' (E. M. Forster) का कथन है कि उपरोक्त तीनों श्रेणियों के पाठकों में प्रथम श्रेणी का पाठक मेरे लिये सम्माननीय एवं प्रशंसनीय है, दूसरी श्रेणी के पाठक से मुझे घृणा तथा भय है और तीसरी श्रेणी के पाठकों में से मैं स्वयं एक हूँ।[1]

कहानी कहना उपन्यास का प्रधान गुण है, जिसके अभाव में उपन्यास का अस्तित्व ही सन्देहास्पद बन जायगा। यह उपन्यास साहित्य की सर्वप्रमुख विशेषता है; जो सभी प्रकार के उपन्यासों में अनिवार्यतः पाई जाती है। उपन्यासों को अपनी इस विशेषता का परित्याग भूल कर भी कभी नहीं करना चाहिये। जिस प्रकार कहानी को लेकर पाठकों की श्रेणियां बन गई हैं, उसी प्रकार उपन्यासों के माध्यम से कही जाने वाली कहानी के रूप को लेकर भी श्रेणियां बनी हैं। उपन्यासों के माध्यम से कही जाने वाली कहानी के रूप भी पाठकों के स्तर के आधार पर भिन्न हुआ करते हैं।

कहानी कहने और सुनने का चाव लोगों में अनादि काल से चला आरहा है, पर ज्यों-ज्यों सभ्यता का विकास होता गया, त्यों-त्यों उसके कहने और सुनने में भी फर्क पड़ता गया है। असभ्य युग का श्रोता जलते अलावों को घेर कर बैठा हुआ कहानी

1—I respect and admire the first speaker. I detest and fear the second and third is my self. (E. M. Forster)

सुनता और बीच बीच में सिर हिला दिया करता था। वह कहानी मे पाई जाने वाली उत्सुकता से विह्वल होकर आश्चर्य में पडा रहता था और अन्त मे जाकर आरम्भिक संकेतो के आधार समाधान प्रस्तुत करके कहानी समाप्त हो जाया करती थी। यह प्रथा बडी पुरानी थी जिसमे श्रोता की दृष्टि बराबर आगे की ओर ही रहती थी, जिससे वह जानना चाहता था कि आगे क्या होगा। जिस समय श्रोता को इसका अनुमान लग जाता था कि आगे क्या होगा, या तो वह सो जाता था अथवा कहानी कहने वाले की ऐहिक लीला समाप्त कर दी जाती थी। असभ्य युगीन राजागण ही इस प्रकार के श्रोताओं की श्रेणी मे आते हैं, जिनके सम्बन्ध मे प्रचलित है कि उनके दरबारो में कहानी कहने वालो का जमघट लगा रहता था। वे कहानी कहने वाले यदि अपनी कहानी समाप्त कर देते थे तो वे मृत्युदण्ड के और यदि उनकी कहानी कभी भी नही समाप्त होती थी तो पुरस्कार के भागी होते थे। ऐसे कहानी कहने वाले या तो व्यवसायिक किस्सागो हुआ करते थे अथवा रानी बनने को अभिलषित सुन्दर कुमारी युवतियाँ। क्रूर अत्याचारी शासको का प्रभावित करने का एक मात्र साधन आश्चर्य मे डाल देने वाली कहानियाँ ही हुआ करती थी।

हममे से बहुत ऐसे हैं जिन्हें उपन्यासो के माध्यम से कहानी को छोड कर और कुछ नही चाहिये क्योकि इससे मानव मन की आदिम वृत्तियो को तुष्टि मिलती है, जो उसमें सभ्यता की इतनी दौड लगा लेने पर भी शेष रह गई हैं। उपन्यासो के माध्यम से कही जाने वाली कथा अथवा कहानी के सम्बन्ध में हम यही कह सकते हैं कि काल-क्रम के आधार पर सगठित घटनाओ का विवरण ही कहानी है। इस कहानी मे केवल एक ही विशेषता का रहना अनिवार्य है, जिसके द्वारा यह श्रोताओ का अथवा पाठकों के मन में उत्सुकता उत्पन्न करती रहती है। उपन्यास की कथा मे यदि उत्सुकता उत्पन्न करने की क्षमता नही है तो इसे ही उपन्यास का दुर्बल बिन्दु समझना चाहिये। इस प्रकार अन्य साहित्यिक संगठनों मे उपन्यास साहित्य सरलतम और साधारणतम संगठन है, फिर भी उसकी यह सामान्य विशेषता है कि वह अत्यन्त उलझा हुआ होता है।[१]

मानव के दैनिक जीवन मे भी समय का महत्व होता है। किसी घटना के पूर्व अथवा पश्चात् ही दूसरी घटना के घटने के सम्बन्ध में हम सोच पाते हैं। प्राय: विचार अन्तर्मन् में पलते रहते हैं, जिनसे समय-समय पर हमारे कार्यों अथवा सम्भाषणो को दिशा मिलती रहती है। इस प्रकार व्यक्ति का दैनिक जीवन प्रत्यक्ष

1—Yet it is the highest factor common to all the very complicated organism known as novels. (Aspects of the novel by E. M. Forster)

और अप्रत्यक्ष घटनेवाली घटनाओं का सम्मिश्रण है। कहानी का प्रमुख कार्य है, समय की परिधि में जीवन का विवरण प्रस्तुत करना और श्रेष्ठ उपन्यास मानव जीवन के मूल्यों को समाहित करता चलता है। इस प्रकार उपन्यासों में समय और जीवन के मूल्यों का साथ-साथ महत्व रहता है। उपन्यासों में समय का महत्व अपेक्षाकृत अधिक होता है क्योंकि समय (Time) के अभाव में किसी भी प्रकार के उपन्यास की रचना सम्भव नहीं हो सकती।

उपन्यासकार में कहानी कहने की प्रतिभा का होना अति आवश्यक है। इस प्रतिभा द्वारा ही वह उपन्यास के प्रवाह को सुन्दरगति प्रदान कर पाठकों को उपन्यास को समाप्ति तक चमत्कृत एवं उत्सुक बनाये रख सकता है। कहानी का वह प्रसंग बड़े महत्व का होता है, जहाँ पहुँच कर नायक और नायिका एक दूसरे से परिचित होते हैं। उपन्यासकार को यह दिखलाना पड़ता है कि वे किस प्रकार एक दूसरे का परिचय प्राप्त करते हैं। नायक और नायिकाओं की आँखें बड़ी चतुर होती हैं, जिससे उपन्यास-कार को उनके भीतर झाँकना होता है। उपन्यासकार की दृष्टि के माध्यम से ही पाठक पात्रों को आँखों की नीली गहराइयों तक उसी प्रकार सरलता से उतर जाता है जैसे अरक्षित प्राचीन गुफाओं में जन्तु बेरोकटोक घुस जाते हैं।

उपन्याससाहित्य के इस प्रकार मुख्य तत्व कहानी के निर्माण के लिए लेखक को कतिपय विशेषताओं की ओर दृष्टि रखनी पड़ती है। मौलिकता के साथ-साथ उसे सम्बद्धता अथवा एक सूत्रता को बनाये रखना आवश्यक है, जिसके अभाव में कथा का जो मुख्य गुण है, रोचकता समाप्त हो जायगी। जहाँ तक हो सके उपन्यासकार को सम्यता के आधार पर ही कहानी का निर्माण करना चाहिए, जिसमें मानव जीवन की समस्याओं की व्याख्या, प्रतिनिधित्व का संकेत, जीवन की विविध कथाओं की झाँकी, मानव-जीवन के विभिन्न पक्षों का मूल्यांकन तथा अनुभूतियों को पूर्ण सफल अभिव्यक्ति समाहित करना उसके लिए आवश्यक है।

चरित्र (People)

कहानी से भी अधिक रुचिकर प्रसंग उपन्यास में चरित्र अथवा नायक का है। कहानी की भाँति पाठकों के मन में यह उत्सुकता नहीं रहती कि आगे क्या होगा बल्कि वह यह जानने की इच्छा रखता है कि अमुक घटना का प्रभाव उपन्यास के किस व्यक्ति पर और क्या पड़ेगा। इस स्थल पर पहुँच कर उपन्यासकार केवल जिज्ञासा को ही महत्व नहीं देता बल्कि वह पाठकों की बुद्धि और कल्पना शक्ति को भी प्रभावित करता है। इस प्रकार उपन्यास में नवीन प्रभाव का आग्रह आरम्भ हो जाता जिससे जीवन के मूल्यों की व्याख्या पर बल देना सम्भव हो पाता है। उपन्यास के अधिकांश पात्र मानव

प्राणी ही होते हैं जिससे सुविधानुसार उपन्यास के इस महत्त्वपूर्ण अंग को मानव समुदाय ही कहना श्रेयष्कर होगा। यद्यपि मनुष्यो के अतिरिक्त अन्य जीवो को भी कथानक का विषय बनाया गया है, पर उनमे सफलता इसलिए अधिक नही मिल सकी है कि उनकी मनोवैज्ञानिक गतिविधि के सम्बन्ध मे मानव को बहुत कम जानकारी प्राप्त है। उपन्यासकार स्वय मनुष्य होता है, जिससे मानवीय पात्रो के साथ आसानी से उसकी आत्मीयता बढ़ जाती हे जो आत्मीयता अन्य कलाओ मे कठिनाई से प्राप्त हो सकती है। यह विशेषता इतिहासकार मे पायी जाती है, पर हम देखेंगे कि उपन्यास-कार की अपेक्षा अपने पात्रो से उसका परिचय कम होता है। चित्रकार और मूर्तिकार की चर्चा इस प्रसग मे वाछनीय नही क्योकि उनका उद्देश्य मानव भावनाओ का प्रतिनिधित्व करना नही रहता, उनकी अपनी सीमा है। जब तक ये जानबूझकर अपनी कलाओं के माध्यम से मानव भावो को चित्रित अथवा मूर्तिमान न करना चाहें, नही कर सकते। कवि की भी अनुभूतियाँ व्यक्तिगत अधिक होती है और सगीतज्ञ यदि चाहे भी तो नही कर सकता जबतक कि उसे उस प्रकार का सगीत न दे दिया जाय।

अपने अन्य कलाकार सहयोगियों के प्रतिकूल उपन्यासकार अनेक लोगो का समूह निर्मित करता हे, उनका नामकरण करता है, स्त्री और पुरुष वर्गों में उन्हें विभाजित करता है तथा उनकी सम्भावित रूपरेखा तैयार करता है और ऐसी परिस्थितियो की योजना करता है कि जिनमें वे वार्तालाप अथवा सामाजिक व्यवहार करते जान पड़ते हैं। शब्दो द्वारा निर्मित यह जनसमूह उपन्यासकार के चरित्रो का समूह होता है। ये चरित्र अनायास ही उपन्यास के मस्तिष्क में नही आ जाते, बल्कि अनुभूति की तीव्रता के माध्यम से उत्तेजना के क्षणो मे उपन्यासकार उनका निर्माण करता है। सामाजिक लोगो के सम्बन्ध में उपन्यासकार जो अनुमान लगाता है तथा अपने व्यक्तिगत जीवन के आधार पर जो कुछ अनुभव करता है, उसे वह पूर्णत सँवार पसार कर ही अपनी कृति मे उतारता है। पात्रो के स्वभावो का निर्माण उपन्यासकार द्वारा उपरोक्त विधियो से ही सम्भव हो पाता है। उपन्यास के अन्य प्रसगो के साथ चरित्रो के सम्बन्ध कैसे हो? इसकी जानकारी के लिये इस प्रसग को दूसरे ही प्रकार से सोचना पड़ेगा। सर्वप्रथम तो हमे इस पर विचार करना है कि उपन्यास मे आये चरित्रो का मानव के वास्तविक जीवन से क्या सम्बन्ध है, जिसका प्रतिनिधित्व करने के लिये व प्रस्तुत किये गये हैं। उपन्यास के चरित्रो, उपन्यासकार तथा साधारण लोगो मे क्या अन्तर है अथवा एक विशिष्ट व्यक्ति जैसे सम्राट् से वे कितने भिन्न हैं? इसमें सन्देह नही कि सभी व्यक्ति एक से नही हो सकते उनमें अन्तर का रहना अनिवार्य है। "यदि उपन्यास का कोई पात्र हूबहू महारानी लक्मीबाई की तरह है अर्थात् 'लक्ष्मी बाई' जैसा नही बल्कि लक्ष्मी बाई ही है, तो वह उपन्यास का पात्र नही, बल्कि 'महारानी लक्ष्मी बाई'

ही है। ऐसी स्थिति मे उपन्यास अथवा उसके पात्र जिन स्थानो का स्पर्श करते हैं, व स्थल उपन्यासकार की मौलिक सृष्टि न रहकर ऐतिहासिक तथ्य बनकर रह जाते है। दर्पण की भांति यह एक ऐसी चरित्र रचना है, जो साक्ष्य के आधार पर अस्तित्व ग्रहण करती है और साक्ष्य पर आधारित चरित्र रचना ही इतिहास है'[1] जो उपन्यास से भिन्न है। उपन्यासकार तथ्य संग्रह का कार्य नही करता बल्कि वह भाव भगियो एवं परिस्थितियो के आधार पर चरित्रो के अन्तःकरण मे प्रविष्ट होकर गोप्य तथ्यो को सम्भावित सूचना प्राप्त करता है।

दैनिक जीवन में हर एक व्यक्ति को समझना सम्भव नहीं है क्योंकि न तो व्यक्ति पूर्णत अपनी वास्तविकता को स्वीकार करता है और न तो समझने अथवा परखने वाले में इतना आतरिक बल है कि उनके अन्दर की छिपी हुई दूर की घटनाओ को देखकर वह उसके सच्चे रूप को प्रस्तुत कर सके। उपन्यासकार प्रत्येक पात्र को अनुमान से ही वास्तविकता के सामीप्य तक जान पाता है, जिसमें उसे बाह्य लक्षणो को ही साधन मानना पडता है। प्रतिभा सम्पन्न उपन्यासकार चरित्रो को पूर्णतः यथार्थ रूप मे प्रस्तुत करने का प्रयत्न करते हैं। उपन्यासकार जितना कह सकता है अथवा जानता है वह अपने चरित्रो के सम्बन्ध मे कह देता है। उपन्यासकार के चरित्र अपूर्ण एव अस्वाभाविक भले हो पर वे अपने कुछ छिपाते तो नही जब कि हमारे अनन्य मित्र तक भी अपना कुछ न कुछ गुप्त रखते ही हैं। इस भूमि-तल पर पारस्परिक दुराव छिपाव मानव जीवन की एक प्रमुख विशेषता है। जन्म, भूख, निद्रा, प्रेम तथा मृत्यु मानव जीवन के सम्बन्ध में ऐसे कठोर तथ्य के रूप मे स्वीकार किये जा सकते हैं जिससे प्रत्येक व्यक्ति को गुजरना पडता है। यदि हम चाहे तो इसमें साँस लेना और बढा सकते हैं। जब इन तत्वो का स्थान मानव समाज में अक्षुण्ण है तो उपन्यासो में भी उनका पाया जाना अनिवार्य हो जाता है, पर वे किस प्रकार उपन्यास में लाये जा सकते हैं विचारणीय है? क्या उपन्यासकार उपरोक्त तथ्यो को यद्वत प्रस्तुत करना चाहता है अथवा उनको घटा बढाकर रखना चहता है या उनकी उपेक्षा करके वह अपने चरित्रो को निकाल ले जाना चाहता है? जन्म और मृत्यु दोनों ईश्वरीय चमत्कार हैं, जिनका हम अनुभव भी करते हैं और नहीं भी करते। प्राप्त विवरण के आधार पर ही हम जीवन मरण की कल्पना कर लेते हैं। हम सभी ने जन्म लिया है, पर उस अवस्था का स्मरण हममें से कितनो को है? मृत्यु आगे आ रही है जिसके सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करना कठिन नही है क्योकि हमारे सामने ही न जाने कितने लोगों की

१—ऐतिहासिक उपन्यास की सीमा और बाणभट्ट की आत्मकथा, डॉ० त्रिभुवन सिंह प्र० सं० पृ० ३

मृत्यु हुई है। इस प्रकार जन्म और मरण दो अन्धकारों के बीच मानव जीवन गतिमान रहता है। कुछ लोग जन्म और मरण के सम्बन्ध मे जानकारी देने की चेष्टा करते हैं। जन्म के सम्बन्ध मे माता का अपना दृष्टिकोण होता है और एक डाक्टर अथवा धार्मिक का मृत्यु के सम्बन्ध में अपना। उपरोक्त सभी लोगो के अनुभव बाह्य परिस्थियो की ही देन हैं और जिनके सम्बन्ध में अनुभव किये जाते हैं वे स्वयं की अनुभूति को प्रकट करने मे सर्वथा असमर्थ ही रहते है।

ऐसे ही व्यक्ति के सम्बन्ध में प्रामाणिक ढग से विचार किया जा सकता है जो सभी घटनाओ का अनुभव भी कर सकता हो और उसे व्यक्त भी। उपन्यास के चरित्र ऐसे ही व्यक्ति हुआ करते हैं जो अपने जन्म मरण की यातनाओं को भुगत चुके हैं। यदि उपन्यासकार चाहे तो वह जन्म-मरण की यातनाओ का स्मरण भी कर सकता है और उन्हे समझा भी सकता है क्योंकि वह जीवन के सभी गोप्य तथ्यों को जानने की प्रतिभा रखता है। उपन्यासकार जन्म के कितने पश्चात् तथा मृत्यु के कितने निकट तक जाकर अपने चरित्रो का परिचय दे सकेगा वह उसकी इच्छा-शक्ति पर ही निर्भर करता है। जन्म मरण के अनोखे अनुभवो के सम्बन्ध में उपन्यासकार क्या कहेगा तथा वह उसकी यातनाओं के कारणों पर क्या प्रकाश डालेगा, पूर्णतः उसकी इच्छा पर ही निर्भर करता है।

जन्मोपरान्त भोजन ही सबसे महत्वपूर्ण तत्व है जो जीवन-ज्योति को प्रज्ज्वलित रखता है और जो जन्म से पूर्व माँ के गर्भ मे तथा बाद में माँ द्वारा दूध के रूप मे व्यक्ति को प्राप्त होता रहता है। अनुभव शक्ति के आते ही भूख को तृप्त करने का भार व्यक्ति पर आ जाता है, जिसके लिये उसे जीवन मे न जाने कितने प्रकार के कार्य अथवा संघर्ष करने पडते हैं। व्यक्ति के इस संघर्ष का अन्त उसकी मृत्यु के ही साथ होता है, उसके पहले वह इससे अपना पीछा किसी भी प्रकार से नही छुड़ा सकता। भोजन मानव जीवन का ज्ञात और अज्ञात तत्व दोनो है। इससे केवल शक्ति का संचय ही नही होता बल्कि रुचि से सम्बन्धित इसका इसका दूसरा महत्वपूर्ण पक्ष भी है जिसके माध्यम से हम अच्छे और बुरे व्यक्ति की परख करते हैं। उपन्यासकार इस प्रसंग की चर्चा अपने उपन्यास मे विषय, उद्देश्य तथा पात्र को सम्मुख रखकर किसी न किसी रूप मे अवश्य करता है।

क्षुधा के बाद जीवन में सबसे महत्वपूर्ण स्थान निद्रा का है। औसत जीवन का एक तिहाई भाग जो व्यक्ति समाज और सभ्यता के विकास मे नही खर्च करता, वह एकान्त निद्रा मे बिता देता है। निद्रा के माध्यम से व्यक्ति एक ऐसे ससार मे प्रवेश पा जाता है जिसके सम्बन्ध में वह बहुत कम या कुछ भी नही जानता और जिसमे से लौट जाने पर अधिकांश भूल भी जाया करता है। इस जगत में कुछ तो सासारिक

चित्र होते हैं और कुछ उनकी अभिव्यक्तियाँ। नींद से उठने के बाद लोग यही कहते हुए पाये जाते हैं कि मैंने स्वप्न में कुछ भी नहीं देखा, एक सीढ़ी देखी अथवा स्वर्ग के सम्बन्ध में देखा। कभी-कभी तो वह नींद अथवा स्वप्न के सम्बन्ध में चर्चा भी करना नापसन्द करता है। केवल इतना ही कहकर चुप हो जाना चाहता है कि उसका अधिक समय स्वप्न अथवा नींद में ही बीत गया। उपन्यासकारों ने इस प्रसंग से बड़ा लाभ उठाया है और उन्हें जब कभी अस्वाभाविक घटनाओं को यथार्थता के रंग में ढालना रहता है तो वे व्यक्ति की इसी निद्रावस्था की शरण लेकर अयथार्थता से साफ-साफ बच जाते हैं।

प्रेम मानव जीवन का मधुर पुष्प है जिसके प्रति उपन्यासकारों ने अपार आकर्षण व्यक्त किया है। प्रेम अत्यन्त व्यापक अर्थ रखता है। प्रेम के नाम पर उपन्यासों में अधिकतर स्त्री-पुरुष के यौन (sex) सम्बन्धों की ही चर्चा मिलती है। जन्म के कुछ वर्ष बाद व्यक्ति में परिवर्तन उपस्थित होता है, जिसके कारण वह दूसरों के सहयोग से अपना घर बसाता है (ब्याह करता है) और अन्य व्यक्तियों को जन्म देता है। इस प्रकार मानवता का उत्तरोत्तर विकास होता रहता है। काम-भावना का उदय किशोरावस्था के बाद होता है और जब तक व्यक्ति में पुंसत्व रहता है, वह विद्यमान रहती है। काम-भावना व्यक्ति की समवयस्का है जो जन्म से ही वर्तमान रहती है, जैसा कि आधुनिक चिंतकों का मत है। युवावस्था में केवल समाज के लिये इसकी आवश्यकता अधिक हो जाती है। काम-भावना के साथ ही साथ अन्य और भी मानवीय भाव अपनी प्रौढ़ता को प्राप्त करने लग जाते हैं, जिनमें प्यार, मित्र-भावना, राष्ट्र-भावना और रहस्य भावना मुख्य हैं, जिनके उत्पन्न होते ही काम-भावना के साथ इनका भयंकर युद्ध छिड़ जाता है। कुछ लोगों का कहना है कि काम-भावना सभी प्रकार के प्रेम-भावों की आधार-शिला है। इस भावना में ही सभी प्रेम तत्व पलते रहते हैं। इसके प्रतिकूल कुछ लोग काम-भावना को मूलाधार न मानकर इसे अन्य सभी प्रकार के तत्वों से सम्बद्ध मानते हैं और कुछ लोग तो इसे सभी प्रेम-तत्वों से असम्बद्ध रखने के पक्षपाती हैं। इसके सभी रूपों का चित्रण व्यापक रूप में विभिन्न उपन्यासों में हुआ है। व्यक्ति जब प्रेम करना आरम्भ करता है तो वह तत्काल कुछ प्राप्त भी करने लग जाता है और देने भी लग जाता है। आदान-प्रदान के रूप में व्यक्ति का यह उभय पक्षीय जीवन भोजन तथा निद्रा से सम्बन्धी जीवन से भी अधिक विषम बन जाता है। नींद लगभग आठ घंटे में समाप्त हो जाती है और भोजन का क्रम दो घंटे में, पर प्रेम को भी क्या समय की सीमा में बांधा जा सकता है? प्रेमतत्व व्यक्ति के अन्य कार्यों के साथ ऐसा गुंथ जाता है कि उसकी तो कोई सीमा ही नहीं जान पड़ती। पर प्रेम के कुछ ऐसे प्रसंग हैं जिन्हें सीमित किया जा सकता है। व्यक्ति जब भावुकता के क्षणों में अपनी प्रेमिका के साथ प्रेम का

आदान-प्रदान करना चाहता है, तो वह समय दो घंटे से अधिक का नहीं हो सकता, जहाँ आकर यह प्रेम अन्य प्रेम से भिन्न हो जाता है। उपन्यासकार अपने उपन्यास की धरती का निर्माण जिन तत्वों से करता है, उनमें सर्वाधिक योग प्रेम और उसकी विभिन्न अवस्थाओं का हुआ करता है।

उपन्यासों की भूमि अथवा धरती तथा मृण्मयी धरती में क्या अन्तर है, इस सम्बन्ध में किसी सामान्य सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं किया जा सकता क्योंकि दोनों की रूपरेखा में कोई वैज्ञानिक समानता है। उपन्यास के व्यक्ति स्वयं बोल नहीं सकते जबकि मृण्मयी धरती का व्यक्ति बोलता है। उपन्यासों के व्यक्ति मनुष्यों की भांति नहीं, बल्कि पार्सल की भांति संसार में आते हैं। जब एक शिशु उपन्यास में प्रकट होता है, तो वह उपन्यासकार द्वारा भेजा हुआ ही जाता है और पार्सल की भाँति पाठकों को मिल जाता है। कोई श्रेष्ठ पात्र उसे उठाकर पाठकों के सम्मुख रख देता है। और यदि उसमें उपन्यास की कथा को गति देने की शक्ति अथवा तेज नहीं है तो वह शीत संग्रहालय में रखी जाने वाली वस्तुओं की भाँति उसी प्रकार वहीं पड़ा रहता है। उपन्यासकार ऐसे प्रसंगों से इसलिये भी बचना चाहते हैं कि बालकों की मनोवृत्ति का अध्ययन करना बड़ा कठिन है।

सर्व प्रथम जब उपन्यासकार अपने चरित्रों की रूपरेखा निश्चित करने लगता है और उनका निर्माण करने लग जाता है, तो उसके मस्तिष्क में अन्य पक्षों की अपेक्षा प्रेम पक्ष अधिक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लेता है। वह अज्ञात भाव से ही अपने पात्रों को प्रेमोन्मुख एवं भावुक दिखाता चलता है। पात्रों की स्थायी भावुकता प्रत्येक व्यक्ति के लिये यहाँ तक कि उपन्यासकार के लिए भी स्थायी महत्व की वस्तु है। जिस प्रकार मृत्यु की चर्चा कर देना लेखक के लिये सरल है, उसी प्रकार प्रेम की भी क्योंकि उसके माध्यम से भी कृति निर्बाध रूप में समाप्त हो जाती है और इससे लेखक अपनी कृति को स्थायित्व प्रदान करने में भी सफल होता है। इसका एक मात्र कारण यही है कि मृत्यु की भांति प्रेम भी निश्चित और स्थायी है। यही कारण है कि प्रायः उपन्यासकार अपनी रचनाओं का अन्त विवाह में ही करते हैं[1] और पाठकों को

1—All history, all our experince teaches us that no human relationship is constant, it is as unstable as the living beings who compose it and they must balance like jugglers if it is to remain, if it is constant, it is no longer a human relationship but a social habit, the emphasis in it has passed from love to marriage, (Aspects of the novel by E. M. Forster)

भी किसी प्रकार की आपत्ति इसलिये नहीं होती कि ऐसा करके वह उन्हीं (प्रेमियों) के स्वप्नों को साकार करता है। प्रेमचन्द युगीन उपन्यासो में प्रायः इसी प्रकार के अन्त देखे जाते हैं। इधर प्रेम का मूल्यांकन कुछ और ढंग से आरम्भ हो गया जिससे लोग उसे विवाह से बिल्कुल भिन्न वस्तु मानने लगे हैं। प्रेमचन्द के मालती और मेहता प्रसंग पर भी इसी की छाप है। आजकल वैवाहिक जीवन की उपेक्षा करके स्वच्छन्द प्रेम का समर्थन किया जा रहा है जिसकी ओर आधुनिक उपन्यासकार अधिक आकर्षित जान पड़ते हैं।

समाज के प्रत्येक व्यक्ति को समझाना किसी भी व्यक्ति के लिये अत्यन्त कठिन कार्य है। यदि कोई समझाने का प्रयत्न भी करे तो वह केवल सामान्य और मोटी-मोटी बातो से ही उन्हें अवगत करा सकता है। उपन्यासकार इस कला में आगे होता है क्योंकि उपन्यासो के माध्यम से हम व्यक्ति को पूर्णतः समझ सकते हैं। पढ़कर तो हमें आनन्द मिलता ही है, उपन्यासो के द्वारा हम उन छिपे रहस्यो तक भी पहुँच जाते हैं जिनकी जानकारी सामाजिक व्यक्तियो को माध्यम से कदापि सम्भव नहीं है। इस दिशा में उपन्यास इतिहास से भी अधिक यथार्थ चित्रो को उपस्थित कर पाता है क्योंकि वह प्रमाणो को आधार न मानकर उन अनुभवो को आधार मानता है जिनका अनुभव हम सभी करते हैं। प्रमाणो से भी परे की वस्तुएं उपन्यास के विषय हैं, जिसके सम्बन्ध में हम यह कह सकते हैं कि उपन्यासकार असलियत तक नहीं पहुँच पाया, फिर भी उसने प्रयत्न तो किया। उपन्यासकार पात्रों को शिशु के रूप में रख सकता है और उनके आस-पास ऐसी परिस्थितियो का निर्माण कर सकता कि जिनमें उनका सोना और खाना भी दूभर हो जाय। उन्हें प्रेम करते दिखला सकता है और उनके सम्बन्ध में ऐसी सूचनायें दे सकता है कि जिससे प्रकट होगा कि वह उनके सम्बन्ध में सब कुछ जानता है उसने उनका निर्माण किया है जिससे उससे उनका कुछ छिपा नहीं है। इस प्रकार चरित्रो का प्रत्यक्ष जीवन भी उपन्यासकार के सम्मुख वर्तमान रहता है जबकि सामाजिक व्यक्तियो का अप्रत्यक्ष जीवन अगोचर है। मानव जीवन के अप्रत्यक्ष जीवन का सम्बन्ध प्रेम-तत्व से अधिक है जिसकी सफल अभिव्यक्ति उपन्यासो द्वारा हुई है।

चरित्र-निर्माण

जिन पात्रो अथवा चरित्रो के माध्यम से उपन्यासकार मानव जीवन के विविध पक्षो का चित्रण प्रस्तुत करता है, उनके निर्माण की भी एक विशेष विधि है, जिसके सम्पादन में उपन्यासकार को अनेक कठिनाइयो का सामना करना पड़ता है। उपन्यासकार के सम्मुख पहचानो के रूप में जो सबसे पहली वस्तु आती है, वह किसी व्यक्ति अथवा व्यक्ति-समूह की सूरत है जिन्हें वह गतिमान देखना चाहता है। जिन्हें देखकर वह विश्वस्त हो जाता है कि निश्चित ही ये उसके महत्वपूर्ण कार्य का सम्पादन करते

हुए चमत्कारपूर्ण अभिनय कर जायेंगे। ये व्यक्ति अथवा चरित्र उपन्यासकार के सम्मुख निश्चित, पूर्ण एवं स्पष्ट रूप में आकर खड़े हो जाते हैं, जिन्हें वह समझने का प्रयत्न करता है। वह उनके स्वभाव को भरसक जानने का प्रयत्न करता है। उपन्यासकार को निश्चय करना पड़ता है कि चरित्रों से सम्बन्धित वह कौन-सी जानकारी है, जिसको उसे प्रकट करना है। इस प्रकार अपनी जानकारी के आधार पर उपन्यासकार कृति के अन्त तक पात्रों की एक जीवनी या जीवनी-संग्रह प्रस्तुत कर देता है, जिसमें उनके समस्त कारनामों तथा कार्य-व्यापारों का लेखा-जोखा रहता है।

उपन्यासकार के लिये किसी भी चरित्र का निर्माण करना तब तक सम्भव नहीं है जब तक कि वह अपनी कल्पना के सम्मुख किसी जीवित व्यक्ति को लाकर खड़ा नहीं कर लेता। *बिना किसी एक निश्चित व्यक्ति को मस्तिष्क में लाये, यह कभी भी* सम्भव नहीं है कि चरित्रों में जीवन-प्रेरणादायिनी शक्ति का संचार किया जा सके। वह निश्चित व्यक्ति लेखक के आसपास का भी हो सकता है और लेखक स्वयं भी। कुछ उपन्यासकार जो अपनी रचना के आरम्भ में इस प्रकार का उल्लेख कर दिया करते हैं कि 'उपन्यास में आये सभी चरित्र कल्पित हैं', उनका यह कथन प्रायः असत्य ही हुआ करता है। उपन्यासकार साधारण लोगों को धोखे में डालने के लिये ही प्रायः ऐसा करते हैं, जिनमें प्रकाशकों की प्रेरणा प्रधानतः विद्यमान रहती है क्योंकि ऐसा लिख देने से अशिक्षित पुस्तक विक्रेता एवं साधारण पाठक सरलता पूर्वक उपन्यास को जीवनी तथा संस्मरण से अलग कर सकेंगे।

उपन्यास का चरित्र यदि पूर्णतः काल्पनिक है तो इसमें सन्देह नहीं कि उपन्यास-*कार ने उसे अन्य दूसरे चरित्रों से लिया होगा। उपरोक्त कथन का यह अर्थ कदापि* नहीं लेना चाहिये कि जिस किसी व्यक्ति अथवा पात्र को सामने रखकर उपन्यासकार चरित्र-निर्माण का कार्य करता है, उस व्यक्ति अथवा पात्र को तद्वत अपनी कृति में उतार लेता है, जैसा कि वे अपने वास्तविक जीवन में है। कला और जीवन दोनों दो वस्तुयें हैं। जीवन निरन्तर गतिशील रहता है जिससे उसके अस्तित्व में कहीं भी व्यवधान नहीं उपस्थित होता, जबकि चरित्रों की गतिशीलता में व्यवधान भी आता रहता है क्योंकि उनका अस्तित्व सदैव वर्तमान नहीं रहता। कार्य व्यापारों में लिपटे चरित्र जब दृश्यों के माध्यम से प्रस्तुत किये जाते हैं तभी उनका अस्तित्व बन पाता है। काल्पनिक चरित्रों को जबतक कोई विशिष्ट आकर्षक कार्य नहीं रहता तबतक उनके दर्शन नहीं होते जब कि मनुष्य जीवन-भर महत्वपूर्ण कार्य के अभाव में जीवित रूप में हमारे सामने वर्तमान रहता है।

वास्तविक व्यक्तियों के सभी गुणों के दर्शन हमें औपन्यासिक चरित्रों में मिल जाते हैं, पर उन्हें वास्तविक व्यक्ति की संज्ञा नहीं दी जा सकती। वे जीवन में गतिशील नहीं

हो सकते और उन्हें हम उपन्यास में ही गतिशील देख सकते हैं। एक सीमा तक हो,यह प्रश्न उपन्यासकार के सम्मुख रखा जा सकता है कि जब उसने अपने चरित्रों का निर्माण जीवित व्यक्ति के आधार पर ही किया है तो वास्तविकता से उसकी कल्पना का क्या सम्बन्ध है। यह सत्य है कि उपन्यासकार ने अपनी कल्पना का आधार एक निश्चित जीवित व्यक्ति को बनाया है, पर शायद ही यह कभी उसे तद्वत अपनी कृति में उतार पाता हो। वह जितनी बार उस व्यक्ति को देखेगा उसके देखने मे उतनी बार कुछ न कुछ अन्तर पडता जायगा क्योंकि मनुष्य का जीवन निरन्तर गतिमान रहता है, जब कि उपन्यासकार के चरित्र स्थिर होते हैं। एक ही व्यक्ति को दो उपन्यासकार नितान्त भिन्न रूप में चित्रित कर सकते हैं।[1]

चरित्र निर्माण का प्रधान स्रोत उपन्यासकार का अपना ही जीवन है। उपन्यासकार के व्यक्तित्व की छाया कही न कही उपन्यास में अवश्य अपनी झलक मार जाती है।[2] इससे यह नही समझना चाहिये कि उपन्यासकार सर्वत्र अपना ही चित्रण करता है, बल्कि उसका दृष्टिकोण अत्यन्त व्यापक होता है। उपन्यासों में न तो एक ही प्रकार के पात्र होते हैं और न तो एक ही प्रकार की घटनाओं का उसमें वर्णन किया जाता है, जिससे इस बिन्दु पर आकर उपन्यासकार को अपने में अनेक स्वाभाविक और अस्वाभाविक परिवर्तन लाने पड़ते हैं क्योंकि जिस किसी एक व्यक्ति को वह केन्द्र मानकर चलता है, केवल उससे सम्बन्धित सूचनाओं से ही उपन्यासकार का काम नही चल सकता। यह दूसरी बात है कि उपन्यासकार दूसरे व्यक्तियों के सम्बन्ध में जानकारी अपने ही ज्ञान के आधार पर प्राप्त करता है।

उपन्यासकार किसी भी चरित्र के लिये जब सामग्री किसी व्यक्ति के जीवन से एकत्र करता है तो उसके सम्बन्ध में 'हेनरी जेम्स' का कथन है कि वह चित्र उतारने के पूर्व

1—The writer living for the time in his characters, diverts himself of those parts of his own nature which are irrelevent, and develops the relevant parts of his nature to more than their normal size.......his more successful characters or portraits of potential Selves (A Treatise on the Novel by Robert Liddel. P. 103).

2—The novelist may have mentally to change his age, sex, social position and other accidents and also to develop to the full every suggestion of every vice or virtue he may possess. (A Treatise on the Novel by Robert Liddel. P. 103.)

अपने मस्तिष्क की गहराइयों में जाकर पूर्ण चिंतन कर लेता है। प्रथम अपने को पूर्णतः पहचानना उपन्यासकार का अपना प्रमुख सिद्धान्त होना चाहिये। उपन्यासकार के सम्मुख रचना का विस्तृत क्षेत्र रहता है जिससे चरित्र निर्माता के रूप में उसके लिये यह अत्यन्त आवश्यक होता है कि वह अपने में विभिन्न प्रकार की रचनात्मक प्रतिभा की समन्वित शक्ति अर्जित करे। उपन्यासकार के मस्तिष्क और चरित्रों में आने वाले मोड़ों में जिनमें उसका मस्तिष्क ही सक्रिय रहता है, लगातार संघर्ष चलता रहता है। उपन्यासकार का मस्तिष्क निरन्तर प्रयत्नशील रहता है कि वह चरित्रों में आनेवाले स्वाभाविक परिवर्तनों को अपनी रुचि के अनुसार ही उपस्थित करे। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि उपन्यासकार जीवन के मोड़ों की ही झाँकी चरित्रों में देखने का प्रयत्न करते हैं क्योंकि ऐसा करने से उन्हें एक प्रकार की शांति मिलती है और अपनी कृति के प्रति उनके मन में विश्वास उत्पन्न होता है। अगर लेखक का यह दावा है कि उसने अपने व्यक्तित्व को अलग रखकर ही अपने चरित्रों का निर्माण किया है, तो उसके इस कथन का केवल इतना ही अर्थ समझना चाहिये कि वह चरित्रों के स्वाभाविक स्वतंत्र विकास का भी समर्थक है। उदाहरण स्वरूप यदि लेखक एक ईर्ष्यालु पात्र का निर्माण करना चाहता है, तो निश्चित ही वह उसके निर्माण में अपनी हृदयगत ईर्ष्या का सहारा नहीं लेगा, बल्कि वह चरित्र उसकी छाया मात्र ही हो सकता है, जिसमें लेखक थोड़ा संस्कार-परिष्कार कर लेता है क्योंकि जिससे उसके माध्यम से उपन्यासकार की ईर्ष्या न व्यक्त हो और ईर्ष्यालु चरित्र तक ही वह सीमित रह जाय।

फ्लावेयर ने स्वीकार किया है कि वह अपनी कृति में अपने व्यक्तित्व को कभी भी नहीं लाना चाहता, फिर भी वह पर्याप्त मात्रा में आ गया है। उसका दावा है कि उसने अनेक कोमल एवं मार्मिक स्थलों की रचना प्रेम के अभाव में तथा उत्तेजक एवं जोशीले प्रसंगों की सृष्टि अनुत्तेजक क्षणों में की है। स्मृति और कल्पना के संयोग से ही[1] वह श्रेष्ठ रचना करने में सफल हो सका है, उसका ऐसा विश्वास है। अनुभूतिजन्य ज्ञान की ही सफल अभिव्यक्ति चरित्रों के माध्यम से सम्भव हो पाती है। जिस वस्तु का कभी अनुभव नहीं हुआ, उसकी सफल अभिव्यक्ति अत्यन्त कठिन है। फ्लावेयर (Flaubert) ने अपने प्रसिद्ध उपन्यास 'मदामबावरी' (Madame Bovary)

1—I have always forbidden myself to put any thing of myself in to my work, wrote Flaubert······I have written most tender pages without love and boiling pages with no fire in my veins. I have imagined, remembered combined. (A Treatise on the Novel, by Robert Liddell P. 104).

के सम्बन्ध में जो उल्लेख किया है उससे उपरोक्त कथन की पुष्टि हो जाती है। अपने मानसिक प्रयत्नों द्वारा ही उपन्यासकार को अपने को चरित्रों में डालना चाहिये, पर उन्हें अपने व्यक्तित्व की ओर खींचना नहीं चाहिये। इसका अर्थ यह हुआ कि उपन्यासकार अपने व्यक्तित्व को वहीं तक चरित्रों में डालने का प्रयत्न कर सकता है, जहाँ तक कि उनके स्वतन्त्र विकास में बाधा न पहुँचे क्योंकि चरित्रों का अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व भी होता है। 'फ्लाबेयर' (Flaubert) ने अपने एक मित्र को राय दी थी कि वह तटस्थ होकर स्वतन्त्र चरित्रों के निर्माण का प्रयत्न करे और देखे कि ज्योंही वह अपने चरित्रों के मुँह से बोलना बन्द कर देता है, उसके पात्र कितनी प्रभावशालिनी भाषा में बोलने लग जाते हैं।[1] "ऐसी स्थिति में हमें लेखक के दृष्टिकोण पर ही निर्भर करना पड़ेगा। यदि लेखक 'फ्लाबेयर' के मत का है तो वह अपने व्यक्तित्व को अपने किसी न किसी पात्र में डाल देगा, जिसे उसने गतिशील रूप में अपने उपन्यास में प्रस्तुत किया है। ध्यान रहे व्यक्तित्व को डाल देना और बात है तथा पात्रों के मुँह से बोलना और बात। यदि लेखक एम० गीदे (M. Gide) के विचारों का पोषक है, तो उसे तटस्थ भाव से बैठकर अपने चरित्रों को देखना, सुनना अथवा निरीक्षण करना होगा जब कि वे गतिशील हों अथवा वार्तालाप करते हों। प्रायः उपन्यासकार अपने चरित्रों में उपरोक्त अपने दोनों अनुभवों को भ्रमवश समन्वित कर देते हैं। वे उसी प्रकार ऐसा करते हैं, जैसे कि हम कभी-कभी अपनी स्वप्निल अवस्था में किसी नाटक के अभिनेता भी बन जाते हैं और उसके अभिनय का दर्शक के रूप में आनन्द भी लेते रहते हैं।" उपन्यासकार का जीवन उसके कृतित्व से कम महत्व का होता है।

1—"The reason I go so s'owly is, that nothing in this book is drawn from mysell, never can my personality be less useful to me······ Imagine I must all the time enter into skin that are antipathetic to me, For six months I have been making platonic love and at the moment I am going in to catholic ecstasies at the sound of church bells and I want to go to confession" And it was indeed Flaubert himself who was entering into these skins so antipathetic to him so much so that he could exclaim, 'I am Madame Bovary !' So much so that he suffered the physical symptoms of arsenical poisoning when he was waiting about her suicide' (A Treatise on the Novel by Robert Liddell, P. 104)

२—ऐतिहासिक उपन्यास की सीमा और बाणभट्ट की आत्मकथा, त्रिभुवनसिंह प्र० सं०, पृ० २०।

उपन्यासकार अपने चरित्रों का निर्माण अपने व्यक्तित्व से बहुत अच्छा और बहुत बुरा कर सकता है, पर उसकी भी एक सीमा होती है। वह चरित्रों को स्वयं से बहुत अधिक विनोदी (witty) और प्रतिभासम्पन्न नहीं बना सकता।

चरित्रों के प्रकार और अन्य प्रसंगों से उनका सम्बन्ध—

दैनिक जीवन में आनेवाले व्यक्तियों को क्या हम पूर्णतः समझते हैं ? यदि हम उन्हें पूर्णतः नहीं समझते तो उपन्यास में आए हुए व्यक्तियों को कैसे समझ लेते हैं ? इस प्रश्न को उठाते ही हमारा क्षेत्र अत्यन्त बौद्धिक हो जाता है। अतः हमें उपन्यास के अन्य अंगों को दृष्टि में रखते हुए उनके साथ चरित्रों का अध्ययन करके समाधान तक पहुँचना होगा। अन्य अंगों में यहाँ हमारा तात्पर्य चरित्र और कथानक, चरित्र और नैतिकता, चरित्र तथा उनके अन्य सहयोगी पात्र और वातावरण आदि से है। नाटक के पात्रों की अपेक्षा उपन्यास के पात्रों अथवा चरित्रों का निर्माण-कार्य अधिक दुरूह होता है क्योंकि उनके निर्माण में उपन्यासकार के सम्मुख अनेक बाधायें रहती हैं। अनेक प्रकार के स्वभाव वाले चरित्रों का निर्माण उपन्यासकार को एक ही साथ करना पड़ता है और साथ ही साथ उनके निर्माण में उपयोगिता लाने के लिए उसे एक विशिष्ट दृष्टिकोण का निर्वाह भी करना रहता है।

सामान्यतः उपन्यासकार के चरित्रों की सरल (Flat) और गूढ़ (Round) दो श्रेणियाँ देखने को मिलती हैं। सरल अथवा 'फ्लैट' चरित्रों को अंग्रेजी साहित्य की सत्रहवीं शताब्दी में 'ह्यूमरस' (Humors) के नाम से पुकारते थे और कभी-कभी उन्हें 'टाइप्स' (Types) तथा 'कैरिकेचर (Caricature) भी कहते थे। ऐसे चरित्र-निर्माण के पीछे एक निश्चित आदर्श अथवा गुण का प्राधान्य होता था। इसके अतिरिक्त जब उनमें एक से अधिक गुणों का प्रवेश आरम्भ हो जाता था, तो वहीं उनमें मोड़ उपस्थित होने लग जाते थे। सरल (Flat) चरित्रों की यही सबसे बड़ी विशेषता है कि वे जहाँ कहीं भी हों उन्हें पहचानने में विलम्ब नहीं लगता। पाठक की भावुक आँख तत्काल उन्हें ताड़ सकती हैं। उन्हें परखने अथवा उनके नामकरण के लिये विशिष्ट आँखों की आवश्यकता नहीं पड़ती और साधारण से साधारण पाठक भी उनसे पूर्व परिचितों से जान पड़ते हैं। ऐसे पात्रों को सफलतापूर्वक समझने के कारण पाठक उन्हें स्मरण भी रखता है, जिससे उनका प्रभाव भी स्थायी होता है, क्योंकि आगे चल कर न तो उनमें किसी प्रकार का परिवर्तन सम्भव है और न तो परिस्थितियाँ उन्हें बदल ही पाती हैं। वे परिस्थितियों से होकर ही आगे बढ़ते तो अवश्य है, पर उससे उनमें साहस का ही सचार होता है और वे उनकी विशेषताओं को भी उभाड़ कर सामने रख देती हैं, जिससे उनका व्यक्तित्व इतना प्रभावपूर्ण बन जाता है कि वे कृतियाँ नष्ट हो जा सकती हैं, जिन्होंने उनका निर्माण किया है, पर

पाठकों के मस्तिष्क में ये सदा के लिये अमर हो जाते हैं। प्रेमचन्द कृत 'रंगभूमि' का 'सूरदास' इसी प्रकार का पात्र है जिसे पाठक कभी भी नहीं भूल सकता।

गूढ़ (Round) चरित्रों की अपेक्षा सरल (Flat) चरित्रों का निर्माण करना सरल होता है और ऐसे गूढ़ (Round) चरित्र का निर्माणकार्य तो और भी कठिन होता है जो कि 'कामिक' (Comic) हों। गम्भीर तथा कारुणिक सरल (Flat) चरित्र पाठकों के मन में एक प्रकार की उबास पैदा कर देते हैं क्योंकि बार-बार वे पाठकों के सम्मुख प्रतिशोध लेने अथवा यह कहने के लिए आते हैं कि मेरे रक्त का प्रत्येक बूँद मानवता की रक्षा के लिये है, या और भी जो कुछ उनके सिद्धान्त हों जिनको सुनते-सुनते पाठक का दिल ऊबने-डूबने लगता है। इसके विपरीत गूढ़ (Round) चरित्रों को पहचानना ही बड़ा कठिन हो जाता है, जिससे पग-पग पर उनकी गतिविधियों को जानने की उत्सुकता बार-बार बनी रहती है। किस परिस्थिति में वे क्या कर बैठेंगे तथा वे कब किस प्रकार बदल जायेंगे, यह कोई तब तक नहीं बता सकता, जब तक कि वे अपने कार्यों से उसे स्वयं स्पष्ट न कर दें। ऐसे चरित्रों का अन्तर्मन अधिक जागरूक होता है, जो उनके सभी बाह्य कार्यों की रूप-रेखा प्रस्तुत करता है। ये चरित्र मनोवैज्ञानिक होते हैं। 'अज्ञेय' कृत 'शेखरः एक जीवनी' को हम गूढ़ (Round) चरित्र के रूप में स्वीकार कर सकते हैं।

दुख और सुख की अनुभूति मानव की कार्यों को गति प्रदान करती है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि कोई भी दुःख-सुख कार्यों को गति प्रदान करते हैं, बल्कि तीव्र अनुभूतियाँ ही गति प्रदान करने में समर्थ होती हैं। प्रसन्नता और दुःख मनुष्य के उस गुप्त जीवन में वर्तमान रहते हैं जिससे वह समाज से अलग होकर जीता है। इसी जीवन को उपन्यासकार कल्पना के सहारे अतिरंजनापूर्वक प्रस्तुत करता है। गुप्त जीवन से हमारा तात्पर्य मनुष्य के उस जीवन से है जिससे लक्षण मनुष्य के बाह्य जीवन में दिखाई नही पड़ते। यह ऐसा जीवन होता है कि जो कभी-कभी संयोग से ही अथवा दुःख के क्षणों में प्रकट हो जाता है, हत्या के रूप में। प्रकट हो जाने पर यह जीवन गुप्त न रहकर कार्यरूप में परिणत हो जाता है। नाटक के चरित्रो की सभी इच्छायें तथा उनके सभी सुख-दुःख निश्चित ही कार्य का रूप धारण करते हैं और उन्हीं के कारण ही उनका जीवन गतिमान होता है। नाटक के चरित्रों की इच्छायें यदि कार्य रूप में न परिणत हो, तो उनका अस्तित्व ही समाप्त हो जाय और वे दर्शकों अथवा पाठकों के सम्मुख कदापि न आ पायें। पर उपन्यासों के चरित्र नाटक के चारित्रो से भिन्न होते हैं। उपन्यासकार अपने चरित्रों के सम्बन्ध में स्वयं चर्चा करता है और अन्य पात्रों अथवा चरित्रों द्वारा भी परस्पर उनकी चर्चा करवाता है तथा उन्हें इस प्रकार से रखता है कि हम उन्हें परस्पर वार्तालाप करते सुनकर, उनके

सम्बन्ध में बहुत कुछ जान सकें। लेखक व्यक्तिगत रूप से भी चरित्रों के जीवन में प्रवेश करता है और वह यहाँ तक भी पहुँचने का प्रयत्न करता है जिसे अवचेतन मन कहते हैं। कोई भी व्यक्ति अपने सम्बन्ध में सच्ची-सच्ची बातों को पूर्णतः प्रकट नहीं करना चाहता और यहाँ तक कि वह स्वयं अकेले में बैठकर भी अपनी चर्चा करने में हिचकिचाता है। अपने अन्तर्मन में सुख अथवा दुःख वह जो कुछ भी अनुभव करता है, उनके कारणों तक भी वह पहुँचता है, पर उनकी वास्तविक व्याख्या नहीं करना चाहता क्योंकि उसे भय बना रहता है कि वास्तविकता के प्रकट हो जाने पर सम्प्रति सामाजिक जीवन की सारी विशेषताएँ समाप्त हो जायेंगी। यही उपन्यासकार का सहयोग पाकर उसके पात्र जीवन की सच्ची व्याख्या प्रस्तुत कर देते हैं। चरित्रों में बैठकर उपन्यासकार ही बोलता है पर उसे इसका भान नहीं रहता कि वह अपनी बात कह रहा है। यद्यपि चरित्रों के मुँह से वह अपनी ही बात कहता है। इस प्रकार उपन्यासकार का अधिकार मानव के बाह्य जीवन पर ही नहीं, अन्तर्जीवन पर भी हो जाता है। इसके लिये उपन्यासकार को श्रेय देना ही पड़ेगा। कुछ लोग शंका कर सकते हैं कि कल्पित चरित्रों के माध्यम से जब उपन्यासकार अन्तर्मन की बात कहता है, तो उसे कहने का वह कहाँ तक अधिकारी है अथवा उसके इस कथन में सत्य का अंश कितना स्वीकार किया जा सकता है। जो वह सत्य का दावा करता है, उसका मूलाधार क्या है? उपन्यासकार का दृष्टिकोण बराबर बदलता रहता है क्योंकि वह एक पात्र की ही नहीं अनेक पात्रों की बात कहता है। इस प्रकार उपन्यासकार की सच्चाई को लेकर अनेक ऐसे वैधानिक प्रश्न उठाये जा सकते हैं जो न्यायालयों में पूछे जाने योग्य हैं। प्रश्न तो यहाँ केवल इतना ही है कि उपन्यासकार के दृष्टिकोण तथा चरित्रों की विशेषताएँ पाठकों को प्रभावित करती है अथवा नहीं। जो कुछ उपन्यासकार चरित्रों के माध्यम से कहना चाहता है, वे सभी बातें तर्कसंगत जान पड़ती हैं या नहीं और यदि वे पाठकों को प्रभावित करती हैं तथा तर्कसंगत जान पड़ती हैं तो उनमें सन्देह करने का कोई कारण ही नहीं है। मानव के विस्तृत स्वभाव को दृष्टिपथ में रखते हुए एक भ्रमपूर्ण वातावरण का उत्पन्न हो जाना उपन्यास के पाठकों में अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता और उसका यह सोचने लग जाना कि चरित्रों की वास्तविकता तथा कथावस्तु का सफल-निर्माण दोनों एक साथ उपन्यासकार द्वारा कैसे सम्भव हो पाता है। उपन्यासकार कलाकार की श्रेणी में आता है. इसे कभी भी नहीं भूलना चाहिये। वह अपनी कलात्मकता के द्वारा ही कथावस्तु और चरित्रों की संगति बैठाने में सफल हो जाता है। वस्तु और चरित्र-निर्माण परस्पर पूरक कार्य हैं। चरित्रों के अभाव में न तो उपन्यास की कथा का निर्माण हो सकता है, न तो संवादों की योजना की जा सकती है, न तो किसी पूरक की समस्याओं को उठाया जा सकता है,

न तो कल्पना के लिए ही भूमि मिल सकती है, न तो कथावस्तु का ही गठन हो सकता है और न तो उपन्यास के उद्देश्य की ही सिद्धि हो सकती है। चरित्र उपन्यास के सभी तत्वों को अस्तित्व प्रदान करता है।

❀ कथा और कथा वस्तु (Plot)

कथा या 'कथानक' और कथावस्तु शब्द का प्रयोग विद्वानों द्वारा प्रायः एक दूसरे पर्याय अथवा समानार्थी शब्दों के रूप में ही जाया करता है और सामान्यतः ऊपरी दृष्टि से उनमें अन्तर का देखना कठिन ही जान पड़ता है, पर सूक्ष्म दृष्टि से यदि उन पर विचार किया जाय तो स्पष्टतः उनमें भेद दिखलाई पड़ने लगता है। कथानक और कथा-वस्तु दोनों ही शब्दों का सम्बन्ध किसी न किसी रूप में उपन्यास के उस महत्वपूर्ण अंग से है जिसे कहानी कहते हैं। कहानी से हमारा यहां तात्पर्य उस कहानी से नहीं है जो साहित्य का एक विशिष्ट स्वतन्त्र साहित्यिक रूप है, बल्कि उस कहानी से है जो उपन्यासों के माध्यम से कही जाती है। सभी विद्वानों को किसी न किसी रूप में इसपर सहमत होना ही पड़ता है कि कहानी अथवा कथातत्व उपन्यास का मूलाधार है। कहानी कहना उपन्यास का प्रधान गुण है, जिसके अभाव में उपन्यास का अस्तित्व ही समाप्त हो जायगा। यह उपन्यास की सर्वप्रमुख विशेषता है जो सभी प्रकार के उपन्यासों में किसी न किसी रूप में अनिवार्यतः पाई जाती है और कोई कभी भी नहीं चाहेगा कि उपन्यास अपनी इस विशेषता का परित्याग कर दे। इतना अवश्य स्वीकार किया जा सकता है कि उपन्यासों के माध्यम से कही जाने वाली कहानी पाठकों के स्तर के आधार पर विभिन्न रूपों में ही स्वीकार्य हो सकती है, फिर भी अनेकता में उसकी एकता असंदिग्ध है। उपन्यास के इस प्रमुख तत्व को हम कथा के रूप में स्वीकार कर सकते हैं, जो अत्यन्त लघु होती है और जिसे अनेक प्रसंगों के साथ जोड़ कर ही उपन्यासकार वृहत्तर रूप प्रदान करता है।

कथा और कथानक शब्दों से प्रायः एक ही प्रकार के अर्थ का बोध होता है, पर यदि हम चाहें तो क्रमशः उनका प्रयोग सामान्य और विशिष्ट अर्थों में कर सकते हैं। सभी प्रकार की कहानियों के लिये हम कथा शब्द का व्यवहार कर सकते हैं, पर जब कथानक शब्द का प्रयोग करते हैं तो हमें ऐसा लगता है कि उसमें कोई ऐसा प्रसंग अप्रत्यक्ष रूप में विद्यमान है जिसे या तो बतलाना है अथवा पाठक के मन में उसकी जानकारी प्राप्त करने की जिज्ञासा उत्पन्न हो गयी है। कथा के सम्बन्ध में इस प्रकार की जिज्ञासा का कोई कारण नहीं क्योंकि इसके अन्तर्गत सभी प्रकार के कथानक आ जाते हैं। कथायें ऐतिहासिक, पौराणिक तथा सामाजिक आदि अनेक प्रकार की होती

❀ लेखक की ही कृति ऐतिहासिक उपन्यास की सीमा और बाणभट्ट की आत्मकथा से।

हैं। इस प्रकार कथा की आधार-भूमि क्या है अथवा किस काल या विषय की कहानी के लिये चुना गया है आदि का उत्तर ही कथानक शब्द में निहित वह प्रसंग है, जिसे पाठकों को बताना रहता है और उसे जानने की उसके मन में जिज्ञासा उत्पन्न होती रहती है। जब किसी कहानी अथवा कथा के माध्यम से किसी ऐतिहासिक अथवा पौराणिक विषय की चर्चा की जाती है तो हम कह सकते हैं कि इसका कथानक ऐतिहासिक अथवा पौराणिक है। इस प्रकार कथा और कथानक के बीच कोई स्थूल भेदक रेखा है, ऐसा कहना कठिन तो अवश्य है, पर दोनों शब्दों के माध्यम से जिन भावों की सृष्टि होती है उनमें स्पष्ट रूप से अन्तर दिखलाई पड जाता है। पर यदि हम चाहें तो कथा और कथानक शब्दों का प्रयोग कहानी के लिए कर सकते हैं।

कथावस्तु और कथा अथवा कहानी का अन्तर स्पष्ट है। कहानी, कथावस्तु अथवा प्लाट (Plot) का आधार अवश्य प्रस्तुत करती है पर कथावस्तु, कहानी की अपेक्षा एक उच्चस्तरीय साहित्यिक संगठन है। उपन्यासों के माध्यम से कही जाने वाली कहानी अन्य कहानियों की भाँति सीधे-सादे ढंग से लेखक द्वारा ही नहीं कह दी जाती बल्कि उपन्यासकार को उसकी समुचित व्यवस्था करनी पडती है, उसका क्रम-निर्धारण करना पड़ता है तथा आये हुये अन्य प्रसंगों के साथ उसकी संगति बैठानी पडती है। उपन्यास के माध्यम से कही जानेवाली कहानी का कहनेवाला कौन होगा, उपन्यास के स्वरूप के आधार पर लेखक को इसका भी निश्चय करना पड़ता है। उपन्यास की कहानी और सामान्य कहानी में जो अंतर दिखलाई पड़ता है उसका मुख्य कारण है कथावस्तु के रूप में उसका परिवर्तित हो जाना। अतः कथावस्तु और कथा अथवा कहानी को हम पर्यायवाची शब्दों के रूप में कभी भी नहीं स्वीकार कर सकते। कथावस्तु के द्वारा घटनाओं का ही सुनियोजित एवं सुव्यवस्थित विवरण प्रस्तुत किया जाता है, जिसमें कारण और उससे उत्पन्न परिणाम पर ही विशेष जोर दिया जाता है। कथा अथवा कहानी में समय का महत्व अधिक रहता है परन्तु कथावस्तु में कारणों पर विशेष बल देने के कारण समय का उतना महत्व नहीं रह जाता। कथावस्तु का यही एकमात्र रहस्य है जिसके कारण इसका पर्याप्त विस्तार संभव हो पाता है, समय में विस्तार करना कदापि संभव नहीं होता पर कारणों के विस्तार की कोई सीमा नहीं होती।

कहानी की सहायता से ही उपन्यासकार कथानक के आधार पर कथावस्तु का निर्माण करता है। उपन्यास लिखने के पूर्व लेखक कथानक का चुनाव करता है जिसमें कहानी बीजरूप में वर्तमान रहती है। तत्पश्चात् वह उसे एक ऐसे ढाँचे में ढालता है कि जिससे उसके उद्देश्य की सिद्धि हो सके। जिस प्रकार कुम्हार गीली मिट्टी के लोंदे को चाक पर रख कर सुन्दर एवं आकर्षक खिलौनों अथवा बर्तनों में बदल कर उसे

उपयोगी बना देता है अथवा जैसे लोहार् कच्चे लोहे को गलाकर उसे साँचे में ढालकर विभिन्न औजारों तथा सामान के रूप में बदलकर प्रस्तुत कर देता है उसी प्रकार उपन्यासकार कथानक को काट-छाँटकर तथा उसको सँवार-सुधारकर कथावस्तु का रूप प्रदान करता है। कुशल माली वाटिका में घूम-घूम कर क्यारियों की मेड़ें ठीक करता है, फुनगियाँ सीधी करता है, पौधे के पास लगी हुई घास को उखाड़ फेंकता है, गुलाब में कलमें लगाता है और जाते-जाते वाटिका को नया रूप तथा रंग दे देता है[1], उसी प्रकार उपन्यासकार अपने कथानक रूपी उद्यान की क्यारियाँ, पौधे, कलमें, काट-छाँट कर कथावस्तु का निर्माण करता है। कुछ लेखकों और पाठकों के मन में कथानक और कथावस्तु के अन्तर का अनुभव कठिन जान पड़ता है, वे कथानक और वस्तु को एक ही चीज समझने लगते हैं। यह धारणा भ्रममूलक है। कथानक, वस्तु का जन्मदाता है। यह उसकी नींव है। गमले रूपी कथानक का वस्तु प्रस्फुटित पुष्प है।[2] सौन्दर्य किसी भी श्रेष्ठ कला का अनिवार्य अंग है। उपन्यासों में सौन्दर्य वह तत्व है जो उपन्यासकार का लक्ष्य तो नहीं होता और होना भी नहीं चाहिये पर अपनी कृति के माध्यम से यदि लेखक वह सौन्दर्य नहीं ला पाता तो उसकी रचना असफल कही जा सकती है और यह सौन्दर्य उपन्यासकार कथावस्तु के सुन्दर गठन के द्वारा ही ला सकता है अथवा लाता है।

कथावस्तु (Plot)

उपन्यास की कथा अथवा कहानी की भांति कथावस्तु (Plot) भी घटनाओं का विवरण प्रस्तुत करता है, जिसमें कारण और उससे उत्पन्न परिणाम पर विशेष जोर दिया जाता है। सम्राट की मृत्यु हो गयी जिसके पश्चात् साम्राज्ञी की भी, यह तो हुई कहानी और उपन्यास का कथावस्तु (Plot)। कहानी का रूप कथावस्तु में पूर्णतः सुरक्षित रहता है पर कारण इतना प्रभावशाली हो जाता है कि वह समय को आच्छादित कर लेता है। उदाहरण स्वरूप सम्राट् के बाद साम्राज्ञी के मृत्यु की घटना घटती है, इसमें समय का महत्व है, पर दुःख के कारण मृत्यु होती है इसमें दुःख का महत्व समय से अधिक बढ़ जाता है। कारण पर विशेष बल देने के कारण ही कथावस्तु का पर्याप्त विस्तार सम्भव हो पाता है जो कहानी के माध्यम से सम्भव नहीं। समय में विस्तार नहीं लाया जा सकता पर कारणों के विस्तार की कोई सीमा ही नहीं। उपन्यासकार को उपन्यास का क्षेत्र जितनी स्वीकृति दे सकता है वह कारणों को उतनी ही विस्तृति प्रदान कर देता है। साम्राज्ञी की मृत्यु के प्रसंग को ही यदि ले लिया जाय और उसे

१—डा० ए० पी० खत्री—नाटक की परख, प्र० सं०, पृ० २७५।

२—वही, पृ० २७६।

कहानी मान लें तो हम यही जानने की इच्छा रखते हैं कि इसके बाद क्या हुआ ? और यदि इसे कथावस्तु मान लें तो हमारे मन में यह प्रश्न उठेगा कि ऐसा क्यों हुआ ? उपन्यास के दो प्रमुख तत्व कथा और कथावस्तु में यही प्रधान भेद है।[1]

उत्सुकता मनुष्य की निम्नतम शक्ति है, जिसे हम उसके दैनिक जीवन में देख सकते हैं। प्रायः लोगों की स्मृति अच्छी नहीं होती और वे दूषित हृदय वाले होते हैं। प्रथम परिचय में यदि कोई व्यक्ति यह पूँछने लग जाय कि आप कितने भाई-बहनें हैं तो उसे उदार चरित्र वाला व्यक्ति नहीं समझना चाहिये क्योंकि एक वर्ष बाद मिलने पर भी वह व्यक्ति सम्भवतः यही पूँछेगा। ऐसे व्यक्ति कभी भी अच्छे मित्र नहीं हो सकते। उत्सुकता हमें थोड़ी दूर तक ले जा सकती है। जो कहानी के माध्यम से अधिक सम्भव है पर उपन्यासों के माध्यम से उतना नहीं। यदि हम उपन्यास के कथानक को समझ जायें तो प्रतिभा और स्मृति शक्ति को जागरूक रख सकते हैं। उपन्यास में प्रतिभा का स्थान प्रथम होता है। एक प्रतिभावान पाठक शीघ्र ही उपन्यास के मर्म तक बुद्धि के माध्मम से पहुँच जाता है जबकि साधारण पाठक सदैव नये तथ्यों की ओर ही आँखें दौड़ाता रहता है। पीछे छूटे हुये तथ्यों को सामने रख कर तथा उनसे नितान्त भिन्न स्वतंत्र रूप में प्रतिभावान पाठक उपन्यास की कथावस्तु पर विचार करता है। पूर्ण संगठित उपन्यास में तथ्य प्रायः इस प्रकार एक दूसरे से गुँथे रहते हैं कि आदर्श पाठक उन्हें तब तक नहीं समझ पाता जब तक कि वह एकांत में बैठकर उपन्यास को समाप्त नहीं कर लेता। अच्छे 'प्लाट' (कथावस्तु) की यही विशेषता है जिसके सम्बन्ध में हजारी प्रसाद द्विवेदी कृत 'बाणभट्ट की आत्मकथा' यशपाल कृत 'दिव्या' तथा भगवतीचरण वर्मा कृत 'चित्रलेखा' जैसे श्रेष्ठ हिन्दी उपन्यासों का नाम लिया जा सकता है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' इसका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। इनके अतिरिक्त जासूसी उपन्यासों के कथानक ऐसे कथावस्तु के निर्माण में अधिक सफल होते देखे जाते हैं। उपन्यास में घटनायें प्रायः समय क्रम में व्यवधान उपस्थित होने पर ही घटती हैं क्योंकि समय के गर्भ में ही रहस्य छिपा रहता है, जो अवसर आने पर बड़ी निर्दयता पूर्वक प्रकट हो जाता है। साम्राज्ञी की मृत्यु क्यों हुई ? कभी-कभी तो इसके अर्द्ध स्पष्ट संकेत मिलकर ही रह जाते हैं और विशेष जानकारी के लिये उपन्यास के अगले पृष्ठों को ही

1—A plot can not be told to a gaping audience of cave man or to atyrannical sultan or to their modern descendanat the movie—public. They can only be kept a wake by 'and then—and they—they can only supply curiousity. But a plot demands intelliegence and memory also. (A spects of the Novel by, E. M. Forster).

उलटना पड़ता है। किसी भी कथानक के लिये रहस्य का होना अति आवश्यक है। प्रतिभापूर्ण विधान के अभाव में ऐसे रहस्यात्मक कथानक कभी-कभी उपहासास्पद भी बन जाया करते हैं। उत्सुकता और रहस्य में अन्तर है। उत्सुकता के लिये इतना ही पर्याप्त है कि इसके बाद—और रहस्य के लिये इतना ही आवश्यक नहीं है बल्कि वह मस्तिष्क की वस्तु बन जाता है और आगे की घटनाओं को पढ़ लेने के बाद भी मस्तिष्क उसी ओर लगा रहता है जिसकी जानकारी उसे पुस्तक समाप्त कर लेने पर ही हो पाती है।

स्मरण शक्ति और ज्ञान में परस्पर बहुत ही निकट का सम्बंध है क्योंकि जब तक किसी वस्तु का स्मरण नहीं रहेगा तब तक हमें उस वस्तु का ज्ञान हो नहीं हो सकता। अगर कुछ समय बीत जाने के कारण हमें यह भूल जाय कि सम्राट की मृत्यु हो गई, तो हम यह कभी नहीं जान सकते कि साम्राज्ञी की मृत्यु का क्या कारण है? कथानक का निर्माण करते समय उपन्यासकार पाठकों से इतनी आशा रखता है कि उनमें स्मरण रखने की शक्ति है। इसके अतिरिक्त पाठक भी उपन्यासकार से यह आशा रखता है कि वह अपनी रचना को अत्यन्त चुस्त एवं गठित रूप में ही समाप्त कर लेगा। कथानक के प्रत्येक शब्द की गतिविधि नपी-तुली होनी चाहिये और जहाँ तक हो सके कम से कम शब्द में अधिक से अधिक भावों को व्यक्त करनेवाली समास शैली का ही उपन्यासकार को प्रयोग करना चाहिए। यह शैलीगत दोष प्रेमचन्दजी के भारी-भरकम उपन्यासों में अधिक मात्रा में पाया जाता है और भगवतीचरण वर्मा कृत 'चित्रलेखा' को इसके लिये आदर्श रूप में उपस्थित कर सकते हैं। कथानक कितना ही पेचीला क्यों न हो उसका पूर्णतः चुस्त एवं गठित होना कथावस्तु की दृष्टि से अनिवार्य है। उपन्यासों में आनेवाले अनावश्यक विवरणों की पूर्णतः उपेक्षा करनी चाहिए। उपन्यास का कथानक दुरूह हो चाहे सरल हो; सीधा हो अथवा रहस्य पूर्ण हो, पर उसे ऐसा कभी भी नहीं होना चाहिए जो पाठकों को भ्रम में डालता हो। कथानक सीधा अथवा घुमा हुआ टेढ़ा हो, पर उसमें रहस्यात्मकता का होना अनिवार्य है जिसे पाठक की स्मरणशक्ति ही प्रकट करके सुबोध बनाती है और उससे उसकी दृष्टि नये संकेतों अथवा तथ्यों की ओर बराबर जाती है। यदि कथावस्तु का निर्माण कलात्मकता के साथ होगा तो कृति का अन्तिम निष्कर्ष प्रारम्भ की वर्णन शृंखलाओं एवं रहस्यमय संकेतों तक ही नहीं सीमित रहेगा बल्कि उसमें हमें नवीन चमत्कार के भी दर्शन होंगे।

उपन्यास, लेखन में सौंदर्य वह तत्व है जो उपन्यासकार का लक्ष्य तो नहीं होना और होना भी नहीं चाहिये, पर यदि वह अपनी कृति में सौंदर्य नहीं ला पाता तो उसकी रचना असफल प्रमाणित होगी। आगे चल कर हम इस सौंदर्य की चर्चा करेंगे। कथावस्तु के क्षेत्र में सौंदर्य से हमारा तात्पर्य केवल कृति की पूर्णता से ही है। उपन्यास-

कार की सृष्टि में चरित्र और कथानक का द्वन्द्व बराबर चलता रहता है जिसमें एक की पराजय पर ही दूसरे की श्रेष्ठता निर्भर करती है। कथावस्तु के निर्माण में कभी-कभी चरित्रों का गला घुट जाता है।[1] ऐसी स्थिति में समाधि तक पहुँचते पहुँचते प्रायः ऐसे उपन्यास मनगढ़न्त कहानी के रूप में बदल कर रह जाते हैं। उपन्यासों में ऐसी परम्परा का निर्माण होना चाहिये कि जहाँ कहीं उसकी कथा में उबाम आने लग जाय उपन्यासकार वहीं उस प्रसंग को समाप्त कर दें। जब वह कथानक में आये सूत्रों की व्यवस्था में लग जाता है तो उपन्यास के चरित्रों की मृत्यु हो जाती है और पाठक के ऊपर उपन्यास का जो अन्तिम प्रभाव पड़ता है वह निर्जीव चरित्रों के माध्यम से पड़ने के कारण महत्व हीन होता है। मनोवैज्ञानिक पद्धति पर लिखे गये उपन्यास इस प्रकार के होते हैं।

चरित्रों का आकस्मिक मिलन, जो दैनिक जीवन में भी देखने को मिल जाता है, कभी भी उपन्यास में चमत्कार नहीं पैदा कर पाता। केवल साधारण अवसरों पर चरित्रों का आकस्मिक रूप से मिल जाना चमत्कार उत्पन्न करने में सहायक सिद्ध होता है। उपन्यास का यह ऐसा विन्दु है जहाँ उपन्यासकार प्रायः असफल होते देखे जाते हैं क्योंकि ऐसे स्थलों पर पाठक तर्क बुद्धि से संचालित होने लग जाता है। उपन्यासों का अन्त प्रायः प्रेमी चरित्रों के विवाह और मृत्यु से ही हुआ करता है क्योंकि साधारण कोटि के उपन्यासकारों की प्रतिभा इससे आगे बढ़ ही नहीं पाती। वे विवाह और मृत्यु के माध्यम से ही चरित्र और कथानक में सम्बन्ध सूत्रों की स्थापना करते हैं। सामान्य पाठक भी प्रायः ऐसे अवसरों का स्वागत करने को प्रस्तुत रहता है। यह उपन्यासकारों का एक ऐसा अमोघ ब्रह्मास्त्र है कि जिसके माध्यम से साधारण उपन्यासकार हारी हुई बाजी जीत कर, अपने मंसूबों की मंजिल तक पहुँच जाते हैं। उपन्यासकारों और पाठकों की सम्भवतः यह आरम्भिक स्थिति थी क्योंकि अब दोनों उनमें बहुत आगे बढ़ आये हैं।

सामान्यतः लोग उपन्यासकार से यह पूछ बैठते हैं कि वह रचना करने के पूर्व प्रथम चरित्रों (Characters) की रूपरेखा निश्चित करता है अथवा कथावस्तु के निर्माण की योजना तैयार करता है। इस प्रश्न में कोई तत्व नहीं है क्योंकि थोड़ा भी चिन्तन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि चरित्र और कथावस्तु का भेद दिखावटी ही है। उपन्यास के ये दो इसे महत्वपूर्ण तत्व हैं जो एक दूसरे से ऐसे गुँथे हुए हैं कि उनको अलग

1—Some times a plot triumphs too completely the characters have to suspend their nature at every turn or else are so swept away the course of fate that our sense of their reality is weakend (Aspects of the Novel by E. M. Forster).

देख पाना अत्यन्त कठिन है। वस्तुतः वे अभिन्न हैं। हेनरीजेम्स (Henry James) के अनुसार चरित्र हमारे सामने किसी न किसी कार्य के प्रसंग में ही आते हैं और कार्य (action) ही कथावस्तु का आधार है।[1]

कल्पना

मनुष्य मात्र तथा उससे सम्बन्धित विभिन्न वस्तुओं के समूह ही आरम्भ में उपन्यासों के कथानक की मूल शक्ति थे, पर अब ये तत्व इतने पुराने पड़ गये हैं कि अब उन्हें ही एक मात्र शक्ति के रूप में नहीं स्वीकार किया जा सकता। देश, काल, जनसमूह, तर्क अथवा उससे उत्पन्न अन्य बातें और भाग्यचक्र आदि भी आधुनिक युग में उपन्यास की शक्ति का कार्य कर रहे हैं। इसके अतिरिक्त भी एक और महत्वपूर्ण शक्ति है जो न तो उपरोक्त शक्तियों की उपेक्षा करती है और न तो उन्हें अन्तमुक्त ही, बल्कि दोनो के स्पर्श सुख से ही वह विकसित होती है। जिस शक्ति से हमारा यहाँ तात्पर्य है वह उपर्युक्त तत्वों को प्रकाश रेखा की भाँति एक सिरे से दूसरे सिरे तक काट देती है, जो एक ओर तो उनसे अपना सम्बन्ध बनाये रखती है और दूसरी ओर शांतिपूर्वक इनकी समस्याओं को प्रकाशित अथवा प्रज्वलित भी करती रहती है और कभी-कभी उन पर निर्मम प्रहार भी कर बैठती है, जिससे समस्यायें इस प्रकार विलीन हो जाती हैं कि वे जैसे अस्तित्व में हो नहीं थी। इस प्रकाश-रेखा (Bar of light) को कल्पना और भविष्य वाणी दो नामों से पुकारा जाता है।

कथा-साहित्य के किसी तत्व की परिभाषा करते समय पाठकों के बीच उसकी लोकप्रियता का ध्यान रखना अति आवश्यक हो जाता है। कहानी में उत्सुकता लाने, मानवीय अनुभूतियों तथा पात्रों के चारित्रिक मूल्यों को प्रस्तुत करने, मार्मिक प्रसंगों और घटनाओं को स्मरण रखने में कल्पना का महान् योग रहता है। कल्पना उपन्यासकार की रचनात्मक प्रतिमा को आगे बढ़कर कार्य करने के लिए भूमि प्रस्तुत करती है। उपन्यासकार कल्पना के द्वारा ही ऐसे प्रसंगों तथा मार्मिक स्थलों एवं घटनाओं की सृष्टि करने में सफल हो पाता है जो उसकी कृति को कलात्मकपूर्णता प्रदान करने के लिये आवश्यक होती हैं। यह उपन्यास का वह महत्वपूर्ण तत्व है जो मानव जीवन की वास्तविक घटनाओं से परे उपन्यासकार द्वारा आरोपित होता है, जिसे हम उसकी

1—Henry James says : character in any sense in which wecan get at it is action and action is plot and any plot which hangs together even if it pretend to interest us only in the fashion of chinese huggle, plays up on our emotion our suspense by means of personal references. (A Treatise on the Novel, by Robert Liddell, P. 72)

अतिरिक्त व्यवस्था (Adjustment) कह सकते हैं। इसके सम्बन्ध में यह भी कहा जा सकता है कि कल्पना के माध्यम से जिन वस्तुओं की चर्चा की जाती है वे मनुष्य के जीवन में घट भी सकती हैं और भविष्यवक्ता तथा कल्पनाकार यह कह सकता है कि इनमें से बहुत सी ऐसी वस्तुएँ हैं जो व्यक्ति के जीवन में घट भी सकती हैं और नहीं भी घट सकती।

उपन्यासकार कल्पना को साधन के रूप में ही स्वीकार कर सकता है न कि साध्य के रूप में। जहाँ कहीं भी पाठक के मन में यह बात बैठ जायगी कि उपन्यास की रचना शुद्ध कल्पना के आधार पर हुई है, वह पुस्तक को आद्यन्त पढ़ता जायगा पर उसमें आई हुई बातों को वास्तविक रूप में स्वीकार करना उसके लिये अत्यन्त कठिन होगा क्योंकि उसके मन में यह धारणा बना रहता है कि पुस्तक कल्पना के आधार पर लिखी गई है। कल्पना-कल्पना के लिये नहीं बल्कि वास्तविकता को और भी सजीवता देने के लिये ही की जानी चाहिये। उपन्यासों में कल्पना के नाम पर देवता, भूत-प्रेत आदि का अधिक प्रवेश अवांछित है क्योंकि ऐसे चरित्रों अथवा उनसे सम्बन्धित घटनाओं की जब तुलना पाठक अपने जीवन में घटी घटनाओं से करता है तो उसे निराशा ही हाथ लगती है जिससे वह कृति के प्रति अनास्थावान हो जाता है। ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाने पर पाठक या तो उपन्यास का पढ़ना बंद कर देता है और यदि पढ़ता भी है तो अरुचिपूर्वक ही। इस प्रकार पाठक केवल तटस्थ भाव से उपन्यासकार की कल्पना-शक्ति को ही देखता रह जाता है और इसका विचार भी उसके मन से निकल जाता है कि उसके जीवन से भी उसका कुछ सम्बन्ध है। पाठकों का दृष्टिकोण उपर्युक्त नहीं कहा जा सकता।

हम सभी यह जानते हैं कि कलाकृतियों की अपनी अलग एक सत्ता होती है; उसका अपना अलग एक अस्तित्व होता है; उनका अपना अलग विधान है, जो दैनिक जीवन से नितांत भिन्न रहता है। कोई भी वस्तु, जो उपयुक्त हो, सत्य कही जा सकती है, जिसे समयानुसार हम कहीं देख सकते हैं। 'सत्य इस समाज-व्यवस्था में प्रच्छन्न होकर निवास कर रहा है। तुम उसे पहचानने में भूल न करना। इतिहास साक्षी है कि देखी सुनी बात को ज्यों का त्यों कह देना या मान लेना सत्य नहीं है। सत्य वह है जिससे लोक का आत्यन्तिक कल्याण होता है। ऊपर से वह जैसा भी झूठ क्यों न दिखाई देता हो, वही सत्य है[१]।' लोककल्याण ही प्रधान वस्तु है। वह जिससे सधता हो वही सत्य है। उपन्यासकार की कल्पना सामाजिक जीवन का यदि कोई भी अंचल सरस बना जाती है तो हम उसकी उपयोगिता को अस्वीकार नहीं कर सकते। काल्पनिक सृष्टि के सम्बन्ध में केवल

१—बाणभट्ट की आत्मकथा डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, प्र० स० पृ० १२८-२९

इतना ही देखना चाहिये कि यह वस्तु अथवा घटना कृति के अनुकूल है या नहीं। ऐसी स्थिति में उपन्यासों में दैवी शक्तियों तथा अप्सराओं आदि की अवतारणा पर आपत्ति नहीं उठाई जा सकती, यदि वे कृति में उपयुक्त ढंग से संगति पा जाती हैं।

एक दलाल को कभी-कभी उपन्यासों में इस प्रकार उपस्थित कर दिया जाता है कि वह देवदूत के समान दिखलाई पड़ने लग जाता है। किसी न किसी रूप में जब एक बार जाली घटना या वस्तु को उपन्यास में मान्यता प्राप्त हो जाती है तो जैसे उसके लिए जाली वन्धक-पत्र वैसे ही भूत-प्रेत अथवा पिशाच आदि क्योंकि सभी कल्पित या जाली हैं। इस तर्क में सत्य का बिल्कुल अंश नहीं है, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। उपन्यास साहित्य की आत्मा ही ऐसी होती है कि जब कभी उसमें कल्पनाशक्ति का प्रवेश हो जाता है तो उससे एक विशेष प्रभाव की सृष्टि होने लग जाती है जिसे पढ़कर कुछ पाठक तो रोमांचित हो जाते हैं और कुछ का तो गला भर आता है। उपन्यासकार ऐसे प्रसंगों की व्यवस्था अपनी कृति में यदि अलग से कर सके तो और अच्छा हो। इसकी व्यवस्था उसी प्रकार उपन्यासों में होनी चाहिये जिस प्रकार कि प्रदर्शनियों में अन्य मनोरंजक कार्यक्रमों की व्यवस्था रहती है और दर्शकों को उसके लिये भी पैसे देने होते हैं जब कि प्रवेश-शुल्क उन्होंने मुख्य द्वार पर ही दे दिये हैं। कुछ पाठक इस अतिरिक्त मनोरंजन को उसी प्रकार बड़ी प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण करते हैं जिस प्रकार कि कुछ दर्शक मनोरंजक कार्यक्रम देखने के लिए ही प्रदर्शनी कक्ष में जाते हैं। उपन्यास की कथावस्तु का आनन्द लेते रहने पर भी जो पाठक काल्पनिक मनोरंजनपूर्ण प्रसंगों का रस लेना जानते हैं उन्हीं की समझ में 'उपर्युक्त बात पूर्णतः आ सकती है। अन्य मनहूस पाठक इसे यह कह कर टाल सकता है कि काल्पनिक, हल्के-फुल्के प्रसंगों से कृति की गंभीरता समाप्त हो जाती है। ऐसे पाठक भी पूर्ण श्रद्धा के पात्र हैं क्योंकि वे साहित्य के केवल काल्पनिक मनमौजी प्रसंगों की ही (भद्दा समझकर) उपेक्षा कर रहे हैं और साहित्य को पसन्द करने की कृपा तो वे कर ही रहे हैं?

उपन्यासकार अपनी कृति के माध्यम से जो कुछ समाज के सम्मुख रखना चाहता है अथवा अपने सुझावों के द्वारा वह समाज से जिस किसी भी वस्तु की इच्छा रखता है उसकी पूर्ति कल्पना के अभाव में असम्भव है। इसमें सन्देह नहीं कि कल्पना के माध्यम से ही उपन्यासों में विशिष्ट आनन्द की व्यवस्था सम्भव हो पाती है। प्राचीन कहानियों में चमत्कार लाने तथा परोक्ष रूप से उपदेश आदि देने के लिए दैवी शक्तियों का अत्यधिक उपयोग किया गया है। पौराणिक कथायें तो ऐसे प्रसंगों से भरी पड़ी हैं, पर वे निरर्थक हैं ऐसा नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार के वर्णन यदि उपन्यास के कथानक के रूप की दृष्टि से आते हैं तो उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। अन्य

कृतियों की अपेक्षा लेखक के विचारों को जानने में काल्पनिक चित्र अधिक सहायक होते हैं क्योंकि उसमें लेखक निर्बन्ध हो कर अपने विचारों को कल्पना के सहारे पाठकों के सम्मुख रखता है। ऐसे विचारों में वैयक्तिकता का अंश अधिक रहता है और ये कल्पना चित्र जैसा कि मैंने पूर्व में ही निवेदन किया है मनोरंजनार्थ अतिरिक्त व्यवस्था हैं (Side show), जो प्रतिपाद्य विषय को (Main show) और भी रंगीन बना देते हैं अथवा उसकी मनहूसियत को कम कर देते हैं। इस दृष्टि से उपन्यास के कथानक को सामने रख कर उसके अनुरूप होने पर दैवी शक्तियों को एक सीमा तक स्वीकार किया जा सकता है। ई० यम० फार्स्टर (E. M. Forster) अपनी पुस्तक 'आसपेक्टस् आफ दी नावेल' (Aspects of the novel) में एक उदाहरण प्रस्तुत करके कल्पना तत्त्व के औचित्य का बड़ा ही सुन्दर ढंग से प्रतिपादन किया है जिसका उल्लेख कर देना अप्रासंगिक न होगा।

प्राचीन कहानियों में इच्छाशक्ति सम्पन्न अंगूठियों का वर्णन बराबर मिलता है जिसके माध्यम से प्राप्तकर्ता को या तो भयानक कष्ट ही भोगना पड़ता था अथवा उसका कोई परिणाम ही नहीं निकल पाता था। "अमेरिकी युवक फ्लैकर जो कि पेरिस में रंगाई का काम सीखने गया था वहाँ पर उसे जवान लड़की के रूप में एक चुड़ैल एक अंगूठी देती है देने के साथ ही साथ उस जवान लड़की ने फ्लैकर से यह कहा कि तुम विश्वास रखो, इस अँगूठी से जो कुछ माँगोगे तुम्हें तत्काल मिल जायगा। पर इस अंगूठी से एक ही बार और एक ही वस्तु माँगी जा सकती है, उसने यह भी फ्लैकर को बतला दिया। लड़की के कथन की सत्यता की परख करने तथा अँगूठी की शक्ति को जानने के लिए लड़के ने उसके चमत्कार को तत्काल जानना चाहा तो लड़की ने तत्काल उसको चमत्कार दिखला दिया। सामने की सड़क से धीरे-धीरे आती हुई जो मोटर फ्लैकर को दिखलायी पड़ी वह शीघ्र ही हवा में उलट कर नीचे उतरने लगी। एक भी उसका यात्री गिरा नहीं और भूमि पर आने पर वे उसी प्रकार बाहर देखते रहे जैसे कोई घटना हो नहीं घटी। मोटर ड्राइवर उसकी छत के सहारे खड़ा था जो आश्चर्य में डूबा जा रहा था पर शीघ्र ही उसने देखा कि उसकी मोटर धरती पर सुरक्षित है। उचित अवसर जानकर वह पुनः मोटर में पूर्ववत चलाने की मुद्रा में बैठ गया और मोटर अपनी स्वाभाविक गति से आगे बढ़ती हुई चली गई। मोटर कभी भी हवा में धीरे-धीरे नहीं चल सकती। जिसे देखकर उस अमेरिकी युवक ने अंगूठी की शक्ति पर विश्वास करके उसे अपने पास रख लिया।" यद्यपि इस घटना को सार्वभौम सत्य के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता पर विशिष्ट रूप में इसे स्वीकार करने पर किसी न किसी तथ्य की प्राप्ति अवश्य होगी।

"अंगूठी प्राप्त कर लेने के पश्चात् मान लीजिये युवक के मन में यह इच्छा उत्पन्न होती है कि वह इस मुद्रिका की शक्ति का उपयोग जंगल के सुन्दर जीवों को प्राप्त करने

मे करे, फिर सोचने लग जाता है कि इन जंगली जानवरो को वह रखेगा कहाँ ? फिर एक सुन्दर जवान लडकी के सम्बन्ध मे सोचने लग जाता है और उलझन मे पड जाता है कि उस लडकी का रूप अथवा चित्र कैसा हो ? फिर रुपये के बारे मे सोचने लग जाता है और निश्चय करता है कि रुपया ही मांगना ठीक है क्योंकि उसकी स्थिति एक भिखारी की सी ही है। इस निश्चय पर पहुँचते ही उसके मन में यह भाव उठने लग जाते हैं कि एक डालर माँगना ठीक होगा कि दो मिलियन डालर या दस और फिर उसकी पूर्ववत स्थिति आ जाती है, जिससे वह सोचने लग जाता है कि दीर्घ जीवन ही क्यो न माँग लूँ। पुन सोचने लग जाता है कि कितने वर्षों का जीवन माँगना ठीक रहेगा, चालीस, पचास या सौ वर्ष का। इस प्रकार वह घबडा सा जाता है और उसके सम्मुख सहसा एक समाधान उपस्थित हो जाता है कि वह सदैव एक अच्छा 'पेन्टर' बनना चाहता था जो वह इस अंगूठी के माध्यम से तत्काल बन सकता है। फिर उसके मन में वही भाव घर कर बैठता है कि वह कितना अच्छा पेन्टर बने ? अमुक की भांति, नहीं-नहीं वह अपने ढंग का निराला 'पेन्टर' बनेगा पर वह यह भी नही जानता कि निराले पन की विशिष्टता कौन सी होगी। अत उसकी इस इच्छा की पूर्ति भी असम्भव हो जाती है।

अन्त मे एक भयानक वृद्धा स्वप्न मे उसे कष्ट देने लग जाती है और उसे उस लडकी की याद दिलाती है, जिसने उसे अगूठी दी थी। वह युवक के विचारो से परिचित है, जिसकी इच्छा की न तो कोई सीमा है और न तो उसका कोई अन्त और कहती है कि ये मेरे बेटे। तुझे शाति माँगनी चाहिये। युवक को समझते देर नहीं लगती कि यह वृद्धा वही जादू गरनी जवान लडकी है, जो रूप बदल कर लोगो से सम्पर्क स्थापित करती रहती है। मानव जीवन मे शाति की सबसे अधिक आवश्यकता है, उपर्युक्त कल्पना का यही रहस्य है।

अठारहवी शताब्दी तक आते आते इस प्रकार की सभी जादू गरनियो ने आत्म-हत्यायें कर ली, अर्थात् ऐसे प्रसंग कथा साहित्य से बिल्कुल उठ से गये। शंकर और भस्मासुर की कथा भी कुछ इसी प्रकार की है, जिसमें उसे स्वय जल मरना पडा। विज्ञान की बढ़ती हुई शक्ति ने जीवन की मान्यताओ और उसके मूल्यो मे महान् परिवर्तन ला दिया है और यह युग 'न्यूटन' का युग है जिसमें दो और दो मिलकर चार ही होगे। स्थिर होते भौतिकवादी दृष्टिकोणों में उपरोक्त काल्पनिक प्रसंगो की महत्ता समाप्त होती जा रही है, इसमें सन्देह नहीं।

कालक्रम के आधार पर कल्पना का स्वरूप भी बदलता है। प्राचीनकाल के ऐतिहासिक लोग पहाड की ऊँची चोटियो पर बने एक किले की इच्छा रखते थे, जहाँ वे सुरक्षित रहकर अपने जीवन के सुखमय क्षणों को मृत्यु पर्यन्त भोगना चाहते थे। इस

प्रकार शान्ति की आशा में भटकना ही हाथ लगता है, जिसका उस रूप में मिलना असम्भव है। ऐसी कल्पना मे यथार्थता का अंश भी रहता है, जो कि पौराणिक रहस्यों के आधार पर लिखी जाती हैं। अतः जो सौंदर्य गम्भीर साहित्य के माध्यम से नही आ पाता, वह इस काल्पनिक साहित्य के माध्यम से आ जाता है। ऐसे चित्र विनोद पूर्ण होने के साथ-साथ आकर्षक, सुन्दर एवं दूर तक सोचने पर गम्भीर भी जान पड़ते हैं। मानव स्वभाव की व्याख्या के लिये ली गई उड़ान तीर को भांति सीधी और तेज नही होती वल्कि वह वायु मे विचरण करने वाले देवदूतों के पंखो पर बैठकर भ्रमण करती है। इस प्रकार पौराणिक आख्यानो के आधार पर लिखना भी बुरा नही है क्योकि कभी-कभी ऐसे कथानक तो उपन्यासकार के लिये अत्यंत सुविधानजक प्रतीत होते हैं।[1] उपन्यासकार कृति मे कलात्मक पूर्णता देने के लिये कल्पना का आंचल छोड़ ही नहीं सकता। वह चरित्र निर्माण, उनके अन्तः और बाह्य संघर्षों को चित्रित करते, कथावस्तु के निर्माण तथा वातावरण आदि सभी तत्वो के संगठन मे कल्पना की पग-पग पर सहायता लेता है।

भविष्यवाणी

भविष्यवाणी से हमारा तात्पर्य भविष्य में घटने वाली घटनाओ को पूर्व में ही घोषित कर देने की शक्ति से होता है, पर यहां पर हमारा तात्पर्य इससे भिन्न है। भविष्यवाणी से यहां पर हमारा तात्पर्य उस विशिष्ट मूल स्तर से है जिसकी अभिव्यक्ति का प्रयत्न साहित्य, संगीत तथा विभिन्न सामाजिक और धार्मिक सस्थाएँ अपने-अपने ढंग से किया करती हैं।[2] हमने ऊपर ही स्पष्ट कर दिया है कि उपन्यासों के विभिन्न

1— Parody or adaptation have enormous advantages to certain novelists, particularly to those who may have a great deal to say and abundant literary genius, but who do not see the world in terms of individul men and women who do not in other words take easily to creating characters. How are such men to start writing. (Aspects of the novel by E. M. Forster, P. 157) .

2—Prophecy in our sense is a tone of voice. It may inply any of the faith that have Haunted humanity—christianity, Buddhism, dualism satanism or the mere raising of human love and hatred to such a power that their normal receptacles no longer contain them but what particular view of the universe is recommended. (Aspects of the Novel, by E. M. Forster).

अंगो के लिए विभिन्न विशेषताओं से युक्त पाठको की आवश्यकता पडता है। भविष्य-वाणी सम्बन्धी उपन्यास की विशेषता विनयशील, विनोदी एवं रसिक पाठको की अपेक्षा रखती है।

किसी भी व्यक्ति के लिये विनयशील एवं नम्र का होना एक सीमा तक तो श्रेयस्कर है, पर उसके आधिक्य से जीवन के अनेक क्षेत्रो में उससे बडी भूलें हो सकती हैं और एक प्रकार से उसे अप्रगतिशील होने के लिए बाध्य होना पडता है। इस स्वभाव के पाठक प्रगतिशील बनने के मार्ग से विचलित हो जाने के कारण अपने मे एक ऐसे स्वभाव का विकास कर बैठते हैं जिसे छल, दम्भ तथा पाखंड की भी संज्ञा दी जा सकती है। पर उपन्यास के पाठको में विनम्रता का स्थान है क्योंकि इसके अभाव मे वे भविष्यवक्ता की बात ही सुनने को तैयार न होगे और उसके यश तथा वैभव को स्वीकार करने के स्थान पर वे उसका मजाक उडाने मे अधिक रस लेने लग जायँगे।

विनोदी वृत्ति (Sense of Humour) की अनिवार्यता उपन्यास के पाठकों पर लादना एक सीमा तक ही उचित होगा क्योकि यदि इसे एक निश्चित सिद्धान्त के रूप मे स्वीकार कर लिया जायगा तो निश्चित पाठकों को उपन्यास के पाठको की श्रेणी से निकाल देना पडेगा। शिक्षित पाठको का ही महत्व होता है क्योकि अशिक्षित पाठको की बहुत सी बातो पर इसलिए ध्यान भी नही दिया जाता कि वे उसके मर्म से अनभिज्ञ हैं। उदाहरण स्वरूप स्कूल के छोटे बच्चे 'बाइबिल' के 'प्राफेट' की दाढी को खूसट समझ कर यदि हँसे तो उसे हँसी का विषय तो नही ही स्वीकार किया जा सकता क्योकि प्रत्येक व्यक्ति इसका अनुमान लगा सकता है कि उनकी हँसी में न तो कोई निंदा की वृत्ति ही छिपी है और न तो उसका कोई आलोचनात्मक मूल्य ही है। इस प्रकार कथ्य के अतिरिक्त चरित्र, कथानक, घटना, संवाद तथा वर्णन वैचित्र्य का जो एक समन्वित प्रभाव पाठको के ऊपर उपन्यासो द्वारा पडता है, उसकी अनुभूति भविष्यवाणी के रूप मे सजग पाठक ही कर पाते हैं।

आदर्श और मूल स्वर (Pattern and Rhythem)

उपन्यास साहित्य का सौंदर्यादर्श और उसका मूलस्वर मुख्यतः कथावस्तु पर आधारित रहता है, जिसके उत्पन्न होने में उपन्यास के चरित्र तथा उसके अन्य तत्व भी समान रूप से सहयोग प्रदान करते हैं। यह उपन्यास साहित्य का एक ऐसा नवीन अंग है जिसके लिए कोई शब्द अभी ग्रहण नही किया जा सकता है। कलाओं का उत्तरोत्तर जितना विकास होता जायगा, वे उतनी ही अपनी परिभाषाओं के लिये एक दूसरे पर आश्रित होती जायगी। अंग्रेजी के (Pattern) को ही हिन्दी मे 'आदर्श' की संज्ञा दी सकती है। जिस वस्तु के लिये पेंटिंग' में 'पैटर्न' शब्द का प्रयोग किया जाता

है, उसी वस्तु के लिये संगीत में 'रिद्म' (Rhythm) शब्द का प्रयोग होता है, जिसे हिन्दी में 'मूलस्वर' के नाम से पुकार सकते हैं, पर ये दोनों ही शब्द उपयुक्त भाव की सृष्टि नहीं कर पाते। जिन विद्वानों ने इन शब्दों का प्रयोग भी किया है, वे इन्हें साहित्य में किन अर्थों में लाना चाहते हैं, स्वयं बतलाने में असमर्थ हैं। जिस प्रकार कहानी से पाठकों की उत्सुकता को तृप्ति मिलती है और कथावस्तु से उसकी प्रतिभा तथा तर्क शक्ति को उसी प्रकार 'पैटर्न' अथवा आदर्श से पाठकों की सौंदर्य भावना तुष्ट होती है।

इस सम्बन्ध में इतना ही कहा जा सकता है कि 'आदर्श' उपन्यास साहित्य का वह कलात्मक अंग है जिसका सम्बन्ध कृति की कला और उसके सौंदर्य से है, जिसकी उत्पत्ति उपन्यास के किसी भी अंग से हो सकती है। चाहे वह चरित्र हो, दृश्य हो अथवा शब्द हों। ऐसा देखा जाता है कि प्रायः यह सौन्दर्य कथावस्तु से ही फूटता है। यह कथावस्तु में उसी प्रकार छिपा रहता है जैसे बादलों में बिजली का प्रकाश और तभी तक दिखलाई भी पड़ता है, जब तक कि वह लुप्त नहीं हो जाता। इस सौंदर्य की व्याप्ति ही पाठकों को पुस्तक समाप्ति तक पढ़ते रहने के लिये बाध्य करती है।

उपन्यासों के परम्परित दोष

चित्रण की असफलता से उपन्यासकार उसी प्रकार भयभीत रहता है जिस प्रकार कर्मचारी अपने कुशल अधिकारी से भयभीत रहता है। जिन चरित्रों के आधार पर उपन्यासकार अपने उपन्यास रूपी महल की नींव देता है, जब वे उसकी कला की सीमा से बाहर चले जाते हैं अथवा उसके हाथ से निकल जाते हैं, तो उपन्यास का निर्माण ही कठिन हो जाता है। चरित्रों से सम्बन्धित उपन्यासकार की असफलता उसके लिये बहुत अधिक मँहगी पड़ती है क्योंकि उपन्यास को पूर्णता प्रदान करने के लिये उसे व्यक्तिगत रूप से कठिन परिश्रम करने पड़ जाते हैं। अपनी कलात्मक दुर्बलता को छिपाने के लिये उपन्यासकार ऐसा प्रकट करने लग जाते हैं कि जिसे लोग उसकी असफलता समझते हैं वह उसकी कलात्मकता है और भटके हुये पात्र उसकी योजना के अन्तर्गत ही कार्य कर रहे हैं। अधिक जागरूक हो जाने के कारण वह चरित्रों का नाम बार-बार दोहराने लग जाता है और प्रसंग से चरित्रों के चले जाने पर भी उपन्यासकार 'इनवर्टेड कामा' (Inverted Commas) का प्रयोग करता रहता है। उपन्यासकारों को अपनी कृतियों को निर्दोष बनाने के लिये ऐसे दोषों से बचना चाहिये।

कथानक में रहस्य का होना जितना आवश्यक है उतना ही आवश्यक उसका अन्त में प्रकट हो जाना भी है। पाठक अज्ञात संसार में भ्रमण कर सकता है पर उपन्यास-

कार उसे मार्ग में भ्रमित कराने का अधिकारी नहीं है। उपन्यास लिखने के पूर्व यदि उपन्यासकार लिखने की पूर्ण योजना बना ले तो वह कृति में आने वाली असंगतियों से बच सकता है ऐसा लोगों का विचार है तथा विद्वानों का यह भी कहना है कि लेखक कारण और परिणाम की कल्पना करके ही अपनी कृति का निर्माण करता है। यह भी एक विचारणीय प्रश्न ही है कि उपन्यास लिखने के पूर्व योजना का बना लेना क्यों आवश्यक है ? क्या उपन्यास उत्पन्न होकर अपनी स्वाभाविक गति से विकसित नहीं हो सकता ? और क्या वह उसी प्रकार समाप्त हो जाता है जिस प्रकार एक खेल अपने निश्चित समय के पूरे हो जाने के कारण समाप्त कर दिया जाता है ? उपन्यास साहित्य ने कौन सा वह अपराध किया है कि जिसके कारण वह उन्मुक्त नहीं रह सकता। उपन्यासकार अपनी इच्छानुसार अपनी कृतियों में अस्वाभाविक परिवर्तन न लाकर यदि उसे स्वाभाविक गति से विकसित होने दें तो उसमें पूर्णता आने की अधिक सम्भावनायें हैं। उपन्यासकार को अपने को कृतियों पर ही छोड़ देना चाहिये जो उसे ऐसे लक्ष्य तक पहुँचा सकती हैं जिसे उसने न तो कभी सोचा था और न तो देखा।

कथानक का प्रभावोत्पादक और सुन्दर होना आवश्यक है, पर उसका झूठा होना आवश्यक नहीं है। उपन्यासकारों को अपना कथानक न तो नाटकों से उधार लेना चाहिये और न तो किसी एक निश्चित सीमा में ही बँधकर रहना चाहिये। आधुनिक उपन्यासकारों का दावा है कि पूर्व नियोजित व्यवस्था को प्रतिमा के माध्यम से ऐसी कहानी में ढाला जा सकता है कि अन्त तक पहुँच कर वह पूर्णता को प्राप्त हो जाय। जीवन का सत्य और उपन्यासकार का सत्य एक ही नहीं है बल्कि उनमें अन्तर है, पर उपन्यासकार को ऐसा प्रयत्न करना चाहिये कि उसके द्वारा चित्रित उपन्यास का सत्य जीवन का भी सत्य हो तो अच्छा हो। विषय संग्रह के सम्बन्ध में विद्वानों के अनेक मत हैं। कुछ लोगों का कहना है कि उपन्यास में जीवन का एक अंश चित्रित हो तो अच्छा हो और कुछ लोग यह भी कह सकते हैं कि विषय के अभाव में भी उपन्यास लिखे जा सकते हैं। विषय के अभाव में लिखे उपन्यास-उपन्यास न होकर कुछ और ही होगे। प्रकृतवादी उपन्यासकार (Naturalist Writer) जीवन के एक अंश को ही अपने उपन्यासों में स्थान देते हैं, पर इस प्रकार के लेखकों की जो सबसे बड़ी दुर्बलता है, वह यह कि वे एक ही समय की घटनाओं को महत्व देकर उसे इतनी दूर तक खींच ले जाते हैं कि उनमें बहुत से अवांछित चित्र भी आ जाते हैं। कुछ लोगों का कहना है कि जीवन को प्रत्येक घटनाओं को उपन्यास साहित्य में स्थान मिलना चाहिये, केवल इधर उधर की चुनी-चुनाई घटनाओं को ही नहीं। लेखक को उपन्यास लिखने के पूर्व विषय पर इतना परिश्रम करना चाहिये कि किसी को यह कहने का अवसर ही न मिले कि अमुक वस्तु इस उपन्यास में नहीं आ पाई है। उपन्यासकार जो कुछ आँखों

से देखता है, जो कुछ जानता है, जो कुछ दूसरे लोगों के जीवन से सीखता है और अपने व्यक्तिगत जीवन से जो कुछ अनुभव संग्रह करता है, उन सभी अनुभवों को उसे अपने उपन्यास में समाहित करना चाहिये। इस प्रसंग में कुछ लोग यह कह सकते हैं कि मानव जीवन में मृत्यु, करुणा क्रन्दन तथा जीवन की पराजय का ही आधिक्य है और उन्हे ही यदि उपन्यास का विषय बनाया जायगा तो पाठकों को दुखी और नीरस बनाने से अधिक और कुछ न हो सकेगा। ऐसे लोगो को यह कभी भी नही भूलना चाहिये कि उपन्यासकार केवल बाह्य अनुभवों का ही संग्रह नही करता बल्कि वह पात्रो के अन्तर्मन की भी उद्भावना करने का प्रयत्न करता है तथा अपने प्रमुख पात्र के माध्यम से यह दिखलाने का प्रयत्न भी करता है कि जीवन की वास्तविकता किस रूप में उसके सम्मुख उपस्थित होती है जिनसे लाभान्वित होने और संघर्ष करने का वह कौन-कौन सा प्रयत्न करता है। जो उपन्यासकार ऐसा नहीं करते उनकी कृतियों में परम्परित दोषो का आ जाना अत्यन्त स्वाभाविक है।

उपन्यासकार एक कलाकार है और कलाकार का किसी वस्तु को देखने के दृष्टिकोण और साधारण लोगो के दृष्टिकोणो में उसी प्रकार भिन्नता होती है जैसे कि एक चित्रकार के देखने का दृष्टिकोण एक सामान्य व्यक्ति के दृष्टिकोण से भिन्न होता है। किसी चित्र अथवा व्यक्ति को केवल मुखाकृति ही एक श्रेष्ठ चित्रकार के लिए आकर्षण की वस्तु नही बन सकती बल्कि उसके लिए तो उसमे निहित भाव-भंगिमायें ही विशेष आकर्षण की वस्तु हैं। सामान्य व्यक्ति भाव-भंगिमाओ पर उतना नही रीझता बल्कि उसके लिए रूप में वाह्य तड़क भड़क हो आकर्षण का विशेष कारण बनती है। उपन्यासों में किसी चरित्र के नैतिक पतन की कहानी जो उस चरित्र के निर्माण का आधार है अथवा उसके समस्त समाज विरोधी कार्य एक उपन्यासकार के लिये आकर्षण का केन्द्र बन सकता है, जिसे देखकर सुन्दर कहने का लोभ वह संवरण नही कर सकता। ऐसे प्रसंगो को देखकर कुछ लोग उपन्यासकार को गलत समझने लग जाते हैं और उससे इस लिये घृणा करने लग जाते हैं कि वह उन लोगो की भाँति ऐसे समाज विरोधी चित्रों को देखकर विचलित होने के स्थान पर रस लेने लग जाता है। सामान्य लोग जिस वेदना से पीड़ित होने लग जाते हैं उससे उपन्यासकार को कोई कष्ट नहीं पहुँच पाता। इसका यह तात्पर्य नही कि उपन्यासकार अन्धा है और वह नैतिक पतन को देख पाने में असमर्थ है अथवा सामाजिक अन्याय को पहचानता तक नही? बल्कि उसकी दृष्टि जब ऐसे स्थानो पर जाती है तो वह उनके रहस्यों एवं उलझनों में डूबने लग जाती है, जिसके माध्यम से उपन्यासकार की आँखें मानव जीवन के अन्य पक्षो पर जो प्रकाश उन घटनाओ के द्वारा पड़ता है, उस ओर दौड़ने लग जाती हैं। यही कारण है कि उसकी विशाल मार्मिक दृष्टि मे प्रत्यक्ष दिखलायी देने वाली परिस्थियो का महत्व बहुत कम होता है क्योंकि ज्योंहि वह उन्हे देखता है तत्काल उसके सामने उसी माध्यम

से अनेक महत्व पूर्ण परिस्थितियाँ आने लग जाती हैं। इस प्रकार यदि उपन्यासकार मानव जीवन के विविध पक्षों पर सुन्दरतर ढंग से दृष्टि प्रक्षेप करता है तो उसे इसके लिये कोसने का कोई कारण नही कि वह नैतिक एवं राजनैतिक दृष्टियों से जीवन को क्यो नही देखता। इस प्रकार के जीवनदर्शन की प्रस्तुत करने के लिए उपन्यासकार में प्रौढ़ कलात्मकता की नितान्त आवश्यकता है नही तो वह एक स्वस्थ साहित्य देने के स्थान पर उसके माध्यम से जीवन के अश्लील एवं घिनौने वातावरण का ही चित्र दे सकेगा *जिससे उसके साहित्य के द्वारा 'समाज विरोधी तत्वों को ही बल मिलने* लग जायगा।

उपन्यासकार के लिए इस कला की आवश्यकता सर्वत्र अपेक्षित है। सक्रिय राजनीति, वर्ग संघर्ष, मनोविश्लेषण तथा यौन सम्बन्धो को लेकर लिखे जाने वाले उपन्यासो की इस समय बाढ सी आ गई है जिसमें अधिकांश उपन्यास ऐसे ही हैं जो कला के अभाव मे लिखे जाने के कारण अवाछित तत्व बनकर रह गये हैं।

प्रत्येक उपन्यासकार की अपनी दुर्बलतायें हुआ करती हैं जिसे वे भ्रमवश अपनी कृतियों में भी समाहित कर देते हैं। वर्ग भावना, जातीयता, प्रान्तीयता आचलिकता तथा सकीर्ण राष्ट्रीयता का पाया जाना मानव मात्र में स्वाभाविक है पर उपन्यासकार रूप मे वह उन्हें चित्रित कर समर्थन की भूमि पर नहीं पहुँचा सकता। यदि अपनी कलात्मक प्रतिभा द्वारा उपन्यासकार ऐसे चित्रो के प्रति अनास्था उत्पन्न कर सकता है, तो उसे इस विषय पर लेखनी चलाने का पूर्ण अधिकार है, पर अधिकांश लेख इसके प्रतिकूल ही कार्य करते दिखलाई पड़ रहे हैं, जिससे साहित्यिक एकता और उसके मानवतावादी सिद्धान्त को गहरी चोट लगेगी। कुछ उपन्यासकारो में इनि वृत्तात्मक वर्णन, प्रस्तुत करने का मर्ज-सा दिखलाई पड़ता है और ऐसा जान पड़ता है कि वे जो कुछ भी देख अथवा जान सके हैं, अपनी एक ही पुस्तक में कहकर उसे समाप्त कर देना चाहते हैं अथवा पाठकों पर अपने ज्ञान का वैभव उलटना चाहते हैं। इस प्रकार के दोष *सामाजिक, मनोवैज्ञानिक आंचलिक तथा ऐतिहासिक सभी प्रकार के उपन्यासों मे देख जाते* हैं। आलोचकों ने उपन्यासो में जहाँ अनेक दोषो का दर्शन कराया है, वही उन्होंने लेखक के इतिवृत्तात्मक वर्णन को भी प्रमुख दोष माना है। जब उपन्यासकार का प्रेम वर्णन के प्रति अधिक हो जाता है तो वह कला पक्ष की उपेक्षा करने लग जाता है जिसके दर्शन हमें प्रेमचन्द जी के अधिकांश वृहत उपन्यासों में, 'अज्ञेय' जी के शेखर : एक जीवनी' के प्रथम भाग में, वृन्दावनलाल वर्मा के प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यासो में तथा आचार्य चतुरसेन शास्त्री के 'सोना और खून' और रेणुजी के 'परती परिकथा आदि मे हो जाते हैं। उपन्यासकारो की इसी प्रवृत्ति के कारण कृतियों में कलात्मकता का पर्याप्त अभाव दिखलाई पड़ने लग जाता है।

उपन्यास साहित्य गतिशील चरित्रों का प्रतिनिधि होता है, जिससे उसमें वातावरण का चित्रण गौणरूप में चरित्रों में स्वाभाविकता लाने तथा प्रभाव उत्पन्न करने के लिये ही होना चाहिये न कि वही उपन्यासकार की कला का साध्य बन जाय। उपन्यासों का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं होता बल्कि उसका अस्तित्व चरित्र वर्द्धन के लिये ही है। इसका केवल यही कार्य है कि वह चरित्रों को स्थिर रखे जिससे पाठक की दृष्टि उन पर केन्द्रीभूत हो सके और उनके बीच घटने वाली घटनाओं को वह हृदयंगम कर सके। यदि हम चरित्रों और उनके कार्य व्यापारों को अन्य किसी भाँति स्पष्टतः देख सकें तो वातावरण चित्रण की विशेष आवश्यकता नहीं रह जाती क्योंकि ऐसा होने पर अपने आप उनका प्रकाश फीका पड़ जायगा और यदि लेखक प्रयत्न करके उस प्रकाश को तीव्रतर बनाने की चेष्टा करेगा तो उसका यह प्रयत्न उपन्यास की कलात्मक सफलता में पूर्णतः बाधक सिद्ध होगा। सांस्कृतिक ऐतिहासिक उपन्यासों में कहीं-कहीं वातावरण का रंगीन चित्र प्रस्तुत करना आवश्यक हो जाता है जैसे यशपाल कृत 'दिव्या' और हजारी प्रसाद द्विवेदी कृत 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में जिन्हें अपवाद स्वरूप स्वीकार किया जा सकता है, पर ऐसे उपन्यासों में भी एक सीमा के पश्चात् इतिवृत्तात्मक वर्णन को दोष के रूप में ही स्वीकार करना चाहिये। इसके अतिरिक्त और भी शैली तथा विषयगत दुर्बलतायें हिन्दी उपन्यासों में पाई जाती हैं जिसकी चर्चा आगे प्रसंगानुसार की गई है।

उपन्यास के प्रकार

उपन्यास साहित्य मानव जीवन की सम्पूर्णता को घेर कर चलने के कारण अपनी सीमा में इतना विस्तार पा गया है कि उसका ठीक-ठीक वर्गीकरण कर पाना अत्यन्त कठिन हो गया है। विद्वानों ने फिर भी उपन्यासों के भेदों को जानने की चेष्टा की है। उपन्यास साहित्य का सम्यक अध्ययन करने के पश्चात् कोई भी इस निष्कर्ष पर पहुँच सकता है कि शैली, वर्ण्य विषय, वस्तु निर्माण तथा तत्व विशेष की प्रधानता के आधार पर ही उपन्यासों का वर्गीकरण समीचीन हो सकता है।

शैली

उपन्यासों के माध्यम से यथार्थ चित्रण में शैली का विशेष महत्व होता है, यदि हम यह स्वीकार करते हैं कि 'यथार्थवाद' उपन्यासों का प्राण है तो हमें वहीं यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि 'यथार्थवाद' शैली ही वह पक्षतत्व है जिसके द्वारा 'यथार्थवाद' का स्वरूप निर्मित होता है। यदि उपन्यासों के अन्दर यथार्थवादी शैली नहीं है, तो यथार्थ से यथार्थ घटना और कथावस्तु के होते हुए भी उपन्यास कभी भी यथार्थवादी नहीं हो सकता और न तो उसमें मानव जीवन की अभिव्यक्ति ही यथार्थ रूप में हो पायेगी। यथार्थवादी शैली क्या है? इसका कोई एक निश्चित रूप स्थिर नहीं किया जा सकता बल्कि इसका स्वरूप रचना के स्वभावानुकूल बनता बिगड़ता रहता है। ऐसी स्थिति में जो शैली एक उपन्यास के लिये यथार्थवादी है वही दूसरे के लिए अयथार्थवादी भी हो सकती है। जब कि हमारा उपन्यास साहित्य विकास की ओर तीव्र गति से दौड़ लगा रहा है तो यह अत्यन्त स्वाभाविक ही है कि विविध प्रयोग हमें देखने को मिलें इससे यह भी आवश्यक नहीं है कि शैली का जो स्वरूप आरम्भ में निश्चित हुआ वही चलता रहे। अतः इसके लिए हमें उपन्यास साहित्य के विविध मोड़ों, नाना प्रकार के नये प्रयोगों तथा दार्शनिक प्रवृत्तियों से परिचय प्राप्त करना होगा। शैली की दृष्टि से यदि हम चाहें तो हिन्दी-उपन्यास-साहित्य को (१) वर्णनात्मक अथवा ऐतिहासिक (२) आत्मकथात्मक (३) पत्रात्मक तथा (४) डायरी आदि चार प्रमुख वर्गों में विभक्त कर सकते हैं।

वर्णनात्मक अथवा ऐतिहासिक शैली का व्यापक प्रयोग हिन्दी-उपन्यासों में पाया जाता है क्योंकि इस शैली के द्वारा उपन्यासकार को अपेक्षाकृत विषय-विस्तार के लिए अधिक भूमि मिल जाती है और उसे कलात्मकता का भी ध्यान उतना नहीं रखना

पड़ता। इस शैली के उपन्यासकार को इतिहासकार की भाँति उपन्यास के चरित्रों तथा उनसे सम्बन्धित घटनाओं का इतिवृत्तात्मक वर्णन अपनी कल्पना अनुभूति एवं जानकारी के आधार पर लिख देना होता है। अन्त में वह कभी-कभी एक तटस्थ द्रष्टा की भाँति अपना कोई न कोई निर्णय भी घोषित कर अपनी किसी न किसी मान्यता की स्थापना करने की चेष्टा भी करता है। अनेक हिन्दी के श्रेष्ठ उपन्यास वर्णनात्मक शैली में लिखे गये हैं। 'प्रेमचन्द' जी के सेवासदन 'निर्मला' 'गबन' 'रंगभूमि' तथा 'गोदान' आदि सामाजिक उपन्यास 'वृन्दावन लाल वर्मा' के 'लगन' 'कुण्डलीचक्र' 'प्रेम की भेंट' 'अचल मेरा कोई' 'झाँसी की रानी' 'विराटा की पद्मिनी' तथा 'मृगनयनी' आदि सामाजिक और ऐतिहासिक उपन्यास तथा 'यशपाल' और भगवतीचरण वर्मा' आदि की सभी प्रौढ़ औपन्यासिक कृतियाँ वर्णनात्मक अथवा ऐतिहासिक शैली के उदाहरण हैं।

आत्मकथात्मक उपन्यासकारों के लिए वर्णनात्मक शैलीकारों की अपेक्षा विषय विस्तार की भूमि कम मिलती है। विषय की दृष्टि से बहुत कुछ साम्य रखने हुए भी आत्मकथात्मक उपन्यास प्रभाव की दृष्टि से ऐतिहासिक शैली के उपन्यासों से भिन्न हैं। आत्मकथात्मक उपन्यासों के विषय विस्तार की अपनी सीमायें हैं जिसमें कल्पना का उपयोग एक सीमा तक और एक विशेष पद्धति से ही किया जा सकता है। सम्पूर्ण उपन्यास में उपन्यासकार अपने मुख से प्रकट कुछ भी नहीं बोल सकता और उसे जो भी कुछ कहना रहता है, वह उसे चरित्रों के माध्यम से ही नहीं, बल्कि चरित्रों के रूप में ही कहता है। इस प्रकार आत्मकथात्मक उपन्यासकार पात्रों का स्थान स्वयं ग्रहण करता है और एक-एक घटना का विवरण अत्यन्त विश्वसनीय ढंग से प्रस्तुत करता है। ऐसी स्थिति में उपन्यासकार उन्हीं घटनाओं, परिस्थितियों तथा मनोदशाओं का वर्णन उपन्यास में कर पाता है जितना कि उसने स्वयं देखा, सुना अथवा अनुभव किया है। जहाँ कहीं वह अपना छद्मवेश भूलकर शैलीगत अभिनय में असफल हुआ नहीं कि आत्मकथात्मक उपन्यास की सारी मर्य्यादा समाप्त हुई। इस प्रकार एक ओर जहाँ आत्मकथात्मक उपन्यासों में विषय का संकोच लक्षित होता है, वहीं दूसरी ओर प्रभाव का गाम्भीर्य भी। आत्मकथात्मक उपन्यास लिखने में लेखक को पर्याप्त श्रम करना पड़ता है और यह लेखकों की सामान्य प्रवृत्ति होती है कि वे कम से कम श्रम करना चाहते हैं जिससे अपेक्षाकृत हिन्दी में आत्मकथात्मक उपन्यासों की संख्या बहुत कम है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि हिन्दी में श्रेष्ठ आत्मकथात्मक उपन्यासों का नितान्त अभाव है। हिन्दी में ऐसे श्रेष्ठ आत्मकथात्मक उपन्यास लिखे गये हैं जिनका हिन्दी उपन्यास साहित्य में प्रमुख स्थान ही नहीं बल्कि उन्होंने श्लाघनीय सफलता भी प्राप्त की है। उदाहरण के लिये हजारी प्रसाद द्विवेदी कृत 'बाणभट्ट की आत्मकथा' और 'अज्ञेय' कृत 'शेखर एक जीवनी' को प्रस्तुत किया जा सकता है।

पत्रात्मक और डायरीशैली का प्रचार आधुनिक हिन्दी कहानियों में जितना हो पाया, उतना उपन्यासों में नहीं। आत्मकथात्मक शैलीकार को जितनी असुविधाओं का सामना करना पड़ता है उससे कहीं अधिक असुविधायें उसे पत्रात्मक और डायरीशैली में उठानी पड़ती हैं। पाठकों के ऊपर विश्वास डालने की जहाँ तक बात है, वहाँ तक तो यह शैली अत्यन्त उपयुक्त कही जा सकती है, पर विषय विस्तार की दृष्टि से यह आत्मकथात्मक शैली से भी अधिक अनुपयुक्त है। वर्णनात्मक अथवा ऐतिहासिक शैली के ऊपर प्रभाव हीनता, चमत्कार की न्यूनता तथा इतिवृत्तात्मकता सम्बन्धी चाहे जितने भी आरोप लगाये जाँय पर अपनी सर्वज्ञता एवं शक्तिशालिनी अभिव्यक्ति के कारण जितनी ख्याति इसे मिल पाई है, उतनी आत्मकथात्मक शैली को नहीं। अपूर्ण चरित्र-चित्रण तथा सीमा-संकोच ऐसे दोषों के होते हुये भी प्रभावपूर्णता, भावमयता तथा विश्वसनीयता जैसे कतिपय गुणों के कारण आत्मकथात्मक शैली का प्रचलन पत्रात्मक तथा डायरीशैली में लिखे जानेवाले उपन्यासों से अधिक हुआ है।

पत्रात्मक शैली में लिखे उपन्यास एक व्यक्ति के द्वारा लिखे गये धारावाहिक पत्रों में भी समाप्त हो सकता है और पत्रों के आदान-प्रदान के रूप में भी उसके कलेवर का निर्माण हो सकता है। पत्र एक व्यक्ति के भी हो सकते हैं और अनेक व्यक्तियों के भी। इसी शैली से प्रेरणा लेकर सम्भवतः एक ऐसी शैली का निर्माण हो रहा है जिसमें कई स्वतन्त्र कथायें एक ही व्यक्ति द्वारा कही जाकर उपन्यास का रूप धारण कर लेती हैं जो स्वतन्त्र कहानियाँ भी हैं और एक ही व्यक्ति अथवा व्यक्ति समूह से सम्बन्धित होने के कारण परस्पर गुंथी हुई भी। उदाहरण के लिये धर्मवीर भारती कृत 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' उपन्यास प्रस्तुत किया जा सकता है। पत्रात्मक शैली अपनी न्यूनता के कारण आकर्षक भले कही जा सके, पर कथानक की क्रमबद्धता तथा विषय-विस्तार की दृष्टि से यह सफल नहीं कही जा सकती है। इतना अवश्य है कि इस शैली में लिखे उपन्यासों के वर्णन इस लिये अत्यन्त विश्वसनीय माने जा सकते हैं कि वे स्वतः अपनी बीती कहानी लिखते हैं और यदि लिखने का ढंग अच्छा रहा, तो थोड़ी देर के लिये पाठक उपन्यासकार को भूलकर पत्र-लेखकों को ही वास्तविक रूप में अपने सामने रख लेता है। पत्रात्मक शैली की ही प्रायः सभी विशेषतायें डायरीशैली में भी होती हैं पर, अपेक्षा कृत इसमें विषय विस्तार की सम्भावना अधिक होती है।

वस्तुतः देखने में तो यही आता है कि उपन्यासकार उपर्युक्त शैली का पूर्णतः निर्वाह करने में असफल रहते हैं और सभी प्रकार के उपन्यासों में एक से अधिक शैली का प्रवेश हो जाता है। ऐतिहासिक शैली में आत्मकथा मक और आत्मकथात्मक शैली में पत्रात्मक तथा डायरी शैली का मिल जाना तो साधारण-सी बात है, जिससे मिश्रित शैली उपन्यासकारों में सर्वाधिक लोकप्रिय है।

वर्ण्य विषय

विषय के अभाव में किसी भी साहित्य का निर्माण असम्भव है। अतः वर्ण्य-विषय के आधार पर भी उपन्यास साहित्य का वर्गीकरण किया गया है। वर्णन के लिये उपन्यासकार धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक, प्रागैतिहासिक तथा ऐतिहासिक आदि विषयों को ले सकता है, जिनके आधार पर उपन्यासों का नामकरण किया जा सकता है, पर वर्गीकरण का यह आधार ठोस नहीं दिखाई पड़ता क्योंकि उनमें से न जाने कितनी शाखायें-प्रशाखायें फूट सकती हैं, जिनके कारण वर्गीकरण की स्थिरता की रक्षा सम्भव नहीं हो पायेगी। धर्म के भीतर भी सम्प्रदाय होते हैं, समाज के अन्दर भी वर्ग होते हैं तथा उनकी अनेक समस्यायें होती हैं और राजनीति आदि विषय भी उत्तरोत्तर विकसित होते रहते हैं जिससे हमें कुछ प्रतिनिधि वर्गीकरणों को ही मान्यता प्रदान करनी होगी। उद्देश्य अथवा प्रतिपाद्य को आधार मानकर मैंने यथार्थवादी, आदर्शवादी, आदर्शोन्मुख यथार्थवादी, समस्या-मूलक, ऐतिहासिक, प्रकृत-वादी, अति यथार्थ वादी और मनोवैज्ञानिक आदि वर्गों में हिन्दी उपन्यासों को विभक्त किया है पर यदि हम चाहें तो इन्हें सामाजिक और ऐतिहासिक दो प्रमुख वर्गों में विभक्त कर सकते हैं। इस प्रकार के वर्गीकृत उपन्यासों की विशेषताओं का वर्णन ग्रन्थ में यथा स्थान आगे किया गया है।

वस्तु निर्माण

आरम्भ में वस्तु निर्माण उपन्यास साहित्य का महत्वपूर्ण अंग समझा जाता रहा और उसकी उपयोगिता आज भी अपेक्षाकृत कम नहीं हुई है। जब किसी एक व्यक्ति को केन्द्र में रखकर उससे सम्बन्धित घटना-प्रसंगों को उपन्यास का विषय बनाया जाता था तो वस्तु निर्माण की कलात्मकता पर ही उपन्यासकार की सफलता निर्भर करती थी। देश-काल और समसामयिक प्रसंगों को समाहित करने का जब मोह उपन्यासकार नहीं छोड़ पाते थे तो उपन्यास की संघठित कथात्मकता में व्यवधान आने लग जाता था। इसे आधार मानकर भी उपन्यासों को यदि हम चाहें तो (१) शिथिल (नावेल्स आफ लूज प्लाट) और (२) सुसंगठित (नावेल्स आफ आरगनिक प्लाट) दो भेद कर सकते हैं। उपन्यासों के प्रमुख तत्वों की चर्चा करते समय पूर्व में ही मैंने इसकी व्याख्या कर दी है। शिथिल वस्तु उपन्यास की सारी कथा एक नायक को केन्द्र मानकर घूमती है जिससे उपन्यासकार को एक व्यक्ति के जीवन की बिखरी सारी घटनाओं का संग्रह करना पड़ता है और उस व्यक्ति के साथ-साथ घूमने के कारण कथनक की सारी चुस्ती समाप्त हो जाती है जिससे परिणाम स्वरूप जिस उपन्यास साहित्य की उपलब्धि होती है उसे शिथिल वस्तु उपन्यास की कोटि में रखा जा सकता है। उदाहरण स्वरूप प्रेमचन्द कृत 'गोदान' अज्ञेय कृत 'शेखर : एक जीवनी' आदि जैसे प्रमुख उपन्यासों को ले सकते हैं।

सुसंगठित वस्तु उपन्यास (नावेल्स आफ आरगनिक प्लाट) की सारी घटनायें और चरित्र से सम्बन्धित चर्चायें एक दूसरे से ऐसी गुंथी रहती हैं कि उन्हें अलग करके देख पाना कठिन है। ऐसे उपन्यासों के निर्माण में कला की अपेक्षा अधिक होती है क्योंकि उपन्यासकार को कहानी की पूर्णता, घटनाओं के पारस्परिक सम्बन्ध, प्रसंगों के औचित्य और चरित्रों के स्वाभाविक विकास आदि पर समान रूप से ध्यान देने पड़ते हैं। एक के प्रति भी आग्रह प्रकट हो जाने से दूसरे के प्रति अन्याय हो जाने की सम्भावना बराबर बनी रहती है, जिससे पग-पग पर आशंका रहती है कि उपन्यास कला में कहीं से दोष न आ जाय। वस्तु और चरित्र में बराबर संघर्ष बना रहता है जिससे एक की दुर्बलता पर भी उपन्यास का सन्तुलन बिगड़ सकता है। ऐसे उपन्यासों के प्रति पाठकों का कुतूहल तब तक बना रहता है जब तक कि वे कृति को समाप्त नहीं कर लेते और किसी भी बीच के प्रसंग को छोड़कर उपन्यास को ठीक-ठीक तौर पर समझ पाना भी उनके लिये कठिन हो जाता है। अतः ऐसे उपन्यासों के लिये सरसता अनिवार्य है, जो पाठकों में उबास की सृष्टि न होने दें। हजारी प्रसाद द्विवेदी कृत 'बाणभट्ट की आत्मकथा' इस प्रकार की सर्वोत्तम रचना है।

तत्वविशेष की प्रधानता :

उपन्यास के प्रमुख तत्वों की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। उपन्यासकार की प्रवृत्ति एवं उसके विषय स्वरूप के अनुसार ही विभिन्न तत्वों का प्रवेश उपन्यास साहित्य में हो पाता है। एक ही कृति में सभी तत्वों को प्रमुख स्थान मिलना कठिन है जिससे तत्व विशेष की प्रधानता के आधार पर भी उपन्यासों का वर्गीकरण किया जाता है और वर्गीकरण का यह आधार सम्भवतः सबसे प्राचीन भी है। चरित्र और उनसे सम्बन्धित घटनायें उपन्यास के प्रमुख तत्व हैं। अतः इसे आधार मानकर उपन्यासों को घटना प्रधान, चरित्र प्रधान और घटना चरित्र प्रधान (नाटकीय) नामक तीन श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं।

घटना प्रधान

जिन उपन्यासों में आश्चर्य में डाल देने वाली, अलौकिक एवं अस्वाभाविक घटनाओं के द्वारा उपन्यास की कहानी अथवा पात्रों के चरित्र का विकास कराया जाता है ऐसे उपन्यासों को घटना प्रधान उपन्यास की संज्ञा दी जा सकती है। जब उपन्यासकार अपनी कृति में कुतूहल, आश्चर्य चकित कर देने वाली घटनाओं के घटाटोप, कपोलकल्पित असम्भावित क्रिया-कलाप और ओज एवं वीरतापूर्ण घटनाओं को ही समाहित करता है, तो इस प्रकार वह एक घटना-प्रधान उपन्यास की ही सृष्टि करता है। ऐसे उपन्यासों के माध्यम से चरित्रों का स्वाभाविक विकास एवं यथार्थ

विषय में यथार्थता लाना उपन्यासकार के लिये कठिन होता है। जब उपन्यासकार की कल्पना कथाक्रम को स्वाभाविक विकास नहीं दे पाती और वह पात्रों के कार्य-व्यापारों को तर्क संगत इति देने में असमर्थ हो जाता है तो उपन्यासकार कलात्मकता की उपेक्षा कर एवं स्वाभाविकता का गला घोटकर घटनाओं का आश्रय लेता है। ऐसे उपन्यासकारो के पाठक कथा और चरित्र की स्वाभाविकता नही देखते बल्कि उनकी दृष्टि बराबर पात्रो के असाधारण कार्य एवं चमत्कार की ओर ही लगी रहती है। तिलस्मी, ऐयारी, और जासूसी उपन्यास इसी कोटि में रखे जाते हैं। शुद्ध घटना-प्रधान उपन्यासो का कोई साहित्यिक मूल्य नही होता यदि उनमे किसी चरित्र विशेष की प्रधानता न हो।

चरित्र-प्रधान

जिस प्रकार घटना-प्रधान उपन्यासों में अलौकिक घटनाओं का आकर्षण प्रधान है उसी प्रकार चरित्र-प्रधान उपन्यासो में पात्रो की बहुलता एवं उनकी चरित्रगत विशेषताओ को प्रधानता दी जाती है। चरित्र प्रधान उपन्यासो का सारा ताना-बाना चरित्रो के आधार पर बुना जाता है। वे चरित्र पर आश्रित रहते हैं न कि चरित्र उनपर। घटनाओ तथा अन्य आवश्यक तत्वों का समावेश पात्रो की चरित्रगत विशेषताओ को उभाड कर रखने के लिये ही कराया जाता है। वे साधन रूप में ही लाये जाते हैं न कि साध्य रूप में। चरित्र-चित्रण करना ही उपन्यासकार का प्रधान उद्देश्य रहता है। उपन्यास की कहानी चरित्रो के पीछे-पीछे घूमती है, चाहे वे सरल चरित्र हो अथवा गूढ़। चरित्र के आन्तरिक एवं बाह्य दोनो ही पक्षों का चित्रण इस कोटि के उपन्यासो में किया जाता है। ऐसे उपन्यासो की कथावस्तु प्रायः शिथिल हुआ करती है। इस प्रकार के उपन्यासो का हिन्दी में बाहुल्य है। प्रेमचन्द-युगीन उपन्यास प्रायः सभी इसी श्रेणी के हैं।

घटना-चरित्र-प्रधान (नाटकीय)

कलात्मकता की दृष्टि से इस श्रेणी के उपन्यास अत्यन्त महत्वपूर्ण होते हैं क्योकि उपन्यासकार को ऐसे उपन्यासो के निर्माण में वस्तु-निर्माण तथा चरित्र-निर्माण के सन्तुलन को समान रूप के बनाए रखना पडता है। उपन्यास के ये दोनो तत्व एक दूसरे से ऐसे घुले-मिले रहते हैं कि दोनो को अलग करके देख पाना अत्यन्त कठिन हो जाता है। वस्तु-निर्माण करते समय न तो 'उपन्यासकार चरित्रो की उपेक्षा कर पाता है और न तो चरित्र-निर्माण करते समय कथावस्तु के सौंदर्य को ही नष्ट करने का साहस करता है। पात्रो के चरित्रो का विकास घटनाओं के आधार पर ही होता है पर वे घटनायें ऐसी होती हैं जो वास्तविकता के अत्यन्त निकट होती हैं और उनके घटने का तर्क संगत कारण भी होता है अन्यथा वे घटना-प्रधान उपन्यासो की ही सृष्टि करेंगी

न कि घटना-चरित्र-प्रधान अथवा नाटकीय उपन्यासों की। 'बाणभट्ट की आत्म-कथा' को इस श्रेणी के उपन्यासों का सुन्दर नमूना कह सकते हैं। तत्व विशेष के आधार पर किये गये उपरोक्त वर्गीकरण का आधार इतना सूक्ष्म है कि उन्हें परखने के लिए अत्यन्त सावधानी रखनी पड़ेगी।

नवीन प्रयोग

वस्तु-निर्माण अथवा कथा संघटना को लेकर हिन्दी में इधर कई अच्छे नये प्रयोग देखे जा रहे हैं और इन सभी प्रयोगों के मूल में है नायक की हार। चरित्र अथवा नायक के अभाव में क्रमबद्ध कथानक का बनना ही कठिन है और जब तक क्रमबद्ध कथानक का निर्माण न होगा, वस्तु-निर्माण का प्रश्न ही नहीं उठता। एक कथा के स्थान पर अनेक कथाओं, एक प्रमुख पात्र के स्थान पर अनेक चरित्रों, काल विशेष के स्थान पर अवधि विशेष तथा व्यक्ति के स्थान पर वंश परम्परा आदि को हिन्दी उपन्यासों में महत्व मिलने लगा है, जिससे वस्तु-निर्माण के आधार पर उपन्यासों का तर्कसंगत वर्गीकरण करना अत्यन्त कठिन हो गया है। 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' वस्तु-निर्माण के क्षेत्र में एक नवीन प्रयोग ही कहा जायगा, जिसमें क्रमबद्ध कथा का मिलना कठिन है। सात कहानियाँ परस्पर मिलकर उपन्यास बन गई हैं, जिन्हें अलग-अलग कहानियों का स्वरूप भी दिया जा सकता है। इस उपन्यास में तो कम से कम माणिक मुल्ला एक पात्र ऐसे भी हैं कि जो कथावाचक के रूप में सातों कहानियों को एक सूत्र में जोड़ते हैं, पर 'बहती गंगा' में तो कोई ऐसा भी पात्र नहीं आने पाया है जो उपन्यास में आई सत्रह कहानियों में सूत्र का कार्य कर सके। जिस प्रकार मानवता का विकास होता है और आज का बालक कल का नागरिक बन जाता है उसी प्रकार बहती गंगा की सत्रह कहानियों में नायक का भी विकास हुआ है। एक कहानी का कोई न कोई पात्र आगे निकलकर दूसरी का नायक बन जाता है और जहाँ कहीं देश-काल आदि का चित्रण करता रहा है, कुछ नये पात्र भी आकर वर्णन को रंगीन बना जाते हैं। इस प्रकार इस उपन्यास के द्वारा जहाँ पर नायक के क्षेत्र में नवीन प्रयोग दिखलायी पड़ता है, वहीं काल विशेष के स्थान पर लगभग दो सौ वर्षों के काल को भी उपन्यास का विषय बनने का गौरव प्रदान किया गया है। इस प्रयोग से प्रभावित होकर आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने भी अपने ऐतिहासिक उपन्यास 'सोना और खून' में नायक और काल सम्बन्धी नये प्रयोग किये हैं, पर अतिरंजित वर्णन के आग्रह ने उसकी कलात्मकता पर प्रश्नवाची चिन्ह लगा दिया है।

एक ओर जहाँ पर उपन्यास के विषय को अवधि को विस्तार देने की प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं, वहीं पर दूसरी ओर अत्यन्त संकुचन को प्रवृत्ति भी दिखलाई पड़ जाती है। 'चाँदनी के खण्डहर' नामक लघु उपन्यास को इस दिशा में एक नवीन प्रयोग कहा

जा सकता है। सवा सौ पृष्ठों का यह लघु उपन्यास केवल चौबीस घण्टे की कथा कहने के लिये लिखा गया है और अपनी इसी छोटी कहानी में यह एक सुन्दर उपन्यास कहा जा सकता है। 'डूबते मस्तूल' में तो पूरे चौबीस घण्टे की भी कहानी नहीं है। इस उपन्यास की कथा की अवधि एक दिन तथा रात के दो बजे तक का काल है।

'भूले बिसरे चित्र' में भी 'बहती गंगा' की भांति एक लम्बे काल को उपन्यास का विषय बनाया गया है, पर अन्तर इतना ही है कि इसकी कथा को एक वंश-परम्परा तक ही सीमित रखा गया है और वह वंश भी ऐसा है जो नौकरी पेशे वाला है, जिससे स्थानान्तरण के माध्यम से देश के अधिकांश भूभागों तक कथा को फैलने का अवसर मिला है, जिसमें बदलते हुए सामाजिक मूल्य और राष्ट्रीय आन्दोलन से प्रभावित युग-जागरण का चित्र भी खींचकर आ गया है। इसके प्रतिकूल 'बहती गंगा' की सारी घटनायें काशी नगरी में ही घटती हैं और उसके नायक वंश परम्परा में नहीं बल्कि काशी की परम्परा में ही विकसित हुये हैं, पर घटने वाली घटनाओं और होने वाले जागरणों को इस ढंग से प्रस्तुत किया गया है कि उस काल के देशीय जागरण की भी झांकी मिल जाती है। यहीं पर आकर 'भूले बिसरे चित्र' के प्रयोग पर 'बहती गंगा' की मौलिकता स्थापित हो जाती। उपन्यासों को गद्यात्मक महाकाव्य कहने की एक परम्परा चल पड़ी है, जिसके समर्थन में ही यह उपन्यास लिखा जान पड़ता है। मेरे इस प्रकार के कथन का केवल यही तात्पर्य है कि भूले बिसरे चित्र के शिल्प विधान की पूर्वपरम्परा को ढूँढ़ा जा सकता है। कवि कुल गुरु महाकवि कालिदास ने महाकाव्य के नायकों के क्षेत्र में एक नवीन प्रयोग किया था। उन्होंने अपने महाकाव्य 'रघुवंश' में किसी एक व्यक्ति को नायक न मानकर रघुवंश को ही नायक बनाया है। ठीक उसी प्रकार हम यह देखते हैं कि भगवतीचरण वर्मा ने 'भूले बिसरे चित्र' में एक कायस्थ कुल की तीन पीढ़ी को कथानक का आधार बनाया है और उसी वंश का व्यक्ति एक के बाद एक उपन्यास का नायक बनता चलता है। ऐसे ही न जाने कितने प्रयोग आधुनिक उपन्यास साहित्य में किये जा रहे हैं। यह उस का विकास काल है, अतः शिल्प प्रकार के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ भी कहना न तो सम्भव है और न तो उचित हो।

शैली की विविधता

आरम्भ में उपन्यासों में नायक और नायिका जन-सामान्य के प्राणी न होकर राजा, रानी अथवा अति सामान्य पुरुष हुआ करते थे। पाठक भी इतना भोला विश्वासी था कि किसी भी प्रकार की शंका उठाये बगैर ही कथा को सत्य-रूप में ग्रहण करने लग जाता था। परन्तु स्थिति में क्रमशः परिवर्तन उपस्थित होने लगा। आधुनिक काल में सार्वजनिक समानाधिकार की भावना बढ़ चली, विधान और शिक्षा की दृष्टि में सभी मनुष्यों को समान अधिकार मिला। स्त्री-पुरुष, शूद्र-ब्राह्मण किसी में कुछ भी भेद नहीं

रखा गया। स्वच्छन्दतावाद की भावना को बल पकड़ने से सामान्य मानवता के यथार्थ चित्रण की ओर लेखकों की अभिरुचि बढ़ने लगी।' इस प्रकार आधुनिक उपन्यासो में असामान्य नायक और नायिकाओं के स्थान पर अति सामान्य पात्रों के जीवन का चित्र उपस्थित किया जाने लगा। आरम्भ के उपन्यासो मे अधिकांश प्रेमप्रसंगों का ही चित्रण हुआ करता था, परन्तु अब प्रेम के अतिरिक्त अन्य भावों, भावनाओं तथा कार्य व्यापारो का भी चित्रण होने लग गया है। कहने का तात्पर्य यह कि अब उपन्यासों का क्षेत्र संकीर्ण न रहकर व्यापक हो गया है।

वातावरण

पाठक पूर्व की अपेक्षा अब अधिक चतुर हो गये हैं, इसलिये उपन्यासकारों को भी उन्हें विश्वास में रखने के लिए अत्यधिक सतर्क बनना पड़ा है। अब पाठक किसी व्यक्ति के बारे में पूर्ण परिचय पाना चाहता है। उसकी तुष्टि केवल नाम लेने से ही नहीं हो पाती। इसलिए यदि उपन्यासकार को किसी राजा का वर्णन करना होगा तो वह केवल उसका नाम लेकर ही नहीं रह जायगा, बल्कि वह बतलायेगा कि 'उस राजा का नाम आदित्य सेन था, वह विदर्भ देश का राजा था और नल की बीसवीं पीढ़ी मे पैदा हुआ था। ईसा के ८०१ वर्ष पूर्व उसने आठ अश्वमेघ यज्ञ किये और उसके बहुत से सिक्के तथा शिलालेख अमुक नगर में मिलते हैं', जिससे घटनाओं के ऊपर पाठकों को अविश्वास करने का साहस नहीं हो सकता।

अपने उपन्यासो की काल्पनिक कथा को सत्य का रूप देने के लिए आधुनिक उपन्यास लेखक एक ऐसे वातावरण की सृष्टि करता है कि उसकी गम्भीरता, स्वाभाविकता और यथार्थवादिता से प्रभावित होकर पाठकों को पूरी कहानी को सत्य मानना ही पड़ता है। कम से कम पढते समय तो वह उसे सत्य मानता ही है। यथार्थ वातावरण की सृष्टि करके उपन्यासकार ऐसा चित्र उपस्थित करने लग गया है कि पाठक उसे कोरी कल्पना न समझकर सत्य घटना का यथार्थ चित्र मानने लग जाते हैं। 'वातावरण की यथार्थता से ही पाठकों को वह इतना मुग्ध कर लेता है कि उसे पूरा विश्वास हो जाता है कि लेखक जो कुछ भी कह रहा है, वह कपोल कल्पना हो ही नहीं सकती। उसकी सत्यता में उन्हें सन्देह ही नहीं रहता'।'

स्थान, काल और पात्र का विचार कर समाज्य समीप बातो के यथार्थ चित्रण से आधुनिक लेखक वातावरण की सृष्टि करता है, वही सृष्टि लेखक की कल्पना पर एक रहस्यमय अवगुंठन डालकर उसे सत्य का स्वरूप प्रदान कर देती है।' वातावरण का इतना अधिक महत्त्व होता है कि जिस प्रकार रात के अँधेरे में रस्सी

१—डाक्टर श्रीकृष्ण लाल 'हिन्दी कहानियाँ' की भूमिका', पृ० १५।

में साँप की प्रतीति होती है उसी प्रकार यथार्थ वातावरण के कारण एक कल्पित कथा में सत्य घटना की प्रतीति होती है।" ।

शैली और कथानक

उपन्यास में आद्योपान्त जिन कलाकारों की शैली एक-सी रहती है, उन्हें दिवालिया समझना चाहिये। कला उनके पास नहीं होती। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की शैली में असीम विविधता मिलेगी, पर 'शरत्' में नहीं। किन्तु 'शरत्' की शैली की एकता निंद्य नहीं, क्योंकि उनके कथानक भी लगभग एक-से ही होते हैं। परन्तु प्रेमचन्द में यह बात नहीं है। कथानक के परिवर्तन के साथ-साथ उनकी शैली परिवर्तित नहीं होती, इसीलिए पाठक प्राय पृष्ठ के पृष्ठ छोड़कर आगे बढ़ने लगते हैं। 'शरत्' अपने पाठक की दिलचस्पी कभी नहीं खोते। शैली और कथानक जब तक एक दूसरे के अनुकूल नहीं होंगे, तब तक कभी भी यथार्थवादी शैली का पूर्ण निर्वाह नहीं हो सकता।

स्वाभाविकता एक और कसौटी है। यहाँ पर उपन्यासों के दो भेद किये जा सकते हैं (१) स्वाभाविक, (२) अस्वाभाविक। स्वाभाविक वह है जिसका कथानक स्थूल और सूक्ष्म यथार्थ पर आधारित हो जिसमें अनुभूति आत्म कल्पना में रँगी हो। अस्वाभाविक में दिमागी कल्पना जैसे जासूसी आदि, जिसमें जितनी अधिक अस्वाभाविकता होगी, उतनी ही अधिक स्वाभाविक होगा। स्वाभाविक श्रेणी के उपन्यासों में देखना होगा कि दृश्य वातावरण आदि जो उपस्थित किये गये हैं असगत तो नहीं हैं। जैसे महीना तो गर्मी का चल रहा है और पात्र सर्ज का सूट पहने हुए है। सामाजिक और ऐतिहासिक उपन्यासों में इस प्रकार की विशेष सावधानी रखनी पड़ती है। यदि उपन्यासकार ने कहीं 'राणाप्रताप' को तुर्की टोपी अथवा सूट पहना दिया तो उपन्यास की सारी स्वाभाविकता समाप्त हो जायगी। इस प्रकार लेखक केवल अपनी अल्पज्ञता का ही परिचय नहीं देगा, बल्कि वह पाठकों का विश्वास भी खो देगा। यह तो एक मोटी बात है। कभी कभी असंगति बड़ी बारीकी से देखने पर ही दिखलायी पड़ती है। जैसे पात्र को मोटर चलाना तो आता नहीं, या इसके विपरीत इसका कहीं निर्देश नहीं किया गया हो और यकायक दिखा जाय कि मौका पाते ही वह मोटर ले उड़ा।

सत्य दो प्रकार के होते हैं। एक तो वह सत्य होता है जिसे हम देखते हैं, या हमने कभी देखा है और दूसरा सत्य सम्भावित होता है जिसे कभी देखा तो नहीं, परन्तु उसकी सत्यता का अनुमान करते हैं। उपन्यासकार को सम्भावित सत्य का चित्रण अपने उपन्यास में नहीं करना चाहिये। लेखक को सत्य की कसौटी अपने को नहीं, बल्कि पाठकों के मन को मनाना चाहिये। ऐसा कोई भी सत्य जो पाठकों के गले के नीचे न उतरे लेखकों को नहीं चित्रित करना चाहिये, क्योंकि ऐसा करने से उपन्यासकार जो

सन्देश अपनी कृति के द्वारा देना चाहता है, वह ग्राह्य नहीं होगा जिससे उपन्यास का कोई भी मूल्य उपन्यासकार को उसकी साधना के बदले नहीं मिल सकता। किसी चलती हुई ट्रेन से एक बच्चे का गिरना और वहीं किनारे खड़े किसी व्यक्ति के द्वारा गिरते ही उसे गोद में ले लेना तथा बच्चे के प्राण की रक्षा का हो जाना कोई असम्भव नहीं है, परन्तु पाठक सन्देह कर सकता है कि क्या आवश्यक था कि जब बच्चा ट्रेन से गिरा तो वहीं एक व्यक्ति नीचे खड़ा ही रहता। यह लेखक का पूर्व निश्चित आयोजन जान पड़ता है। इस प्रकार ऐसी सची घटनाओं के होते हुए भी उनपर अस्वाभाविकता का आरोप लगाया जा सकता है जिससे उपन्यासकार को सदैव बचने का प्रयत्न करना चाहिये। उसे ऐसे ही सत्यों के चित्रण करना चाहिये जिसे उसका पाठक सत्य समझता है। पाठक ऐसे ही सत्य को सत्य समझ सकता है जिसे वह दैनिक जीवन में घटते देखता है अथवा कभी उसने उसे देखा हो। अतः उपन्यासों के अन्दर स्वाभाविकता लाने के लिए लेखक को इन बातों की ओर विशेष दृष्टि रखनी चाहिये।

शैली और मनोविज्ञान

सूक्ष्म यथार्थ की भूमि पर स्वाभाविकता को परखने के लिए मनोवैज्ञानिक होना पड़ेगा। किस पात्र का कब और कहाँ चरित्र चित्रण उसकी स्वाभाविकता के अनुकूल नहीं रहा, यह समझ लेना बड़ी बारीकी का काम है। पात्र की स्वाभाविकता इसलिए कही गयी है कि पात्रविशेष विशिष्ट हो सकता है; यानी साधारण औसत व्यक्ति से कम या ज्यादा सबनार्मल या एबनार्मल) औसत (नार्मल) वर्ग के पात्र में यदि उपन्यासकार अनायास और अकारण ही कोई ऐसी अजीब बात दिखाता है जो उसके समूचे स्वभाव से मेल खाती, तो वह अस्वाभाविक होगी। यदि दिखाता है तो उसका मनोवैज्ञानिक समीकरण होना चाहिये। यदि वह भी नहीं है तो उसे यह प्रदर्शित करना चाहिये कि यह पात्र एक उलझन है, एक समस्या है, यह भी संसार का एक वैचित्र्य है।

प्रत्येक बात का उचित कारण पाठकों को मिलना चाहिये। मनोविज्ञान और साहित्य के एक दूसरे के अधिक निकट आ जाने के कारण बाह्य यथार्थ से अधिक महत्व आभ्यान्तरिक यथार्थ को मिलने लगा है, जिससे मानव मन के अन्दर उत्पन्न होने वाले भावों तथा आकर्षण आदि मनोवेगों का लेखाजोखा विविध परिस्थितियों एवं घटनाओं को सामने रखकर उसके वास्तविक रूप में उपस्थित करना, यथार्थवादी शैली का सबसे कठिन और महत्वपूर्ण कर्म बन गया है। ट्रेन के डिब्बों में प्रेमी और प्रेमिकाओं को मिलाकर जासूसी तथा ऐयारी उपन्यासकार उनका अभिसार तो करा चुके थे, परन्तु मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारों ने उन डिब्बों का उपयोग दूसरे प्रकार से किया। मुसाफिरों की भीड़ से किसी युवती के प्राण बचाने तथा साथ-साथ यात्रा करने से

उत्पन्न स्वाभाविक प्रेम का विकास दिखलाने में मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार अत्यधिक सफल हुए हैं। प्रेमिका को डिब्बे में बैठा देने पर प्लेटफार्म पर खड़ा प्रेमी किस प्रकार संज्ञा-शून्य रहता है, ट्रेन खुलकर जब कुछ दूर चली जाती है तो किस प्रकार उसे यकायक होश आ जाता है और उसके मन में किस-किस प्रकार की विचार-शृंखला द्रुतगति से बनने-बिगड़ने लगती है, आदि सूक्ष्मातिसूक्ष्म मार्मिक अवस्थाओं की अभिव्यक्ति यथार्थवादी शैली की चरम निष्पत्ति कही जा सकती है।

शैली और भाषा

शैली के अन्दर भाषा का महत्वपूर्ण स्थान है। भाषा का महत्व इतना अधिक है कि शैली से कभी-कभी हम भाषा का ही अर्थ समझ बैठते हैं। यथार्थवादी दृष्टिकोण से उपन्यासों की भाषा पात्रानुकूल होनी चाहिये, और इस विषय को लेकर साहित्य के अन्दर काफी विवाद भी चलता रहा है। एक सीमा तक सभी विद्वान सहमत हैं कि स्वाभाविकता लाने के लिए पात्रानुकूल भाषा अनिवार्य है। उपन्यासों के अन्दर साधारणतः पात्र दो प्रकार के पाये जाते हैं—एक तो व्यक्ति (इण्डिविजुअल) और दूसरे (टाइप)। जिस पात्र में अपनापन पाया जाय उसे हम व्यक्ति और जो किसी वर्ग का प्रतिनिधि हो उसे प्रकार विशेष अथवा टाइप कहेंगे।

पात्रानुकूल भाषा के प्रयोग का महत्व सर्वप्रथम प्रेमचन्दजी ने समझा और "सेवा-सदन' नामक उपन्यास में हमें इसका सर्वोत्तम सफल प्रयोग भी दिखलायी पड़ता है। पात्रों की बातचीत में उन्होंने अधिकतर पात्रानुकूल भाषा का प्रयोग करने का प्रयास किया है। हिन्दू घरों में हिन्दी और पढ़े-लिखे मुसलमानों से उर्दू ही बोलवायी गयी है। गाँव का चमार अपने गाँव की भाषा बोलता है, चाहे कलकत्ते से लौटकर भले ही वह 'विलायती बोल' बोलने लगे। जब कहीं ग्रामीणों का प्रसंग आता है तो उन्होंने ठेठ भाषा का व्यवहार किया है, जिससे उपन्यास की स्वाभाविकता और भी बढ़ जाती है। पर देखना हमें यह है कि क्या सच्चे अर्थों में इस नियम का पालन करना सम्भव है। जहाँ तक स्वाभाविक भाषा का प्रश्न है, इसे स्वीकार करने में दो मत हो नहीं सकते, पर जहाँ पर पात्रों के अनुसार भाषा के प्रयोग का प्रश्न है, हमें प्रेमचन्दजी के बाद की कृतियों को देखने से पता लगता है कि वे भी इस पथ से डिगते से जान पड़ते हैं। 'रंगभूमि' के अन्दर ईसाई से लेकर पण्डा और देहाती तक सभी खड़ी बोली बोलते हैं।

विज्ञान के आविष्कार ने जहाँ पर संसार की दूरी कम कर दी है, वहीं पर उसने सम्पर्क के माध्यम से व्यक्ति के संसार का अत्यधिक विस्तार भी कर दिया है। आज के संसार में न तो केवल हिन्दू या मुसलमान ही रहते हैं, बल्कि एक-एक देश में हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, अंग्रेज आदि सभी रहते हैं, और सबसे सबका दैनिक जीवन में सरोकार रहता है। इसलिए यह अत्यन्त स्वाभाविक है कि आज के उपन्यासों के

अन्दर भिन्न-भिन्न देश के भाषा-भाषी पात्र आयें। जब कि भारतवर्ष के अन्दर ही बीस से अधिक ऐसी भाषाएँ हैं जिनके बोलने वाले वर्तमान हैं, तथा उनका अपना कुछ न कुछ साहित्य भी है, तब हम यह किसी भी प्रकार दावा तो कर नहीं सकते कि एक प्रकार की भाषा बोलने वाले पात्रों को उपन्यासों में स्थान मिलेगा। यदि हम अंग्रेज से अंग्रेजी, मद्रासी से 'तमिल', अमेरिकन से अमेरिकी भाषा का प्रयोग कराने लगेंगे तो उपन्यास विविध भाषाओं का चिड़ियाघर हो जायगा, और इससे उपन्यासों की सर्वग्राह्यता में कितनी बाधा उपस्थित होगी, पाठक स्वयं अनुमान लगा सकते हैं।

लेखक के सामने जब कभी इस प्रकार की भाषा सम्बन्धी समस्या उपस्थित हो तो उसे चाहिये कि वह भाषा का प्रयोग पात्रों की सामाजिक रहन-सहन एवं विद्या बुद्धि सम्बन्धी स्तर के अनुसार करें। यदि 'कालिदास' ऐसा पात्र हो तो नील सरोवर में स्वर्ण कमल खिलने जैसी बात स्वाभाविक है, परन्तु यदि लेखक रमई चमार से भी स्वर्ण कमल खिलने की बात कहलवाता है तो वह अत्यन्त ही अस्वाभाविक होगी। ऐसी स्थिति में लेखक को चाहिये कि वह साधारण पात्रों के मुख से साधारण बोलचाल की भाषा और श्रेष्ठ पात्रों से साहित्यिक भाषा का प्रयोग कराये और जब कभी उसे अप्रान्तीय अथवा विदेशी पात्रों के मुख से कुछ कहलवाना हो तो अति सामान्य भाषा को व्यवहार में लाये। कुछ उपन्यासकार घटनाओं को सचाई के रंग में अधिक रँगने के लिए डायरी आदि के पृष्ठों को उद्धृत करते हैं। ऐसी स्थिति में यदि डायरी वाला व्यक्ति साधारण पढ़ा लिखा है तो उसके लेखों के अन्दर साधारण हिन्दी के साथ-साथ बीच में कहीं-कहीं अंग्रेजी आदि भाषाओं के एकाध शब्द रख देने से स्वाभाविकता ही बढ़ेगी। इस प्रकार पात्रानुकूल भाषा का तात्पर्य वहीं तक लेना चाहिये जहाँ तक कि पाठक उसे पढ़कर उसकी स्वाभाविकता में पूर्ण आस्था प्रकट कर सके।

प्रयोग खण्ड

हिन्दी में यथार्थवाद का उद्भव और विकास

हिन्दी में यथार्थवाद का उद्भव और विकास

उदय और विकास की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

हिन्दी साहित्य की प्रमुख आधुनिक विचार धाराओं पर यूरोपीय साहित्य का अत्यधिक प्रभाव है। विश्व-साहित्य मे उपन्यास का आरम्भ *योरोप के पुनर्जागरण के* पश्चात् हुआ। इटली से आरम्भ होकर जागरण की यह लहर एक के बाद एक देश में प्रसार पाती गई। उपन्यास साहित्य के विकास के लिए औद्योगिक क्रांति तज्जन्य जटिल सभ्यता एवं जटिल जीवन के सूत्रपात ने अनुकूल पीठिका प्रदान की। हमारे यहाँ आधुनिक युग एवं जटिल-सभ्यता का आरम्भ बहुत बाद में अंग्रेजी साहित्य के सम्पर्क से हुआ, यह ऐतिहासिक सत्य है। विज्ञान के आलोक मे विकासमान वर्तमान *सभ्यता का आरम्भ जितने विलम्ब से भारतवर्ष में हुआ, उसे पूर्ण अभिव्यक्त प्रदान करने* वाले उपन्यास साहित्य का आरम्भ भी उसी अनुपात मे हुआ। भारत में अंग्रेजी राज्य और अंग्रेजी शिक्षा के बढते हुए महत्व के कारण हिन्दी के साहित्यकार योरोपीय साहित्य क सम्पर्क मे आए। जर्मनी मे सर्वप्रथम 'गेटे' ने मध्यवर्गीय परिवार के नायक को सामाजिक पृष्ठभूमि पर लाकर खडा किया। 'गेटे' के बाद यह विचारधारा फ्रांस की ओर मुडी जो ब्रिटेन में जाकर 'स्काट' के ऐतिहासिक उपन्यासों में बदल गई। फ्रांस के 'स्तादल' ने पूँजीपति वर्ग की ह्रासोन्मुखी दशा का वर्णन किया। इसके पश्चात् 'बाल्जाक' पहला व्यक्ति था जिसने नवीनतम समस्याओं को लेकर दैनिक जीवन के महत्व को परखा। 'फ्लावेयर' ने साहित्यकारों से माँग की कि दैनिक जीवन के छोटे-छोटे एवं नगण्य चित्रों को कला के द्वारा साहित्य के उच्च स्तर पर चित्रित करें और उसने स्वयं तथाकथित उदात्त भावनाओं की झुठाई की पोल खोली।

'फ्लावेयर' के समय मे 'विक्टर ह्यूगो' ने नये प्रयोग किए। 'पेरिस का कुबडा' तथा 'अभागे' नामक उपन्यासों में केवल उसने उपेक्षित तथा निम्नस्तर के पात्रों की हीन अवस्था का ही चित्रण नहीं किया, बल्कि मानवीय मर्यादा तथा आत्मगौरव की प्रवृत्तियों को भी उसने उभार कर सामने रखा। 'जोला' के नये प्रयोग केवल प्रयोग के लिए ही किये गये। उसकी दृष्टि 'प्रकृतवादी' थी। फ्रांस के बाद यथार्थवादी साहित्य का सच्चा रूप रूस में जाकर प्रकट हुआ। 'बाल्जाक' की सभी समस्याओं या रूस के

'टाल्स्टाय' ने और भी अच्छे ढंग से अपनाया[1] ।" अस्तु पूँजीवादी समाज के उस घोर साहित्यिक आपत्काल में आशा की जो पहली किरण फूटी, वह थी उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में रूसी उपन्यास का उदय । 'तुर्गनेव' 'टाल्स्टाय' और 'डास्टाएव्सकी' ने जो यथार्थ देखा और अंकित किया, वह उनके "फ्रांसीसी आचार्यों की अपेक्षा कई गुना अधिक सजीव, जीवन के अधिक निकट, अधिक सहज, अधिक स्पर्श और अधिक मार्मिक था[2] । 'टाल्स्टाय' के यथार्थवाद में मनुष्य की शत-शत दुर्बलताओं, भूलों और भ्रान्तियों के बावजूद महामानव के भीतर निहित आत्मिक शक्तियों की विजय पर विश्वास पाया जाता है।"

गोर्की के उपन्यासों में सर्वहारा वर्ग की अवस्था का चित्रण हुआ । इस प्रकार उसके यथार्थवाद में वास्तविक चित्रण के साथ-साथ सामाजिक संघर्षों के भी चित्र मिलने लगे, जिन्होंने एक नयी सामाजिक क्रांति की रूप-रेखा स्पष्ट की और धीरे-धीरे 'मार्क्स' के सिद्धांतों को प्रमुख स्थान मिला जिसका आधार समाज की आर्थिक व्यवस्था है।" उन रूसी उपन्यासकारों की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि उन्होंने जारयुगीन दुर्दान्त शासन की आपदाओं के बीच भी 'सामूहिक मानवीय चेतना के उत्तरोत्तर विकास सम्बन्धी अपने सहज विश्वास को कभी डिगने न दिया । इसी महान परम्परा में आगे चलकर गोर्की ने अपना महानुतर योग दिया[3] ।"

इसके साथ ही साथ सर्वहारा वर्ग की सत्ता स्थापित हो जाने पर हारे हुए पूँजीपति वर्ग के लोगों ने निराश हो 'फ्रायड' के सिद्धांत की शरण ली तथा उन लोगों ने धीरे-धीरे पाशविक आदिम प्रवृत्तियों को अपनाना आरम्भ कर दिया ।

विज्ञान के वरदान तथा विदेशी साहित्य के सम्पर्क में आने के कारण यूरोपीय साहित्य की ये आधुनिकतम प्रवृत्तियाँ अवसरानुकूल हिन्दी साहित्य के अन्दर भी अभिव्यक्त हुई । 'भारतेन्दु' हरिश्चन्द्र ने यथार्थ की जिस प्रवृत्ति, को अपने साहित्य में स्थान दिया, उसका आज तक निरन्तर विकास होता चला आ रहा है ।

विज्ञान और यथार्थवाद का प्रादुर्भाव

उन्नीसवीं शताब्दी में विज्ञान ने मानव-जीवन के ही नहीं बल्कि प्रकृति के नाना क्षेत्रों में क्रांतिकारी परिवर्तन उपस्थित किया । जितनी भी प्राचीन मान्यताएँ शुद्ध कल्पना के बल पर टिकी थी, उन पर से लोगों का विश्वास डिगने लगा और इसने मानव समाज

१—अजीतकुमार (आलोचना उपन्यास अंक पृ० संख्या २१-२२)

२—इलाचन्द्र जोशी (आलोचना-११ विश्व उपन्यास का क्रमिक विकास और भविष्य)

३—अजीतकुमार (आलोचना उपन्यास अंक पृ० २२)

को एक ऐसे बिन्दु पर लाकर खड़ा कर दिया जहाँ वह किसी भी वस्तु को केवल इसलिए मानने को तैयार नहीं कि वह हमारे लिए मान्य अथवा अनुकरणीय है, क्योंकि वेदों द्वारा उसे मान्यता प्राप्त है। किसी वस्तु को मान लेने के पूर्व वह उसकी सम्भावनाओं की ओर देखने लगा। यहाँ पर आकर मानव जीवन के पुराने आदर्शों में आमूल परिवर्तन हुआ। एक सुनिश्चित आदर्श विकास के लिये आरम्भ में ही नहीं मान लिया गया बल्कि मानव समाज धीरे-धीरे अपने निचले स्तर से उठकर विकसित हुआ और आज का समाज उस विकास की चरम निष्पत्ति है, ऐसा माना जाने लगा। मुद्रण यंत्रों के आविष्कार ने गद्य साहित्य को प्रोत्साहन देकर तथा छापेखानों की सुविधाओं के कारण साहित्य को मनुष्यों के दैनिक जीवन के अत्यधिक निकट ला दिया।

आन्तरिक प्रेरणा

राष्ट्रीय आन्दोलन और गांधी का नेतृत्व

इसके पूर्व ही साहित्य का सामाजिक तथा राष्ट्रीय महत्व तो आँका जा चुका था परन्तु भारत का सच्चा साधारण नागरिक साहित्य में उसी समय आया जब कि भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व गांधीजी के हाथों में आया। देश के अन्दर युग-जागरण तो आ गया था, बंगाल में स्थापित ब्रह्मसमाज जैसी सामाजिक संस्थाओं से हमारे हिन्दी के साहित्यकार प्रेरणा तो ग्रहण कर रहे थे, परन्तु अब तक सच्चा किसान साहित्य में नहीं आ सका था। प्रेमचन्द जी ने जब अपना सेवासदन लिखा तो उस समय तक गांधीजी का प्रभाव राजनीतिक क्षेत्र में व्यापक नहीं हो पाया था। परन्तु उसके बाद ही हम देखते हैं कि प्रेमचन्दजी के साहित्य का रूप ही बदल गया।

गांधीजी के पूर्व कांग्रेस राष्ट्रीय विचार रखने वाले एक शिक्षित समाज की संस्था थी। उन्होंने पहली बार सात लाख गाँवों का नाम लिया और लोगों को जनता के अन्दर छिपी हुई महान् शक्ति से परिचित कराया। सब ने जनता-जनार्दन को पहचाना। रवीन्द्रनाथ ठाकुर और महात्मा गांधी के बीच हुए पत्र-व्यवहारों में, जिसमें गाँधीजी ने 'टैगोर' की कवि-कल्पना द्वारा उद्भूत विचारों का उत्तर दिया था, स्पष्ट प्रकट हो जाता है कि गाँधीजी ने देश की स्वतंत्रता से अधिक महत्वपूर्ण देश की दरिद्रता एवं रोटी-कपड़े की समस्या को समझा। इस बीच लिखे जाने वाले साहित्य के अन्दर हमें वे सभी मोड़ मिल जायेंगे जो गाँधीजी के प्रभाव से राष्ट्रीय आन्दोलन में आये थे।

द्वितीय महायुद्ध के समाप्त होने के पश्चात् तक भारत की सम्पूर्ण जनता में भारी असन्तोष फैल चुका था। पूँजीपतियों के छोटे वर्ग के अतिरिक्त, जिसने युद्धकाल में धन कमाया था, शेष सारा भारत आर्थिक संकट और राजनीतिक निराशा में डूबा हुआ था। टर्की के अपमान से भारतीय मुसलमानों में भी अंग्रेज़ों के प्रति कटुता आ गयी थी। देश के अन्दर वातावरण तो तैयार हो चुका था, केवल जनवाणी को स्वर देना था।

'टाल्स्टाय' ने और भी अच्छे ढंग से अपनाया[1]।" अस्तु पूँजीवादी समाज के उस घोर साहित्यिक आपत्काल में आशा की जो पहली किरण फूटी, वह थी उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में रूसी उपन्यास का उदय। 'तुर्गनेव' 'टाल्स्टाय' और 'डास्टाएव्सकी' ने जो यथार्थ देखा और अंकित किया, वह उनके "फ्रांसीसी आचार्यों की अपेक्षा कई गुना अधिक सजीव, जीवन के अधिक निकट, अधिक सहज, अधिक स्पर्श और अधिक मार्मिक था[2]। 'टाल्स्टाय' के यथार्थवाद में मनुष्य की शत-शत दुर्बलताओं, भूलों और भ्रान्तियों के बावजूद महामानव के भीतर निहित आत्मिक शक्तियों की विजय पर विश्वास पाया जाता है।"

गोर्की के उपन्यासों में सर्वहारा वर्ग की अवस्था का चित्रण हुआ। इस प्रकार उसके यथार्थवाद में वास्तविक चित्रण के साथ-साथ सामाजिक संघर्षों के भी चित्र मिलने लगे, जिन्होंने एक नयी सामाजिक क्रांति की रूप-रेखा स्पष्ट की और धीरे-धीरे 'मार्क्स' के सिद्धांतों को प्रमुख स्थान मिला जिसका आधार समाज की आर्थिक व्यवस्था है।" उन रूसी उपन्यासकारों की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि उन्होंने जारयुगीन दुर्दान्त शासन की आपदाओं के बीच भी 'सामूहिक मानवीय चेतना के उत्तरोत्तर विकास सम्बन्धी अपने सहज विश्वास को कभी डिगने न दिया। इसी महान परम्परा में आगे चलकर गोर्की ने अपना महानुतर योग दिया[3]।"

इसके साथ ही साथ सर्वहारा वर्ग की सत्ता स्थापित हो जाने पर हारे हुए पूँजीपति वर्ग के लोगों ने निराश हो 'फ्रायड' के सिद्धांत की शरण ली तथा उन लोगों ने धीरे-धीरे पाशविक आदिम प्रवृत्तियों को अपनाना आरम्भ कर दिया।

विज्ञान के वरदान तथा विदेशी साहित्य के सम्पर्क में आने के कारण यूरोपीय साहित्य की ये आधुनिकतम प्रवृत्तियाँ अवसरानुकूल हिन्दी साहित्य के अन्दर भी अभिव्यक्त हुईं। 'भारतेन्दु' हरिश्चन्द्र ने यथार्थ की जिस प्रवृत्ति, को अपने साहित्य में स्थान दिया, उसका आज तक निरन्तर विकास होता चला आ रहा है।

विज्ञान और यथार्थवाद का प्रादुर्भाव

उन्नीसवीं शताब्दी में विज्ञान ने मानव-जीवन के ही नहीं बल्कि प्रकृति के नाना क्षेत्रों में क्रांतिकारी परिवर्तन उपस्थित किया। जितनी भी प्राचीन मान्यताएँ शुद्ध कल्पना के बल पर टिकी थीं, उन पर से लोगों का विश्वास डिगने लगा और इसने मानव समाज

१—अजीतकुमार (आलोचना उपन्यास अंक पृ० संख्या २१-२२)
२—इलाचन्द्र जोशी (आलोचना-११ विश्व उपन्यास का क्रमिक विकास और भविष्य)
३—अजीतकुमार (आलोचना उपन्यास अंक पृ० २२)

को एक ऐसे बिन्दु पर लाकर खड़ा कर दिया जहाँ वह किसी भी वस्तु को केवल इसलिए मानने को तैयार नहीं कि वह हमारे लिए मान्य अथवा अनुकरणीय है, क्योंकि वेदों द्वारा उसे मान्यता प्राप्त है। किसी वस्तु को मान लेने के पूर्व वह उसकी सम्भावनाओं की ओर देखने लगा। यहाँ पर आकर मानव जीवन के पुराने आदर्शों में आमूल परिवर्तन हुआ। एक सुनिश्चित आदर्श विकास के लिये आरम्भ में ही नहीं मान लिया गया बल्कि मानव समाज धीरे-धीरे अपने निचले स्तर से उठकर विकसित हुआ और आज का समाज उस विकास की चरम निष्पत्ति है, ऐसा माना जाने लगा। मुद्रण यंत्रों के आविष्कार ने गद्य साहित्य को प्रोत्साहन देकर तथा छापेखानों की सुविधाओं के कारण साहित्य को मनुष्यों के दैनिक जीवन के अत्यधिक निकट ला दिया।

आन्तरिक प्रेरणा

राष्ट्रीय आन्दोलन और गांधी का नेतृत्व

इसके पूर्व ही साहित्य का सामाजिक तथा राष्ट्रीय महत्व तो आँका जा चुका था परन्तु भारत का सच्चा साधारण नागरिक साहित्य में उसी समय आया जब कि भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व गांधीजी के हाथों में आया। देश के अन्दर युग-जागरण तो आ गया था, बंगाल में स्थापित ब्रह्मसमाज जैसी सामाजिक संस्थाओं से हमारे हिन्दी के साहित्यकार प्रेरणा तो ग्रहण कर रहे थे, परन्तु अब तक सच्चा किसान साहित्य में नहीं आ सका था। प्रेमचन्द जी ने जब अपना सेवासदन लिखा तो उस समय तक गांधीजी का प्रभाव राजनीतिक क्षेत्र में व्यापक नहीं हो पाया था। परन्तु उसके बाद ही हम देखते हैं कि प्रेमचन्दजी के साहित्य का रूप ही बदल गया।

गांधीजी के पूर्व कांग्रेस राष्ट्रीय विचार रखने वाले एक शिक्षित समाज की संस्था थी। उन्होंने पहली बार सात लाख गाँवों का नाम लिया और लोगों को जनता के अन्दर छिपी हुई महान् शक्ति से परिचित कराया। सब ने जनता-जनार्दन को पहचाना। रवीन्द्रनाथ ठाकुर और महात्मा गांधी के बीच हुए पत्र-व्यवहारों में, जिसमें गांधीजी ने 'टैगोर' की कवि-कल्पना द्वारा उद्भूत विचारों का उत्तर दिया था, स्पष्ट प्रकट हो जाता है कि गांधीजी ने देश की स्वतंत्रता से अधिक महत्वपूर्ण देश की दरिद्रता एवं रोटी-कपड़े की समस्या को समझा। इस बीच लिखे जाने वाले साहित्य के अन्दर हमें वे सभी मोड़ मिल जायेंगे जो गांधीजी के प्रभाव से राष्ट्रीय आन्दोलन में आये थे।

द्वितीय महायुद्ध के समाप्त होने के पश्चात् तक भारत की सम्पूर्ण जनता में भारी असन्तोष फैल चुका था। पूँजीपतियों के छोटे वर्ग के अतिरिक्त, जिसने युद्धकाल में धन कमाया था, शेष सारा भारत आर्थिक संकट और राजनीतिक निराशा में डूबा हुआ था। टर्की के अपमान से भारतीय मुसलमानों में भी अंग्रेजों के प्रति कटुता आ गयी थी। देश के अन्दर वातावरण तो तैयार हो चुका था, केवल जनवाणी को स्वर देना था।

गान्धीजी के कांग्रेस में आने के पूर्व यह संस्था कुछ पढ़े लिखे मस्तिष्क वाले राष्ट्रभक्तों तक ही सीमित थी, और वह जन साधारण की वस्तु नहीं हो पायी थी। सन् १६१४ में अफ्रीका से भारत लौट आने पर गांधीजी ने देश के किसानों और श्रमिकों की भलाई का ध्येय अपनाया, तथा अपने आन्दोलन की दृढ़ नींव ही इनकी सामूहिक शक्ति पर खड़ी की। उन्होंने चम्पारन में किसानों के पक्ष में एक सफल आन्दोलन भी चलाया, जिसकी सफलता ने पहली बार सर्वसाधारण की सामूहिक शक्ति को प्रकट किया।

अहमदाबाद के साबरमती स्थान पर उन्होंने किसानों और मजदूरों के बीच एक आश्रम खोला, और वहीं से 'रौलट बिल' के विरोध में सत्याग्रह आन्दोलन आरम्भ किया। उन्होंने जनता को सत्याग्रह का पाठ सिखाने के लिए सम्पूर्ण देश में भ्रमण किया, और जनता को उनके अन्दर छिपी हुई सोई अपार शक्ति से परिचित कराया। उन्होंने बताया कि सत्याग्रह समस्त देश के लिए आत्मसंयम और आत्मशुद्धि का कार्य है। जनता के अन्दर से अपने को हीन समझने वाली भावना धीरे-धीरे दूर होने लगी, जिसका परिणाम यह हुआ कि थोड़े समय में ही विदेशी सरकार को उखाड़ फेंकने के लिये ग्रामीणों की विशालवाहिनी, स्वाधीनता संग्राम में लगे हुए नेताओं के साथ प्राणों पर खेलने के लिए तैयार हो गयी। उसके अन्दर इतना साहस आ गया कि जब गाँधी जी ने ६ अप्रैल को रौलट बिल के विरोध में हड़ताल और व्रत का दिन निश्चित किया, तो जनता जुलूस बनाकर सरकार की निन्दा करती हुई आगे बढ़ी। यह पहला आन्दोलन था जिसमें अमीर-गरीब, ऊँच-नीच, हिन्दू-मुसलमान सभी साथ थे। जनता के अन्दर इतनी शक्ति और ओज आ गया था कि वह पुलिस के अत्याचारों का मुकाबला करने के लिए हिंसक भी हो उठी। इसी के आसपास १३ अप्रैल १६१६ को अमृतसर के जलियांवाला बाग में अंग्रेजों ने निहत्थी भोलीभाली जनता पर सेना द्वारा घोर पाशविक अत्याचार करवाया, जिसके फलस्वरूप दो हजार व्यक्ति घायल हुए और चार सौ वहीं मर गये। इस भीषण नर-संहार के पश्चात् गांधीजी ने असहयोग आन्दोलन की नीति को अपनाया। उदारवादी दल के लोग इसे उचित नहीं समझते थे, क्योंकि सुरेन्द्रनाथ के मतानुसार जनता पारस्परिक हिंसा और घृणा के कारण सहयोग कर रही था।

गाँधीजी ने सम्पूर्ण देश का समर्थन प्राप्त करके असहयोग आन्दोलन को आगे बढ़ाया। कलकत्ते के कांग्रेस अधिवेशन में आन्दोलन पर जो प्रस्ताव स्वीकृत हुआ था, उसमें आन्दोलन के आरम्भ में सरकार को उन संस्थाओं का, जिनके द्वारा वह अपनी शक्ति का संगठन करती थी, बहिष्कार करने का कार्यक्रम निर्धारित किया गया था, जिसमें उपाधियों का त्याग, स्थानीय संस्थाओं की सदस्यता से त्याग, सरकारी दरबारी उत्सवों में भाग न लेना, अंग्रेजी स्कूलों तथा विद्यालयों का बहिष्कार, प्रान्तों में राष्ट्रीय शिक्षा

सम्बन्धी संस्थाओं की स्थापना करना, वकीलों और न्यायाधीशों का अदालतों का बहिष्कार, पंचायतों की स्थापना, विदेशी नौकरियो का बहिष्कार, स्वदेशी प्रचार और विदेशी बहिष्कार आदि को कार्यान्वित करने की योजना बनायी गयी। इस योजना ने देश के गांव-गांव में राष्ट्रीय चेतना का ऐसा मन्त्र फूंका कि सारा भारत उठ खड़ा हुआ।

राजनैतिक समस्याओं को हल करने के लिए मार्ग में जो सबसे बड़ी समस्या गाँधी जी को दिखलायी दी, वह थी सामाजिक समस्या। सामाजिक अनाचार का एक भयावह रूप अछूत समस्या लेकर सामने आता है। गांधीजी के हरिजन आन्दोलन ने देश के पढ़े-लिखे लोगों का ध्यान इस सामाजिक कोढ़ की ओर खींचा। गांधीजी द्वारा उठायी गयी तत्कालीन सभी सामाजिक एवं राजनैतिक समस्याओं की ओर उस युग के जागरूक साहित्यकारों की दृष्टि गयी। लगभग उसी समय हम प्रेमचन्द को 'कर्मभूमि' में अछूतों की समस्या को उठाते हुए पाते हैं। प्रेमचन्दजी की अमर कृति 'रंगभूमि' राष्ट्रीय जन-जागरण की ही देन है। हम देखते हैं कि जिस प्रकार गांधीजी का उद्देश्य जनमत तैयार करना था, वे जिस प्रकार सामाजिक विकास में विश्वास रखते थे, अच्छे तरीकों के असफल होने पर ही जिस प्रकार क्रान्ति का होना सम्भव मानते थे, प्रत्येक को समान अवसर दिलाने की जिस प्रकार वकालत करते थे तथा उनका जैसा विश्वास था कि सामाजिक अथवा राजनैतिक व्यवस्था तब तक उन्नति के पथ पर नहीं बढ़ सकती, जब तक कि समाज के एक-एक व्यक्ति की व्यक्तिगत रूप से उन्नति नहीं की जाती, उसी प्रकार की समस्याएँ प्रेमचन्दजी के उपन्यासो में उठायी गयी हैं और समाधान भी गांधीजी के आदर्शों पर ही प्रस्तुत किया गया है। उनका अमर चरित्र 'सूरदास' तो गांधीजी के आदर्शों का मूर्तिमान चित्र है। आज जहाँ हरिजन आन्दोलन मंदिरप्रवेश आन्दोलन तक ही सीमित रह जाता है, वहाँ प्रेमचन्द आगे बढ़कर चमारों के गाँव के आभ्यन्तरिक सुधार की तह की समस्या तक पहुँचते हैं।

इस युग से प्रभावित लेखकों द्वारा लिखे जाने वाले साहित्य के अन्दर मुख्यतः प्रेममचन्दजी के उपन्यासों में राष्ट्रीय आन्दोलन का इतिहास मिल सकता है। शासन के अनाचार, जमींदारों की नृशंसता, सरकारी कर्मचारियों की धांधली, जनता का जागरण, सत्याग्रह संग्राम तथा असहयोग आन्दोलन आदि सभी घटनाओं का वास्तविक चित्रण उनके उपन्यासों के अन्दर हुआ है। इस प्रकार महात्मा गांधी ने यथार्थ राष्ट्रीय साहित्य को महान प्रेरणा प्रदान की।

ग्रामीण जागरण

सत्याग्रह-संग्राम की सफलता तथा राष्ट्रीय आन्दोलन के विकसित रूप ने जनता के अन्दर साहस का संचार किया। १९२३ और १९२४ ई० में उत्तर प्रदेश में पहला किसान आन्दोलन चला, परन्तु कांग्रेस ने उसे विशेष मान्यता नहीं दी। प्रेमचन्द

'प्रेमाश्रम' में ही ग्रामीण प्रश्नों की ओर दृष्टि ले जा चुके थे और फिर, 'कर्मभूमि' में उन्होंने गाँव को अपना विषय बनाया। 'गोदान' तक आते-आते ग्रामीण जागरण इतना बढ़ गया था कि 'धनिया' जैसी स्त्रियां दारोगा को भली-भाँति फटकार सकती थी और 'गोबर' ऐसे नवयुवक जमींदारों की पोल समझने लगे थे।

१६३०-३२ के आन्दोलन की जड़ें बड़ी शीघ्रता से दृढ़ होने लगी। उनमें इतनी शक्ति आ गयी थी कि सरकार को समझौता करना पड़ा, परन्तु कुछ लोगों ने इस समझौते का विरोध इसलिए किया कि वह सरकार की शक्ति को कुण्ठित करने के लिए प्रलोभन था। इसकी प्रतिक्रिया हमें प्रेमचन्द के 'गोदान' में स्पष्ट रूप से दिखलायी पड़ती है।

शिक्षित मध्यमवर्ग का उदय

भारत में शिक्षित मध्यवर्ग के उदय का कारण अंग्रेजी राज्य की सत्ता है। मुख्यतः इसका उदय उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे हुआ। अंग्रेजी राज्य दृढ़ करने एवं आफिसों में कार्य करनेवाले बाबुओं को तैयार करने के लिए खोले गये स्कूल और कालेजों ने इसे उत्पन्न किया।

भारतवर्ष का मध्यवर्ग सबसे अधिक चित्य वर्ग है। इसकी सारी कठिनाइयाँ इसकी कमजोरियों के कारण है। हिन्दी के प्रथम कहे जानेवाले उपन्यास 'परीक्षा गुरु' में हमें इस वर्ग का चित्रण मिलता है और बराबर यह साहित्यकारों की दृष्टि अपनी ओर आकर्षित करता चला आ रहा है।

प्रजातन्त्र और समानता की भावना

विश्व के अन्दर प्रजातन्त्रीय शासन व्यवस्था को मिलती हुई प्रमुखता ने व्यक्ति के सामाजिक स्तर संबन्धी भेद-भाव को मिटाकर समानता की भावना का उदय किया। निचले से निचले स्तर का व्यक्ति भी श्रेष्ठतम पद प्राप्त करने की कल्पना कर सकता है जिसके परिणामस्वरूप साहित्य के अन्दर वर्ग अथवा व्यक्ति विशेष को ही स्थान न मिलकर, सभी जन सामान्य को स्थान मिलना अनिवार्य हो गया। आज का 'यथार्थवादी' साहित्य इसी सामाजिक मान्यता के आधार पर अपनी सृष्टि कर रहा है।

उपन्यास का उदय और यथार्थवाद का विकास

श्रेष्ठ साहित्य युगधर्म तथा सामाजिक परिस्थियों की देन होता है। देशकाल मे भेद पड़ने के कारण सामाजिक परिस्थितियों मे जो अन्तर पड़ता है, उसका अविलम्ब प्रभाव साहित्यिक रूप पर पड़ता है। साहित्य-धर्म की मान्यता तथा उसके रूप का निर्धारण युग के अनुसार हुआ करता है और उसके अन्दर भी युगानुकूल मोड़ आते रहते हैं। हमारा आधुनिक 'उपन्यास'-साहित्य मानव की आधुनिक विषम परिस्थितियों

की देन है। हिन्दी में उपन्यास शब्द बहुत पुराना नहीं है, बल्कि १९ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में पाश्चात्य सभ्यता और कथा साहित्य के सम्पर्क में आने के कारण यह शब्द हिन्दी साहित्य में अपना स्वरूप लेकर आया। गद्य साहित्य की आशातीत उन्नति के कारण ही साहित्य के इस आधुनिक श्रेष्ठ रूप की सृष्टि आवश्यकताओं के अनुसार हो सकी।

योरोप के अन्दर वैज्ञानिक आन्दोलन ने एक नयी युगक्रान्ति उपस्थित कर दी और फलतः जमाने ने एक नयी करवट बदली। विज्ञान की आशातीत सफलताओं ने मनुष्यों के सोचने की दृष्टि में महान् भेद उपस्थित कर दिया। विचारों में वह तार्किक एवं बुद्धिवादी हो चला। धीरे-धीरे अन्धविश्वासों पर टिकी हुई सभी पूर्व. मान्यताएँ समय की पीठ के नीचे दबती गयीं और पूर्व का भोला मानव सहज हो बुद्धि-अग्राह्य वस्तुओं को मानने में हिचकने लगा। छापेखानों के आविष्कार ने साहित्य को कानों से हटाकर आँखों के पास ला दिया और साहित्य नवजीवन के अत्यधिक निकट आया।

योरोप की औद्योगिक क्रान्ति का बड़ा ही महत्वपूर्ण प्रभाव तत्कालीन समाज पर पड़ा। योरोपीय जीवन-परिवर्तन बड़ी ही द्रुतगति से बढ़ने लगा जिसका प्रभाव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र पर पड़ा। जिस एक कार्य को सैकड़ों व्यक्ति मिलकर कठिनाई से कर सकते उसे मशीन सरलतापूर्वक अपेक्षाकृत थोड़े समय में और भी सुन्दर ढंग से करने लग गयी। थोड़े समय तक तो इससे व्यवस्था में विशेष बाधा नहीं आयी, परन्तु शीघ्र ही बेकारी की समस्या ने समाज को पूर्णतः झकझोर दिया। आवश्यकताओं में महान् वृद्धि हो जाने के कारण परेशानी भी बढ़ी और सामाजिक जीवन अत्यन्त विषम एवं जटिल हो गया। विज्ञान की वृद्धि ने जगत के विस्तार में संकोच कर दिया और प्रत्येक देश की विभाजक प्राकृतिक सीमाओं की कठिनाइयों को दूर कर पारस्परिक सम्बन्धों की स्थापना कर दी जिससे औद्योगिक क्रान्ति का प्रभाव अन्य देशों पर पड़ा।

जगत और जीवन की अभिव्यक्ति अबतक जिन साहित्यिक रूपों द्वारा हो रही थी, वे जीवन की प्रस्तुत विषम परिस्थितियों को चित्रित करने में अपूर्ण जान पड़ने लगे। कवि गीतधर्मी होने के कारण व्यक्तिस्वातंत्र्य का उपासक होता है जिससे उसकी सृष्टि व्यक्तिगत अधिक होती है, समष्टिगत कम। इसके विपरीत उपन्यासकार बाह्य प्रभावों को अधिक ग्रहण करता है। कवि भावुकता से प्रेरित होने के कारण प्रायः यह भूल बैठता है कि वह सामाजिक प्राणी है, परन्तु उपन्यासकार की स्थिति ऐसी नहीं होती। वह समाज में रहकर सम-सामयिक परिस्थितियों से प्रभाव ग्रहण करता हुआ अपनी बुद्धि एवं अनुभवों से पसार कर युग एवं समसामयिक समस्याओं का यथार्थ चित्र, समाज के लिए प्रस्तुत करता है। "ध्यान रखना चाहिये कि उत्तम कविता अपेक्षाकृत युग से पूर्व की सृष्टि होती है, क्योंकि अन्य साहित्यिक कलाओं की अपेक्षा इसमें वैयक्तिक तथा भावुकता का स्पर्श अधिक होता है। हम अनुमान लगा सकते हैं कि कविता

व्यक्ति के अन्तर्जगत से उद्भूत सहज भावों को एक विशेष ढंग से व्यक्त करती है, परन्तु उपन्यास व्यक्ति को समाज के एक अंग के रूप में इस प्रकार चित्रित करता है जैसा कि वह समाज में रहकर अनुभव करता है। ऐसी कला जिसे उपन्यास कहते हैं, केवल समाज में ही उत्पन्न हो सकती है, जहाँ आर्थिक विषमताएँ व्यक्ति को सोचने के लिए बाध्य करती हैं, जिनके द्वारा व्यक्ति को समझना सरल होता है, और सोचने की इस दृष्टि का बड़ा ही महत्त्व है। इस प्रकार कविता स्वभावजन्य है तथा समाज की मिथ्यावादी परिस्थितियाँ उपन्यास को जन्म देती हैं[1]।"

गीतों के रूप में कविता उपन्यास से जितनी दूर है, 'महाकाव्य' के रूप में उतनी नहीं। कविता के क्षेत्र में जो स्थान 'महाकाव्य' का है, गद्य के क्षेत्र में वही स्थान 'उपन्यास' का है। परन्तु यथार्थ जीवन की जैसी अभिव्यक्ति 'उपन्यास' के अन्दर हो रही है, महाकाव्य के अन्दर सम्भव नहीं। अपनी कुछ निश्चित सीमाओं के कारण महाकाव्य यथार्थवादी नहीं हो सकता। कवि को अपनी सृष्टि में काव्यगत नियमों का पालन करना पड़ता है, उसे अलंकार-मात्रा ठीक करने पड़ते हैं, सर्गों की व्यवस्था करनी पड़ती है। जिससे वह महाकाव्यों के अन्दर अपनी सच्ची अनुभूतियों को नहीं उतार पाता। 'उपन्यास' महाकाव्य की भाँति न तो महान् व्यक्तियों के महान् कार्यों को चित्रित करने के लिए बाध्य है, और न उसके ऊपर वे साहित्यिक प्रतिबंध ही हैं, जिससे उसके उपन्यासकार को खुलकर प्रकट होने का अवसर मिलता है। उपन्यास हमारे जीवन में प्रतिदिन घटनेवाली घटनाओं का साहित्यिक रूप है। "उपन्यासकार की कल्पना के पंख कवि-कल्पना की भाँति उन्मुख नहीं होते, उसके पैरों में यथार्थ का बन्धन होता है। उपन्यासकार की दिव्यदृष्टि रवि-रश्मियों से स्पर्द्धा नहीं करती, वह तो अपने जगत् को ही, भली-भाँति देखकर संतुष्ट हो जाती है[2]।" महाकाव्य के अन्दर युग-जीवन की अभिव्यक्ति तो होती है, परन्तु तत्कालीन परिस्थितियों का यथार्थ चित्रण तो उपन्यास में ही सम्भव हो सका है, क्योंकि उपन्यासकार महाकाव्यकार की भाँति आदर्शवादी नहीं हुआ करता।

नाटक और छोटी कहानियाँ गीतों तथा महाकाव्यों की अपेक्षा जीवन के अधिक निकट कही जा सकती हैं। परन्तु उपन्यासकार की-सी स्वतन्त्रता नाटककार को नहीं रहती, उसकी अपनी कुछ काव्यगत सीमाएँ हैं, जिनका उसे पालन करना पड़ता है, जिससे उपन्यासकार बिल्कुल मुक्त है। नाटककार को काव्य-तत्वों के अतिरिक्त, रंगमंच

---

1. 'Remembering that...novels is the sophestication of modern culture."

   Christopher Caudwell...Illusion and reality' newed 1946.

२. श्री शिवनारायण श्रीवास्तव—'हिंदी उपन्यास, पृ० ४।'

के विधान तथा अभिनय आदि की कुशलता आदि पर भी अपनी सफलता को आश्रित रखना पड़ता है। निस्सन्देह नाटककार अपनी सीमाओं के कारण जो कुछ कहना चाहता है, उसे भी पूर्णरूपेण नहीं कह पाता, जिसकी पूर्ति कुशल अभिनेता अपने अभिनय के द्वारा करता है। उपन्यासकार को नाटककार की भाँति सम्वाद आदि का बंधन नहीं रहता और जब कहीं उसके पात्र असमर्थ हो जाते हैं, वह स्वयं प्रकट होकर स्थिति स्पष्ट कर देता है। हिन्दी नाटकों में यथार्थवादी चित्र समस्या के रूप में और भी स्पष्ट होकर आये, परन्तु उन्हें परम्परागत विकास के रूप में नहीं स्वीकार किया जा सकता, बल्कि निश्चित रूप से उनका मूल स्रोत 'बर्नार्ड शा' और 'इब्सन' के समस्या नाटक हैं। समस्या नाटक के अन्दर युग की नवीनतम समस्या ही उभड़ कर आती है, समाज के व्यापक चित्रों के लिए उनमें अवकाश नहीं।

जहाँ तक छोटी कहानियों का प्रश्न है, निश्चित ही उनमें यथार्थ जीवन का चित्रांश पाया जाता है। कहानी की सृष्टि जीवन के किसी एक अंग विशेष अथवा घटना विशेष को लेकर होती है। अतः इसका क्षेत्र अत्यन्त संकुचित होता है और जिस विशाल जीवन और जगत् का यथार्थ चित्र उपस्थित करना उपन्यासों के लिए सम्भव हो सका है, वैसा करना कहानियों के लिए सर्वथा असम्भव है। ठीक ऐसी ही स्थिति 'एकांकी' नाटकों की भी है। ये जीवन के अत्यधिक निकट तो लाये जा सके हैं, परन्तु उनसे व्यापक चित्रों की कामना करना निरी भूल होगी।

नवीन साहित्य-रूप की आवश्यकता और उपन्यास का आविर्भाव

परिस्थितियों में विषमता आ जाने के कारण कविता साहित्य उपन्यासों और कहानियों की ओर उन्मुख हुआ, तथा उपन्यास-साहित्य को यथार्थ जीवन की अभिव्यक्ति के लिए सर्वोत्तम साधन के रूप में स्वीकार किया गया। "उपन्यास परिवर्तित सामाजिक एवं कलात्मक परिस्थितियों की देन है। उपन्यासों के इतने अधिक प्रचार का कारण यह है, कि वह सर्वथा मानव जीवन से सम्बद्ध है। मानव-जीवन के विभिन्न क्षेत्रों के विस्तारपूर्वक वर्णन का जितना अवकाश उपन्यासों में मिलता है, उतना अन्य किसी साहित्यिक अंगों में नहीं। इसी से स्वर्गीय प्रेमचन्द जी ने उपन्यास को जीवन का चित्र माना है। "मानव-जीवन के विविध पक्षों का यथार्थ चित्र उपस्थित करने के लिए उपन्यास-साहित्य का क्षेत्र अपेक्षाकृत अन्य साहित्यिक रूपों से अधिक उपयुक्त है।"

आधुनिक सामाजिक जटिलता ने अपनी अभिव्यक्ति के लिए एक नवीन साहित्यिक रूप की आवश्यकता अनुभव की, जिसमें महाकाव्यों की-सी व्यापकता तो हो, किन्तु पद्य का बंधन न हो इसलिए अधिक मुक्त तथा लचीले गद्य रूप उपन्यास की सृष्टि हुई। "कविता और नाटक दोनों की अपेक्षा मानव-जीवन के चित्रण के लिये उपन्यास"

का क्षेत्र कहीं अधिक विस्तृत है। गीत काव्यों के पुञ्जीभूत भाव-सत्य, दुःखान्त नाटकों के चिरन्तन संघर्ष और करुणा, गीतिकथाओं के गीत और प्रवहमानता, सूक्तों का उक्ति वैचित्र्य और नीति-सत्य इन सभी पुराने साहित्यिक रूपों की शिल्पगत और वस्तुगत विशेषताओं को उपन्यास ने अपने व्यापक प्रसार में ग्रहण किया[1]।"

इस प्रकार उपन्यास के अन्दर समसामयिक राजनैतिक सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थितियों का यथार्थ एवं व्यापक चित्र उतारना सम्भव हो सका है।

"कविता यथार्थवाद की उपेक्षा कर सकती है, संगीत यथार्थ को छोड़ कर भी जी सकता है, पर उपन्यास और कहानी के लिए यथार्थ प्राण है।"[1] यथार्थवाद की अवतारणा जिस रूप में उपन्यास-साहित्य के भीतर होनी चाहिये, अभी हो नहीं सकी है। बुद्धि और अनुभूति का, व्यक्तिस्वातंत्र्य और समाज बोध का समन्वय उपन्यासकार की साधना का सबसे बड़ा सुख है। इसे जीवन और जगत के संवेदनीय स्पर्श से अभिव्यक्ति का वरदान मिला है। उपन्यास की जो सबसे बड़ी विशेषता है, वह है इसकी सहजता तथा सफलता। इसके अन्दर एक साधारण स्तर के व्यक्ति से लेकर समाज के उच्चतम श्रेणी के व्यक्तियों के लिए सामग्री मिल सकती है। महाकाव्य आदि के अन्दर की अनुभूतियाँ काव्यात्मकता के कारण कवि के लिए स्वसंवेद्य बन कर रह जाती हैं, या उसे समझने के लिए पाठक को काव्यगत गुणों से परिचित होना चाहिये किन्तु उपन्यास सदैव परसंवेद्य होता है और गम्भीर बातों को सरलतम ढंग से सामने प्रस्तुत करता है[2]।"

जीवन की आलोचना और यथार्थवाद का उदय

उपन्यास-साहित्य का एकमात्र लक्ष्य यह नहीं है कि वह समाज का तद्वत निर्जीव चित्र उतार दे, बल्कि उसकी चित्रकारिता सोद्देश्य होती है। उपन्यासकार को अपनी कृति में कुछ कहना रहता है, वर्तमान समाज की अच्छाइयों तथा बुराइयों को इस प्रकार प्रस्तुत करना रहता है कि हम स्पष्ट रूप से उसे पहचान सकें, समाज और व्यक्ति के पारस्परिक सम्बन्धों की व्याख्या करते हुए उन मार्गों को निर्देशित करना रहता है जिन पर चलकर वह एक सुखमय जीवन की व्यवस्था कर सके। उपन्यासकार को विवश होकर व्यक्ति तथा समाज की आलोचना तथा प्रत्यालोचना करनी पड़ती है।

समाज को तो उसकी परम्पराओं तथा बाह्य प्रभावों से जाना जा सकता है परन्तु व्यक्ति को सम्पूर्ण रूप से समझने के लिए उसकी बाह्य स्थितियाँ ही पर्याप्त नहीं हैं। बाह्य स्थितियों के अतिरिक्त मनुष्य की एक आन्तरिक स्थिति मन की भी है जो अत्यन्त ही महत्वपूर्ण है। साहित्य के अन्दर मनोविज्ञान का सहारा लेकर उपन्यास के अन्दर मानव के अन्तःकरण में चलने वाले द्वन्द्वों का विस्तारपूर्वक चित्रण करने का सफल

१. आलोचना-सम्पादकीय 'उपन्यास अंक पृ० १'।

२. डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी—विचार और वितर्क

प्रयत्न पहली बार किया जा रहा है। इस प्रकार समाज के साथ-साथ व्यक्ति का भी यथार्थ चित्र उपन्यासों के अन्दर उसकी समस्त आलोचनाओं के साथ किया जा रहा है।

उपन्यासकार देश के अन्दर उभड़ती हुई प्रवृत्तियों को पहचानने का प्रयत्न करता है। किसी भी देश की प्रगति का यदि ज्ञान करना हो तो उस देश का उपन्यास पढना चाहिये। किसी भी देश की प्रगति को समझने का सबसे उत्तम साधन वहाँ का उपन्यास-साहित्य है, क्योंकि जीवन की यथार्थताओं को लेकर ही उपन्यास आगे बढ़ता है। "मनुष्य के पिछड़े हुए आचार-विचारों और बढ़ती हुई यथार्थताओं के बीच निरन्तर उत्पन्न होनेवाली खाई को पाटना ही उपन्यास का कर्तव्य है।" आरम्भ से ही उपन्यास वास्तविक जीवन की ओर उन्मुख रहा है। उपन्यास जीवन की सच्चाइयों में तरल होकर रंजकता के साथ-साथ मनुष्य की समस्याओं को सामने आने की चुनौती लेकर साहित्य-क्षेत्र में आया। उसके चरण कठोर धरती पर टिके हैं, और वास्तविक "जीवन की कठिनाइयों और द्वन्द्वों से निखर कर आने वाला मानवीय रस ही उसका प्रधान आकर्षण है।"[1]

उपन्यासकार प्रस्तुत समाज में पाये जाने वाले दोषों तथा व्यक्तियों की उच्छृङ्खलता का चित्रण अपने कल्पित पात्रों के माध्यम से करता है और उसको विभिन्न परिस्थितियों में रखकर वास्तविक हल की ओर भी संकेत करता चलता है। कोई भी व्यक्ति अपनी प्रत्यक्ष आलोचना सुनना पसन्द नहीं करता और न व्यक्ति की प्रत्यक्ष आलोचना करके उसे सुधारा ही जा सकता है क्योंकि मनुष्य संसार में यदि किसी वस्तु को लेने में संकोच करता है तो वह है दूसरों द्वारा दिया हुआ उपदेश। परन्तु उन्हीं बुराइयों तथा सामाजिक दोषों को जब वह उपन्यासों में पढ़ता है तो उसे भी वे बुरी लगती हैं और अपने अन्दर की बुराइयों को भी उन्हीं की कोटि में बिठलाकर अपने को कोसता है। इस प्रकार परोक्ष रूप से की गयी आलोचना का प्रभाव प्रत्यक्ष की गयी आलोचना से अधिक उपयुक्त सिद्ध होता है। आधुनिक उपन्यासों के अन्दर इस प्रकार की भावना अधिक जागरूक दिखलाई पड़ती है, क्योंकि उन्होंने इसकी वास्तविकता को पहचाना है।

यथार्थ और उपन्यास का अन्योन्य सम्बन्ध

उपन्यास-साहित्य की सृष्टि मूलतः यथार्थ चित्रण के लिए हुई है। यथार्थ की उपेक्षा करके उपन्यास अपना कोई मूल्य नहीं रखता। परन्तु प्रश्न यह उठता है कि किस प्रकार के चित्र को हम यथार्थ मानें और किसे अयथार्थ कह कर छोड़ दें। वास्तविक जगत् के यथार्थ और साहित्यिक यथार्थ में अन्तर है। साहित्य तद्वत् निर्जीव चित्र कभी भी प्रस्तुत नहीं कर सकता और न हमें ऐसे चित्रों की आशा उपन्यासों से करना

१. डाक्टर हजारी प्रसाद द्विवेदी—'विचार और वितर्क।'

चाहिये। यदि जो कुछ वर्तमान है हम उसे उसी रूप में देखना चाहेंगे, तो बहुत सी ऐसी गन्दी और घिनौनी वस्तुएँ सामने आ जायेंगी कि एक सुसंस्कृत व्यक्ति को अवश्य ही नाक भौं सिकोड़ना पड़ेगा, उपन्यासकार अपनी अनुपम चित्रोपमता तथा अनुभूतियों के सद्बल के द्वारा जो वास्तविक मानव जीवन का चित्र खींचता है, उसे हम यथार्थ चित्रण कह सकते हैं। जब तक उपन्यासकार इस सावधानी से कार्य नहीं करेगा, वह एक भी ऐसे चरित्र का निर्माण नहीं कर सकता जो मानव के नियामक हों।

उपन्यासों में भिन्न भिन्न प्रकार से यथार्थ की अवतारणा हुई है। इनमें आये हुए यथार्थ की विशेष स्थिति हमें (१) कथावस्तु के चुनाव, (२) पात्रों की भाषा, (३) सम्वाद तथा (४) वर्णन प्रणाली आदि में मिलती है। परन्तु यह सदैव ध्यान देने की बात है कि उपन्यासों में केवल तत्कालीन समाज का यथातथ्य चित्र-मात्र ही नहीं होता बल्कि उनके भीतर वर्तमान परिस्थितियों को बदल देने की एक ललक सजीव रूप में विद्यमान रहती है। उपन्यासों में परिस्थितियों से लोहा लेने की सशक्त प्रेरणा हो, उसके पात्र ऐसे हों जो अपने भाग्य के विधाता हों, ऐसे न हों कि अकर्मण्य बने भाग्य की प्रतीक्षा करते रहें कि मनुष्य के जीवन में सब कुछ भाग्य के कारण ही होता है। इस प्रकार के नपुंसक तथा रीढ़हीन चरित्रों के निर्माण से उपन्यास के यथार्थ का गला घुँट जायगा और उपन्यास अपने साहित्यिक चरम लक्ष्य को खो बैठेगा।

यथार्थवाद की चर्चा लेखकों ने अधिकतर उपन्यासों में चरित्र चित्रण के साथ की है। उपन्यास गद्य-साहित्य का प्रधान अंग है। जीवन का सविस्तार और स्पष्टतम चित्र गद्य में ही सर्व-साधारण के समक्ष सुगमता से रखा जा सकता है। इसीलिए उपन्यास की इतनी लोकप्रियता हुई और इसीलिए यथार्थवाद ने पद्य में अपनी दाल गलती न देखकर उपन्यास में बेखटके हाथ-पाँव फैलाया। उपन्यासों के अन्दर तिथियों और नामों के अतिरिक्त सब सत्य होता है और रचनाकार अपनी रचना यथार्थ की कठोर भूमि पर ही करता है, कल्पना के शून्य धरातल पर नहीं।

आज हमारा जीवन प्रतिदिन क्षिप्र की ओर अपने देश की आन्तरिक हलचलों से प्रभावित हो रहा है। आज हम निरन्तर एक उत्कम्पमयी स्थिति में जी रहे हैं। इस उत्कम्प में मिले हुए हैं कुछ संकुल स्वार्थ, कुछ पंकिल-से ईर्ष्या द्वेष, कुछ नन्हीं नन्हीं चोंचों के उन्मीलन जैसी महत्वाकांक्षाएँ कुछ थैली पर बैठे साँपों जैसे अहं और इन सबके प्रति असन्तोष, इन सबके प्रति विद्रोह भाव और इन सबको उखाड़ फेंकने की कामना-प्रवृत्ति[१]। जिसने मानव को बहुधंधी, अत्यधिक व्यस्त एवं शंकालु बना दिया है, इसे न तो इतना अवकाश है कि प्रत्येक समस्या को प्रयोग द्वारा सुलझा सके, और न तो उसमें वह सहज विश्वास ही रह गया है कि किसी श्रेष्ठ के चरण चिह्नों का अनुगमन हो

करे। अतः ऐसे साहित्य की आवश्यकता थी जो अपने चरित्रों को प्रयोगशाला में लाकर प्रयोग कराये तथा परिणामों के द्वारा पाठकों के लिए समस्याओं का हल प्रस्तुत करे, और ऐसे कर्मनिष्ठ परिस्थितियों से जूझने वाले उदात्त चरित्रों को सामने लाये जिनके पीछे हम आंख मूँद कर चलें।

मानव जीवन की समस्त व्यापकता को समेट कर तत्कालीन सामाजिक, राजनैतिक तथा धार्मिक ग्रन्थियों को खोलते हुए समाज के अन्दर व्यक्ति के मूल्यों की प्रतिष्ठापना करते हुए उपन्यास-साहित्य ने समय की माँग को स्वीकार कर यथार्थ जीवन की अभिव्यक्ति की है। यदि यथार्थ उपन्यास का प्राण है तो उपन्यासों के अभाव में यथार्थ का जीना भी कठिन है। उपन्यासकार को किसी व्यक्तिविशेष अथवा वर्गविशेष का न होकर अपनी रचना विश्व के व्यापक पृष्ठभूमि पर करनी चाहिये, जो उपन्यास-साहित्य का प्रधान लक्ष्य है।

उद्‌भव

आधुनिक साहित्य में 'यथार्थवाद' से जो तात्पर्य हम लेते हैं वह हिन्दी साहित्य को योरोपीय साहित्य की देन है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार तो 'यथार्थवाद' शब्द भी 'अंग्रेजी के रियलिज्म' की 'तौल' पर गढ़ लिया गया है, परन्तु हिन्दी साहित्य के अन्दर 'यथार्थवाद' का विकास एक विचारधारा के रूप में नहीं पाया जाता जैसा कि योरोप में हुआ। हिन्दी के कवियों और लेखकों ने परिस्थितिजन्य आवश्यकताओं के अनुसार प्रभाव ग्रहण किया और साहित्य के अन्दर यथार्थवाद की अभिव्यक्ति की जिसके ही कारण हिन्दी में इस प्रवृत्ति का क्रमिक विकास नहीं पाया जाता। इंगलैण्ड में अंग्रेज जाति की कुछ अपनी विशेषताओं के कारण 'यथार्थवाद' का विकास 'प्रकृतवाद' तक नहीं हो पाया, फ्रांस के अन्दर प्रायः 'यथार्थवाद' और 'प्रकृतवाद' की प्रवृत्तियाँ एक साथ ही दिखलायी पड़ने लग जाती हैं, परन्तु फ्रांस में जब यह कला मुरझा रही थी तो रूसी साहित्यकारों ने उसे नवीन जीवन प्रदान किया।

रूसी कलाकारों ने यद्यपि प्रेरणा फ्रांस के उपन्यासों से ग्रहण की थी परन्तु इनके उपन्यासों में उनसे अधिक यथार्थ जीवन की स्पष्ट व्याख्या हो सकी। 'टालस्टाय' तथा उनसे प्रभावित उपन्यासकारों की मनुष्य जाति की शत-शत दुर्बलताओं, भूलों और भ्रान्तियों के बावजूद महामानव के भीतर निहित आत्मिक शक्तियों की विजय पर आस्था बनी रही। इनके पश्चात् ही उपन्यास साहित्य के अन्दर मजदूरों का उद्‌बोधन आया। 'गोर्की' के उपन्यासों में सर्वहारा वर्ग की आर्थिक विषमताओं तथा उनके दैनिक जीवन के संघर्ष का चित्र मूर्तिमान हो उठा। हिन्दी साहित्य के अन्दर 'यथार्थवाद' के विकास का क्रम यह नहीं रहा क्योंकि इसने प्रभाव विभिन्न प्रकार से तथा विभिन्न समयों में ग्रहण किया।

'स्वर्गीय बाबू जयशंकर प्रसाद' ने हिन्दी साहित्य के अन्दर 'यथार्थवाद' का आरम्भ 'भारतेन्दु' के समय से माना है, इनके अनुसार सर्वप्रथम 'यथार्थवाद' 'भारतेन्दु' जी के नाटकों और उनकी कविताओं में आया और 'प्रेमयोगिनी' को हिन्दी साहित्य में इस ढंग का पहला प्रयास समझना चाहिए । 'देखी तुम्हारी काशी' वाली कविता को भी उन्होंने इसी श्रेणी में रखा है । 'भारतेन्दु जी' ने राष्ट्रीय वेदना के साथ ही जीवन के यथार्थ रूप का भी चित्रण आरम्भ किया था । इस प्रकार 'भारतेन्दु जी' से प्रभावित पूर्व प्रेमचन्द युग के लेखकों में यथार्थ के चिह्न यत्रतत्र दिखलाई पड़ने लग जाते हैं। यथार्थ की वास्तविक अभिव्यक्ति अपेक्षाकृत उपन्यासों के माध्यम से अधिक सम्भव है ।

हिन्दी उपन्यास

समाज की जिन आवश्यकताओं ने हिन्दी उपन्यासों को जन्म दिया उसे देखने से स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी उपन्यासों की सृष्टि आरम्भ में किसी साहित्यिक लक्ष्य को लेकर नहीं की गई थी । अतः प्रेमचन्द के पूर्व लिखे गये उपन्यासों के आलोचन में बड़ी उदार दृष्टि अपनानी होगी । हम इन उपन्यासों का उचित मूल्यांकन तभी कर सकेंगे जबकि हम उन्हें उनकी परिस्थितियों तथा पाठकों की रुचियों के अनुसार जिनके लिए वे लिखे गये हैं, देखने का प्रयत्न करेंगे। आरम्भ में उपन्यासों की रचना जनता का मनोरंजन करने के लिए ही की गई थी, उस समय के पाठक तीन श्रेणी में विभक्त थे । प्रथम श्रेणी के लोग वे थे जो अंग्रेजी, हिन्दी आदि विविध विषयों की शिक्षा पाये हुए थे और सरकारी अथवा गैर सरकारी नौकरियाँ करते थे, दूसरी श्रेणी में वे लोग थे जो संस्कृत के अच्छे ज्ञाता थे परन्तु हिन्दी कम जानते थे और तीसरी श्रेणी में वे लोग आते थे जिन्होंने बहुत साधारण शिक्षा पाई थी तथा केवल हिन्दी ही पढ़ लिख सकते थे । पहली श्रेणी के पाठकों को पहले तो अवकाश ही कम मिलता था और जो कुछ मिलता भी था उसे वे हिन्दी की पुस्तकें पढ़ कर नष्ट नहीं करना चाहते थे । दूसरी श्रेणी का पाठक रामायण, महाभारत और पुराणों को छोड़ कर अन्य कुछ पढ़ने को तैयार न था, इस प्रकार तीसरी श्रेणी का पाठक ही बच रहता है, जिसने उपन्यासों का स्वागत किया । इस श्रेणी के अन्दर छोटी-मोटी दूकानें करनेवाले अथवा खेती बारी और इधर-उधर की मेहनत करने वाले मजदूर थे जिनके लिए मनोरंजन की सामग्री आवश्यक थी, जिसे उपन्यासों के द्वारा प्रस्तुत किया गया । इन्हीं परिस्थितियों ने हिन्दी उपन्यास को जन्म दिया ।

हिन्दी उपन्यास का वर्तमान साहित्यिक रूप बहुत पुराना नहीं है । कथा कहने की क्षमता इस साहित्य-रूप में अन्य साहित्यिक विधाओं की अपेक्षा अधिक है जिससे वह वर्तमान विषम जीवन की समस्याओं को सरलतापूर्वक अपनी परिधि में समेट सका है । व्यापक दृष्टिकोण, समसामयिक परिस्थितियों से संस्पर्श एवं कथा तत्व की मोहकता

रखने के कारण अपनी अल्प आयु में ही उपन्यास-साहित्य ने जितनी प्रगति कर ली है, पाठकों एवं समीक्षकों को उसने जितना अधिक अपनी ओर आकर्षित किया है, उससे इसकी महत्ता स्थापित हो चुकी है। अनेक दृष्टियों से विद्वानों ने हिन्दी उपन्यास-साहित्य पर कार्य किए हैं और उसको पूर्व-परम्परा की एक सुनिश्चित स्वरूप प्रदान करने के लिए विभिन्न तर्कों का सहारा भी उन्होंने लिया है। अपनी प्राचीन संस्कृति, सभ्यता एवं साहित्य पर हमें गर्व है, वेदों के निर्माण का श्रेय हमारे अतीत इतिहास को है जिससे विश्व में देश जाति का मस्तक ऊँचा हुआ है, पर हर बात के लिए हमें वेदों का ही मुँह नहीं ताकना चाहिए। सृष्टि के तत्व का उनकी परम्परा में विकास अथवा ह्रास होता रहता है और समय समय पर उन्ही बिखरे तत्वों के नवसमन्वय से नवीन मान्यताओं का जीवन के विविध क्षेत्रों में आविर्भाव भी होता रहता है जिसे स्वीकार कर लेने में किसी प्रकार की हानि नहीं। जहाँ तक कथात्मकता का प्रश्न है, उसमें कभी-कभी कल्पनाप्रवण समीक्षक अभिभूत हो जाया करते हैं। मानव की चेतन आँखों ने जब से देखना आरम्भ किया और दृश्य जगत के विविध अनुभव को अभिव्यक्ति की शक्ति का आगमन जिस दिन से मानव मात्र में हुआ, कथा, उसके कहने और सुनने की प्रवृत्ति का उदय भी उसी दिन हो गया, इसमें दो मत नहीं हो सकते। कथा-विकास की एक लम्बी परम्परा का धनी हमारा देश भारतवर्ष है। लोक-जीवन अथवा साहित्य में विभिन्न माध्यमों से भारतीय चिन्तन की कथाधारा सहजभाव से प्रवाहित होती रही है।

लोक-जीवन में प्रचलित कथाओं को यदि हम छोड़ भी दें तो संस्कृत साहित्य में अपार कथाराशि संचित है। अब अधिकांश विद्वान इस तथ्य को स्वीकार करने लगे हैं कि पूर्व एवं पश्चिम के अन्य देशों में भी कथा और कहानियाँ भारतवर्ष से ही गईं। संस्कृत, पालि, प्राकृत और अपभ्रंश आदि भाषाओं के माध्यम से जिन कथा तत्वों का विकास हुआ, आधुनिक बहुत से विद्वान उन्हीं में वर्तमान उपन्यास-साहित्य का क्षीण संकेत ढूँढते हैं। वैदिक कहानियों का इतिहास हमें उपलब्ध है पर उनके उद्देश्य और वर्तमान उपन्यास-साहित्य के उद्देश्य में कोई साम्य नहीं है, दोनों की आत्मा में महान् अन्तर है। उपन्यास-साहित्य आरम्भकाल से ही मनोरंजन को महत्त्व देता आया है जो उसका सर्वाधिक लोकप्रिय गुण है, पर वैदिक कहानियों में मनोरंजकता का नितांत अभाव है। इन कहानियों में तप, यज्ञ, एवं पवित्रजीवन को ही महत्त्व मिला है जिससे सामाजिक जीवन के विविध लौकिक पक्षों की उपेक्षा हुई है। इन कहानियों के पात्र अभिजात्य वर्ग के लोग, राजा, ऋषि एवं विप्र आदि ही होते थे, जबकि मानवजीवन के विविध लौकिक पक्ष और समाज का साधारण से साधारण व्यक्ति भी उपन्यास-साहित्य के लिए त्याज्य नहीं। राजा, ऋषि और विप्र आदि की चर्चा तो आधुनिक उपन्यास भूलकर भी नहीं करता। अतः केवल कथातत्व में समानता देखकर यह कह देना कि

वैदिक कहानियों में ही उपन्यास-साहित्य के अंकुर देखे जा सकते हैं, इससे बढ़कर हिन्दी उपन्यास-साहित्य को समझने की भूल दूसरी नहीं हो सकती। हिन्दी उपन्यास अपनी शिल्पगत विशेषताओं के कारण नहीं बल्कि विषय की व्यापकता के कारण समादृत हुआ है और वैदिक कहानियों तथा हिन्दी उपन्यासों में विषयगत साम्य का कोई सवाल ही नहीं पैदा हो सकता। दोनों में जमीन आसमान का अन्तर है।

वैदिक साहित्य की कथा-परम्परा का आगे चलकर विकास लौकिक साहित्य में प्रभूत मात्रा में हुआ और जिस दिन उसका मेल लौकिक जीवन से हुआ उसमें एक ऐसी शक्ति का समावेश हो गया कि जिससे सम्वलित होकर प्रबल वेगवती काव्यधारा बह निकली। महाकाव्यों एवं पुराणों की उज्ज्वल परंपरा इसी समन्वय का परिणाम है। यह साहित्यिक विकास उत्तरोत्तर लोकजीवन के निकट जाने लगा, पर विकास के इस स्तर तक पहुँच कर भी ये पद्यबद्ध कथाएँ न तो जनमानस को छू सकी और न तो उनमें समाज की व्यापक संवेदना को समाहित करने की शक्ति ही आ पाई। अस्वाभाविक अलंकृत वर्णन प्रणाली और आदर्श तथा कल्पना का बाहुल्य, महाकाव्यों तथा पुराणों को उपन्यास-साहित्य का विजातीय सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है। महाकाव्य और पुराण की भांति हिंदी उपन्यास साहित्य न तो पाठकों को मोक्ष का द्वार दिखलाता है और न तो वह केवल उच्च वर्गीय समाज का अतिरंजित चित्र ही हमारे सामने प्रस्तुत करता है। इसके विपरीत मानव-जीवन के वास्तविक चित्रों को युग की विषम परिस्थितियों के सन्दर्भ में चित्रित करना उपन्यास साहित्य अपना परम धर्म मानता है। शोषित, उपेक्षित तथा सामान्य लोगों की परिस्थितियों का ही कलात्मक वर्णन उपन्यासों द्वारा होता है। साहित्य का यह महत्त्वपूर्ण आधुनिक रूप सच्चे अर्थों में जन जीवन का समर्थक है।

बौद्ध जातक में जिन कथा रूपों को अपनाया गया उन्हें देखने से ऐसा लगता है कि यहाँ आकर कथा परम्परा में एक निश्चित मोड़ आया यद्यपि यह अभी विवाद का विषय बना हुआ है कि रामायण, महाभारत और जातक कथाओं में, जातक कथाएँ पुरानी हैं अथवा रामायण-महाभारत। पर इसमें सन्देह नहीं कि जातक कथाओं के पात्रों में अपेक्षाकृत अधिक मानवीयता है। परवर्ती संस्कृत साहित्य में भी कथाओं का विकास हुआ जिन्हें मनोरंजक, उपदेशात्मक तथा व्याख्यात्मक वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। इनके प्राचीनतम संग्रह बृहत्कथा, पंचतन्त्र तथा हितोपदेश हैं। बृहत्कथा में मनोरंजक तथा पंचतन्त्र और हितोपदेश में उपदेशात्मक तत्त्वों का प्राधान्य है। 'वासवदत्ता' तथा 'दशकुमार चरित' जैसे आख्यानों में काव्यात्मकता को महत्त्व प्रदान किया गया है।

अपभ्रंश साहित्य की सम्पूर्ण रचनाएँ प्रबन्ध एवं मुक्तक काव्यों के रूप में मिलती हैं जिनमें वीर और शृंगार रस का बाहुल्य है। मुक्तकों में लोक कथाओं पर प्रकाश डालने

के कारण कथा तत्व का सहारा लेना ही पड़ा है। प्रबन्धों के माध्यम से ऐतिहासिक वृत्तों को ही प्रस्तुत किया गया है जिसमें कथातत्व की अनिवार्यता स्वयं सिद्ध है। इसी परम्परा से प्रेरणा ग्रहण कर हिन्दी के आरम्भ काल में चारण और प्रेमाख्यानक काव्यों का विकास हुआ जिन्हें हिन्दी उपन्यासों की पद्यमय भूमिका प्रस्तुत करने का श्रेय दिया जा सकता है। पर हिन्दी साहित्य में इस परम्परा का उत्तरोत्तर विकास नहीं हुआ बल्कि उत्तर-मध्यकालीन साहित्य में एक लम्बी अवधि के लिए काव्य से कथातत्व का लोप-सा हो गया। अतः हिन्दी उपन्यास-साहित्य के वर्तमान रूप को हठात् पूर्ववर्ती साहित्य में ढूँढ़ना समीचीन नहीं जान पड़ता। युग की आवश्यकताओं ने इसे जन्म दिया है और यह दूसरी बात है कि उसने साहित्य की पूर्ववर्ती परम्पराओं से समुचित लाभ उठाया है।

हिन्दी के आरम्भिक उपन्यासों पर प्रेमाख्यानक काव्यों का विशेष प्रभाव दिखलाई पड़ता है जिसका भी कारण स्पष्ट है। गद्य साहित्य के आविर्भाव काल सन् १८०० ई० के आसपास ही संस्कृत, अरबी और फारसी साहित्य की कहानियों के अनुवाद हिन्दी में आने लगे। मुसलमानों के साथ जो रूमानी प्रेम को व्यक्त करनेवाली कहानियाँ अरबी-फारसी के माध्यम से आई थीं, उन्होंने हिन्दी पाठकों को अत्यधिक आकर्षित किया। इनके अनुवाद अथवा आश्रय लेकर लिखी कहानियों से साधारण जनता अपना मनोरंजन करती थी। इसी समय हिन्दी के भाग्य से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जैसे साहित्य-पुरुष का उदय हुआ जिसने अपनी प्रतिमा एवं प्रयत्न से हिन्दी खड़ी बोली के विभिन्न साहित्य रूपों को जन्म दिया और यहीं आकर हिन्दी साहित्य के बहुमुखी विकास का सूत्रपात हुआ। भारतेन्दु हरिश्चन्द के साहित्य काल (१८५०—१८८५ ई० तक) में बँगला उपन्यासों के हिन्दी में अनुवाद हुए और कुछ मौलिक उपन्यासों की भी सृष्टि हुई। भारतेन्दु जी ने एक नवीन उपन्यास 'हमीर हठ' के नाम से आरम्भ किया पर असामयिक निधन के कारण वे उसे पूरा न कर सके। इस प्रकार उनके द्वारा कोई मौलिक उपन्यास हिन्दी-जगत को नहीं मिल सका। 'एक कहानी कुछ आप बीती और कुछ जग बीती' उन्होंने लिखना आरम्भ किया था पर उसे भी वे पूरा नहीं कर सके। इसे देखने से लगता है कि भारतेन्दु जी सामाजिक उपन्यासों को जन्म देना चाहते थे। साहित्य की दिशा विषय की दृष्टि से भारतेन्दु जी जिस ओर मोड़ना चाहते थे, वह उनके गोलोकवासी हो जाने के कारण उधर न मुड़ सकी। देवकीनन्दन खत्री, गोपालराम गहमरी तथा किशोरीलाल गोस्वामी ने मनोरंजन को प्रधानता देकर घटना प्रधान उपन्यासों की धूम मचा दी। मनोरंजन मात्र इन उपन्यासों का उद्देश्य था। अर्द्ध शिक्षित जनता की सम्पत्ति समझे जाने के कारण सभ्य एवं बड़े घरों की बहू-बेटियों के लिए उपन्यासों का पढ़ना भद्दी रुचियों का परिचय देना था और उपन्यास लिखना भी एक साहित्यकार के लिए सम्मान की वस्तु नहीं थी। आरम्भ में जितने भी कथाप्रधान उपन्यासों की रचना हुई उनमें (१) तिलस्मी, (२) साहसिक, (३) जासूसी और (४) प्रेमाख्यानक मुख्य हैं।

कुछ उपन्यास ऐसे भी लिखे गए जिनका सम्बन्ध ऐतिहासिक घटनाओं से जोड़ा गया है परन्तु ऐतिहासिकता नाम की कोई वस्तु उनमें नहीं है।

इन उपन्यासों में साहित्यिक मानदंडों के द्वारा दोषों एवं गुणों का विवेचन करना उन उपन्यासों और उपन्यासकारों के प्रति अन्याय करना होगा क्योंकि इनके अन्दर मनोरंजन को ही प्रधान माना गया है। किसी भी उपन्यास से अधिक से अधिक पाठकों का मनोरंजन जितना अधिक हो जाता था वह उपन्यास उतना ही सफल कहा जाता था।

पूर्व प्रेमचन्द उपन्यास-साहित्य में यथार्थवाद की उपेक्षा का मिलना नितांत स्वाभाविक है। यह ऐसा काल था जब कि हिंदी साहित्य के अन्दर उपन्यासों को जन्म दिया जा रहा था। उपन्यासकार विभिन्न स्रोतों से प्रेरणा प्राप्त कर रहे थे। तत्कालीन उपन्यासकारों ने संस्कृत साहित्य की आख्यायिकाओं, 'अरेबियन नाइट्स' के ढंग पर लिखी गयी उर्दू और फारसी की कहानियों तथा अंग्रेजी साहित्य के उपन्यासों से विशेष प्रेरणा प्राप्त की। कुछ वास्तविक घटनाओं के आधार पर कल्पना-प्रधान अनेक उपन्यासों की भी सृष्टि हुई। 'पिंडारियों' की लूट-मार करने की कलाओं ने भी उपन्यासकारों को प्रचुर सामग्री प्रदान की।

'पिंडारी अमीर अली ठग' ने बंदी होने के बाद न्यायालय में अपना जो बयान प्रस्तुत किया कि किस प्रकार वह और उसके साथी लूटमार किया करते थे, उसके आधार पर अंग्रेजी में 'अमीरअली ठग' नामक उपन्यास लिखा गया और उसी रूप में उसका हिंदी में अनुवाद भी हुआ। 'अमला वृत्तांतमाला' 'कान्स्टेबल वृत्तांतमाला' तथा 'ठग वृत्तांतमाला' आदि सभी इसी प्रकार के उपन्यास हैं। जिन उपन्यासकारों ने अंग्रेजी साहित्य से प्रेरणा ली, उनके उपन्यासों में हमें अन्य की अपेक्षा यथार्थ अधिक मिलता है। वास्तव में यह युग प्रयोग का युग था। मुख्यतः उस युग के उपन्यासों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है।

१—प्रयोगात्मक (१८८०–१८९९)

२—कल्पना प्रधान (१८९९–१९१०)

और ३ —उपदेशात्मक (१९१०–१९१८)।

प्रयोग-युग

हिन्दी के आदिमौलिक उपन्यासकार लाला श्रीनिवासदास ने अपना प्रथम उपन्यास[१] 'परीक्षा गुरु' अंग्रेजी उपन्यासों के आधार पर लिखा जिसके अन्दर हमें देखने को मिलेगा

१—पंडित श्रद्धाराम फिल्लौरी का सामाजिक उपन्यास 'भाग्यवती' सन् १८७७ में लिखा गया और सन् १८८७ में प्रकाशित हुआ। हिन्दी का प्रथम मौलिक उपन्यास होने का इसे गौरव दिया जा सकता है।

कि लेखक ने प्रेम के परिचित दायरे के बाहर आकर जीवन के अन्य पक्षों पर भी दृष्टि डालने का प्रयत्न किया है। इस उपन्यास के अन्दर दिल्ली के एक सेठ की कहानी है, जो चाटुकारों की मिथ्या प्रशंसा से फूल-फूल कर बाहरी तड़क-भड़क तथा आडम्बरों के चक्कर में पड़ कर भिखारी बन जाता है और उसके ऊपर ऋण का इतना बड़ा बोझ लद जाता है कि वह उसी में डूबने-उतराने लग जाता है। इसके अन्दर सांसारिक खरे अनुभवों के बड़े सजीव चित्र आये हैं। उपन्यासकार उपदेश के चक्कर में न पड़ता तो अवश्य ही यह एक उच्च कोटि का उपन्यास होता।

'परीक्षा गुरु' के चरित्र भी अपनी वैयक्तिक विशेषताओं के कारण नहीं, बल्कि मानवीयता के कारण हमें आकृष्ट करते हैं। उनका क्रमिक विकास नहीं होता, पर मानवीय दुर्बलताओं और सबलताओं से मुक्त होने के कारण वे हमारे जाने-पहचाने जीते-जागते मनुष्य के रूप में सामने आते हैं। इस उपन्यास के द्वारा तत्कालीन मध्य-वर्गीय समाज अ र देश-दशा का विस्तृत परिचय मिल जाता है। नायक मदनमोहन नवशिक्षित मध्यवर्ग की कमजोरियों का मूर्तमान रूप है। इस नयी चाल की पुस्तक में नयी रोशनी के एक व्यापारी का अपने खुशामदी और स्वार्थी मित्र के फेर में पड़कर दिवालिया बनना और एक सच्चे , शुभचिन्तक मित्र की सहायता से ऋण-मुक्त होकर सुधर जाना दिखलाया गया है।

उन्नीसवीं शताब्दी में अनेक सामाजिक और नैतिक उपन्यास लिखने के प्रयोग हुए। उनमें से अधिकांश का नाम भी अब कोई नहीं जानता। पण्डित बालकृष्ण भट्ट ने सन् १८८६ में 'नूतन ब्रह्मचारी' की रचना छात्रों को नैतिक शिक्षा और दूसरी रचना 'सौ अजान और एक सुजान' दो धनी व्यापारियों की कुसंगति में पड़ने के कारण पतन और सज्जन की संगति में पड़ कर सन्मार्ग पर आ जाने के परिणाम को दिखलाने के उद्देश्य से की है।

बीसवीं सदी के यशस्वी कवि पण्डित अयोध्यासिंह उपाध्याय ने १८९९ में 'ठेठ हिन्दी का ठाट' लिखा जो भाषा की दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण प्रयोग है। लेखक ने ठेठ भाषा की दृष्टि से ही उसकी रचना की थी।

उन्नीसवीं सदी के तीन और उपन्यास उल्लेखनीय हैं। मेहता लज्जाराम शर्मा के 'धूर्त रसिकलाल' १८९९, 'स्वतन्त्र रमा' और 'परतन्त्र लक्ष्मी' (सन् १८९९) तथा श्री कार्तिक प्रसाद का 'दीनानाथ'। इसके अतिरिक्त मेहता जी ने 'आदर्श दम्पति' (१९०४) 'बिगड़े का सुधार' (१९०७) और 'आदर्श हिन्दू' (१९१५) नामक तीन उपन्यास और लिखे।

ठाकुर जगमोहन सिंह का 'श्यामास्वप्न' सन् १८८८ ई० और पंडित अम्बिकादत्त व्यास का 'आश्चर्य वृत्तान्त' सन् १८९३ में प्रकाशित हुए। ये उपन्यास संस्कृत-कथा-साहित्य की आख्यायिकाओं के ढंग पर लिखे गये हैं। 'श्यामा स्वप्न' स्वच्छन्द प्रेम की

कहानी है जो रीति कालीन नायिकाओं की परिपाटी को लेकर लिखा गया है। 'व्यास' जी का 'आश्चर्य वृत्तान्त' दूसरे ही प्रकार की रचना है। एक व्यक्ति स्वप्न में गया से काशी होते हुए चित्रकूट तक भ्रमण करता हुआ ऐसे जंगलों, पहाड़ों, और कंदराओं में घूमता और विलक्षण दृश्यों के दर्शन करता है कि पाठक उसके विवरण को सुनकर आश्चर्य में पड़ जाते हैं।

कल्पना प्रधान

बीसवीं शताब्दी के आरम्भ के कुछ पूर्व जब देवकीनन्दन खत्री के उपन्यास निकलने आरम्भ हुए तो उपन्यास-साहित्य के अन्दर एक मोड़ आया। उस युग के उपन्यासों में चमत्कार पर अत्यधिक आग्रह दिखायी पड़ता है क्योंकि इनके अन्दर मनोरंजन को ही प्रधान माना गया है। मानव जीवन के व्यापक क्षेत्रों की चर्चा जैसी कि आज हो रही है, इनमें मिलना असम्भव है क्योंकि इन उपन्यासों के अन्दर जीवन के मनोरंजन पक्ष की ओर ही विशेष ध्यान दिया गया। लेखकों ने तिलस्म और ऐय्यारी के ऐसे चमत्कार दिखलाये कि पाठकों की आँखें चौंधिया गयी। कब उनके पैरों के नीचे की धरती खिसक जायगी और वे एक जादू के महल में पहुँचा दिये जायँगे, उन्हें ज्ञात नहीं था। किसी भी व्यक्ति पर विश्वास करना कठिन था क्योंकि नहीं मालूम वह कब, क्या, रूप धारण कर लेगा। इस प्रकार ऐय्यारी के करिश्मों ने अपने और पराये के भेद-भाव की सीमा नष्ट कर डाली थी। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि इन उपन्यासों के अन्दर यथार्थ नाम की कोई वस्तु नहीं है। घटनाएँ, कथाएँ तथा पात्र आदि भले ही इनके बिलकुल काल्पनिक हों परन्तु उनके अन्दर भी वास्तविकता है, वे भी एक प्रकार के समाज के प्रतीक हैं और उनका भी सामाजिक मूल्य है।

देवकीनन्दन खत्री

देवकीनन्दन खत्री के तिलस्मी और ऐय्यारी उपन्यास सबसे प्रसिद्ध हुए। कुछ लोगों ने तो केवल 'चन्द्रकान्ता' पढ़ने के लिए ही हिन्दी सीखी। 'चन्द्रकान्ता' हमारे सामने आदर्श हिन्दू ललना का चरित्र रखता है। हिन्दू ललना का प्रेम जीवन में एक बार होता है। 'चन्द्रकान्ता' ने भी जिसे एक बार अपना हृदय दे दिया, दे दिया। राजा वीरेन्द्र भी सत्य का पक्ष लेनेवाला न्यायी नरेश है। 'भूतनाथ' अपनी स्वाभाविक दुर्बलताओं से युक्त एक बहादुर ऐय्यार है जिसके नाममात्र से ही विपक्षी घबड़ाते हैं। वह समाज में पापी बनकर रहने की अपेक्षा मृत्यु श्रेष्ठ समझता है, 'दारोगा' पूरा शैतान है, मालिक तक की हत्या कर डालता है, परन्तु अन्त में ऐसी मौत मरता है कि गलियों के कुत्ते भी तरस खाते हैं। 'कुसुमकुमारी' और 'वीरेन्द्र वीर' आदि उपन्यास खूनी प्रकरण पर हैं।

खत्रीजी के उपन्यासों का एकमात्र उद्देश्य था पाठकों का मनोरंजन करना। इनके उपन्यास नवयुवकों और नवयुवतियों के गले के हार बन गये और वे खत्रीजी के साथ-साथ तिलस्मी इमारतों में घूमने लगे। इनकी वर्णनशैली 'रेनाल्ड' से मिलती-जुलती है क्योंकि दोनों ही कथाओं का सूत्र इतिहास से मिलाते हैं और इसमें कुछ विचित्रता पैदा कर देते हैं। इनके उपन्यासों का उद्देश्य यद्यपि चरित्र-चित्रण नहीं है, फिर भी इनमें इसका नितान्त अभाव नहीं पाया जाता।

खूनी तिलस्मों और ऐसे क्षेत्रों का कोना-कोना इन्होंने देख डाला था। तिलस्मी उपन्यासों में राजकुमारों की प्रेम कहानी कही गयी है। एक राजकुमारी के अनेक प्रेमी तथा एक राजकुमार के अनेक प्रेमिकाएँ होती थी, परन्तु उनमें वास्तविक प्रेम किसी एक से ही होता था। ऐय्यारों के द्वारा एक दूसरे को प्राप्त करने में बाधा पहुँचती थी। यहीं पर लेखक को अपना चमत्कार दिखलाने का अवसर मिल जाता था। अन्त में ऐय्यार लोग प्रेमी और प्रेमिकाओं के विवाह कराने में सफलता प्राप्त करते थे।

खत्रीजी के उपन्यासों से पाठक प्रायः उसके काल्पनिक पक्षों से ही परिचित हो सके हैं, परन्तु उसका दूसरा वास्तविक पक्ष भी है। डाक्टर श्रीकृष्ण लाल ने 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास' मे तिलस्मी उपन्यासों में आये प्रेमाख्यानकों की तुलना हिन्दी के 'वीर काव्यों' से की है।[1] "चन्द्रकान्ता की तुलना सबसे अधिक लोकप्रिय चारण काव्य आल्हा से की जा सकती है। दोनों के मूल में वही स्वच्छन्दवादी प्रेम है। 'चन्द्रकान्ता' के ऐय्यार बहुत कुछ उस अर्द्धपौराणिक वीर काव्य के नायकों के समान हैं, केवल उपन्यास की परिस्थिति ने उन्हें थोड़ा परिवर्तित कर दिया है। उदाहरण के लिए जब नुनार का अधिपति आल्हा और ऊदल को युद्ध में परास्त न कर सका तब उसने अपने मित्र से सहायता माँगी, और उसके मित्र ने नृत्य और संगीत का जाल बिछा कर सरलहृदय आल्हा को बन्दी बना लिया। उस समय ऊदल और उसके मित्रों ने काबुली घोड़े बेचने वालों का वेश बना कर चतुरता से आल्हा को बन्दीगृह से मुक्त किया। यह चाल तिलस्मी उपन्यासों के ढंग की है।" लेखक ने जिस दृष्टि को अपनाया है उसका सूक्ष्मातिसूक्ष्म चित्रण कर डाला है।

गोपालराम गहमरी

गहमरीजी ने घटना-प्रधान जासूसी उपन्यास लिखे। इनके जासूसी उपन्यासों में घटनाओं का एक क्रम पाया जाता है। इनके उपन्यासों में भाव की अपेक्षा बुद्धि का चमत्कार अधिक पाया जाता है। इन्होंने चालीस वर्षों में डेढ़ सौ उपन्यास लिख डाले। ये जासूसी उपन्यास पूर्ण रूप से यूरोप, विशेषतः इंग्लैंड की देन हैं। स्काटलैंड की पुलिस और जासूसों के साहस और निर्भीकता तथा बुद्धि-चातुरी को लेकर ही इंग्लैंड

१—डाक्टर श्रीकृष्णलाल—"आ० हिं० सा० वि०, पृ० २७६—२७७।"

में जासूसी उपन्यासों की भरमार हुई थी। इन उपन्यासों के अन्दर एक छोटे-से रहस्य-बोज को लेकर बड़ी से बड़ी घटनाओं का पता लगाते देखकर जासूसों की समर्थता पर हमें थोड़ी देर के लिये आश्चर्य भले हो जाय, परन्तु भारतीय क्रान्तिकारियों के पीछे ऐसी-ऐसी घटनाएँ घटी हैं जिन्हें जान लेने पर और भी आश्चर्य हो सकता है। कहा जाता है कि प्रसिद्ध क्रान्तिकारी चन्द्रशेखर 'आजाद' के साथ दो खुफिया पुलिस अधिक दिनों तक रहे और उनके साथियों को ज्ञात तक भी न हो सका। इन उपन्यासों के अन्दर कल्पना से उतना ही काम लिया गया है जितना कि आधुनिक विज्ञान अव-काश देता है।

किशोरीलालजी गोस्वामी

गोस्वामीजी के उपन्यास कल्पना-प्रधान हैं। केवल कथन मात्र के लिए उन्हें सामा-जिक कहा जा सकता है। इनमे प्रेम-प्रवंचना का आधिक्य है जो कहीं-कहीं अश्लील भी हो गयी है। ये डायरी के पन्नों को उद्धृत करने के इतने चक्कर में पड़ गये कि कौतूहल भी समाप्त हो गया है। इनके प्रेमाख्यानक उपन्यासों में 'अंगूठी का नगीना', 'स्वर्गीय कुसुम' या 'कुसुम कुमारी' आदि के प्रेमी और प्रेमिकाएँ रेल के डिब्बों में, नावों में, अथवा पानी बरसते समय भाग कर खड़े हुए बरामदों में मिल जाया करते थे और वहीं एक-दूसरे के प्रेम-सूत्र में आवद्ध हो जाते थे जैसा कि आज की फिल्मी दुनिया में प्रायः दिखलाया जाता है। परन्तु इतना तो अवश्य है कि वे अपने उपन्यासों के द्वारा अन्य की अपेक्षा समाज के अधिक निकट आये।

निहालचन्द्र वर्मा—श्री निहालचन्द्र वर्मा को हिन्दी का अरेबियननाइटकार माना जाता है। मोती महल, जादू का महल, प्रेम का फल, आनन्द भवन, सोने का महल आदि आपके तिलस्म और ऐय्यारी के उपन्यास हैं, आप देवकीनन्दन-युग के उपन्यासकारों में माने जाते हैं। आपका प्रथम उपन्यास जादू का महल १६१५ में लिखा गया। इस प्रकार के उपन्यासों का लिखना जब कि प्रायः बन्द-सा हो गया है, पर वे आज भी उसी उत्साह से लिखते जा रहे हैं। गुलाब कुमारी नामक उनका एक और उपन्यास प्रकाशित हुआ है।

उपदेशात्मक

उपन्यासों की लोकप्रियता देखकर कुछ धर्मप्राण लोगों ने भी इसे प्रचार एवं उपदेश का उचित माध्यम समझ कर अपनाया। उपदेश की प्रवृत्ति हमें किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यासों से ही मिलने लग जाती है, जो उनके वैष्णव मतावलम्बी होने का परि-चायक है। कुछ पौराणिक उपन्यासों की भी रचना हुई जिनका प्रधान लक्ष्य भारतीयों को प्राचीन साहित्य एवं संस्कृति से परिचित कराना था क्योंकि अंग्रेजी सभ्यता का प्रचार

बड़ी शीघ्रता से होता जा रहा था। इनके अन्दर स्त्री-शिक्षा-प्रसार, आदर्श नायक और नायिकाओं के सुन्दर चित्रण नमूने के लिए चित्रित करने की भावना वर्तमान थी। स्त्रियों के आदर्श के लिए अनुसूया, सुभद्रा, चन्द्रलेखा, सती सीमंतिनी, मदालसा और सीता-सावित्री जैसी, और पुरुषों के लिये वीर कर्ण, एकलव्य, परशुराम आदि महावीरों के चरित्रों का चित्रण किया गया। ब्रजनन्दन सहाय कृत 'रामाकात', 'सौन्दर्योपासक' तथा ईश्वरी प्रसाद शर्मा के 'सूर्यमयी', 'किरणमयी' आदि उपन्यास और मन्नन द्विवेदी की कृतियाँ इसी श्रेणी मे आती हैं।

यथार्थवाद का वास्तविक आरम्भ

पूर्व प्रेमचन्द युग की प्रवृत्तियो से हम केवल इतना ही अनुमान लगा सकते हैं कि उपन्यासकारो का झुकाव मानव के जीवन-सम्बन्धी समस्याओं की ओर तो हो चला था परन्तु यथार्थवादी विचार-धारा को कोई भी निश्चित रूप तत्कालीन उपन्यासकार नही दे पाये थे। उपन्यास-साहित्य में यथार्थ को वास्तविक स्वरूप प्रेमचन्दजी के आगमन से ही मिला।

१९३६ के प्रगतिशील लेखक संघ के प्रथम अधिवेशन मे प्रेमचन्दजी ने जो भाषण दिया, उसमें उन्होंने प्रेम की बढ़ती हुई व्यंजना की तीव्र आलोचना की। उन्होंने उसे वर्तमान विपन्नावस्था के प्रतिबिम्ब रूप मे चाहा। प्रगतिवादी काव्य का आरम्भ १९३८ में पण्डित सुमित्रानन्दन पन्त और नरेन्द्र शर्मा के सम्पादकत्व मे निकलने वाले कालाकांकर के मासिक पत्र 'रूपाभ' से मिलता है। १९४१ में सबल रूप मे काशी की 'हंस' नामक पत्रिका मे, जिसका सम्पादन शिवदान सिंह चौहान करते थे, यह शब्द दुहराया गया।

विकास

हिन्दी में मुख्यतः यथार्थवाद का विकास प्रेमचन्द जी से मानना चाहिये, परन्तु उसके बहुत कुछ लक्षण हमें भारतेन्दु काल से दिखलायी पड़ने लग जाते हैं। भारतेन्दुजी की मूल प्रेरणा राष्ट्रीय थी, परन्तु राष्ट्रीय भावना के साथ-साथ उन्होने जीवन के यथार्थ रूप का भी चित्रण आरम्भ किया था। आगे चलकर धीरे-धीरे वेदना और यथार्थवाद का स्वरूप और भी स्पष्ट हो गया।

देवताओं की ओर से मानवीय भावनाओं के चित्रण की जो परम्परा चली आ रही थी उसके स्थान पर सीधे सीधे मनुष्य के अभावों और उसकी परिस्थितियो का चित्रण भी हिन्दी साहित्य मे उसी समय आरम्भ हो गया। परिणाम स्वरूप पिछले काल के सुधारक कृष्ण तथा राधा और रामचन्द्र का चित्रण वर्तमान युग के अनुकूल होने लगा। "धार्मिक अधविश्वासो तथा साम्प्रदायिक रूढ़ियो के स्तर जो आवरण स्वरूप बन गये थे,

उन्हें हटाकर अपनी प्राचीन वास्तविकता को खोजने की चेष्टा होने लगी।" फलतः "आरम्भिक साहसपूर्ण और विचित्रता से भरी आख्यायिकाओं के स्थान पर जिनकी घटनाएँ राजकुमारों से ही सम्बद्ध होती थीं—मनुष्य के वास्तविक जीवन का चित्रण आरम्भ होता है[1]।"

भारत में उस समय दो वर्ग उपस्थित थे (१) जन-साधारण दरिद्र और (२) महाशक्तिशाली नरपति। भारत के शक्तिशाली नरपति भारत के साम्राज्य की रक्षा करने में असफल हो चुके थे जिससे उनकी वास्तविक सत्ता पर से विश्वास डिगने लगा था और अब वे ही साधारण मनुष्य जो पहले अकिंचन समझे जाते थे अपनी वास्तविकता में विराट दिखलायी पड़ने लगे। इस समय के यथार्थवाद में अभाव, वेदना और पतन के अंश प्रभूत मात्रा में विद्यमान थे।

प्रेमचन्दजी के समय में केवल अपने तथा अपने समाज की दुर्बलताओं एवं दोषों को देखना ही इष्ट नहीं रहा, बल्कि, उसके अन्दर सुधार की प्रेरणा थी। देश के अन्दर जन-जागरण को प्रेरणा देने का कार्य मध्य वर्ग करता है, परन्तु वास्तविक शक्ति जनता के अन्दर ही निहित रहती है। जिस प्रकार जड़ों को सींचने से वृक्ष के समस्त अंगों में हरियाली आ जाती है, उसी प्रकार जनता के अन्दर जागरण आने से सारे समाज पर उसका प्रभाव पड़ता है। हिन्दी साहित्य के अन्दर मध्यवर्ग को सीमित करके अधिक दिन तक चलने वाला संघर्ष नहीं आ सका है। इसका एकमात्र कारण यह है कि गांधीजी के प्रभाव से जागरण जनता के अन्दर सीधे आया। उन्होंने सात लाख गाँवों को अपनी शक्ति का स्रोत माना और किसानों के अन्दर जागरण फूँका।

प्रेमचन्दजी ने लगभग तीस वर्षों तक हमारे साहित्य तथा समाज को प्रेरणा प्रदान की। जिस काल में उन्होंने अपनी रचना आरम्भ की, सम्पूर्ण देश के अन्दर एक विषमता की लहर व्याप्त हो रही थी। मानव-मन के भीतर सामाजिक, धार्मिक तथा राजनैतिक दुर्व्यवस्थाओं के प्रति घोर घृणा तथा विद्रोह की अग्नि सुलग रही थी। एक-एक दिन के अन्दर नयी-नयी व्यवस्थाएँ बनती-बिगड़ती जा रही थीं। सुधारक संस्थाओं की बाढ़ आ गयी थी और कांग्रेस के साथ अन्य कई राजनैतिक दल भी अपना अलग राग अलाप रहे थे। इन सभी परिस्थितियों का सम्यक् प्रभाव प्रेमचन्द के ऊपर पड़ा और उनका सहज सम्वेदनशील हृदय मर्माहत होकर उपन्यासों के रूप में निकल पड़ा। यदि तीस वर्षों का इतिहास दुर्भाग्य से लुप्त हो जाय तो हम प्रेमचन्द के उपन्यासों के द्वारा, सामाजिक, धार्मिक तथा राजनैतिक गतिविधियों के इतिहास का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। मूलतः सुधारवादी दृष्टि रखने के कारण प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में स्वाभाविक रूप से आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की प्रतिष्ठापना की।

१—जयशंकर प्रसाद—'काव्य कला तथा अन्य निबन्ध'।

प्रेमचन्दजी ने समाज और व्यक्ति को विभिन्न परिस्थितियों में रखकर तो देख लिया था परन्तु समाज से अलग व्यक्ति की सम्पूर्ण विवेचना उनके साहित्य में नहीं हो पायी थी। प्रेमचन्दजी ने उपन्यासों में यथार्थवाद की जिस सीमा तक अभिव्यक्ति की थी, उनके बाद की पीढ़ी ने उसे और भी आगे बढाया है। आधुनिक उपन्यासों में मानव परिस्थितियों एवं मनोभावों के विभिन्न रूपों को लेकर बड़े ही कलात्मक ढंग से मानव की वास्तविकता को सामने लाने का प्रयत्न किया जा रहा है।

रूसी राज्यक्रान्ति के बाद साहित्य को मार्क्सवादी संकेतों पर चलने के लिए बाध्य किया गया। नये समाज का निर्माण हो जाने पर रूसी विचार के प्रचारक और समर्थकों ने एक नये वाद का नाम गढ़ा। वह था 'समाजवादी-यथार्थवाद' (सोशलिस्टिक रियलिज्म) जिसकी व्याख्या साहित्य के अन्दर यथार्थवाद के भीतर ही की जाती है।

आरम्भ का यथार्थवाद आदर्शोन्मुख था। वाद को यह भी माना जाने लगा कि मनुष्य में दुर्बलता का होना अनिवार्य है जिसे दिखलाने के लिए मानव जीवन के विकृत अंश को भी साहित्य में स्थान मिलने लगा, जिसे 'प्रकृतवाद' के नाम से अभिहित किया गया। चित्रकला के द्वारा लिये गये चित्रों के द्वारा अत्यन्त नग्न एवं गोप्य चित्रों को भी उभाड़ कर प्रकाश में लाया गया जिसे 'अति यथार्थवाद' का चोगा पहनाया गया। मनोविज्ञान से साहित्य के प्रभावित होने के कारण मनोविश्लेषण की शैली पर मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद की भी अभिव्यक्ति की चेष्टा की जा रही है। कुछ उपन्यासकारों ने प्राचीन इतिहास को नयी दृष्टि से भी देखना चाहा है और तत्कालीन वातावरण का यथातथ्य चित्र उतारना चाहा है जिन्हें हम ऐतिहासिक यथार्थ के अन्दर रख सकते हैं।

प्रेमचन्द-युग

मूल दृष्टि

प्रेमचन्दजी के पूर्व के उपन्यासो में ही हम देखते हैं कि सामाजिक मंगल की कामना आ चुकी थी। भारतेन्दु-युग में अपने दोषो के पहचानने तथा उसको प्रकट कर देने की प्रवृत्ति को साहित्यकारो ने अपना लिया था। व्यक्ति एवं समाज की बुराइयों को ढूंढकर भारतेन्दु जी ने तथा उनके समकालीन सहयोगी लेखकों ने अपनी रचनाओं के माध्यम से व्यक्त किया। परन्तु एक आवश्यक अंग जिसकी पूर्ति उस समय न हो सकी थी द्विवेदी युग मे हुई। द्विवेदी युग परिष्कार एवं सुधार का युग था। पहली बार इस युग मे विचार किया गया कि केवल दोषो को उसके वास्तविक रूप में चित्रित कर देने मात्र से न तो कोई सामाजिक कल्याण का कार्य होगा और न तो इससे हम कोई साहित्यिक कला विशेष का ही रूप निर्माण करेंगे।

द्विवेदीजी ने सुधारवादी आन्दोलन बड़े ही सशक्त रूप में चलाया। उनके व्यक्तित्व मे इतना प्रभाव था तथा उनकी बातो में सत्य की इतनी शक्ति थी कि तत्कालीन समस्त लेखको पर उनका प्रभाव पडा। इस सुधारवादी आन्दोलन को चलाने एवं सफलता देने में प्रेमचन्द जी का स्थान सर्वप्रमुख है और उनके व्यापक प्रभाव के कारण तत्कालीन लेखको से उनका एक युग ही बन गया। प्रेमचन्द जी की दृष्टि मूलतः सुधारवादी थी। इन्होने 'चन्द्रकांता सतति' तथा तिलस्मी, ऐय्यारी उपन्यास के पाठको को 'सेवासदन' तक पहुँचाया। प्रेमचन्दजी से उपन्यास साहित्य मे वास्तविक यथार्थ की अभिव्यक्ति प्रारम्भ हुई। परन्तु प्रेमचन्दजी कोरे यथार्थवादी ही नही थे, उनका यथार्थ वह कठोर धरातल है जिसपर उनके आदर्शमहल की दृढ दीवार खडी होती है। उन्ही आदर्शों को लेकर तत्कालीन सामाजिक, राष्ट्रीय, धार्मिक एवं नैतिक परिस्थितियो से उद्भूत युग-जागरण का सजीव चित्र इनके उपन्यासो में उतर आया है।

उपन्यासों में प्रेमचन्द की यथार्थवादी दृष्टि

हिन्दी उपन्यास साहित्य में प्रेमचन्दजी युग प्रवर्तक के रूप में आये। हिन्दी साहित्य के अन्दर महावीर प्रसाद द्विवेदी युग में जो आशाएँ जग रही थी, उन्हे शक्तिशाली बनाने में प्रेमचन्दजी सदैव तल्लीन रहे। *उपन्यास-साहित्य की परम्परा में उन्हे युग-स्रष्टा के रूप* में स्वीकार करना ही पड़ेगा क्योकि उनके पूर्व कुछ ही उपन्यासकार ऐसे थे जिन्हे हम

साहित्यिक उपन्यासकार कह सकते हैं। उन दिनों साहित्यिक उपन्यास लिखने का कोई महत्त्व समझा ही नहीं जाता था और न उनकी रचना समाजहित की दृष्टि से हो की जाती थी। अधिक से अधिक समाज का मनोरंजन करना ही उपन्यासों का अन्तिम लक्ष्य माना जाता था। यथार्थ नाम की किसी वस्तु का मिलना उन उपन्यासों में असम्भव था जिसके द्वारा समाज के लिए जागृत चेतना की एक झलक मिलती। पूर्ववर्ती उपन्यासकार झोपड़ियों में भी रहकर गगनचुम्बी प्रासादों का ही स्वप्न देखते थे। उन्हें प्रायः मखमली फर्श पर लगे हुए सोफों पर बैठने वाली नायिका ही स्मरण आती थी और वे ही उनके उपन्यासों की पात्र थी।

प्रेमचन्दजी उन उपन्यासकारों में सर्वप्रथम रहे जिनकी दृष्टि महलों की ओर न जाकर सबसे पहले झोपड़ियों की ओर गयी, जिन्होंने टूटी-फूटी झोपड़ियों में पुआलों पर पड़ी तड़पती हुई भारतीय आत्माएँ देखीं, फटे चीथड़ों में सरल और स्वाभाविक यौवन के सौष्ठव का अनुभव किया और दरिद्रता की चक्की में पिसनेवाले दीन-जनों में भी महलों-सी प्रेम की पीर पायी। उपन्यास सम्राट् प्रेमचन्दजी ने अपने जीवन से एक दीक्षा ली थी जो उनके उपन्यासों में सचित्र उभर आयी है।

युग की परिस्थितियों ने प्रेमचन्दजी को उत्पन्न किया था। वे परिस्थितियों की ही देन थे। देश के अन्दर बढ़ती हुई सामाजिक, राजनैतिक तथा धार्मिक और नैतिक विषमताओं की मार को प्रेमचन्दजी का सहिष्णु हृदय सह नहीं पाया और वह अति आकुल होकर सहानुभूति के स्वर में बोल उठा जिससे तत्कालीन जीवन और युग का यथार्थ चित्र उनकी रचनाओं में उतर आया है। वर्तमान परिस्थिति से समाज को निकालना उन्होंने अपना पवित्र कर्त्तव्य समझा।

प्रेमचन्दजी का अनुभव इतना विशाल था कि उसके अन्दर मानव-जीवन का प्रत्येक पक्ष सिमट कर आ गया है। मानव जीवन के प्रति उनका अपना एक अलग दृष्टिकोण था। मानवता के पक्के हिमायती होते हुए भी उन्होंने अपने उपन्यासों में मानव की स्वाभाविक दुर्बलताओं को खुल कर चित्रित किया है। परन्तु इतना अवश्य था कि वे मानवता की विजय की कामना करने वाले महापुरुषों में से एक थे। उन्होंने किसी वाद-विवाद के पचड़े में अधिक न पड़कर, अपने लिए एक समन्वयवादी दृष्टिकोण अपना लिया था। उनका यह दृढ़ विश्वास था कि बिना यथार्थ की कठोर भूमि का सहारा लिए कला का भव्य भवन निर्मित ही नहीं हो सकता और जब तक उनमें आदर्श का समुचित योग न होगा तब तक उसमें सौन्दर्य की प्रतिष्ठापना भी नहीं की जा सकती। उनकी दृष्टि में उच्च कोटि के उपन्यास के लिए यथार्थ और आदर्श दोनों अनिवार्य तत्व हैं जिनमें से एक के अभाव में भी कला में दोष का आ जाना स्वाभाविक है। प्रेमचन्दजी मर्यादावादी थे जिससे उन्होंने अपनी कृतियों में अधिक से अधिक मर्यादा की रक्षा

करने का प्रयत्न किया है। कर्म-फल पर आस्था रखने के कारण अधिकतर उन्होंने अच्छे पात्रों का अच्छा और बुरे पात्रों का बुरा अंत दिखलाया है और जहाँ कहीं हो सका है बुरे पात्रों का सुधार भी कर लिया है।

इनके उपन्यासों के विषय का विकास एवं विस्तार मानव जीवन के विकास एवं विस्तार से किसी कदर कम नहीं। उनके चरित्रों के कर्म और विचार, उनके देवत्व और पशुत्व तथा उत्कर्ष और अपकर्ष में मानव-जीवन का विकास और विस्तार निहित है। उसी व्यापक दृष्टिकोण के कारण इनके उपन्यासों में इतिहास, राजनीति, दर्शन तथा अन्य मानव कर्मों के विभिन्न पहलुओं का सम्यक विवेचन आ गया है। इन्होंने अपने उपन्यासों के कथानक ही ऐसे गढ़े हैं जिससे उनके अन्दर तत्कालीन सामाजिक प्रश्न तथा सामाजिक कुरीतियाँ, विवाह समस्याएँ, सामाजिक तथा धार्मिक मान्यताएँ, जनवादी आन्दोलन तथा उदारपंथी समाज सुधार आदि आ गए हैं। उन्होंने मानव जीवन की सीमा को समाज के शीर्षस्थ कुछ चुने चुनाये धनीमानी व्यक्तियों के सीमित दायरे तक ही सीमित नहीं रखा है बल्कि उसके प्रति उनका एक व्यापक दृष्टिकोण रहा है। समाज के प्रत्येक व्यक्ति के साथ उन्होंने अपनी आत्मीयता का परिचय दिया है। जिस प्रकार के मानसिक अन्तर्द्वन्द्व समाज के तिरस्कृत एवं नगण्य व्यक्तियों के अन्तर्मन में भी चला करते हैं, लेखक ने उनका सजीव चित्र खींचने का सफल प्रयास किया है। प्रेमचन्दजी पहले हिंदी उपन्यासकार थे जिन्हें हम यदि छोटी टूटी-फूटी झोपड़ियों में ग्रामीणों के साथ अलावों के समीप बैठे बातें करते हुए पाते हैं, तो गगनचुम्बी प्रासादों में पहुँचकर हेय जीवन पर घृणा प्रकट करते हुए भी।

प्रेमचन्दजी के उपन्यासों का साधारणतः वर्गीकरण कर देना कठिन होगा। न तो हम उन्हें पूर्णतः घटना-प्रधान कह सकते हैं और न तो चरित्र-प्रधान ही। घटनाएँ कभी तो पात्रों को चक्कर में फँसाये रहती हैं और पात्र कभी स्वयं घटनाओं का निर्माण करते हैं। इनके पात्र दृढ़ चरित्र वाले तो चित्रित किये गये हैं फिर भी वे परिस्थितियों के दास हैं और उन्हीं उलझनों में पड़कर उनका विकास भी होता है। प्रेमचन्दजी ने राजनीति और समाज-नीति के सुधार का जो जिम्मा अपने सर उठाया और उन दोनों की जो खिचड़ी उन्होंने अपने उपन्यासों में पकायी उससे वे यद्यपि अपने किसी निश्चित लक्ष्य की पूर्ति नहीं कर सके, फिर भी इतना तो उन्होंने अवश्य किया कि समाज के सच्चे और यथार्थ चित्र को पाठकों के सम्मुख ला रखा। उनके उपन्यास मानव एवं मानवता के अमर संगीत हैं। उनमें सच्चे रूपों में भारत का यथार्थ सामाजिक जीवन चित्रित हुआ है।

प्रेमचन्दजी ने प्रकारान्तर से पारिवारिक, सामाजिक और राजनैतिक सभी समस्याओं को उठाया और उनका हल भी प्रस्तुत करना चाहा है। कौटुम्बिक भूमि तो

इन्हें इतनी प्यारी थी कि इनका एक भी ऐसा उपन्यास हमें नहीं मिलता जिसमें कि पारिवारिक समस्याओं को न उठाया गया हो। 'प्रेमाश्रम' में जागीरदारी प्रथा के टूटने के फलस्वरूप और नयी शिक्षा के कारण सम्मिलित कुटुम्ब पर गहरी चोट पड़ती है और बाद में 'गोदान' में होरी के अथक प्रयत्नों पर भी परिवार बिखर जाता है। एक छत के नीचे कुटुम्ब के सभी प्राणियों का रहना आज की शिक्षा-दीक्षा और आर्थिक व्यवस्था के रहते हुए असम्भव है, यह अनेक रचनाओं से स्पष्ट है। इसके अतिरिक्त सौतेली माँ, सास-बहू, देवरानी-जेठानी आदि भी अनेक उपन्यासों के केन्द्र हैं[1]।" इसके अतिरिक्त उन्होंने समाज की व्यापक भूमि का भी पर्यवेक्षण करना चाहा है जिनमें भारत में रहने वाली विभिन्न जातियां और वर्ग हैं। 'रंगभूमि' के अन्दर हमें हिन्दू, ईसाई और मुसलमान पात्र-पात्रियों का अत्यन्त सहानुभूतिपूर्ण चित्रण मिलता है। ये ही विभिन्न धरातल हैं, जिनपर प्रेमचन्दजी का सामाजिक यथार्थ चित्रित हुआ है।

इन्होंने भारत एवं भारतीय समस्याओं की गुत्थियों को समझा तो अवश्य है और उसका यथार्थ चित्रण भी किया है परन्तु उन समस्याओं और गुत्थियों की मूल प्रेरक वस्तु क्या है तथा वे समाज के सामने आती क्यों हैं, इसे जानने की उतनी कोशिश नहीं की जितनी कि उनसे आशा की जा सकती थी। समस्याओं के मूल-बिन्दु पर चोट करने की अपेक्षा उन्हें समझौते का सिद्धान्त अधिक पसन्द आया है। उन्होंने उसके हल की प्रेरणा देनी चाही है। इस प्रकार प्रेमचन्दजी की दृष्टि जीवन की यथार्थता पर तो रही, उन्होंने एक तटस्थ पर्यवेक्षक की भाँति सबलताओं एवं दुर्बलताओं से पूर्ण जीवन को हमारे सामने लाकर रखा तो है, परन्तु वे उसका निर्माण उसी प्रकार करना चाहते थे, जैसी कल्पना उन्होंने कर ली थी। उनके मन में आदर्श मानव और मानवता का एक चित्र था जिसको वे साकार देखना चाहते थे। यही कारण है कि उनके सभी उपन्यासों में एक चेतनादायिनी शक्ति तथा अपार ओज और साहस का सदुपदेश एवं सन्देश है। उन्होंने पूर्णरूपेण इसका अनुभव किया कि हम परिस्थितियों को तभी बदल सकते हैं जब कि उसके लिये एक ऐसी क्रान्ति लायी जाय जो बहुमुखी हो। अपने उपन्यासों के द्वारा प्रेमचन्दजी ने इसी प्रकार क्रान्ति लानी चाही, जिसमें उन्हें अत्यधिक सफलता मिली। अपने उपन्यासों में जिस प्रकार की क्रान्तिकारी भावनाओं को प्रेमचन्दजी ने स्थान दिया, वे एकमात्र विनाशकारी ही नहीं, बल्कि उनके अन्दर सर्जन की अपार शक्ति भी विद्यमान है।

प्रेमचन्दजी की दृष्टि भाषा, भाव, पात्र, वर्ण्यवस्तु, वातावरण तथा कथोपकथन आदि सभी दिशाओं की ओर यथार्थवादी रही। परन्तु प्रेमचन्दजी का यथार्थ निष्प्राण

१—आलोचना-उपन्यास अंक, पृष्ठ ८५।

यथार्थ नहीं, बल्कि जीवन्त यथार्थ है जिसके अन्दर उद्भव विकास एवं नूतन सृष्टि की सशक्त प्रेरणा है। उन्होंने जिन-जिन अवस्थाओं एवं मनोदिशाओं को देखा अथवा अनुभव किया, उससे केवल विज्ञ पाठक को परिचित ही नही कराना चाहते बल्कि उसके द्वारा उत्पन्न समस्याओं का हल भी प्रस्तुत करते चलते हैं। प्रेमचन्द के अन्दर एक नव निर्माण की जो ललक थी उसने कहीं-कहीं उन्हें अति आदर्शवाद बना दिया है। इसका कारण यही है कि उनके हृदय के अन्दर वर्तमान, जो कि अति हय, दीन तथा घृणित है, के प्रतिविरोधी भाव अत्यन्त उग्र रूप में वर्तमान थे।

प्रेमचन्दजी का सेवासदन नामक उपन्यास हमारी सामाजिक कुप्रथाओं के परिणाम की एक करुण कहानी है। प्रेमचन्दजी ही एक ऐसे उपन्यासकार थे जिन्होंने जन तथा युग-जागरण की आवश्यकताओं के साथ-साथ अपने साहित्य का सृजन किया। प्रेमचन्दजी स्वभाव से ही आदर्शवादी तथा उपदेशक थे, परन्तु वे जो कुछ भी थे अथवा उन्होंने जो कुछ भी कहा है उसका मूलाधार कठोर यथार्थवादी है।

सेवासदन

यदि हम प्रेमचन्दजी को सुधारवादी भी कह दें तो अत्युक्ति न होगी। उनकी इस प्रवृत्ति का 'सेवासदन' सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। उपन्यास के उत्तरार्द्ध मे चलकर स्पष्ट हो जाता है कि लेखक किस प्रकार के समाज का स्वप्न देख रहा है। उसके अतिरिक्त जिस समय इस उपन्यास की रचना हुई वह हमारे सामाजिक इतिहास में एक क्रांति का युग था, जो प्रत्येक दिशा की ओर उन्मुख थी। सारे समाज में फैली हुई कुप्रथाओं की भर्त्सना की जा रही थी और साथ ही सुधारकों की पुकार वेश्याओं के सुधार की ओर सारे समाज को आकर्षित कर रही थी। इन्ही सभी परिस्थितियों का परिणाम सेवासदन है।

भले ही प्रेमचन्दजी ने सौ चूहे खाकर भक्तिन बनने वाली वेश्याओं को हज करने के लिए भेज दिया हो, भोली ऐसी अनेक वेश्याओं से दालमंडी खाली कर दी हो, सदन मे ऐसे व्यक्तियों का सुधार करके आदर्श पुरुष बना दिया हो परन्तु पूर्वार्द्ध को पढ़कर ऐसा जान पड़ता है कि समाज के वास्तविक चित्र की छाया लेखक के हृदय-पटल पर अंकित थी।

मनुष्य की परिस्थितियाँ किस प्रकार उसे अनैतिक कार्य करने के लिए बाध्य कर देती हैं, इसे हम कृष्णचन्द्र दारोगा के जीवन से भलीभाँति जान सकते हैं। दारोगाजी स्वभाव से घूसखोर नहीं थे परन्तु इन्हें किसी न किसी प्रकार रुपया प्राप्त करना है। यदि रुपया नहीं प्राप्त करते तो वे अपनी सामाजिक मर्यादा की रक्षा करने मे असमर्थ हैं। रुपये के अभाव में सुमन का ब्याह असम्भव है। समाज ही ऐसा है कि जिसमें

लिए बाह्य उपचार आवश्यक है, चाहे आन्तरिक पोल कितना ही क्यों न हो, उससे उसका कोई सरोकार नहीं है। यदि समाज बुरे तथा अनैतिक कार्यों को आश्रय न दे तो किसी भी व्यक्ति को अपनी वास्तविक हीनता कष्टकर हो न हो और न तो लोगों को सत्कार्यों के प्रति अश्रद्धा ही हो। सुमन ने अपने दीन पति की गृहस्थी में यातनाओं का तब अनुभव किया जब उसके सामने अन्य लोगों की गृहस्थी के चित्र आये। उसने देखा कि भोली वेश्या का सम्मान समाज में कितना ऊंचा है। प्रत्येक लक्ष्मी-पतियों के घरों से लेकर देवालयों तक उसकी प्रतिष्ठा है, जब कि उस स्थान तक उसके लिए प्रवेश पाना भी दूभर है। सुमन से जब वह सुमन बाई हो जाती है तो उस समय के उसके वाक्य, उसके जीवन के सच्चे अनुभव तथा वे परिस्थितियाँ हैं जिन्होंने उसे वेश्या बना दिया। एक बार मैं चिम्मन लाल के ठाकुरद्वारे में झूला देखने गयी थी, सारी रात बाहर खड़ी भीगती रही किसी ने भी भीतर नहीं जाने दिया, लेकिन कल उसी ठाकुरद्वारे में मेरा गाना हुआ तो ऐसा जान पड़ता था मानो मेरे चरणों से मन्दिर पवित्र हो गया। "यदि समाज के अन्दर इस प्रकार की कुवृत्तियाँ मानव-स्वभाव में न होतीं तो हमारी माताएँ और बहनें कभी भी रूप का बाजार लगाकर न बैठतीं।" यह हमारी ही कुवासनाएँ, हमारे ही सामाजिक अत्याचार, हमारी ही कुप्रथाएँ हैं जिन्होंने वेश्याओं का रूप धारण कर लिया है। यह दालमंडी हमारे ही कलुषित जीवन का प्रतिबिम्ब, हमारे ही पाशविक अधर्म का साक्षात् स्वरूप है।

प्रेमचन्दजी ने जहाँ पर इस उपन्यास के अन्दर समाज की सामूहिक समस्याओं का वर्णन किया है, वे तो यथार्थवादी हैं ही, उसके अतिरिक्त विभिन्न श्रेणी एवं समुदाय के व्यक्तियों का भी उन्होंने सजीव चित्र खींचा है। सैकड़ों गरीबों का गला घोंट कर चींटी के बिलों पर आटा छिड़कने वाले उन सेठ-साहूकारों का भी यथातथ्य चित्रण किया है जिनके नाम पर अनेक सुधारवादी संस्थाएँ कार्य कर रही हैं, जिनके चन्दे के रुपये धार्मिक कार्यों में लगे हैं और जिसकी आड़ में उनकी पापलीला चला करती है। वेश्या सुधार संस्था के प्रमुख कार्यकर्ता होने पर भी जो वेश्यागमन से जरा भी नहीं हिचकते और जिनके प्रत्येक कार्य समाज को दिखलाकर यश कमाने के लिए ही हैं। समाज के अन्दर विट्ठलनाथ ऐसे एकाध व्यक्तियों का हो जाना असम्भव नहीं है परन्तु मानव के बाह्य स्वरूप से उसका कितना अन्तर है इसको प्रेमचंद जी ने खूब परखा है, विट्ठलनाथजी को भले विश्वास हो जाय कि एक उच्च कुलीन हिन्दू नारी के वेश्या होने से समस्त हिन्दू समाज का मस्तक झुकता है। विट्ठलनाथजी के समझाने पर 'सुमन बाई' कहती है, "अभी कई सज्जन यहाँ से मुजरा सुनकर गये हैं, सभी हिन्दू थे, लेकिन किसी का सिर नीचा नहीं मालूम होता था। वह मेरे यहाँ आने से बहुत प्रसन्न थे। फिर इस मंडी में मैं ही एक ब्राह्मणी नहीं हूँ। दो-चार का नाम तो मैं आप से अभी

बता सकती हूँ जो बहुत ऊँचे कुल की हैं।" मनुष्यों के व्यक्तिगत गुणों को लेकर भी प्रेमचन्दजी ने अत्यन्त ही मनोवैज्ञानिक चित्रों को उपस्थित करने का यत्नतत्र अवसर निकाला है।

प्रेमाश्रम

पहले ही संकेत किया जा चुका है कि प्रेमचन्द जी की जो सबसे बड़ी विशेषता है वह यह कि उन्होंने अपने साहित्य की रचना युग के साथ साथ की। १६१८ में देश की जो स्थिति थी, जब उसका सेवासदन प्रकाशित हुआ था, वह १६२१ तक आते आते बहुत कुछ बदल चुकी थी, जब उनका 'प्रेमाश्रम' प्रकाशित हुआ। 'प्रेमाश्रम' के लिए प्रेमचदजी ने ऐसा क्षेत्र चुना जो उनका भली-भाँति जाना-पहचाना था। 'सेवासदन' की भाँति सामाजिक चित्रों को सामने रखकर ही लेखक निर्णय के लिए पाठकों का मुँह नहीं ताकता, बल्कि प्रेमाश्रम में उसकी भावनाएँ अधिक स्पष्ट रूप में हमारे सामने आ सकी हैं। उसने समय की आवश्यकताओं को समझा है, कठिनाइयों का उसे पूर्ण ज्ञान है, क्योंकि वह स्वयं उसी वर्ग का एक व्यक्ति है जो करीब सौ वर्षों से विदेशी शासकों की कूटनीति का शिकार अपने ही अन्न से पले कुत्तों द्वारा बनाया जा रहा है।

१६२० के आसपास जब देश के अन्दर पूज्य बापू के नेतृत्व में राष्ट्रीयता की एक लहर फैल रही थी, सबके अन्दर यह भाव उत्पन्न हो चला था कि किसी न किसी प्रकार इस अंग्रेजी सरकार और अंग्रेजियत से पीछा छुडाना है। देश के अन्दर असहयोग आन्दोलन को सफल बनाने की तैयारी की जा रही थी। उसके पूर्व 'प्रेमाश्रम' की कल्पना हो क्यों न रही हो, परन्तु हम देखते हैं कि आगे चलकर उसी प्रकार राष्ट्रीय संग्राम छिड़ा जिस प्रकार लेखक ने इच्छा प्रकट की थी और आज भी उस कथा का यथार्थ, ऐतिहासिक महत्त्व अवश्य है।

जमींदारों, उनके कारिन्दों तथा प्यादों के द्वारा निरीह कृषकों पर अत्याचार होते देखकर प्रेमचन्द की आत्मा तड़प उठी थी। 'प्रेमाश्रम' में किसानों की दुर्दशा, जमींदारों के अत्याचार, पुलिस के हथकंडे, अफसरों और उनके मातहतों की धाँधली, वकीलों की नमकहरामी, न्यायाधीशों का अधापन आदि का बड़ा ही सजीव चित्रण किया गया है। इस उपन्यास के अन्दर जमींदार तथा किसान, दो वर्गों के अधिकारों का संघर्ष दिखलाया गया है। किस प्रकार गौस खां 'ज्ञानशंकर' की जमींदारी में किसानों को परेशान करता है, किस प्रकार सिपाही और प्यादों के द्वारा बेगारी ली जाती है तथा उन्हें बेइज्जत किया जाता है। एक मरीज का निदान चाहे हो सके अथवा यह मर जाय पर गाड़ी को बेगार में ले जाने से कोई रोक नहीं सकता। किसानों की स्वतन्त्र भावनाओं को किस प्रकार कानून के झूठे हथकंडों द्वारा निर्मूल किया जाता था, किस प्रकार

बिसेसर साहु के यहाँ से २००) का सामान ले जाकर ७५) ही दिया जाता था और पुलिस की झूठी गवाहियों के आज दिन भी कितने निरीह शिकार होते रहते हैं।

किसानों का घर जलाना, चौपायों को चरागाहों में न चरने देना, भूखे तथा दीन किसानों के ऊपर बेदखली तथा इजाफा के मुकदमे चलाना, हाकिमों को दावतों तथा डालियों से खुश करके नाजायज फैसला करवा लेना, आदि जमींदारों के दाँयें-बाँयें हाथ के खेल थे। कादिर मियां के नेतृत्व में किसानों का जागरण बतलाता है कि राष्ट्रीय चेतना भारतवासियों के अन्दर व्यापक रूप से जग रही थी, चाहे वे हिन्दू हो अथवा मुसलमान। 'प्रेमाश्रम' के अन्दर भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम की यथार्थ रूपरेखा हमें देखने को मिल जाती है।

रंगभूमि

समय के साथ-साथ समाज और उसकी परिस्थितियों में अन्तर पड़ता रहता है और समाज के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य और उसके मानदंड भी बदलते जाते हैं। आज जो वास्तविक है कल वही अवास्तविक हो सकता है। इसलिए किसी भी साहित्यकार का ठीक-ठीक मूल्यांकन करने के लिए हमको उसके युग एवं परिस्थितियों में जाना होगा, जिसमें और जिसके लिए साहित्यकार ने अपने साहित्य की सृष्टि की थी।

रंगभूमि प्रेमचन्दजी का पहला उपन्यास है जिसके अन्दर भारत में ही रहने वाले दो समाज, जिनके पारस्परिक रीति-रिवाज, संस्कार एवं धार्मिक आचार-विचार एक दूसरे से भिन्न हैं, चित्रित किये गये हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इस सर्जन में साहित्यकार को कोई न कोई बहुत बड़ी समस्या का समाधान ढूंढना इष्ट रहा होगा और निश्चित ही इसमें हमें उसका समाधान ही मिलता है। इस उपन्यास के अन्दर तीन-चार वर्गों का समावेश हो पाया है और लेखक अपनी कला के द्वारा उनके वास्तविक चित्र को उभाड़ने में सफल भी हो सका है। एक तो है उन ईसाइयों का वर्ग, जो भारत का अन्न-जल तो खाता है परन्तु अंग्रेजियत की नींद सोता है और विलायत का ही स्वप्न देखता है। एक विदुषी ईसाई कन्या सोफी के विचार-स्वातंत्र्य को चित्रित करके प्रेमचन्द ने ऐसे ही ईसाई समाज के आडम्बरों का भंडाफोड़ कराया है।

अन्धा 'सूरदास' ग्राम्य जीवन का प्रतीक और महात्मा गांधी के विचारों का सच्चा प्रतिनिधि है। महात्मा गांधी के अहिंसात्मक सत्याग्रह की प्रणाली का प्रभाव प्रेमचन्दजी के ऊपर पड़ा था जिसकी प्रेरणा ने उनके अमर चरित्र सूरदास का निर्माण किया। पँडा नायकराम, बजरंगी अहीर, भैरो पासी आदि नागरिकों का चरित्र, उन ग्रामवासियों का चरित्र है जो देश को आगे बढ़ाने से रोक ही नहीं रहे बल्कि उसे पीछे की ओर खींच भी रहे हैं। लेखक ने एक ओर तो सुभागी का सच्चा स्त्री-भाव तथा दूसरी ओर

ताहिर की विमाताओं की कुटिलताओं का दिग्दर्शन कराया है। ताहिर का जीवन उस समय के ही नहीं आज के भी मध्यवर्ग के नागरिक की एक करुण कहानी है।

सबसे बड़ा जो व्यंग्य प्रेमचन्दजी ने किया है, वह यह जिसे स्वायत्त शासन (Local Self Government) कहते हैं, जो भारतवासियों के लिए बहुत बड़े पुरस्कार के रूप में प्राप्त हुआ था। राजा महेन्द्र सिंह नगरपालिका के प्रधान होते भी किस प्रकार शासक वर्ग से दबे हुए रहते हैं तथा अंग्रेजों की कुटिल नीति किस प्रकार कार्य करती रहती थी, आदि का सजीव चित्रण किया गया है। शासन-नीति का बाह्य रूप कुछ और तथा व्यवहार में कुछ और था। मि० क्लार्क को कमिश्नर का सुझाव तथा दंड के रूप में उसकी तरक्की इस कुटिल नीति का सजीव प्रमाण है। इसके अन्दर राजनीतिक जीवन का भी बड़ा मनोवैज्ञानिक यथार्थ चित्रण मिलता है। पुरुषों से अधिक साहस और उत्साह दिखाने वाली स्त्रियों का समर-क्षेत्र में उतरना हमारी राष्ट्रीय जागृति का पुनीत परिचय है। देश के सत्याग्रह संग्राम में महिला स्वयंसेविकाओं के सदुत्साह को देखकर ही सम्भवतः प्रेमचन्द ने सोफिया, इंदु और रानी जाह्नवी की अवतारणा की थी।

'प्रेमाश्रम' को लेकर आलोचकों ने प्रेमचन्द के ऊपर उनके स्वप्नदर्शी होने का जो आरोप किया था उसे लेखक ने रंगभूमि में अत्यधिक बचाया है। लेखक ने इसके अन्दर भावनागत रामराज्य का निर्माण नहीं कराया है और उसने किसी भी स्थान पर यथार्थ की ओर से अपनी आँखें बन्द नहीं की हैं।

कायाकल्प

कायाकल्प जैसे आध्यात्मिक एवं काल्पनिक उपन्यास के अन्दर भी प्रेमचन्द जी ने तत्कालीन समस्याओं का समावेश कर ही दिया है। जिस समय लेखक ने 'कायाकल्प' की सृष्टि की, उस समय भारत का राजनैतिक वातावरण हिन्दू मुस्लिम वैमनस्य के कारण अत्यन्त क्षुब्ध हो उठा था और उसका हल ढूँढ निकालने तथा सुलझाने में बड़े से बड़े राजनीतिज्ञ नेताओं की बुद्धि चकरा रही थी। जबतक हिन्दू तथा मुस्लिम दोनों सम्प्रदायों में ख्वाजा 'महमूद' और 'यशोदानन्द' जैसे उदार दृष्टि वाले नहीं पैदा होंगे तबतक संकुचित धर्मान्धता का नंगा नाच होता ही रहेगा, ऐसा प्रेमचन्दजी का अडिग विश्वास था। बेगार में पकड़े जाने वाले मजदूर और किसानों की अवस्था का यथार्थ चित्रण करना प्रेमचन्दजी के लिए कोई नवीन वस्तु नहीं है, उनके तो वे वकील ही थे और उनका सम्पूर्ण उपन्यास साहित्य इस प्रकार के वर्णनों से भरा है।

गबन प्रतिज्ञा और निर्मला

कायाकल्प के पश्चात् प्रकाशित प्रेमचन्द का 'गबन' नामक उपन्यास उनके अन्य पूर्व के उपन्यासों से बहुत कुछ भिन्न है। इसके अन्दर लेखक की मनोवैज्ञानिक प्रतिभा

का चमत्कार अत्यधिक दिखलायी पड़ता है। परिस्थितियों में पड़कर किस प्रकार व्यक्ति का निर्माण अपने आप ही परिस्थितियों के अनुसार हो जाता है 'रमानाथ' के जीवन में आये अनेक परिवर्तन इसके उदाहरण हैं। परन्तु पात्रों के चरित्रों का लेखक ने जो विकास दिखलाया है वह अत्यन्त ही यथार्थ एवं वास्तविक है। यों तो उन्होंने प्रायः अपने सभी उपन्यासों में समाज के किसी न किसी अत्याचारी वर्ग की धाँधलियों को अनावृत करने का प्रयत्न किया है परन्तु भारतीय पुलिस की कार्यवाहियों का खोखलापन जितने वास्तविक रूप में 'गबन' में दिखलाया गया है, उतना अन्य किसी में नहीं। १६२६ और १६३० में मेरठ कांसपिरेसी केस और लाहौर-दिल्ली का बमकांड हुआ जिसमें एक मुखबिर पकड़ा गया था। मुखबिर को पुलिस वालों ने ऐसा बयान रटाया था कि उसकी लपेट में 'जवाहरलाल' जी भी आ गये थे। पुलिस के उन तिकड़मों का भी प्रभाव स्पष्ट रूप से 'गबन' लिखते समय लेखक के ऊपर था।

अंग्रेज प्रभुओं की कृपा से भारतवर्ष में जिस मध्यवर्ग का उदय हुआ 'गबन' उपन्यास में प्रेमचन्दजी ने उसकी वर्दनाक कहानी कही है। प्रेमचन्दजी के जीवनकाल और अंग्रेजी शासन में मध्यवर्गीय भारतीय समाज की जो अवस्था रही उसमें आज भी बहुत परिवर्तन नहीं हो पाया है। बल्कि उसकी वे समस्यायें आज भी वर्तमान हैं जिन्हें आधुनिक प्रजातंत्रीय सरकार भी निर्मूल नहीं कर सकी है। कुल मर्यादा के अहम् से पीड़ित तथा आत्मप्रवंचना के रोग से ग्रस्त 'गबन' उपन्यास का केन्द्र चरित्र 'रमानाथ' अपनी एक साधारण सी भूल को आरम्भ में न संभाल पाने के कारण किस प्रकार समस्याओं के ताने-बाने में मकड़ी की तरह उलझ जाता है जिसे उसने अपनी मानसिक दुर्बलताओं के कारण स्वयं बुना है। पिता दयानाथ, माता रामेश्वरी तथा अन्य दो छोटे भाइयों से युक्त रमानाथ का एक छोटा-सा परिवार था जो दयानाथ की ईमानदारी पूर्ण नौकरी के बल पर आसानी से किसी प्रकार खा-पी लेता था। रमानाथ का विवाह प्रयाग के एक छोटे से ग्राम के निवासी दीनदयाल की कन्या जालपा से करके रमानाथ के पिता दयानाथ ने घर बैठे फजीहत मोल ले ली। थोड़ा बहुत सभी पात्र प्रायः मध्यवर्गीय दुर्बलता के शिकार हैं। दयानाथ की आर्थिक स्थिति इतनी अच्छी नहीं थी कि वे बेटे का ब्याह बड़ी धूम-धाम से कर सकें पर जब विवाह ठन गया तो उन्होंने गहनों से लेकर नाच तमाशे तथा आतिशबाजियों तक कोई कोर-कसर नहीं रखी, भले ही उन पर इतना ऋण चढ़ गया जिसे भुगतान करने में वे असमर्थ थे। इस उत्साह में रामेश्वरी तथा अपने दिल चले मित्रों से प्रेरित रमानाथ ने भी समान रूप से दयानाथ का उत्साहवर्द्धन किया। बेचारे दयानाथ बहू के चढ़ावा में एक हार नहीं ले जा पाये थे जिससे सारी चमक फीकी पड़ गयी थी जिसकी आलोचना जालपा की सभी निकट की सहेलियों से लेकर उत्सव में भाग लेने वाली महिलाओं ने की। शहजादी ने तो जालपा के कान में वह गुरु मंत्र दिया कि जिसे उसने गांठ बाँध ली। बहुत सी ऐसी इच्छाएँ होती

हैं कि यदि उन्हें जगाने वाली वस्तुयें सामने न आयें तो आसानी के साथ उनको भुला जा सकता है। जालपा के चढ़ाव में काफी अच्छे-अच्छे कीमती गहने आये थे और यदि उसमें हार नहीं था तो कोई बहुत बड़ी बात नहीं थी पर जालपा के आस पास रहने वाली लड़कियों ने जैसी परिस्थिति उत्पन्न कर दी उसमें जालपा का तड़प उठना अत्यन्त स्वाभाविक था। एक महिला के यह कहने पर कि अरे, चन्द्रहार नहीं आया, दीनदयाल ने वातावरण की गम्भीरता का अनुमान लगाते हुए उसके प्रभाव को हल्का करने की चेष्टा की—और सभी चीजें तो हैं; एक चन्द्रहार ही तो नहीं है।—पर यह महिला भला कब चूक सकती है—चन्द्रहार की बात और है।—और मनाकी ने तो चढ़ाव को सामने से हटाते हुए यह कहकर कि बेचारी के भाग्य में चन्द्रहार लिखा ही नहीं है, जलती अग्नि में घी की आहुति ही दे दी। यह सभी बातें जालपा से छिपाकर भी नहीं कही गई थीं कि उसके ऊपर कोई बुरा प्रभाव न पड़ता। "इस गोलाकार जमघट के पीछे अंधेरे में आशा और आकांक्षा की मूर्ति-सी जालपा भी खड़ी थी। और सब गहनों के नाम कान में आते थे,"..................वह लालसा जो सात वर्ष पहले उसके मन में अंकुरित हुई थी, जो इस समय पुष्प और पल्लव से लदी खड़ी थी, उस पर वज्रपात हो गया। वह हरा-भरा लहलहाता हुआ पौदा जल गया, केवल उसकी राख रह गयी। आज ही के दिन पर तो उसकी समस्त आशायें अवलम्बित थीं। दुर्दैव ने आज वह अवलम्ब भी छीन लिया। उस निराशा के आवेश में उसका ऐसा जी चाहने लगा कि अपना मुँह नोच डाले। उसका वश चलता तो वह चढ़ाव को उठाकर आग में फेंक देती।" एक साधारण स्त्री की भाँति जालपा के मन में जो विचार आये वे अत्यन्त स्वाभाविक हैं। ये विचार केवल जालपा के ही नहीं हैं बल्कि उस प्रकार की सभी नारियों के हैं जो आभूषण प्रेमी समाज में जी रही हैं। प्रेमचन्द जी भारतीय समाज की नाड़ी पहचानते हैं और उनकी पैठ इतनी सटीक है कि एक पात्र के रूप में वे उस प्रकार के समाज का सजीव चित्र उपस्थित कर देते हैं। जहाँ तक परिस्थिति की प्रतिकूलता में उत्पन्न प्रतिक्रिया के चित्रण का प्रश्न है, प्रेमचन्द जी समस्त हिन्दी उपन्यास साहित्य में अपना प्रतिद्वन्द्वी नहीं रखते। यह जानकर कि चढ़ाव में चन्द्रहार नहीं आया है, जालपा के मन में जो प्रतिक्रिया हुई उसका सजीव एवं यथार्थ चित्र मुं० प्रेमचन्द जी ने 'गबन उपन्यास में खींचा है।

जालपा को आसपास की सभी चीजों से जैसे घृणा हो गई। "कमरे में एक आले पर शिव की मूर्ति रखी हुई थी। उसने उसे उठाकर ऐसा पटका कि उसकी आशाओं की भाँति वह चूर-चूर हो गयी। उसने निश्चय किया कि मैं कोई आभूषण नहीं पहनूँगी आभूषण पहनने से होता ही क्या है?" वह अभी अपनी विह्वलता को सँभाल भी नहीं पाई थी कि राधा, वासंती और शहजादी तीन सखियाँ उसके पास जा टपकीं। इन सखियों का प्रवेश और उनकी बातें इतनी समयानुकूल हैं कि जिससे जालपा के

चरित्र विकास में कहीं अस्वाभाविकता नहीं आने पाई है। वे सभी जालपा से आकर चढ़ाव के सम्बन्ध में ही बातें करती हैं जैसे लगता है स्त्रियों को आभूषण को छोड़कर और किसी वस्तु की आवश्यकता ही नहीं है। राधा और वासंती तो अभिधा में बातें न करके वक्रोक्ति में ही बातें करती हैं और डरती रहती हैं कि जालपा कहीं उनकी बातें ताड़ न जाय पर शहजादी को तो सीधा-साधा ही कहना आता है। "क्या करोगी पूछकर बहन, जो होना था सो हो गया! तुम पूछने को कहती हो, मैं रुलाकर छोड़ूँगी। मेरे चढ़ाव पर कंगन नहीं आया था उस वक्त मन ऐसा खट्टा हुआ कि सारे गहनों पर लात मार दूँ। जब तक कंगन न बन गये, मैं नींद भर सोई नहीं।" शहजादी इतना कहकर ही चुप नहीं रह जाती बल्कि वह जालपा को उपदेश भी देती है "नहीं यह बात नहीं है जल्दी, आग्रह करने से सब कुछ हो सकता है। सास ससुर को बार-बार याद दिलाती रहना। बहनोई जी से दो चार दिन रूठे रहने से भी बहुत कुछ काम निकल सकता है। बस यही समझ लो कि घर वाले चैन न लेने पायें, यह बात हर दम उनके ध्यान में रहे। उन्हें मालूम हो जाय कि बिना चंद्रहार बने कुशल नहीं। तुम जरा भी ढीली पड़ीं और काम बिगड़ा।" देखने में तो ये सब बातें बहुत मामूली जान पड़ती हैं पर यथा स्थान इनका बड़ा महत्व होता है। जिस व्यक्ति से ऐसी बातें कही जायें यदि वह प्रौढ़ मस्तिष्क का हो और अपने विवेक को सदैव जागरूक रखता हो तो ऐसे प्रसंगों से विनोद की ही सृष्टि होगी पर अधकचरे मस्तिष्क के लोगों के लिये ऐसी बातों का प्रभाव बड़ा ही अस्वस्थकारी हो सकता है जिससे उनके जीवन में अनेक ऐसी उलझनें पैदा हो सकती हैं कि एक-एक पल भारी हो जाय।

शहजादी ने जिस समय अपना उपदेश दिया उस समय जालपा के अन्दर न तो मस्तिष्क की प्रौढ़ता ही थी और न तो उसमें विवेक ही आ पाया था जिससे उसका परिणाम अच्छा नहीं हुआ। जालपा के आस पास का कुछ वातावरण ही ऐसा था और उसमें शहजादी ने ऐसा मन्त्र फूँका कि जिसके प्रभाव ने रमानाथ का जीवन ही दूभर हो गया। हार पहनने की इच्छा जालपा के मन में बचपन से ही वर्तमान थी और उसको माँ ने उसे यह आश्वासन दे रखा था कि उसके विवाह में नकली हार के स्थान पर असली हार आयेगा और अवसर आने पर जो उसके मन की मुराद पूरी न हो सकी तो उसमें कटुता का आ जाना अनिवार्य था।

जालपा के रूप पर रमानाथ और रमानाथ के रूप पर जालपा लट्टू थी पर दो हृदयों को हार के अभाव का कांटा बराबर खटकनेलगा! रमानाथ ने जालपा पर अपने अमीर होने का रंग चढ़ा रखा था जो छोटे के सम्मुख एक दुर्बल व्यक्ति की विशेषता है जिसकी रक्षा करने के लिये उसे उधार लिये हुए गहनों को लौटाने के लिये जालपा के गहनों की चोरी करनी पड़ी, मामूली नौकरी करने पर भी बाहरी आमदनी का ढोंग

रखना पड़ा, उधार लाये हुए गहनों को यह कहकर छिपाना पड़ा कि धीरे-धीरे वह सेठो के रुपये देता जा रहा है, जालपा की अमीर सहेली रतन के रुपयों को लौटाने के लिये म्युनिस्पैल्टी के रुपयों का एक प्रकार से गबन करना पड़ा, यद्यपि वह रुपये रतन को केवल भुलावे में डालने के लिये लाया था जो जालपा की असावधानी के कारण एक समस्या बन गया और जिसका परिणाम यह हुआ कि जेल जाने के भय से वह घर छोड़कर भी भाग जाता है। अपनी एक भूल को छिपाने के लिये अनेक भूल करनेवाला रमानाथ मध्यवर्गीय दुर्बलताओं का ऐसा शिकार हुआ कि न तो वह अपनी अमीरी की ही रक्षा कर सका, न तो वह परिवार को ही सुखी बना सका और न तो जालपा के रूप और यौवन की सुखद शीतल छाया में ही विश्राम कर सका जिसे प्रसन्न करने के लिये उसने क्या-क्या नहीं किये। उपन्यास का पूर्वार्द्ध रमानाथ के घर से भाग जाने पर समाप्त हो जाता है और कलकत्ता के एक विश्वसनीय खटिक परिवार जग्गो और देवीदीन के सम्पर्क में आकर वह उत्तरार्द्ध की कथा का निर्माण करता है।

सभी विपत्तियाँ एक साथ ही आती हैं। टिकट के लिए रमानाथ ने अपनी अंगूठी एक कुली को बेच दी पर रुपये लेने के बहाने वह ऐसा गया कि ट्रेन चली गई पर वह नहीं लौटा। बिना टिकट यात्रा करते रमानाथ को टी० टी० आई० की अभ्यस्त आँखों ने ताड़ लिया जिससे वह पुनः झूठ बोलकर भी अपने को कानून की दृष्टि में निर्दोष न सिद्ध कर सका। फलतः रमानाथ को अगले स्टेशन पर उतर ही जाना पड़ता कि सहृदय वृद्ध खटिक देवीदीन ने उसके रुपये चुका दिये। कलकत्ता में रमानाथ इसी वृद्ध खटिक देवीदीन के यहाँ रहने लगा। देवी की वृद्धा पत्नी जग्गो कुछ तेज अवश्य थी पर यह जानकर कि रमानाथ प्रयागराज का ब्राह्मण है, अपने स्वभाव के प्रतिकूल भी चुप लगा जाया करती थी। रमानाथ एक प्रकार से झूठ बोलने का अभ्यासी हो गया था यही कारण है कि उसने अपने को कायस्थ न बताकर देवी से ब्राह्मण बताया। जेल जाने के भय का भूत ऐसा रमानाथ पर सवार था कि एक दिन अपनी ही असामान्य भावभंगियों के कारण वह पुलिसवालों की चक्कर में आ गया। पुलिस वालों को एक डकैती के मामले में मुखबिर की तलाश थी जिससे रमानाथ को पाकर उन्होंने अपनी हारी हुई बाजी भी जीत लेनी चाही। इस मामले में निर्दोष व्यक्ति ही गिरफ्तार किये गये थे जिन्हें सजा दिलाकर पुलिस वाले अपनी कुशलता का परिचय देकर तरक्की का दरवाजा खोल लेना चाहते थे। दुर्बल रमानाथ पूर्णतः पुलिस वालों के प्रलोभन में आ गया और देवी तथा जालपा के सुझाव देने पर भी उसने मुखबिरी की। जालपा को 'प्रजामित्र' अखबार के माध्यम से यह पता चला कि रमानाथ कलकत्ता में हैं। जालपा और रतन ने शतरंज का एक इनामी नक्शा 'प्रजामित्र' में निकलवाया था क्योंकि वे जानती थीं कि रमानाथ शतरंज का अच्छा खिलाड़ी है जिससे वह इनाम के लिये नक्शा अवश्य हल करेगा और ऐसा ही हुआ। साथ ही रमेश बाबू ने भी रमानाथ के घर

आकर उसके परिवार वालों को बताया कि पुलिस वालो की एक इनक्वाइरी आई थी और रमानाथ कलकत्ता में है। जालपा भी इलाहाबाद से आकर देवीदीन खटिक के यहाँ टिक जाती है और रतन अपने पति की चिकित्सा के सम्बन्ध में पहले ही आ चुकी थी। वह जालपा के साथ ही आना चाहती थी पर उसके पति दिवंगत हो चुके थे और मणिभूषण जो रतन के पति वकील साहब का भतीजा था उसकी सारी सम्पत्ति पर हाथ फेरना चाहता था, जिस भय के कारण वह न आ सकी।

इस उपन्यास की कथा ऐसे दो स्थानो को घेर कर चलती है जिनमे पर्याप्त दूरी है, पर उपन्यासकार ने कथावस्तु का निर्माण ऐसे ढंग से किया है और उसमे ऐसे कौशल का परिचय दिया है कि उसमें कही से भी शिथिलता नही आने पाई है। पूरे उपन्यास की कथा रमानाथ और जालपा को ही घेरकर चलती है जो उसके प्रमुख पात्र है। उपन्यास के पूर्वार्द्ध के भी प्रमुख पात्र रमानाथ और जालपा हैं और उत्तरार्द्ध के भी। उनकी समस्याओ को उभाडने तथा परिस्थितियो मे रंग भरने के निमित्त ही उपन्यासकार ने अन्य पात्रो की व्यवस्था की है। चाहे वे इलाहाबाद में रहनेवाले दयानाथ, रामेश्वरी, रमेश बाबू, रतन तथा इन्दुभूषण ऐडवोकेट-हाईकोर्ट हो अथवा कलकत्ता में रहनेवाले देवीदीन, जग्गो, पुलिस अफसर, जोहरा तथा दिनेश के असहाय परिवार वाले हो। ये सभी पात्र माला की मनियों की भाँति बिखर जायं और उनका उस रूप में पहिचानना भी कठिन हो जाय कि वे कभी कथामाला के मणि-पात्र थे यदि रतन और जालपा का कथासूत्र निकाल लिया जाय। ऐसे कथावस्तु के निर्माण में उपन्यासकार के लिये असफल होने की अत्यधिक सम्भावनाएँ रहती हैं, पर 'गबन' की कथावस्तु अत्यन्त चुस्त एवं गठित है। यदि उसमें से अपवाद स्वरूप उपन्यास का वह अंश निकाल दिया जाय जिसमें वकीलो के माध्यम से न्यायालय मे खडे होकर उपन्यासकार ने भाषण देना आरम्भ कर दिया है।

लम्बे-लम्बे वर्णनो तथा स्वगत भाषणों का बाहुल्य उपन्यासकार प्रेमचंद की प्रायः सभी कृतियों में पाया जाता है और इस दिशा मे जब उनके पात्र कहीं लचर पडने लग जाते हैं तो वे स्वयं प्रकट होकर कलात्मकता की उपेक्षा करके पात्रो की कमी को पूरी कर देते हैं। प्रेमचंदजी स्रष्टा पहले हैं और कलाकार बाद में। उन्होंने अपनी रचनाएँ सोद्देश्य की हैं और यही कारण है कि उसकी सिद्धि में कभी-कभी वे कलात्मकता की उपेक्षा भी कर जाया करते हैं। यह दोष अथवा गुण 'गबन' में भी मिल जाता है क्योंकि उपन्यास के उत्तरार्द्ध की कथा से ही उन्हें सन्तोष नही होता और वे एक अन्य कथा का निर्माण भी करने लग जाते हैं। यह तीसरी कथा पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध का समन्वित परिणाम है। कलकत्ता और इलाहाबाद के सहयोगी पात्र जो रमानाथ और जालपा के सम्पर्क मे आकर दो स्थानों पर अलग-अलग उपन्यास की कथा का विकास कर रहे थे, वे सभी शहरी वातावरण से ऊबकर प्रयाग के समीप देहात में आकर एक

साथ बस गये। विधवा रतन, नौकरी से बरखास्त दयानाथ, रामेश्वरी, जालपा, जोहरा, रमानाथ, जग्गो तथा देवीदीन खटिक सभी पारस्परिक जातिपाँति के भेद-भाव को भूलकर एक साथ रहने लगे। प्रेमचंदजी की यह नवनिर्मित बस्ती थी जहाँ आदर्श भारतीय समाज निवास करता था जिसमें न तो कोई छूत और न तो कोई अछूत और न तो किसी से किसी के शोषित होने की ही सम्भावना थी। इस प्रकार उपन्यासकार ने 'गबन' के तृतीय चरण मे जिस सर्वोदय नगरी का निर्माण किया है वह उसके आदर्शोन्मुख यथार्थवाद का ही परिचायक है। 'गोदान' के पूर्व 'गबन' ही प्रेमचंदजी का एक ऐसा उपन्यास था जिसे हम शुद्ध सामाजिक यथार्थवादी उपन्यास कह सकते थे परन्तु उनकी उपदेशवृत्ति ने हमे निराश कर दिया। प्रेमचंदजी साहित्यकार होने के साथ ही साथ समाज-सुधारक भी थे और उनका यह दोनो रूप जहाँ कही भी एक दूसरे से मिल गया है वे अपनी कृतियो मे आदर्शोन्मुख यथार्थवादी हो गये हैं क्योंकि सुधारक शुद्ध आदर्शवादी होता है जिससे जब कभी उसका मेल साहित्यकार के यथार्थ जीवन-चित्रण से हो जाता है, वह एक नये आदर्श की सृष्टि कर देता है।

इस उपन्यास की मुख्य समस्या आभूषण-प्रेम की समस्या है जो भारतीय समाज के लिये अभिशाप बन गई है। मुख्यतः मध्यवर्ग जिसकी आर्थिक स्थिति अत्यन्त खोखली होती है, आभूषण-प्रेम के कुपरिणामो से इतना पीडित है कि इसका अस्तित्व ही कभी-कभी सन्देहास्पद हो जाता है। समाज के लिये आभूषण-प्रेम सचमुच बहुत बुरा मर्ज है, बहुत बुरा। वह धन जो भोजन में खर्च होना चाहिये, बालबच्चो का पेट काटकर गहनो की भेंट कर दिया जाता है। बच्चो को दूध न मिले न सही, घी की गंध उनकी नाक तक न पहुँचे न सही, मेवो और फलो के दर्शन उन्हें न हो, कोई परवाह नही, पर देवीजी गहनें जरूर पहनेंगी और स्वामीजी गहने जरूर बनवायेंगे। दस दस बीस-बीस रुपये पानेवाले क्लर्कों को देखता हूँ, जो सडी हुई कोठरियो मे पशुओ की भाँति जीवन काटते हैं, जिन्हें सवेरे का जलपान तक मयस्सर नही होता, उनपर भी गहनो की सनक सवार रहती है। इस आभूषण-प्रेम की समस्या को लेकर प्रेमचंदजी ने समाज में पाई जानेवाली सभी प्रकार की स्त्रियों का अत्यन्त सजीव चित्र खीचा है और यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि किसी न किसी प्रकार का आभूषण-प्रेम सभी वर्ग की स्त्रियो में होता है। चाहे वे बालिकाएँ हो अथवा वृद्धाएँ, नवबधुएँ हो अथवा अचिराचिर काल की परिणीता-पत्नियाँ, अनुकूल पति की पत्नियाँ हो अथवा अनमेल विवाह के कुपरिणाम से ग्रस्त वृद्ध पुरुष की युवती पत्नियाँ। इस आभूषण-प्रेम के कारण वे स्वयं दुःखी रहती हैं और सारे परिवार को दुःख में डाल देती हैं। जिस दिन उनका यह आभूषण प्रेम समाप्त हो जाता है वे सचमुच देवियाँ बन जाती हैं और अपने मनोबल के प्रताप से गिरे हुए पुरुषो का भी उद्धार करने मे समर्थ सिद्ध होती हैं। जालपा जिस समय बालिका थी उसके मन में माता-पिता की असावधानी के कारण नकली हार के

प्रति अनुराग जगा जो यौवन काल तक असली हार तक विकसित होता गया जिससे वह यौवन-वसन्त की रंगीनियों में भी मुरझाई रही। रमानाथ वय और रूप दोनों ही दृष्टियों से जालपा के योग्य पति था, पर जालपा के आभूषण प्रेम ने दोनों का जीवन दुखपूर्ण बना दिया। जालपा ने जिस दिन से आभूषण-प्रेम को तिलांजलि दे दी उसी दिन से वह एक साधारण रमणी से ऊपर उठकर देवी बन गई और अपने पैरों पर खड़ी होकर उसने भाग्य को अपने अनुकूल बना लिया तथा अपने भटके एवं पथभ्रांत पति का भी उसने सुधार कर लिया। रामेश्वरी भी आभूषण से प्रेम रखती थी और उसने भी अपने यौवनकालीन दिनों में आभूषण बनवा रखे थे, पर बढ़ती हुई आर्थिक कठिनाइयों के कारण बाद को उन्हें बेचने पड़े। आभूषण के अभाव में रामेश्वरी अपने पति दयानाथ के साथ सुखी थी क्योंकि पति-पत्नी के बीच आभूषण-प्रेम की कोई समस्या नहीं थी। रोगी एवं वृद्ध ऐडवोकेट-हाईकोर्ट इन्दुभूषण की युवती पत्नी रतन भी आभूषण-प्रेम की शिकार है जिसके कारण वह रमानाथ के सम्पर्क में अत्यधिक आ गई थी। अर्थाभाव के न होने के कारण पारिवारिक कलह का प्रश्न तो रतन के आभूषण-प्रेम के कारण नहीं उठा पर रमानाथ के प्रति उसके मन में जो कटुता का संचार हो गया था, उसके मूल में उसका आभूषण-प्रेम ही था। आभूषण-प्रेम के समाप्त होते ही हम देखते हैं कि रतन का दृष्टिकोण इतना उदार हो गया कि वह जालपा को रुपये सहायतार्थ हठ करके दे जाती है और उसके दुःख से स्वयं इतनी दुःखी हो जाती है कि जैसे जालपा उसकी सगी बहन ही ठहरी। यहाँ तक कि देवीदीन की वृद्धा पत्नी जग्गो को भी गहने बनवाने का कुछ कम शौक नहीं है। वह चरस और गांजा पीने से विरत होने के लिये देवीदीन को इसलिये उपदेश देती है कि उसकी मेहनत की कमाई वह बैठे-बैठे फूँक दे रहा है। उसके लिये पैसे का सदुपयोग तो दो एक थान गहने बनवा लेना ही है। भारतीय समाज की इस कुप्रथा एवं उसकी मानसिक दुर्बलता का अत्यन्त नग्न यथार्थवादी चित्र 'गबन' में प्रस्तुत किया गया है जो उपन्यासकार का उद्देश्य जान पड़ता है। परिवार सम्बन्धी अनेक समस्याएँ—'गबन' में आये पात्रों के माध्यम से उठाई जा सकती थीं, पर उपन्यासकार ने उधर से अपनी आँखें फेर ली हैं। अनमेल विवाह स्वयं में एक बहुत बड़ी समस्या है, जिससे समाज में न जाने कितने पापाचारों को प्रोत्साहन मिलता है। रतन रूप-यौवन के भार से लदी एक युवती है जिसके परिचय की परिधि भी काफी लम्बी है। सभी प्रकार के नर-नारियों से उसका परिचय है और वह दुनिया की सभी रंगीनियों को जानती-समझती भी है, पर क्या उसके मन में एक अच्छे साथी की आकांक्षा नहीं है जिसके हाथों में हाथ देकर वह पार्को में आधुनिक समाज को मात दे सके? उसके पास आधुनिक युग की सबसे बड़ी शक्ति पैसा है, रूप है, जवानी है तथा टहलने के लिए मोटरकार और आधुनिक साज-सज्जाओं से युक्त रहने के लिए बंगला है, पर क्या उसने इसे ही अपने

जीवन की इयत्ता समझ ली है ? ये सभी वस्तुएँ किसी भी स्त्री के जीवन का लक्ष्य नहीं बन सकती क्योंकि इनसे तो केवल सामाजिक महम् एवं वाह्य सुख की इच्छाओं को ही तृप्ति मिल सकती है, जिसे ही हम जीवन का एकमात्र लक्ष्य नहीं स्वीकार कर सकते। इनके अलावा भी नारी जीवन की कुछ ऐहिक इच्छाएँ भी होती हैं जिन्हें वह स्वभावतः तृप्ति देना चाहती है। इस शारीरिक भूख की तृप्ति न तो सजे-सजाये बंगले से हो सकती है और न तो धन-वैभव से ही, इसके लिये तो मनचाहे साथी की ही आवश्यकता है। प्रत्येक स्त्री माता बनना चाहती है। इन्दुभूषण के साथ रहकर रतन की एक भी ऐहिक इच्छा पूरी नहीं हो सकती क्योंकि न तो वह उसे मातृत्व प्रदान करने में ही सहायक हो सकता है और न तो रतन की शारीरिक भूख को ही तृप्त कर सकता है। लगता है रतन ने वैयक्तिक इच्छाओं को मूल्यरूप में चुका कर सुख के सभी भौतिक साधन खरीदे हैं जिससे उसने अपने जीवन के अभावों के साथ समझौता कर लिया है। वह जानती है कि एक साधारण परिवार की स्त्री को जो इतना धन-वैभव मिला है उसका एकमात्र श्रेय उसके वृद्ध पति को ही है जिसने रुपये की शक्ति से युवती रतन की इच्छाओं को खरीद लिया है तथा उसके आभूषण-प्रेम को तृप्ति देकर स्वयं को श्रद्धा का पात्र बना लिया है। रतन भी स्वीकार करती है कि वे बेचारे उसकी सारी इच्छाओं को पूरी करने के लिए उतावले रहते हैं और यदि उनका बस चले तो वे रतन को आभूषणों से लाद दें पर रतन इसे जानने के कारण ही उनके लिये अधिक उतावली नहीं होती जिस उतावलेपन ने जालपा के रूप-यौवन, पति तथा परिवार की सुख-शान्ति के साथ ऐसा खिलवाड किया कि वे तबाह हो गये। इस दृष्टि से आर्थिक समस्या आभूषण-प्रेम की समस्या से अधिक महत्वपूर्ण जान पड़ती है जिसने मानवीय भावों तक को दबा रखा है। रतन भी आभूषणों से प्रेम करती है पर अर्थाभाव के न होने के कारण उसका आभूषण प्रेम किसी भी प्रकार के सामाजिक अथवा आर्थिक कष्ट का सृजन नहीं करता। देवीदीन खटिक की वृद्धा पत्नी भी आभूषणों से अनुराग रखती है पर उन्हें खरीदने के लिये उसके पास पैसे हैं जिससे किसी भी प्रकार के पारिवारिक कलह की सृष्टि नहीं हो पाती। रमानाथ धनहीन है और जालपा पूर्णतः उसपर आश्रित है जिससे वह रमानाथ की बातों पर ही विश्वास करने के कारण वास्तविक वस्तुस्थिति से अपरिचित ही रहती है। यदि वह 'जग्गो' की भाँति मालकिन होती तो कभी भी उसका यह आभूषण-प्रेम पारिवारिक सकट का कारण न बन पाता क्योंकि हम देखते हैं कि जिस क्षण उसे वास्तविक स्थिति का पता लग जाता है वह अपने इस आभूषण-प्रेम को सर्प के केंचुल की भाँति उतार कर निर्मल बन जाती है।

वस्तुतः मध्यवर्ग की प्रमुख समस्या अर्थ की समस्या है जिसके अभाव में बीसवीं शताब्दी का जीवन गतिशील ही नहीं हो सकता। सबको अर्थ की आवश्यकता है जिनमें से कुछ के लिये तो वह उनकी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है और कुछ को

संग्राहक बुद्धि को तुष्टि प्रदान करता है। पुरुष के पास शक्ति है, व्यवस्था है वह पारिवारिक अर्थ-व्यवस्था का सर्वेसर्वा है जिससे उसमें आभूषण-प्रेम जैसी किसी कुवृत्ति के दर्शन नहीं होते, पर स्त्रियों की एकमात्र सम्पत्ति उनका आभूषण ही है क्योंकि हिंदू धर्मशास्त्र ने अथवा हिंदू-विवाह-पद्धति ने स्त्रियों को सभी सम्पत्तियों से वंचित रखा है और उसने यह स्पष्ट घोषित कर दिया है कि स्त्रियों का एकमात्र स्वामित्व उनके आभूषणों पर ही है। यही कारण है कि उनका सारा अर्थानुराग आभूषणों में केंद्रीभूत हो गया है क्योंकि गाढ़े दिनों में वही आभूषण उनकी सहायता करता है। क्या रामेश्वरी ने आवश्यकता पड़ने पर अपने गहने नहीं बेचे, क्या जालपा ने अपने गहनों को बेचकर गबन के रुपये नहीं चुकाये और यदि रतन ने वकील साहब के रुपयों को आभूषणों में परिवर्तित कर लिया होता तो क्या उसे अंत में दर-दर की खाक छाननी पड़ती? बैंक के बीस हजार रुपये पर मणिभूषण का अधिकार हो सकता है, कार तथा बंगले को वह बेच सकता है पर यदि स्त्रीधन के रूप में रतन के पास आभूषण होते तो उसे भी बेचकर क्या वह रतन को कंगाल बना सकता था? इस प्रकार आभूषण-प्रेम की समस्या वहीं विकट है जहाँ स्त्रियों को सम्पत्ति में अधिकार नहीं मिला है। सम्पूर्ण भारतीय जातियों में भी स्त्रियों की आर्थिक स्थिति समान नहीं। अतः आभूषण-प्रेम की समस्या को हम सम्पूर्ण भारतीय समाज के साथ भी नहीं जोड़ सकते जिससे यह भारत के एक विशिष्ट खण्ड अथवा समाज की समस्या हो सकती है। विदेशों में इस प्रकार की समस्याओं के दर्शन हमें इसलिये नहीं मिलते कि वहाँ नारियों को आर्थिक अधिकार प्राप्त हैं। मध्यवर्ग की सबसे बड़ी समस्या है अर्थाभाव की समस्या जिसके कारण वह न तो अपनी आवश्यकताओं को ही पूरी कर पाता है और न तो अपने सामाजिक स्तर की ही रक्षा करके थोथे स्वाभिमान एवं कौलन्य की मर्यादा को ही अक्षुण्ण बना पाता है जिससे स्वभावतः उनकी पूर्ति के लिये उसे झूठ बोलने पड़ते हैं, डींगें भरनी पड़ती हैं और आवश्यकता पड़ने पर जेल के दरवाजे भी झाँकने पड़ते हैं, जिसका जीवंत उदाहरण 'गबन' का नायक रमानाथ है।

मानव के गतिशील जीवन में काम-भावना की प्रधानता देने वालों को प्रेमचंदजी ने 'गबन' के माध्यम से निमंत्रित किया है कि वे आकर रतन का दर्शन कर लें जिसने काम-भावना को अर्थ-गंगा की लहरों में डुबो दिया है। वृद्ध पति की पत्नी होकर भी रतन का मन परपुरुष के प्रति चंचल नहीं होता और न तो जालपा अपने युवक पति को छोड़ कर किसी धनिक व्यक्ति की ओर ही आकर्षित जान पड़ती है क्योंकि 'गबन' की सभी नारियाँ काम-भावना से प्रेरित न होकर अर्थ-भावना से प्रेरित होती हैं, चाहे वह रतन हो अथवा जालपा या रुपयों पर अस्मत बेचने वाली वेश्या जोहरा। इस उपन्यास के नारी पात्र सर्वप्रथम तो अपनी दुर्बलताओं के साथ हमारे सामने प्रस्तुत होते हैं पर अन्त में चल कर उपन्यासकार उनके सबल पक्ष का ऐसा उद्‌घाटन करता

है कि ये पूर्णतः बदल जाते हैं। रतन ने सम्पूर्ण धन-वैभव से मुँह मोड़ लिया और वह आकर प्रेमचद की आदर्श नगरी में एक साधारण नारी की भाँति जोहरा की अमूल्य सेवाओं के साथ अपने जीवन का अन्त कर देती है। घर की चहारदीवारी में बहू बनी आभूषण-प्रिया जालपा असाधारण नारी के रूप मे परिवर्तित हो जाती है। उसने अपने सारे सौकुमार्य का त्याग कर कठोर जीवन का व्रत लिया जिससे अपने रीढ़हीन दुर्बल पति का उद्धार कर सकी। उसे जब हम दिनेश के परिवार वालो की सेवा करते तथा उनके लिये चदे माँगते देखते हैं तो पहचान ही नही पाते। जोहरा वेश्या भी अपने सद्गुणो का उत्तमोत्तम परिचय देती है। वेश्या से वह समाज-सेविका बन जाती है। इस प्रकार 'सेवा-सदन' की 'सुमन' जो आदर्श उपस्थित नहीं कर सकी थी उसे भी जोहरा ने उपस्थित कर दिया। 'सुमन' की परिस्थितियो ने उसे वेश्या बनने के लिए विवश किया था। वह जन्मजात वेश्या नही थी जिससे उसमे परिवर्तन का दिखला देना उतना कठिन नहीं था जितना कि 'जोहरा' में। जोहरा का परिष्कार तो प्रेमचदजी ने कर लिया पर उसके सामाजिक स्तर की व्यवस्था न कर सकने के कारण उसको उन्हे गंगा की लहरों को सौंपना ही पड़ा। इतना अवश्य है कि जालपा की स्वभावगत ईर्ष्याओ को बदलने की उन्होने चेष्टा की है। वह रमानाथ और जोहरा के सम्बन्धो से अपरिचित नही थी फिर भी उसने उसे अपने पति के सम्पर्क मे रहने की छूट दे रखी थी। निश्चित ही उसका यह आदर्श महान् है। जोहरा के डूब जाने पर भी यद्यपि जालपा रमानाथ के साथ आकर उसी स्थान पर बैठती है जहाँ वह डूबी थी पर क्या उसे उतना ही दुःख हुआ जितना कि रमानाथ को? यहाँ पर वह प्रेमचन्दजी के आदर्श के भार को उतार फेंकना चाहती थी कि वह स्वाभाविक स्त्री बन जाय पर लेखक ने ऐसा नही होने दिया।

मध्यवर्गीय समस्याओ के अतिरिक्त 'गबन' में तत्कालीन राष्ट्रीय आदोलन की भी झलक आ गयी है जिससे हमे ऐसे भी देशभक्तो के दर्शन हो जाते हैं जो अपने जवान बेटो को खोकर भी यह कहने का कलेजा रखते है, "उस वक्त ऐसा जान पड़ता था कि मेरी छाती गज भर की हो गई है, पाँव जमीन पर नही पडते थे यही उमग आती थी कि भगवान ने औरो को पहले न उठा लिया होता तो उन्हे भी भेज देता।" एक ओर तो ऐसे देशभक्तो की कीर्ति-गाथा है और दूसरी ओर पुलिस के कर्मचारियो का समाज है जिनमे अधिकाश भारतीय हैं पर वे अपने को अंग्रेज ही समझते हैं। जैसा मैंने ऊपर सकेत किया है कि पुलिस के हथकण्डो, उनके फरेब से भरे हुए मुकदमो, देशद्रोही प्रवृत्तियों, वेश्यागमन तथा शराब आदि सम्बन्धी पापाचारो तथा वैयक्तिक स्वार्थों के लिए बेगुनाहो तक का गला काटने को प्रस्तुत रहने की इच्छाओ का सजीव वर्णन 'गबन' उपन्यास में मिल जायगा। एक बार पुलिस के चक्कर मे आकर रमानाथ ऐसे दुर्बल व्यक्ति किस प्रकार उससे नहो बच पाते तथा वे किस प्रकार के साधनो का

उपयोग करके गबन को सही और सही को गलत सिद्ध कर देते हैं आदि प्रसंगो की सही रूपरेखा-प्रेमचन्दजी ने प्रस्तुत की है। इस प्रकार एक परिवार की चर्चा का विषय बनाकर उपन्यासकार ने 'गबन' की कथा को इतना खींचा है कि उसकी लपेट में समसामयिक परिस्थितियाँ तो समा ही गई हैं साथ ही साथ उन्होने अपनी कल्पना के सहारे समाधान भी प्रस्तुत कर दिया है। पुलिस कर्मचारियो से सम्बन्धित सभी प्रसग अत्यन्त यथार्थवादी हैं जब कि अन्य प्रसंगो में आदर्श का रंग अत्यधिक गाढा हो गया है। कथा को अतिविस्तार देना तथा उसकी सम्पूर्णता सम्बन्धी सभी सम्भावनाओ की चर्चा करना प्रेमचन्द की अपनी विशेषता है जिससे कथावस्तु की कलात्मकता अक्षुण्ण नही रह पाती। उनके उपन्यासो की कथाएँ आवश्यकता से अधिक पूर्ण एवं चरित्र आवश्यकता से अधिक अतिरंजित होते हैं चाहे वह 'गबन' हो अथवा 'गोदान'।

'गबन' के पात्रो का चित्रण प्रेमचन्दजी ने अत्यन्त मनोवैज्ञानिक ढग से किया है जिससे वे अपने विकास काल मे कही भी अस्वाभाविक नही जान पडते। रमानाथ के चरित्र का विकास जिस ढङ्ग से दिखाया गया है, उसमें कही-कही अतिरंजना इसलिये दिखलाई पड जाती है कि उपन्यासकार ने अपनी इच्छाओ के अनुसार उसे बहुत तोडा-मरोडा है। यह चरित्र उपन्यास की कथा का केन्द्र-बिन्दु है जिससे कथा के बदलते हुए हर एक पहलुओ का इस पर असर पडा है और हर मोड के साथ यह भी अपना रग बदलता गया है। ऐसी स्थिति में किसी सरल एवं दृढ चरित्र वाले चरित्र का निर्माण करके उपन्यासकार अपने उपन्यास के लक्ष्य तक कभी भी नही पहुँच सकता था जिससे स्वभावत. रमानाथ के रूप में एक रीढहीन चरित्र का निर्माण हुआ है। एक साधारण विद्यार्थी से लेकर जालपा के पति होने, म्यूनिस्पैलिटी मे नौकरी करने तथा पुलिस के चंगुल मे फँसने तक वह एक दुर्बल तथा लक्ष्यहीन चरित्र का व्यक्ति रहा। आरम्भ मे ही उसे कुछ ऐसे बुरे संगी मिल गये थे कि बुरे संस्कार उसमे घर करते गये जिसके कारण वह कभी भी स्थिर चित्त वाला व्यक्ति नही बन पाया। उसके निश्चय शीघ्र ही किस प्रकार उसकी दुर्बलताओ के प्रभाव मे आकर मटियामेट हो जाते हैं, यदि हम उन्हे जानना चाहे तो उपन्यास के किसी भी प्रसग को उठाकर देख सकते हैं। अपनी दुर्बलता के कारण ही रमानाथ अपनी ही पत्नी के गहनो की चोरी करता है, उधार गहनो के पक्ष मे न होते हुए भी दूकानदारो की दृष्टि मे अमीर बाबू बनने के लिये भारी मूल्य दे गहने खरीद लेता है, रतन से रुपयो के सम्बन्ध में झूठी बातें बनाता रहता है, पत्नी तक से रुपयो को मांगने में शर्माता है, कायस्थ होकर भी देवीदीन से ब्राह्मण बनता है, पुलिस के चगुल में तो फँसता ही है साथ ही मुखबिर बनकर झूठी गवाही देता है, प्रलोभनो के सामने देवीदीन तथा जालपा के दिये वचनो से मुकर जाता है तथा सुविधाओं के मिलने पर शराबी तथा वेश्यागामी बनने तक से भी नही चूकता। यह है रमानाथ की रीढहीनता। भले ही प्रेमचंदजी ने उसका सुधार कर देवीदीन के

साथ सात्विक जीवन बिताने के लिये उसे खेतों तक पहुँचा दिया है। रमानाथ को इस अन्तिम रूप में दिखलाकर उपन्यासकार ने युवकों में नौकरी के प्रति बढ़ती हुई आस्था, ग्रामीण जीवन के प्रति उदासीन होते उनके मन में उपेक्षा के भाव तथा शहरों के प्रति बढ़ते हुए आकर्षणों की निस्सारता प्रकट की है।

जालपा के चरित्र का विकास अत्यन्त मनोवैज्ञानिक है। किस प्रकार माता-पिता की साधारण भूलों के कारण बालक-बालिकाओं में कुसंस्कार उत्पन्न हो जाते हैं, जालपा का चरित्र इसका जीवन्त उदाहरण है। जालपा के पिता यदि उसे बचपन में ही लाड़-प्यार के रूप में गहने प्रदान करने न लग गये होते तथा उसकी माता का अद्भुत आभूषण-अनुराग यदि जालपा पर न प्रकट होने लग गया होता तो वह कभी भी भविष्य में आभूषण-प्रेमी होने के कारण रमानाथ के पारिवारिक विनाश का कारण न बनती। जालपा स्वभाव से बुरी लड़की नहीं थी, कुछ बचपन के संस्कार, सहेलियों के सिखाव-पढ़ाव तथा रमानाथ की गोपनीयता आदि सबों ने मिलकर आरम्भ में उसे बुरा अवश्य बना दिया है, पर वह अत्यन्त दृढ़ चरित्र वाली आदर्श रमणी है जो शीघ्र ही अपने को किसी परिस्थिति में ढाल लेने की शक्ति रखती है। नववधू के संकोच को छोड़कर शीघ्र ही पार्कों की आधुनिक महिलाओं तथा दावत पार्टियों तक वह पहुँच जाती है। अपने शहर की सीमा लांघकर कलकत्ता में जाकर उसने अपने जिस कौशल, साहस, अध्यवसाय, सेवावृत्ति, तत्परता तथा मानवीय आदर्शों का परिचय दिया है उससे उसके असाधारण अनुकरणीय दृढ़ चरित्र का परिचय मिलता है। वह आदर्श पति-परायण भारतीय रमणी है जो गिरे हुए पति से घृणा ही नहीं करती बल्कि उसका उद्धार भी करती है।

रतन में भी उपन्यासकार ने असाधारण गुणों की प्रतिष्ठा की है जो बिगड़ने की सभी सुविधाओं के रहते हुए भी उत्तरोत्तर नैतिक मूल्यों की ओर ही बढ़ती जाती है तथा अपने अन्तिम जीवन में अत्यन्त करुणा का सृजन पाठकों में करती जान पड़ती है। वेश्या होते हुए भी जोहरा के प्रति पाठक श्रद्धावान ही बना रहता है। यह उसके चरित्र की सबसे बड़ी विशेषता है। इसमें सबसे कारुणिक चरित्र इसी रमणी का है जिसको उपन्यासकार की पूर्ण सहानुभूति भी मिली है पर उसे वे वह सामाजिक सम्मान न दिला सके जिसके वह योग्य थी। इसी प्रकार जग्गो भी एक जीवंत वृद्धा नारी पात्र है जिसका सजीव चित्रण हुआ है।

जिस पात्र को उपन्यासकार की सबसे अधिक सहानुभूति मिली है वह है देवीदीन खटिक जिसका अलमस्त चोला, करुण हृदय किसी भी व्यक्ति के लिए ईर्ष्या की वस्तु हो सकता है। वह साधारण होकर भी सामाजिक गुत्थियों से पूर्ण परिचित है, वह सेठ साहूकारों की दया और उदारता को भी खूब जानता है, पुलिस के हथकण्डों की

भी उसे पूरी जानकारी है और उसे इसका भी पता है कि किस प्रकार जवानी में लोग पत्नी के निमित्त बहक जाया करते हैं। देवीदीन की सहानुभूति सबके लिए खुली है। वह सचमुच महान है। जहाँ कहीं भी उपन्यासकार को किसी व्यक्ति या वर्ग विशेष पर प्रहार करना रहा है, उसने अधिकतर उसे देवीदीन के माध्यम से ही इस कार्य को सम्पन्न किया है।

कुछ प्रसंगों को यदि छोड़ दिया जाय तो निश्चित ही 'गबन' उपन्यास प्रेमचन्द की अन्य कृतियों में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

'निर्मला' में भी आर्थिक अभाव की समस्या है, पर वहाँ इसका दूसरा रूप है। अनमेल विवाह तथा दहेज की समस्या 'निर्मला' में इतने प्रमुख रूप में उभड़ कर आ गई है कि आर्थिक अभाव की ओर दृष्टि डालने की फुरसत ही नहीं मिलती। यद्यपि प्रेमचन्दजी ने 'निर्मला' के निर्माण में अपने आदर्शवादी दृष्टिकोण का पूर्णतः परिचय दिया है पर मुंशी तोताराम उसे स्वीकार करने में असमर्थ हैं। दहेज की व्यवस्था न हो पाने की वजह से निर्मला के पिता निर्मला का ब्याह अपने प्रथम निश्चयानुसार न कर सके जिससे उन्हें विधुर वृद्ध वकील तोताराम की शरण लेनी पड़ी जो तीन पुत्रों के पिता और शरीर से नितान्त असमर्थ हो चुके थे। 'गबन' के रतन का भी विवाह विधुर वृद्ध वकील इन्दुभूषण से हुआ था जो लगभग मुंशी तोताराम की ही श्रेणी के व्यक्ति थे। अन्तर केवल इतना ही था कि मुंशी तोताराम साधारण आर्थिक स्थिति के वकील थे और इन्दुभूषण हाईकोर्ट के सम्मानित वकील तथा अतुल धन-वैभव के स्वामी। तोताराम वकील की भाँति इन्दुभूषण की पहली पत्नी से कोई सन्तान भी नहीं थी। एक ओर जहाँ इन्दुभूषण अपनी युवती पत्नी रतन के रूप और यौवन को देखकर स्वयं को कोसते हैं कि उन्होंने बड़ा अपराध किया है और उसे लड़की के समान प्यार देते हैं, दूसरी ओर मुंशी तोताराम निर्मला के सतीत्व पर भी सन्देह करने लग जाते हैं। मुंशी तोताराम अपनी कामुकता के प्रवाह में जो मानसिक पाप करने लग जाते हैं उसका परिणाम यह हुआ कि निर्मला का सम्पूर्ण जीवन ही विषाक्त हो गया। पुत्र मनसाराम जिस पर तोताराम को यह सन्देह हो गया था कि उसका अनुचित शारीरिक सम्बन्ध विमाता निर्मला से हो गया है, अनमेल विवाह के कुपरिणाम का फल भोगता हुआ कारुणिक मौत मरता है। पिता, पुत्र और माता के सम्बन्धों में सन्देह करने लग जाय इससे बढ़कर सामाजिक अनर्थ और क्या हो सकता है। निर्मला और मनसाराम एक दूसरे को प्राणों से भी अधिक प्यारे थे पर दोनों का पारस्परिक प्रेम मांसल नहीं वरन् सात्विक था। अभागिनी निर्मला ने अपने मातृत्व प्रेम को मनसाराम में केन्द्रीभूत कर लिया था तथा मनसाराम ने भी माँ के वात्सल्य को निर्मला में मूर्तमान पाया था। तोताराम का घर छोड़ कर चला जाना, मनसाराम की मृत्यु, भाई की मृत्यु के कारण जियाराम का विमाता तथा पिता से घृणा करके गहनों की चोरी करके भागना

तथा भेद खुल जाने पर आत्महत्या कर लेना, छोटे लड़के का भी घर से निकल कर भाग जाना जिसे खोजने के लिये तोताराम भी निकले थे और निर्मला की लाश उठाने के समय लौटे, डाक्टर सिन्हा जो निर्मला के होने वाले पहले पति थे, का निर्मला के निकट आने के कारण पत्नी की फटकार को न सह सकने के कारण आत्मघात कर लेना आदि ऐसी अप्रिय सामाजिक घटनाएँ हैं जिनके मूल में अनमेल विवाह तथा दहेज आदि जैसी कुप्रथाएँ ही हैं जिनके कारण न जाने कितने भारतीय परिवार तथा उनके नौनिहाल घुल-घुल कर मृत्यु के ग्रास बनते हैं। 'निर्मला' भारतीय समाज की एक दर्दनाक कारुणिक कहानी है जिसमें अर्थ से अधिक महत्व सामाजिक कुसंस्कारों को दिया गया है। यह स्वीकार करना पड़ेगा कि 'गबन' के इन्दुभूषण 'निर्मला' के मुंशी तोताराम से अधिक उदार चित्रित किये गये हैं तथा रतन भी निर्मला से अधिक सौभाग्यशालिनी है। निर्मला के रूप में भारतीय नारी मर्यादा का जो चित्र प्रेमचन्दजी ने प्रस्तुत किया है उसकी मसोस एवं मूक वेदना से सहृदय पाठक करुणार्द्र हुए बिना नहीं रह सकता।

'रंगभूमि', प्रेमाश्रम' आदि के समान 'निर्मला', 'प्रतिज्ञा' और 'गबन' मे किसी सामाजिक तथा राजनैतिक आन्दोलन का व्यापक चित्रण नही किया गया है, फिर भी लेखक समसामयिक समस्याओं की माँग को ठुकरा नही सका है। उनके अन्दर भी समाज और शासन-व्यवस्था के किसी न किसी दुर्बल पक्ष का चित्रण अवश्य ही मिलता है। जहाँ कहीं भी प्रेमचन्दजी अवसर निकाल सके हैं, उन्होंने समाज के चित्रों को उभाड़ कर रखने का प्रयास किया है। समाज के ऐसे लोगो से प्रेमचंद को अत्यंत घृणा थी जो थोडे से कम्बलो का दान कर हरिश्चंद्र बनना चाहते हैं और उसकी आड में सैकड़ो दीन किसानो और मजदूरो का गला घोंट देने में जरा भी नही हिचकते। उनके अनुसार "उसे पापी कहना चाहिये, महापापी। दया तो उसके पास से होकर भी नही निकली। उसकी लूट की मिल है। मजदूरों के साथ जितनी निर्दयता इसके मिल में होती है और कही नही होती। आदमियों को हंटरों से पिटवाता है। चरबी मिला घी बेचकर इसने लाखों कमा लिये हैं। यदि साल मे दो-चार हजार दान न कर दे तो पाप का धन पचे कैसे।" 'निर्मला' ऐसा समाज को उसके यथार्थ रूप में चित्रित करने वाला उपन्यास हिंदी साहित्य मे दूसरा लिखा ही नही गया। इसके अंदर अनमेल विवाह तथा विमाता की समस्या का सजीव चित्रण है।

कर्मभूमि

१९३२ मे एक बार जब पुन देश ने प्राणों की बाजी लगायी और सविनय अवज्ञा का और दौर-दौरा बढा, तो इस स्वतंत्रता-संग्राम में पुलिस ने विभिन्न प्रांतों मे अनेक अमानुषीय अत्याचार किये। बात बात पर गोलियाँ चली और लगान अदा करने की

सामर्थ्य न रखने वाले किसानो को बागी कहकर दंडित किया गया। पुरुषों के अलावा पर्दे मे रहने वाली हिंदू तथा मुस्लिम स्त्रियो के साथ मानवता के समस्त नियमो के विरुद्ध दिन दहाडे अत्याचार किये गये। इन परिस्थितियो को देखकर प्रेमचन्दजी का हृदय आहत हो उठा और नागरिको को कर्म करने की प्रेरणा देने के लिए उन्होंने 'कर्मभूमि' नामक उपन्यास का निर्माण किया। 'कर्मभूमि' भी 'रंगभूमि' तथा 'प्रेमाश्रम' की भांति दीन कृषको एवं श्रमिको की मौन वाणी का स्वर है। इसमें शिक्षा संस्थाओ की अर्थ व्यवसायी नीति, म्युनिसिपल कर्मचारियों की स्वार्थपरता, सेठ साहूकारों के धनार्जन के घृणित उपाय, मठाधीश-महंत तथा जमीदारो की विलासिता एवं क्रूरता तथा राज्य कर्मचारियो के आत्मपतन तथा स्वेच्छाचार आदि की बडी ही यथार्थ और कलात्मक व्याख्या हुई है। मुन्नी, रेणुका देवी, नैना, सकीना, तथा पठानिन, आदि महिलाओं की सत्याग्रह संग्राम मे जो सक्रिय दिखलाया गया है, उससे पता चलता है कि उस समय तक महिला समाज के अन्दर भी राष्ट्रीय चेतना का जागरण आ चुका था। जेल में आयी हुई नायिकाओं को जब सेठ समरकान्त गवर्नर की आज्ञा सुनाता है कि 'सारे कैदी छोड दिये जायें, और कमेटी करके निश्चय कर लिया जाय कि हमें क्या करना है', तो हमे १६३१ में हुए गांधी-इरविन समझौते का स्मरण हो उठता है।

गोदान

प्रेमचन्दजी के उपन्यासो को लेकर आलोचको ने जितने प्रश्न उठाये थे, उन सभी प्रश्नो का उत्तर देते हुए तथा उपन्यास साहित्य के इतिहास में अन्य नवीन प्रश्नो की उद्भावना करते हुए 'गोदान' नामक उनका यह उपन्यास प्रकाशित हुआ। एक ही उपन्यास 'गोदान' के अन्दर जन-जीवन तथा समाज अथवा देश की धार्मिक, राजनैतिक एवं आर्थिक परिस्थितियों के जितने विविध चित्र लेखक ने समेट कर यथार्थ रूप में चित्रित किये है, उतने चित्र सम्पूर्ण उपन्यास-साहित्य में ढूंढने पर ही मिलेंगे और एक स्थान पर मिलना तो असम्भव ही है। 'गोदान' ग्रामीण जीवन के वास्तविक पक्ष का गद्यात्मक महाकाव्य है। सम्पूर्ण उपन्यास साहित्य के अन्दर समाज एवं मानव-भावनाओं के अधिक से अधिक जितने चित्र खींचे जा सकते हैं, उतने चित्र अकेले हमे 'गोदान' मे ही प्राप्त हो जाते हैं। जीवन-दर्शन के प्रत्येक मोडो तथा समाज में होने वाले अनेक परिवर्तनो का चित्रण हमें 'गोदान' मे एक साथ मिल जाता है। हमारे देश के अन्दर नागरिकों के दो प्रमुख जीवन स्तर हैं। उनमें एक तो वह जो नगरो मे रहता और भारतीय होकर भी अपने को भारतीय कहने मे शरमाता है तथा दूसरा वह है जिसके अन्दर गाँवों अथवा देहातो के सबसे बडे भारतीय जनसमूह का जीवन है, जहाँ पर ही सच्चा भारत निवास करता है और एक वर्ग पटवारियो तथा सरकारी कर्मचारियो का है जो रहता तो देहातों में है, परन्तु अपने को शहराती ही मानता है।

'गोदान' के अन्दर दो स्वतन्त्र कथाएँ हैं जिनको लेकर आधुनिक साहित्य के आलोचकों ने 'गोदान' की बड़ी ही छीछालेदर की है। परन्तु सच तो यह है कि हम 'गोदान' की आलोचना करने के सच्चे अधिकारी तब तक नहीं हैं, जब तक कि हम कृतिकार के वास्तविक मन्तव्य को न जान लें और हमें यह ज्ञान न हो जाय कि प्रेमचंदजी की असली मंशा क्या थी जिससे कि उन्होंने 'गोदान' की सृष्टि की थी। इस उपन्यास के अन्दर प्रेमचंदजी ने जीवन और जगत् के विविध क्षेत्रों का तद्वत् चित्र अपने जीवन के सम्पूर्ण अनुभवों से पखार कर उतारना चाहा है और लेखक को वैसी ही सफलता मिली है, यही इस उपन्यास की सबसे बड़ी यथार्थता है। लेखक ने अपने जीवन की अन्तिम रक्त-बूँद तक जो सघर्ष परिस्थितियों के साथ किया था, 'गोदान' उसी की सच्ची कहानी है।

एक कथा के पात्र हैं, 'राय साहब', 'खन्ना', 'तंखा', 'मिर्जा खुर्शेद', 'मेहता', 'मालती' तथा उनके अन्य सहयोगी मित्र जो शहरों में रहते हैं और कभी-कभी मनो-विनोद के लिए गाँवों में चले आते हैं, जिसमें चाहे शिकार खेलने का कार्यक्रम हो अथवा वायु-परिवर्तन की इच्छा। इससे यह पता लग जाता है कि शहरों का सम्पर्क धीरे-धीरे गाँवों से हो रहा था। इनके आस पास चक्कर काटनेवाली घटनाओं के द्वारा लेखक ने इस वर्ग का सजीव यथार्थ चित्र उपस्थित कर दिया है। इस वर्ग के एक एक व्यक्ति को लेकर उन्हे उस वर्ग के प्रतिनिधि के रूप मे उपस्थित कर दिया है। जमींदार राय साहब, 'खन्ना' पूँजीपति, 'मेहता' फिलास्फर, 'ओंकारनाथ' सम्पादक तथा 'तंखा' वकील, आदि सबके अन्दर उनके वर्ग सम्बन्धी दोष गुण वर्तमान हैं। 'राय साहब' केवल अपने भाषणों में जनता के हितैषी हैं, पर यदि काश्तकारों से नाजायज रुपया न वसूलें तो उनकी रियासत का खर्च ही न चले। उनके लिए होममेम्बर होने के सामने सिद्धान्तों का कोई मूल्य नहीं। ओंकारनाथजी सच को ही अपना धर्म मानते हैं, परन्तु राय साहब के प्रलोभनों ने उनके धर्म को डिगा दिया। वे मिल के मजदूरों का नेतृत्व इसलिए करते हैं कि उनकी 'बिजली' की प्रतियाँ अधिक से अधिक बिक सकें।

होरी दूसरे वर्ग का प्रतिनिधि है। 'होरी' के एकमात्र चरित्र को लेकर उसे अनेक परिस्थितियों मे डाल कर तथा अन्य बहुत से पात्रों और चरित्रों को संसर्ग मे लाकर समाज के एक जीवित चित्र का निर्माण किया गया है। इस उपन्यास के अन्दर किसानों के शोषण का दूसरा ही रूप है। यहाँ पर सीधे सीधे राय साहब के कारिन्दे होरी का घर नहीं लूटते, परन्तु उसका घर लुट अवश्य जाता है। 'गोदान' की मूल समस्या ऋण की समस्या है, जिसके द्वारा 'प्रेमाश्रम तथा 'कर्मभूमि' के साथ लेखक ने हिन्दुस्तानी किसानों के जीवन की वृहत्त्रयी समाप्त की है।

सामाजिक आचार-विचार को लेकर जो झगड़े देहातों में उठते रहते हैं, दातादीन, पटेश्वरी तथा झिंगुरी सिंह आदि गँवई दलालों को लेकर प्रेमचन्दजी ने उसका यथातथ्य

चित्र खींचा है। 'सिलिया' चमाइन के घरवालों ने मातादीन को पीटने के बाद जो उसके मुँह में हड्डी डाल दी, उससे स्पष्ट हो जाता है कि उच्च कुल के लोगों के प्रति निम्नवर्ग के लोगों की भावना अत्यन्त प्रतिक्रियात्मक रूप धारण करती जा रही थी, जो आज की वास्तविक स्थिति है।

जीवन के पिछले दिनों में प्रेमचन्दजी का विश्वास कुछ समय की गति की ओर खिंच-सा उठा था। उनके उपन्यास का प्रधान नायक 'होरी' सब कुछ प्रयत्न करने पर भी आरम्भ से अन्त तक समय की चक्की में पिसता ही जाता है। इस उपन्यास में आए हुए पात्रों से स्पष्ट लक्षित होता है कि 'प्रेमचन्द' सरल थे, परन्तु दुनिया की धूर्तता और मक्कारी से अनभिज्ञ नहीं थे। दुनिया की सारी जटिलताओं को समझने के कारण ही वे निरीह थे। प्रेमचन्दजी ने पात्रों के चरित्र-चित्रण के सम्बन्ध में अपने भी अनुभव दिये हैं—"दरिद्रता में जो एक प्रकार की अदूरदर्शिता होती है, वह निर्लज्जता जो तकाजे, गाली और मार से भी भयभीत नहीं होती·······।"

प्रेमचन्दजी ने समाज में बने हुए उन गड्ढों को भी देखा था, जिनमें बरसाती नालों की भाँति समाज का सारा धन आकर इकट्ठा होता है और टीले पर के वृक्षों की भाँति दोनों की जड़ें तक हिलने लगती हैं। यदि कभी भी किसी प्रकार से उनको किसी सम्पत्ति का क्षणिक सुख दिखलायी भी पड़ गया तो उसमें भी उन्हें भय की आशंका दिखलाई पड़ती है। धनिया का हृदय गाय को दरवाजे पर देखकर प्रसन्न तो अवश्य होता है, परन्तु उसके मन में विरोधी भावनाएँ भी जाग उठती हैं। इतनी बड़ी सम्पदा अपने साथ कोई नयी बाधा भी न लाये, यह निराशा उसके हृदय में कम्पन डाल रही थी।"

प्रेमचन्दजी के अधिकांश पात्र व्यक्ति न होकर वर्ग के प्रतिनिधि हैं। 'गोदान' का 'होरी', 'मेहता', 'खन्ना' आदि शोषित, शिक्षित तथा शोषक वर्ग के प्रतिनिधि हैं। सर्वप्रथम जब हम 'होरी' को अपने परिवार के बीच पाते हैं, तो उसके पहले वाक्य से ही यह स्पष्ट तो हो जाता है कि वह अपने उत्तरदायित्वों के प्रति अधिक सतर्क है, पर साथ ही साथ हमें उसके बोझिल जीवन का भी हल्का-सा संकेत मिल जाता है। एक दीन किसान के हृदय में अपनी गृहस्थी बनाने की कितनी प्रबल उत्कंठा रहती है, वह अपने परिवार को किस प्रकार सुखी देखना चाहता है, आदि सभी बातों का ज्वलंत चित्र होरी के चरित्र-विकास के साथ-साथ देखने को मिल जाता है। दीनता ही मनुष्यों के परख की कसौटी है। दोनों का अलग एक व्यक्तित्व होता है। होरी दीन है, निराशाओं का अथाह सागर उसके सामने लहरें ले रहा है, परन्तु उत्सवों में वह जनक के माली का भी अभिनय कर सकता है।

दीन बहुधा समाज के लिए अभिशाप से लगते हैं जिसका अनुभव हम अपने दैनिक

जीवन में भी कर सकते हैं। यदि समाज अपनी सहयोगी भावनाओं को बल देता रहे तो एक बार बड़ी से बड़ी विपदाएँ आसानी के साथ टाली जा सकती हैं। वास्तविकता यह है कि साधारणतः यह समाज कभी डूबते हुए को तिनके या सहारा देने के लिए तैयार नहीं होता। एक दूसरे का शोषण करने की जो भावना समाज में वर्तमान है, उसके द्वारा व्यक्ति विशेष का ही नहीं, बल्कि समय-समय पर समाज के प्रत्येक व्यक्ति का शोषण होता रहता है। हम देखते हैं कि किस प्रकार 'होरी' को धर्म और अंत मे समाज की आज्ञाएँ माननी पड़ी जिसमें पंडित मातादीन और पटेश्वरी का विशेष हाथ रहा। परन्तु वे दोनों भी अपने पाप कर्मों के परिणाम से बच न सके। यदि मातादीन को दातादीन के प्रायश्चित में रुपये खर्च करने पड़े तो पटेश्वरी से राय साहब ने ही वसूल किया। इन दो चरित्रों को चित्रित कर मुंशी प्रेमचन्द ने देहाती दलालों का एक खासा चित्र उपस्थित कर दिया है।

'गोदान' के अन्दर लेखक ने समाज के विविध पक्षों का अध्ययन किया है। सम्पत्ति का लोभ एक ऐसा लोभ होता है, जिसके सामने आते ही ऐसे कम लोग मिलते हैं जिनका सिद्धान्त कार्यरूप में परिणत हो पाता है। इसमें शक नहीं कि राय साहब हृदय से समाज के हित में विश्वास रखते हैं, परन्तु जहां भी उनकी रियासत का प्रश्न आ जाता है उनका कठोर लोभी पक्ष उग्र रूप धारण कर लेता है। सम्पत्ति में कितनी कामुकता, कितनी लोकप्रियता, कितनी व्यवहार-कुशलता तथा हृदय की कितनी अस्पष्टता होती है, इसका हम एकमात्र अवलोकन 'गोदान' में मिस्टर खन्ना के जीवन के अध्ययन में कर सकते हैं। वैभवशाली व्यक्तियों की मित्रता किस परिधि तक सीमित रहती है, इसका एकमात्र निरूपण हमें प्रेमचन्द जी के उन पात्रों से मिल जाता है जिनका जमघट मिस्टर खन्ना और राय साहब के आसपास होता था।

इस उपन्यास में लेखक ने यदि एक ओर सामाजिक एवं पारिवारिक कुरीतियों का चित्रण किया है तो दूसरी ओर एक आदर्श जीवन की ओर संकेत भी किया है। उनका यह दृढ़ निश्चय था कि सामाजिक सत्ता स्त्री और पुरुष दोनों पर समाज रूपी रथ के दो पहिये हैं जिसमें एक की भी दुर्बलता पर समाज का बढ़ना असम्भव है। समाज में एक दूसरे का पारस्परिक सम्बन्ध कैसा है और कैसी परम्परा चली आ रही है आदि का सजीव चित्र इन्होंने 'गोदान' में खींचा है। मेहता की विद्वत्ता का सारा समाज लोहा मानता है, परन्तु उसकी भी दृष्टि स्त्रियों की ओर रूढ़िवादी ही है। उसका कारण यही है, कि आरम्भ में उसने स्त्री समाज को निकट से जाकर समझने का प्रयत्न नहीं किया। वह शिक्षित कही जाने वाली स्त्रियों को तितलियों के रूप में ही ग्रहण करता रहा। उसे 'मालती' की विद्वत्ता में भी स्त्री-चरित्र की माया ही झलकती है क्योंकि वह ऐसे ही समाज से घिरा हुआ है जिसकी यह धारणा ही है। उसके व्यवहार लोगों को प्रपंच जान पड़ते हैं। जिस ओर वह अपनी कृपा-दृष्टि डालती है, लोग उसे आकर्षण समझने

लग जाते हैं। अधिकांश लोगों ने उसके प्रेम को बाजारू ही समझा था। मेहता के ये वाक्य और भी इसकी पुष्टि कर देते हैं—"क्या आप सारी दुनियाँ को बेवकूफ समझती हैं......मैं उन्हें दोष नहीं दे सकता।"

खन्ना को तो पूरा विश्वास हो है कि जब वह उनसे बराबर रुपये उधार लेती है और हजम कर जाती है, तो अवश्य ही उन्हें दिल से चाहती है। साधारण स्त्री-समाज में भी उसका आदर नहीं। श्रीमती खन्ना तो उसे वेश्याओं से भी गयी बीती समझती हैं–"मेरी समझ में वह वेश्याओं से भी गयी बीती है क्योंकि वह परदे की आड़ में शिकार खेलती है।" मालती क्या है? वह समाज की रूढ़िवादी दृष्टियों से नहीं परखी जा सकती। जब तक समाज अपने रूढ़िवादी पारम्परिक आवरण को हटा नहीं देगा तब तक उसके चरित्र का मूल्यांकन करना उसके लिए सम्भव नहीं। मालती बाहर से तितली है, भीतर से मधुमक्खी। उसके जीवन में हँसी हँसी नहीं, केवल गुड़ खाकर कौन जी सकता है और जीये भी तो वह कोई सुखी जीवन न होगा। वह हँसती है इसलिए कि उसे हँसने के भी दाम मिलते हैं। उसका चहकना और चमकना इसलिए नहीं कि वह चमकने और चहकने को हीं जीवन समझती है। या उसने निजत्व को अपनी आँखों में इतना बढ़ा लिया है कि जो कुछ करे अपने ही लिए करे, नहीं वह इसलिए चहकती है और विनोद करती है कि इससे उसके कर्तव्य का भार कुछ हलका हो जाता है।' परन्तु अन्त मे हम देखते हैं कि मालती और मेहता को हमने जो समझा था उससे दोनों भिन्न निकले। हमें कभी विश्वास नहीं हो सकता था कि मालती को भी वह हृदय मिला है जिसके अन्दर केवल एक ही व्यक्ति आयेगा जो मेहता होंगे मेहता ऐसे व्यक्ति को भी अपने सिद्धांतों में हार खानी पड़ेगी। अगर होरी का जीवन यथार्थ का सच्चा चित्र है तो निःसन्देह 'मालती' एक आदर्श नारी की समाज में कल्पना।

हम प्रेमचन्दजी की मालती को इसलिए यथावत ग्रहण करने में सकुचते हैं कि समाज में ऐसे नमूने प्रायः कम देखने को मिलते हैं, जिसके लिए प्रेमचन्द नहीं, बल्कि भारत की रूढ़िवादी परम्परा उत्तरदायी है। हम इस समय ऐसे वातावरण मे उपस्थित हैं कि सत्य और असत्य का निर्णय करना हमारे लिए अत्यन्त कठिन हो गया है। हममें न तो यही साहस है कि प्राचीन परम्परा को निर्मूल तथा निराधार सिद्ध कर दें और न तो उसका पूर्ण रूपेण समर्थन करने को ही हम प्रस्तुत हैं। परन्तु इतना तो हम कह ही सकते हैं कि कोई भी परम्परा तभी तक मान्य है जब तक कि उससे समाज की उन्नति में अवरोध नहीं उपस्थित होता। यदि प्रेमचन्द जी ने एक समुन्नत समाज के लिए मालती ऐसी नारी की कल्पना की तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। मालती के चरित्र को लेकर वे साधारण समाज के पास नहीं आये, बल्कि वे एक उन्नत समाज के शिखर पर बैठ कर साधारण समाज को चोटी पर बैठने के लिए आमंत्रित करते हुए दिखलायी पड़ते हैं। इसे हम प्रेमचन्दजी की आदर्शवादी प्रवृत्ति का आग्रह ही कह सकते हैं।

गोर्की के 'मदर' उपन्यास के मजदूर बेटे की तरह प्रेमचंद ने 'गोदान' में क्रान्तिकारी भावनाओं का विकास करना चाहा पर वह महाजनी सभ्यता के हाथ में पड़कर विकसित न हो सकी। अपने इसी अभीष्ट की सिद्धि के लिये उन्होंने समाज के दूसरे अंग (धनी वर्ग) को भी मुख्य कथा के परिवेश में घसीटने का प्रयत्न किया परन्तु इस प्रकार की प्रासंगिक कथाओं का (मालती मेहता की कथा) मुख्य कथा से कोई ऐसा लगाव न हो सका जो कि लेखक को अभीष्ट सिद्धि में सहायक हो सकतीं। गोबर साम्यवाद की भावनाओं से अनुप्राणित नये रक्त का क्रान्तिकारी युवक है जो शोषित वर्ग का प्रतिनिधि है, पर क्रान्तिकारी होकर भी वह क्रांतिकारी नहीं हो पाता क्योंकि समाज के शोषक वर्ग के कतिपय प्रतिनिधियों ने उसके परिवार को इस प्रकार दबोचा है कि दबोच से वह भी बिल्कुल बच नहीं पाता, चाहकर भी परिवार से, परिवार की ममता से अलग नहीं हो पाता और परिणाम स्वरूप; परिवार पर बीतने वाली आपदाओं की लपेट में वह भी आकर ही रहता है। उसका क्रांतिकारी रूप दब जाता है, मर जाता है।

१९३१ और ३२ के आस पास साहित्य और नागरिक समाज की विशेष प्रवृत्ति हो गई थी ग्राम्य जीवन के प्रति आकर्षण और अध्ययन की, साथ ही साथ साम्यवाद। विचार धारा भी प्रसार पा रही थी। १९३५ के आसपास से यह प्रवृत्ति कम होने लगी। इसीलिये प्रेमचद के गोदान में हमें यथार्थ का जो चित्र और महत्व प्रतिपादित मिलता है वह अन्यपूर्ववर्ती उपन्यासों में नहीं। जिस आदर्शवाद और आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की चर्चा हमें उनके पूर्ववर्ती उपन्यासों में मिलती है, वह इस उपन्यास में नहीं है। समवेत रूप से यही कहा जा सकता है कि प्रेमचंदजी ने इस उपन्यास में पूर्ववर्ती आदर्शों, विचार धाराओं और संस्थापनाओं को स्थान नहीं दिया। आदर्शोन्मुखी और विकासोन्मुखी विचारधारायें यहाँ आते-आते समाप्त हो जाती हैं। गोदान का कोई एकोन्मुखी उद्देश्य, अभीष्ट या प्रतिपाद्य नहीं प्रतीत होता। युग के परिस्थितियों को और उनके यथार्थतम स्वरूप की एक झाँकी, क्या पूरी वाटिका को समवेत रूप से एक ही दृष्टि में देखने के लिये लेखक ने पूरे उपन्यास की योजना की है। किसी एकमात्र अभीष्ट के प्रतिपादन के लिये चरित्रचित्रण की भी कोई व्यवस्था नहीं दिखलाई पड़ती, कोई *निश्चित और ठोस (Com Pact) स्थापन नहीं दिखलाई पड़ता, शिथिल वास्त*-विन्यास (Loose Ploted Novels) की सभी विशेषतायें इसमें मिल जाती हैं। वस्तुतत्व का ऐसा गठन किया जाय कि स्वतः चमत्कार उत्पन्न हो जाय, ऐसी कोई वस्तु नहीं, कथानक बिल्कुल ढीला है। सुख दुख की कहानी का परिचय, काल विशेष की भारतीयता की समग्रता प्रस्तुत करना ही लेखक का प्रतिपाद्य पक्ष है। काल विशेष के किसी भी समाजगत वर्ग और समाज की किसी भी प्रवृत्ति को न छोड़ने का प्रयत्न लेखक की दृष्टि पथ में प्रारम्भ से ही रहा है। विवरणात्मक ढंग से यथार्थ का विस्तृत परिचय पाठकों को दे देना लेखक की प्रथम आकांक्षा रही है। लेखक

का प्रयत्न है कि कथानक के पृष्ठ भूमि की सारी समग्रता विवरणात्मक ढंग से पाठक को समवेत रूप मे दिखलाई पडे। यथार्थ के अतिनिकट और चमत्कार के अतिदूर रहने वाले कलाकार प्रेमचंदजी हैं। उन्होने स्वयं कहा है कि "कथा को बीच से शुरू करना या इस तरह शुरू करना कि ड्रामा का चमत्कार पैदा हो जाय मेरे लिये असभव है।"

जहाँ तक गोदान का प्रश्न है उसके विषय मे कहा जा सकता है कि 'गोदान' प्रेमचंद की एक कृति होते हुए भी बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध के हिन्दी साहित्य के विकास का अग्रदूत है। "गोदान हिन्दी पाठक को तिलस्म के मायाजाल से निकालकर सामाजिक रसके स्तर तक खीचकर लाने की प्रेमचंद की कला-साधना का ऐतिहासिक प्रतीक है।"[1] गोदान साहित्य को मनोरंजन के रंगमहल से निकाल कर जनता के जीवन के बीच में प्रतिष्ठित करने की कहानी है। गोदान भारतीय संस्कृति और लोक परम्परा को साथ लेकर चलने वाले भारतीय कृषक वर्ग के संघर्ष रत जीवन की तपस्या का यथार्थ चित्र है और संस्कृति विरोधी शोषकों की महाजनी सम्यता और काले कारनामो का इतिहास है। हमारे जीवन-संघर्ष की अपूर्णता ही गोदान की अपूर्णता है, हमारे वर्ग जीवन की पूर्णता ही गोदान की पूर्णता है। 'गोदान' में अपने युग का प्रतिबिम्ब भी है और आने वाले युग की प्रसव-व्यथा भी, उपन्यास की शैली में उसे भारतीय जीवन का महाकाव्य कहा जा सकता है। उनकी इस कृति में यथार्थ का जो रूप सामने आता है, उसके उस रूप मे आने का कारण है प्रसाद का यथार्थवाद का प्रवर्तक होना। उनके यथार्थ मे हम युग की समस्याओं की प्रतिध्वनि पाते हैं, उसमें युग की वाणी बोलती-सी प्रतीत होती है, उसमे अनुमति की विशालता, चित्त की गंभीरता एवं जीवन का दुर्वार गतिवेग है। उनका यथार्थ नूतन युग का रास्ता दिखलाता है। अपने इस उपन्यास के माध्यम से उन्होंने जिस समाज को चित्रित करने का बीडा उठाया है, वह दीन है, उसमे स्वर्गीय भावनाओं का उल्लास नहीं है, उच्च भावनाओं का उन्माद नहीं है, दूसरी ओर सौंदर्य की संघान में उनकी कल्पना सेठ और मिल मालिको के सुसज्जित राज-प्रासाद, नगरों की अट्टालिका, धनी, महाजनो और रईसो के प्रमोद उद्यान तक दौड लगा आती है। यदि एक ओर उन्होंने जमींदारो, महाजनो, रईसो, सरकारी अफसरों और धर्मध्वजियों के निष्ठुर लोभ, उद्धत अन्याय, दुर्विनीत अहंकार, मिथ्या दंभ, दर्द एवं स्वर्थ तथा दैन्य एवं दारिद्रय के बीच उनके ऐश्वर्य एवं विलासिता के हृदयहीन आडम्बर का यथार्थ चित्रण किया, तो दूसरी ओर अज्ञात एवं अख्यात साधारण नर-नारियो के जीवन में जो सरल धर्मभीरुता, जो आदर्श निष्ठा, जो सुषुमा और जो माधुर्य उद्भासित होते हैं उसकी ओर भी दृष्टिनिक्षेप किया। उन्होंने भारतीय समाज के वास्तविक स्वरूप को अपने मानस चक्षुओं से देखा था, प्रत्येक प्राणी के सूक्ष्म से सूक्ष्म क्रिया कलापों और मनोवृत्तियों तक

१. एक आलोचक, गोपाल कृष्ण कौल।

उनकी पैठ थी इसलिये ही वे साधारण से साधारण पात्रों के चरित्र में प्रवेश करके उनको सम्पूर्ण अभिनव रूप दे सके हैं। उनका साहित्य जिस आदर्श की ओर इंगित करता है वह आदर्श उन्हें जनसाधारण के चरित्रों और उनके जीवन की तुच्छ घटनाओं में ही मिलता है।

'गोदान' का प्रारम्भ एक ग्रामीण निर्धन किसान होरी के दर्दनाक परन्तु यथार्थ जीवन को लेकर होता है। उसकी भावनाओं और विचारों पर जमींदार का इतना एकाधिपत्य है कि वह अपनी पत्नी के आग्रह की उपेक्षा कर सकता है, गृहस्थी के कार्यों को स्थगित कर सकता है, गरीबी में पले हुए दुर्बल पुत्र गोबर और छोटी-छोटी लड़कियों को गर्मी की कठिन धूप और लू में भी कठिन से कठिन गृहस्थी के कामों पर लगा सकता है लेकिन जमींदार मालिक के यहाँ जाना नहीं रोक सकता। जमींदार के कठोर नियन्त्रण, उसकी घुड़कियों, उसके बेगारों और उसके इशारों पर नाचने में ही उसे प्रसन्नता होती है। उसका अपना सुख और आराम मुख्य नहीं है, मुख्य सुख और आराम है राय साहब का जिसके लिये उसे बलिदान भी होना पड़े तो उसके लिये भी वह बाध्य है और कुछ कह न सकने में विवश है। राय साहब को प्रसन्न रख कर अपने घर में भूख से तड़पता हुआ भी वह जीवन खे ले जा सकता है लेकिन अपने घर में आराम से रहता हुआ भी, जमीन्दार को अप्रसन्न करके वह सुख की नींद नहीं सो सकता। उसके जीवन की रस्सी जमींदार राय साहब के हाथों में दे दी गई है और उसी के इशारे उसे चलना है। रायसाहब के कारकुन और पटवारी के क्रूर व्यवहार और अन्याय अवश्य अमानवीय, भीषण और दर्दनाक हैं फिर भी स्वाभाविक हैं। थोड़ी देर के लिये राय साहब होरी से बातें कर लेते हैं, उससे छोटी-मोटी राय बात ले लेते हैं और गाँवों के समाचार पूछ लेते हैं तो होरी के लिये यही बहुत हो जाता है और वहाँ से लौटता है तो अकड़ता हुआ और अन्य लोगों पर रायसाहब के यहाँ अपनी पहुँच का दबदबा स्थापित करना चाहता है। इसी आधार पर होरी महतो की इज्जत भी गाँव के अन्य गरीब किसान करते हैं। रायसाहब के यहाँ आने-जाने का ही फल है कि कितने साल का बकाया लगान पड़ा है और कारकुन साहब बोलते नहीं, उसी जगह अन्य लोगों पर कई बार कुड़कियाँ निकल गईं। होरी अगर आगे आने वाले गोबर का स्वभाव ग्रहण कर ले तो इन सारी आफतों, विपदाओं, रुपयों के ऋण, महाजनों के आतंक तथा अंधविश्वासों एवं रूढ़ियों के चंगुल से आसानी से छुटकारा पा सकता है, पर उसकी भावनाएँ इतनी दब गई हैं और उस प्रकार के संस्कार इतने प्रबल पड़ गये हैं कि वह चाहते हुए भी ऐसा कर नहीं सकता। उसकी पत्नी धनियाँ भी कभी-कभी अन्याय से बौखला कर उत्तेजित होती है पर वह भी होरी के प्रभाव से बची नहीं है। निर्धन से निर्धन किसान का भी हृदय मोम के समान कितना मुलायम होता है कि फर्ज से दबाया जाता हुआ

भी सुख के दिनों में सबको भूलकर और अधिक कर्ज लेने में जरा भी हिचक नहीं दिखलाता। जिस समय होरी समाज की सभी कुत्साओं, घृणाओं, लोकनिन्दा, सामाजिक बंधन तोड़ने के उपलक्ष्य में संभावित दण्ड आदि सबकी उपेक्षा करके परजाति की लड़की झुनियाँ और मातादीन की चहेती सिलिया चमारिन को शरण देता है, उस समय उसका हृदय कितना विशाल और उदार हो जाता है। उसकी पत्नी धनियाँ को भी कम उदार हृदय नहीं मिला है। झुनियाँ के घर में आते ही वह रात को भयंकर सर्दी में खेत की रखवाली करते हुए होरी के छप्पर के पास पहुँच जाती है और रास्ते भर उत्तेजित करती हुई आती है पर घर आते ही, झुनियाँ की सिसकियों में दम्पति का सारा क्रोध समाहित हो जाता है और उसकी पीठ पर दम्पति का अभय वरदान थोप उठता है। वही गोबर, (जिसके लिए होरी और धनियाँ सब कुछ कर डालते हैं और जिसके लिये कर्ज की लम्बी श्रृंखला बाँधते चले जाते हैं और आनेवाली प्रत्येक आपदाओं और परिस्थितियों को आत्मसमर्पण करते जाते हैं) भावनाओं और विचारों का इतना स्वतन्त्र और क्रांतिकारी हो जाता है कि माँ और बाप के पुराने विचारों पर आधिपत्य स्थापित कर नई दिशा देना चाहता है, उनकी नर्मी और बेबसी के स्थान पर कड़ाई और अधिकार-भावना लाना चाहता है पर ऐसा न होता देखकर थोड़े दिन के लिये भी उनकी भावनाओं को आत्मसमर्पण नहीं कर सकता और स्वयं माता-पिता, परिवार, घर और गाँव को छोड़कर सपत्नीक शहर को चल देता है।

उपन्यास की अन्य कथाएँ भी उसी मुख्य कथा की प्रासंगिक कथा के रूप में आई हैं, चाहे वह रायसाहब का ऐश्वर्य-वर्णन हो, चाहे मालती मेहता का रोमांटिक जीवन हो, चाहे खन्ना और श्रीमती खन्ना के जीवन की विषमता हो, चाहे पं० ओंकारनाथ की पत्रकारिता और देशसेवा की विस्तृत और यथार्थ चर्चा हो, चाहे गाँव के क्रूर महाजनों और पटवारियों के गंदे और घृणित कारनामे हों और चाहे पुलिसवालों का निरंकुश आतंक और मिल मालिकों का एकाधिकार हो क्यों न हो, इन सबके ऊपर गाँव के निर्धन परिवार, उसकी व्यवस्था, उसकी यथार्थ अवस्था और उनके चारों ओर का चित्र है। वास्तव में उसी साध्य पक्ष के सम्यक् प्रतिपादन के लिये अन्य घटनाएँ और कथासूत्र पृष्ठभूमि संबंधी परिवेश या साधन पक्ष के रूप में लिये गये हैं जो लेखक की अभीष्ट सिद्धि में योग देते हैं, लेखक द्वारा वांछित खींचे जाने वाले चित्र में यथार्थ का रंग भरते हैं और सबके आगे कथासूत्र के नैरंतर्य और उसके कथानत्व (Story element) की सुरक्षा में सबसे बड़ा योग देते हैं।

जो कहा गया है कि उपन्यास का प्रत्येक पात्र एक वर्गविशेष की सामान्य प्रवृत्तियों को प्रस्तुत करता है, यह बात बिल्कुल सत्य है, पर उसी वर्गगत चरित्रांकन को लेकर आलोचकों ने बहुत आक्षेप लगाये हैं, क्योंकि वर्गगत चरित्रचित्रण कम कलात्मक माना जाता है। लेकिन उस प्रकार का चरित्रांकन लेखक सप्रयोजन करता है क्योंकि

व्यक्तिगत चरित्रों को लेकर अपने लक्ष्य तक पहुँचना लेखक के लिये दुर्गम ही नहीं असंभव भी था। इसलिये आदर्शों को स्वरूप प्रदान करने और लक्ष्य के प्रतिपादन के लिए लेखक ने वर्गगत चरित्रांकन को माध्यम बनाया। इसके अतिरिक्त किसी वस्तु के (Over colouring) अति यथार्थ चित्रण का दोष भी प्रेमचंद के ऊपर मढ़ा जाता है पर यह बात यथार्थवादी कलाकार के लिये स्वाभाविक है और प्रेमचन्द के लिए तो वैसे भी अपरिहार्य है क्योंकि यह चीज लेखक के कला-वृक्ष के बीज में ही निहित है और उस वृक्ष के अन्तिम पुष्प तक चली जाती है। अन्य सभी समस्याओं के ऊपर उपन्यास की सबसे बड़ी समस्या जो ऋण और धन की है वह तत्कालीन किसान के जीवन के लिये अभिशाप है। लेखक यह दिखलाना चाहता है कि वैसी परिस्थितियों में रहकर किसान किसान होकर नही रह सकता और रहने की थोड़ी बहुत संभावना है भी तो मजदूर होकर। सिवाय मजदूर हुए, किसान नही रह सकता। पुत्र भले ही माँ-बाप के प्रति अपने कर्तव्य पर लात मारकर छोड़ दे, बिरादरी छोड़ दे, समाज छोड़ दें, महाजन जीवन-दान के रूप में ऋण देना बंद कर दे पर होरी किसान को तो जीना ही है, वह मर भी नही सकता। कर्ज चुकाने की उसकी भावना और दियानत नैतिकता का मापदण्ड है, वह पुर्जे-पुर्जे बिक कर भी कर्ज को पाई-पाई चुकाने के लिये तैयार है। गन्ने के बेंच के रुपये उसके हाथों पर से ही उठ जाते हैं, पर स्त्री की बौखलाहटजन्य उन्मत्तता पर धैर्य और संतोष का छींटा ही देता रह जाता है। अंत आते-आते उसके खेतों पर महाजन लोग धीरे-धीरे अधिकार करने लग जाते हैं, उसकी निज की खेती नही रह जाती। पं० दातादीन के साझे खेती करता है, मजदूरी करता है। मजदूरी करते-करते ही एक दिन गर्मी की भीषण लू में उसका प्राणान्त होता है और सुतली के बेंच के बीस आने पैसे उसके हाथ मे गोदान के संकल्प के लिए रखे जाते हैं। गऊ रखने की ललक होरी में बिल्कुल प्रारंभ मे दिखलाई जाती है, परन्तु वह लालसा अंत तक नहीं पूरी हुई, समाज ने, भाई ने और परिस्थितियों ने उसे गाय का स्वामी नहीं होने दिया। मरते समय पूँछ पकड़ने के लिये एक बछिया भी नहीं सुलभ है और महीनों की गाढ़ी कमाई के द्वारा इकट्ठे किये गये २० आने पैसे भी गोदान स्वरूप उसी पं० पुरोहित दातादीन के हाथों पड़ते हैं जो जीवन भर महाजन बनकर होरी के रक्त चूसता रहा। होरी मरता है, जीवन के संघर्ष में ही, विप्लव में ही, पर उसका निर्धन किसान का रूप भी स्थिर नहीं रह पाता कि एक बछिया भी वह मरते समय उत्सर्ग कर सके, उसे मजदूर बनना पड़ता है और मजदूर बनकर ही मरता है।

'गोदान' उपन्यास में मुंशी प्रेमचन्द की दृष्टि चरित्र निर्माण की अपेक्षा वातावरण की सृष्टि की ओर अधिक रही है। उपन्यास का प्रमुख पात्र होरी विभिन्न घटनाओं एवं कथाओं को परस्पर जोड़ता अवश्य है पर 'रंगभूमि' के सूरदास की भाँति चरित्र की उदात्तता इसमें कहाँ? शहर और गाँव की घेरकर चलने वाली दो समानान्तर कथाओं

के कारण भी 'गोदान' में नायक निर्धारण की समस्या है'। होरी का एक चरित्र अवश्य ऐसा है जो जीवन के करुण अवसान के कारण पाठकों को सर्वाधिक प्रभावित करता है, पर पाठकों की दृष्टि होरी की चरित्रगत विशेषताओं की ओर न जाकर उन परिस्थितियों की ओर जाती है जिन्होंने होरी का निर्माण किया है। चरित्र चित्रण यदि उपन्यास का लक्ष्य रहा होता तो उपन्यासकार ने इस उपन्यास का नाम 'गोदान' न रखकर 'होरी' रखा होता। होरी उपन्यास का साध्य नहीं बल्कि साधन है, वह उन परिस्थितियों अथवा वातावरण के हाथों का खिलौना है जिनका सजीव चित्रण उपन्यासकार करना चाहता है। सन् १६३६ के आसपास तक राष्ट्रीय आन्दोलन ने भारतीय समाज को कहाँ तक पहुँचाया था, शहर और गाँव के निवासी परस्पर किस सीमा तक एक दूसरे के निकट आ सके थे, भारतीय कृषक अपनी अर्थ व्यवस्था सुलझाने में कितना असमर्थ था, वह पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष एवं परम्परित कुसंस्कारों का किस सीमा तक शिकार हो रहा था, गाँव के दलाल-पटवारी और पण्डित से लेकर जमींदार एवं सरकारी कर्मचारी तक किस प्रकार शोषण पर जीवित थे आदि समाज विरोधी तत्वों का चित्रण करना उपन्यासकार का मुख्य उद्देश्य जान पड़ता है। एक साथ इतनी विपुल सामग्री को कथा के परिवेश में बाँधने की समस्या 'गोदान' कार के सम्मुख थी जिसका समाधान 'गोदान' शीर्षक के रूप में उसे मिला। यदि ध्यान पूर्वक देखें तो स्पष्ट हो जायगा कि 'होरी' को इस उपन्यास में गतिशील बनाने वाली उसकी एक इच्छा है, गाय रखने की। उसको इस इच्छा ने उसे सम्मोहित किया और वह अवश जीवन की विषम परिस्थितियों से हठात् जूझने लगा। उपन्यास के अनेक प्रसंगों तक होरी नहीं जाता बल्कि 'गाय रखने की इच्छा का परिणाम उसे वहाँ तक ले जाता है।

होरी के ही परिवार का एक व्यक्ति उसका बेटा 'गोबर' तत्कालीन परिस्थियों के प्रति विद्रोह करता है। अपने पिता होरी से विमुख होकर उसका शहर को चला जाना एक नवविहित युवक का पत्नी के प्रभाव में आकर अनुत्तरदायी पलायन नहीं है बल्कि उसे होरी के दकियानूसी विचार, मालिकों के प्रति अनावश्यक स्वामिभक्ति एवं रूढ़िबद्ध विश्वासों के प्रति अनास्था है, जो तद्युगीन उत्पन्न होने वाले विचारों का संकेत दे जाते हैं। उसका वह विद्रोह भले ही व्यक्ति से उठकर समष्टि के धरातल तक नहीं पहुँच सका और गोबर के रूप में व्यक्ति पूँजीवादी व्यवस्था एवं शासनयंत्रों की चपेट में टूट गया पर श्रमिक आन्दोलन के रूप में उठती हुई युग की अनिवार्यता एवं शोषण के विरुद्ध उठने वाली आवाज की औचित्य का समर्थन तो इस प्रसंग से हो ही जाता है जो उपन्यास का क्रान्तिदर्शी अध्याय है। उपन्यास का यह बहुमूल्य प्रसंग उपन्यास में अाहीन पाता यदि 'गाय' रखने की इच्छा होरी और गोबर को भोला महतों के घर तक न खींच ले जाती, जहाँ गोबर को उसकी मनचाही झुनिया मिल गई। उपन्यास के इस प्रसंग से एकाधिक सामाजिक पक्षों पर भी प्रेमचन्दजी प्रकाश डाल सके हैं।

इस प्रकार उपन्यास की एकाधिक कथाओं को जोड़ने का कार्य 'गाय' की प्रेरणा से होता है।

भारतीय कृषक के लिए गाय एक आर्थिक अनिवार्यता है जिसके अभाव में उसकी अर्थ व्यवस्था सुदृढ़ हो ही नहीं सकती। भारत सदैव से एक कृषि प्रधान देश रहा है जिसके लिए कृषकों को गाय से दूध के रूप में स्वास्थ्य, बछड़ों के रूप में हल में काम आने वाले बैल, गोबर के रूप में उपयोगी खाद, चमड़े के रूप में सिंचाई के लिए मोट तथा पाँव रक्षा के लिए जूते आदि सभी कुछ तो मिलता है। एक सुखी जीवन की कल्पना को साकार करने के लिए गाय की आवश्यकता तो है ही, इसके अतिरिक्त मोक्ष-कामी अभौतिक जीवन को सुखी बनाने के लिए 'गोदान' के माध्यम से भी तो गाय सहायक सिद्ध होती है। अतः 'गोदान' का प्रयोग शीर्षक के रूप में इस उपन्यास में अत्यन्त प्रतीकात्मक रूप में हुआ है।

अवध के बेलारी गाँव का एक तीन-चार बीघे खेत का किसान देहात के एक कोने में पड़ा रहता और उसे कोई जानता भी न, पर अपनी विषम आर्थिक स्थिति पर पर्दा डालने के लिए ही वह सबकी महफिल में हाजिर रहता है, भले ही उसकी हाजिरी उसे शोषण से न बचा सकी। जिस महाजीनी सभ्यता के कुपरिणामों को प्रेमचन्द जी अपने इस उपन्यास में दिखलाना चाहते थे वह गाय लाने के प्रसंग से ही सम्भव हो सका है। सन् १९३६ के आस-पास राष्ट्रीय आंदोलन का जो रूप स्थिर हो चुका था उससे तो एक प्रकार से यह निश्चित हो गया था कि जमीदार अब अधिक दिनों तक अपने चंगुल में फँसाकर किसानों का शोषण नहीं कर सकते, पर वह जमीदारों के चंगुल से निकलकर कर्ज देने वाले सूदखोर महाजनों के चंगुल में फँसता जा रहा था। जमीदार तो एक था पर दुलारी सहुआइन से लेकर मातादीन तक होरी के आधे दर्जन महाजन थे जो उसके शोषण से सम्पन्न बनते जा रहे थे। महाजनों के जाल से निकल पाना किसानों के लिए कठिन हो रहा है ऐसा प्रेमचन्द को आभास मिल गया था। अदूरदर्शी किसान अपनी मूल समस्या का समाधान न करके केवल सामयिक राहत पाने के लिए दरवाजे-दरवाजे की हाजिरी देता है, पर उसे मिला क्या? निराशा ही तो हाथ लगी।

होरी की इस मनोवृत्ति से इतना अवश्य हुआ कि उपन्यासकार को विविध समाज एवं उसमें रहने वाले विविध लोगों के चित्रण का अवसर मिल गया। एक ओर उपन्यासकार के इस आग्रह से जहाँ उपन्यास का कथात्मक संगठन शिथिल हुआ है वहीं कुछ बहुमूल्य ऐसे चित्र भी देखने को मिले हैं जिनसे उपन्यास की नीरसता सरसता में बदल गई है और तत्कालीन कुछ विशिष्ट लोगों की नवाबमर्दी की पोल भी खुल गई है। कबड्डी खेलने का प्रसंग उपन्यास का एक ऐसा ही प्रसंग है। मालती के आसपास चक्कर लगाने वाले सम्भ्रान्त पुरुषों का नकली भागा के सामने पता ही नहीं लगता, वह द्रोपदी की भाँति सहायता की कामना करती है पर कृष्ण का अभिनय यथार्थ रूप में तो सूखो

छटरियों वाला मरियल किसान होरी ही कर सकता है। स्पष्ट है, भारतीय नारी की मर्यादा दीन कृषक के हाथों में ही सुरक्षित रह सकती है। शहरों में तो वह लुटती है। इसी प्रकार के और भी व्यंग्यात्मक चित्र इस उपन्यास में आये हैं जो देखने में ऊपर से चिपकाए और अस्वाभाविक लगते हैं पर उनका अपना महत्त्व है। वे किसी न किसी रूप में युगबोध को स्पष्ट करते हुए उपन्यास में शिल्पलालित्य की सृष्टि करते हैं।

'गोदान' तक आते-आते प्रेमचन्दजी बदल अवश्य गये थे, इतना स्वीकार करना पड़ेगा। उन्होंने जीवन भर कठिनाइयों और संघर्षों से जूझ कर जो मान्यताएँ मानव जीवन के प्रति स्थापित की थी, वे सब उन्हें ही असत्य जान पड़ने लगी। मानवता की अन्तिम विजय के प्रति भी उनका विश्वास डिगने लगा था। सभी समस्याओं, कठिनाइयों, विपत्तियों तथा बुराइयों से लोहा लेने पर भी प्रेमचन्द होरी के रूप में पिसते ही गये। ऐसा लगता है कि समाज और संसार की सारी शक्तियाँ उन्हें ही पीसने को दौड़ी चली जा रही हैं। यह भले ही है कि उन्होंने हार को जीवन की जय-यात्रा मान ली, परन्तु वह उनकी वास्तविक हार ही थी। जीवन संग्राम में होरी की सदा हार हुई जिसे वह विजय-पर्व ही मानता रहा। इतना अवश्य है कि प्रेमचंद जी ने संघर्ष से कभी भी मुख नहीं मोड़ा। होरी अपनी पराजय के बावजूद निरन्तर संघर्ष करता ही गया। उसकी यही सबसे बड़ी महानता है। इस संघर्ष के क्रम में उसकी स्वाभाविक मानवीय दुर्बलताएँ भी उभरी अवश्य, परन्तु उसके सामान्य व्यक्तित्व में भी महानता है। प्राकृतिक जीवन में भी श्रेष्ठता के चिह्न होते हैं, इसके दर्शन हमें होरी के जीवन में मिल जाते हैं।

यदि गोदान के चरित्रों की सूची तैयार की जाय तो जितने व्यक्ति या वर्ग हो सकते हैं सबका प्रतिनिधित्व इस उपन्यास में मिल जायगा, इसमें सन्देह नहीं। इस उपन्यास में लेखक ने तत्कालीन सामूहिक भारत का एक वास्तविक चित्र खींचना चाहा है और वह यथार्थ के लिए जितना निष्पक्ष अपनी इस कृति में हो सका है, उतना अन्य में नहीं।

उपन्यासकार प्रेमचन्द के नायक—

प्रेमचंदजी के उपन्यासों के कथानायक स्त्री और पुरुष दोनों ही हैं जो उनकी विभिन्न प्रवृत्तियों के प्रतीक हैं। जिस प्रकार युगानुरूप प्रेमचंदजी के विचारों में विकास होता रहा है, उसी प्रकार उनके नायक भी विकसित होते रहे हैं।

प्रेमचंदजी के उपन्यास जन तथा युग-जागरण को चित्रित करने तथा उनका समाधान प्रस्तुत करने के लिये लिखे गये हैं, जिनकी घटनाएँ कभी तो नायक को चक्कर में फँसाये रहती हैं और नायक कभी स्वयं घटनाओं का निर्माण करते हैं। इनके नायक दृढ़ चरित्र वाले तो चित्रित किये गये हैं, फिर भी वे परिस्थितियों के दास हैं और उन्हीं

उलझनों में पड़कर उनका विकास भी होता है। उनके नायकों ने राजनीति और समाजनीति के सुधार का जो जिम्मा अपने सर उठाया है उसमें वे पूर्णतः सफल भले न हों किन्तु उन्होंने इतना तो अवश्य किया है कि समाज के सच्चे और यथार्थ चित्र को पाठकों के सम्मुख ला रखा।

प्रेमा, सेवासदन जो पहले बाजारेहुस्न के नाम से प्रकाशित हुआ था, प्रेमाश्रम, रंगभूमि, कायाकल्प, निर्मला, प्रतिज्ञा, गबन, कर्मभूमि, गोदान और मंगलसूत्र क्रम से प्रकाशित होने वाले प्रेमचन्द के बारह उपन्यास हैं जिनमें चार अत्यन्त साधारण कोटि के हैं। शेष आठ श्रेष्ठ उपन्यासों में सेवासदन, कायाकल्प, निर्मला और गबन चार नायिका-प्रधान तथा प्रेमाश्रम, रंगभूमि, कर्मभूमि और गोदान चार नायक-प्रधान उपन्यास कहे जा सकते हैं। सेवासदन से लेकर गोदान तक समानांतर स्त्री और पुरुष नायक साथ ही साथ प्रेमचंद के कथालोक में विकसित होते रहे हैं।

प्रेमचंद के नायकों की तीन प्रमुख कोटियाँ कही जा सकती हैं। एक वर्ग ऐसा है जो उपन्यासकार के विचारों का प्रतिनिधि है और उसके भावों का वाहक है, दूसरा वर्ग ऐसा है जिसमें नेतृत्व करने के आवश्यक तत्व आरम्भ से ही दिखलाई पड़ने लग जाते हैं जिनका परिस्थितियों में केवल विकास होता है और तीसरा ऐसा है जो अस्थायी वृत्ति वाला है जिससे उसके निर्माण में परिस्थितियों का प्रमुख हाथ रहता है। पर इसी वर्गीकरण को ही एकमात्र कसौटी नहीं माना जा सकता क्योंकि उनके उपन्यासों में कई ऐसे भी नायक हैं जिनमें एक से अधिक गुण दिखलाई पड़ते हैं।

नारी नायकों के निर्माण प्रेमचंदजी ने प्रायः सामाजिक समस्याओं को यथार्थ रूप में समाज के सामने उपस्थित करने तथा उनके समाधान देने के लिये ही किये हैं। सेवा-सदन की 'सुमन' वेश्या समस्या को सामने लेकर आती है जिसका व्यक्तित्व सम्पूर्ण कथा भाग पर छाया हुआ है। सामाजिक समस्याओं को सुलझाने में इस समय तक पुरुष वर्ग तो क्रियाशील हो चुका था किंतु स्त्रियों में अपने आप पर्दे से बाहर निकल कर काम करने की शक्ति नहीं आ पाई थी। 'सुमन' का निर्माण अत्यन्त आदर्शोन्मुख एवं काल्पनिक अवश्य हो उठा है किंतु वह नारियों के अंदर छिपी हुई शक्ति को कुरेदती अवश्य है। दूसरे शब्दों में 'सुमन' पुरुष-शासित समाज की थोथी मर्यादा एवं अहमन्यता पर एक गहरा तमाचा है। 'कायाकल्प' की रानी देवप्रिया बीच में एक ऐसी स्त्री बनकर कूद पड़ती है जिसका प्रेमचंद के अन्य नारी नायकों से किसी प्रकार से मेल नहीं बैठ पाता। उससे संबंधित कथाएँ इतनी अलौकिक हैं कि पौराणिक कथाएँ भी मात हैं। वह एक अलौकिक, मायाविनी और रहस्यमयी नारी है, जिसके बीच में आ जाने के कारण प्रेमचंद के नायकों का क्रमिक विकास जानना कठिन हो जाता है। लगता है इसकी रचना कभी पहले ही हो चुकी थी, जिसे बाद में प्रकाश में लाया गया। 'निर्मला' अनमेल वृद्ध विवाह से उत्पन्न मध्यवर्गीय नारी की करुण प्रतिमा है। इस

प्रकार इसके द्वारा नारी-जगत को कोई सशक्त व्यक्तित्व नहीं प्राप्त होता बल्कि वह दहेज प्रथा, अनमेल विवाह तथा आर्थिक पराधीनता से किस प्रकार ग्रस्त है इसका यथार्थ चित्र उपस्थित करती है। सेवासदन की 'सुमन' का वास्तविक विकास 'गबन' की 'जालपा' मे दिखलाई पड़ता है। उसकी आरम्भिक दुर्बलताएँ ही सबलता में परिवर्तित हो जाती हैं जिससे वह लक्ष्यभ्रष्ट पुरुष का उद्धार करने मे सफल होती है। 'सुमन' मे शक्ति और दृढता 'जालपा' से कहीं अधिक है किंतु उसे अपने उद्धार के लिये समाज-सुधारक पुरुषों की सहायता लेनी पड़ती है, जब कि जालपा अपने पैरो पर खड़ी होकर अपनी वास्तविक स्थिति पहचान लेती है जिससे तत्काल ही थोथी आत्म-प्रतिष्ठा और दम्भपूर्ण कौलीन्य का चोगा उतार फेंकती है। उसका पति 'रमानाथ' परिस्थितियो के आवर्त मे बदलता जाता है किंतु वह परिस्थितियो को अपने इच्छानुसार चलने को विवश करती है। उसका निर्माण प्राचीन और नवीन मान्यताओं के संयोग से हुआ है जिसका चरम विकास 'गोदान' की 'मालती' में देखा जा सकता है।

प्रेमचन्द के उपन्यासो की जिस समय रचना हो रही थी उस समय तक महात्मा गांधी के नेतृत्व में भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन पर्याप्त शक्ति पा चुका था, जिससे उनके उपन्यासो के कथानक पर उसका महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा है। 'प्रेमाश्रम' की रचना सन् १९२१ में हुई जिस समय देश में अनेक राजनीतिक उथल-पुथल हो रहे थे। 'प्रेमाश्रम' का ज्ञानशंकर उस समय के जमींदारो का सच्चा प्रतिनिधि है जिसको घेरकर उपन्यास-कथा चलती है। उसकी जमीदारी में किसानो का रहना दूभर हो गया है। उनके कारिंदे किसानो को परेशान करते हैं, सिपाही और प्यादो को बेगारी दिलवाते हैं तथा उसे बेइज्जत होते देखने मे भी संकोच नहीं करते। एक मरीज का निदान चाहे हो सके अथवा वह मर जाय पर गाड़ी को बेगार मे ले जाने से कोई रोक नहीं सकता। यद्यपि प्रेमाश्रम की स्थापना अमेरिका से साम्यवादी भावना लेकर आये हुए प्रेमशंकर के द्वारा होती है जो दिखलाना लेखक को इष्ट था। किन्तु ज्ञानशंकर की दृढता उनके अन्य पात्रो में कहाँ और पानी में डूब कर मरने का दृश्य तो उसकी दृढ़ता का रंग और भी गाढ़ा कर देता है। 'रंगभूमि' का नायक 'सूरदास' सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य में अपना प्रतिद्वन्द्वी नहीं रखता। वह ग्राम्य जीवन का प्रतिनिधि तथा महात्मा गांधी के विचारो का प्रतीक है। 'सूरदास' देवता नहीं बल्कि एक साधारण व्यक्ति है जिसमें मानवसुलभ दुर्बलता और सबलता वर्तमान है, यही कारण है कि वह हमारे विश्वास का पात्र सबसे अधिक बनता है। उसकी विशेषता उसके चरित्र की दृढ़ता में है, जो प्रलोभनो के सामने सिर नहीं झुकाता बल्कि उनको परास्त करता है। वह वासनाओं के पंजे मे नहीं फँसता बल्कि उनका दमन करता है। एक विजयी सेनापति की भाँति शत्रुओं का संहार करता हुआ वह विजयनाद करता हुआ निकलता है और उसकी हार विजय से भी गौरवमयी है। सूरदास जैसा धीरोदात्त नायक सम्पूर्ण हिन्दी उपन्यास मे दुर्लभ है।

कर्मभूमि' में प्रेमचन्द ने नायक के निर्माण पर ध्यान नहीं दिया है, बल्कि उन्होंने उस समय के सक्रिय राष्ट्रीय आन्दोलन को ही चित्रित करना चाहा है। इनका सबसे महत्त्वपूर्ण उपन्यास 'गोदान' जिसे नायकविहीन उपन्यास कहना अनुचित न होगा क्योंकि इसका एक भी प्रधान पात्र ऐसा नहीं है जिसका अनुकरण कर सकें अथवा वह किसी समस्या का समाधान उपस्थित करता हो। 'होरी' में नायक बनने के सभी गुण हैं क्योंकि उपन्यास की सारी कथा का सूत्रधार होरी ही है, १९३५-३६ मे किसानों की जो अवस्था थी उसका वह सच्चा प्रतिनिधि भी है, उसके वर्ग मे उसका पर्याप्त सम्मान है, अपनी भलाई-बुराई खूब अच्छी तरह समझता है, बड़ों को खुश करके अपना काम निकालना भी उसे आता है, उसमें अच्छाइयाँ भी हैं बुराइयाँ भी और उसी के द्वारा नगर तथा गाँव की जो दो कथायें गोदान' मे आई हैं परस्पर जुड़ती हैं, पर उसमें परिस्थितियों मे परिवर्तन लाने की शक्ति कहाँ है? वह एक मुर्दा किसान है जिसकी मृत्यु भी कारुणिक है और उसमे भी स्थिति में परिवर्तन लाने की शक्ति नहीं मिलती। होरी से अधिक जोरदार व्यक्तित्व तो उसकी 'पत्नी' धनियाँ का है, जिसका अपना अलग एक प्रभाव है। मालती १९३५-३६ के नारी जागरण की प्रतिनिधि तो है किन्तु उस पर उपन्यासकार की कल्पना का रंग इतना गाढ़ा हो गया है कि वह सर्वसाधारण का विश्वास नहीं ग्रहण कर सकती।

प्रेमचन्द के कुछ नायक तो उनके सुधारवादी दृष्टिकोण की उपज हैं जो जीवन भर दुर्बल एवं पतित रहकर अन्त में चलकर पवित्र एवं आदर्श की मूर्ति बन जाते हैं, कुछ का निर्माण सोद्देश्य हुआ है जो आदर्श की प्रतिमा से जान पड़ते हैं और कुछ व्यक्ति के रूप मे वर्ग के प्रतिनिधि मात्र हैं। इनके विकास मे कोई क्रम न हो ऐसी बात नहीं है। प्रेमचन्द के नायकों अथवा उनके विचारों में जो आदर्शों-मुख यथार्थवाद की बात प्रायः कही जाती है वह केवल सम्पूर्णता को ध्यान मे रख कर कही जाती है, पर वास्तव में प्रेमचंद के नायकों में आदर्श से यथार्थ की ओर एक निरन्तर क्रमिक विकास है जो उनकी विकसित होती हुई साम्यिक मान्यता को स्पष्ट करती है। प्रारम्भिक उपन्यासों में प्रेमचन्द गांधीवाद से जिस प्रकार प्रभावित हैं वह उनकी आदर्श दृष्टि है और अंत में गोदान तक आते-आते वे पूर्णतया साम्यवादी बनकर यथार्थ की भूमि पर आ जाते हैं। 'होरी' का यथार्थ जीवन-चित्रण उनकी बढ़ती हुई साम्यवादी प्रवृत्ति का परिचायक है। इतने विकास के उपरान्त भी प्रेमचन्द भारतीयता का त्याग न कर सके जो उनके रक्त के कण-कण में व्याप्त है। सत्य, अहिंसा और भारतीय आचार-विचार उनके नायकों के मूल प्रेरक स्रोत हैं और इन्हीं की भित्ति पर जीवन के कार्यक्षेत्र में वे सदैव संलग्न रहते हैं।

आदर्शोन्मुख यथार्थवाद

यथार्थ और आदर्श का संघर्ष

उपन्यास साहित्य न तो पूर्णतः यथार्थवादी हो सकता है और न वह एक मात्र आदर्शवादी होकर ही अपनी उपादेयता अधिक समय तक स्थायी रख सकता है। जब कि उपन्यास साहित्य का आविर्भाव ही मानव जीवन के यथार्थ चित्रण के लिए हुआ है, वह फिर भी पूर्णतः यथार्थवादी नहीं हो सका है। इसका एक मात्र कारण यह है कि मानव जीवन संसार के अन्य प्राणियों तथा जड़ पदार्थों की अपेक्षा अधिक गतिशील है, वह अधिक से अधिक परिवर्तन चाहता है जिससे साहित्य के लिए यह सर्वथा कठिन है कि वह उसकी कोई एक निश्चित व्याख्या कर सके। साहित्यिक यथार्थ के ऊपर कल्पना और आदर्श का गहरा रंग रहता है, जिससे हम उसे यथातथ्य फोटोग्रेफिक चित्र नहीं कह सकते। साहित्य में आदर्श जब तक यथार्थ के साथ सहायक रूप में आता है अथवा आदर्श के साथ यथार्थ का सामंजस्य हो जाता है तो उसका मानव जीवन में कुछ मूल्य ठहरता है, अन्यथा वह लेखक और पाठक के मानसिक व्यायाम से अधिक अपना कुछ अर्थ नहीं रखता। साहित्य और साहित्यकार के बीच यह आदर्श और यथार्थ का संघर्ष निरंतर चलता रहता है और वही साहित्यकार महान् एवं यशस्वी हो पाता है जो इन दो विरोधी प्रवृत्तियों में सामंजस्य स्थापित करके एक तीसरा अनुभवजन्य रसायन तैयार करता है।

प्रेमचन्दजी हिन्दी साहित्य के सर्वप्रथम उपन्यासकार कहे जा सकते हैं, जिन्होंने भारतीय जीवन को वास्तविकता को उसके निकट से झाँक कर देखने का प्रयत्न किया और उनका देखा हुआ दीन, दुखी, दुर्बल, प्राचीन रूढ़ियों एवं परम्पराओं से जर्जरित तथा नवयुग के जन-जागरण से अपरिचित समाज ही भारत का वास्तविक समाज था। परंतु प्रेमचन्दजी ने जिस समय साहित्य में अपने प्रौढ़ रूप में प्रवेश किया, उस समय तक देश के अन्दर नव जागरण की हलकी-सी लहर फैलनी आरम्भ हो गयी थी, जिसका प्रभाव उनके उपन्यासों में स्पष्ट लक्षित होने लगा है। प्रेमचंदजी ने भारतीय जीवन तथा उसके दलित समाज को देखकर, उसका यथातथ्य चित्रण मात्र ही नहीं कर दिया है, बल्कि इस हीन स्थिति के मूल कारण को जानने के लिए गम्भीर चिन्तन को भी उन्होंने अपनी कृतियों में स्थान दिया है। अपने साहित्य के द्वारा वे मानव समाज के सामने एक ऐसा हल प्रस्तुत करने के लिए दत्तचित्त रहे, जिससे समाज दम घुटने

वाले वातावरण से किसी प्रकार हटकर पवित्र स्वच्छ वायु म साँस ले सके। वे जीवन को उसके रूप में केवल देखना ही नहीं चाहते थे, बल्कि जीवन का एक रूप उनकी आँखों के सामने नाचता रहता था, जिस आदर्श रूप तक वर्तमान समाज को पहुँचा देने की प्रेरणा अपने साहित्य के द्वारा वे प्रदान करना चाहते थे। उनके सामने जीवन जैसा है, यह समस्या उतनी बड़ी नहीं थी जितनी कि जीवन वैसा होना चाहिए। यही कारण है कि प्रेमचन्द जी की दृष्टि यथार्थवादी होते हुए भी आदर्श की ओर उन्मुख था।

उपन्यास साहित्य का विकास जिन परिस्थितियों की देन है, उसके मूल में जो प्रेरणा कार्य करती रही उसने साहित्य को इस आदर्शोन्मुखता को बड़ा जबरदस्त धक्का दिया जिससे इसकी दीवार बिल्कुल गिर तो नहीं गयी, परन्तु हिल अवश्य गयी। मुद्रण यन्त्र के आविष्कार ने एक ओर साहित्य के प्रचार म जितना योग दिया, उतना ही उसने दूसरी ओर उसके नियामकों की प्रवृत्ति में अन्तर भी उपस्थित कर दिया। साहित्यकार के सामने समाज के कल्याण की कामना तथा कला कला के लिए है की भावना, उतनी प्रधान नहीं रह गयी जितनी कि उसकी वणिक वृत्ति प्रधान हो उठी। जब साहित्यकार के सामने साहित्य के द्वारा अर्थोपार्जन की समस्या रहती है तो उसे पाठकों के लिए अपनी कृति का निर्माण करना पड़ता है। ऐसी स्थिति में साहित्य पाठक का निर्माण नहीं करता बल्कि पाठकों की रुचियाँ साहित्य तथा उसकी कथावस्तु का निर्माण करती हैं।

समाज के अन्दर ऐसे पाठकों की संख्या अत्यन्त ही न्यून है जिन्हे परिष्कृत रुचि का पाठक कहा जा सके, ऐसे ही व्यक्तियों की संख्या अधिक है जो विलासी तथा कुरुचि-पूर्ण इच्छाओं के दास हैं। ऐसी स्थिति में लेखक अपनी अधिक से अधिक प्रतियाँ बिकवाने तथा अर्थोपार्जन करने के लिए ऐसे साहित्य का निर्माण करेगा जो बहुसंख्यक पाठकों की रुचियों का प्रतिनिधित्व कर सके। वह अपनी कृतियों को अधिक से अधिक वास्तविक बनाने के लिए साधारण से साधारण वस्तुओं तथा मनोवृत्तियों का चित्रण करेगा, जिससे वह पाठकों का विश्वासी मित्र बन सके। ऐसी स्थिति में यथार्थ के नाम पर अवांछित वस्तुओं का साहित्य में प्रवेश पा जाना स्वाभाविक ही है।

किसी भी वाद की पराकाष्ठा साहित्य के लिए अक्षम्य है। यदि काल्पनिक आदर्शों तथा स्वप्निल तत्वों का ही एक मात्र प्रवेश साहित्य के अन्दर कर दिया जाय तो वह मानव सम्पर्क से इतनी दूर की वस्तु हो जायगी कि हम किसी भी प्रकार की प्रेरणा उसमें न प्राप्त कर सकेंगे और न वह साहित्य ही अधिक दिन तक टिकाऊ हो सकता है। कोई भी साहित्य तभी स्थायी होगा जब कि उसका सम्पर्क मनुष्य के यथार्थ जीवन से होगा। आडम्बर, चमत्कार तथा बड़े बड़े आदर्शों की कल्पना समय पाकर मुरझा जाती है, परन्तु वास्तविकता पर समय का कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता। हम नित्य ऊँचे-ऊँचे आदर्शों को सुन तथा अध्ययन कर अपने जीवन में उसे उतारने में

इसलिए असफल रहते हैं कि वह सत्य नहीं है। वास्तविकता की एक हल्की सी लहर कल्पनाओं के पहाड़ से बढ़कर है।

शिक्षा संस्थाओं तथा बड़ी-बड़ी सभाओं में हम उच्च कोटि के व्याख्यान चोटी के विद्वानों तथा महापुरुषों द्वारा सुनते हैं परन्तु जब वहाँ से चलने लगते हैं तो उसे वहीं छोड़ आते हैं। परन्तु जीवन में कभी ऐसे भी अवसर आ जाते हैं, जब किसी की एक मृदु मुस्कान जीवन पर्यन्त के लिए हृदय-पटल पर एक अमिट रेखा छोड़ जाती है। इसका क्या कारण है? वह मुस्कान की वास्तविकता है जिसे समय नहीं छीन सकता। एक असुन्दर युवती का प्रेम जीवन को सार्थक बना सकता है, परन्तु परी की कल्पना से हमें प्रेम का वैसा आनंद नहीं प्राप्त हो सकता, क्योंकि उसमें वास्तविकता नहीं है, वह अयथार्थ है। यथार्थ वह शक्तिशाली प्रयत्न है जो सहस्रों कोरी कामनाओं से बढ़कर है। एक छटाँक यथार्थ को तुला पर मन भर का आदर्श नहीं तोला जा सकता।

आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की व्याख्या

आदर्शोन्मुख 'यथार्थवाद' मानव की दयनीय एवं कुरूपताओं से भरी हुई विषम परिस्थितियों की वास्तविक कठोरता में चमक जाने वाला वह काल्पनिक आलोक है जिसके द्वारा जीवन में निराश, परिस्थितियों की मार से घबड़ाये हुए तथा रास्ते में हताश मानव के अन्दर आशा और विश्वास का संचार हो जाता है। इसके द्वारा ही मानव समाज अपने जीवन की अनेक असफलताओं के बीच निरन्तर संघर्ष करते रहने पर भी निराश नहीं होना और भविष्य में जीवन की सफलता की बराबर कामना करता रहता है। आशा ही मानव जीवन में एक ऐसा तत्व है जो उसे गतिशील रखता है, नहीं तो वह कभी भी अपनी परिस्थितियों से संघर्ष करने का नाम भी न लेता। साहित्यकार कुछ ऐसे चरित्रों का निर्माण करता है जो आरम्भ में हमारे ऐसे ही रहते हैं, परन्तु जीवन के संघर्षों में रत रहने के कारण अन्त में समाज के एक ऐसे प्रतिष्ठित स्थान को प्राप्त कर लेते हैं जिसकी कल्पना हम अपने दयनीय जीवन में किया करते हैं। ऐसे ही पात्रों के द्वारा साहित्य में आशा के भावात्मक स्वरूप की साकार अभिव्यक्ति की जाती है।

सम्पूर्ण आधुनिक हिन्दी साहित्य के भीतर प्रेमचंदजी इस प्रकार के चरित्रों के निर्माण में सर्वोच्च कलाकार के रूप में स्वीकार किये जा सकते हैं। अतः आदर्शोन्मुख यथार्थवाद के सम्बन्ध में उनके मत को जान लेना हमारे लिए परम आवश्यक है। उनके अनुसार 'यह मानव स्वभाव है कि वह जिन छल-छद्मों तथा कुरुचिपूर्ण परिस्थितियों से स्वयं घिरा रहता है, उसका बार-बार विवरण नहीं सुनना चाहता, वह थोड़ी

देर के लिए ऐसे संसार में उड़कर पहुँच जाना चाहता है जहाँ उसके चित्त को कुत्सित भावों से नजात मिले, वह भूल जाय कि मैं चिन्ताओं के बन्धन मे पड़ा हुआ हूँ, जहाँ उसे सज्जन, सहृदय, उदार प्राणियों के दर्शन हों, जहाँ छल और कपट, विरोध और वैमनस्य का ऐसा प्राधान्य न हो।' किसी एक संकीर्ण क्षेत्र के अन्दर जब हम घिर जाते हैं और अथक परिश्रम के पश्चात् शिथिल हो जाते हैं तो इच्छा होती है कि मुक्त आकाश के अन्दर निकल कर किसी एक निकुंज में निर्मल स्वच्छ पवन का आनन्द लें, इसी आनन्द की पूर्ति आदर्शवाद करता है। वह हमें ऐसे चरित्रों से परिचित कराता है, जिसके हृदय पवित्र होते हैं जो स्वार्थ और वासना से रहित हैं, जो साधु प्रकृति के होते हैं।

अपनी वास्तविक स्थिति के आधार पर ही हम अपने भावी जीवन में एक आदर्श जीवन की कल्पना करते हैं। "यथार्थवाद यदि आँखें खोल देता है तो आदर्शवाद हमें उठा कर किसी मनोरम स्थान मे पहुँचा देता है।" परन्तु यथार्थवाद के अंदर सदैव यह भय बना रहता है कि साहित्यकार कहीं ऐसे चरित्रों का निर्माण न कर बैठे जो एकमात्र सिद्धांतों की मूर्ति ही हों: "किसी देवता की कामना करना मुश्किल नहीं, लेकिन उस देवता में प्राण प्रतिष्ठा करना मुश्किल है।' इसलिए उच्च कोटि का साहित्य वही कहा जा सकता है, जिसके अन्दर यथार्थ और आदर्श दोनों का समावेश हो जाय। दूसरे शब्दों में यही प्रेमचन्दजी का आदर्शोन्मुख यथार्थवाद है जिसके अनुसार आदर्श को सजीव बनाने के लिए ही यथार्थ का उपयोग होना चाहिए।

किसी भी चरित्र के श्रेष्ठ होने का अर्थ यह नहीं कि वह बिल्कुल दोषमुक्त हो। दुर्बलताओं का मनुष्य के अन्दर होना स्वाभाविक है और वही उसे मनुष्य बनाती है, नहीं तो वह उठकर देवताओं की श्रेणी में आ जाय, जिसका परिणाम यह होगा कि ऐसे चरित्रों से न तो हमारा विश्वास ही दृढ़ हो सकेगा और न तो उनसे हमें प्रेरणा ही प्राप्त हो सकती है।

हमारा प्राचीन साहित्य केवल मनोरंजन के लिए नहीं था, बल्कि उसका मुख्य उद्देश्य मनोरंजन के साथ-साथ आत्मपरिष्कार भी था। जिन चरित्रों का हम निर्माण करें वे यथार्थ हों और "उनके चरित्र दृढ़ हों, जो प्रलोभनों के सामने सिर न झुकायें बल्कि उनको परास्त करें, जो वासनाओं के पंजे में न फँसें बल्कि उनका दमन करें, जो किसी विजयी सेनापति की भाँति शत्रुओं का संहार कर के विजय नाद करते हुए निकलें।"

१—प्रेमचन्द—'उपन्यास' शीर्षक लेख से।
२—प्रेमचन्द 'उपन्यास' नामक लेख से।

आदर्शोन्मुख यथार्थवाद और प्रेमचन्द

'गोदान' को छोड़कर प्रेमचन्द के सभी उपन्यास आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की श्रेणी में रखे जा सकते हैं। हम उनके उपन्यासों के पूर्वार्द्ध में जीवन और जगत तथा तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों का यथार्थ चित्र अवश्य पाते हैं, परन्तु उत्तरार्द्ध तक पहुँचते-पहुँचते लेखक अपने आदर्शों की ओर उन्मुख हो उठता है। किसी भी रचना के विषय में निर्णय उसके अंगों को लेकर ही नहीं दिया जा सकता, बल्कि निर्णय देने के लिए कृति के अंदर निहित व्यापक भावना को परखना आवश्यक है तथा यह जान लेना आवश्यक है कि कृतिकार ने किस उद्देश्य से अपनी रचना की है। प्रेमचंदजी ने अपने साहित्य के द्वारा एक संदेश देना चाहा है। उनकी दृष्टि सुधारवादी रही है और वे वर्तमान समाज एवं परिस्थितियों को बदलना चाहते थे, जो अत्यंत लक्ष्यहीन एवं पतित हैं और जिनमें मानव जीवन दूभर हो गया है। डाक्टर श्रीकृष्ण लाल के शब्दों में "उन्होंने ही पहले-पहल अपने चरित्रों की शारीरिक और नैतिक विशेषताओं की ओर ध्यान दिया, उनकी व्यक्तिगत रुचि, आदर्श भावना तथा उनकी कमजोरी का चित्र पाठकों के सामने उपस्थित किया। उदाहरण के लिए 'सेवासदन' से पद्मसिंह को ले लीजिये।"[1] जो पद्मसिंह अपने नाम पर धब्बा लगने से बचने के लिए अपने घर से सुमन को निकाल देते हैं तथा वेश्या होने पर उससे पार्क में अकेले बातें करने में भी संकोच करते हैं, वही आगे चलकर अपनी गाड़ी बेचकर पैदल ही कचहरी जाकर तथा अपने अन्य आवश्यक खर्चों में कमी करके सुमन को पचास रुपये महीने देने को तैयार हो जाते हैं।

"प्रेमचन्द ने ही पहले-पहल दिखलाया कि मानव चरित्र कोई स्थिर वस्तु नहीं और न वह केवल श्वेत ही, वरन् उसमें श्वेत और श्याम का मिश्रण है[2]।" स्वयं प्रेमचन्दजी ने लिखा है कि "मानव चरित्र न बिल्कुल श्याम होता है, न बिल्कुल श्वेत, उसमें दोनों ही रंगों का विचित्र सम्मिश्रण होता है, किन्तु स्थिति अनुकूल हुई तो वह ऋषितुल्य हो जाता है और प्रतिकूल हुई तो नराधम।" यही परिस्थिति बदलने की प्रवृत्ति हमें इनके उपन्यासों में मिलती है। परिस्थितियों ने ही 'सुमन' को सुमन बाई बनाया और उन्हीं परिस्थितियों के अनुकूल होने तथा सत्पुरुषों के सम्पर्क में आने के कारण वह 'सेवासदन' की स्थापना भी करती है। इस प्रकार प्रेमचन्दजी ने देशव्यापी वेश्या-समस्या का अत्यन्त सुन्दर हल प्रस्तुत किया है जो आदर्शवादी ही है।

प्रेमचन्दजी के प्रत्येक उपन्यास में कोई न कोई तत्कालीन समस्या और उसका हल हमें अवश्य मिल जाएगा 'रंगभूमि' के अन्दर भारतीय ग्रामीणों के दैनिक संघर्षों की गाथा

१—डाक्टर श्रीकृष्णलाल—आधुनिक हिंदी साहित्य का विकास।

२—प्रेमचन्द 'उपन्यास' नामक लेख से।

है, 'सूरदास' जिसके प्रतिनिधि स्वरूप चित्रित किया गया है। इस उपन्यास के अन्दर जितने धीरोदात्त पात्रों की सृष्टि लेखक ने की है, उतने उसके अन्य उपन्यासों में नहीं मिलते। 'सूरदास' के समान चरित्र तो सम्पूर्ण हिन्दी उपन्यास साहित्य में दुर्लभ ही है। इसके अन्दर 'सोफिया' के समान कई आदर्शवादी पात्र भरे पड़े हैं जो सदैव आनन्द के ही स्वप्न देखा करते हैं।

'प्रेमाश्रम' के अन्दर तो लेखक ने अपने आदर्श समाज की स्थापना भी कर दी है। अनेक ऐसे व्यक्ति जो भारतीय जीवन से बहुत दूर थे, अपने विलासी जीवन का परित्याग करके प्रेमशंकर के साथ 'प्रेमाश्रम' में सेवाकार्य करने लग जाते हैं। डिप्टी ज्वालासिंह का पदत्याग करके 'प्रेमाश्रम' में आ जाना कुछ अस्वाभाविक अवश्य लगता है, परन्तु 'बापू' की वाणी में वह शक्ति थी कि एक 'ज्वालासिंह ने ही नहीं अनेक ज्वालासिंह ने अपने वैभव-विलास पर ठोकर मारी, यहाँ तक कि स्वयं लेखक ने अपनी सरकारी नौकरी छोड़ दी थी। परन्तु समाज में ऐसे लोगों की संख्या गौण ही है और वे समाज के लिए आदर्श ही कहे जाएँगे।

'कायाकल्प' के अन्दर हिन्दू मुस्लिम-वैमनस्य को सुलझाने की ओर लेखक की दृष्टि गई है। समय की महानतम आवश्यकता को समझने के लिए महान् होना आवश्यक है, जो महानता 'प्रेमचन्द' को प्राप्त थी। 'निर्मला' के अन्दर अनमेल ब्याह तथा विधुर परिणय के परित्याग का सन्देश है। 'गबन' जिसका मुख्य उद्देश्य मनोरंजन है, उसमें भी प्रेमचन्दजी ने एकाध ऐसे पात्र निर्मित कर ही दिए हैं, जिनकी नस-नस में देशभक्ति प्रवाहित है। विदेशी वस्त्र की दूकानों पर धरना देते समय दो-दो जवान बेटों को गोली से उड़ा देने पर भी जो कहने का दावा रखते हैं, "उस वक्त ऐसा जान पड़ता था कि मेरी छाती गज भर की हो गई, पाँव जमीन पर न पड़ते थे, यही उमंग आती थी कि भगवान ने औरों को पहले न उठा लिया होता तो उन्हें भी भेज देता।" 'कर्मभूमि' में राष्ट्रीय संग्राम में लड़ने वाले वीर स्त्रियों और पुरुषों की आदर्श कहानी है। 'गोदान' के अन्दर 'मालती' का जीवन आधुनिक शिक्षित आदर्श नारी का जीवन है, जिस पर पाश्चात्य संस्कृति की छाप है। परन्तु अन्त तक जाते-जाते लेखक ने उसे तितली से देवी बना ही दिया। 'मालती' के द्वारा प्रेमचन्द ने आदर्श की स्थापना नहीं करनी चाही है, बल्कि उन्होंने केवल समाज में मिलने वाली उस प्रकार की स्त्रियों का भी चित्र लगे हाथ खींच लिया है, क्योंकि अपनी अन्तिम कृति को वे सभी प्रकार के चित्रों से सजाना चाहते थे।

आदर्शोन्मुख यथार्थवाद और जयशंकर प्रसाद

बाबू जयशंकर प्रसाद का उपन्यास-साहित्य में प्रवेश एक बहुत बड़ी घटना है। उन्होंने अपने उपन्यास 'कंकाल' के द्वारा उपन्यास-साहित्य में एक मोड़ उपस्थित किया।

कङ्काल दो प्रकार की प्रवृत्तियो का सधि-स्थल है। आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की जो धारा अप्रतिहत वेग से बहती चली आ रही थी, 'कङ्काल' ने उसे विभाजित कर दो धाराओ मे परिवर्तित कर दिया। 'कङ्काल' के अन्दर आदर्शोन्मुख यथार्थवाद तथा 'प्रकृतवादी' विचार-धारा का सामजस्य मिलता है। सम्भवत इसी उपन्यास के द्वारा हिन्दी साहित्य में 'प्रकृतवादी' उपन्यासो का इतिहास आरम्भ हो जाता है। लेखक ने इसके अन्दर सामाजिक कुरूपताओ को दिखलाकर एक आदर्श समाज की कल्पना की है। उसमें प्रायः सभी पतित पात्रो का अन्त में चलकर सुधार कर लिया गया है। 'विजय' ने जीवन मे पिसना, दाने-दाने को तडपना, भीख माँगना तथा अपनी समस्त पैतृक सम्पत्ति को लात मार देना, आदि सभी स्वीकार किया, परन्तु उसने साहसपूर्वक समाज से विद्रोह किया। यमुना का नौकरी के बल पर 'विजय' के पिता से रुपये प्राप्त कर उसके 'कङ्काल' की अन्त्येष्टि क्रिया करना एक अत्यन्त ही आदर्श करुण घटना है।

'तितली' की कथावस्तु तथा उसका विषय विस्तार हमारे अधिक समीप है। 'कङ्काल' की भाँति उसकी कथा महतो के अखाडो और नगर के गली वालो के घर तक ही सीमित नही, बल्कि वह उडकर खेतो और खलिहानो में भी आई है। 'प्रसाद' जी मानवतावादी लेखक थे, अत. उनका पूर्ण विश्वास है कि मानव के अच्छे सस्कार कभी मिटते नही और वे अवसर पाकर अवश्य ही प्रकट हो जाते हैं। इसकी कथा बिल्कुल काल्पनिक है, परन्तु लेखक ने उसे अत्यधिक यथार्थवादी बनाने का प्रयत्न किया है, नही तो वेश्या 'मैना' का सुधार उन्होने अवश्य कर लिया होता। परन्तु फिर भी वह प्रणय के सामने रुपयो को हेय समझती है और उसे मधुबन के आग्रह पर ही रख लेती है। भले ही वह बाद को परिस्थितियों मे बदल जाती है और उसे कारावास का दड दिलवाती है।

इसके अन्दर अग्रेजी और भारतीय सभ्यता का चित्र है। तितली के चरित्र को दिखलाकर 'प्रसाद' ने राष्ट्रीय सीमाओ को अन्तर्राष्ट्रीय सीमाओ में मिला दिया है। 'वाटसन' द्वारा 'शैली' के वैवाहिक सम्बन्धो का समर्थन करना एक आदर्श सभ्यता का प्रतीक है। यह रचनाकार की असली नीयत जान पडती है। उसने प्रासगिक कथानको के द्वारा ग्राम-सुधार की योजना, रामवारी व रहीम की गोल, जो गिरहकटी करवाता था, अनवरी' की कुटिलता, महन्त की पाप-लीला, बिहारीजी के नाम पर सूद खाना तथा वेश्या नचाने के साथ-साथ ठाकुरजी की पूजा भी करना, आदि सामाजिक प्रसगों का यथार्थ चित्र उपस्थित किया है। 'तितली' संसार के प्रपच के झकोरो से छिन्न भिन्न होकर खो नही जाती, बल्कि उस 'मधुबन' और अतीत की उन थोडी सी मधुमय घडियो की स्मृति को हृदय में छिपाए हुए धर्म-सग्राम में जुटी रही और उस दिन की प्रतीक्षा करती रही, जब कि उसका देवता आया और उसकी तपस्या को

वरदान से भर दिया। 'प्रसाद' जी के हृदय की नारी-भावना 'तितली' के रूप में अवतीर्ण हुई है।

आदर्शोन्मुख यथार्थवाद और 'कौशिक'

विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' के दो प्रसिद्ध उपन्यास 'माँ' और 'भिखारिणी' उपन्यास-सम्राट 'प्रेमचन्द' के ही चरण-चिह्नों पर चलकर लिखे जान पड़ते हैं। जहाँ पर कौशिकजी ने, 'गोकुल' और 'विश्वनाथ' के साथ 'श्यामू' को वेश्यालय में ले जाकर उस स्थान का यथार्थ वातावरण उपस्थित किया है तथा 'सावित्री' ऐसी मूर्ख माताओं के दुष्परिणाम का फल दिखलाया है, वहाँ पर 'सुलोचना' ऐसी आदर्श माता की भी कल्पना की है।

'भिखारिणी' के पात्र प्रेमचन्दजी के पात्रों की भाँति ही वर्ग प्रधान हैं। एक-एक पात्र के चरित्र को चित्रित करके कौशिक जी ने उस प्रकार के पाए जाने वाले पात्रों के समाज को चित्रित कर दिया है। 'रामनाथ' आजकल के उन प्रेमी हृदयधारियों का प्रतीक है जो कहीं भी रूप और यौवन देखकर मचल पड़ते हैं, परन्तु परीक्षा के समय दृश्य से दूर हट कर तटस्थ हो जाते हैं। समाज की आँख बचाकर यदि उनकी कामनाएँ पूरी हो सकें, तो बराबर प्रेम-सागर में वे बेदिल बने रहें। आज भी ऐसे रोमैण्टिक युवकों के चंगुल में फँसकर कितनी ही सुकुमार कलियाँ समय से पहले ही मसल दी जाती हैं। जस्सो पर सब कुछ न्योछावर करने वाला रामनाथ अपने पिता के सामने कभी अपनी इच्छा तक भी नहीं प्रकट कर पाता। इससे लगता है कि सम्पूर्ण दान-शीलता केवल उसकी रूपलिप्सा का आधार लेकर खड़ी हुई थी। उसने भोजन और साड़ी भिखमंगे की दीनता पर नहीं, बल्कि भिखारिणी के उमड़ते हुए यौवन और रूप के सामने पराजित होकर दिया था। वह अपनी दयालुता के बोझ से रूप का सौदा पटाना चाहता था।

यह उपन्यास कथावस्तु प्रधान नहीं, बल्कि चरित्र प्रधान है। केवल शिकार खेलते समय हमें यथार्थ का एक खंड चित्र मिल जाता है। लेखक को अभीष्ट था, भिखारिणी का चरित्र-चित्रण करना, जिसमें लेखक आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की ओर स्पष्ट रूप से प्रवृत्त जान पड़ता है। 'भिखारिणी' आरम्भ से ही हमारे सामने एक आदर्श मूर्ति के समान आती है। वह अन्त तक, चाहे भिखारिणी रही हो, चाहे 'रामनाथ' के यहाँ दासी का काम करती रही हो अथवा अपने बाबा की सम्पत्ति की रानी रही हो, और यहाँ तक कि समाज ने जब उसे पुनः भिखारिणी बनने के लिए बाध्य किया, जिसे उसने सहर्ष स्वीकार भी कर लिया, अपने विचारों और संस्कारों में समान रही, कहीं भी किसी प्रकार के विकार उसके मन में उठने ही नहीं पाए हैं। सुहागरात के समय नव-वधू का शृङ्गार करते समय उसका स्त्री जनोचित गुण अपनी पराकाष्ठा को पहुँच गया है,

क्योंकि वह अपना 'प्राण' दे रही थी। ऐसी भिखारिणी समाज में अधिक नहीं एकाध ही मिलती हैं। इस उपन्यास के चरित्रों में यथार्थता है, परन्तु वस्तु विषय में नहीं। इसमें 'भिखारिणी' के अनुपम अनुराग और त्याग की करुण कहानी है।

आदर्शोन्मुख यथार्थवाद और वृन्दावनलाल वर्मा

वृन्दावनलाल वर्मा ऐतिहासिक उपन्यासकार के रूप में अत्यधिक विख्यात हैं, परन्तु उन्होंने अपने ऐतिहासिक पात्रों का जो निर्माण किया है, वे शुद्ध आदर्शवादी हैं। उनकी यह सबसे बड़ी विशेषता रही है कि ऐतिहासिक तथ्यों के साथ रोमैण्टिक तत्वों का उन्होंने मणि-कांचन योग कराया है।

हृदय के अन्दर प्रेम की अपार वेदना लिए रहने पर भी इनके नायक और नायिकाएँ अवसर पाने पर भी शारीरिक सम्बन्धों से वंचित ही रह जाती हैं। 'वर्मा जी ने जो सिद्धान्त की खाईं प्रेम की धारा में डाल दी है, वह सरस-पाठकों को बिना अखरे नहीं रहती। इसके अनेक उदाहरण 'झांसी की रानी' में चलने वाली प्रासंगिक प्रेम-कथाओं में भरे पड़े हैं।

ऐतिहासिक उपन्यासों के अतिरिक्त वर्माजी के उपन्यासों में सामाजिक समस्याओं के चित्र एवं उनके हल भी आए हैं। उन्होंने 'गलन' नामक उपन्यास में दहेज प्रथा के प्रति विद्रोह करने का सन्देश दिया है। सौ भैंस की शर्त जो दहेज में की गई थी, अधूरी रहने पर दो विवाहितों को विद्रोह करना पड़ता है और 'देवसिंह' ससुराल में जाकर मारपीट करता है तथा 'रामा' बेतवा नदी पार कर ससुराल 'बरौन' चली जाती है। 'संगम' में जाति-मोह, जो समाज के विकास में बाधक स्वरूप खड़ा है, की भर्त्सना की गई है। 'गंगा' के साथ रामचरण का पाणिग्रहण कराकर वर्माजी ने समाज में नयी मान्यताओं की आवश्यकता की ओर संकेत किया है। 'कुंडलीचक्र' में एक ओर जहाँ पर 'भुजबल' ऐसे स्वार्थी विश्वासघाती तथा कामी पुरुष का यथार्थ चित्रण है, वहीं पर दूसरी ओर 'अजीतकुमार' मास्टर तथा 'रतन' का चरित्र आदर्श की ओर उन्मुख है।

अंचल

देश के स्वतन्त्रता संग्राम के समाप्त हो जाने तथा भारत स्वतंत्र होने के पश्चात्, राष्ट्र एवं समाज की समस्याओं में भी परिवर्तन उपस्थित हो गया है। देश के विभाजन तथा जाति पाति के सूक्ष्म मसलों ने नयी नयी समस्याएँ उपस्थित कर दी हैं, जिसमें इस समस्या को लेकर अनेक नये आदर्शोन्मुख यथार्थवादी उपन्यास रूपक क्षेत्र में आ गए हैं। देश के अन्दर महिला जागरण ने समाज के अन्दर नये आदर्शों की माँग अति आवश्यक बना दी है। जाति-पाँति के भेद भाव को तोड़कर, प्रेम परिणय तथा विधवा-विवाह कर लेना आज का सबसे बड़ा सामाजिक आदर्श है। अंचल ने अपने 'अति मौलिक' सामाजिक उपन्यास

'नयी इमारत' के पूर्वार्द्ध में राजनैतिक आन्दोलनों का अति सजीव चित्र उपस्थित किया है, जो अहिंसावादी और क्रान्तिवादी दो भावनाओं में विभक्त है। इसके अन्दर 'महमूद' को नायक बनाकर तथा 'भारती' नामक राजपूतानी को उसकी प्रेमिका बना देना निश्चित ही लेखक की मौलिक उद्भावना है। भारती का पिता से विद्रोह करना, पुलिस कप्तान से शादी करने से इन्कार कर देना तथा महमूद के लिए घर से निकलने के लिए सहर्ष तैयार हो जाना, निश्चित ही समाज के प्रति खुला विद्रोह है, जिसकी आवश्यकता लेखक ने समझी है और पाठकों की सहानुभूति निश्चय ही उनके साथ होगी। 'महमूद' और 'भारती' का रोमांस 'प्रकृतवाद' के अधिक निकट है। जेल से लौट आने पर 'महमूद' और 'भारती' के रात्रि-मिलन का प्रसंग तो मानव दुर्बलताओं का नग्न चित्र-सा ही जान पड़ता है। परन्तु एकाएक 'महमूद', जो कि पहले एक कामुक प्रेमी के रूप में था, जिसने पिता के समान पालने वाले व्यक्ति की बहन के समान कन्या 'भारती' से असामाजिक होते हुए प्रेम किया, देवता से भी कुछ अधिक श्रेष्ठ हो जाता है और 'भारती' का मदोन्मत्त आलिंगन अस्वीकार कर देता है, जिससे अन्त में दोनों का शारीरिक सम्बन्ध नहीं ही होने पाता। अस्वाभाविक भले ही हो परन्तु यहाँ पर लेखक ने यथार्थ का गला घोंट कर आदर्श की प्रतिष्ठापना की है। हिन्दू-मुस्लिम एकता की ओर आग्रह तथा खान-पान के भेद के प्रति घृणा का दृष्टिकोण है।

प्रेमचन्दोत्तर उपन्यास साहित्य में यथार्थवाद

प्रेमचन्दजी के बाद लिखे जाने वाले सामाजिक उपन्यासों में उनके साहित्य की भाँति हमें आदर्शवादी चित्रों के दर्शन नहीं होते, वल्कि समाज की वास्तविकता को अधिक से अधिक उसके प्रकृत रूप में सामने लाने का ही प्रयत्न किया गया है। उपन्यासों के अन्दर चित्रण की इस वास्तविक शैली को 'सामाजिक-यथार्थवाद' के नाम से अभिहित किया जा सकता है जिसे अंग्रेजी साहित्य मे 'क्रिटिकल यथार्थवाद' कहते हैं।

सामाजिक-यथार्थवाद

सामाजिक-यथार्थवाद का अर्थ है समाज की वास्तविक अवस्था का यथार्थ चित्रण। परन्तु साहित्य के अन्दर किसी भी वस्तु का तद्वत् चित्र उतार कर रख देना कठिन होता है क्योंकि साहित्यिक चित्र कैमरे द्वारा लिया गया चित्र नहीं होता, वल्कि वह साहित्यकार की लेखनी के द्वारा चित्रित किया गया ऐसा चित्र होता है, जिसमें साहित्यकार के अनुभव एवं कल्पना के सुन्दर रंग ढले होते हैं। सामाजिक विषमताओं, भ्रष्टाचारों तथा वैयक्तिक स्वार्थों से आक्रांत, पीड़ित समाज की दयनीय परिस्थितियों को उसके वास्तविक रूप में समाज के सामने प्रस्तुत करना सामाजिक यथार्थवाद का प्रधान लक्ष्य है। सामाजिक यथार्थवादी साहित्यकार समाज और व्यक्ति के पारस्परिक सम्बन्धों, उसके प्रत्येक आचार-विचारों तथा उसकी राष्ट्रीय आर्थिक एवं नैतिक अवस्थाओं का मूल्यांकन तत्कालीन परिस्थितियों के आधार पर करता है। वह केवल, समाज जैसा है वैसा ही उसका वर्णन मात्र नहीं कर देता, बल्कि उसको इस रूप में प्रस्तुत करता है जिससे पाठक युग के सत्य एवं समाज मे होने वाले कार्य-व्यापारों के औचित्य तथा अनौचित्य को सरलता से परख सकें और उन मर्यादाओं का अनुसरण कर सकें जिन पर चलकर एक आदर्श समाज की स्थापना हो सके।

आदर्श समाज के मानदंड तथा उस तक पहुँचने के साधन कालानुसार बदलते रहते हैं। यही कारण है कि इनके सम्बन्ध मे साहित्य के अन्दर किसी एक निश्चित मानदंड की स्थापना नहीं की जा सकी है। समाज के विकासशील होने तथा उसके अन्य सामयिक समाजों से प्रभाव ग्रहण करने के कारण उसके विविध रूपों में परिवर्तन उपस्थित होना आवश्यक ही है। यदि हम सम्पूर्ण सामाजिक उपन्यासों को एक

ऐतिहासिक दृष्टि से देखने का प्रयत्न करें तो सरलता से हमें समाज के बदलते हुए मानदंडों की गतिविधि का पूर्ण ज्ञान हो जायगा। इन्ही सामाजिक परिस्थितियों के चित्रण की आवश्यकताओ ने ही साहित्य में उपन्यास को जन्म दिया, जिससे आरम्भ में सामाजिकता से परे उपन्यास की कोई अन्य कल्पना ही नही की जाती थी। परन्तु विज्ञान की बढ़ती हुई शक्तियों ने मनुष्य के सोचने के ढंग में जो नवीनता ला दी, उसने उसे बुद्धिवादी बना दिया, जिसके कारण 'कला' एवं 'वादो' के नाम से अनेक असामाजिक वस्तुएँ भी उपन्यासो में प्रवेश पा गई हैं।

यो तो उपन्यासो के भीतर मानव-जीवन के प्रत्येक पहलुओं पर सविस्तार विचार किया गया है, परन्तु आदि से लेकर अन्त तक उसकी कथा में प्रेम तत्व की ओर विशेष आग्रह दिखलाई पड़ता है। इस प्रकार के सम्पूर्ण सामाजिक उपन्यासो को हम तीन श्रेणियो में बाँट सकते हैं, जब कि समाज के आदर्शों मे हमे परिवर्तन दिखलाई पड़ते है—(१) पहला तो है पूर्व प्रेमचद युग, जिसका आरम्भ लाला श्रीनिवासदास के 'परीक्षा गुरु' नामक उपन्यास से होता है और जिसके अन्दर देवकीनन्दन खत्री तथा गोपालराम 'गहमरी' आदि के जासूसी एवं तिलस्मी उपन्यास लिखे गए। (२) दूसरा है प्रेमचद युग, जो उनके 'सेवासदन' नामक उपन्यास से आरम्भ होता है और जिसके अन्दर जयशंकर प्रसाद तथा पण्डित विश्वम्भर नाथ शर्मा 'कौशिक' आदि की अधिकाश रचनाएँ आती हैं। (३) और तीसरे को हम प्रेमचन्दोत्तर युग के नाम से पुकार सकते हैं, जिसके अन्दर जैनेन्द्रकुमार, सियाराम शरण गुप्त, प्रतापनारायण श्रीवास्तव, भगवतीचरण वर्मा, राधिकारमण सिंह श्रीनाथ सिंह, यशपाल, भगवती प्रसाद वाजपेयी, उपेन्द्रनाथ अश्क, रागेय राघव तथा 'अञ्चल' आदि की अधिकाश रचनाएँ आती हैं। इस तीसरे खेवे के उपन्यासो के अन्दर समाज के नवीनतम मानदंडो को स्थापित करने तथा प्राचीन आदर्शों एवं परम्पराओ को निर्मूल करने की होड सी लगी है। मान-दंडो के सम्बन्ध मे नवीनतम प्रयोग किए जा रहे हैं, कोई भी निश्चित सिद्धान्त नहीं रह गया है, जैसा कि पूर्व के दो खेवे के उपन्यासो मे मिलता है।

पहले और दूसरे खेवे के उपन्यासो मे अलग अलग उनकी एक निश्चित परम्पराओ तथा आदर्शों का पालन किया गया है। अधिकाश उपन्यासकार ऐसे ही थे भले ही एकाध घोडा में से गधे अथवा नकश्तों में नकलोल निकल आएँ। 'परीक्षा गुरु' के अन्दर हमे प्रेम के परिचित दायरे के बाहर जीवन के अन्य पक्षो की एक झलक मिलती है। 'चद्रकाता' के अन्दर स्वच्छन्दवादी प्रेम का वर्णन है। तिलस्मी उपन्यासो मे राजकुमारो एवं राजकुमारियो की प्रेम कहानियो की कथा कही जाती थी।

पौराणिक कथानको को लेकर जिन उपन्यासो की रचना होती थी, उनका एकमात्र उद्देश्य प्राचीन साहित्य एवं संस्कृति से लोगो को परिचित करना था। उनके द्वारा

स्त्री-शिक्षा का प्रसार, आदर्श नायक और नायिकाओ का निर्माण नमूने के लिए किया गया।

प्रेमचन्दजी का हिन्दी साहित्य मे प्रवेश उपन्यास साहित्य के इतिहास मे एक घटना है। इन्होने समाज के व्यापक स्वरूप को अपनाया और विविध रूपो में उसकी अनेक प्रकार से व्याख्या की। प्रेमचन्दजी स्वभाव से आदर्शवादी रहे। इन्होने तत्कालीन समाज की समस्याओ को सामने रखा और अपने ढग से उपन्यासो के द्वारा उनका हल भी प्रस्तुत करना चाहा है। 'सेवासदन' की स्थापना तथा 'प्रेमाश्रम' का निर्माण इसी प्रवृत्ति द्वारा प्रेरित होकर समाज में प्रस्तुत वेश्याओ की समस्या तथा ग्रामीण जीवन के उद्धार को लेकर किया गया था।

प्रेमचन्दजी ने स्त्री-पुरुष मे प्रेम का हो जाना स्वाभाविक माना है, परन्तु उनकी दृष्टि मे वास्तविक प्रेम वही है जिसका अन्त विवाह हो। इसके अतिरिक्त प्रेम प्रेम नहीं है, बल्कि वह वासना से कलुषित है, जिसकी ससार मे निन्दा होती है। ऐसा करने से समाज में विवाह की मर्यादा भग हो जाएगी। इस प्रकार प्रेमचन्दजी मर्यादावादी उपन्यासकार थे। वे समाज को उसके आदर्शों से अवगत कराकर उसे उसी ओर ले जाना चाहते थे। समाज के प्रति इनकी जो आदर्शो-मुख यथार्थवादी दृष्टि रही, जिसका पालन जयशकर प्रसाद की 'तितली' तथा 'कौशिक' आदि अन्य उपन्यासकारों की रचनाओं में प्रभूत मात्रा में हुआ है, उसकी व्याख्या मैंने इससे अधिक विस्तृत रूप मे 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' नामक शीर्षक में कर दी है।

सामाजिक यथार्थवाद और 'कंकाल'

प्रेमचन्दजी के पश्चात् सामाजिक उपन्यासो की वर्णन शैली मे महान परिवर्तन उपस्थित हुआ और आदर्शो मुख यथार्थवाद से हटकर उपन्यासो मे वास्तविक यथार्थ का चित्रण आरम्भ हुआ। 'प्रसाद'जी का 'कङ्काल' नामक उपन्यास इस वर्णन शैली का अग्रदूत बनकर आया और वह इस दिशा में हिन्दी-साहित्य में अपने ढग का अकेला उपन्यास है। 'कङ्काल मे मनुष्य को अनावृत्त करके देखने का प्रयास किया गया है। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई ये सब भेद मनुष्यकृत हैं। धार्मिकता के आडम्बर एवं उच्च-कुलोद्भवता के अहकार आदि के नीचे मनुष्य की पशुप्रवृत्ति सजग रहती है।' इसके अन्दर समाज के दलित दुखी और कलङ्कित पक्षो को चित्रित करके समाज को चुनौती दी गई है। "देखो, समाज के इस पतित दलित अंग की ओर भी देखो। तुम्हारी अवहेलना से कितनी महत्ता नष्ट हुई जा रही है। जिनको तुम पतित कहकर ठुकराते हो, उनको सहानुभूति की दृष्टि से देखो, मालूम होगा कि वे उनसे भी महान हैं, जिन्हें तुम महान समझते हो। जिन्हें तुम पतित समझते हो उनमे जीवनोत्थान की आकाक्षा भी है, परन्तु तुम्हारे अत्याचार ने उनकी उन्नति के सब अवसर छीन लिए।"

हिंदी उपन्यासों के भीतर वास्तविक यथार्थ चित्रण की प्रवृत्ति का प्रारम्भ मुख्यतया सर्वप्रथम हमें बाबू जयशंकर प्रसाद के 'कङ्काल' नामक उपन्यास में मिलता है। साहित्यकार अपने समय के सभी वातावरणों से प्रभावित होता है। प्रेमचंदजी के समकालीन होने के नाते आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की छाया या एक हलका सा स्पर्श 'कङ्काल' पर भी अवश्य मिल जाता है, परंतु उपन्यास के व्यापक प्रभाव से यही जान पड़ता है कि कृतिकार की मूल प्रेरणा यथार्थवादी ही थी। आवरण के भीतर चलने वाली पाप-लीला का नग्न ताडव लेखक को सह्य नहीं था, जिससे वह वास्तविकता को उसके नग्न रूप में उभार कर समाज के सामने रखकर उसकी आँखें खोल देना चाहता है। 'कङ्काल' की कथावस्तु को देखकर ऐसा जान पड़ता है कि इसमें समाज को देखने की जो दृष्टि रही है वह एकांगी है। लेखक ने मानव की दुर्बलताओं और सामाजिक भ्रष्टाचारों का ही सजीव चित्र खींचना चाहा है। यही कारण है कि उसे अपने चित्रों को ढूँढ़ने के लिए देश के कोने-कोने में भटकना पड़ा है, जिससे उपन्यास कुछ अप्राकृतिक भी हो गया है। परन्तु लेखक यदि ऐसा न करता तो उसका लक्ष्य ही अधूरा रह जाता।

'कङ्काल' यथातथ्यवादी उपन्यास का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि इस रचना का कोई सामाजिक मूल्य है ही नहीं। प्रत्येक साहित्य के अन्दर किसी न किसी प्रकार का सामाजिक हित अवश्य ही वर्तमान रहता है। साहित्य के द्वारा समाज के सामने एक काल्पनिक सुखी समाज के सुखमय जीवन का चित्र उपस्थित करके यथावत् जीवन प्राप्ति की एक ललक पैदा की जा सकती है, परंतु असहाय मानव कभी-कभी अपने को नियति के हाथ समर्पित कर अपने को अपात्र समझ बैठता है और उस सुखमय जीवन को कोरी कल्पना ही मान बैठता है। कभी-कभी लेखक समाज के ऐसे कुरूप एवं भ्रष्ट चित्रों को उद्घाटित करता है, जिसके ऊपर रंगीन पर्दे डाल दिये गए हैं और जिसके भीतर लोभी, स्वार्थी और कामी मानव जीवन की नर-पिशाच लीला चला करती है, जो नाबदान के कीड़ों की भाँति बिलबिला रहे हैं, ऊपर केवल रंगीनियाँ है। इसी आवरण के हट जाने पर लोगों की आँखें खुल सकती हैं और तब निश्चित है कि स्वभाव से ही मानव को घृणा उत्पन्न होगी क्योंकि बुरे से बुरा व्यक्ति भी अपने को समाज के सामने बुरा नहीं देखना चाहता। इस प्रकार अपनी बुराइयों तथा कमजोरियों को जानकर ही हम उससे अपने को बचा सकते हैं।

धर्म के नाम पर कितने अत्याचार होते हैं, मठों के अन्दर महथों की कैसी रास-लीला चलती है, समाज के अन्दर कितने ऐसे बगुला भगत हैं जिनके द्वारा भोले मनुष्य छल लिए जाते हैं। देव निरंजन जो कुम्भ के अन्दर सबसे बड़ा महात्मा है, किस प्रकार किशोरी, जो उसकी बालसखा थी, तथा 'रामा' जो 'तारा' और बाद में 'यमुना' की माँ थी, के साथ अपनी काम-क्रीडा कर चलता है और समाज के सामने उसके सम्मान में भी किसी प्रकार की ठेस नहीं लगने पाती। इतना ही नहीं,

उसे आत्म-ग्लानि भी नहीं होती, बल्कि अपने कुकृत्यों तथा पापों को पुण्य तथा औचित्य का रूप देने के लिए दर्शन के सिद्धान्तों तथा 'विश्वामित्र' आदि ऋषियों की कथा का स्मरण कर लेता है।

हम देखते हैं कि किस प्रकार जो हम करते हैं, वही दूसरे में देखकर, उसे बुरा कहते हैं। हम जो करते वह उचित और ग्राह्य है तथा वही जब दूसरे करने लगते हैं तो हमें अनुचित लगने लगता है। 'श्रीचन्द' 'किशोरी' को इसलिए छोड़ देता है कि उसे गर्भ हो गया है जो दूसरे का है, परन्तु वह स्वयं एक विधवा से प्रेम-क्रीड़ा करने में जरा भी नहीं हिचकता और समाज की आँखों में नेक बने रहने के लिए उसकी पुत्री का व्याह अपने बेटे 'विजय' से करके उसकी आड़ में मजे उड़ाना चाहता है। 'मंगलदेव' 'यमुना' को इसीलिए गर्भवती करके छोड़ देता है और व्याह नहीं करता कि वह अकुलीना है, जब कि 'मंगलदेव' के कुल का भी कोई निश्चित पता नहीं, तथा एक अधार्मिक संतति 'गाला' से वह आगे चलकर व्याह भी कर लेता है, जो मुसलमान 'माँ' की पुत्री थी और वही अधर्मी होते हुए भी धर्म का नेता तथा धर्म-ध्वजधारी बनकर चलता है।

'विजय' ने चूँकि समाज से विद्रोह किया, इसलिए पिसता गया, दाने-दाने को तड़पा, भीख माँगता फिरा, उसके रहते हुए भी उसके माता तथा पिता ने दत्तक लिए और उसके 'कङ्काल' की अन्त्येष्टि क्रिया करने के लिए रुपए 'यमुना' को उधार के रूप में लेने पड़े। 'बाथम पादरी' ने 'लतिका' को भ्रष्ट किया और 'घण्टी' पर भी हाथ फेरना चाहता था। 'घण्टी' की माँ ने भी 'घण्टी' को साधुओं तथा सन्तों से ही पाया था। परन्तु वही जब यह ज्ञान जाती है कि यमुना गर्भवती है, तो वह उससे घृणा करने लग जाती है। प्रयाग, काशी, हरिद्वार, मथुरा, वृन्दावन आदि तीर्थों में होने वाली पाप-लीला तथा समाज सेवा दल 'भारत संघ' आदि संस्थाओं के कारनामों का लेखा इस उपन्यास में लिखा गया है। एक आवरण के भीतर, कितनी कुरीतियाँ फैली हुई हैं तथा उसके "भीतर जो पुण्य के नाम पर धर्म के नाम गुलछर्रे उड़ा रहे हैं, उनमें वास्तविक भूखों का कितना भाग है, यह पत्तों के लूटने का दृश्य बता रहा है।" प्रसादजी ने जो चित्र उपस्थित किए हैं, वे उनके उच्चकोटि के कवि तथा 'वाणी' के वरद पुत्र होने के कारण यहीं-कहीं भावुकतावश काल्पनिक अवश्य हो गये हैं।

जैनेन्द्रकुमार और सामाजिक यथार्थवाद

प्रेमचन्दयुगीन प्रभाव के समाप्त होने पर उपन्यासकारों के सामने इतनी समस्याएँ एक साथ आ गईं कि उनके लिए यह अत्यन्त कठिन हो गया कि वे सरलता के साथ किसी एक निश्चित सिद्धांत अथवा आदर्श का निर्माण कर सकें। इसका कारण यह था कि प्रेमचन्दजी के समय की परिस्थितियाँ बिल्कुल बदल चुकी थीं, उनके समय में जो

राजनैतिक, धार्मिक एवं सामाजिक अवस्थाएँ थीं, उनमें बहुत कुछ सुधार किया जा चुका था। यह युग जागरण के कारण नवीन दिशाओं की ओर मोड़ ले रहा था। प्राचीन रूढ़िगत परम्पराओं एवं सामाजिक आदर्शों की निस्सारता प्रकट हो जाने तथा उनके निराकरण के उपयुक्त समाधानो के अभाव में नवीन प्रतिमाएँ नूतन मार्ग ढूँढने लग गई। देश-काल में परिवर्तन आने के कारण पीछे छूटी हुई सामाजिक मान्यताओं का केवल ऐतिहासिक मूल्य ही रह जाता है। सभ्यता की दौड़ में जैसे-जैसे मनुष्य आगे बढ़ता जाता है, वैसे ही वैसे वह अपने लिए नये बंधन भी बिछाता जाता है। अन्तिम खेवे के उपन्यासो में नवीन मान्यताओं के प्रति केवल आग्रह ही नहीं मिलता, बल्कि रूढ़िगत सामाजिक बन्धनो के प्रति विद्रोह तथा उनको समूल नष्ट करने की आकांक्षा भी पाई जाती है।

जैनेन्द्रकुमार की दृष्टि यद्यपि उपन्यासों में मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भावनाओं के चित्रण करने की ओर अत्यधिक है, फिर भी उन्होने सामाजिक सिद्धान्तो की चहारदीवारी के बाहर झाँका है। वे सिद्धान्तों और विचारो की भूलभुलैया मे फँसना उचित नहीं समझते और न तो उन्होने उपन्यासो के द्वारा उपदेशक बनना ही उचित समझा है। जैनेन्द्रजी ने हिन्दू नारी के चार चित्रो का निर्माण किया है। 'कट्टो', 'सुनीता', 'मृणाल' और 'कल्याणी' उनके नारी पात्र हैं, इनके अतिरिक्त उन्होंने कुछ पुरुष पात्रो का भी निर्माण किया है। हिन्दू-गृहस्थ के घर का पर्दा उठाकर आपने अन्दर झाँकने का प्रयत्न किया है। इनके अन्दर पाठको को सामयिक सामाजिक नवनिर्माण की ओर भरपूर झुकाव दिखलाई पड़ेगा। 'परख' की बाल विधवा और अन्तिम अंश 'सुनीता' की पतिसमर्पित ब्याहता, जो पति की इच्छा के लिए हो एक गुमराह तथा 'सेक्स' के प्रति कुण्ठित व्यक्ति को मानवीय बनाना चाहता है, तक आकर नारी की एक पति-निष्ठा की भावना मे आमूल परिवर्तन हो जाता है। 'सुमन' और 'निर्मला' की भाँति 'सुनीता' पति द्वारा शंकालु दृष्टियों से नही देखी जाती। जहाँ कि 'निर्मला' तथा 'सुमन' परपुरुष के सम्पर्क मात्र से ही समाज में निन्दा की पात्रा बन जाती हैं और उनकी नैतिक पवित्रता की उपेक्षा हो की जाती है, वही पर 'सुनीता' अपने पति 'श्रीकान्त' के द्वारा 'हरि प्रसन्न', जब कि वह परपुरुष है, को नारी आकर्षण के प्रति जागरूक बनाने के लिए उसके साथ एकान्त मे रहने के लिए एक प्रकार से विवश की जाती है। नारी का अस्तित्व पति की बाहो तथा घर की चहारदीवारी से निकल कर समाज में मुक्त रूप से विकसित होने के लिए, रूढ़िग्रस्त मान्यताओ के प्रति विद्रोह करने के लिए उन्मुख हो उठा है।

'त्यागपत्र' की मृणाल बुआ पति के यहाँ आश्रय न पाकर पीहर से भी ठुकराई जाती है, जिसका यह परिणाम होता है कि वह एक बनिये के साथ भाग जाने के लिए

बाध्य हो जाती है और फिर भी उसकी आत्मा अव्यभिचरित ही रहती है। इस प्रकार बाह्य सामाजिक मूल्यो को अपेक्षा आन्तरिक सदाचारो को अधिक मूल्य प्रदान किया गया है। 'कल्याणी' मे नायिका पति द्वारा प्रताडित होने पर उससे सम्बन्ध-विच्छेद करना चाहती है फिर भी नही छोड पाती। जैनेन्द्र जी के चारो नारी-चरित्र वर्तमान परिस्थितियो से असन्तुष्ट हैं और उनके अन्दर सामाजिक मान्यता के प्रति विद्रोही भाव उग्र रूप मे विद्यमान हैं।

जैनेन्द्रजी ने अपनी व्यक्तिवादी विचारधारा को—मानसिक ग्रन्थि से उद्भूत कुंठा का, जो उनके पूर्वलिखित उपन्यासो में अस्पष्ट दार्शनिकता के आवरण में ढक गयी थी, मनोविश्लेषणात्मक आच्छादन मे छिपाया था, उसे भी 'सुखदा', 'विवर्त' और 'व्यतीत' मे आकर अनावृत कर दिया है। इनके सभी उपन्यासो मे प्रायः एक ही प्रकार की टेक है। इनके पुरुष मात्र नारी के प्रति उदासीन ही रहते हैं। वे पुरुष सुलभ आकर्षण से वंचित रखे गए हैं, परन्तु नारी बार बार आकर उनसे टकराती है। वह अपना भावुकतापूर्ण निरीह आत्म समर्पण करती है। 'परख' मे यह आत्मसमर्पण अव्यवहारिक होते हुए भी असामाजिक नहीं हो पाया है, किन्तु उसके परवर्ती उपन्यासो मे उसकी नग्नता बढ़ गई है। 'व्यतीत' में आकर तो यह नग्नता अपनी पराकाष्ठा को पहुँच गई है। लेखक ने 'अनीता' और 'चन्द्रकला' का जैसा आत्मसमर्पण 'जयन्त के सामने कराया है, वैसे चित्रण कला की दृष्टि से भले ही श्रेष्ठ हो, परन्तु नैतिक दृष्टि से अवाछित है। ऐसा लगता है कि जैनेन्द्र की नारी दूसरो को शरीर देने के लिए ही बनी है। ऐसा करने में उन्हे किसी भी प्रकार का संकोच नहीं होता। उनकी नायिकाएँ व्यक्तित्वहीन और चेतनाशून्य हैं। वे केवल वस्तु हैं जिनका उपभोग कोई भी कर सकता है। एक ओर तो इनकी नारियो में प्रेम करने और शरीर देने का कोई आधार नहीं है और दूसरी ओर पुरुष उन्हें अपने गले पडी वस्तु समझता है। वह उनसे छुटकारा पाना चाहता है। 'अनीता' के ऊपर उसके पति मिस्टर 'पुरी' का जैसे कोई अधिकार ही नही और न वे इसके इच्छुक ही जान पडते हैं। अनीता बहन रूपमे रहकर भी अन्त तक जयन्त को रतिदान देने के लिए उत्सुक है, जिसे वह स्वीकार भी कर लेता है। स्त्रियो का प्रेम प्राप्त कर लेना अत्यन्त साधारण वस्तु नही है। वे पुरुष को अपेक्षा दृढ होती हैं, यह भले ही है कि जब गिरती हैं तो उठना नही जानती। परन्तु जयत को देख कर सभी स्त्रियाँ बेदिल हो जाती हैं और उसकी अवस्था रूप, गुण आदि का कुछ भी ख्याल नही करती। जयत में इसे छोड कर कि वह कवि है, ऐसा कोई आकर्षण नहीं दिखलाई पडता जिसे असाधारण कहा जा सके। कवि होना ही स्त्रियो के लिए सबसे बडे आकर्षण की बात है, इसे अन्तिम सत्य के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता।

जयंत जिन-जिन स्त्रियों के सम्पर्क में आता है वे सभी उससे प्रेम करने लग जाती

हैं। अनीता का वासनात्मक प्रेम अन्त तक रहा, उसके मालिक की लड़की 'सुनीता' किताबों के माध्यम से प्रेम-निवेदन करती रही, बेचारी बुधिया ने तो उसे देवता ही मान लिया और चन्द्रकला का तो क्या पूछना, वह तो बेचारी अपने जवानी का गट्ठर बिना जयंत के सिर पटके जी ही नहीं सकती, परन्तु भोला भाला जयंत विवश होकर सेवा-कार्य ही स्वीकार करता है। पुरुष की इतनी बड़ी अहमन्यता, इतना बड़ा अहंकार और नारी का इतना महान् शोषण जैसा कि जैनेन्द्र ने दिखलाया, व्यक्तिवादी विचारधारा का वह जनाजा है जिसके सामने लोग शीश न झुका कर थूक देंगे।

जहाँ तक चन्द्रा का दूसरा विवाह कर लेना है, वह आपत्तिजनक नहीं, आपत्तिजनक तो यह है कि किस प्रकार उसने उसी कुमार को पुन वरण किया जिसने उसे जयन्त को सौंप कर अपना पीछा छुड़ाया था और उसने उसे स्वीकार भी कर लिया। श्रीमती कपिला के आकर्षण का उत्तर दिए बिना ही बेचारे जयन्त को अन्त में अपने गुमराह पापों का प्रायश्चित करने के लिये सन्यास ले लेना पड़ा।

समाज के अन्दर बहुत सी ऐसी बातें पायी जाती हैं, जिनका चित्रण साहित्य में श्रेयस्कर नहीं कहा जा सकता। कितने ही ऐसे समाज में पतित मिल जायेंगे जो अनैतिक व्यापारों से रोटी कमाते हैं। पर सामाजिक यथार्थ का चित्रण-करते समय साहित्यकार को सदैव इसका ध्यान रखना चाहिए कि कहीं कोई ऐसा चित्र न आ जाय जो अवाछित हो। लेखक के लिए यह आवश्यक नहीं था कि वह बुधिया से कहलवाए हो कि 'दादा' हर किसी से पैसा ले लेते हैं और जा के ताड़ी में फूँक देते हैं। माँ गयी तब से यही हाल है। मैं अपने बस किसी को नहीं लौटाती •• मैं शिकायत नहीं करती लेकिन तन कभी बहुत पीर दे जाता है।' निर्लज्ज से भी निर्लज्ज स्त्री क्यों न हो पुरुष के सामने ऐसे प्रसग की चर्चा इस प्रकार नहीं कर सकती। हमें ऐसा लगता है कि जैनेन्द्रजी अपनी लोकप्रियता का अनुचित लाभ उठाना चाह रहे हैं। जिस प्रकार समाज की वे कल्पना कर रहे हैं उसमें सम्भवतः वे ही रहने के अधिकारी होंगे और सर्वसाधारण लोगों की वहाँ कभी भी गुंजाइश नहीं हो सकती।

प्रेमचन्द और उनके युग से प्रभावित सामाजिक उपन्यासों और जैनेन्द्र कुमार के सामाजिक उपन्यासों मे मौलिक भेद है। प्रेमचन्द के पात्रों के सम्मुख समाज की समस्या है, जिसका प्रभाव सम्पूर्ण समाज पर पड़ता है। उन समस्याओं को हल कर लेने से सम्पूर्ण समाज की समस्या हल हो जाती है। जिन सामाजिक दोषों के सुधार की प्रेरणा हमें इन उपन्यासों द्वारा प्राप्त होती है, उनका व्यापक प्रभाव पड़ता है। परन्तु इसके विपरीत जैनेन्द्र की सामाजिक समस्याएँ विशेषतः व्यक्ति की समस्याएँ हैं। वह विद्रोह करता है परन्तु उसके विद्रोह का प्रभाव सामाजिक न होकर व्यक्तिगत ही रह जाता है।

इस प्रकार इन समस्याओं को व्यापक सहानुभूति नहीं मिल सकी, भले ही इनके अन्दर व्यक्ति को रुला देने की अपार शक्ति भरी हो। 'निर्मला' तथा 'सुमन' के साथ समाज जितना हाय-हाय करता है उतनी 'सुनीता' तथा 'मृणाल' बुआ के साथ नहीं। इनके विद्रोही पात्रों का प्रभाव एक सीमित क्षेत्र के अन्दर सम्बन्धित व्यक्तियों पर ही पड़ता है, समाज पर नहीं।

सामाजिक यथार्थवाद और कुछ अन्य उपन्यास

सियारामशरण गुप्त के तीन प्रमुख सामाजिक उपन्यास हैं, 'गोद', 'अन्तिम आकांक्षा' तथा 'नारी'। इन उपन्यासों को देखने से लगता है कि गुप्तजी की प्रेरणा यथार्थ, अकृत्रिम और निष्कपट है। गोद में एक माँ के आदर्श वात्सल्य का वर्णन है तथा गाँव के एक पक्ष का बड़ा ही मार्मिक चित्रण किया गया है। गुप्तजी की धारणा है कि मनुष्य जन्मजात महान् नहीं होता, बल्कि साधारण से साधारण स्थिति के आदमी में भी महत्ता के दर्शन किए जा सकते हैं। 'अन्तिम आकांक्षा' के नायक एक घरेलू नौकर रामलाल ऐसे उपेक्षित व्यक्ति को लेकर गुप्तजी ने जो महत्ता का दिग्दर्शन करना चाहा है, उससे हमें देश के अन्दर बढ़ती हुई जनतांत्रिक भावनाओं का संकेत मिल जाता है। अपने सर्वश्रेष्ठ उपन्यास 'नारी' में गुप्तजी ने युग की उमड़ती हुई नवीनतम नारी भावनाओं को अंगीकार किया है। जमुना, आदर्श पत्नी होते हुए भी अजीत के प्रति आकर्षित हो जाती है। 'अजीत के उपकारों के भार से दबकर वह उससे शारीरिक सम्बन्ध स्थापित करने के लिए तैयार हो जाती है, और अपने को पति-अनुरक्ति में किसी प्रकार पीछे इसलिए नहीं मानती, क्योंकि उसने जो कुछ भी किया है, वह सब कुछ भी अपने पति को पुनः प्राप्त करने के लिए ही। इससे स्पष्ट हो जाता है कि नारी की पवित्रता की माप केवल उसके यौन सम्बन्धी पवित्रता पर ही नहीं आधारित है, बल्कि उसके हृदय की ही पवित्रता उसकी वास्तविक पवित्रता है।

यों तो प्रतापनारायण श्रीवास्तव के प्रमुख पाँच उपन्यास, 'विदा', 'विजय', 'विकास', 'आशीर्वाद' तथा 'पाप की ओर' हैं, परन्तु 'विदा' और 'विजय' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। श्रीवास्तवजी पहले उपन्यासकार हैं जिन्होंने गाँवों और शहरों की दुनिया छोड़कर 'सिविल' लाइन्स के बंगलों, क्लब की पार्टियों, टेनिस के मैदानों, हरे-भरे पार्कों तथा सिनेमा घरों में होनेवाले जीवन के घात-प्रतिघातों का यथार्थ चित्र खींचा है। 'विदा' श्रीवास्तवजी का आदर्शवादी उपन्यास है। इसकी जो सबसे बड़ी विशेषता है, वह यह है कि इसके अन्दर 'भारतीय कुटुम्ब की धर्म व्यवस्था के सौन्दर्य की स्थापना करके प्राचीन और नवीन का बड़ा ही सुन्दर योग दिखाया गया है।' यद्यपि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसे मिस्टर-मिसेज, मिस, ड्राइंग रूम, टेनिस, मोटर पर हवाखोरी, सिनेमा[1] आदि का ही वर्णन करने वाला कहा है।

१. इन्दौर के चौबीसवें साहित्य सम्मेलन के सभापति पद से दिए गए भाषण।

'विजय' नामक उपन्यास मे उपन्यासकार ने विधवा विवाह की समस्या साधारण समाज के सामने नही, बल्कि शिक्षित एवं धनवान समाज के सामने रखी है।

इन उपन्यासकारो के अतिरिक्त अन्य उपन्यासकारों ने भी सामाजिक समस्याओ को लेकर अपने उपन्यास-साहित्य की सृष्टि की। प्रस्तुत समाज की अनेकानेक समस्याओ का समाधान प्रस्तुत करने के लक्ष्य से प्रेमचन्दजी के पश्चात् एक भी उपन्यास नही लिखा गया और ऐसा करना लेखको के लिए सम्भव भी नहीं था। वर्तमान समाज की समस्याएँ इतनी विषम हो गई हैं कि सबको एक कृति के अन्दर समेटने में लेखक को निराश होना पडेगा। आधुनिक उपन्यासो के अन्दर समाज की नवीनतम प्रमुख समस्याओ को लेकर लेखक समाधान उपस्थित करने में प्रयत्नशील हैं।

यशपाल, भगवतीचरण वर्मा, राधिकारमण सिंह, श्रीनाथ सिंह, रागेय राघव, तथा उपेन्द्रनाथ 'अश्क' और 'अञ्चल' आदि के सामाजिक उपन्यासो में आधुनिक समस्याओ का बडा ही मार्मिक एवं यथार्थ चित्रण हुआ है, परन्तु इन लोगो के देखने की सामाजिक दृष्टि अपनी है, तथा उन्हें प्रस्तुत करने की उनकी अपनी अलग-अलग शैलियां हैं, जिससे इनका वर्णन प्रसंगानुकूल आगे करना ही उचित होगा।

नवाँ अध्याय :

प्रेमचन्दोत्तर उपन्यास साहित्य में सामाजिक समस्याएँ

प्रेमचन्दोत्तर युग में देश की सामाजिक परिस्थितियाँ बहुत कुछ बदल चुकी हैं। समाज के अन्दर अनेक विभिन्नताओं ने प्रवेश पा लिया है। पाश्चात्य संस्कृति के अधिक सम्पर्क में आने के कारण प्राचीन रूढ़ियों के बंधन भी बहुत कुछ ढीले पड़ चले हैं। कितनी प्राचीन मान्यताएँ टूटती जा रही हैं और अनेक नवीन मान्यताएँ उनका स्थान ग्रहण करती जा रही हैं। विषमताओं के कारण सामाजिक धारा छिन्न-भिन्न होकर अनेक मार्ग बनाने लग गयी है। इस प्राचीनता और नवीनता के संधि-स्थल पर आज का उपन्यास साहित्य खड़ा है, जिसे समस्याओं के औचित्य का लेखा-जोखा वर्तमान परिस्थितियों को दृष्टि में रखते हुए लेना है। इसमें संदेह नहीं कि आधुनिक युग के उपन्यासों में इस प्रकार की समस्याओं को उभाड़ कर रखने का प्रयत्न मिलता है।

वेश्या-समस्या

विधवा विवाह और समाज में वेश्या की समस्या उपन्यासों के लिए कोई नवीन समस्या नहीं है, बल्कि यह उसका चिर-परिचित विषय है। इन समस्याओं को लेकर हिन्दी साहित्य के अन्दर दर्जनों उपन्यास लिखे गये। उपन्यास-सम्राट प्रेमचन्द से लेकर साधारण कोटि के उपन्यासकारों तक ने इसे अपनी रचना का वर्ण्य विषय बनाया है, परन्तु समाज के सामने कोई सर्वग्राह्य समाधान अबतक प्रस्तुत नहीं हो सका है। प्रेमचन्दजी की सुधारवादी दृष्टियों ने तो 'सेवासदन' की स्थापना करके एक ठोस हल समाज के सामने उपस्थित अवश्य कर दिया, परन्तु यह उनकी ही कल्पना की शक्ति एवं उसकी अद्भुत करामात थी जो समर्थ हो सकी है। व्यावहारिक जगत में उसे छोड़कर न तो दूसरे 'सेवासदनों' की स्थापना की जा सकी और न तो व्यापक रूप से वेश्यालय ही खाली कराये जा सके। इससे समाज को प्रेरणा अवश्य मिली, परन्तु मनुष्य अपनी कुत्साओं का इतना दास है कि उससे घृणा करते हुए भी उसे छोड़ नहीं पाता। 'रांगेय राघव' के 'घरौंदे' नामक उपन्यास में 'कामेश्वर' तथा 'नादानी' के प्रसंग को लेकर भी मूल स्थिति पर प्रकाश डाला गया है, जिससे स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य के अन्दर अपने और पराये का भाव ही उसे बुरे कार्य करने में सहयोग प्रदान करता है।

यदि हम वेश्याओं के प्रति भी यह भाव रख सकें कि वे अपनी ही भूलों के कारण पतित हुई हमारी ही माताएँ और बहनें हैं जो वेश्या बन गयी हैं, तो कभी भी समाज का यह कोढ़ जिन्दा रह ही नहीं सकता। 'कामेश्वर', 'नादानी' को सच्चे हृदय से

प्यार करता है, परन्तु जब उसे अपनाने का अवसर आता है तो विचलित हो उठता है, जबकि वह उसी के पापों के कारण माँ बननेवाली है। और जब नादानी यह कहती है कि जाओ और पंद्रह वर्ष के बाद फिर आना, मेरे स्थान पर तुम्हारी ही लड़की मिलेगी; और तब तुम उसके यौवन का आनन्द लूटना, तब कामेश्वर बौखला उठता है। परन्तु भगवतीचरण वर्मा ने अपने 'तीन वर्ष' नामक उपन्यास के अन्दर इस समस्या को और भी उदार दृष्टियों के द्वारा उपस्थित किया है, जिसके अन्दर उन्होंने कल्पना का समावेश बहुत कम किया है, जिससे बात औरों की अपेक्षा अधिक जमती है। 'रमेश' 'सरोज' के स्वाभाविक सच्चे प्रेम को समाज के भय से ठुकरा कर भाग अवश्य जाता है परन्तु सच्चे हृदय की पीर एवं वास्तविक प्रणय की पुकार उसे खींच ही लाती है। वह विज्ञापन में 'सरोज' की चिन्ताजनक अवस्था का विवरण पढ़कर, सब कुछ छोड़कर उसके पास दौड़ जाता है, और उसके अन्तिम क्षणों में आना करुण चुम्बन उसे देकर उसे अपनी बना लेता है, तथा 'सरोज' सदैव के लिए उसकी हो जाती है। इस प्रकार हम जिसे वेश्या कहते हैं, वह वेश्या नहीं है, बल्कि वेश्या न कहलाने वाली वह सभ्य नारी 'प्रभा' वेश्या है, जिससे रमेश सहसा अवसर आने पर कह उठता है—'तुम पुरुष का धन लेती हो, पुरुष को अपना शरीर देने के बदले में, है न ऐसी बात और वह वेश्यावृत्ति है।' वास्तव में वेश्याएँ जन्म से वेश्या नहीं होतीं, बल्कि वे परिस्थितियों द्वारा बनायी जाती हैं तथा अपनी कुत्सित वृत्तियों के कारण हो जाती हैं।

विधवा समस्या

समाज में हिन्दू विधवा के प्रश्न को लेकर अनेक सुधार-संस्थाओं का जन्म हुआ। बँगला उपन्यासों से भी हिन्दी के उपन्यासों ने विशेष प्रेरणा प्राप्त की। बँगला उपन्यासकारों ने सामाजिक समस्याओं को लेकर अत्यन्त सुन्दर उपन्यास लिखे थे, जिसकी प्रेरणा उन्हें बंगाल में स्थापित ब्रह्म समाज से मिली थी, जिसके अन्दर दहेज प्रथा और विधवा की समस्या उग्र रूप में विद्यमान थी। हिन्दी उपन्यासों के अन्दर यह प्रेरणा आर्य समाज के द्वारा आयी। प्रेमचन्द तथा प्रसाद के उपन्यासों में हमें इन प्रथाओं के कुपरिणाम का कारुणिक चित्र प्रभूत मात्रा में मिल जाता है, परन्तु जैनेन्द्र कुमार जी ने अपने 'परख' नामक उपन्यास में विधवा 'कट्टो' के पुनर्विवाह का समर्थन पूर्ण रूपेण किया है। 'सत्यधन' जिसे 'कट्टो' मास्टर साहब कहती थी, उस बालविधवा से पूर्णरूपेण ब्याह करने के लिए तैयार है और उसके इस विचार को लेकर हमें उसके आस पास रहने वाले समाज में कोई ऊहापोह मचता नहीं दिखलायी पड़ता। कुछ परिस्थितियाँ ही ऐसी आ पड़ती हैं जिनके ही कारण वह विवाह नहीं कर पाता, परन्तु जैनेन्द्रजी ने उसके मित्र बिहारी से उसका परिचय करा ही दिया। यद्यपि दोनों का विवाह सामाजिक रूप से न होकर आध्यात्मिक रूप से ही

होता है, फिर भी पुरुष वर्ग की ओर से सामाजिक विवाह करने में किसी भी प्रकार की आपत्ति नहीं उठायी गयी है, जो भी संकोच उपस्थित हुआ है वह स्त्री पक्ष की ओर से ही। विधवा यदि अपने जीवन को पवित्र रख सके तो हिन्दू विधवा का जीवन स्वयं एक बहुत बडी तपस्या है और यदि उसे अपने उत्तेजक क्षणों मे आने वाले उन्मादो पर विश्वास नहीं है तो अवश्य ही उसे विवाह करने की पूर्ण स्वतन्त्रता समाज से मिलनी चाहिये। प्रतापनारायण श्रीवास्तव ने अपने 'विजय' नामक उपन्यास में स्वीकार किया है कि विधवाओं का विवाह होना उचित है।

इस उपन्यास मे श्रीवास्तव जी ने विधवाओं को विधवा नही माना है 'क्योंकि हिन्दू विधवा ईश्वर का तपरूप है।' उसकी तपस्या 'निर्गुण उपासना' है, परन्तु लेखक चित्र के दूसरे पक्ष से अपरिचित नहीं है। सभी विधवाएँ इस विराट् तप की साधना नहीं कर सकती। उनके लिए उसने वैवाहिक जीवन ही श्रेयस्कर निश्चित किया है[1]। पं० भगवती प्रसाद वाजपेयी के उपन्यास में विधवा एक ओर तो रूढ़िवाद से अत्यन्त प्रताडित है और दूसरी ओर आदर्शवाद की चक्की में बुरी तरह पिस रही है, जिससे जीवन के प्रथम उभार मे ही विधवा हो जाने के कारण उसका स्वाभाविक नारीत्व हुंकार उठता है। राधिकारमण सिंह ने भी अपने उपन्यास के अन्दर विधवा के प्रश्न पर दृष्टि डाली है। 'राम-रहीम' की 'बेला' विधवा होने पर वेश्या हो जाती है। और श्रीधर के सम्पर्क में आने के कारण वह उससे प्रेम करने लग जाती हैं। श्रीधर उससे व्याह करना चाहता था, परन्तु जयदेव के भडकाने के कारण वह विवाह से मुकर जाता है। सुरेशकुमार नामक व्यक्ति की हत्या करने पर जब उसे कारावास मिलता है तो उसकी पूर्व भक्ति प्रेरणा और भी मुखर हो जाती और वह रामभक्ति में सच्चे हृदय से रत हो जाती है, तथा अन्त में कारावास से छूटने पर हम उसे गंगा तट पर भगवद्भजन करते हुए पाते हैं।

नारी रूप

महात्मा गाधी के राष्ट्रीय आन्दोलन से भारतीय समाज मे नारियो को सम्मानित स्थान मिलना आरम्भ हुआ। भारतीय नारी समाज दीर्घकाल तक अत्यन्त ही उपेक्षित और असम्मानित रहा। महात्मा गाधी ने इस मानवीय अत्याचार के प्रति सर्व-प्रथम सशक्त विरोधी आन्दोलन आरम्भ किया। उन्होंने देश की जनता से अपील की कि वे अपनी माताओ एवं बहनो को भी कार्य करने का अवसर दें, उन्हें भी राष्ट्रीय एवं सामाजिक सेवा संस्थाओ मे सहयोग प्रदान करने की पूरी स्वतंत्रता दें, जिससे उनके भी मानवीय धर्मों को विकसित होने का पूर्ण अवसर मिले। उन्होंने स्वयं अपने आश्रम में स्त्रियो को अत्यन्त सम्मानित स्थान दिया जिससे सरोजिनी नायडू ऐसी पढ़ी लिखी महिलाएँ तो

१—हिन्दी उपन्यास पृ० २८१।

पुरुषों के समान खुलकर राजनीति में सक्रिय भाग लेने लगीं। यह गांधीजी की ही विभूति थी कि इतने ही थोड़े काल में नारियों के अन्दर इतना जागरण आ गया कि उनमें से विजयलक्ष्मी जैसी पुरुषों को भी मात कर देनेवाली महिलाएँ निकलने लगीं जो विश्व संघ की अध्यक्षा तक होने की क्षमता रखती हैं।

हिन्दी उपन्यास नारी-समाज के महत्वपूर्ण प्रश्न को लेकर ही क्षेत्र में आया, समाज सुधार की भावना जिसका मेरुदण्ड थी। वृद्ध-विवाह, बाल-विवाह, दहेज, वेश्यागमन तथा अनमेल विवाह आदि कुरीतियाँ हिन्दी उपन्यासकारों के मुख्य विषय बन गए। प्रेमचन्द के उपन्यासों में अनमेल विवाह के अनेक प्रसंग आते हैं तथा 'निर्मला' का तो मूल बिन्दु ही अनमेल विवाह और दहेज का कुपरिणाम है। प्रेमचन्दयुग का उपन्यास मध्यवित्तीय भावना का श्रेष्ठ प्रतिबिम्ब है जो क्रांति का दावा करके भी सुधार पर अटक जाता है। सन् १९३०-१९३२ के आन्दोलन ने नारी को जीवन के खुले प्रांगण में ला खड़ा किया और वह पथ की दावेदार बनकर सामने आयी। 'घर और बाहर' की समस्या उठ खड़ी हुई और कौटुम्बिक शान्ति तथा देश-सेवा का संघर्ष सामने आया। यहाँ से वैवाहिक थोथी मर्यादाओं के प्रति विद्रोह का भी आभास मिलने लग जाता है और यहीं से लगभग नयी नारी का उदय होता है। नयी नारी के उदय के साथ ही उपन्यास जगत में भी नयी समस्याओं का समावेश हुआ। इन नये प्रश्नों के साथ एक मूल प्रश्न स्वच्छन्द प्रेम की समस्या का भी था, और यह प्रश्न जाति-वर्ण-व्यवस्था पर सीधा प्रहार करता है। उपन्यासकारों ने इस प्रश्न को भी उठाया जिसका समाधान आत्मघात और हत्या में नहीं बल्कि समस्त सामाजिक रूढ़ियों को लात मारना था।

नवीनतम आदर्शों को लेकर लिखे जाने वाले उपन्यासों में भी कहीं-कहीं 'विधवा' जैसे शब्दों का प्रयोग कर दिया गया है। परन्तु हम देखते हैं कि 'नारी' के प्रति समाज का दृष्टिकोण ही बिल्कुल बदल गया है, जिससे इस प्रकार की समस्याओं का कोई महत्त्व ही नहीं रह जाता। अब नारी उपन्यासों की दुनिया में केवल स्त्री रह गयी है, उसके जननी एवं बहन सदृश अन्य सामाजिक रूप प्रायः लुप्त से हो गये हैं। आज के समाज में स्त्री की भी जो कल्पना की जा रही है वह भी पहले की पत्नी से बहुत कुछ भिन्न है। समय परिवर्तन के साथ-साथ वस्तुओं के मूल्य में भी परिवर्तन हो जाता है। युगों में हमने जिन मान्यताओं की स्थापना की थी, वर्तमान भौतिक युगीन विचार-धाराओं से टकराकर वे बिखरती जा रही हैं। 'कलतक जो सत्य था, हित था, वही आज असत्य और अहित सिद्ध हो रहा है। प्राचीन धार्मिक, नैतिक, आर्थिक, भित्तियाँ गिरती जा रही हैं, और नवीन की नींव पड़ रही है।' स्त्री का जो मूल्य अबतक उसकी पवित्रता पर आँका जा रहा था, धीरे-धीरे शिथिल होने लगा और स्त्री के सामाजिक मूल्यों को निर्धारित करने के लिए उसके अन्य आन्तरिक, व्यावहारिक तथा सामाजिक गुणों को महत्वपूर्ण स्थान दिया जाने लगा, और स्थिति उपन्यासों की दुनियाँ में यहाँ

तक पहुँच गयी है कि 'पूत योनि रह गयी आज नारी केवल' के लिए पं० सुमित्रानन्द पंत को दुखी नही होना पडेगा। नारी सम्बन्धी 'यौन' प्रतिबन्ध के कड़े बन्धन ढीले पडते जा रहे हैं, और इस प्रकार वह प्राचीन सामाजिक मान्यताओं के प्रति विद्रोह करके नवीन मान्यताओं को स्थापित करना चाहती है जिसमें पति के कठोर बन्धनो से वह उन्मुक्त हो।

जैनेन्द्र जी के 'सुनीता' नामक उपन्यास में ही हमें 'श्रीकान्त' ऐसे उदार पुरुष के दर्शन हो जाते हैं जो अपनी पत्नी 'सुनीता' को अपने मित्र के सम्पर्क में जाने के लिए प्रेरित करते हैं। मृणाल बुआ परपुरुष गमन करने पर भी आत्मा से पवित्र ही बनी रहती है। 'श्रीनाथ सिंह' के उपन्यास 'उलझन' मे विवाह की समस्या है। इसमें तीन दम्पति आये हैं, जगतनारायण और मानवती, भ्रमर और चम्पा, तथा सेठ घनदास और शीला और सभी थोड़े-बहुत अंशो में परायी पत्तल का भात अच्छा समझते हैं। 'मानवती' के परपुरुष सेठ के यहाँ जाने में 'जगत नारायण' को कुछ आपत्ति नही होती। ठाकुर साहब किसी की पत्नी को अन्य किसी के साथ रहने में कोई हानि नही समझते।

'यशपाल' की दृष्टि में तो नारी वह रूमाल है जिससे जितने आदमी अपना मुँह पोछ सकें, पोछ सकते हैं। उससे कालिख छूटेगा ही, लगेगा नही। स्त्री एक नही अनेक पुरुषो के साथ रमण करने पर भी पवित्र रह सकती है, यदि उसका मन पवित्र है। उनके 'दादा कामरेड' नामक उपन्यास मे हम देखते हैं कि 'शैला' सरकारी अफसर के लडके से प्रेम करने तथा दवा के प्रयोग से गर्भ गिराने और ईसाई युवक राबर्टसन को भी निःसकोच चुम्बन देकर 'हरीश' के लिए आदरणीया ही नहीं बनी रहती, बल्कि आधुनिक समाज की, जिस पर युरोपीय सभ्यता का प्रभाव है, रानी भी है। 'शैला' के पिता के रूप में समाज की प्राचीन रूढ़ियाँ तथा मान्यताएँ छटपटाती रह जाती हैं, वह हर्ष के साथ 'हरीश' का गर्भ लेकर 'दादा कामरेड' के साथ चली जाती है, और उसके चेहरे पर जरा भी शिकन नही पड़ती। अपने नवीनतम उपन्यास 'मनुष्य के रूप में' विधवा 'सोमा तथा मनोरमा' को भी इसी प्रकार स्वच्छन्द प्रेम को ग्रहण करते हुए उन्होने चित्रित किया है।

'सोमा' ससुराल वालों के द्वारा सतायी जाने पर एक मोटर ड्राइवर धनसिंह के साथ भाग निकलती है। धनसिंह स्त्री भगाने के अभियोग में जब छः माह के कारावास का दण्ड पाता है तो सोमा एक सम्पन्न परिवार में आश्रय ग्रहण करती है, जहाँ धनसिंह छूटने पर पुनः ड्राइवर हो जाता है। परन्तु धनसिंह के पुनः हत्या करके भाग जाने के कारण अपनी आश्रयदात्री मनोरमा के भाई की रखैली बनकर वह 'सोमा' पर की

१—हिन्दी उपन्यास, पृ० ३३५।

स्वामिनी-सी रहने लगती है, यद्यपि एक दिन वहाँ से भी उसे निकलना ही पड़ता है। इस कारण वह फिर 'बरकत' नामक मोटर ड्राइवर के साथ बम्बई पहुँच कर अभिनेत्री हो जाती है, और वह वहाँ अपने रूप और कला की ख्याति से लाखों की स्वामिनी बन जाती है। इसी प्रकार 'मनोरमा' अपने कम्युनिस्ट प्रेमी 'भूषण' से प्रोत्साहन न पाकर उत्तेजना में एक फिल्म एजेण्ट सुतलीवाला से विवाह कर लेती है, किन्तु कुछ ही दिनों बाद इस पुंसत्वहीन पति से सम्बन्धविच्छेद कर वह फिर पार्टी के काम में 'भूषण' के निकट पहुँच जाती है। यही 'यशपाल' जी की नारी सम्बन्धी सामाजिक मान्यता है। यशपालजी की सभी कृतियों में नारी अत्यन्त दुर्बल, कामुक और वासना की मूर्ति के रूप में चित्रित की गयी है। 'क्या नर्गिस क्या गुलशन, क्या चन्दा और क्या राज और यमुना सभी जैसे आत्मदान को, नारीत्व को समर्पित करने के लिए व्यग्र और आतुर हैं। नारीत्व का बोझ जैसे उनके लिए असह्य है। अवसर-अनवसर यशपाल के जिस किसी पात्र से उनकी भेंट हो जाय इस दुर्वह भार को उतार फेंकती हैं'[1]। यही यशपाल की नारी सम्बन्धी मान्यता है।

इसके पश्चात् हमें कुछ ऐसे उपन्यासों के दर्शन होते हैं जिनका क्षेत्र यूनिवर्सिटी के छात्रावासों की दुनिया है, जिसमें रोमांस का प्रमुख स्थान है, जहाँ प्रेम और विवाह का कोई सम्बन्ध ही नहीं माना जाता। इतना ही नहीं, बल्कि एक जाति-पाँति का वहाँ प्रश्न ही नहीं उठता तथा प्रेम करने के लिए जहाँ की दुनिया सबके लिये खुली है। कोई भी वहाँ जाकर प्रतियोगिता में बिना नाम दर्ज कराये ही खड़ा हो सकता है। इन सभी औपन्यासिक अवस्थाओं का हम वर्णन आगे आनेवाले प्रसंग में करेंगे, परन्तु इन उपन्यासों में आये हुए स्त्री-रूपों का संक्षिप्त वर्णन यहाँ भी कर देना आवश्यक है।

उपेन्द्रनाथ 'अश्क' की 'गिरती दीवारें' नामक उपन्यास में चेतन नामक युवक का हृदय जाति-पाँति की मर्यादा को तोड़कर 'प्रकाशो' नामक बालिका को पकड़ लेने के लिए दौड़ जाता है। 'चपल' ने अपनी 'नई इमारत' को दृढ़ बनाने के लिए अन्तर-जातीय विवाह को आवश्यक अवश्य समझा है, परन्तु वह आलिंगन और चुम्बन तक ही करा पाये हैं। इससे इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि समाज में इस प्रकार की माँग धीरे-धीरे उमड़ रही है, और स्त्री तथा पुरुष, प्रणय के क्षेत्र में निर्बन्ध होना चाहते हैं। 'आरती' एक हिन्दू बालिका होते हुए भी अपने प्रेमी 'महमूद' के लिए माता तथा पिता आदि पारिवारिक प्राणियों से विद्रोह करके घर छोड़ कर चली आती है, और 'महमूद' को अपनाने में अपनी ओर से वह कुछ भी उठा नहीं रखती। भले ही आलिंगन और चुम्बन के बाद 'महमूद' को शारीरिक सम्बन्धों से दूर भगा कर लेखक आदर्श की ओर उन्मुख हो गया हो।

---

१. मोती सिंह (आलोचना-उपन्यास अंक, पृ० २०६)।

'रांगेय राघव' ने अपने 'घरौंदे' नामक उपन्यास में अन्तर-जातीय प्रणय को वास्तविक परिणय के रूप में मान्यता दिलवा दी है। 'भगवती' की माँ 'सुन्दर' का प्रेम 'राजेन्द्र' के पिता के साथ हो गया था, जो एक बहुत बड़े जमींदार थे। जमींदार साहब सामाजिक मर्यादाओं के भय से 'सुन्दर' के साथ वैध रूप से विवाह कर लेने में असमर्थ रहते हैं क्योंकि वह कायस्थ थी। 'भगवती' जमींदार साहब के रक्त से ही उत्पन्न हुआ था, जब कि समाज की आँखों में वह एक कायस्थ का पुत्र था। परन्तु हम देखते हैं कि 'राजेन्द्र' के मर जाने और अपने जीवन के अन्तिम क्षणों में जब वे इस समाज से नाता तोड़ रहे थे, जिसने उनके प्रणय को परिणय के रूप में बदलने नहीं दिया था, तो उनका वास्तविक पिता-पक्ष प्रबल होकर मुखर हो उठता है। जमींदार साहब मरते समय 'सुन्दर' को अपनी पत्नी के रूप में स्वीकार कर लेते हैं, और मरते-मरते 'भगवती' को अपना पुत्र तथा उत्तराधिकारी घोषित कर जाते हैं। इस मरते हुए व्यक्ति द्वारा उपन्यासकार ने समाज की प्राचीन मान्यताओं की निस्सारता प्रकट की है, और आगे चलने वाले समाज को नवीन संदेश दिलवाया है।

नारी के आधुनिकतम रूप हमें 'सर्वदानन्द' के 'नरमेध' और अज्ञेय के 'नदी के द्वीप' में मिलते हैं। सर्वदानन्द ने तो विमाता और सौतेले पुत्र तक के पारस्परिक प्रेम को स्वाभाविक रूप दिया है। हो सकता है कि अधेड़ पिता के पुनर्विवाह का कुपरिणाम दिखलाना लेखक का लक्ष्य हो, परन्तु ऐसे प्रेम-व्यापारों से अभी समाज हिचकता अवश्य है।

'नदी के द्वीप' के नारी चरित्रों से तो ऐसा लगता है कि विवाह और संभोग की दृष्टि से किए गए प्रेम का कोई सम्बन्ध ही नहीं। 'रेखा' पति के जीवित रहते भी 'भुवन' से प्रेम करती है। प्रेम को विवाह में परिवर्तित करने के पहले ही दोनों वैवाहिक जीवन का आनन्द उठाते हैं और इतना ही नहीं जब परिस्थितियों के कारण 'रेखा' और 'भुवन' का विवाह नहीं हो पाता और 'रेखा' अपना पुनर्विवाह कर लेती है, तब भी दोनों का प्रणय-प्रसंग उसी प्रकार चलता रहता है। इस प्रकार विवाह एक धार्मिक संस्कार न रहकर एक आर्थिक समझौता होता जा रहा है। पता नहीं समाज में नारी की इस मान्यता से समाज को किस प्रकार का सुख मिलेगा।

प्रेम का स्वरूप

प्रेम सृष्टि की चिरंतन आदि शक्ति है। साधारणतः प्रेम से जो अर्थ हम लेते हैं, वह है स्त्री और पुरुष का पारस्परिक प्रेम, जो रूपाकर्षण के माध्यम से उत्पन्न होता है तथा जिसके मूल में वासनाजन्य शारीरिक सुख विद्यमान रहता है। प्रेम मानव-मन की वह स्वाभाविक स्वच्छन्द वृत्ति है जो प्रकृत या सामाजिक बंधनों को स्वीकार करना नहीं चाहती, परन्तु समाज ने अपनी मर्यादा की रक्षा के लिये देश-काल तथा परिस्थितियों

के अनुसार उस पर नैतिक बंधन डाल रखे हैं। भारतीय संस्कृति ने समाज के सामने व्यक्ति के त्याग को अत्यधिक महत्व देने के कारण, प्रेम को व्यक्ति की वस्तु नहीं बल्कि समाज की वस्तु माना है, जिसके आधार पर ही विवाह-व्यवहार-शास्त्र का व्यवस्था की गई है। यही कारण है कि प्राचीन भारतीय साहित्य के अन्दर उन्हीं प्रेम-प्रसंगो की चर्चा की गई है जिनका अन्त विवाह में हुआ है। परिणय से वंचित प्रणय को समाज के लिए सर्वथा अस्वीकार किया गया है। नैतिक प्रेम प्रसंगो के लिए भी समय, स्थिति तथा स्थान की एक निश्चित व्यवस्था पूर्ववर्ती आचार्यों ने स्वीकार की है। परन्तु जहाँ तक शुद्ध कला का संबंध है, वह सामाजिक मान्यताओं की उतना स्वीकार नहीं करती जितना कि वह स्वाभाविकता के निकट है। गोस्वामी तुलसीदास कवि एवं कलाकार के साथ-साथ भारतीय आचार-शास्त्र के द्रष्टा भी थे, परन्तु कालिदास कवि एवं शुद्ध कला के स्रष्टा थे। यही कारण है कि तुलसीदासजी के साहित्य मे जितने भी प्रेम-प्रसंग आये हैं उनमें नैतिकता का सम्यक् निर्वाह हुआ है।

'राम' ने सीता को छोड कर अन्य किसी नारी के नैकट्य की कभी कामना ही नहीं की। वाटिका में सर्वप्रथम कुमारी सीता को देखकर अनुराग केवल 'राम' के मन मे ही उत्पन्न होता है, लक्ष्मण के नही, क्योंकि विवाह के रूप में उसका अन्त तो राम के साथ, तुलसी को कराना है। सामाजिक मर्यादाओं का तो उन्होने यहाँ तक पालन किया है कि कहीं भी उनके दाम्पत्य जीवन के प्रेम-व्यापारो मे मासलता की गंध आने ही नही पायी है। यह गोस्वामीजी की अपनी सामाजिक मर्यादा नहीं थी बल्कि उनके पीछे उनकी आदि परम्परा वर्तमान थी जिसका उन्होंने निर्वाह मात्र किया है, परन्तु कालिदास के साहित्य मे स्थिति इससे बिल्कुल भिन्न है क्योंकि वे शुद्ध रूप में कलाकार थे। ऋषिआश्रम में जाकर किसी भी व्यक्ति के लिए आश्रम-कन्या को कौन कहे, परिणीता पत्नी के साथ भी रति कर्म की व्यवस्था शास्त्रो ने नही की है, परन्तु यह कालिदास ऐसे कलाकार का ही काम था कि उसने उस समय भी जब सामाजिक बंधन आज से कहीं अधिक कडे थे, दुष्यन्त और आश्रम-कुमारी शकुन्तला के प्रेम की चरम परिणति का चित्रण साहित्य मे किया है। इतना ही नहीं कुमारसम्भव में जगतपिता शंकर और जगतमाता पार्वती के प्रेम-प्रसंग का चित्रण उन्होंने अत्यन्त मानवीय ढंग से अनावृत रूप में किया है क्योंकि वे प्रेम को जिसकी चरम परिणति रति है, सृष्टि का मूल और मानव का आवश्यक स्वस्थ लोक-धर्म मानते हैं।

प्राचीन भारतीय-साहित्य में चाहे वह यथार्थवादी हो अथवा कला की अभिव्यक्ति के लिए लिखा गया हो, जितने प्रेम-व्यापार दिखलाये गये हैं, सब के मूल मे एक पुत्र की कामना रही है। शारीरिक सुख को तृप्त करने के लिए उच्छृंखल यौन-व्यापारो का कहीं भी चित्रण नहीं हुआ है चाहे वह तुलसी का 'रामचरित-मानस' हो अथवा कालिदास का 'रघुवंश' तथा 'कुमारसम्भव'। आज की सभ्य कहलाने वाली दुनिया में

न तो वे प्रेमी और प्रेमिकाएँ हैं, न तो वह प्रेम का आधार और न वह स्त्री-पुरुष के बीच होने वाले प्रेम का रूप ही। आज की स्थिति पहले से निरकुल भिन्न हो गयी है। समाज में छोटे-बडे की मर्यादाओं में भी अस्वाभाविक भेद दिखलायी देने लग गया है, जिसके चित्रण मे साहित्यकार गर्व का अनुभव कर रहा है कि वह एक नूतन सामाजिक संघर्ष का चित्रण कर रहा है। हिन्दी-साहित्य के ऊपर बँगला साहित्य का भी प्रभाव पडा है। प्रेम प्रसगो के चित्रण मे जो आज कही-कही अमर्यादित वाचालता दिखलाने मे साहित्यकार अत्यधिक जागरूक दिखलायी पडते हैं, उसपर स्पष्ट रूप से 'द्विजेन्द्रलाल' के नाटकों का प्रभाव है। द्विजेन्द्रलाल के पात्र प्रेम की भावुकता में सामाजिक व्यवधानो की परवाह नहीं करते। 'लैला' 'नूरजहाँ' के सम्मुख इसलिए नही दबती कि उसके कारनामे उससे कही अधिक बुरे हैं। इसे स्वाभाविक अधिकारो के लिए सामाजिक विद्रोह भले ही मान लिया जाय, परन्तु ऐसे विद्रोहो की सम्भावना कम पायी जाती है। कोई भी पुत्री अपनी माता के उच्छृङ्खल रोमास की भर्त्सना उस प्रकार नहीं कर सकती जैसा कि 'लैला' से 'द्विजेन्द्रलाल' ने कराया है। 'नूरजहाँ' के समान समर्थ माता, भारत सम्राट जहाँगीर जिसका गुलाम बन चुका था, जिसके एक इशारे पर भारत का साम्राज्य उलट-पुलट सकता था और जिसकी एक कुटिल दृष्टि असख्य नर-नारियो पर कहर ढा सकती थी, उसी 'नूरजहाँ' को नाचीज लडकी यह कह कर साफ बच जाय कि वह कुलटा है तथा पति के हत्यारे को पंकिल आलिंगन देने वाली है, यह किस सीमा तक तर्कसंगत है। इसे अनैतिकता को नैतिकता का चुनौती भले कह लें, माता की ओर से पुत्री के लिए दिया गया स्वाभाविक क्षमादान भले मान लें, किन्तु हम यह कैसे मान सकते हैं कि 'लैला' की धृष्टता सामाजिक मर्यादा के अनुकूल है? इस दृष्टि से द्विजेन्द्रलाल के नाटको ने भारतीय सस्कृति की परम्परा को जितनी अधिक चोट पहुँचायी है, उतनी अन्य किसी साहित्यिक प्रभाव ने नहीं। हिन्दी साहित्य के उपन्यासो पर इस प्रकार की सामाजिक रीति-नीति का प्रभाव आगे चलकर खूब पडा।

हिन्दी साहित्य में उपन्यासों का इतिहास जहाँ से आरम्भ होता है, उस समय तक समाज में नैतिकता पर काफी बल दिया जाता था जिससे उन उपन्यासो में प्रेम की कहानियों के साथ लेखकों ने नीति-वाक्य चिपका कर रखना चाहा है। परन्तु इस ढँचे के उपन्यासो में लेखको ने अच्छे कर्मों का फल अच्छा और बुरे कर्मों का फल बुरा दिखलाते हुए अन्त में नायक-नायिका का विवाह सम्पन्न करा दिया है जो भारतीय साहित्य में परम्परागत नियम-सा हो गया था। जितने भी जासूसी और तिलस्मी आदि उपन्यास आरम्भ में लिखे गये, उन सब में उक्त परम्परा का निर्वाह हुआ है। परन्तु उसी समय से हम देखते हैं कि कहो-कहीं सामाजिक रूढ़ियों के प्रति विद्रोही भाव भी उठ रहे थे। ठाकुर जगमोहन सिंह के 'श्यामा स्वप्न' नामक उपन्यास में स्वच्छन्द प्रेम

!

की कहानी है, जिसमें स्वच्छन्द प्रेम, गन्धर्व-विवाह का औचित्य प्रतिपादन, क्षत्रिय-कुमार का ब्राह्मण कुमारी से प्रेम और विवाह का प्रस्ताव इन सब की जो योजना की गयी है वह ऐसे ढग से है, कि प्रेम और विवाह के सम्बन्ध मे कठोर सामाजिक रूढियो के प्रति तत्कालीन शिक्षितो में प्राप्त असन्तोष भलीभाँति व्यक्त हो जाता है।

हिन्दी उपन्यास-साहित्य में प्रेमचन्द के आगमन तक स्वच्छन्द प्रेम की समस्या अन्य सामाजिक प्रश्नो के साथ एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समस्या बन गयी थी। प्रेमचन्द ने इस प्रश्न को उठाया तो अवश्य पर उसको वे सामाजिक विद्रोह की भूमि तक नही पहुँचा सके। यही कारण है कि ऐसे प्रश्नो का समाधान उन्होंने हत्याओ और आत्मघातो द्वारा प्रस्तुत किया है। 'रंगभूमि' मे उन्होंने सोफिया' का इसीलिए बलिदान करा दिया है और 'कर्मभूमि' में 'सकीना' के आकस्मिक परिवर्तन से उसके चरित्र को अत्यन्त गिरा दिया है। 'गढ कुण्डार' की सारी संघर्ष-भूमि ही इस समस्या को ऐतिहासिक पृष्ठ भूमि पर उभारती है, और उसका दुःखान्त हो युग के उपन्यासो की दुर्बल मनःस्थिति का सूचक है, जो क्रान्ति के पथ पर बढने से बार-बार हिचकती है। परन्तु बाद के कुछ वर्षों मे ही, प्रसाद' तथा 'जैनेन्द्र' ऐसे उपन्यासकारो ने इस समस्या को नयी दृष्टि से देखना आरम्भ कर दिया। इस समय तक हम देखते हैं कि नारी इस स्थिति तक पहुँच गयी थी कि विवाह-बधन के भीतर रह कर वह अपनी प्रेममयी मूल-प्रकृति को कुण्ठित करने के लिए तैयार नहीं है। यही पर प्रेमचन्दोत्तर उपन्यास-साहित्य की विचार-भूमि की वह सन्धि रेखा है जहाँ से मनोविज्ञान की नयी उपलब्धियो का चकाचौंध फैलाने वाला प्रकाश दिखलायी पडने लग जाता है।

मनोविज्ञान का साहित्य और समाज पर ऐसा व्यापक प्रभाव पडा है कि जिसके कारण पहले की अपेक्षा व्यक्ति को समझने मे अधिक कठिनाई पड रही है। प्रेम के नैतिक मूल्यो मे भी इस विज्ञान के कारण परिवर्तन हुआ है, क्योंकि व्यक्ति को देखने का दृष्टिकोण ही बदल गया है। मनोविश्लेषण और यथार्थवाद तथा स्वतन्त्रता के नाम पर आजकल बहुत से उपन्यासकार नैतिकता की सर्वथा अवहेलना करते दिखलायी पड रहे है। 'उग्र', ऋषभचरण जैन और चतुरसेन शास्त्री आदि के उपन्यासा में वासना के नग्न रूप का चित्रण हुआ है। इनके द्वारा प्रेम का जो स्वरूप प्रस्तुत किया जा रहा है, उसका आधार इन्द्रिय-लोलुप की मनोवृत्ति की उत्तेजना तथा शारीरिक भूख की तुष्टि की कामना है। इस प्रकार यथार्थवाद के नाम पर विलास और वासनामय जीवन के अति-रंजित चित्र अकित किये जा रहे हैं। मनुष्य अधिक अशो तक परिस्थितियों का दास अवश्य है, किन्तु परिस्थितियो से ऊँचा उठने में ही तो उसकी मनुष्यता और पुरुषार्थ तथा मानवता की विजय है। यहाँ आकर ही मनुष्य और पशु में भेद उत्पन्न होता है, अन्यथा दोनो समान हैं।

'प्रेम' के प्रति जैनेन्द्र जी का दृष्टिकोण व्यक्तिवादी है। ये प्रेम को समाज की वस्तु नहीं बल्कि उसे एकमात्र वैयक्तिक वस्तु मानते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रेमचन्द ने जिन प्रश्नों को उठा कर छोड़ दिया था, जैनेन्द्र ने उसका समाधान ही नहीं किया, बल्कि उन्होंने उसकी सारी स्थिति ही बदल दी। परम्परा से चली आती सारी मान्यताओं को इनके उपन्यासों में ठुकरा दिया जाता है। 'परख' को छोड़कर इनके सारे उपन्यासों में वैयक्तिता की चरम अभिव्यक्ति है। 'सुनीता' की नारी तो पति द्वारा ही परपुरुष से प्रेम का स्वांग करने के लिए प्रेरित की जाती है। यद्यपि लेखक उसे वैज्ञानिक प्रयोगों की पुत्तलिका के रूप में ही चित्रित करना चाहता है, किन्तु प्रयोग समाप्त हो जाने पर उसके अन्दर स्त्री-सुलभ स्वाभाविक प्रेम हरिप्रसन्न के प्रति फूट ही पड़ा, भले ही उपन्यासकार उसे आगे बढाने में हिचक गया हो। परन्तु जैनेन्द्र 'सुनीता' में जो करते-करते रुक गये, उसे उन्होंने 'व्यतीत' में पूरा कर लिया, जहाँ प्रेम और विवाह में कोई विशेष सम्बन्ध नहीं दिखाई पड़ता। जैनेन्द्र का पुरुष इतना आकर्षक है कि सभी लड़कियाँ उससे प्रेम करने लग जाती हैं। 'चन्दा' का विवाह 'जयन्त' के साथ तो एक निमित्त मात्र है, क्योंकि इसके अतिरिक्त भी अनैतिक प्रेम-व्यापार चलता ही रहता है, उसके अनुसार जिसे नैतिक ही मानना चाहिये। अनीता, सुमिता तथा कपिला आदि सभी जयंत से प्रेम करती हैं और कुछ तो अभिसार तक भी दे आती हैं, पर उनमें से एक भी उसकी परिणीता नहीं है। 'अज्ञेय' का 'शेखर एक जीवनी' हिन्दी साहित्य में एक और नवीन 'थीम' लेकर आया। उनकी दृष्टि में स्त्री, नारी को छोड़कर माता, बहन आदि कुछ नहीं। वह केवल नारी है जो पुरुष की भोग्या है। 'शेखर' 'शशि' से प्रेम करता है जिसे सदा से बहन के रूप में सुनता आया है। 'नदी के द्वीप' में आकर तो स्वच्छन्दता अपनी सीमा का भी अतिक्रमण कर जाती है और प्रेम, विवाह आदि से बिल्कुल हट 'रति' पर आ जाता है। 'रेखा' 'भुवन' को, पुनर्विवाह कर लेने पर भी 'रति-दान' देने में सम्भवतः संकोच नहीं करती। हिन्दी साहित्य की बात तो अलग रही, भारतीय प्राचीन साहित्य में जिस स्वजातीय रति का कहीं नाम तक नहीं आने पाया है, उसे अज्ञेय ने प्रेम की भावुकता में दिखला दिया है। ऐसा लगता है कि इसी से प्रभावित होकर वृन्दावनलाल वर्मा ने भी 'मृगनयनी' में गयासुद्दीन के हसीन लौंडे मटरू का नाम लिया है। पता नहीं 'यथार्थवाद' के नाम पर लेखकों को ऐसे जुगुप्सित चित्रों को प्रस्तुत करने में क्यों विशेष आनन्द आता है।

आजकल के अधिकांश उपन्यासों में प्रेम के नवीन नैतिक मूल्य को स्थापित करने की सशक्त अन्वेषणात्मक प्रवृत्ति उत्तरोत्तर विकसित हो रही है। प्रेम के सम्बन्ध में समाज की दृष्टि अत्यन्त उदार होती जा रही है तथा उसके ऊपर से सामाजिक बन्धन उठते जा रहे हैं। जिन उपन्यासकारों ने अपने कथानक मुनिर्जासिटी की रंगीन दुनिया से

लिये हैं, उन्होने प्रेम और विवाह को दो तत्व ही नहीं माने हैं बल्कि उन्हें उन्होंने दो विरोधी तत्वो के रूप में स्वीकार किया है। इस प्रकार प्रेम विवाह का प्रथम सोपान न रह कर, व्यक्ति के दैनिक जीवन में मानसिक रोग बन कर रह गया है जिसके लिये स्वच्छन्द विलास ही विहित औषधि है। भगवतीचरण वर्मा के 'तीन वर्ष' और रांगेय राघव के 'घरौंदे' में हमें ऐसे चित्र मिल जाते हैं जिनमें प्रेम और विवाह को दो विभिन्न रूप माना गया है। इस प्रकार आज की आधुनिकतम प्रवृत्ति में जो भी नये मत आ रहे हैं, उनका अपना महत्व है, उनकी अपनी अलग विचारगत धारणाएँ हैं और इस प्रकार हिन्दी-उपन्यास के क्षेत्र में प्रेम का स्वरूप अपना एक नया मोड ले चुका है। आधुनिकतम विकसित रूपो में क्वाँरे और कुमारियो के आजन्म प्रेम-व्यापारो को ही अधिक सामयिक होने की संज्ञा मिलती जान पडती है। ऐसी स्थिति मे हम यही कह सकते हैं कि इस समस्या को लेकर विविध प्रयोग किये जा रहे हैं, और ऐसा जान पड़ता है कि भौतिक सुख की कामना मानव-जाति को उसके प्राकृत रूप मे ला खडा करेगी, जहाँ वह पशुओ से अधिक भिन्न नही था।

व्यङ्ग्य और मध्यवर्ग

व्यङ्ग्य

साहित्य पर कला की विजय ने उपन्यासों की कथा कहने वाली सीधी-सादी शैली में अनोखा परिवर्तन ला दिया। परन्तु हिन्दी के कथात्मक उपन्यासों की सबसे बड़ी विशेषता यह रही है कि वे समाज की समस्याओं तथा प्रस्तुत परिस्थितियों को अपने से दूर नहीं रख सके। यही कारण है कि ये उपन्यास 'कला के लिए कला' के रूप में नहीं हो सके हैं, बल्कि उनके ये गुण एक विशेष शैली के रूप में अपना लिये गये जिसने इन उपन्यासों का प्रभाव और भी अधिक बढ़ गया है। ऐसे उपन्यासों में प्रायः राष्ट्रीय एवं सामाजिक समस्याओं को वर्ण्य विषय बनाया गया है। कुछ उपन्यास ऐसे भी लिखे गये हैं जिनमें एक प्रकार से देश में चलने वाले राष्ट्रीय आंदोलनों की कथा ही कही गयी है, जिनका ऐतिहासिक न होते भी ऐतिहासिक महत्व रहेगा। परन्तु इस क्षेत्र के उपन्यास-कारों की सबसे बड़ी विशेषता, उनकी व्यंगात्मक शैली ही है। इतना तो अवश्य है कि इनमें मानव एवं समाज का व्यापक रूप नहीं उतर पाया है, परन्तु जिन पक्षों से प्रेरणा लेकर इन उपन्यासों की रचना हुई है, वे हैं बड़े ही मार्मिक एवं यथार्थ।

तीन वर्ष

'तीन वर्ष' में वर्माजी ने अन्य स्थलों को छोड़कर विश्वविद्यालय की अनोखी दुनिया अपनायी है। उन्होंने अन्य उपन्यासकारों की भाँति पाश्चात्य सभ्यता पर प्रहार करने में ही अपनी प्रतिभा का अपव्यय नहीं किया, बल्कि उन्होंने भारतीय विश्वविद्यालयों में पढ़ने वाले एक सीधे-सादे ग्रामीण विद्यार्थी की वास्तविक परिस्थिति को तटस्थ रूप में चित्रित करने का भी प्रयत्न किया है। जितने भी चित्र वर्माजी ने इसमें उतारे हैं, उनमें उन्हें इसलिए आशातीत सफलता मिली है क्योंकि यह उनका स्वयं का देखा ही नहीं था, सम्भवतः वे उसके प्रमुख पात्र भी रहे हों। उपन्यास की घटना के तीन वर्ष, उनके स्वयं के प्रयाग विश्वविद्यालय में 'ला' के छात्र की हैसियत से बिताये एवं एक वर्ष कानपुर में देखे, जहाँ पर वर्माजी का घर ही है, हुए समय हैं। इसलिए जितने भी चित्र एवं व्यङ्ग्य आये हैं, वे अत्यंत ही यथार्थ हैं।

'तीन वर्ष' के अन्दर उपन्यासकार ने एक देहाती युवक 'रमेश' के जीवन को लेकर उसे अनेक परिस्थितियों तथा वातावरणों में रखकर उसकी परिस्थितिजन्य अवस्थाओं

का चित्र खींचा है। 'रमेश' शहर की हवा लगने के पूर्व एक प्रतिभा-सम्पन्न विद्यार्थी था जो परीक्षा में सदैव प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण होता था।

किस प्रकार ग्रामीण वातावरण में पले विद्यार्थी को विश्वविद्यालय में आकर अन्य साधारण विद्यार्थियों के सामने झेंप खानी पड़ती है, हमें इसका परिचय उपन्यास के उस प्रसंग से लग जाता है जब कक्षा में रमेश को अजीत द्वारा कुर्सी छोड़ने का आदेश सुनायी पड़ता है। विश्वविद्यालयों की मित्रता मनोविनोद एवं समय काटने के लिए प्रायः की जाती है जिसमें भोले ग्रामीण बालक जो पढ़ने के लिए ही आते हैं, नगरों तथा ऊँचे धनिक श्रेणियों के बालकों की अपेक्षा अपने स्वाभाविक संकोच के कारण सदैव घाटे में रहते हैं, जो मनोरंजन के लिए विद्यार्थियों में नाम लिखा लेते हैं। 'अजीत' और रमेश की मित्रता कुछ इससे भिन्न अवश्य है परन्तु आरम्भ में अजीत ने यही समझा था कि इस देहाती बालक को साथ रख कर इसे बनाने में अच्छा मनोविनोद होता रहेगा। बाद में भले ही उसकी कठिनाइयों तथा प्रतिभा पर वह उदार हो उठता है।

जिस बालक को कभी बड़े आदमियों का सम्पर्क ही नहीं मिला हो और यदि उसके साथ एक राजा या भाई मित्र के रूप में आकर हर प्रकार से आर्थिक सहायता भी करे, तो उसके लिए इससे बढ़कर महान व्यक्ति और कौन मिल सकता है। प्रत्येक व्यक्ति के सामाजिक व्यवहार, उसके सामाजिक स्तर पर ही आँके जा सकते हैं। एक राजा के लड़के अथवा भाई के लिए जिस वस्तु का कुछ भी मूल्य नहीं है, उस वस्तु का मूल्य एक साधारण स्तर के बालक के लिए अत्यधिक बढ़ जाता है। 'अजीत' के लिए रूपयों का अत्यधिक महत्त्व नहीं है। वह जो रूपये 'रमेश' के लिए खर्च करता है, उसके लिए कोई बड़ी वस्तु नहीं है, परन्तु 'रमेश' उस कृतज्ञता के बोझ से दब जाता है। इस प्रकार एक 'रमेश' ही नहीं बल्कि न जाने कितने रमेश विश्वविद्यालयों में आकर अपना लक्ष्य खो बैठते हैं। वर्माजी ने मनोवैज्ञानिक आधार लेकर भी परिस्थितिजन्य अवस्थाओं का यथार्थ चित्र खींचा है। लड़कियों के पीछे 'यूनिवर्सिटी स्टूडेन्टों' की बसों एवं रिक्सों के पीछे दौड़ लगाते हुए वर्माजी ने अपनी आँखों देखा है, परन्तु जिन्हें समाज तितली समझता है वे भी नारी हैं और सच्चे अर्थों में हृदय रखती हैं। इन तितलियों को यदि दौड़ा कर कोई पकड़ना चाहे तो नहीं पकड़ सकता। स्त्री-स्वभाव है कि पुरुष उससे जितना ही भागता रहता है, वह उसके उतना ही निकट आना चाहती है। उसे धन और ऐश्वर्य नहीं चाहिए, वह तो रूप और हृदय पर ही अपने प्रेम का अर्घ्य चढ़ाती है। 'आखिरी दाँव' की 'चमेली' पति की हृदयहीनता के कारण ही तो एक युवक के साथ भाग निकलती है। परन्तु उसे सच्चा प्यार एक ढलते हुए व्यक्ति 'रामेश्वर' से मिला और वह नवोढ़ा फूल सी युवती अपना सब कुछ न्योछावर कर उसकी हो जाती है।

से प्रेम करती है, परन्तु जब 'रमेश' ने उसके सामने विवाह का प्रस्ताव उपस्थित किया, तो उसने 'रमेश' की आय पूछी, जिसे सुनकर सहसा उसके विश्वासों को धक्का लगा, वह उन्मत्त हो उठा। उसके सामने पूर्व का सीधा-सादा जीवन नाचने लगा जिसमें वह प्रसन्न था, सदा प्रथम श्रेणी में पास होता था। बी० ए० में द्वितीय श्रेणी में पास होना उसके जीवन की पहली घटना थी। तब उसने 'अजीत' की सहानुभूतियों का मूल्य जाना। रमेश के मन में इसकी प्रतिक्रिया होती है। वह 'अजीत' के ऊपर पिस्तौल से वार करता है और बी० ए० की पढाई छोडकर उन्मत्त अवस्था में भाग निकलता है। इस एक चित्र को यथार्थवाद बनाने के लिए वर्माजी के इस उपन्यास में कुछ अस्वाभाविकता भी आ गयी है। अजीत' का चित्र अत्यन्त अस्वाभाविक जान पडता है। जहाँ तक रुपयों के त्याग करने का प्रश्न है, वह स्वाभाविक है, परन्तु 'प्रभा' से प्रेम करने में 'रमेश' को मदद देना, स्वाभाविक नही जँचता क्योंकि वह स्वयं एक दिलदार युवक है। ऐसा जान पडता है कि 'रमेश' की परिस्थितियों को चित्रित करना ही लेखक का अभीष्ट है जिससे बहुत से पात्रों के अधूरे जीवन को बीच ही में छोडकर वह फिर उनका नाम नही लेता।

रमेश के शराबी मित्रों का बडा ही स्वाभाविक चित्रण हुआ है। आज भी 'श्याम बिहारी' टिकट कलक्टर ऐसे अनेक मिल जायँगे जो नित्य कितनी स्त्रियों का सतीत्व टिकट के अभाव में नष्ट करते रहते हैं। वर्माजी ने ऐसे सरकारी कर्मचारियों की नैतिकता एवं उनके उत्तरदायित्वों को लेकर बडा ही कडा व्यङ्ग्य किया है। वेश्या-सुधार की भावना हिन्दी साहित्य के लिए कोई नवीन वस्तु नही है, परन्तु यहाँ पर वेश्या-मनोवृत्ति को असली रूप में सामने लाने के लिए ही ऐसा कथानक गढा गया है, जिसमें वेश्यावृत्ति 'प्रभा' में है न कि 'सरोज' में। 'सरोज' जिसे समाज वेश्या समझता है सच्ची नारी के रूप में दिखलायी पडती है। लोभप्रेरित मध्यवर्ग से मद्यप और वेश्याओं में अधिक दया और ममता है।

टेढे-मेढे रास्ते

'टेढे-मेढे रास्ते' के अन्दर भगवतीचरण वर्मा ने एक व्यापक क्षेत्र को उपन्यास की वर्ण्य वस्तु बनाया है। यह उपन्यास १९३० के सत्याग्रह आन्दोलन को अपनाकर चला है। लेखक ने भारतीय राजनीति के तीन प्रमुख वादों को तीन रास्ते के रूप में चित्रित किया है। पात्रों के सम्वादों द्वारा गाँधीवादी, उग्रवादी तथा साम्यवादी सिद्धांतों की विवेचना भी की गई है। इस उपन्यास के अंदर लेखक की जो सबसे बडी सफलता रही है वह है चरित्रों के निर्माण की। जिन 'टिपिकल' चरित्रों का निर्माण वर्माजी ने किया है वे बडे ही सुन्दर एवं यथार्थ हैं। उपन्यास के पात्रों के चरित्रांकन में लेखक की लेखनी यथार्थ की कठोर भूमि पर चलती दिखायी देती है। इसके चरित्रों में यथार्थता है, कथावस्तु में नहीं।

पण्डित रामनाथ तिवारी अपने पुराने संस्कारों से युक्त तथा नवीन संस्कारो से परिचित, अपनी शान पर सब कुछ मिटा देने वाले ताल्लुकेदार हैं। यों तो तिवारीजी ब्राह्मण हैं, परंतु उनके संस्कारो से ऐसा लगता है कि वे 'टिपिकल' ठाकुर हैं। तिवारीजी का चरित्र भारतीय रईसों का सर्वोत्तम उदाहरण है। तिवारीजी अंग्रेजी सरकार का विरोध करना अपना विरोध समझते हैं, क्योंकि वही एक ऐसी सरकार है जो उनके अधिकारों की रक्षा कर सकती है। परंतु वे इतने स्वाभिमानी हैं कि कलक्टर महोदय से यह जानकर कि उनका अस्तित्व केवल सरकार की ही कृपा पर है, उत्तर-प्रत्युत्तर देने के लिए तैयार हो जाते हैं। वे सरकार के इसीलिए हिमायती हैं कि वे अपने को ही सरकार समझते हैं। उनके लिए सम्मान ही सब कुछ है। यद्यपि क्रांतिकारी होना बहुत बड़ा पाप समझते हैं, फिर भी वे यह सहन करने के लिए कभी भी नहीं तैयार हैं कि उनका लड़का 'प्रभानाथ' प्राण के भय से 'मुखबिर' हो जाय। उन्होंने आज तक सबको झुकाया ही है, किसी के सामने कभी झुकना नहीं सीखा। उनके अन्दर वह अटूट साहस तथा धैर्य है कि अपने लिए किसी की सहायता वांछित नहीं समझते। दयानाथ कांग्रेसी होकर घर से निकल जाय, उमानाथ कम्युनिस्ट होकर 'फरार' हो जाय तथा प्रभानाथ को फाँसी हो जाय, परन्तु पण्डितजी अपनी शान में किसी भी प्रकार की कमी नहीं आने देंगे, और जब तक वे जीवित हैं तब तक सब कुछ उनका है, अपनी सम्पत्ति में किसी का साझा नहीं स्वीकार कर सकते। सचमुच रामनाथ का एक विशिष्ट प्रकार का यथार्थ चरित्र, वर्माजी की उपन्यास-साहित्य को बहुत बड़ी देन है।

इसी प्रकार का एक चरित्र झगड़ू मिश्र का है, जिसमें ग्राम का एक साहसी, सच्चा तथा जनप्रिय समाज ही मुखर हो उठा है। मैनेजर रामसिंह के अत्याचारों को देखकर वे क्षुब्ध हो जाते हैं। इनके चरित्र का निर्माण लेखक ने गांधीवादी सिद्धांतों के आधार पर किया है। जब गाँव की उन्मत्त भीड़ ने रामनाथ के ऊपर प्रहार कर दिया, तो उन्होंने अपना प्राण देकर अपने वचन की रक्षा की, जो उन्होंने पुलिस अधिकारी को 'परमानन्द' शुक्ल को छुड़ाते समय दिया था। झगड़ू जी एक सत्यनिष्ठ, दृढ़-चरित्र तथा न्यायप्रिय, जिसे लोग देहाती कहते हैं, नागरिक हैं। इन्हें लेकर जिन देहाती प्रसंगों का चित्रण हुआ है वे अत्यन्त ही स्वाभाविक हैं। झगड़ू के समाज की भाषा भी 'वर्मा' जी ने पात्रानुकूल गढ़ी है। परमानन्द शुक्ल ने आवाज लगायी 'का हो वाजपेयीजी कितना विलम्ब है।'

'मिसिरजी तिवारीजी की कोठी माँ बैठि के बातें करि लेव' बाहर निकसि के करौ तो हम बताई !'

दयानाथ, उमानाथ प्रमानाथ तथा वीणा के चरित्र आधुनिक युवक और युवतियों के वे चरित्र हैं जिनके हृदय के अन्दर कुछ वर्षों पूर्व स्वतन्त्रता की अग्नि धधक रही थी।

लेखक ने परोक्षरूप से साहित्यकारों के प्रसंग को लाकर प्रयाग के कुछ साहित्यिक स्तम्भों के ऊपर सटीक व्यंग्य किये हैं।

आखिरी दाँव

'आखिरी दाँव' में सिनेमा-जगत् की वह दुनिया है जिसके लिये आधुनिक शिक्षित युवक और युवतियाँ तथा मुख्यतः विश्वविद्यालय के कुमार और कुमारियाँ अपनी ललचायी आँखों को तरसाते रहते हैं।

मनुष्यों के चरित्र के निर्माण में परिस्थितियों का कितना बड़ा हाथ रहता है, उपन्यासकार ने स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। इस उपन्यास में तीन चरित्र विशेष द्रष्टव्य हैं, रामेश्वर, चमेली और तीसरा शिवकुमार सेठ। आरम्भ में मनुष्य के अन्दर जो बुरी आदतें लग जाती हैं, वह उसे नष्ट करने पर भी उसका साथ नहीं छोड़ती। रामेश्वर के अन्दर जुआ खेलने की आदत आरम्भ में ही लग गयी, जिसने उसके जीवन के दाँव तक साथ नहीं छोड़ा। सब कुछ हार कर भी जुआरी अपनी जीत की आशा नहीं छोड़ता। रामेश्वर को 'आखिरी दाँव' तक जीतने की आशा बनी ही रही, जब कि वह अपने जीवन को ही हारने जा रहा था। हत्या करने के अभियोग में पुलिस ने जब चमेली का पीछा रामेश्वर के तबेले तक किया तो उस समय भी रामेश्वर जूआ ही खेल रहा था। वह बराबर दाँव हार रहा था। चमेली ने आत्महत्या की और अन्त में उसकी लाश को देखकर रामेश्वर कहता है—"ले चलिये सार्जेण्ट साहब, आज में जिन्दगी का आखिरी दाँव हार चुका हूँ, ले चलिये।" फिर भी रामेश्वर को लेखकने एकदम जुआरी के रूप में ही नहीं चित्रित किया है। उसके अच्छे संस्कारों का लोप नहीं हुआ है। उसके अन्दर एक अजीब मस्ती, एक जिन्दादिली तथा दीन-दुखियों को देखकर पिघलने वाला एक हृदय है। वह अपनी दुर्बलताओं के होते हुए भी एक मानव है।

'चमेली' के चित्रण में वर्माजी ने कला का सहारा अधिक लिया है जिसमें अस्वाभाविकता आ गयी है। वर्माजी का झुकाव कला की ओर अधिक रहा है क्योंकि उन्होंने एक 'चित्रलेखा' को छोड़कर अपने सभी उपन्यासों का नाम तक कलात्मक ढंग पर रखा है। शीर्षक को आकर्षक बनाने के लिए एक उद्धरण तथा किसी की एक बात अथवा स्थान विशेष को शीर्षक के रूप में स्वीकार करना आधुनिक विकसित कहानियों की विशिष्ट कला है, जिसका उपयोग वर्माजी ने अपने उपन्यासों में सफलतापूर्वक किया। 'चमेली' के चरित्र की क्या यथार्थता है, हम तब तक नहीं जान सकते, जब तक कि हम लेखक का मन्तव्य नहीं जान लेते। ऐसा न करने से 'चमेली' का चरित्र हमें अत्यन्त ही काल्पनिक तथा अस्वाभाविक लगेगा, क्योंकि जो चमेली अपने युवक पति का, केवल समादर न पाने के कारण छोड़कर एक सोनार के छोकरे के साथ पति का भी त्याग

और गहना लेकर भाग सकती है, यही किस प्रकार थोड़ी-सी सहानुभूति दिखालाने के कारण एक अधेड पुरुष पर सदा के लिए रीझ जाती है और देहाती संस्कारों मे पला 'रामेश्वर' भी, एक बाजारू औरत पर जो कि उसकी जाति की भी नही है तथा यह जानते हुए भी कि वह न जाने कितने पत्तलों का भात खा चुकी है, उस पर विश्वास करके अपनी गृहस्थी फिर से बसा लेता है, बात समझ में नहीं आती।

'रतन' के साथ जब राग-रंग करते अधिक दिन बीत जाते हैं, सब रुपये समाप्त हो जाते हैं और यहाँ तक कि चमेली ने अपने गहने भी बेचने के लिए दे दिये हैं जिसस उसके सभी सहारे टूट चुके हैं, फिर भी वर्माजी चमेली द्वारा रतन के लाये हुए उसके लखपति मित्र 'हीरा' का तिरस्कार कराते हैं, परन्तु चमेली को जब रामेश्वर ऐसे व्यक्ति का सहारा भी मिल गया था तथा वह स्वयं भी पान की दूकान मे आय कर लेती थी तो न जाने किस कारण वर्माजी ने उसे परिस्थितियो मे डालकर उससे वही कार्य करवाया जिससे पहली बार बचा लिया था। वह घृणा करते हुए भी अभिनेत्री बनती है। जिस शिवकुमार सेठ की सूरत से नफरत करती थी और पान के रुपये देते समय कहती है कि "सेठ पान बेच रही हूँ, पान का दाम दो पैसा होता है", वह उसी सेठ को आलिंगन देती है और वह जब एक दिन 'चमेली' को कपडे पहना रहा था, तो उसने 'चमेली' के पीछे खडे होकर अपने हाथ चमेली के कंधो पर रख दिये'''और चमेली ने अनुभव किया कि मौत की तरह शिवकुमार का हाथ रेंगता हुआ, चमेली के कंधों के नीचे आगे की तरफ उतर रहा है। तो उसने किसी प्रकार की आपत्ति नहीं की आदि चित्रों को चित्रित करने के कारण चित्र की वास्तविकता बिल्कुल नष्ट हो गयी है। परन्तु इस अस्वाभाविकता में तो लेखक का महान् व्यंग्य छिपा है, जिसे हमें जानना आवश्यक है।

पात्रो को दूर दूर से जल्दी-जल्दी खींच कर बम्बई में इकट्ठा कर देने तथा उनको लेकर सिनेमा स्टूडियो की चहारदीवारी मे ही चक्कर काटने से उपन्यास का अभिप्राय स्पष्ट जाना जा सकता है। ऐसा लगता है कि वर्माजी के ऊपर आजकल के सिनेमा-जगत् के भ्रष्टाचारों का अत्यधिक प्रभाव पडा है। वर्माजी ने उस दुनिया को अपनी आँखो देखा है जहा मेहनत से रुपये नही मिलते बल्कि रूप और जवानी का सौदा किया जाता है। शिवकुमार सेठ ऐसे न जाने कितने वहाँ पडे हैं जो रुपये से रूप और जवानी खरीदा करते हैं। 'राधा' की भाँति जिनकी जवानी ढल गयी है और रूप का बाजार मन्द पड गया है, न जाने कितनी स्त्रियाँ सिनेमा-जगत् में पडी हैं, जो डाइरेक्टरों तथा धनिकों के लिए माल जुटाने के लिए उनसे रुपये ऐंठा करती हैं। शिवकुमार सेठ तथा 'शीतलाप्रसाद' का पतन लक्ष्मीपतियों तथा सिनेमा-समाज की एक वास्तविक कहानी है जिसके द्वारा लेखक ने बडा ही करारा, यथार्थ एवं सटीक व्यंग्य किया है। इसमें वर्माजी को जो आशातीत सफलता मिली है, इसका एकमात्र कारण यही है कि 'डाइलाग-

डाइरेक्टर' के रूप में उन्होंने इस समाज को अत्यन्त ही निकट से देखा था जिसकी प्रतिक्रिया ही ने उपन्यास का रूप धारण कर लिया है।

घरौंदे

रांगेय राघव ने अन्य स्थलों को छोड़कर 'घरौंदे' नामक उपन्यास में अपने उपन्यास के क्षेत्र को विश्वविद्यालय के छात्रावासों तक ही सीमित रखा है। छात्र-छात्राओं के पारस्परिक चलने वाले प्रेम, प्रोफेसर तथा शिष्याओं के बीच होने वाले घातों-प्रतिघातों तथा विद्यालयों के राजनैतिक जागरणों को लेकर लेखक ने बड़ा ही सुन्दर यथार्थ व्यङ्ग्य लिखा है।

प्रोफेसर 'मिश्रा' को लेकर उपन्यासकार ने इस समाज की अच्छी पोल खोली है। यद्यपि लेखक अपने व्यंग्य में अतियथार्थवादी हो गया है, फिर भी उस प्रकार की घटनाएँ विश्वविद्यालयों में कम नहीं हैं। 'मिश्रा' किस प्रकार अपनी लड़कियों को अन्य अधिकारियों के पास भेज कर अपनी पत्नी की मूर्खता पर इसलिए दुखी रहता है कि यदि पत्नी होशियार होती तो वह अब तक प्रिंसिपल अवश्य हो गया होता। वह कालेज में तो कम पढ़ाता है, परन्तु लड़कियों को अपने बंगले पर पढ़ाने के लिए बुलाता है। विधवा 'लवंग' अपनी हाजिरी बनवाने के लिए 'मिश्रा' के साथ व्यभिचार करते समय श्रीमती मिश्रा द्वारा पकड़ी जाती है। एक बार उस चित्र को देखकर अश्रद्धा तो अवश्य होती है, परन्तु निश्चित ही लेखक ने एक ऐसी दुर्बलता की ओर संकेत किया है कि जिसके पनपने के कारण एक विशिष्ट समाज को कौन कहे सारा राष्ट्र गिर सकता है।

कालेज के चुनावों और अविश्वास के प्रस्तावों का अच्छा चित्र खींचा गया है तथा ईसाई मजहब की आलोचना 'रानी' और 'हरी' के प्रेम-प्रसंगों को लेकर की गई है। लेखक ने 'भगवती' नामक एक लड़के की कथा मनोवैज्ञानिक ढंग से कहकर नाना प्रकार की परिस्थितियों में उसे रखा है और व्यंग-चित्र उपस्थित करने का अवसर निकाला है। देश में उभरते हुए जनता के विद्रोह का भी चित्र भगवती और जमींदार साहब की प्रजा को लेकर चित्रित किया गया है।

गिरती दीवारें

उपेन्द्रनाथ 'अश्क' के 'गिरती दीवारें' नामक उपन्यास में भी 'घरौंदे' की भाँति 'चेतन' नामक एक युवक की कहानी है। परन्तु इसके अन्दर आये हुए चित्र उनसे सर्वथा भिन्न हैं। प्राचीन संस्कारों में पली रमणी किस प्रकार अपने पति के सब अवगुणों को गुण ही मानती है, यह 'चेतन' की माता के चरित्र से जाना जा सकता है। उसके शराबी पिता 'शादीराम' किस प्रकार परिवार वालों से लड़ते-झगड़ते रहने पर भी पत्नी की आँखों में दोषी नहीं ठहराये जाते।

'चेतन' ने मास्टरी छोड़कर जब लाहौर मे रहना आरम्भ कर दिया तो लेखक ने उस प्रसग को लेकर वहाँ के रहन-सहन और समाज का अत्यन्त ही स्वाभाविक चित्र खीचा है। जिस प्रकार एक मकान मे दस-दस आदमी रहते हैं और कुँवारे आदमी को मकान नही मिलता, आज के सभी औद्योगिक नगरो की प्रमुख समस्या है।

इस उपन्यास के अन्दर जो सबसे बडा महत्वपूर्ण व्यग्य किया गया है वह उन व्यक्तियो पर है, जो रुपये के बल से प्रतिमा खरीदते हैं। भौतिक युग के वैज्ञानिक साधनो ने यद्यपि बहुत-सी असम्भव वस्तुओ को भी सम्भव करके दिखला दिया है, परन्तु उसके अद्भुत चमत्कार भी अभी तक मनुष्यो मे प्रतिभा का आरोप नहीं कर सके हैं, जिसे लक्ष्मी के वरद पुत्रो ने करके दिखला दिया है। समाज मे इतनी आर्थिक अव्यवस्था है कि जिसके कारण सच्ची प्रतिभाएँ अपना चमत्कार दिखना ही नही पाती। कितनी ही साहित्यिक महान् कृतियाँ आर्थिक संकट के कारण प्रकाशित हो नही होने पातीं और वे प्रकाशित भी होती हैं तो उनका वास्तविक लाभ प्रकाशक ही उठाते हैं। बेचारे साहित्यकार को, जिसने कि रक्त और पसीना एक करके रचना की, केवल पत्रम् पुष्पम् स्वीकार करके सन्तोष कर लेना पडता है। साहित्यकारो के बीच प्रोफेसरो का अपने शिष्यो द्वारा लिखाकर तथा अधिकारियों का सहायको द्वारा लिखाकर अपने नाम की मुहर लगा देना तो नैतिक ही माना जाता है, इसके अतिरिक्त स्थिति इस सीमा तक पहुँच गई है कि वे मूर्ख धनपति जिन्हें सीधे कलम तक भी नहीं पकडना आता, दीन साहित्यकारो की स्थिति से लाभ उठाकर कृतियाँ खरीद कर साहित्यकार बन जाते हैं। नाम गिनाना अनुचित होगा, नहीं तो हमारे हिन्दी साहित्य के अन्दर अभी भी ऐसे साहित्यकार वर्तमान हैं जो रुपया लेकर महन्तो के नाम से अपनी कृतियाँ प्रकाशित करवा देते हैं तथा बहुत से ऐसे प्रकाशक और पैसे वाले पडे हैं जिन्होने अपने जीवन मे कभी एक भी पुस्तक नही लिखी और बीसो पुस्तको के रचयिता बने बैठे हैं। 'अश्कजी' ने कविराज को चित्रित कर इस प्रकार के लोगो का सजीव चित्र उपस्थित कर दिया है। वे किस प्रकार 'चेतन' को वायु-परिवर्तन के लिए पहाडो पर ले जाते हैं और वहाँ जाकर मीठी-मीठी बातें सुनाकर अपना साहित्यिक कार्य सम्पन्न कराने का प्रयत्न करते हैं।

स्वेच्छा के द्वारा न किये गये विवाह की कैसी प्रतिक्रिया होती है इसे 'चेतन' के अस्थिर मन से जाना जा सकता है। 'हुनर साहब' शायर को भी चित्रित करके एक विशेष प्रकार के चरित्र की अवतारणा की गई है जो अपने मित्र 'चेतन' से अपने यहाँ टिकने के कारण एक माह का आधा घर-भाडा वसूल कर लेते हैं और उसे साइकिल गिरवी रखकर होटल का बिल चुकाना पडता है, जिसे देखकर यूरोप की उस सभ्यता का दृश्य भारत में भी दिखलाई पड जाता है जिसमें अतिथि को विदा करते समय उसके

सामने भोजन आदि का बिल रख दिया जाता है। भारतीय समाज की रीढ़ है उसका मध्यवर्ग, जिसकी अवस्था आज अत्यन्त ही शोचनीय है।

मध्यवर्ग

देश के अन्दर जितनी भी क्रान्तियाँ आज तक हुई हैं, उनकी सफलता का एक मात्र श्रेय मध्यवर्ग को ही है। उच्च वर्ग के सामने किसी प्रकार की विषम परिस्थित आती ही नहीं, जिससे कि वर्तमान के प्रति उसे खिन्न होना पड़े, वह अपने 'कुबेर देव' की अर्चना करके ही पूर्ण सन्तुष्ट था; क्योंकि उनके द्वारा उसे सभी विलास की वस्तुएँ उपलब्ध हो जाती थीं। उसके जीवन में किसी वस्तु विशेष का अभाव खटकता ही नहीं। निम्न वर्ग के लोग इतने दलित एवं दीन होते हैं कि वे रोटी से ऊपर सोचने में असमर्थ रहे हैं। दिन भर अथक परिश्रम करने के बाद यदि उन्हें आधे पेट भी खाने की सामग्री मिल गयी तो वे अपने को परम सौभाग्यशाली जीव समझते हैं। मध्यवर्ग के लोग जागरूक, वर्तमान स्थितियों से परिचित तथा समस्याओं के मूल कारण को जानने की शक्ति रखते हैं, जिससे उनके अन्दर एक ज्वाला जलती रहती है और वही ज्वाला उन्हें सामाजिक क्रान्ति करने की प्रेरणा प्रदान करती है।

मध्यवर्ग का उदय

भारतवर्ष में मध्यवर्ग के उदय का दायित्व अंग्रेजी साम्राज्य पर है। अंग्रेजों के आगमन के पूर्व, भारतीय गाँव आर्थिक दृष्टि से इकाई होते थे। कृषि और कुटीर-उद्योग-धन्धों के कारण वे आत्म-निर्भर थे, जिसे अंग्रेजों ने पूर्णतया नष्ट कर डाला, परन्तु पुनर्निर्माण की ओर उनकी दृष्टि नहीं गई। ईस्ट इंडिया कंपनी का यह ध्वंसात्मक कार्य १८५३ ई० तक रहा। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारतीय बुर्जुआ वर्ग गतिशील रूप में आया और पढ़े लिखे लोगों का मध्यवर्ग भी बना। हिन्दी का पहला उपन्यास उन्नीसवीं शती के अंतिम दो शतकों का मध्यवर्गीय वातावरण उपस्थित करता है। जिस समय सेठ साहूकारों की अपेक्षा बुद्धिजीवी वर्ग बहुत कम था, अंग्रेजी साम्राज्य में अनजान में ही भारतवर्ष में एक नवीन जागरण का आलोक फूटा। अंग्रेजी सरकार के पायों को मजबूत बनाने के लिए स्कूल, कालेज और विश्वविद्यालय खोले गये। ब्रह्म-समाज, आर्यसमाज तथा थियोसॉफिकल सोसायटी आदि के आगमन तथा कांग्रेस के आन्दोलन से चली आती पुरानी रूढ़ियों को धक्का लगा, जिससे लोगों की दृष्टि सुधार की ओर गयी। उपन्यासकारों ने भी समय की माँग के अनुसार सुधारवादी दृष्टि अपनायी जिसमें 'प्रेमचन्द' जी का नाम अग्रगण्य है। 'प्रेमचन्द' जी वास्तव में मध्यवर्ग के ही कलाकार थे। जितना सुन्दर एवं सजीव मध्यवर्ग का चित्र इनके उपन्यासों में उभड़ा है, उतना अन्य किसी उपन्यासकार की किसी भी कृति में नहीं।

मध्यवर्ग का शत्रु

'कुल की मर्यादा' मध्यवर्ग का सबसे बड़ा शत्रु है। उसको तथा कथित कौलिन्य और रूढ़िग्रस्त मर्यादाएँ ही समस्याओं की विषमता में घुटा डालती हैं। यह जटिलता न तो निम्न वर्ग में है और न उच्च वर्ग में। निम्न वर्ग श्रमजीवी है, उसकी पारिवारिक इकायी में कोई किसी पर भार तुल्य नहीं होता, सब कामगर होते हैं। रोटी की समस्या के सामने कौलिन्य नगण्य है। उच्च वर्ग के पास आज की सबसे बड़ी शक्ति पैसा है। पैसा वाला, न्याय, धर्म, मर्यादा, शक्ति और *यहाँ तक कि ईश्वर को भी* खरीद सकता है। मध्यवर्ग की आन्तरिक स्थिति बड़ी खोखली होती है, उस अभाव की पूर्ति वह अपने कौलिन्य से करता है।

नारी को समस्या ही 'प्रेमचन्द' ने क्यों ली, वह भी वेश्या जीवन की। नारी भारतीय समाज का सबसे उपेक्षित वर्ग है। मध्यवर्गीय नारी की स्थिति सबसे अधिक चिन्तनीय है। निम्न वर्ग में नारी की कोई समस्या नहीं है क्योंकि वह एक पति को छोड़कर दूसरे पति के पास जा सकती है। यौन-पवित्रता का भी उनके यहाँ विशेष महत्त्व नहीं है। उच्च वर्ग की महिलाओं को कम से कम खाने पहनने की चिन्ता नहीं रहती। यौन-पवित्रता (सेक्सुअल प्योरिटी) को यहाँ भी उतनी अहमियत नहीं दी जाती, किन्तु मध्यवर्ग में तो नारी घर की इज्जत है। उसे अपनी इच्छाओं और वासनाओं का गला घोंटना पड़ता है। प्रेमचन्दजी पहले कलाकार थे जिन्होंने मध्यवर्ग की सम्पूर्ण जटिलताओं तथा समस्याओं के मौलिक कारणों की खोज की। 'सेवासदन' की 'सुमन' मध्यवर्गीय नारी है, जिसको सामाजिक रूढ़ियों के कारण ही अनेक मार्गों से गुजरना पड़ा। 'कृष्णचन्द' ने अपनी थोथी प्रतिष्ठा की रक्षा करने के लिए ही घूस ली और 'गजाधर' ने अपने घर की मर्यादा के कारण ही 'सुमन' को घर से निकाल दिया। मध्यवर्ग की इस थोथी मर्यादा के मूल में सामाजिक रूढ़ियों का ही साथ है। भीतर-भीतर चाहे जितना व्यभिचार और अनाचार होता रहे, परन्तु उसे बाहर नहीं प्रकट होना चाहिए। प्रेमचन्द' का दूसरा महत्वपूर्ण उपन्यास जिसमें मध्यवर्ग की दो प्रमुख दुर्बलताओं—*कुलमर्यादा और आत्मगौरव का अंकन हुआ है*—'*गबन*' है। 'रमानाथ' टिपिकल मध्यवर्गीय पात्र है। इसके अन्दर आई हुई मध्यवर्गीय विधवाओं की सामाजिक दुर्दशा तथा पारिवारिक उपेक्षा के चित्र अत्यन्त ही मार्मिक हैं।

यौन-पवित्रता के आर्थिक पक्ष का विश्लेषण एंजिल्स ने अपनी पुस्तक फेमिली (Family) में अत्यन्त वैज्ञानिक और शोधपूर्ण ढंग से की है। परिवार की सत्ता बनाए रखने के लिए यह आवश्यक उपकरण अवश्य था, परन्तु धीरे-धीरे इस पर धार्मिकता का ऐसा लेप चढ़ता गया कि यह भावना बहुत कुछ रूढ़ि में परिवर्तित हो गई। प्रेमचन्द्र ने नारी के साथ समस्त सहानुभूति और समवेदन रखते हुए भी उसे

झटका नहीं दिया। 'रतन' अपने ही वृद्ध पति के साथ सन्तुष्ट है, यद्यपि उन्होंने उसको स्वाभाविक भावनाओं को कुरेद अवश्य दिया है। 'निर्मला' तो इस घुटनपूर्ण वातावरण में दम ही तोड़ देती है। प्रेमचन्द की इस परम्परा का निर्वाह 'कौशिक', 'भगवती-प्रसाद वाजपेयी', 'उग्र' तथा 'प्रसाद' आदि ने किया है।

जैनेन्द्र कुमार

अंग्रेजी समाज ने जिस पढ़े लिखे बौद्धिक वर्ग की सृष्टि की वह मध्यवर्ग के अन्तर्गत ही आता है। नये ज्ञान-विज्ञान के सम्पर्क में आने के कारण उसकी अपनी रूढ़ियाँ उसके नवीन संस्कारों के लिये प्रश्न-चिह्न बन गई हैं। वह इनसे मुक्ति पाने के लिए विकल हो उठा है। 'जैनेन्द्र कुमार' के 'परख' में बुद्धि और अन्तस् का द्वन्द्व है। 'सत्य धन' बुद्धि का प्रतीक है तो 'कट्टो' अंतस् का। इस बुद्धि के विरोध का एक स्वस्थ और असामाजिक रूप 'त्यागपत्र' में दिखलायी पड़ता है। 'मृणाल' मध्यवर्गीय परिवार की नारी है। उसके जीवन की दयनीयता अनमेल विवाह के फलस्वरूप ही उत्पन्न होती है।

धर्मवीर भारती

नयी पीढ़ी के उपन्यासकारों में 'धर्मवीर भारती' से उपन्यास साहित्य को भविष्य मे बड़ी आशा है। इनके दो उपन्यास 'गुनाहों के देवता' और 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' प्रकाशित हो चुके हैं। 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' उपन्यासों की दुनिया में नयी टैकनिक का एक सफल प्रयोग है। इसके अन्दर गाँव की दोपहरी में बैठकर सात दिन की कही हुई कहानी है। इन वातों एवं आख्यानों का स्वतंत्र रूप से आनन्द लिया जा सकता है और सामूहिक रूप से उपन्यास का भी। हम इसे अनेक कहानियों में एक कहानी अथवा एक कहानी में अनेक कहानियाँ कह सकते हैं। इसमें मध्यवर्गीय परिवार का सजीव चित्र उतारा गया है। कितने घातों-प्रतिघातों, अंधविश्वासों, सामाजिक रूढ़ियों, कुरीतियों तथा थोथी महम्मन्यताओं के बीच से मध्यवर्गीय परिवारों का दयनीय जीवन चलता है, इसका यथार्थचित्रण हुआ है। 'जमुना', 'तन्ना' 'सत्ती', 'महेश्वर' 'दयाल' तथा 'मणिक-मुल्ला' आदि पात्रों के द्वारा लेखक ने मध्यवर्ग के सम्पूर्ण चित्रों को समेट कर उपस्थित करने का प्रयत्न किया है।

'जमुना' निम्न मध्यवर्ग की एक भयानक समस्या है। आर्थिक नींव अत्यन्त खोखली है, जिसके कारण विवाह, परिवार, प्रेम आदि सभी की नींवें हिल गयी हैं। समाज के अन्दर जो घोर अनैतिकता का वातावरण छाया हुआ है, उसकी ओर लोगों की दृष्टि नहीं जा रही है, बल्कि लोगों ने उस ओर से अपनी आँखें मूँद ली हैं। जब तक पूरी जिन्दगी की व्यवस्था बदल नहीं दी जाती तब तक इस सामाजिक विषमता के अन्दर समन्वय स्थापित हो ही नहीं सकता। इसमें सन्देह नहीं कि यदि 'जमुना' और 'तन्ना'

स्वाभाविक प्रणय, परिणय के रूप में बदल गया होता तो दोनों को जीवन की कठोर गलियों से गुजरना न पड़ता। न जाने कितने इस प्रकार के युवक और युवतियाँ माता-पिता की थोथी वंश-मर्यादा तथा दहेज देने की असमर्थता के कारण अपने जीवन के स्वर्णिम क्षणों में ही घुट-घुटकर दम तोड़ देती हैं। आज भी कितनी ही ऐसी माताएँ तथा पिता मिल जायेंगे जो लड़की को पीपल से ब्याह देना तथा लड़के के लिए काष्ठ पुत्तलिका ला देना उचित समझते हैं, परन्तु कुल-मर्यादा तथा दूषित प्रथाओं से रंचमात्र भी विचलित होना अपनी शान के विरुद्ध समझते हैं। जब तक व्यक्ति के अन्दर क्रांतिकारी भावनाएँ स्थान नहीं पायेंगी तब तक मानवीय शृंखलाओं का टूटना असम्भव है। प्रत्येक व्यक्ति को ईमानदार होना चाहिए, यह सच है कि वह उस व्यवस्था द्वारा लादी गयी सारी नैतिक विकृति को भी अस्वीकार करे और उसके द्वारा आरोपित सभी झूठी मर्यादाओं का भी, क्योंकि दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू होते हैं। लेकिन हम यह विद्रोह नहीं कर पाते, अतः नतीजा यह होता है कि 'जमुना' की तरह हर परिस्थिति में समझौता करते जाते हैं। परन्तु समाज में सभी 'जमुना' तो नहीं हो सकते? अतः जो "इस नैतिक विकृति से अपने को अलग रखकर भी इस तमाम व्यवस्था के विरुद्ध नहीं लड़ते, उनकी मर्यादाशीलता सिर्फ परिष्कृत कायरता होती है।"

'तन्ना' पढ़े लिखे मध्यवर्ग का सच्चा प्रतीक है। उसने थोड़ी-बहुत अंग्रेज़ी की शिक्षा तो अवश्य प्राप्त कर ली है, परन्तु उससे उसके संस्कारों में किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं हो सका है। वह एक अत्यन्त दीन एवं दुर्बल व्यक्तित्व का व्यक्ति है। वह कभी भी सामाजिक कुरीतियों को तोड़ने की कौन कहे, उनके बुरे होने पर खेद भी प्रकट करता नहीं दिखाई पड़ता, भले ही जीवन-भर वह उससे घुटता पिसता रहता है और अन्त में रेलवे अस्पताल में अपनी ही टाँगें खोकर सदा के लिए दृश्य से दूर हो जाता है। आर्थिक विषमताओं, अनमेल विवाह तथा परिवार की थोथी मर्यादाओं ने 'तन्ना' का विनाश कर डाला। हमारे मध्यवर्गीय समाज की अवस्था इतनी शोचनीय है कि 'माणिकमुल्ला' ऐसे न जाने कितने परिवार हैं, जिनके अन्दर यह भी क्षमता नहीं है कि वे एक साधारण-सी गाय रख सकें।

मानव-जीवन के अन्दर अर्थ इतना प्रधान हो गया है कि मानवता उससे दूर हो गई है। स्त्री का व्यापार करने वाले अथवा उसके शरीर-साध्य धन पर जीवन-निर्वाह करने वाले मनुष्यों की आत्मा इसलिए मर गई है कि मनुष्य के जीवन में 'अर्थ, प्रधान हो उठा है। 'सत्ती' ऐसी कितनी 'युवतियों' का क्रय-विक्रय समाज में आये दिन होता रहता है। आज का मध्यवर्ग जिस जिन्दगी में जी रहा है उसमें 'प्रेम से कहीं ज्यादा महत्वपूर्ण हो गया है आज का आर्थिक संघर्ष, नैतिक विशृंखलता और इसीलिए इतना अनाचार, निराशा, कटुता और अँधेरा मध्यवर्ग पर छा गया है।

प्रभाकर माचवे

प्रभाकर माचवे का 'परन्तु' नामक उपन्यास नवीन कलात्मक प्रतिमा का सर्वोत्तम उदाहरण है। प्रत्येक परिच्छेदों में एक व्यक्ति की कथा का निर्वाह करते हुए लेखक ने सम्यक् रूप से उपन्यास की सृष्टि की है। इस उपन्यास के अन्दर मध्यवर्ग के सबसे बड़े शत्रु पूँजीपति तथा निम्न मध्यवर्ग की विवशताजन्य परिस्थितियों का लेखा-जोखा लिखा गया है। 'हेमवती' नामक ग्रामीण विधवा कन्या अपने मामा के यहाँ कलकत्ता जाती है, जहाँ पर वह सरजू पांडे, जो कि अपने मालिक के काम-यज्ञ के लिए नारी-हव्य जुटाया करता था, के षड्यंत्र से सेठ लक्ष्मीचन्द के यहाँ नौकरी करती है; जो केवल श्रम के ही पैसे नहीं देता, बल्कि पैसे से सतीत्व भी खरीदता है। आर्थिक विवशता तथा नौकरी के छूट जाने की आशंका से 'हेमवती' उफ तक नहीं करती और वह वृद्ध साहूकार अपने पोपले गालों वाले अधरों से उसके यौवन का सारा रस चूस लेता है। सरजू पांडे इसलिए कुकृत्य में हाथ नहीं बटाता कि वह उसे अच्छा समझता है, बल्कि इसलिए करता है कि कहीं उसे अपनी नौकरी से ही हाथ न धोना पड़े।

लेखक ने सभ्य कहलाने वाले सम्पादक वर्ग पर भी व्यंग किया है और यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि सिद्धान्तवादी खद्दरधारी सम्पादक महोदय भी चाँदी के जूते खाकर अपना सिद्धान्त भूल गये। नाच-पार्टी का विरोध करते रहने पर भी गुप्त रूप से अपनी कोठी में नाच-रंग करके भी सेठ लक्ष्मीचन्द का सम्पादकों को कुछ रुपये देकर उसे छिपा लेना उनके दाएँ-बाएँ हाथ का खेल है। सचमुच मध्यवर्गीय समाज की आर्थिक विषमताओं ने उसे रीढ़हीन बना दिया है।

आजकल मध्यवर्गीय समस्याओं को लेकर लिखे जाने वाले लघु उपन्यासों की ओर लेखकों की प्रवृत्ति अधिक जान पड़ती है। गिरधर गोपाल के 'चाँदनी के खंडहर' जैसे उपन्यास को देखकर, ऐसे उपन्यासों का भविष्य बड़ा ही उज्ज्वल दिखलायी पड़ता है।

ऐतिहासिक यथार्थवाद

ऐतिहासिक यथार्थवाद अथवा ऐतिहासिक उपन्यासकार की सीमाओं का उल्लेख सिद्धान्तखण्ड में किया जा चुका है। हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यासो पर दृष्टिपात करने पर ज्ञात होता है कि उनकी रचना भूमि में पर्याप्त वैषम्य है। सभी ऐतिहासिक उपन्यासकारो ने रचना के निमित्त इतिहास का उपयोग समान मात्रा में नहीं किया है, बल्कि उनमें परस्पर काफी अन्तर है। इतिहास के तथ्यो के उपयोग के आधार पर ऐतिहासिक उपन्यासो को शुद्ध ऐतिहासिक और इतिहासाश्रित दो प्रमुख वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। यदि हम चाहे तो ऐतिहासिक रोमास के नाम से उसका एक भेद और कर सकते हैं पर इतिहासाश्रित और ऐतिहासिक रोमास में एक निश्चित भेदक रेखा का खींचना कठिन है।

शुद्ध ऐतिहासिक उपन्यास इतिहासिक के अत्यन्त निकट होता है। इसमें एक प्रकार से किसी न किसी प्रसिद्ध इतिहास पुरुष की तथ्यात्मक जीवनी ही लिखी जाती है। कल्पना के लिए अवकाश कम होने के कारण इसमें औपन्यासिकता का अभाव होता है। उपन्यासकार इतिहास की किसी घटना विशेष अथवा पात्र विशेष से अधिक प्रभावित हो जाने के कारण अपने सम्पूर्ण ऐतिहासिक ज्ञान का उपयोग अभीष्ट घटना अथवा पात्र चित्रण के निमित्त करता है जिससे तथ्यात्मक नीरसता के आ जाने के कारण उपन्यास अपनी पठनीयता खो बैठते हैं। वृन्दावन लाल वर्मा के 'झासी की रानी' जैसे अधिकाश उपन्यास शुद्ध ऐतिहासिक उपन्यासों की कोटि मे हो आते हैं।

इतिहासाश्रित उपन्यासो में ऐतिहासिक तथ्यो के प्रति न तो विशेष आग्रह रहता है और न तो एकमात्र इतिहास प्रसिद्ध पात्रो के चित्रण की कामना। ऐतिहासिक संगति की रक्षा करते हुए उपन्यासकार जब कल्पना की सहायता से अतीत को वर्तमान-हित मे चित्रित करते हैं अथवा उन घटनाओ पात्रों एवं परिस्थितियो को सजीव रूप मे उपस्थित करते हैं, जो किन्ही कारणो से इतिहासकारो को आकर्षित नही कर सकी थीं पर इतिहास निर्माण अथवा युगीन चेतना के साथ उनका महत्त्वपूर्ण योग रहा है तो इतिहासाश्रित उपन्यासो की सृष्टि होती है। इस प्रकार के ऐतिहासिक उपन्यासकार विषय का चुनाव अपनी विशेष दृष्टि के आधार पर करते हैं। ऐसे ऐतिहासिक उपन्यासो की सृष्टि साभिप्राय होती है जिससे उपन्यासकारों को कलात्मकता का विशेष ध्यान रखना पडता है। इन्हें इतिहास के मार्मिक प्रसंगों का भी अपेक्षा कृत अधिक

सावधानी पूर्वक अध्ययन करना पड़ता है। विषय चयन के क्षेत्र में किसी प्रकार की एक रूपता का निर्वाह ऐसे उपन्यासों में सम्भव नहीं। कुछ उपन्यासकार प्रमुख इतिस पुरुषों एवं नारियों के नाम तो इतिहास से ले लेते हैं पर उनके आस पास घटनेवाली घटनाओं की कल्पना वे इतिहास के सन्दर्भ में स्वयं करते हैं। वृन्दावनलाल वर्मा का 'मृगनयनी' चतुरसेन शास्त्री कृत वैशाली की नगर वधू तथा हजारी प्रसाद द्विवेदी के उपन्यास 'बाणभट्ट की आत्मकथा' को उदाहरण स्वरूप उल्लिखित किया जा सकता है। कुछ ऐतिहासिक उपन्यासों में चित्रित घटनाएँ तो इतिहास द्वारा प्रमाणित की जा सकती हैं। उनमें चित्रित वातावरण और देशकाल की संगति इतिहास से मेल खाती है तथा दो एक नाम भी ऐसे ले लिए जाते हैं जो ऐतिहासिक हो पर प्रमुख पात्र तथा उससे सम्बन्धित सभी घटनाएँ कल्पित होती हैं। वृन्दावन लाल वर्मा कृत 'विराटा की पद्मिनी' भगवती चरण वर्मा कृत 'चित्रलेखा' तथा यशपाल कृत 'अमिता' को उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किया जा सकता है। कुछ उपन्यासों की घटनाएँ और पात्र सभी कल्पित होते हैं, केवल वातावरण ऐतिहासिक होता है। समसामयिक प्रसिद्ध इतिहास पुरुषों का नाम एकाध पात्रों के मुख से कहलवा दिया जाता है जिससे उपन्यास में गृहीत काल का बोध हो जाय। इसके अतिरिक्त सामाजिक आचार विचार तथा वेश-भूषा आदि के सजीव चित्रण के आधार पर ऐतिहासिक संगति का निर्वाह किया जाता है। ऐतिहासिक उपन्यासों के क्षेत्र में इस प्रकार के उपन्यास सफल प्रयोग कहे जा सकते हैं जो ऐतिहासिक पात्रों अथवा घटनाओं के अभाव में लिखे जाते हैं। यशपाल कृत 'दिव्य' को इस प्रकार की सफल रचना के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

विषय प्रतिपादन के आधार पर ऐतिहासिक उपन्यासों को प्रेम और घटना प्रधान, इतिहास प्रधान, राजनीति तथा राष्ट्र प्रेम प्रधान, समस्या प्रधान, संस्कृति और परम्परा प्रधान तथा मनोवैज्ञानिक विचार प्रधान वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। हिन्दी के प्रेम और घटना प्रधान उपन्यासों में इतिहास नाम की कोई खास चीज नहीं होती। पात्रों के नाम इतिहास से ले लिए जाने के कारण केवल इतिहास का भ्रम उत्पन्न हो जाता है। इसके अतिरिक्त उपन्यासकार की कल्पना का विलास स्वाभाविकता की सीमा का उल्लंघन करके ऐसी चमत्कारपूर्ण घटनाओं की सृष्टि करता है कि पाठक देखते ही रह जाते हैं। हिन्दी उपन्यास के आरम्भ काल में जब तिलस्मी एवं ऐय्यारी उपन्यासों की धूम थी प्रेम और घटना प्रधान ऐतिहासिक उपन्यास लिखे गए थे। इनमें किशोरीलाल गोस्वामी कृत 'तारा' 'कनक कुसुम' 'सोना और सुगंध' 'रजिया बेगम' 'लखनऊ की कब्र' बल्देव प्रसाद मिश्र कृत 'पानीपत' गंगाप्रसाद कृत 'कुँवर सेनापति' जैराम दास गुप्त कृत 'नवाबी परिस्तान' 'कश्मीर पतन' 'वीर वीरांगना' किशोरी बलभद्र सिंह कृत 'सौंदर्य कुसुम' 'सौन्दर्य प्रभा' तथा श्री राजचन्द्रधर कृत 'माया चक्र' आदि प्रमुख हैं।

समस्या को लेकर निरन्तर झगडे चलते रहते थे, जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कुछ लोग ऐसे भी थे जो इस व्यवस्था को मिटाना चाहते थे और समाज के प्राणियो में समानता के भाव का समर्थन करते थे। विद्वानो के अन्दर भी परस्पर समस्याओ को लेकर वाक्युद्ध हो जाया करता था। जनेऊ सम्बन्धी झगडे कहीं-कहीं पर उग्र रूप भी धारण करते जा रहे थे। नये उपनीतो ने लडाई स्वय अपने हाथो में ले ली और एकाध जगह वह लडाई जीभ से खिसक कर हाथ और डंडे पर जा बैठी। झगट का रूप जरा भयानक हो गया। मामला गगाधर राव के पास पहुँचा। नये जनेऊ वाले लोग भी बुलाये गये। प्रमुख ब्राह्मण भी। राजा को भी इन सब मामलो में काफी दिलचस्पी थी और वे स्वयं वर्णाश्रम धर्म के सच्चे अनुयायी थे। भरसक वे प्रयत्न करते थे कि राज्य की प्रजा में सामाजिक नियमो का पालन हो। परन्तु जनता के अन्दर भी जागरण आ रहा था। जब राजा ने नये उपनीत को जनेऊ उतार फेंकने को कहा तो उसने उत्तर दिया, 'अपने हाथो तो हम लोग अपने जनेऊ नहीं तोडेंगे, चाहे प्राण भले ही निकल जावें। परन्तु आप राजा हैं, चाहे जो करें।' और कठोर दंड की आज्ञा सुन कर भी वह विचलित नहीं हुआ। राजा ने गरम ताँबे का जनेऊ पहनाने की आज्ञा दी। पर 'अपराधी ने गर्व से सिर ऊँचा किया। आकाश की ओर एक क्षण हाथ बाँध कर देखा और फिर नत-मस्तक हो गया।' इससे स्पष्ट हो जाता है कि एक ओर पुरानी रूढ़ि को जीवित रखने के लिए जितनी कडाई की जा रही थी, दूसरी ओर उससे भी अधिक शक्ति लगाकर उसका विरोध किया जा रहा था।

नारायण शास्त्री की 'छोटी' सम्बन्धी चर्चा यथातथ्य सामाजिक चित्रण में एक और रंग भर देती है। 'छोटी' की रक्षा के लिए शास्त्रीजी जो उसे उपदेश देते हैं कि वह अपने बयान में यह कह दे कि शास्त्रीजी ने उसके साथ जबरदस्ती की और उस पर उसने जो उत्तर दिया उससे उसके गिरे चरित्रों में भी एक सबल आत्मविश्वास और दृढ़ता की झलक मिल जाती है। उसने कहा, 'कभी नहीं ''' अगर हमारी जात में कोई गुण है तो एक, हम लोग बेईमानी कभी नहीं कर सकते।' और जिन लोगो ने उसका धर्म माँगा है, उन्हें ही वह कहने के लिए तैयार भी है कि उन लोगो ने अपने जनेऊ उतार कर उसके हवाले कर दिये हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि नीच जाति के नागरिको में भी अपना एक चरित्र-बल था।

'वर्मा जी' ने अपने इस उपन्यास मे सामाजिक रस्म-रिवाज का चित्रण करते समय बुन्देलखड के समाज के सजीव चित्र को ला उपस्थित किया है। महाराष्ट्रीय अपने विशिष्ट त्योहारो को किस उत्साह से मनाते हैं, का पूरा-पूरा ज्ञान हमें उस प्रसंग से हो जाता है, जिसे रानी ने किले में हल्दी और कुकुम से नगर-नारियों के साथ मनाया था। स्त्री पुरुषों के वस्त्राभूषणो तक को भी 'वर्मा जी' ने तत्कालीन समाज के अनुरूप ही चित्रित किया है।

प्रायः ऐतिहासिक घटनाएँ जैसी की तैसी ही चित्रित कर दी गई हैं। उपन्यास की रोचकता बढ़ाने के लिए लेखक ने कुछ पात्रों तथा सरस प्रसंगों की कल्पना कर ली है। इसके अन्दर जितने प्रेमी युग्म आए हैं, प्रायः वे-ऐसे ही हैं। 'वर्मा जी' के उपन्यासों में प्रायः एक प्रकार का ही आदर्श पाया जाता है, जो उनकी पिटी-पिटाई शैली है। उनके ऐतिहासिक उपन्यासों में वही आदर्श चरित्रों की कल्पना और वही अतीत का गौरव-गान निहित है चाहे वह 'झाँसी की रानी' हो अथवा 'मृगनयनी'। कुछ विद्वान तो इसे उपन्यास कहने में भी संकोच करते हैं तथा इसे रानी लक्ष्मी बाई की जीवनी कहना अधिक युक्ति संगत मानते हैं। सम्पूर्ण उपन्यास का विभाजन जिस प्रकार किया गया है वह ही स्पष्ट कर देता है कि लेखक के मन में रानी का सांगोपांग जीवन चित्रित करने की कामना है। यह चार भागों में विभक्त है। प्रथम भाग 'ऊषा के पूर्व' एक संक्षिप्त भूमिका है, 'उदय खंड' में रानी के शैशव से लेकर विवाह तथा दत्तक की अस्वीकृति आदि तक की घटनाएँ हैं 'मध्याह्न' में विभिन्न छावनियों के असंतोष, रानी के सैन्य-संगठन, सिपाही-विद्रोह का आरम्भ, झाँसी पर रानी का पुनः अधिकार तथा शासन व्यवस्था आदि के वर्णन हैं और अन्त में झाँसी का विनाश, कालपी तथा ग्वालियर का युद्ध और रानी की मृत्यु का अंकन किया गया है जिसे हम शैशव, यौवन तथा अन्त काल के नाम से भी अभिहित कर सकते हैं।

लेखक ने रानी के सम्बन्ध में बिखरी समस्त ऐतिहासिक तथा परम्परित घटनाओं को लेकर अपनी कल्पना का अद्भुत रंग डाल कर रानी के एक ऐसे आदर्श चरित्र का निर्माण किया है, जो हिन्दी साहित्य के लिए ही नहीं बल्कि भारतीय इतिहास के लिए भी एक नवीन देन है। आरम्भ से अन्त तक रानी के चरित्र में उपन्यासकार असाधारणता दिखलाने में सफल हुआ है। 'बचपन से ही जिसका जीवन कुश्ती, मलखंभ, अश्वारोहण एवं अस्त्रशस्त्र में बीता, जिसकी कल्पना में एक देशव्यापी क्रान्ति का चित्र बनता-बिगड़ता रहता था, जिसने नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः' के रहस्य को आयत्त कर लिया था, जिसने बरसाती नदियों एवं वन-पर्वतों की उपेक्षा करके सागरसिंह जैसे दुर्दमनीय डाकू को स्वयं पकड़ लिया, जिसने सम्मुख युद्ध में अपनी वीरता से अंग्रेजों के छक्के छुड़ा दिए, वही हल्दी कुंकुम जैसे पर्व पर झाँसी की सामान्य स्त्रियों के बीच पतियों के नाम पूछने और बताने में साधारण स्त्री-सा ही उत्साह प्रदर्शित करती है। अधेड़-अवस्था वाले पति के प्रति भी उनकी भावना किसी अन्य नारी से भिन्न न थी।'[1] जो सभी आदर्श गुण हैं जिनके द्वारा लेखक ने रानी के महानतम दृढ़ चरित्र की रचना की है।

---

१. हिन्दी उपन्यास—पृ० १६६, ६७ सु० सं०

उनने बड़े शूर सामंतों ने यदि अपनी शारीरिक भूख को कुछ काल की अवधि के लिए थगित कर दिया तो अधिक अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। इसे तो हम रानी : प्रभावशाली व्यक्तित्व का प्रभाव ही कह सकते हैं।

गनयनी

'वर्माजी' के इस ऐतिहासिक उपन्यास का प्रणयन सन् १९५० में हुआ। 'मृगनयनी' के भीतर उपन्यासकार की अपेक्षा 'वर्माजी' का इतिहासकार रूप अधिक उभड़ आया है। जहाँ तक वातावरण को यथार्थ रूप में चित्रित करने का सम्बन्ध है 'वर्माजी' को आशातीत सफलता मिली है और उनकी सजीव कल्पनाओं के कारण ऐतिहासिक तथा लोकतत्वों का सहज सामंजस्य उनकी कृतियों में मिल जाता है। देश-काल तथा लोक-तत्वों को ऐतिहासिक सूत्रों के साथ सम्बद्ध करने में 'वर्माजी' को अद्भुत कमाल हासिल है। 'वर्माजी' के समस्त ऐतिहासिक उपन्यासों में उनकी वीर-पूजा की भावना निहित है। यही कारण है कि इनके चरित्रनायक अपनी मर्यादा से कहीं भी फिसलते नहीं जान पड़ते। ऐतिहासिक तथ्यों का यदि अनावश्यक मोह उपन्यासकार को न होता तो उसके सभी ऐतिहासिक उपन्यास उत्तम जीवनी की श्रेणी में आ जाते। चाहे वह 'झाँसी की रानी' हो अथवा 'मृगनयनी'।

'मृगनयनी' एक प्रकार से रानी मृगनयनी की जीवनी है। उपन्यास के आरम्भ से ही उपन्यासकार 'मृगनयनी' के उन गुणों को दिखलाने में सचेष्ट है, जिन पर आगे चलकर उसके आदर्श चरित्र का महल खड़ा होता है। जहाँ तक उपन्यास की कथा-वस्तु का प्रश्न है, रानी सम्बन्धी जीवनी का क्षेत्र अत्यंत संकुचित है। लेखक ने उसका विस्तार ऐतिहासिक घटनाओं के समावेश से किया है। ग्वालियर के राजा मानसिंह तोमर, जिनका राजकाल सन् १४८६ से १५१६ तक था, के सम्बन्ध में बिखरी ऐतिहासिक घटनाओं को लेखक ने लाकर मृगनयनी की कथा के साथ जोड़ दिया है। उपन्यास की कथा का बाहरी आवरण पूर्णतः ऐतिहासिक सत्यों पर आधारित है, परन्तु चित्र को सजाने के लिए काल्पनिक कथा का ही रंग भरा गया है. जिसने उपन्यास की कथा का आकार बढ़ पाया है नहीं तो वस्तुतः कथा का सार, राई गाँव में रहने वाले एक दीन गूजर किसान की कन्या निन्नी (बाद में मृगनयनी) की बाल-लीला, शिकार को मार गिराने की अद्भुत कला, अलौकिक सौंदर्य की चर्चा, जिससे राजा मानसिंह के साथ ब्याह और दोनों की काव्य तथा कला-प्रियता ही है।

'मानसिंह तोमर' के साथ 'मृगनयनी' का ब्याह ऐतिहासिक सत्य है, जिसका प्रमाण आज भी 'मानसिंह' द्वारा निर्मित किले के भीतर का रानी गूजरी का महल दे रहा है। जैसा कि लेखक ने भूमिका में लिखा भी है कि मानसिंह तोमर का राज्यकाल १४८६ से १५१६ तक ग्वालियर में रहा जिसके लिए उसने फरिश्ता के-

इतिहास लेखक का भी नाम लिया है। मानसिंह एक वीर, विविध कलाओं का पारखी तथा कुशल शासक था, इसका जिक्र अन्य इतिहासकारों ने भी किया है। और यह भी सत्य है कि उसने मृगनयनी के रूप-गुण और बल की प्रशंसा सुनी और स्वयं देखा भी, जिस पर वह इतना मुग्ध भी हुआ कि अपने राजसी सम्मान का बिना ध्यान रखे हुए भी उसने उससे व्याह करने का स्वयं ही प्रस्ताव किया। लेखक ने इतिहास का इतना ही सूत्र पकड़ा है, जिस पर उसने अपने उपन्यास का भव्य भवन निर्मित कर डाला। उपन्यास को पढ़ लेने पर ऐसा जान पड़ता है कि उपन्यासकार के मन में शक्ति की दो भावनाएँ एक साथ जागरूक हैं, जिनके संघर्षों के बीच उसे अपनी कृति का प्रणयन करना पड़ा है। एक तो ऐतिहासिक तथ्यों के प्रति उसका आग्रह तथा दूसरी ओर 'मृगनयनी' को एक आदर्श नायिका के रूप में चित्रित करने का मोह, जिससे उपन्यास अपनी स्वाभाविक गति से आगे नहीं बढ़ने पाया है; बल्कि उसे उपन्यासकार की इच्छाओं के अनुसार मुड़ना पड़ा है और यही कारण है कि उसमें ऐसे स्थल आ गये हैं जिस पर चलने में पाठक थकता और ऊबता है। इस कठिनाई के होते हुए भी जो इसमें आकर्षण रह गया है वह अद्भुत ऐतिहासिक रस के ही कारण।

इस ऐतिहासिक उपन्यास की सृष्टि के लिए उपन्यासकार को विषय चयन के निमित्त काफी इधर उधर की दौड़ लगानी पड़ी है। कथा और पात्रों के निर्माण में उन्होंने जिन तथ्यों का उपयोग किया है, वे सभी प्रामाणिक एवं इतिहास समर्थित हैं ऐसा नहीं कहा जा सकता। उपन्यास में आए जिन तथ्यों को उपन्यासकार ने ऐतिहासिक माना है, उन्हें प्रामाणिक और अप्रामाणिक दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। मानसिंह तोमर का शासन-काल, तत्कालीन राजनैतिक परिस्थितियों तथा मान-मन्दिर और गूजरी रानी का महल, इतिहास समर्थित प्रामाणिक तथ्य हैं। भूमिका भाग में सिकन्दर लोदी के दरबारी अखबारनबीस का उल्लेख वर्मा जी ने किया है, पर उसे पक्षपात पूर्ण मानकर अस्वीकार कर दिया है। इसी प्रकार का दूसरा तथ्य 'मीराते सिकन्दरी' का भी है। यह फारसी 'तवारीख' है जिसका अनुवाद 'इलियट' और 'डासन' ने किया, जिसमें महमूद बघर्रा के कलेवे का वर्णन मिलता है। इसे प्रामाणिक मान कर उपन्यास में 'वर्मा' जी ने स्वीकार कर लिया है। मानसिंह तोमर के पराभव से सम्बन्धित घटनाओं को अस्वीकार कर लेने की बात तो समझ में आती है क्योंकि वह उपन्यास का चरित्रनायक है, पर अनावश्यक भराव के लिए बघर्रा ऐसे प्रसंगों को स्वीकार कर लेने की बात समझ में नहीं आती।

अध्ययन और भ्रमण दोनों ने उपन्यासकार को सहायता दी है। भ्रमण के बल पर ही वह उन स्थानों का सजीव वर्णन कर सका है जहाँ-तहाँ उपन्यास की घटनाएँ घटी हैं। साथ ही इस उपन्यास में जनश्रुतियों को भी उपजीव्य बनाया गया है जो

सम्भावित सत्यको आधार मान कर मार्मिक प्रसंगो का गठन किया गया है। मृगनयनी को भैंसे की सींग मरोडते, मानसिंह ने महल के झरोखे से देखा, जब कि सींग मरोड़ने का स्थान राईगाँव महल से ग्यारह मील की दूरी पर स्थित है। इसे न स्वीकार कर के सम्भावित सत्य के आधार पर यह स्वीकार कर लेना कि मानसिंह शिकार खेलने राईगाँव गया था, जहाँ उसने मृगनयनी को सींग मरोडते देखा, अपेक्षाकृत स्वाभाविक है। ऐसा माना जाता है कि मानसिंह के सौ रानियाँ थीं, पर इसे न स्वीकार करके 'वर्मा' जी ने 'गाइड' की बात मान ली है कि आठ (एट) रानियाँ थी। सौ रानियों के मान लेने में कोई कठिनाई नहीं थी क्योंकि उस काल मे बहुपत्नीत्व की परम्परा मर्यादा का भी अतिक्रमण कर रही थी। कहा जाता है कि मानसिंह कछवाहा के रानियों की संख्या १५०० और लड़कों की संख्या ३००० थी और अकबर के जनानखाने मे ३००० स्त्रियाँ रहती थीं। गाइडो की बातों को ऐतिहासिक तथ्य के रूप में स्वीकार करना कठिन है। गाइडो का यह कह देना कि हुमायूँ को भीम ने उसके पुस्तकालय से नीचे ढकेल दिया था क्योंकि यह कमरा पहले भीम का था, इतमादुद्दौला का मकबरा नूरजहाँ ने अपने प्रेमी इतमादुद्दौला की स्मृति में बनवाया, तथा आगरे के किले में वर्तमान पत्थर के टब को भीम के भांग घोटने का पात्र बता देना जिसमें नूरजहाँ के स्नान के लिए जल को पुष्पों द्वारा सुगन्धित किया जाता था, सामान्य सी बातें हैं जिन्हें उपन्यासकार को ऐतिहासिक तथ्य के रूप में नहीं स्वीकार करना चाहिए। कहीं तो वर्मा जी ने ऐसे तथ्यो को स्वीकार कर लिया है और कहीं उन्हें अप्रामाणिक ठहरा दिया है। स्वीकार और अस्वीकार की एक पद्धति होनी चाहिए जिससे विषय एवं प्रभाव में एकरूपता लाई जा सके। मृगनयनी के दोनो लड़के राजे और बाले से सम्बन्धित विष आदि की ऐसी ही घटनाएँ हैं। राईगाँव से ग्वालियर तक जाने वाली साँक नदी की नहर को मृगनयनी से जोड देना उपन्यासकार की अपनी कल्पना है जो सम्भावित सत्य पर आधारित है। यह वही सामन्ती युग था जिसमें प्रेमिका की यादगार में 'ताज महल' बनवा दिए जाते थे। भूकम्प की कल्पना करके आगरे के किले को ध्वस्त कर देना अपनी जगह पर सटीक बैठा है। इतिहासकारो ने ऐसा लिखा है कि सम्राट् अकबर ने आगरे के पुराने किले के स्थान पर ही अपने सुदृढ किले का निर्माण कराया। निश्चित है कि वह पुराना किला गिर गया था और उसके गिरने की कल्पना भूकम्प से अच्छी हो ही क्या सकती थी। इस प्रकार सम्भावित सत्य के आधार पर इतिहास के सूत्रों की भी रक्षा हो गई और अनेक स्थानो पर मँडराती उपन्यास की कथा को भी एक मार्ग देने में उपन्यासकार को सरलता हुई। नारियो के लिए युद्ध, उन्हें वहित्र की वस्तु समझना तथा उन्हें लेकर वहित्र बनाना, एक को मार कर एक का गद्दी पर बैठ जाना आदि ऐसी घटनाएँ हैं जो मुस्लिम शासकों के साथ सम्बद्ध हैं जिन्हें अप्रामाणिक नहीं कहा जा सकता। पर उन्हें एक सीमा तक स्थान मिलना चाहिए, यह दूसरी बात है।

वर्माजी ने निन्नी (मृगनयनी) के अतिरिक्त एक और प्रमुख नारी-पात्र की कल्पना की है जो अनैतिहासिक होते हुए भी अत्यन्त स्वाभाविक बन पड़ा है। अहीर कन्या 'लाखी' के अन्दर नारी सम्बन्धी सभी दोष-गुण वर्तमान हैं। वह बाल्य-काल से ही मृगनयनी की भाँति आदर्श-प्रयोगों की पुतली के समान चित्रित नहीं की गई है। लाखी के अन्दर स्वाभाविक राग, द्वेष, भय, तृष्णा तथा वासना आदि सभी दोष-गुण प्रभूत मात्रा में विद्यमान हैं, जिससे वह पाठकों का विश्वास अधिक आर्जित करती है। वह यदि 'मृगनयनी' के साथ बड़े-बड़े शिकार गिरा सकती है, तो उसके अन्दर गाँव के ऊपर यवनों के आक्रमण से उद्भूत स्वाभाविक भय भी वर्तमान है। यदि वह अकथ परिश्रम करके बाण चलाना सीख सकती है, तो अटल के सुगठित सलोने रूप पर अपना तन-मन भी वार सकती है। उपन्यास की मनोरंजकता बढ़ाने के लिए ही यद्यपि लेखक ने 'लाखी' की कल्पना की है, पर यदि सच पूछा जाय तो अनजाने उसने एक ऐसे चरित्र का निर्माण कर दिया जिसकी वास्तविक आभा के सामने उसका अभीष्ट चरित्र फीका पड़ जाता है। उपन्यास के अन्दर सदैव पाठक की दृष्टि अन्तिम परिणाम पर लगी रहती है; और वही उपन्यास-कला की दृष्टि से श्रेष्ठ कहा जा सकता है, जिसका अन्त एक ऐसे उत्कर्ष पर हो जो अपना स्थायी प्रभाव पाठकों के हृदय पर छोड़ जाय।

उपन्यास का प्रभाव उस समय अपनी चरम सीमा पर पहुँचता है, जब हम 'लाखी' और 'अटल' को राई में सुल्तानी सेना से घिरा पाते हैं। रात्रि के समय दुश्मन की फौज जब प्राचीरों को लाँघ कर गढ़ में प्रवेश करने का प्रयत्न कर रही थी तो 'लाखी' का उस समय गढ़ से बाहर आकर पहरेदारों को विश्राम देना और स्वयं गढ़ की रक्षा का प्रयत्न करना हमें 'झाँसी की रानी' लक्ष्मीबाई का स्मरण दिलाती है। शत्रु के संहारक तीर से जिस प्रकार लाखी का अन्त हुआ वैसी मृत्यु 'मृगनयनी' को नसीब न हो सकी और हम देखते हैं कि लेखक ने लड़कपन में जो उसकी शक्ति और शस्त्र-कला की इतनी धूम मचाई अन्त तक उसका उपयोग नहीं कर पाया। 'लाखी' के स्थान पर यदि 'मृगनयनी' होती और उसकी मृत्यु के साथ ही उपन्यास समाप्त हो जाता तो कला की दृष्टि से अधिक श्रेष्ठ था।

'मृगनयनी' का निर्माण लेखक किस प्रकार का करना चाहता है, आरम्भ से ही हमें उसका आभास मिलने लग जाता है। नदी के किनारे जब 'लाखी' मिट्टी इकट्ठा करके एक छोटे-से घर की कल्पना करती है, तो 'मृगनयनी' कल्पनाओं के महल का निर्माण करती। स्वच्छन्द प्रकृति की गोद में विचरण करती हुई 'मृगनयनी' के मन में किसी भी पुरुष के प्रति 'लाखी' की भाँति आकर्षण लेखक ने सम्भवतः इसीलिए नहीं दिखलाने दिया है कि उसे आगे चल कर अपने प्रति राजा मानसिंह को उपदेश देना है और वह उपदेश देती भी है कि आप शरीर को दृढ़ रखने के लिए संयम रखें। ऐसा लगता है कि युवती 'मृगनयनी' की अपनी स्वाभाविक कोई कामना ही नहीं

है। रानी बनने पर भी वह 'लाखी' को उसी प्रकार आदर देती है जैसा बचपन में देती रही और पैर मे सोने का अलंकार इसलिए नही पहनती कि लाखी को पहनने का अधिकार नही है। वह तो तभी पहनेगी जब 'लाखी' को भी पहनने का अधिकार मिल जायगा। उस जंगली लड़की के अन्दर लेखक ने सभी आदर्श गुणो की प्रतिष्ठा कर दी है, जैसा कि स्वाभाविक नहो है। वह बराबर चाहती है कि राजा मुझे कोई ऐसा विशेष महत्त्व न दें जिससे कि अन्य सात रानियो को कष्ट हो। वह मानसिंह से आग्रह करती है कि वे महल का नाम उसके नाम पर न रखें। इस प्रकार 'वर्माजी' ने 'मृगनयनी' के अन्दर युद्ध, कला, संगीत तथा आदर्श नारी के सभी गुणो को मूर्तमान रूप दे दिया है।

मैंने ऊपर ही कहा है कि कथा के साथ ऐतिहासिक सूत्रों को सम्बद्ध करने की कला मे 'वर्माजी' अत्यन्त प्रवीण हैं। इस उपन्यास के अन्दर बुन्देलखंड का समाज अपने स्वाभाविक रीति और रस्मों के साथ सजीव हो उठा है। होली आदि त्योहारो को कितना महत्व दिया जाता है और उनके मनाने की क्या विधियाँ हैं, आदि का सजीव चित्रण लेखक ने किया है। देश की तत्कालीन राजनैतिक परिस्थितियो का प्रभाव दिखलाते हुए लोक-तत्त्वो को जिस प्रकार लेखक ने चित्रित किया है, उससे उपन्यास की कलात्मकता मे अद्भुत योग मिला है। उस समय की आर्थिक कठिनाइयों को सीधे-सीधे विवरण न देकर लेखक ने जो होली के उत्सव का प्रसंग उठाया है, वह अत्यन्त ही मार्मिक और प्रभावोत्पादक है। जिस देश के निवासियों के अन्दर साधारण मूल्य के रंगो को खरीदने की क्षमता नही है और वे उसके स्थान पर कीचड़ और गोबर का प्रयोग करते हैं, उस देश के आर्थिक संकट की सीमा इससे बढ़कर क्या हो सकती है।

उपन्यास के अन्दर जिस ऐतिहासिक काल को कथानक के लिए चुना गया है वह ऐसा भारतीय इतिहास का संक्रान्ति काल था कि जिसमे देश के केन्द्रीय शासन में बड़ी अराजकता थी। देश पर अधिकांश शासन यवनो का था और जो स्वदेशीय राज्य थे भी वे पारस्परिक कलह में उलझे हुए थे, जिसके बीच जनता पिसी जा रही थी। दिल्ली में सिकंदर लोदी और उसके सहयोगियों में परस्पर युद्ध चलता रहता था जिससे शासन-कार्यों में अत्यन्त शिथिलता आ गयी थी। राजस्थान के अन्दर उत्तराधिकार प्राप्त करने के लिए कलह ने उग्र रूप धारण कर लिया था। राणा कुम्भा को उसके बेटे ने विष देकर मार डाला था, जिसका यह परिणाम था कि सम्पूर्ण राज्य में असंतोष और अराजकता का वातावरण छाया हुआ थी। गुजरात का अधिनायक 'महमूद बघर्रा' अपनी पाशविक नृशंसता से देश के एक कोने में रक्त का नग्नताण्डव करता आ रहा था, जिससे देश के अन्य राज्यों के अन्दर भी भय का भीषण आतंक छाया हुआ था। किसी को अपने जान और माल की रक्षा का किसी भी प्रकार का आश्वासन देनेवाला कोई नहीं था। 'मालवा' में गयासुद्दीन और उसके उत्तराधिकारी नसुरुद्दीन का अत्याचार

और विलास लीला मानवीयता का अतिक्रमण कर रही थी। दक्षिण में बहमनी राज्य और विजयनगर पाँच भागों में बिखर गया था और जौनपुर, बिहार और बंगाल में पठान सरदारों की निरन्तर नोच खसोट मची हुयी थी, जिसके बीच में तोमर राजा मानसिंह का राज्य था। ग्वालियर को निरंतर आक्रमण पर आक्रमण सहने पड़ते थे जिससे प्रजा की आर्थिक स्थिति अत्यन्त बिगड़ गयी थी। पहले ग्वालियर पर बहलोल लोदी ने आक्रमण किया था उसके बाद उसके उत्तराधिकारी सिकंदर के कई आक्रमण हुए।

इस प्रकार हम देखते हैं कि एक ओर तो ग्वालियर पर निरतर आक्रमण हो रहे थे, दूसरी ओर राजसिंह कछवाहा जो कि नरवर का दावेदार था, उसे मानसिंह से वापिस लेने के लिए मालवा के गयासुद्दीन से मिलकर षड्यंत्र कर रहा था। ऐसी स्थिति में ग्वालियर पर संकट की स्थिति का आना स्वाभाविक है। यदि उपन्यासकार ने दीनता और दरिद्रता का इतना हृदयद्रावक चित्र खींचा है कि पीने के लिए लोगों को पानी नहीं मिल रहा था, क्योंकि लाशों से कूएँ पट गए थे, तो असंगत नहीं। इतिहासकारों ने मानसिंह की शासन-कुशलता तथा वीरता की प्रशंसा की है, यदि 'वर्माजी' ने उसकी तत्कालीन लोकप्रियता तथा शौर्य का महानतम चित्र खींचा है तो उसे अतिरंजना के रूप में स्वीकार नहीं करना चाहिए।

ऐतिहासिक उपन्यासों में कथा की एकसूत्रता बनाए रखने के साथ तत्कालीन ऐतिहासिक रंग में रंग कर यदि कुछ असंगत बातें भी कह दी जायँ तो वे उतनी नहीं खटकती, जितनी कि कथा के स्वाभाविक प्रवाह की उपेक्षा करके ऐतिहासिक तथ्यों का संकलन खटकता है। इस उपन्यास के अन्दर ऐसी न जाने कितनी त्रुटियाँ वर्तमान हैं। बहुत से ऐसे लम्बे-लम्बे प्रसंग आए हैं जिनका उपन्यास की कथा से कोई सम्बन्ध नहीं है और न तो वे प्रसंग किसी प्रकार से नायक के चरित्र-विकास में योग ही देते हैं।

जहाँ तक लेखक ने मालवा के 'गयासुद्दीन' और उसके अन्तरग मटरू का वर्णन किया है वहाँ तक युक्तिसंगत है, क्योंकि इसी के राज्य में राजसिंह को शरण मिली थी जहाँ से उसने ग्वालियर में बैजू और उसकी शिष्या को भेद लेने के लिए भेजा था। गयासुद्दीन ने स्वयं भी नटों आदि को भेजकर 'मृगनयनी' को प्राप्त करने की कोशिश की थी और जब उसने सुना कि 'लाखी' नरवर में है तो उसने 'नरवर' को जीतने की जी-जान से कोशिश भी की। परन्तु लेखक ने बाद को उसकी मृत्यु हो जाने पर 'नसुरुद्दीन' के परिस्तान का जो रोचक वर्णन कर डाला है, उससे ऐसा लगता है कि वह भूल गया कि वह उपन्यास लिख रहा है, इतिहास नहीं। उसने जो यह लिखा है कि नसुरुद्दीन के महल में पन्द्रह हजार बेगमे थीं, उसने वासना की तृप्ति के लिए अपने बाप को जहर दिलवा दिया और अपना सारा समय उन्हीं परियों के बीच व्यतीत करता हुआ एक दिन अकाल मृत्यु का ग्रास बना, आदि प्रसंगों का कुछ भी सम्बन्ध उपन्यास की मूल कथा से नहीं मिलाया जा सकता।

उपन्यासकार को इसकी पूरी स्वतंत्रता है कि, वह एक समय में पाई जानेवाली बिखरी सामग्रियों को इकट्ठा कर एक कथा-सूत्र में पिरोकर उसकी माला बना ले तथा बीच-बीच मे विविध प्रश्नों को भी उठाता चले—यदि अन्त तक उनका निर्वाह कर सके तो। उसे ऐसा एक भी प्रसंग उठाने का अधिकार नहीं, जिनकी वह आगे व्यवस्था नहीं कर पाता। राईगाँव से ग्वालियर तक आनेवाली नहर के चिह्न यदि मिलते हैं तो उपन्यासकार की कलात्मकता ही है यदि वह उसका सम्बन्ध एक प्रेमी द्वारा दिये गये प्रेमिका के वादे के साथ सम्बद्ध कर देता है। यदि यह ऐतिहासिक तथ्य नहीं है कि मानसिंह के 'राईगाँव' से ग्वालियर तक की नहर 'मृगनयनी' को दिये गये वचन के कारण ही बनवाई तो भी सम्भावित सत्य अवश्य है जिसे चित्रित करने का उपन्यासकार को पूर्ण अधिकार है। राईगाँव के मन्दिर का सम्बन्ध बोधन पण्डित और गढ़ी का सम्बन्ध 'अटल' के साथ यदि जोड दिया गया है तो इसमे कोई खटकनेवाली बात नही है। पण्डित का प्रसग उठाना इसलिए आवश्यक था कि बिना उसे उठाये देश-काल का चित्रण करना उतना स्वाभाविक न होता जितना कि बन पडा है।

उपन्यासकार ने बडी ही कुशलता के साथ पन्द्रहवीं शताब्दी में पाये जानेवाले सामाजिक आचार-विचार का सजीव चित्रण उस वैष्णव पंडित के माध्यम से कर दिया है। इस एक सूत्र को पकडकर उसने दिखला दिया है कि उस समय किस प्रकार समाज मे विवाह सम्बन्धी नियम कडे थे। 'अटल' और 'लाखी' के परस्पर स्वाभाविक प्रेम होने और ऊपर से राजा के जोर देने पर भी समाज उनका परिणय स्वीकार करने को तैयार नही है। 'बोधन' पंडित को सिर दे देना मंजूर है, परन्तु 'अटल' और 'लाखी' के अनैतिक विवाह में मन्त्र पढना कबूल नही। वह बात-बात मे शास्त्रो की शरण लेता है तथा वह अपने धर्म का इतना पक्का है कि सुल्तान द्वारा मरवाये जाने तक उस पर टिका रहता है। शैवों और वैष्णवों का पारस्परिक द्वेष अपने भापरा रूप में विद्यमान था। मुसलमानों द्वारा मन्दिरों और मूर्तियों का संहार किया जा रहा था, जिससे हिन्दू जनता की आस्था भी धीरे-धीरे उन ईंट और पत्थरों से हटती जा रही थी, जो असहाय थी।

जब लेखक इस प्रकार के सूत्रों को पकड कर ऐतिहासिक देश-काल का चित्रण करता है तो उससे उपन्यास की स्वाभाविकता बढ़ती है। पर जब वह अनावश्यक प्रसंगों के साथ खिलवाड करता है तो वही अपनी कलाशून्यता का परिचय देता है।

'गयासुद्दीन' द्वारा भेजे गये नट और नटनियों के सम्पर्क में लाकर 'लाखी' और 'मृगनयनी' की स्वाभाविक जिज्ञासा को जहाँ तक दिखलाया गया है, वहाँ तक तो बात जमती है, पर जब वर्माजी 'लाखी' को रस्से पर चढ़ाकर कसरत कराने लग जाते हैं तो बात समझ मे नहीं आती कि इस अस्त्र का प्रयोग आगे किस स्थान पर करेंगे। ऐसा ज्ञान पडता है कि लेखक के मस्तिष्क में यह बात पहले से थी कि उसे 'नरवर' के किले

से रस्से पर चढ़ाकर निकालना होगा, जिसके लिए पहले से ही अभ्यास करा लेना आवश्यक है, परन्तु जब समय आया तो बात ध्यान से हट गयी। रस्से का प्रसंग तो आया और 'लाखी' ने उसे काटकर 'पिल्ली' की जान भी ले ली परन्तु लेखक पूर्व-प्रसंग की यथार्थता की रक्षा करने के लिए उसे रस्से पर चढ़ने का अवसर नहीं दे पाया। ऐतिहासिक उपन्यासों के अन्दर ऐसे मार्मिक बिन्दु हैं जिनकी अवहेलना करने से उपन्यास की यथार्थता को काफी क्षति उठानी पड़ती है।

जहाँ तक देश काल और कथा में लोक-तत्व की स्वाभाविक अभिव्यक्ति का प्रश्न है, लेखक को आशातीत सफलता मिली है। रानी मृगनयनी से सम्बन्धित इतिहास में बिखरे हुए काव्य और कला के ध्वसावशेषों के आधार पर लेखक ने रानी के आदर्श चरित्र की कल्पना की है। आरम्भ से ही उसके चरित्र में असाधारणता लाने की कोशिश उपन्यासकार ने की है। जगलों में स्वच्छंद विचरती वह गूजर किसान बाला प्रत्येक नारी दुर्बलताओं से मुक्त है उसके जीवन में न तो कहीं उच्छृङ्खल रोमांस है और न तो कहीं वासना की उष्ण गंध। ग्वालियर के किले के भीतर मानमंदिर और गूजरी रानी का महल हिन्दू वस्तु-कला के मोहक प्रतीक हैं तथा ध्रुपपद और धमार की गायकी और ग्वालियर का विद्यापीठ जिसके शिष्य तानसेन थे, आज भी भारत भर में प्रसिद्ध है।

यथार्थ चित्रण को सजीवता प्रदान करने में भाषा का विशेष महत्व होता है। वर्माजी प्रेमचन्दजी की परम्परा में आने वाले उपन्यासकार हैं जिससे पात्रों के अनुरूप ही भाषा प्रयोग की ओर उनका ध्यान रहा है। उनकी भाषा अवसर के अनुकूल बदलती रहती है, वे आवश्यकतानुसार मुहावरों एव कहावतों का प्रयोग करना भी नहीं भूलते और मार्मिक प्रसगों के चित्रण में व अपनी आलंकारिक प्रवृत्ति का भी परिचय दे जाते हैं। वर्माजी की इस प्रवृत्ति से उनके उपन्यास का आंचलिक परिवेश और भी सजीव हो उठा है। भाषा को क्षेत्रीय रूप प्रदान करने में वर्माजी को सिद्धहस्तता प्राप्त है। बुन्देलखण्ड को सजीवता प्रदान करने के लिए उन्होंने केवल भाषा ही नहीं बल्कि मार्मिक प्रसगों तक को उसके अनुरूप ढालने की चेष्टा की है। बुन्देलखण्ड में बोली जाने वाली क्षेत्रीय भाषा का जो यत्र तत्र प्रयोग मृगनयनी उपन्यास में हुआ है उससे हिन्दी के शब्द-भण्डार की श्रीवृद्धि हुई है। आंचलिक उपन्यासों में भाषा को लेकर जिस प्रकार के प्रयोग चल पड़े हैं, वर्माजी का प्रयोग उससे भिन्न है। जिसका अनुकरण आंचलिक उपन्यासकारों को करना चाहिए। आँसें (मूँछ, रेख भिनना), बिजूकार (जिसे खाने के लिए अन्य जानवर आएँ), गादे (लोंदे) और बक नहीं फटता (बात नहीं निकलती) जैसे आंचलिक शब्दों का प्रयोग इस उपन्यास में हुआ है जिससे हिन्दी शब्दकोश समृद्ध हुआ है। कहीं-कहीं उपन्यासकार की यह

प्रतिभा का उपयोग सम्पूर्ण राष्ट्रीय चेतना को अंकित करने में न लगा सका, वहीं दूसरी ओर उसने अपनी सम्पूर्ण प्रतिभा-शक्ति को अंचल विशेष में केन्द्रित कर अत्यन्त विश्वसनीय चित्रों का निर्माण किया है जो उसकी कला से सँवर कर आंचलिक होते हुए भी अखण्ड राष्ट्रीय एकता के भावों को वहन करने की क्षमता रखते हैं। इस स्वस्थ आंचलिक प्रवृत्ति के कारण कलाकृति को किसी प्रकार का आघात नहीं लगने पाया है बल्कि इससे उपन्यासकार को अपने तथ्यों एवं कथनों के प्रति ईमानदारी दिखलाने का अनजाने ही सुअवसर मिल गया है। राई गाँव सांक नदी के तट पर फिर से आबाद हुआ जो निरन्तर आक्रमणों के कारण उजड़ गया था। पहाड़ों से निकल कर सांक नदी राई गाँव का चरण प्रक्षालन करती हुई वीरान भू-खण्ड में नवजीवन का निरन्तर उद्घोष करती है जिसकी प्राकृतिक सुषमा में उपन्यासकार ऐसा रम गया है कि उसने उपन्यास की सारी घटनाओं एवं प्रमुख चरित्रों के कार्यकलापों को उसके हृद्भाग में ही उठा लाया है। सीमित क्षेत्र में केन्द्रित हो जाने के कारण एक भी मार्मिक स्थल उपन्यासकार की मार्मिक आँखों से छिप नहीं पाया है। तट से लगे हुए विस्तृत भू-खण्ड, उसमें लहलहाती हुई नई फसलें, सोल्लास भ्रमण करते हुए उन्हें स्पृहा से देखने वाला किसानों अथवा नगर-निवासियों की आँखें तथा शिकारों से पूर्ण घने जंगलों की मनोहर छटा इस उपन्यास का अंग बन गई है जिसका अपना स्वतंत्र महत्त्व है। इस गाँव के जिस पुनरुत्थान काल से उपन्यास प्रारम्भ हुआ है उसका ऐसा विश्वसनीय चित्र अंकित करने में उपन्यासकार सफल हुआ है कि पन्द्रहवीं शताब्दी में होने वाले नृशंस आक्रमणों के कुपरिणामों का हृदयद्रावक चित्र उपस्थित हो गया है जिसे आधार बना कर आगे घटने वाली घटनाओं में लेखक ने प्राणप्रतिष्ठा की है। राई गाँव का चप्पा-चप्पा उपन्यास में बोल उठा है।

अंचलविशेष अथवा युगविशेष में रहने वाले समाज के वास्तविक चित्रण में लोगों की वेशभूषा, खान-पान, प्रथा-परम्परा एवं सामाजिक आचार-विचार आदि के वर्णन विशेष सहायक होते हैं। राई गाँव में रहने वाले आर्थिक दृष्टि से विपन्न गाँव निवासी कैसे वस्त्र धारण करते थे, इसका चित्रण करना उपन्यासकार नहीं भूला है। स्त्रियों में वस्त्राभूषण के प्रति विशेष आकर्षण होता है क्योंकि अपने को सजा कर रखने की अज्ञात भावना उन्हें बराबर इस ओर प्रेरित करती रहती है। मृगनयनी तथा लाखी ऐसी आखेटप्रिय एवं प्रकृति के क्रोड़ में स्वच्छन्द विचरण करने वाली बालिकाओं में भी नारी सुलभ आकर्षण विद्यमान है, जिसे आधार बनाकर उपन्यासकार एक ओर तो राई गाँव की आर्थिक स्थिति का चित्रण करने का अवसर निकाल लेता है और दूसरी ओर वह मटरू की प्रेरणा से भेजे गये गयासुद्दीन के दूत नट-नटिनियों के वस्त्रों को विशद चर्चा करता है, जिन्हें देखकर मृगनयनी और लाखी के मुँह में पानी भर आता था। इससे स्पष्ट हो जाता है कि आर्थिक स्थिति को आधार बना कर ही लोग वस्त्रादि का

उपयोग कर पाते थे। मुद्राशक्ति का प्रभाव उस काल के समाज पर अत्यधिक नहीं हो पाया था जिससे वस्तुविनिमय के आधार पर ही लोग परस्पर अपने अभावों की पूर्ति कर लिया करते थे जिसका स्वरूप आज भी ग्रामीण कृषकों में सुरक्षित है। नट-नटिनें खानाबदोश जातियां थीं जो अपने कौशल एवं श्रम के द्वारा बड़े-बड़े नगरों और राज-दरबारों से अच्छे-अच्छे खाद्यान्न प्राप्त कर लिया करती थीं जो राई गाँव के लोगों के लिये दुर्लभ था, जिन्हें जंगल से लाये शिकारों पर ही वर्ष के अधिक दिन बिताने पड़ते थे क्योंकि उजड़ जाने के बाद बस्ती बस ही रही थी और कृषि-कार्य को सुचारु रूप से नहीं चलाया जा पा रहा था। शिकार करने में प्रवीण मृगनयनी और लाखी जंगली सुअर आदि देकर अच्छे चावल एवं गुड़ नटिनियों से ले लिया करती थीं आदि ऐसे प्रसंग हैं जिनके चित्रण से राई गाँव और अभीष्ट समाज की आर्थिक स्थिति का चित्रण तो हुआ ही है नट-नटिनियों और मृगनयनी-लाखी के सामीप्य लाभ का भी अत्यन्त स्वाभाविक वर्णन भी सम्भव हो सका है।

सामाजिक प्रथाओं एवं परम्पराओं का सहज एवं स्वाभाविक विकास अपने-आप होता रहता है और कतिपय परिवर्तनों के साथ आगे आने वाली पीढ़ी उसे पिछली पीढ़ी से दाय रूप में प्राप्त करती रहती है। कथा के ये मार्मिक मार्मिक प्रसंग हुआ करते हैं जिसमें वृन्दावनलाल वर्मा का मन विशेष रमा है। प्रस्तुत उपन्यास के पात्रों अथवा कथा-विकास की भूमिका बन ही रही थी कि होली का त्योहार आ धमका जिसे मना राई गाँव के निवासी कैसे छोड़ सकते थे। होली ही तो भारत का एक ऐसा त्योहार है जिसमें कुछ क्षणों के लिए हिन्दू समाज की विघटनकारी खाइयाँ पट जाती हैं। राजा-रंक सभी सोत्साह अपनी कुण्ठाओं को भूल कर नव वर्ष के लिए तरो ताजा बनने का प्रयत्न करते हैं। फिर भी एक सामाजिक सीमा का निर्वाह तो होता ही है जिससे राई गाँव के निवासी भी बंधे हैं, वे भी गाँव की लड़कियों पर कीचड़ नहीं उछालते। पर लड़कियों में भी दिल होता है, उनकी भी अपनी मुराद होती है जिसे निन्नी और लाखी के रूप में परस्पर होली मना कर वे पूरी कर लिया करती हैं। उपन्यास में इस त्योहार का वर्णन एकाधिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किया गया है। एक ओर तो सजीव एवं स्वाभाविक चित्रण से उपन्यास की सरसता समृद्ध हुई है दूसरी ओर चिंतनीय आर्थिक स्थिति का संकेत भी इससे मिल जाता है। जिस देश अथवा समाज में इतनी आर्थिक शक्ति न हो कि वह त्योहारों में रंग तक न खरीद सके और उसके बदले कीचड़ और गोबर का ही व्यवहार करना पड़े, वह कितना दीन है यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है। होली का गोबर-कीचड़ भारत की दरिद्रता का प्रतीक है।

वर्माजी ने तत्कालीन कुरीतियों का ही केवल इतिवृत्तात्मक चित्रण नहीं किया बल्कि मौलिक्य को समर्थन प्रदान करने वाली परिस्थितियों का भी समानान्तर

प्रेम प्रसंगो को लेकर चित्रित किया जाता है। इनके रोमास में प्रेम मात्र नही बल्कि उसके पीछे कार्य करने वाली शक्ति का वर्णन है जिसके द्वारा इनके पात्र प्रेम की भूमिका का निर्वाह करते हुए बडे से बडे कष्टो एवं सामाजिक सघर्षो का सफलतापूर्वक सामना कर ले जाते हैं। रोमाण्टिक साहित्य घटना प्रधान साहित्य होता है। घटनाओ के कारण ही असाधारण परिस्थितियाँ उत्पन्न होती है और उनमे असाधारण कार्य करने का अवसर पात्रो को मिलता है। 'ड्यमा' और 'स्काट' का स्थान रोमास लेखन मे बडे महत्त्व का है। यथार्थ और कल्पना का सुन्दर समन्वय 'वाल्टर स्काट' के उपन्यासो मे हुआ है। 'स्काट' से पूर्व अग्रेजी साहित्य मे ऐतिहासिक उपन्यासो की स्वस्थ परम्परा का अभाव दीखता है। सभी उपलब्ध स्रोतो से प्रेरणा और सामग्री ग्रहण कर उसने ऐतिहासिक उपन्यासो को एक नूतन प्रणाली में ढालने का प्रयत्न किया, जिसमे ऐतिहासिक तथ्यो और काल्पनिक सत्यो का अद्भुत सम्मिश्रण था। जिन परिस्थितियो ने अग्रेजी साहित्य मे 'वाल्टर स्काट' को जन्म दिया उन्ही परिस्थितियो ने हिन्दी साहित्य में वृन्दावनलाल वर्मा को उत्पन्न किया। राष्ट्रीय जागरण तथा स्वतन्त्रता आदोलन के साथ ही साथ भारतीय साहित्य में ऐतिहासिक उपन्यासो का भी आरम्भ हुआ। यही कारण है कि ऐतिहासिक उपन्यासों में अतीत के गौरवगान, विगत वैभव का भावुकतापूर्ण चित्रण, देश पर बलिदान हो जाने की भावना तथा आत्म-सम्मान की रक्षा के भाव का ही प्राधान्य है। विदेशी इतिहासकारो ने भारतीय इतिहास को अपने हित मे जो विकृत करके प्रस्तुत किया था, उसे देखकर कुछ मनस्वी उपन्यासकारों को ग्लानि हुई और उन्होने अपनी कृतियो द्वारा उसका सशक्त प्रतिवाद किया। 'जय सोमनाथ', 'झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई' इसी मनोभावना से लिखे गए ऐतिहासिक उपन्यास हैं। मुंशी पर 'ड्यूमा' और 'वाल्टर स्काट' का बहुत गहरा प्रभाव है और वृन्दावनलाल वर्मा भी इससे कम प्रभावित नहीं हुए हैं। अपने अपने प्रदेश गुजरात और बुन्देलखण्डको दोनो ने उसी उत्साह और भावुकता से गौरवान्वित करने का प्रयास किया है जैसे स्काट ने स्कॉटलैण्ड को, किन्तु मुशी में रोमासप्रियता अधिक है और उसमे साहसिकता का कहीं-कहीं आवश्यकता से अधिक मिश्रण मिलता है।'[1] यह साहसिकता हमें वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यासो मे दिखलाई पडती है जिससे इस सन्दर्भ में वे 'स्काट' के उपन्यासो के अधिक निकट जान पडते हैं। वृन्दावनलाल वर्मा के पूर्व भी हिन्दी में ऐतिहासिक उपन्यासो की सृष्टि हुई थी जिनमे किशोरीलाल गोस्वामी कृत 'लवगलता', कुसुमकुमारी, राजकुमारी, तारा, चपला, शाहीमहलसरा तथा बलदेवप्रसाद मिश्र, गगाप्रसाद गुप्त, जयरामदास गुप्त, बलभद्र सिंह और दुर्गाप्रसाद खत्री के उपन्यास प्रमुख हैं। पर इन उपन्यासकारो द्वारा ऐतिहासिक उपन्यासो की

१—जगदीश गुप्त-'आलोचना उपन्यास अक' पृ० १७९।

स्वस्थ परम्परा का निर्माण नहीं हो सका था। घटनाओं की मनोरंजकता पर इन उपन्यासों में इतना अधिक बल दिया गया कि न तो उनमें सजीवता ही आ पाई और न तो उनके द्वारा ऐतिहासिक उपन्यासों के लक्ष्य की पूर्ति ही हो सकी। आगे चलकर यह कार्य वृन्दावनलाल वर्मा के ऐतिहासिक उपन्यासों द्वारा सम्पन्न हुआ। मृगनयनी की सम्पूर्ण कथा सरणि का विकास घटनाओं के ही द्वारा हुआ है पर पात्रों की स्वाभाविकता एवं सजीवता बराबर बनी रही है जैसा प्राय: रोमांस चित्रण में सम्भव नहीं हो पाता। यद्यपि 'स्काट' और वृन्दावनलाल वर्मा की रचना-भूमि में कोई साम्य नहीं है पर वर्माजी ने 'स्काट' की ही भाँति ऐतिहासिक सत्य के प्रति ईमानदारी बरतते हुए अपनी कल्पना-शक्ति तथा मनोवैज्ञानिक चित्रणपटुता के बल पर अतीत को वर्तमान के हित में प्रस्तुत किया है जिससे उसकी उपादेयता बढ़ गई है। यदि हम 'स्काट' में प्रकृति के प्रति प्रेम, स्काटलैंड के प्राचीन गौरव के प्रति मोह, लोककथाओं के प्रति आकर्षण और अध्ययन के प्रति आग्रह पाते हैं तो मृगनयनी में चित्रित राईगाँव और साँक नदी का मनोहर प्राकृतिक दृश्य, बुन्देलखण्ड का वैभव, लोकजीवन में चलने वाली कथाएँ अथवा जनश्रुतियाँ तथा ऐतिहासिक ग्रंथों का प्रभूत अध्ययन मूर्तमान हो उठा है। 'मृगनयनी' में वर्माजी ने 'स्काट' की भाँति ऐतिहासिक तथ्यों में अपनी स्वाभाविक कल्पना का रंग भरकर ऐसे तथ्यों को प्रस्तुत किया है जिनसे इतिहासकार अपरिचित थे। घटनाओं का प्राधान्य तो इस उपन्यास में मिलेगा पर उससे पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं पर कोई प्रभाव नहीं पड़ने पाया है, और यहीं आकर वर्माजी 'स्काट' से कुछ अर्थों में भिन्न हो जाते हैं। रोमाण्टिक साहित्यकार अस्वस्थ प्राचीन मान्यताओं का तिरस्कार करता है तथा अपने कल्पना विलास के लिए वह परम्परित कथा-रूढ़ियों से मुक्त होना चाहता है। मृगनयनी में घटने वाली असाधारण घटनाओं का समावेश, मृगनयनी, लाखी तथा अन्य पात्रों द्वारा असाधारण शौर्य युक्त चमत्कारिक कार्य इसके प्रमाण हैं कि उपन्यासकार ने अपनी स्वच्छन्द रचनावृत्ति को कहीं रोका नहीं है। असाधारण शौर्य सम्पन्न, साहसिक कार्यों के प्रति अनुरक्ति रखनेवाले पात्रों से मृगनयनी उपन्यास भरा पड़ा है।

मृगनयनी के रूप में जिस नारी-चरित्र की कल्पना उपन्यासकार ने इतिहास के परिवेश में की है, वह चरित्र भी स्वच्छन्दतावादी है। मध्यकालीन भारत में मृगनयनी ऐसी नारियों का अभाव भले न रहा हो, पर इतिहास अथवा साहित्य में तो वैसी नारियों का नितान्त अभाव है। जब-जब ऐतिहासिक परिपार्श्व में नारी-चित्रण के लिए साहित्यकारों की लेखनी घूमी है उन्होंने लज्जाशीला, पुरुष की छाँव से बचने वाली, कोमलांगी तथा जौहर की ज्वाला में जल मरने वाली नारी का चित्र उरेहा है। पर 'मृगनयनी' उन नारियों की परम्परा से सर्वथा भिन्न है। राजा मानसिंह को पतिरूप में स्वीकार करते हुए मृगनयनी का यह स्पष्ट कहना, कि वह पर्दा नहीं करेगी उसकी

प्रेम प्रसंगो को लेकर चित्रित किया जाता है। इनके रोमास में प्रेम का नही बल्कि उसके पीछे कार्य करने वाली शक्ति का वर्णन है जिसके द्वारा इनके पात्र प्रेम की भूमिका का निर्वाह करते हुए बडे से बडे कष्टों एवं सामाजिक संघर्षों का सफलतापूर्वक सामना कर ले जाते हैं। रोमाण्टिक साहित्य घटना प्रधान साहित्य होता है। घटनाओ के कारण ही असाधारण परिस्थितियाँ उत्पन्न होती है और उनमे असाधारण कार्य करने का अवसर पात्रो को मिलता है। 'ड्यूमा' और 'स्काट' का स्थान रोमास लेखन मे बडे महत्त्व का है। यथार्थ और कल्पना का सुन्दर समन्वय 'वाल्टर स्काट' के उपन्यासो मे हुआ है। 'स्काट' से पूर्व अग्रेजी साहित्य मे ऐतिहासिक उपन्यासो की स्वास्थ परम्परा का अभाव दीखता है। सभी उपलब्ध स्रोतो से प्रेरणा और सामग्री ग्रहण कर उसने ऐतिहासिक उपन्यासो को एक नूतन प्रणाली में ढालने का प्रयत्न किया, जिसमे ऐतिहासिक तथ्यो और काल्पनिक सत्यो का अद्‌भुत सम्मिश्रण था। जिन परिस्थितियो ने अग्रेजी साहित्य में 'वाल्टर स्काट' को जन्म दिया उन्ही परिस्थितियो ने हिन्दी साहित्य में वृन्दावनलाल वर्मा को उत्पन्न किया। राष्ट्रीय जागरण तथा स्वतत्रता आदोलन के साथ ही साथ भारतीय साहित्य में ऐतिहासिक उपन्यासो का भी आरम्भ हुआ। यही कारण है कि ऐतिहासिक उपन्यासो में अतीत के गौरवगान, विगत वैभव का भावुकतापूर्ण चित्रण, देश पर बलिदान हो जाने की भावना तथा आत्म-सम्मान की रक्षा के भाव का ही प्राधान्य है। विदेशी इतिहासकारो ने भारतीय इतिहास को अपने हित मे जो विकृत करके प्रस्तुत किया था, उसे देखकर कुछ मनस्वी उपन्यासकारो को ग्लानि हुई और उन्होने अपनी कृतियो द्वारा उसका सशक्त प्रतिवाद किया। 'जय सोमनाथ', 'झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई' इसी मनोभावना से लिखे गए ऐतिहासिक उपन्यास हैं। मुंशी पर 'ड्यूमा' और 'वाल्टर स्काट' का बहुत गहरा प्रभाव है और वृन्दावनलाल वर्मा भी इससे कम प्रभावित नही हुए हैं। अपने-अपने प्रदेश गुजरात और बुन्देलखण्ड को दोनो ने उसी उत्साह और भावुकता से गौरवान्वित करने का प्रयास किया है जैसे स्काट ने स्कॉटलेण्ड को; किन्तु मुंशी में रोमासप्रियता अधिक है और उसमें साहसिकता का कही-कही आवश्यकता से अधिक मिश्रण मिलता है।"[1] यह साहसिकता हमें वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यासो में दिखलाई पडती है जिससे इस सन्दर्भ में वे 'स्काट' के उपन्यासो के अधिक निकट ज्ञात पड़ते हैं। वृन्दावनलाल वर्मा के पूर्व भी हिन्दी में ऐतिहासिक उपन्यासों की सृष्टि हुई थी जिनमें किशोरीलाल गोस्वामी कृत 'लवंगलता', कुसुमकुमारी, राजकुमारी, तारा, चपला, शाहीमहलसरा तथा बलदेवप्रसाद मिश्र, गगाप्रसाद गुप्त, जयरामदास गुप्त, बलभद्र सिंह और दुर्गाप्रसाद खत्री के उपन्यास प्रमुख हैं। पर इन उपन्यासकारो द्वारा ऐतिहासिक उपन्यासो की

१—जगदीश गुप्त-'आलोचना उपन्यास अक' पृ० १७६।

राज्य-काल में कई नयी रागिनियों को जन्म दिया गया था, ऐसा लगता है उपन्यासकार ने इन दो प्रसंगों को एक साथ जोड़ दिया है। परन्तु इस प्रकार की ऐतिहासिक कल्पना करने की उपन्यासकार को छूट है।

वर्माजी के अन्य ऐतिहासिक उपन्यास

'वर्माजी' के उपन्यासों में ऐतिहासिक असंगतियों को सरलता से ढूँढ़ा जा सकता है, परन्तु उसे उन्होंने सजग होकर औपन्यासिकता के साँचे में ढालना चाहा है। 'गढ़ कुण्डार' में चौदहवीं शती के बुन्देलखण्ड की राजनीतिक उथल-पुथल का बड़ा ही हृदयग्राही चित्रण हुआ है। इसमें हुरमत सिंह, नाग, सोहनपाल, विष्णुदत्त, पुण्यपाल, सहजेन्द्र आदि के नाम तो इतिहास में पाये जाते हैं और मूल घटना का आधार भी ऐतिहासिक सत्य है; परन्तु लेखक ने कथा का निर्माण करने के लिए जिन सामग्रियों का उपयोग किया है, उनमें कल्पना का योग ही अधिक हुआ है। इनका 'विराट की पद्मिनी' बहुत ही सजीव एवं यथार्थ ऐतिहासिक वातावरण उपस्थित करता है और औपन्यासिकता की दृष्टि से बहुत ही सुन्दर बन पड़ा है, परन्तु इसमें इतिहास है ही नहीं। यदि इसे ऐतिहासिक उपन्यास की संज्ञा दी जाय तो 'भगवतीचरण वर्मा' कृत 'चित्रलेखा' उपन्यास भी ऐतिहासिक उपन्यास कहा जा सकता है। ऐसे उपन्यासों को किस रूप में स्वीकार किया जाय एक समस्या है।

'मुसाहिबजू' भी ऐतिहासिक उपन्यास है, परन्तु भूमिका को छोड़कर इसकी अधिकांश घटनाएँ और पात्र कल्पित हैं। 'कचनार' की सभी घटनाएँ यद्यपि सच्ची हैं, परन्तु स्थान और काल का इतना अधिक फेरफार कर दिया गया है कि संगति का बैठना ही कठिन है। इसके अन्दर इतिहास और परम्परा का समान योग है जो वर्माजी की अपनी विशेषता है।

वैशाली की नगरवधू

चतुरसेन शास्त्री का ऐतिहासिक उपन्यास 'वैशाली की नगरवधू' दो भागों में क्रम से १९४८ और १९४९ में प्रकाशित हुआ है। इस उपन्यास के ७८७ पृष्ठों में निःसन्देह लेखक ने बौद्धकालीन भारत की सामाजिक, राजनैतिक तथा धार्मिक परिस्थितियों का एक सविस्तार विवरण उपस्थित करने का स्तुत्य प्रयत्न किया है। यदि इस उपन्यास के द्वारा हम ऐतिहासिक तथ्यों का ज्ञान करना चाहें तो हमें निराश ही होना पड़ेगा, परन्तु इसके द्वारा हमें ऐतिहासिक रस की अद्भुत तृप्ति मिलती है। ऐतिहासिक उपन्यासों की उपयोगिता केवल इस बात में है कि वे जीवन के कुछ स्थायी मूल्यों का जो स्थान एवं काल दोनों से निरपेक्ष होते हैं, उद्घाटन करें। ऐतिहासिक उपन्यास, काव्य और कहानियों में जो ऐतिहासिक तथ्य होते हैं, वे शुद्ध ऐतिहा-

स्वच्छन्दवादिता का प्रमाण है। उसकी बलिष्ठ भुजाओं में शक्ति है जिनके सहारे वह हिंसक पशुओं को मार गिराती है, आरम्भ से ही वह-स्वावलम्बी रही है, अर्थ व्यवस्था के लिए उसे पुरुष का आश्रय नहीं चाहिए, सौंदर्य के कारण हो नहीं बल्कि शक्ति के कारण भी उसकी चर्चा है, उसका अपहरण नहीं किया जाता बल्कि राजा स्वयं प्रस्ताव करके विवाह की स्वीकृति की प्रतीक्षा करता है, प्रारम्भ ही मे चिता में जलने वाली रानियों की वह निन्दा करती है, घूंसे से शत्रु को भूमि सुँघा देने की उसमें दृढ़ इच्छा है रूप का जाल बिछाकर वयस्क राजा से वह सपत्नियों पर अत्याचार नहीं कराना चाहती और न तो, कैकयी तथा छुट्टो (जयतिचन्द की विजातीय रानी) की भाँति अपने बेटे के लिए उत्तराधिकार का प्रश्न खड़ा कर के राजनैतिक संकट उत्पन्न करती है बल्कि राज्य के हित में उसका त्याग करती है। फलतः मृगनयनी परम्परा से प्राप्त सामंती नारियों की अविकल प्रतिकृति नहीं बल्कि उपन्यासकार की स्वच्छन्द कल्पना की निर्मिति है। वर्माजी के ऐतिहासिक उपन्यास उसी समय लिखे-गए जिस समय हिन्दी साहित्य में स्वच्छन्दतावादी विचारों को प्रमुखता दी जा रही थी। जयशंकर प्रसाद कृत 'प्रलय की छाया' की 'कमला' इतिहास को जिस दृष्टि से देखने का निमंत्रण देती है 'मृगनयनी' भी उसी परम्परा की स्वस्थ विकसित उपलब्धि है। इस प्रकार वर्मा जी ने अपने पात्रों में जिस रोमांस की सृष्टि की है, उसके वर्तमान सामाजिक हित की संभावनाएँ सन्निहित हैं।

'मृगनयनी' की महानता प्रकट करने के लिए ही लेखक ने उत्तराधिकार का निर्णय उसके ही द्वारा कराया है। लेखक ने जिस ऐतिहासिक परम्परा को मान्यता दी है, उससे कहीं अधिक स्वाभाविक परम्परा दूसरी है। बड़ी रानी ने विष के द्वारा जो मृगनयनी की हत्या का प्रयत्न किया था वह एकमात्र अपने लड़के विक्रमादित्य को राजा बनाने की ही नीयत से। ऐसी स्थिति में मृगनयनी के दोनों लड़कों को विष देकर मरवा डालना अधिक स्वाभाविक लगता है, परन्तु मृगनयनी का स्वयं पत्र के द्वारा विक्रमादित्य को राजा घोषित कर देना, उसकी महानता में एक बहुत बड़ा योग है। और यह भी एक प्रकार से सम्भव ही है कि उसने यह त्याग विष देने की आशंका से ही किया।

कला के प्रसंग में ग्वालियर में बैजू का रहना जिसे एक बार 'बावरा' भी कहा गया है, शंका उत्पन्न करता है कि वह कौन बैजू बावरा है। साधारणतः लोग तानसेन और बैजू बावरा दो नाम साथ लेने के अभ्यासी हैं, जिनका कार्यकाल मुगल बादशाह अकबर का शासन-काल था। परन्तु बैजू बावरा के सम्बन्ध में इतिहासकार एकमत नहीं हो पाये हैं। 'बैजू' ने नये राग-रागिनियों का निर्माण किया था और इतिहास में यह भी मिल जाता है कि मानसिंह तोमर संगीत का बहुत बड़ा उपासक था तथा उसके

चलकर सम्राट् बिम्बसार के मुख्य द्वार पर पहुँच कर दम तोड़ बैठे और इधर विदूडभ ने शासन-सूत्र अपने हाथों में ले लिया। संयोगवश चम्पा राजकुमारी को दासी बनकर श्रावस्ती के महल मे पहुँच गयी। कुण्डनी और सोम ने उसका उद्धार तो किया, परन्तु अर्हंत महावीर के आदेश से हृदय पर वज्र रखकर राजनन्दी को कोशल की राजमहिषी बनने के लिए छोड़ कर सोम कुण्डनी के साथ वहाँ से चल पड़ा जब कि उसने अपना हृदय राजनन्दिनी को दे दिया था और वह भी उसे प्राणों से अधिक चाहती थी। पूर्वार्द्ध की मूल कथा इतनी ही है। प्रारम्भ में केवल अम्बपाली को वैशाली की नगरवधू घोषित किया जाना और उसके मन में उसकी प्रतिक्रिया का होना संक्षिप्त रूप मे वर्णित है। शेष कथा से उसका सम्बन्ध हो ही नहीं पाता। परन्तु उत्तरार्द्ध मे आकर सम्पूर्ण कथा का प्रवाह अम्बपाली के साथ बहने लग जाता है, जिससे इसमे अधिक औपन्यासिकता आ सकी है।

वैशाली गणराज्य के अन्दर मधुपर्वोत्सव बड़ी धूमधाम से मनाया जाता था, उस दिन लोग जगलो में आखेट करने जाया करते थे और मधुपर्व की रानी होती थी वैशाली की नगरवधू। इसी प्रसंग से उपन्यास का दूसरा खंड आरम्भ होता है। 'अम्बपाली' युवराज स्वर्णसेन के साथ जगल में आती है, जहाँ शेर की दहाड़ सुन कर स्वर्णसेन का अश्व भाग खड़ा होता है और भागते हुए स्वर्णसेन देखता है कि सिंह अम्बपाली के अश्व पर टूट रहा है। स्वर्णसेन को निश्चित हो गया कि अम्बपाली शेर का शिकार बन गई, जब कि वह एक अज्ञात द्वारा रक्षित होकर, उसी जगल की एक कुटिया में ले जाई जाती है। वह युवक सम्भवत. सोमप्रभ था जो अपनी कुटिल नीति का प्रचार करने अपने सहयोगी सैनिकों के साथ वैशाली में आया था। अम्बपाली उस युवक के प्रति आकर्षित हो जाती है। उसके जीवन में यह दूसरी घटना है जब कि महाराजा उदयन के बाद किसी युवक को देखकर उसका मन ढीला हुआ। मगध अमात्य वर्षकार भी सम्राट् बिम्बसार द्वारा निष्कासित होकर वैशाली ही में आ जमता है। भगवान् बादरायण के आश्रम में बिम्बसार ने अम्बपाली को देखा था और वहीं उसके सामने वह प्रतिश्रुत हो चुका था कि वैशाली गणराज्य को नष्ट करके वह अम्बपाली को मगध की राजमहिषी बनायेगा। सम्राट् वैशाली पर तत्क्षण आक्रमण करना चाहते थे और वर्षकार की योजना वैशाली पर प्रथम आक्रमण करने की नहीं थी, जिस मतभेद के कारण हो उसे राज्य की सीमाओं का त्याग करना पड़ा। सम्राट् ने वैशाली पर आक्रमण किया, महासेनापति हुए सोमप्रभ। बिम्बसार के गुप्त रूप से अम्बपाली के महल में चले जाने से मागधों को विश्वास हो गया कि सम्राट् मारे गये। सोमप्रभ ने प्रबल वेग से वैशाली का विनाश करना आरम्भ किया और विजय निकट ही थी कि सम्राट द्वारा प्रेषित दूत से यह जान कर कि सम्राट् अम्बपाली के विलास-गृह में स्वेच्छा से चले गये थे, उसने युद्ध रोक दिया। महासेनापति ने आत्म-समर्पण किया, परन्तु सम्राट् को सोम का देश-

सिक नहीं। उनमें बहुत कल्पना और विकृति मिली होती है। ऐसी पुस्तकों से इतिहास नहीं बल्कि ऐतिहासिक रस की ही प्राप्ति होती है जैसा कि लेखक ने स्वयं स्वीकार किया है कि इस उपन्यास की कथावस्तु का आधार बौद्ध ग्रन्थों में उल्लिखित वैशाली की एक गणिका अम्बपाली है। बौद्ध ग्रन्थों में एक स्थान पर यह संकेत मिलता है कि महात्मा बुद्ध ने वैशाली की एक अम्बपाली नामक वेश्या के यहाँ अपने शिष्यों के साथ एक दिन भोजन करना स्वीकार किया था। इतिहासों में यहाँ-कहीं यह भी उद्धृत मिल जाता है कि उस समय वैशाली ऐसे कुछ गणराज्यों में भी नियम प्रचलित था कि गण की सर्वश्रेष्ठ सुंदर कन्या को उसकी इच्छा के प्रतिकूल भी 'नगर वधू' का सा जीवन व्यतीत करना पड़ेगा। वह किसी एक व्यक्ति की परिणीता होकर नहीं रह सकती थी, उसके ऊपर सम्पूर्ण गण के नागरिकों का समान अधिकार था। लेखक ने इन्हीं दो मूल ऐतिहासिक तथ्यों को लेकर, अम्बपाली को केन्द्र बना कर चलनेवाली कथा की कल्पना की है। उपन्यास की कहानी बिल्कुल काल्पनिक है, किन्तु उसमें आये हुए अधिकांश प्रमुख पात्र ऐतिहासिक व्यक्ति हैं, परन्तु देश-काल में अन्तर डालने वाली सीमाओं का विलय करके लेखक ने बहुत से ऐतिहासिक पात्रों को एक साथ ला जुटाया है, जब कि वे समकालीन नहीं भी हैं।

उस समय मगध की राजधानी राजगृह थी और सम्राट् थे बिम्बसार। किन्तु महाअमात्य वर्षकार ने अपनी चातुरी और कूटनीति से शासन की सारी शक्ति अपने हाथों में ले रखी थी। वह प्रसिद्ध वैज्ञानिक आचार्य शाम्बव काश्यप की मारक औषधियों एवं विषकन्या कुण्डनी की सहायता से बिना युद्ध किये ही मगध-साम्राज्य की सीमा का विस्तार करता जा रहा था। उसी समय 'सोम' नामक युवक तक्षशिला से शस्त्रों एवं शास्त्रों में पारंगत होकर मगध में आ गया था। सोम आर्या मातंगी का पुत्र था। आर्या मातंगी बिम्बसार के पिता के पूज्यगुरु गोविन्द स्वामी की कन्या थी, जिसे आठ वर्ष का छोड़ कर गोविन्द स्वामी मर गये थे। वर्षकार भी गोविन्द स्वामी का ही अवैध पुत्र था किन्तु वह रहस्य किसी को ज्ञात न था। युवती मातंगी के साथ बिम्बसार एवं वर्षकार दोनों का ही अवैध सम्बन्ध था। सोम वर्षकार का पुत्र था या बिम्बसार का, इसे केवल मातंगी ही जानती थी। किन्तु वैशाली की अम्बपाली वर्षकार के ही वीर्य से उत्पन्न मातंगी की पुत्री थी, जिसे वैशाली में एक आम्र के बगीचे में फेंक दिया गया था। इसे वर्षकार भी जानता था। सोम और विषकन्या कुंडनी के ही कौशल से चम्पा पर विजय मिली और चम्पा की राजकुमारी की रक्षा भी हुई।

कौशल सम्राट् प्रसेनजित अत्यन्त विलासी एवं वृद्ध थे। उनके दासीजाया पुत्र विदूडभ का ननिहाल के शाक्यों ने अपमान किया, जिसकी घोर प्रतिक्रिया उसके मन में हुई और उसने राजा को षड्यंत्र करके निष्कासित कर दिया, जो सपत्नीक पैदल

आर्यों के अतिरिक्त देश के अन्दर अनार्य तो थे ही। आर्यों की विलासी प्रवृत्तियों के कारण जो संकरवर्ण की एक शक्तिशाली जाति बनती जा रही थी वह आर्यों से अत्यधिक खार खाये बैठी थी क्योंकि आर्यों की सामाजिक व्यवस्था ने संकरवर्ण पुत्र पैदा करने की तो स्वीकृति दे दी थी, परन्तु उसने उत्तराधिकार की कोई भी व्यवस्था का निर्माण नहीं किया था।

गणराज्यों की व्यवस्था उन दिनों किस प्रकार होती थी, उपन्यासकार ने उसका सजीव चित्र उपस्थित किया है। गणपति की ठीक स्थिति आज के लोकसभा के अध्यक्ष की-सी है जिसे 'स्पीकर' कहते हैं। किसी भी महत्वपूर्ण विषय पर मतदान लेने की जो प्रणाली उस समय विभिन्न रंग की शलाकाओं के माध्यम से थी, आज की प्रजातंत्रीय विधान-सभाओं में भी किसी न किसी प्रकार वैसी ही है। कहीं कहीं शलाकाओं का प्रयोग किया जाता, कहीं-कहीं विभिन्न पक्षों में चले जाने की प्रथा थी और स्वर के द्वारा 'हाँ' अथवा 'नहीं' करके भी कहीं-कहीं मत प्रकट किये जाते थे। परन्तु उपन्यासकार ने इसका कहीं भी संकेत नहीं किया है कि उन गणों के सदस्यों का साधारणतः चुनाव किसी प्रकार से किया जाता था। उन गण-राज्यों की कार्य-पद्धति का तो लेखक ने बड़ा ही स्पष्ट वर्णन किया है। भिन्न भिन्न राज-काज के लिए छोटे-छोटे कामों के लिए पदाधिकारी नियुक्त थे। जैसे अपराधों का न्याय करने के लिए अनुक्रम से राजा, गण, विनिश्चय, महामात्र, व्यावहारिक, सूत्राधार, अष्टकुल, सेनापति, उपराजा और राजा इतने अधिकारी मंडल के पास अपराधी को ले जाया जाता था। महत्वपूर्ण विषयों के निर्णय के लिए आठ या नौ व्यक्तियों की व्यवस्था समिति भी चुनीजाती थी। लिच्छिवियों के संयुक्त राज्य में जिन आठ कुलों के गण थे, उनमें प्रत्येक कुल से एक प्रतिनिधि लेकर आठ जनों की यह व्यवस्था-परिषद् नियुक्त की जाती थी जो सम्पूर्ण शासन-व्यवस्था करती थी।[1] इससे ऐसा लगता है कि व्यवस्था-परिषद् में प्रत्येक कुलों का समान प्रतिनिधित्व था। प्रतिनिधियों की संख्या कुलों की जनसंख्या के आधार पर नहीं निश्चित की जाती थी, बल्कि उसका निश्चय कुलों की संख्या पर किया जाता था। जो व्यक्ति जन्म से गण-राज्यों का नागरिक होता था, उसे ही राजकीय कार्यों में भाग लेने का विधान था, क्योंकि जब मागध वर्षकार ने वैशाली की गण-परिषद् के सम्मुख अपनी सेवाएँ अर्पित की तो उसे उसने अस्वीकार कर दिया। परन्तु गण-परिषद् का सहस्र स्वर्ण मुद्रा प्रतिदिन आतिथ्य के लिये दान करना, बतलाता है कि अन्य राज्यों से आये हुए अतिथियों को सम्पूर्ण सम्मान प्रदान करने की परम्परा थी।

लेखक ने जहाँ गण-राज्यों के चित्रण में अधिक सहानुभूति दिखलायी है, वहीं उसने ईमानदारी के साथ राजतंत्रीय प्रजा के सुखमय जीवन के प्रति ईर्ष्याभाव भी प्रकट किया है। उस समय तक गणों में जितनी व्यवस्था स्थापित की जा सकती थी वह

द्रोह असह्य था, दोनों का द्वन्द्व-युद्ध होता है और अम्बपाली आकर सोम से सम्राट् के प्राणों की भीख मांगती है। सम्राट् को बन्दी कर, सोम अम्बपाली को वैशाली के पास सुरक्षित भेज देता है। जब मार्या मातंगी से उसे ज्ञात होता है कि सम्राट् उसके पिता हैं, तो वह विक्षिप्त-सा कारागार में जाकर सम्राट् से क्षमा माँगता है। संधि हो जाने पर वैशाली के कारागार से वर्षकार को मुक्ति मिलती है, वह पुनः मगध का महामात्य होता है और अपने दिये गए वचन के अनुसार सम्राट् ने अम्बपाली के गर्भ से उत्पन्न पुत्र को, जिसको अम्बपाली ने जन्म लेने के साथ-साथ गुप्त रूप से सम्राट् के पास भिजवा दिया, भावी मगध सम्राट् घोषित किया। उसी समय भगवान् बुद्ध का वैशाली में पदार्पण हुआ। उन्होंने नगरवधू का भोज स्वीकार किया और अम्बपाली अपना सर्वस्व वैभव त्याग कर भिक्षुणी बन गयी तथा वैशाली से चलते समय उसने देखा कि पीछे-पीछे सोमप्रभु भी भिक्षु के रूप में चला आ रहा है।

इस उपन्यास के अन्दर मूल कथा का स्थान अत्यन्त गौण है। उपन्यासकार ने तत्कालीन सामाजिक, राष्ट्रीय तथा धार्मिक परिस्थितियों के चित्रों को अति स्पष्ट रूप में उभाड़ कर रखने का प्रयत्न किया है। इस उपन्यासके द्वारा इस बात पर अच्छा प्रकाश पड़ जाता है कि उस काल में नगर कम और गाँव अधिक थे और वे ग्राम अधिकांश सम्पन्न भी थे। देश के अन्दर मुख्यतः दो प्रकार की शासन-प्रणालियाँ वर्तमान थीं। देश के कुछ भागों में राजतंत्रात्मक शासन-प्रणाली थी, जिसमें कोशल के प्रसेनजित और मगध के सम्राट बिम्बसार के अत्यन्त सुदृढ़ राज्य थे। इन राज्यों की मूल प्रेरक शक्ति वैदिक संस्कृति थी, जिसके अनुसार आर्य लोग शासन करना अपना जन्मजात अधिकार समझते थे। इस काल में क्षत्रियों का दर्जा ब्राह्मणों से कुछ ऊपर था, परन्तु ब्राह्मण अपने को जन्म से ही महान् मानते थे, जिससे ब्राह्मण और क्षत्रियों के बीच परस्पर स्पर्द्धा के भाव स्पष्ट लक्षित होते हैं। सम्पूर्ण देश के अन्दर ब्राह्मणों का भीतरी षड्यन्त्र चलता दिखलाई पड़ता है। प्रायः वे उसी साम्राज्य की शक्ति के समर्थक थे जिसमें उनकी इच्छा प्राधान्य हो। राजाओं के मन्त्री प्रायः ब्राह्मण थे जो अधिक से अधिक शासनसूत्र को अपने हाथों में बनाये रखने का प्रयत्न करते थे। इस प्रकार पौरोहित्य तथा मंत्रित्व दोनों के द्वारा देश की सारी सामाजिक एवं राजनैतिक व्यवस्था पर ब्राह्मण धर्म का एकमात्र प्रभाव स्थापित करने की योजनाएँ नित्य बनती थीं, जिससे देश का वातावरण अत्यन्त क्षुब्ध हो चुका था।

इन राज्यों के अतिरिक्त बहुत से गणराज्य स्थापित थे, जिनमें वैशाली का गणराज्य अत्यन्त शक्तिशाली था जिसके अन्दर और भी अनेक गण थे। इन गणों और राज्यों में प्रायः संघर्ष होता रहता था, जिसका मूल कारण यह था कि ब्राह्मण लोग राजाओं को अश्वमेध-यज्ञ करने के लिए उकसाकर राज्य की सीमाओं का इसलिए विस्तार चाहते थे कि उनके धर्म का प्रचार हो, क्योंकि जितने भी गणराज्य थे वे प्रायः आर्यों के नहीं थे

आर्यों के अतिरिक्त देश के अन्दर अनार्य तो थे ही। आर्यों की विलासी प्रवृत्तियों के कारण जो संकरवर्ण की एक शक्तिशाली जाति बनती जा रही थी वह आर्यों से अत्यधिक खार खाये बैठी थी क्योंकि आर्यों की सामाजिक व्यवस्था ने संकरवर्ण पुत्र पैदा करने की तो स्वीकृति दे दी थी, परन्तु उसने उत्तराधिकार की कोई भी व्यवस्था का निर्माण नहीं किया था।

गणराज्यों की व्यवस्था उन दिनों किस प्रकार होती थी, उपन्यासकार ने उसका सजीव चित्र उपस्थित किया है। गणपति की ठीक स्थिति आज के लोकसभा के अध्यक्ष की-सी है जिसे 'स्पीकर' कहते हैं। किसी भी महत्वपूर्ण विषय पर मतदान लेने की जो प्रणाली उस समय विभिन्न रंग की शलाकाओं के माध्यम से थी, आज की प्रजातंत्रीय विधान-सभाओं में भी किसी न किसी प्रकार वैसी ही है। कहीं कहीं शलाकाओं का प्रयोग किया जाता, कहीं-कहीं विभिन्न घरों में चले जाने की प्रथा थी और स्वर के द्वारा 'हाँ' अथवा 'नहीं' करके भी कहीं-कहीं मत प्रकट किये जाते थे। परन्तु उपन्यासकार ने इसका कहीं भी संकेत नहीं किया है कि उन गणों के सदस्यों का साधारणतः चुनाव किसी प्रकार से किया जाता था। उन गण-राज्यों की कार्य-पद्धति का तो लेखक ने बड़ा ही स्पष्ट वर्णन किया है। भिन्न-भिन्न राज-काज के लिए छोटे-छोटे कामों के लिए पदाधिकारी नियुक्त थे। जैसे अपराधी का न्याय करने के लिए अनुक्रम से राजा, गण, विनिश्चय, महामात्र, व्यावहारिक, सूत्राधार, अष्टकुल, सेनापति, उपराजा और राजा इतने अधिकारी मंडल के पास अपराधी को ले जाया जाता था। महत्वपूर्ण विषयों के निर्णय के लिए आठ या नौ व्यक्तियों की व्यवस्था समिति भी चुनी जाती थी। लिच्छिवियों के संयुक्त राज्य में जिन आठ कुलों के गण थे, उनमें प्रत्येक कुल से एक प्रतिनिधि लेकर आठ जनों की यह व्यवस्था-परिषद् नियुक्त की जाती थी जो सम्पूर्ण शासन-व्यवस्था करती थी।' इससे ऐसा लगता है कि व्यवस्था-परिषद् में प्रत्येक कुलों का समान प्रतिनिधित्व था। प्रतिनिधियों की संख्या कुलों की जनसंख्या के आधार पर नहीं निश्चित की जाती थी, बल्कि उसका निश्चय कुलों की संख्या पर किया जाता था। जो व्यक्ति जन्म से गण-राज्यों का नागरिक होता था, उसे ही राजकीय कार्यों में भाग लेने का विधान था, क्योंकि जब मागध वर्षकार ने वैशाली की गण-परिषद् के सम्मुख अपनी सेवाएँ अर्पित कीं तो उन्हें उसने अस्वीकार कर दिया। परन्तु गण-परिषद् का सहस्र स्वर्ण मुद्रा प्रतिदिन आतिथ्य के लिये दान करना, बतलाता है कि अन्य राज्यों से आये हुए अतिथियों को सम्पूर्ण सम्मान प्रदान करने की परम्परा थी।

लेखक ने जहाँ गण-राज्यों के चित्रण में अधिक सहानुभूति दिखलायी है, वहीं उसने ईमानदारी के साथ राजतंत्रीय प्रजा के सुखमय जीवन के प्रति ईर्ष्याभाव भी प्रकट किया है। उस समय तक गणों में जितनी व्यवस्था स्थापित की जा सकती थी वह

अत्यन्त अपर्याप्त थी। नियमों का पूर्ण विकास नहीं हो पाया था, जनशक्ति के आधार पर बहुत से अनुचित नियमों का पालन लोगों से कराया जाता था। जैसे वैशाली का उस समय अत्यन्त ही एकाधिकृत नियम यह था कि उस समय की जो सबसे अधिक सुन्दर कन्या होती थी उसे अपनी इच्छा के प्रतिकूल भी वेश्या जीवन ग्रहण करना पड़ता था, वह 'नगरवधू' कहलाती थी, वह किसी एक व्यक्ति की परिणीता होकर नहीं रह सकती थी, बल्कि उसके ऊपर सम्पूर्ण गण के नागरिकों का समान अधिकार था। प्राचीन काल के इतिहास में इस प्रकार और भी 'राजनर्तकी' तथा 'देवदासी' आदि स्त्रियों का वर्णन आया है, परन्तु इनकी स्थिति उनसे सर्वथा भिन्न है। 'नगरवधू' का स्थान उस समय के समाज में आज की सी वेश्याओं का सा नहीं था, बल्कि वह सम्पूर्ण गण भर में सर्वश्रेष्ठ, सर्वसम्मानित एवं सबसे अधिक ऐश्वर्यशालिनी महिला के रूप में स्वीकार की जाती थी। उसके प्रत्येक संस्कार राज्य की ओर से मनाये जाते थे। परन्तु जीवन में धन, वैभव, विलास एवं सम्मान ही सब कुछ नहीं, हृदय भी कोई वस्तु है, जिसके सामने सभी नगण्य हैं। नारी जीवन में एक बार और एक व्यक्ति को प्यार करती है, इसके अतिरिक्त उसका प्यार प्यार नहीं होता, बल्कि वह उत्पन्न परिस्थितियों से समझौता मात्र करती है। इसी नियम के कारण अम्बपाली को 'हर्षदेव' को छोड़कर जिसकी कि वह वाग्दत्ता पत्नी हो चुकी थी, सबके विलास की वस्तु 'नगरवधू' बनना पड़ा।

गण अत्यन्त दुर्बल थे। राज्यों का सारा का सारा धन थोड़े से सेठों और साहूकारों के हाथों में इकट्ठा हो गया था, जिनको सहानुभूति गणों के साथ बिल्कुल नहीं थी। राजतंत्र वाले राज्यों में भी सेठ धनी थे और इतने विलासी थे कि पैदल न चलने के कारण तलवों में रोयें तक जम आये थे, और जो बिम्बिसार ऐसे सम्राट् से मिलने के लिए केवल सातवीं मंजिल से चौथी तक ही उतर सकते थे, परन्तु इतना अवश्य था कि उनका सम्पूर्ण धन-भंडार राजा की सहायता के लिए खुला रहता था और गणों के धनकुबेर गणों की सहायता के लिए एक स्वर्ण कण भी देने के लिए तत्पर नहीं थे। उनकी प्रजा कहीं-कहीं दाने दाने के लिए तड़प रही थी, क्योंकि दस्यु बलभद्र के साथियों ने जब अम्बपाली के महल को लूटना आरम्भ किया तो उन लोगों ने स्वर्ण नहीं केवल खाने के लिये अन्न ही लिया। वे साथी वैशाली के ही थे और दस्यु मंडली में भर्ती हो गये थे। इन्हीं अवस्थाओं के कारण गण-राज्य पूर्ण रूप से व्यवस्थित नहीं हो पा रहे थे।

परन्तु इतना अवश्य है कि गणों की प्रजा के अन्दर राज्यतंत्रात्मक राज्यों की प्रजा की अपेक्षा जीवन अधिक दिखलाई पड़ता है। राज्यों की प्रजा के अन्दर मुख्यतः दो प्रकार के वर्ग दिखलाई पड़ते हैं। एक तो ऐसे लक्ष्मीपतियों का वर्ग था जिसे अपने भोग-विलास से फुर्सत ही नहीं थी कि वह समसामयिक परिस्थितियों पर सोच सके और

दूसरा वर्ग ऐसे साधारण लोगों का था जिसमें सोचने-विचारने की क्षमता ही नहीं थी। वह चुपचाप राजाज्ञा का पालन करता हुआ किसी प्रकार अपना जीवन काट रहा था। परन्तु उनके सामने कम से कम भूखों मरने की समस्या नहीं थी। यही कारण है कि जितने ही ऊहापोह हमें ऐसे क्षेत्रों में दिखलाई पड़ते हैं, वे केवल राजधानी में ही अथवा उससे सम्बन्ध रखने वाले राजन्य वर्ग तथा राजकर्मचारियों में ही। सभी गणों तथा राज्यों की सरकारें अपनी वैदेशिक व्यवस्थाओं में विशेष सतर्क एवं पटु थीं। प्रत्येक सरकार के जासूसी विभाग अत्यन्त कुशल थे और ये विभाग ही उन सरकारों की सफलता एवं रक्षा के विश्वस्त शक्तिस्रोत थे। जासूसी कार्यों में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ अधिक सफल समझी जाती थीं। मगध राज्य की प्रमुख जासूस एवं विजयदात्री 'कुण्डनी' थी। अमात्य वर्षकार प्रभंजन नाई आदि जासूसों के साथ ही वैशाली में आने के कारण अपने षड्यन्त्र का जाल भली-भाँति बिछा सका। वैशाली गण-राज्य के एक प्रमुख अधिकारी जयराज का मगध में जाकर जासूसी कार्य करना तथा वहाँ की सारी पोल का पता लगा लेना ही उस विभाग की कार्य-क्षमता का प्रत्यक्ष प्रमाण है। जब हम मोहन मन्त्रणा के समय वैशाली गणराज्य के मंत्रियों के भाषण सुनते हैं जिनमें उन लोगों ने वैशाली में आये छद्मवेशी मागधों का विवरण प्रस्तुत किया था, तो निस्सन्देह उनकी कार्यक्षमता पर हमें संतोष होता है। लेखक ने इस उपन्यास में इस प्रकार की राज्य व्यवस्थाओं का अत्यन्त सजीव चित्र उपस्थित किया है।

उपन्यास की कथा का सम्बन्ध अनेक राज्यों एवं राजन्य वर्गों से होने के कारण इसके अन्दर तत्कालीन सभी सामाजिक एवं धार्मिक रूप रेखाएँ सिमिट कर आ गई हैं। उस समय तक आर्यों के अन्दर वर्ण-व्यवस्था को अत्यधिक महत्त्व मिल चुका था। चार वर्णों में ब्राह्मण और क्षत्रिय तो प्रमुख हो उठे थे और इतर दो वर्णों की दशा दयनीय थी। ब्राह्मण और क्षत्रियों ने इतर जाति की स्त्रियों को अपने उपभोग के लिए तो अपना लिया था, परन्तु उनसे उत्पन्न सन्तानों को अपने कुल तथा गोत्र से च्युत कर दिया। जिनकी एक अत्यन्त प्रबल नवीन संकर जाति बनती जा रही थी, जिसने शीघ्र ही आर्य राज्य-वंशों को हतप्रभ कर दिया। मगध का राज्य-कुल स्वयं संकर था। 'प्रसेनजित' के रनिवास में अधिकतर निम्न कुल की ही स्त्रियाँ थीं। उनके दासीपुत्र विदूडभ ने ही उन्हें सिंहासनच्युत कर दिया। शूद्रों को उच्च वर्ण की स्त्री लेने का अधिकार नहीं था और उनकी सुकन्याएँ उच्च वर्ण के उपभोग के लिए चली जाती थीं इसलिए उन्हें अपने लिए राक्षसों, द्रविणों तथा दस्युओं आदि से स्त्रियाँ जुटानी पड़ती थीं। आर्यों के अन्दर अनेक प्रकार के दुर्व्यसनों ने घर कर लिया था, जिसके कारण सम्पूर्ण भारतखण्ड में प्रसेनजित ऐसे ही कुछ सड़े-गले घमंडी और अकर्मण्य राजा रह गये थे। सम्पूर्ण राज्य-सत्ताएँ संकरों के हाथ में चली जा रही थीं।

ब्राह्मणों ने यज्ञों को प्रधानता दे रखी थी जिनकी ग्राड़ में नाना प्रकार के ग्रनाचारों को वृद्धि हो रही थी। बछड़े, बैल, भेड़ आदि पशुओं से गवालम्भन अनुष्ठान किया जाता था। कामिनी और कादम्ब का व्यापक प्रयोग दिखलाई पड़ता है। प्रायः सभी मांस खाते थे, जिनमें भैंसे अधिक प्रयोग में लाये जाते थे। दासों की प्रथा जोरों पर थी। यज्ञ के समय राजा द्वारा पुरोहित को तथा राजा के ब्याह के समय अन्य रानियों द्वारा राजा को अनेक सुन्दरी दासियाँ भेंट की जाती थीं। दासियों का क्रय-विक्रय ठीक-ठीक आज के पशुओं के समान होता था। शास्त्रीजी ने एक स्थान पर दासों के हाट का बड़ा जीवन्त चित्र खींचा है। दासों के हाट में एक बूढ़े ब्राह्मण ने आकर कहा—'एक दासी मुझे चाहिये।' 'देखिये इतनी दासियाँ हैं। यवनी चाहिये या दास?' 'दासी' 'तब यह देखिये।' उसने एक तरुणी की ओर संकेत किया। वह चुपचाप अधोमुखी बैठी रही। ब्राह्मण ने साथ के दास से कहा—'देख काक, दाँत देख, सब ठीक-ठीक है?' ब्राह्मण के क्रीत दास ने मुँह में अँगुली डाल कर दाँत देखे और निश्शंक वक्षस्थल में हाथ डालकर, वक्ष टटोल कर और शरीर को जगह-जगह टटोल कर, दबा कर देखा और फिर हँसकर कहा—'काम लायक है मालिक, खूब मजबूत है।'

यह मानव स्वभाव है कि वह भूत को सदैव वर्तमान से अच्छा समझता है। मनुष्य की सबसे बड़ी दुर्बलता है नारी और इस दृष्टि से वह युग आज - कुछ भी श्रेष्ठ नहीं ठहरता। पत्नी रहते दूसरा ब्याह करना, परस्त्री-गमन तथा अनेक पत्नियों का पति बनना किसी प्रकार का असामाजिक कार्य नहीं था। महान शास्त्रज्ञ एवं सम्राट् बिम्बसार के पिता के गुरु तथा शिशुनाग वंश को आर्य धर्म में प्रतिष्ठित करने वाले गोविन्द स्वामी जैसे महापुरुष ने भी अन्य व्यक्ति की स्त्री से संभोग करके वर्षकार को जन्म दिया था। इस प्रकार मातंगी और वर्षकार एक ही पिता से जन्मे भाई और बहन थे। अज्ञात में वर्षकार ने मातंगी का उपभोग किया जिससे अम्बपाली का जन्म हुआ और वह मातंगी सम्राट् बिम्बसार से भी नहीं बच पायी। अम्बपाली की माँ का उपभोग करने वाले बिम्बसार आगे चलकर अम्बपाली का भी उपभोग करते हैं। आर्यों के एकमात्र सम्राट् प्रसेनजित के महल में भेड़-बकरियों की भाँति सभी जाति की कुमारियों और युवतियों का मेला ही लगा रहता है। यह ऐसा युग था जब कि विलासिता अपनी चरम सीमा को पहुँच चुकी थी, मदिरा का पनाला बह रहा था तथा पशु-बलि के रक्त से धरती लाल हो रही थी, जिसका परिणाम यह हुआ कि अनुकूल वायु पाकर इसी समय बौद्ध और जैन धर्म फल-फूल उठे।

ऐतिहासिक तथ्यों में पायी जानेवाली नीरसता को दूर करने के लिए लेखक ने कुछ चमत्कार उत्पन्न करनेवाली घटनाओं की कल्पना की है। बीच-बीच में प्रेम-प्रसंगों के आ जाने के कारण उपन्यास में चलनेवाले ऐतिहासिक नीरस प्रसंगों के बीच वे पाठकों को विश्राम ही देती हैं, उनसे रुचियों में परिवर्तन आने के कारण मस्तिष्क को ताजगी ही

मिलती है। इसके अतिरिक्त उपन्यासकार ने जिन घटनाओं की योजना की है, उन्हें देखकर हमें जासूसी उपन्यासों के ऐय्यारी एवं घटनाप्रधान उपन्यासों का स्मरण हो उठता है। कुछ घटनाओं की योजना तो लेखक ने सतर्कता के साथ अवश्य की है, परंतु कुछ घटनाओं को तर्क संगत बनाने में वह असफल रहा है। उपन्यासों के अन्दर सम्भावित सत्यों को भी यथार्थ रूप में स्वीकार किया जा सकता है, परन्तु तर्क एवं सम्भावना से परे की घटनाओं का ऐतिहासिक उपन्यासों में कोई मूल्य नहीं है। वैशाली के अन्दर किसी दैवी प्रकोप का वातावरण उत्पन्न करने के लिए प्रभंजन नाई को, वर्षकार का छलिया परिव्राजक बना देना तथा कुण्डनी द्वारा राजकुमारी षोडशी और यक्ष-कुमारी का अभिनय करा कर तथा नन्दन साहु द्वारा चण्डालमुनि का चरण-स्पर्श कराकर तथा वैशाली नगर-निवासियों के मन में विश्वास जमा कर भय उत्पन्न कराने की सफल योजना बनाना सम्भावित सत्य हो सकता है, परन्तु छाया पुरुष का प्रवेश तथा महाराज उदयन का आकाश-मार्ग से आकर अम्बपाली के सामने वीणा बजाना और पुनः उसी प्रकार चला जाना अत्यन्त ही अस्वाभाविक और अयथार्थ है। ऐसे प्रसंगो से ऐतिहासिक उपन्यास को सदैव बचाना चाहिए।

राक्षसों के नगर का वर्णन और कुण्डनी द्वारा सरलता से उनका विनाश कर देना अत्यन्त ही अयथार्थ है। नगर में प्रवेश कराने का ढंग तथा राजकुमार विदूडभ का बन्दीगृह आदि तिलस्मी तहखानों का स्मरण दिलाते हैं। 'सोम' का बन्दी का पता लगा लेना तथा उनमें घुस कर युद्ध करने की कला का ज्ञान अवश्य ही उपन्यासकार को खूनी, घटना-प्रधान तथा ऐय्यारी उपन्यासों से मिला होगा। कुछ ऐसी घटनाओं तथा बातों को लेखक कह जाता है जिसकी उसने कोई भी पूर्वयोजना नहीं की है, जिससे उन पर पाठकों का विश्वास नहीं जम पाता। प्राचीन काल में विष-कन्याओं का प्रसंग अवश्य आया है परन्तु जिस प्रकार कुण्डनी बार-बार सर्पदंशन कराती है, उस प्रकार का कोई भी प्रसंग और कहीं भी नहीं मिलता। एक आश्चर्य की बात यह और हुई कि विष-कन्या को मारने वाला भी एक व्यक्ति न जाने कहाँ से यकायक आ टपकता है। भद्रनन्दी के रूप में कुण्डनी के पास वह व्यक्ति नियमानुसार सौ स्वर्ण-मुद्राएँ देकर जाता है और एक चुम्बन मात्र से उस विष-कन्या का काम तमाम हो जाता है।

एक चरित्र 'सोमप्रभ' को छोड़ कर लेखक ने जितने ही चरित्रों का निर्माण करना चाहा है, वह उन अधिकांश चरित्रों में पूर्ण असफल रहा है। लेखक, इसमें सन्देह नहीं कि वर्षकार को चाणक्य तथा कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी के 'महामात्यों' की कोटि में लाना चाहता था या उनसे और भी दो डग आगे कदम रखना चाहता था, परन्तु वह पूर्ण असफल रहा। आरम्भ में वर्षकार के षड्यंत्रों तथा उसकी व्यवस्थाओं को देख कर हमें उससे बड़ी-बड़ी आशाएँ होती हैं पर अन्त में वैशाली के कारागार से

मुक्त होकर जब हम उसे पुनः निरीह रूप में मगध के महामात्य के आसन पर देखते हैं, तो हमें अत्यन्त निराश होना पड़ता है। निष्कासित होने पर भी उसको मगध साम्राज्य के कल्याण में रत दिखाकर उपन्यासकार ने भरसक उसकी विशेषता दिखलाने की चेष्टा की है, परन्तु योजना इतनी शिथिल है कि हम यही नहीं निर्णय कर पाते कि उसका निष्कासन सत्य है अथवा षड्यन्त्र निर्माण के लिए उसका निष्कासन एक पूर्व-निश्चित योजना के अनुसार हुआ था। सम्राट् बिम्बसार का युद्ध के क्षुब्ध वातावरण में सबकी आँख बचा कर अम्बपाली के महल में चला जाना न तो उसकी मर्यादा के अनुकूल ही है और न उसका सुरक्षित वहाँ तक पहुँच जाना ही सम्भव है, जब कि जासूसों का जाल बिछा हुआ था। सबसे बड़ी बात तो यह कि अम्बपाली जो सबको धता बताती रही, एक अधेड़ से प्रेम करने लगती है। घटनाओं से स्पष्ट है कि उसके मन में वैशाली के धिक्कृत कानून की प्रतिक्रिया हो रही थी और वह अपने रूप ज्वाला के माध्यम से ही उसका विनाश चाहती थी, उसके सामने उदयन आये, सोमप्रभ आया—उसने अपने कौमार्य की रक्षा की, पर न जाने क्यों वैशाली के पतन के पूर्व ही वह अपने को अधेड़ सम्राट् के हाथों सौंप कर राजमहिषी बन जाती है जिससे न तो वह राजमहिषी ही बन सकी और न तो वैशाली का विनाश ही हो सका। यह प्रणय-प्रसंग खेल-सा लगता है।

इस उपन्यास का निर्माण साभिप्राय जान पड़ता है। सम्पूर्ण उपन्यास पढ़ लेने पर तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक तथा राजनैतिक परिस्थितियों का ज्ञान तो हो ही जाता है, इसके अतिरिक्त ब्राह्मण धर्म के ह्रास तथा बौद्ध और जैन धर्मों के उत्पन्न होकर बढ़ने तथा उनके क्रमिक विकास का सांगोपांग वर्णन हमें मिल जाता है। ब्राह्मणों की धार्मिक निरंकुशता और अत्याचारों ने बौद्ध धर्म को पनपने का अवसर दिया। जब ब्राह्मण यह कहते हों कि 'अरे मारो चाण्डाल, तू हम ब्राह्मणों के सम्मुख वेदपाठी ब्राह्मणों की निन्दा करता है, याद रख, हमारा बचा हुआ यह जलपान भले ही सब जाय और फेंकना पड़े, पर तुझ निगंठ चाण्डाल को एक कण भी नहीं मिल सकता।' तब भला बौद्ध-धर्म का प्रचार क्यों न हो। किस प्रकार राजाओं और लक्ष्मीपतियों ने इस धर्म को स्वीकार किया तथा किस प्रकार सारनाथ में आकर भगवान् बुद्ध ने अपनी शिष्य परम्परा का विस्तार करते हुए काशी ऐसे धार्मिक केन्द्र में अपने यश-वैभव का प्रतिष्ठापन किया जिसका सजीव एवं वास्तविक चित्रण हमें उपन्यास में प्राप्त हो जाता है और उपन्यास का अन्त अम्बपाली को भिक्षुणी तथा सोमप्रभ को भिक्षुक बना कर करने से इस मत की और भी पुष्टि हो जाती है। इस प्रकार का अन्त करने से इसकी कलात्मकता भी बढ़ गयी है।

इतना तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि 'शास्त्री जी' ने कुछ ऐतिहासिक तथ्यों का इस प्रकार वर्णन किया है कि उसमें अतिरंजना आ गई है। आज का पाठक उसे

स्वीकार करने में अवश्य नाक-भौं सिकोड़ेगा। यद्यपि विज्ञान के चमत्कार ने आधुनिक युग में असम्भव को सम्भव करके दिखला दिया है।

'शास्त्री जी' ने वैशाली के महायुद्ध का जो वर्णन किया है, उससे आधुनिक 'रसायनिक एवं कृमि युद्ध' (Chemical germ warfare) और रथ मुशल, महाशिला राटक जैसे रथों, यंत्रों, विविध प्रकार के टैंकों का आभास उत्पन्न होता है।"[1] प्रस्तुत साधनों का उपयोग करने का उपन्यासकार को पूरा अधिकार है, परन्तु उसे प्राचीनता के रंग में रंग कर।

सोना और खून

(प्रथम भाग जनवरी १६५८ के बाद, दूसरा भाग जनवरी १६५८ के बाद)

'सोना और खून' चतुरसेन शास्त्री का दो भागों में प्रकाशित ऐतिहासिक उपन्यास है। उपन्यास-शिल्प की दृष्टि से निश्चित ही यह उपन्यास एक नवीन प्रयोग है। मनोरंजक ऐतिहासिक और व्यापक राजनीतिक पृष्ठभूमि पर लिखा उपन्यास होने के साथ ही साथ यह लेखक के विस्तृत और गम्भीर अध्ययन का भी द्योतक है क्योंकि इसमें ऐतिहासिक तथ्यों को बिना तोड़े-मरोड़े वास्तविक रूप में रखने का प्रयत्न किया गया है। यही कारण है कि यह उपन्यास की अपेक्षा इतिहास अधिक जान पड़ता है। इसका कथानक कम्पनीकालीन भारत से लिया गया है। प्रथम भाग में मुगल साम्राज्य के नाममात्र बादशाह अन्तिम अकबर, शाहआलम तथा उसके एक पीढ़ी बाद तक की राजनैतिक अवस्था का चित्रण है।

अंग्रेजों ने किस प्रकार एक के बाद एक को मिलाकर देश की बड़ी-बड़ी शक्तियों को ध्वस्त कर दिया, उपन्यास के प्रथम भाग का मुख्य विषय है। उपन्यास के अध्यायों के नाम उसमें आने वाले व्यक्तियों और घटनाओं के नाम पर रखे गये हैं जो उपन्यास के अंग होते हुए भी स्वतंत्र वर्णन के रूप में लिखे गये हैं, जैसे—मियां खुर्शीद मुहम्मद खाँ उर्फ बड़े मियाँ जिनकी चौधिरी प्राणनाथ से बड़ी दोस्ती थी जिसका निर्वाह उन्होंने अपने जीवन के अन्त तक किया और अन्त में फकीर होकर यतीम रूप में जिनकी लाश हो कलकत्ते की सड़क पर पाई गई। मुगलकालीन भारत की आखिरी रईसी तथा हिन्दू-मुस्लिम के पारस्परिक सम्बन्धों की भी चर्चा इसी बड़े मियाँ और चौधिरी प्राणनाथ के माध्यम से की गई है। बड़े मियाँ और चौधिरी प्राण नाथ ही उपन्यास के आरम्भ से अन्त तक कथा के सूत्र को जोड़ने के लिये वर्तमान रहते हैं और बिखरी कथाओं को एकसूत्रता प्रदान करते हैं नहीं तो 'सोना और खून' को उपन्यास कहना ही कठिन था।

१—जगदीश गुप्त—आलोचना, 'उपन्यास अंक', पृष्ठ १८१।

चौधिरी प्राणनाथ मराठों के समर्थन में राजे-नवाबों में घूमते हुए दिल्ली जाते हैं जिससे वे एक व्यापक आन्दोलन के प्रतीक के रूप में चित्रित किये गये हैं। अन्त में प्राणनाथ के सभी लड़के मुक्तेसर में ही जिसे उन्होंने पंजाब से आने के बाद 'माऊ' के कहने पर दखल किया था, गिरफ्तार हो जाते हैं। रामपाल तो गोली का शिकार हो चुका था, सुरेन्द्रपाल आदि को फाँसी होती है और चौधिरी मर जाते हैं। लड़की मंगला भारतीय रमणी की भाँति पिस्तौल से आत्महत्या कर लेती है।

लार्ड वेलजली की सहायक सन्धि, उसका धोका-फरेब तथा लखनऊ के नवाब को दावत पर उन्हीं के घर जाकर विवश करके धन-सम्पत्ति का समर्पण करा लेना आदि सभी अंग्रेजों की चालों का भण्डाफोड़ इस उपन्यास के माध्यम से हुआ है। कर्नल टाड से नक्शा तैयार करवा कर असावधान सिंधिया को ग्वालियर के मार्ग से जाकर परास्त करना तथा इतिहास में अतिरंजित घटनाओं को लिखवाकर हिन्दू-मुस्लिम तथा राजपूत और सिंधिया में मतभेद का बीज बोकर शक्ति को विभक्त करना आदि अंग्रेजों की ऐसी चालें थीं जिनके सामने शक्ति रखते हुए भी देशी राजे और नवाब असमर्थ सिद्ध हुए। इसके अतिरिक्त लार्ड मैकाले के द्वारा भारत में अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार करके अनेक ऐसे भारतीयों को ही अंग्रेजों ने उत्पन्न कर लिया जो अंग्रेजी राज्य के मजबूत पाये बन गये। उपन्यासकार ने उपर्युक्त घटनाओं के मूल में जाकर उनकी उचित व्याख्या प्रस्तुत की है। समरू बेगम और नवाब बब्बू खाँ उपन्यास के ऐसे पात्र हैं जो उपन्यास की नीरस कथा में अपनी उपस्थिति से सरसता का संचार करते हैं। लखनऊ के कासिम अली शाह का दिल्ली की एक वेश्या से शादी करके उसे 'नवाब क़ुदसिया' के रूप में रख लेना आदि उपन्यास के ऐसे प्रसंग हैं जो उस समय के सांस्कृतिक पहलू पर प्रकाश डालते हैं। मराठों के आतंक, पिंडारियों के लूट-मार तथा भीतरी कमजोरी के कारण ही अंग्रेजों को बढ़ने का अवसर मिला जिसका सजीव वर्णन 'सोना और खून' प्रथम भाग में हुआ है। उपन्यास का यह नाम भी प्रतीकात्मक है। अंग्रेजों ने खून देकर भारत से सोना प्राप्त किया।

दूसरे भाग का भी कथा शिल्प प्रथम भाग-सा ही है। उपन्यास कला की दृष्टि से दूसरा भाग प्रथम भाग से भी शिथिल है। इसमें ऐतिहासिक तथ्यों की मात्रा बहुत अधिक है जिसमें भारतीय इतिहास का तो वर्णन कम पर इंगलैण्ड के इतिहास की ही चर्चा अधिक हुई है। इस भाग में ईस्टइंडिया कम्पनी के आने और शासन सम्बन्धी घटनाओं का वर्णन हुआ है जिसमें ऐसा जान पड़ता है कि ऐतिहासिक तथ्यों पर ही विशेष बल दिया गया है। प्रथम भाग की कथा एक प्रकार से चौधरी प्राणनाथ के परिवार के साथ समाप्त हुई थी और दूसरे भाग की भी कथा उसके बेटे सुखलाल के पुत्र साँवल सिंह से आरम्भ होती है। साँवलसिंह कुछ दिन भटकने के बाद पुन: आकर गढ़ मुक्तेश्वर में बस गया था यद्यपि तब तक उसकी गढ़ी नष्ट हो गई थी। उसके घराने की पुरानी

धाक अब भी बनी थी जिसका उसने लाभ उठाया। वह लठैतों का सरदार हो गया था जिससे बड़े-बड़े जमींदार तथा थाने के कर्मचारी कांपा करते थे। उसी बड़े गाँव के बड़े मियाँ जो चौधिरी प्राणनाथ के अनन्य मित्र थे अपने लड़के के गुरु अल्ताफ हुसेन जिन्हें लोग मीरसाहब कहकर पुकारते थे, को लखनऊ से लाये थे जो सांवलसिंह के मंत्री थे। सांवलसिंह की पत्नी एक पुत्री मालती को जन्म देकर दिवंगत हो गई थी जिसे सांवल सिंह खूब पढ़ाना चाहता था। जब कोई मालती की शादी का नाम लेता तो सांवलसिंह नाराज हो जाता। सांवलसिंह का एक अंग्रेज शत्रु सिकन्दर साहब था जो लड़ाई में अपनी एक टाँग खोकर नील की खेती करता था। उसने नौचन्दी के मेले में जाती मालती को छीन लिया। मीरसाहब के लठैत जवांमर्दी से लड़े पर ग्रे साहब की सहायता लेकर सिकन्दर साहब ने उन्हें मार डाला और मीरसाहब भी गोली से घायल हुए। अस्पताल में स्वास्थ्य लाभ करने के पश्चात् वे मालती को ढूँढने के लिये हल्द्वानी के आगे पहाड़ों पर गये जहाँ मालती को लेकर सिकन्दर साहब चला गया था और अपनी कुशल बुद्धि के द्वारा वे मालती को पुनः सांवलसिंह से मिला सके। इस बीच सांवलसिंह की अंग्रेजी अफ़सरों से काफी नोंक-झोंक हुई। सांवलसिंह की एक रखैल नटिन पुतली थी जो बड़ी जवांमर्द औरत थी। अन्य सगोत्रियों की भाँति वह अनेकों से आशिकी नहीं करती थी। उसने न जाने कितने अंग्रेजों को कोड़े लगाये थे।

तहसीलदार के चक्कर में आकर कलक्टर 'फालकन' साहब भी पुतली के कोड़े खा चुके थे जिसे बाद में सांवलसिंह ने कृपा करके छुड़ा दिया। वह खार खाये बैठा था। लाशों को, जो सावलसिंह के आदमियों की थी, दारोगा ने सिकन्दर साहब के आदमियों को करार देकर सांवलसिंह के ऊपर कत्ल का मुकदमा चलाना चाहा, जिसमें थाने का दारोगा काफी जलील होकर लौटा। नटिन सांवलसिंह को पति रूप में मानती थी। नटिनों का रखना रईसों में उस समय एक प्रकार का फैशन हो गया था। उदाहरण स्वरूप गुलाबजान के चाहने वाले नवाब मुजफ्फर बेग तथा नवाब जबरदस्त खाँ आदि थे। यही कथा ऐसी है जो उपन्यास के प्रथम भाग की कथा को आगे बढ़ाती है। उपन्यासकार दूसरे भाग की कथा को तोड़कर उपन्यास को प्रथम भाग की कथा से पीछे उठा ले गया है जिसमें जहाँगीर और औरंगजेब तक का नाम लिया गया है और उस समय इंगलैण्ड की क्या अवस्था थी, का प्रसंग छेड़कर उपन्यासकार ने इंगलैंड का सम्पूर्ण इतिहास महारानी एलिजाबेथ तथा उसके बाद तक के काल का लिख डाला है। इङ्गलैंड का जो चित्र लेखक ने खींचा है उसमें कुमारी विवियाना का अभियोग—पोप मर्द है कि औरत, मैंने न जाने इसके बारे में न जाने कैसी-कैसी बातें सुनी हैं—गुनाह मनवाने के लिये सिकंजों में कसा जाना, प्रोटेस्टेन्ट और रोमन कैथलिकों का झगड़ा, रानी की मर्यादा, एलिजाबेथ का प्रेम, अर्ल आफ ससैक्स और एलिनर का नाटकीय ढंग से विवाह और अर्लका युद्ध में भेजा जाना तथा पुनः दरबारी अदब का अपराध लगाकर

जल्लाद के कुल्हाडे से उसका सिर कटवाना, जेल में छिपकर उससे रानी का मिलना तथा रानी और औरत का जो द्वन्द्व एलिजाबेथ में दिखाया गया है आदि ऐसे वर्णन-हैं जिनके द्वारा तत्कालीन इङ्गलैंड का सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनैतिक पक्ष अत्यन्त विश्वसनीय ढग से उपन्यास में आ गया है जो अद्भुत है।

– पालियामेंट के उदय आदि पर लेखक ने सैकडों पृष्ठ खर्च किये हैं तब जाकर वह फिर यहीं भारत में लौट पाया है। मुगल सम्राटों की अवस्था, औरंगजेब की धर्मान्धता, आलमगीर शाहेबेखबर, आदि की परिस्थितियों का सजीव चित्रण करने के पश्चात् लेखक फिर अंग्रेजी शासकों के वर्णन में लग गया है। उसने क्लाइव और वारेन हेस्टिंग्ज की नीति तथा राजा नन्दकुमार पर चलाये गये जाली मुकदमे की भी अच्छी पोल इस उपन्यास में खोली है। जाली दस्तावेज को नन्दकुमार के खिलाफ प्रमाणित कराने के लिये जिस झूठे बयान की व्यवस्था की गयी है उससे उपन्यासकार के कौशल का तो परिचय मिलता ही है साथ ही साथ अंग्रेजी सरकार के न्यायाडम्बर की भी पोल खुल जाती है। गवाह आजिम का बाद में यह स्वीकार कर लेना कि उसने जो कुछ बयान दिया है उसे उसने स्वप्न में देखा था पर उसकी स्वप्न की बातों को भी सही मानकर राजा नन्दकुमार ऐसे देशभक्त को फांसी की सजा दी गई। न्याय के इस आडम्बर तथा उसके मखौल, अंग्रेजी पढे लिखे लोगों के सामाजिक बहिष्कार तथा बगाल की नवाबी की जो चर्चा चतुरसेन जी शास्त्री ने की है, उससे इस ऐतिहासिक उपन्यास की औपन्यासिकता अवश्य बढी है।

दिव्या

– हिंदी साहित्य में ऐतिहासिक उपन्यासों का अत्यन्त अभाव है और जो कुछ उपन्यास ऐतिहासिक यथार्थ के चित्रण करने की दृष्टि से लिखे भी गए हैं, उन्हे भी हम किसी अन्य साहित्य के श्रेष्ठ ऐतिहासिक उपन्यासों की कोटि में नहीं रख सकते। 'दिव्या' को देखकर हमें यह आशा हुई थी कि निकट भविष्य में ही हिंदी को राखाल बाबू (बंगला के) मिलने वाले हैं परन्तु इसे हिंदी का अभाग्य ही कहिए कि 'यशपाल' जी ने अपनी वास्तविक प्रतिभा नहीं पहचानी। जहाँ तक अतीत को उसके यथार्थ रूप में चित्रित करने का प्रश्न है 'दिव्या' के साथ हिंदी के कम उपन्यासों का नाम लिया जा सकता है। इसके अन्दर उपन्यासकार ने बौद्धकालीन भारत की सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक परिस्थितियों का विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। 'यशपाल' इतिहास को पूजा और अन्धविश्वास की वस्तु नहीं मानते, बल्कि उनके अनुसार इतिहास विश्वास की नहीं विश्लेषण की वस्तु है। इतिहास मनुष्य का अपनी परम्परा में आत्म-विश्लेषण है।' इस उपन्यास के अन्दर यह दिखाने का प्रयत्न किया गया है कि अतीत एकमात्र स्वर्णिम कल्पना की ही वस्तु नहीं, उसमें भी आज की भांति रक्त और मांस के पुतले निवास करते थे, उनमें भी मानवसुलभ सभी गुण-दोष वर्तमान

थे और उस समय भी ऐसे लोगों की कमी नहीं थी जो अपने थोड़े से सुख और वैभव के लिए दूसरों का बड़ा से बड़ा अपकार करने में कुछ भी संकोच नहीं करते। सम्भवतः सर्वप्रथम 'दिव्या' में ही तत्कालीन समाज के वर्गपरक स्वरूप को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। यह दिखलाने की चेष्टा की गयी है कि अतीत स्वर्ग नहीं था वरन् इस वर्गमूलक समाज-व्यवस्था में जन-समुदाय का अधिकांश, जीवन की सुख-सुविधा से वंचित था और 'इतर जनों' के जीवन का मूल्य अभिजात वर्ग के सुख का उपकरण बनने मात्र में था।

हिन्दी के कुछ श्रेष्ठ उपन्यासकारों में हमें देखने को मिल जाता है कि वे ऐतिहासिक उपन्यास लिखते समय पात्रों एवं घटनाओं को तो इतिहास से ले लेते हैं, परन्तु कथानक के निर्माण में उनकी कल्पना का विलास इतना बढ़ जाता है कि वातावरण, आचार-विचार तथा वेश-भूषा और परम्परा आदि का तत्कालीन स्वरूप विकृत होकर उपहासास्पद हो जाता है। परन्तु 'दिव्या' के साथ इस प्रकार की कोई आपत्ति नहीं उठायी जा सकती। जहाँ तक उसकी ऐतिहासिकता का प्रश्न है, उसके कथानक और पात्र सभी कल्पित हैं। उनका प्रणयन किसी भी ऐतिहासिक घटना के आधार पर नहीं किया गया है, बल्कि उपन्यासकार ने अपनी कल्पना के बल पर कहानी का निर्माण किया है लेकिन जिस काल में कथानक की कल्पना की गई उसके यथार्थ ऐतिहासिक वातावरण तथा देश-काल आदि के चित्रण में उपन्यासकार को अद्भुत सफलता प्राप्त हुई है।

ऐतिहासिक उपन्यासों की दो कोटियाँ हो सकती हैं—शुद्ध ऐतिहासिक तथा इतिहासाश्रित। शुद्ध ऐतिहासिक उपन्यासों में इतिहास की घटनाओं, पात्रों और परिस्थितियों का पूर्ण विवरण और अंकन रहता है, जब कि इतिहासाश्रित उपन्यासों में इतिहास का वैसा व्यापक प्रयोग नहीं होता। यहाँ तो प्रच्छन्न रूप से देश-काल का उल्लेख मात्र रहता है। इतिहास वहाँ पृष्ठभूमि भर का काम देता है। शुद्ध ऐतिहासिक उपन्यासों के अन्तर्गत श्री वृन्दावनलाल वर्मा की 'झाँसी की रानी', प्रतापनारायण श्रीवास्तव का 'बेकसी का मजार', 'प्रसाद जी' का 'इरावती' आदि की गणना की जा सकती है और इतिहासाश्रित उपन्यासों में श्री भगवती चरणवर्मा की 'चित्रलेखा' और यशपाल की 'दिव्या' की। शुद्ध इतिहास का आधार लेकर सफल उपन्यासों की रचना हिन्दी में नहीं हो सकी है। श्री वृन्दावनलाल वर्मा, भगवतीचरण वर्मा, यशपाल और प्रतापनारायण श्रीवास्तव वस्तुतः इतिहास के विद्वान नहीं हैं। इतिहास इनके लिए एक आधार मात्र रहता है जिस पर ये साहित्यिक कृति का प्रासाद निर्मित करते हैं। इतिहास के विद्वान थे बंगला के श्रीराखालदास वन्द्योपाध्याय। इनके उपन्यासों में ही इतिहास अपने शुद्ध रूप में आ सका है किन्तु आश्चर्य यह है कि इन्होंने इतिहास की घटनाओं को अपनी प्रतिभा से इस प्रकार अनुप्राणित कर दिया है कि जिससे कृति की सारी सजावट में औपन्यासिकता का स्रोत बह चलता है। जैसा अभी कहा गया; हिन्दी में कोई ऐसा

उपन्यासकार हुआ ही नहीं जो इतिहास को उपन्यास बना देता। श्री सत्यकेतु विद्यालंकार के 'आचार्य चाणक्य' को इस प्रकार का एक प्रयास कहा जा सकता है, किन्तु बस। जहाँ तक 'दिव्या' का प्रश्न है वह इस तरह की रचना है ही नहीं। यशपाल ने स्वयं कहा है—"दिव्या इतिहास नहीं, ऐतिहासिक कल्पना मात्र है। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर व्यक्ति और समाज की प्रवृत्ति और गति का चित्र है। लेखक ने कला के अनुराग से काल्पनिक चित्र में ऐतिहासिक वातावरण के आधार पर यथार्थ का रंग देने का प्रयत्न किया है।"

कृतिकार यदि अपनी कृति के लक्ष्य अथवा प्रतिपाद्य के विषय में कोई संकेत दे दे तो इससे आलोचक का कार्य अपेक्षाकृत आसान हो जाता है। 'दिव्या' को शुद्ध ऐतिहासिक उपन्यासों की कोटि से भिन्न इतिहासाश्रित उपन्यासों के अंतर्गत रखने में हमें यशपाल के उक्त स्पष्टीकरण से सहायता तो मिली ही है, दिव्या के प्रति किसी प्रकार का अन्याय हो सकने की सम्भावना भी मिट गयी है। इसी कारण लेखक ने दिव्या के प्राक्कथन में जो कतिपय अन्य बातें कही हैं, वे भी विचारणीय हैं।

श्री यशपाल ने दिव्या के प्राक्कथन में अपने जीवन-दर्शन से संबंधित एक बात कही है। वे लिखते हैं—"मनुष्य केवल परिस्थितियों को सुलझाता ही नहीं, वह परिस्थितियों का निर्माण भी करता है। वह प्राकृतिक और भौतिक परिस्थितियों में परिवर्तन करता है, सामाजिक परिस्थितियों का वह स्रष्टा है।" इसे पढ़कर हमें भगवतीचरण वर्मा के 'चित्रलेखा' में अंकित उस जीवन-दर्शन की स्मृति हो आती है जिसमें वे बार-बार कहते और प्रतिपादित करते पाये जाते हैं कि "मनुष्य परिस्थितियों का दास है वह कर्ता नहीं।" अतः अनेक समानताओं के रहते हुए भी 'चित्रलेखा' और 'दिव्या' की यह सबसे बड़ी विषमता है।

दिव्या के प्रतिपाद्य के विषय में लेखक का अपना विचार है कि—"पुरुष से बड़ा है—केवल उसका अपना विश्वास और स्वयं उसका ही रचा हुआ विधान। अपने विश्वास और विधान के सम्मुख विवशता अनुभव करता है और स्वयं ही वह उसे बदल भी देता है। इसी सत्य को अपने चित्रमय अतीत की भूमि पर कल्पना में देखने का प्रयत्न 'दिव्या' है।" लेखक ने इस सत्य को देखने के लिए जिस चित्रमय अतीत की भूमि का आधार लिया है वह है भारत का बौद्धकालीन युग।

बौद्धकालीन युग का आधार लेकर लिखा हुआ एक और उपन्यास 'वैशाली की नगरवधू' हिंदी में उपलब्ध है, जिसका कथा-काल इससे काफी पूर्व का है। जिस प्रकार की व्यवस्था का चित्रण इस उपन्यास में मिलता है, 'दिव्या' की व्यवस्था उससे बहुत कुछ भिन्न है। दोनों के बीच समय की जितनी दूरी है उतनी ही मात्रा में देश-काल में भी भेद आना स्वाभाविक है। समय के साथ समाज-व्यवस्था में परिवर्तन

आना स्वाभाविक नहीं, अनिवार्य भी है। बौद्धकालीन युग के आरम्भ में धार्मिक मत-मतान्तरों का भेद इस सीमा तक पहुँच चुका था कि जिसे लेकर नित्य अशोभन घटनाएँ हुआ करती थीं, किन्तु जातीय भेद-भाव का रूप उतना उग्र नहीं था जितना कि आगे चलकर हो गया। इसके दो कारण हो सकते हैं। एक तो यह कि इतर जाति के लोग इतने दबे हुए थे कि उनके लिए सर का उठाना ही कठिन था और दूसरे यह कि एक दूसरे के प्रति वे अत्यन्त उदार थे। परन्तु ऐतिहासिक तथ्यों से यही जान पड़ता है कि इतर जाति के लोग इतने पददलित थे कि यह सोच ही नहीं सकते थे कि समाज में उनका भी कोई स्थान है अथवा होना चाहिए। ब्राह्मण और क्षत्रिय दो कुलीन कही जानेवाली जातियाँ अपने वैभव की सीमा पर थी परन्तु ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, अपनी ही भूलों और त्रुटियों के कारण कुलीन कही जानेवाली जातियों का स्वाभाविक ह्रास होने लगा, जिससे इतर जातियों को भी सर उठाने का मौका मिला। समाज में इस प्रकार की व्यवस्था के आ जाने के कारण घोर प्रतिक्रिया का आरम्भ हुआ। एक ओर ऊँची जातियों के अन्दर वर्णाश्रम धर्म के नियमों को पालन कराने की प्रबल महत्त्वाकांक्षा थी, तो दूसरी ओर इतर जाति के लोगों के अन्दर उसे समूल नष्ट कर देने की कामना। 'दिव्या' के अन्दर कथानक का सारा प्रसार इसी संघर्ष को लेकर हुआ है। पहले कहा गया है कि लेखक ने समाज का वर्गपरक स्वरूप चित्रित करना चाहा है। लेखक ने यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि शोषित वर्ग (दास वर्ग) अपनी दयनीय स्थिति को लेकर क्षुब्ध था। लेकिन हमें यह स्मरण रखना होगा कि उस समय लोगों में न आज की सी वर्ग चेतना थी और न वर्ग की सी तीव्रता। हमें यहीं पर लेखक की कलात्मक प्रतिभा और उसकी ऐतिहासिक यथार्थवादिता के प्रति जागरूकता का परिचय प्राप्त होता है, जहाँ वह इतिहास के साथ न्याय करता जान पड़ता है। किसी पूर्वाग्रह को अतीत के किसी काल विशेष पर आरोपित कर भी सम्भावित त्रुटियों से बच निकलना रचनाकार की अद्भुत कल्पनात्मक अनुभूति और सृजनात्मक शक्ति तथा प्रतिभा का ज्वलन्त उदाहरण है और 'दिव्या' की सफलता का रहस्य है।

जिस सामाजिक संघर्ष को 'दिव्या' के अन्दर लेखक ने उभाड़ कर रखना चाहा है उसका चित्रण एकमात्र गण-राज्य में ही सम्भव था, क्योंकि राजतंत्र शासन-प्रणाली के भीतर बहुत-सी ऐसी समस्याओं का उठाना सम्भव न था। गणराज्यों पर प्रायः उच्च कुल के लोगों का अधिकार था। इतर जाति के लोग शासन कार्य में सक्रिय भाग नहीं ले पाते थे। मैंने ऊपर कहा है कि इतिहास को देखने की उपन्यासकार की अपनी एक विशेष दृष्टि रही है। उसने अपनी रचना सोद्देश्य की है। शोषण का एकमात्र आधार उस समय की वर्ण-व्यवस्था थी। मिथोद्रस की विजय, मिलिन्द के काषाय ग्रहण के पश्चात् मद्र में गण राज्य की स्थापना हुई, और गण राज्य में स्वाभाविक रूप से श्रेष्ठ वर्ण कुलों को छोड़कर और कुल भी आ गए थे, जो वर्ण व्यवस्था के नितान्त प्रतिकूल

था। मद्र के अभिजात वर्ग की अधिकार प्राप्ति की स्पर्द्धा मियोद्रस के पूर्व चले आने उच्च वर्ण कुलों के लिए कष्टदायिनी थी और यही तत्कालीन सामाजिक संघर्ष का स्वरूप था। इसी कारण बौद्धधर्म के प्रति भी उनके मन में स्पर्द्धा के उग्र भाव थे क्योंकि बौद्धधर्म के प्रभावों को नष्ट कर के ही वे अपनी सामाजिक मान्यताएँ स्थापित कर सकते थे। जिन ऐतिहासिक मान्यताओं के ऊपर उसने जमकर प्रहार किया है निश्चित ही उसे वे अमान्य हैं। वह समाज के प्रत्येक व्यक्ति को योग्यता के अनुसार अवसर दिलाने का पक्षपाती है। उस समय गण-राज्य के प्रमुख स्थान पर नियुक्तियां तो योग्यता के अनुसार की जाती थी पर वे एक निश्चित समाज तक ही सीमित है।

'मधुपर्व' के अवसर पर विद्यालयों से अस्त्र-शस्त्र की शिक्षा प्राप्त कर लौटे विद्यार्थियों का प्रदर्शन कराने की व्यवस्था थी जिसका निर्णय करने के लिए गण के सदस्य उपस्थित रहते थे, और उनकी सम्मति से 'गणपति' प्रतियोगिता में उत्तीर्ण छात्रों के नाम घोषित करता था, जिसके अनुसार उन्हें राज्य के प्रमुख पदों पर नियुक्त किया जाता था। उसी दिन एक और उत्सव मनाया जाता था, वह था कला-प्रदर्शन का। कला में सर्वश्रेष्ठ 'सरस्वती पुत्री' का सम्मान पानेवाली लडकी उस दिन के निर्णीत सर्वश्रेष्ठ खड्गधारी को पुष्पमुकुट पहनाती थी। प्रथा के अनुसार 'दिव्या' ने दासपुत्र पृथुसेन को, जो उस दिन का सर्वश्रेष्ठ खड्गधारी घोषित किया गया था, पुष्पमुकुट पहनाया। दासकुल में जन्म लेने के कारण दिव्या की शिविका में कन्धा लगाने से वंचित पृथुसेन रुद्रधीर द्वारा अपमानित किया गया जिसकी और प्रतिक्रिया ने षड्यंत्र को आगे बढ़ाया। उसने 'दिव्या' द्वारा धर्मस्थ से न्याय की भीख माँगी और उसे उचित न्याय भी मिल गया। अभिजात वश के लोगों की इच्छा के विरुद्ध भी रुद्रधीर को ही हजार दिन के निष्कासन का दण्ड भोगना ही पडा, जिससे ऐसा लगता है कि उस समय न्याय की व्यवस्था का पालन बड़ी ही कड़ाई के साथ किया जाता था तथा न्याय के सामने उसका झुकना अनिवार्य था। वर्णीय भेद-भाव इतना उग्र रूप धारण करता जा रहा था कि न्याय से ही सारी समस्या का हल सम्भव न था। पृथुसेन ने अपने पराक्रम और अवसर से लाभ उठाकर सत्ता तो हथिया ली किन्तु रुद्रधीर के साथी शान्त नहीं थे और हम देखते हैं कि रुद्रधीर के लौटते ही षड्यन्त्र का एक महान् संगठन गण-राज्य की तरह जाति के शासन से मुक्त वर्णाश्रम धर्म की व्यवस्था की पुनः स्थापना करने के लिये तैयार हो गया।

इस उपन्यास में लेखक ने नारी जीवन के सामाजिक पथ के उत्थान की कौंध में पुरुष के पुरुषत्व और मर्यादा का भयंकर उत्सर्ग किया है। मनुष्य से भी महत्वपूर्ण उसके स्वयं के बनाये हुए विधि-विधान में लेखक ने पुरुषों को जिस प्रकार मटियामेट किया है, उससे उसका वह कर्तापन इस संभावना के लिये संदेह भूमि प्रदान करता है कि उपन्यास की व्याप्ति पुरुषवर्ग के शत्रुपक्ष में तो नहीं है। पर बात ऐसी नहीं है। नारी का विद्रोह ऊपर से तो लगता है पुरुषवर्ग के प्रति लेकिन वास्तव में वह समाज

के प्रति है। एक नारी शुरू से अन्त तक अपने अधिकारों और अपने स्वत्व की रक्षा के लिये समाज के सम्मुख न्याय की याचिका ही बनी हुई है। असंतुष्ट नारी, समाज की पारम्परिक मान्यताओं, रूढ़ियों और वर्ण व्यवस्था के विरुद्ध हो जाती है और विद्रोह कर बैठती है। उसके अधिकारों पर, उसके स्वत्व पर, उसके 'नारी' पर लात मारने वाला पुरुष भी तो समाज द्वारा ही सचालित है, नारी के मनोनुकूल चलने के लिये पुरुष स्वतन्त्र नहीं है। नारी एक सीमा के अन्दर ही नारी है और पुरुष भी एक सीमा के अन्दर ही पुरुष है। नारी और पुरुष उस रूप में एक स्वतन्त्र इकाई नहीं हैं कि समाज के विधि-विधानों और रूढ मान्यताओं के ऊपर जो चाहें सो करें। सब कुछ करते हुए भी उन्हें इनकी अनुमति बिना कुछ भी नहीं करना है। अगर इस प्रकार का कोई कदम उठाया भी गया तो वह जीवन की विभीषिका के गर्त में ही ले जायेगा। उपन्यास की दिव्या इसका उदाहरण है। सर्व प्रथम वह पृथुसेन के प्रति आकर्षित होती है और यह आकर्षण शाश्वत हो जाता है। मूर्खा परन्तु दृढ़ नारी उसी की प्रतीक्षा में जीवन चौपट कर देती है। उधर कायर और नीच तथा भौतिकता के लिये लोलुप सिद्धान्त हीन पृथुसेन उसे पत्नी रूप में स्वीकार करने के सारे उपक्रम करके भी इसके साथ कदम से कदम मिला कर नहीं चल सकता और वह भी अन्त में नियति का फल भोग कर ही रहता है। लेखक ने दिखलाने का प्रयत्न किया है कि मनुष्य परिस्थितियों का निर्माण करता है। उसने स्वयं भूमिका में कहा है कि मनुष्य भोक्ता नहीं है। लेकिन इस विपरीत स्थापना को लेखक सत्य नहीं बना पाता, कारण कि उसके इस उपन्यास के सभी पात्र उक्ति की विपरीतता को ही चरितार्थ करते हैं। सभी पात्र परिस्थितियों के हाथ के खिलौने ही रह जाते हैं। दिव्या, उपन्यास के सम्पूर्ण आभोग में परिस्थितियों से संघर्ष करती अवश्य है पर अन्त तक परिस्थितियों के हाथों अपने को समर्पण करती या पराजित होती इस अधोगति को प्राप्त होती है जो कि उसके प्रारम्भिक जीवन के स्वर्णिम स्वप्नों की तुलना में जीवन की विडम्बना ही है। उपन्यास का कोई भी पात्र परिस्थितियों का निर्माता क्या, परिस्थितियों पर विजयी होता हुआ भी नहीं दिखलाई पड़ता। चाहे शक्ति का उपासक पृथुसेन हो, चाहे भौतिकवादी दृष्टिवाला मारिश हो, चाहे लोकाचारी और रूढ़ियों का अंधभक्त रुद्रधीर हो, और चाहे जनपद कल्याणी मल्लिका और रत्नप्रभा ही क्यों न हो, सभी परिस्थितियों के सम्मुख नत मस्तक हैं, परिस्थितियों के इशारे पर नाचने वाले नि सत्व पात्र हैं। ऐसी अवस्था में यदि उपन्यास को समस्यामूलक कहा जाय तो अधिक उपयुक्त होगा। प्रथम तो नारी अपने स्वाभाविक अधिकार की माग और रक्षा के लिये ही सम्मुख दिखलाई पड़ती है पर निषेध के भ्रम में पड़कर वह सहनशीलता की सीमा को तोड़ देती है। उस समय उसे समाज का स्मरण नहीं होता, वह सारा दोष पुरुष—दम्भी, स्वार्थी और कायर पुरुष—के मत्थे थोपती है। इसके बाद

के उसके सारे प्रयास सामाजिक मर्यादा के विरुद्ध ही दिखलाई पडते हैं, वह ऐसा करने के लिए बाध्य भी है। यहाँ भी दिव्या का 'कर्ता' नहीं बल्कि भोक्ता स्वरूप ही सामने आता है। लेखक की साम्यवादी विचारधारा (Communistic view) दिव्या के इन क्रियाकलापों और विद्रोहों में छिपी हुई है। अगर लेखक को समाज की भीषण विषमता न दिखलानी होती तो आरम्भ में वह दिव्या को और साथ ही साथ दास वर्ग के पात्र पृथुसेन को इतनी ऊँची मान-भूमि पर न ले जाता। जब दिव्या यह अनुभव करने लगती है कि उसके प्रेममार्ग में बाधा डालने वाला और उसके जीवन को किरकिरा बनाने वाला, समाज है, समाज के विधायक हैं और सामाजिक जीवन की पारपरिक रूढियाँ और मान्यताएँ हैं, तो इन भावनाओं के परिवेश में उसके मन में जो प्रतिक्रान्ति हुई और संघर्ष की भावनाएँ जगीं, उसमें पृथुसेन के प्रति थोड़ी घृणा, खीझ, क्रोध और सबके ऊपर थोड़ी सहानुभूति है यहाँ उसका संघर्ष भले ही वर्ग संघर्ष की कोटि में न आये पर वह व्यक्तिगत भी नहीं रह जाता। वह पराजित होती है, किंकर्तव्य विमूढ होकर समाज से पलायन करती है और अपने को पूर्णतया समय, परिस्थितियों, भविष्य और निर्यात के हाथों में सौंप देती है। फिर वह दासी बनाकर समाज में लाई जाती है। थोड़े दिन के दासी-जीवन से वह इतना ऊब जाती है कि स्वतन्त्र बनने की इच्छा जो एक बार उसके अन्दर आई तो शाश्वत ही हो गई। नारी का स्वतन्त्र रूप सामाजिक दृष्टि में चाहे कितना भी घृणित और हेय क्यों न हो लेकिन वह स्वतन्त्र बनेगी अवश्य। अब उसके सामने केवल एक कार्य रह जाता है, स्वतन्त्र बनना। भावी जीवन में कुछ दिनों के लिये वह स्वतन्त्र होती है पर पूर्णतया नहीं, और उस अर्ध स्वतन्त्रता को भी फिर आश्रय के आदान-प्रदान के लिये समाज में आना ही पडता है। परिस्थितियों और समाज ने इतना अधिक दबोच लिया है कि उसके मनोनुकूल कुछ हो ही नहीं पाता। स्वतन्त्र बनने की अभिलाषा मटियामेट होती देख वह, आत्महत्या को उद्यत होती है लेकिन अब मृत्युमुख से निकाल कर परिस्थिति उसे स्वतन्त्र बनाने के लिये तैयार है, जब कि शायद वह नहीं तैयार है। विख्यात नर्तकी रत्नप्रभा उसको जीवन-दान देती है और वही दिव्या अंशुमाला होकर प्रसिद्ध नर्तकी और कला की अधिष्ठात्री देवी की भूमिका में उतरती है। यहाँ पर (रत्नप्रभा के प्रकोष्ठ में) उसके चाहने वालों का ताँता लग जाता है। व्यक्तिगत रूप से तो सभी पात्र किसी न किसी प्रकार सामाजिक बन्धनों से बँधे ही हैं। किसी के सामने जातिगत बंधन है, किसी के सामने पदगत और कोई पारिवारिक मर्यादा में ही बँधा है, परन्तु इन बन्धनों के आवर्त से घृणा और छुटकारा पाने की इच्छा सब में पलती है और सबका अन्तर्मन ऐसे समाज के प्रति विद्रोही प्रतीत होता है। लेकिन वह कुछ कर नहीं पाता क्योंकि मनुष्य से भी बड़ा उसका स्वयं का बनाया हुआ विधान जो है, वही कुछ करने नहीं देता।

इस उपन्यास में लेखक का अभीष्ट एक ऐसे विशिष्ट नारी चरित्र के निर्माण करना है जो तमाम प्रकार की विषमताओं की प्रतिमूर्ति है और इन विषमताओं को आत्मसात करती हुई वह पूरे समाज की विषमताओं का प्रतिनिधित्व करती है। पूरे उपन्यास में एक नारी (दिव्या) ने मन के प्रतिकूल, परिस्थितियों के प्रतिकूल अभियान चलाया है पर कहीं भी सफल नहीं होती। उसके प्रति, समाज के, स्वयं उसके परिवार के, सम्बन्धियों के, उसके प्रेमी पृथुसेन के, उसके स्वामी व्यापारी के, बौद्ध धर्म संघ के और अन्त में फिर उसकी जन्मभूमि सागल के नागरिकों के व्यवहार दर्शनीय हैं। समाज में अभिजात वर्ग के प्रति हीन वर्ग या पीडक के प्रति पीडित का संघर्ष दिखलाना ही लेखक का अभीष्ट रहा है। परिस्थितियाँ ऐसी उत्पन्न की गई हैं कि रंच मात्र भी उनके प्रति श्रद्धा का भाव नहीं आने पाता। जिन परिस्थितियों के हाथ में पड़कर सौंदर्य की प्रतिरूप और कला की एकमात्र अधिष्ठात्री देवी दिव्या दासी दारा बनती है, वे ही परिस्थितियाँ उसे अंशुमाला बनाती हैं, उसकी यह अवस्था पहली अवस्था से कम वैभवशाली नहीं है पर सामाजिक स्तर का अन्तर तो पड़ ही जाता है। अन्त में फिर सागल लौटने पर सामाजिक रूढ़ियों की करालता मुँह बाये खड़ी है और उसे ग्रास बना लेना चाहती है। यहाँ पर कथानक मोड़ लेकर थोड़ा यथार्थ की ओर आता है। रत्नप्रभा के अंक से निकलने के बाद जब दिव्या पुनः सागल आकर मल्लिका द्वारा उसकी उत्तराधिकारिणी घोषित की जाती है, उस समय उसके प्रेम के दरवाजे का सबसे ढीठ और आग्रही भिखारी रुद्रधीर ही उसे अधिक अपमानित करता है। दिव्या के जीवन का सबसे मार्मिक बिन्दु यही प्रतीत होता है। समाज से असंतुष्ट प्रताडित नारी पलायन करके रास्ते में अनेक कठिनाइयों का सामना करती हुई किसी तरह स्वतंत्र [वेश्या] हो पाती है और अपने उसी जीवन में, अतीत के सारे हर्ष-विषाद, वर्तमान की सम्पूर्ण घृणा-वितृष्णा और अनागत भविष्य की सारी रोमांचकारी समायनाओं तथा विचलित कर देनेवाली घटनाओं को भूलकर थोड़ा शान्त हो पाती है परन्तु मनसे स्वतंत्र होकर भी वह समाज की दृष्टि में तन से स्वतंत्र नहीं है। सागल का अभिजात वर्ग राजनर्तकी जनपद कल्याणी मल्लिका के उत्तराधिकार का पद उसके लिए सामाजिक मर्यादा के विरुद्ध बतलाकर क्रांति कर उठता है। अन्त में वह भटकनेवाले अनन्त पथ की भिखारिणी हो बन कर रह जाती है। उस राह में, रुद्रधीर आता है और उससे आचार्य कुल की महादेवी के शासन पर आसीन होने के लिए अनुनय करता है। दिव्या उस याचना को ठुकराती है, वह हीन होकर भी आत्मनिर्भर स्वतंत्र रहना अधिक अच्छा समझती है। स्वत्वका त्याग करके स्वत्वहीन होकर वह उन महान पदों पर रहना उपेक्षा की दृष्टि से देखती है। पृथुसेन आता है और वह समाज से प्रताडित नारी को तथागत की शरण में ले जाने की आकांक्षा प्रकट करता है और निर्वाण का लोभ दिखलाता है परन्तु दिव्या कहती है कि नारी का धर्म निर्वाण नहीं है सृष्टि है, वह प्रवृत्ति

का मार्ग होकर ही रहना अधिक अच्छा समझती है। उसी समय मारिश आता है और अपने हाथ लाता है, संसार के सुख-दुख का अनुभव, अनुभूति और विचार की शक्ति और उनके आदान-प्रदान की इच्छा। वह संसार के धूल-धूसरित मार्ग का पथिक है। उस मार्ग पर दिव्या के नारीत्व की कामना में वह अपना पुरुषत्व अर्पण करता है, वह आश्रय का आदान प्रदान चाहता है, वह नश्वर जीवन में संतोष की अनुभूति दे सकता है, संतति की परम्परा के रूप में मानव को अमरता दे सकता है। दिव्या इन्हें स्वीकार करती है और स्वीकार करती है मारिश के आश्रय को।

यहाँ भी उसकी महान प्रतिक्रिया के दर्शन होते हैं। रुद्रधीर और पृथुसेन वैभव और शान्ति निर्वाण के सदेशवाहक—जिनके लिए वह जीवन भर ललकती रही थी—महान उपेक्षाओं में उसके अन्तर्मन की महान हिंसा की भावना और प्रतिक्रियायें छिपी हुई हैं।

दूसरी ओर पृथुसेन है जो कि समाज की सारी घृणा, विद्वेष और वितृष्णाओं की घूंट पीने वाला दिव्या के समान ही कोमल और उन्मुख प्रवृत्ति वाला तथा जीवन में पुष्पमय तथा कँकरीले दोनों प्रकार की राहों पर दिव्या के ही समानान्तर परन्तु साथ न चलने वाला राही है, वह समाज से कम प्रताड़ित नहीं होता। वह दिव्या को चाहते हुए भी सामाजिक मर्यादा और पद की मृगमरीचिका के लिए लोलुप बनाया जाता है। मद्र के भट्टारक गणपति की पौत्री सीरो से विवाह करने और सीरो के आग्रह से अपने दिल पर पत्थर रखकर दिव्या को भूल जाने के लिए वह बाध्य है। सीरो के लिए उसे अपना हनन करना पड़ता है। सीरो के ही हठ के कारण उसने दिव्या को खोया। दिव्या को खोकर उसने अपने जीवन के चिरपोषित स्वप्नों को खो दिया, सीरो की उच्छृ-ङ्खलता भी वह सहन नहीं कर सकता और पति के अधिकार से पत्नी की प्रतारणा करता है और प्रतिक्रिया में पाता है द्विगुणित प्रतारणा जो कि अशांति और असंतोष की अग्नि से आप्लावित है।

जहाँ तक सागल की राजसभा में शस्त्र-परीक्षा में उत्तीर्ण होने, सर्वोच्च स्थान प्राप्त करने और महा सेनापति बनने तक की क्रियाएँ हैं वहाँ तक पृथुसेन को कर्ता माना जा सकता है। पर दिव्या को भूलकर सीरो के साथ विवाह करने के लिये बाध्य होने तक उसका भोक्ता रूप सामने आ जाता है। सीरो उसे परेशान कर डालती है, वह चिढ़ता है, खीझता है, कुढ़ता है पर कुछ नहीं कर पाता सिवाय परिस्थितियों के सम्मुख आत्मसमर्पण के। वह विद्रोह करने के लिए भी स्वतन्त्र नहीं है। विद्रोह करके वह स्थिर नहीं रह सकता, अपने वर्तमान स्वत्व की रक्षा और जीवनधारा में अवरोध न आने देने के लिये आवश्यक है कि वह परिस्थितियों के सम्मुख नत मस्तक रहे। थोड़े ही दिन वह इस प्रकार का जीवन बिता पाता है कि सागल का आभिजात्य वर्ग क्रान्ति कर उठता है और उसके रक्त का लोलुप हो उठता है। जीवन से निराश, कायर,

भीरु, स्वार्थी, दम्भी और सदैव परिस्थितियों के सम्मुख आत्मसमर्पण करने वाला पृथुसेन छला जाकर परम निराश्रित और निस्सहाय हो उठता है। सभी स्थान और सभी दिशाएँ, उसके लिए संकटमयी हो उठती हैं। वह तात स्थविर से शरण की याचना करता है। तात स्थविर उसे मुद्र और शासन की सीमा से परे बुद्ध स्थित संघाराम विहार का मार्ग दिखलाते हैं और पृथुसेन वहाँ जाकर स्थविर चीवुक से दीक्षा ग्रहण कर लेता है। मस्तिष्क के सारे द्वंद्व, शोक, घृणा, जुगुप्सा, वितृष्णा और सम्पूर्ण कामनाओं को दबा कर वह बौद्ध बन जाता है।

मद्र में पुनः अभिजात वर्ग का शासन होता है, और वर्णाश्रम धर्म की स्थापना होकर गणराज्य और सागल नगरी से हीन वर्ग की उच्छृङ्खलता दूर हो जाती है।

उस समय शासन और समाज में कला को विशेष महत्व दिया जाता था। गण के अन्दर राजनर्तकी का उतना ही सम्मान था जितना कि गणपति का। आजकल समाज की जैसी धारणा वेश्याओं के प्रति है वैसी उस समय नहीं थी। यद्यपि राज-नर्तकी मल्लिका की स्थिति 'नगरवधू' की सी ही है, परन्तु उसकी स्थिति उससे कुछ भिन्न अवश्य है। उसे जो सम्मान प्राप्त था वह एक वेश्या का सम्मान कदापि नहीं हो सकता था। 'राजनर्तकी' की स्थिति इस समय वैसी नहीं थी वैसी, कि इसके पूर्व वैशाली आदि गणों में पाई जाती है। गण-राज्य की किसी भी सर्वसुन्दरी कन्या को विवश होकर 'नगरवधू' का सा जीवन स्वीकार नहीं करना पड़ता था जैसा कि 'अम्बपाली' को करना पड़ा था। 'राजनर्तकी' ही कला, सुन्दरता तथा अन्य योग्यताओं का ध्यान रखते हुए अपनी उत्तराधिकारिणी की घोषणा करती थी। वर्ण व्यवस्था का बन्धन इतना कड़ा था कि कोई भी अभिजात कुल की कन्या अपनी इच्छा से भी वेश्या-जीवन स्वीकार नहीं कर सकती थी। 'दिव्या' ने अपने स्वाभाविक आकर्षण से उद्भूत प्रेम के कारण युद्ध में जाते समय पृथुसेन को विवाह के पूर्व ही अपना शारीरिक समर्पण कर जो गर्भ धारण किया था वह उसकी लज्जा का कारण हुआ। युद्ध से लौटे विजयी पृथुसेन पर गणपति की पुत्री 'सीरो' का पूर्ण नियंत्रण हो जाने के कारण, 'दिव्या' उससे मिल भी न सकी, जिससे उसे घर छोड़ कर जीवन को अनेक कंकरीली गलियों से गुजरना पड़ा। 'मल्लिका' जब उसे अपनी उत्तराधिकारिणी के रूप में स्वीकार करना चाहा तो अभिजात वंश के लोगों ने उसका प्रबल विरोध किया कि द्विज कन्या कभी भी वेश्या जीवन धारण नहीं कर सकती, जिससे स्पष्ट हो जाता है कि वर्णाश्रम धर्म के नियम कड़े थे परन्तु उस नियम के मूल में अभिजात कुल के लोगों का स्वार्थ ही प्रधान था। लेखक ने दिखलाना चाहा है कि वर्ण व्यवस्था के नियमों को इतनी कठोरता से पालन करवाने में शोषक वर्ग (उच्चकुल वर्ग) का स्वार्थ निहित था, जिस स्वार्थ की रक्षा के लिए आवश्यक था कि द्विज वर्ग इतर जनों से अपने को श्रेष्ठ बनाए रख सकें।

यदि सामाजिक आचार-विचारों में इतर जन भी द्विज वर्ग की समानता में आ जायें तो द्विज वर्ग का विशेष अधिकार कहाँ रह जाता है। "द्विज वर्ग की सत्ता इतर जन की हीनता और उनसे सेवा प्राप्त करने के अधिकार पर आश्रित है। इतर जन को अपने समान बना लेने पर उनका विशेषाधिकार कहाँ रह जायगा।" यही कारण है कि मल्लिका 'दिव्या' को अपनी उत्तराधिकारिणी के रूप में अपने आसन पर न बिठा सकी। यदि एक बार उसने महासेनापति पृथुसेन की उच्छृङ्खलता के कारण 'माधूलिका' को खो दिया था, तो दूसरी बार वह आचार्य रुद्रधीर के प्रबल विरोध से, जिसके पीछे शासक की शक्ति थी, दिव्या से भी हाथ धो प्रवंचित हुई, क्योंकि पवित्र द्विज कुल की कन्या को राजनर्तकी के पद पर आसीन करना अभिजात वर्ग की कुल गरिमा के विरुद्ध था और आचार की परम्परा के विरुद्ध साधारण जन की भाँति आचरण करना अपने अधिकारों और स्वार्थों को ही छोड़ देना था।

उपन्यासकार ने तत्कालीन वेश-भूषा आदि के चित्रण में अत्यन्त सतर्कता से काम लिया है। लेखक के चित्रण की कलात्मक प्रतिभा इतनी प्रौढ़ है कि हम आज से शताब्दियों पीछे के भारत में उसके साथ विचरण करने लग जाते हैं। "लोग विभिन्न अवसरों पर विभिन्न वस्त्राभूषण धारण करते थे तथा वर्ण और जाति के अनुसार लोगों के विशिष्ट वस्त्राभूषण भी थे। 'अभिजात' पुरुष और कुल-स्त्रियाँ पर्व के योग्य और अपने वर्ण और वंश स्थिति के अनुकूल वस्त्राभूषण धारण किये थीं। ब्राह्मण स्वर्ण के तार से कढ़े उष्णीष से सिर के केशों को बाँधे थे, उनके मस्तक पर श्वेत चन्दन का खौर था। क्षत्रिय स्वर्ण-खचित शुभ्र वस्त्र धारण किये थे, उनके कानों, कण्ठ, भुजा और कलाइयों पर रत्न-जटित आभूषण थे, चुस्त अँगरखा श्रेष्ठियों के वस्त्र बहुमूल्य परन्तु ढीले ढाले। गण परिषद् के सदस्य कंधों पर आजानु केशरी कंचुक धारण किए थे।" देश के अन्दर बौद्धों के मठ स्थापित थे जिन पर शासन का किसी भी प्रकार का नियंत्रण नहीं था। उसके अन्दर एकमात्र शासन धर्माधिकारियों का ही था जिसमें उससे शरण पाये व्यक्ति को किसी अन्य पिछले अपराध के कारण दण्ड नहीं दिया जा सकता था। बौद्ध भिक्षु अपने धार्मिक नियमों के अनुसार ही वस्त्र धारण करते थे।

समाज में नारी और पुरुष के बीच इतना दुराव छिपाव नहीं था। यौन पवित्रता को भी उतना अधिक महत्व नहीं दिया जाता था। एक प्रकार से कामिनी और कादम्ब का व्यापक प्रयोग दिखलायी पड़ता है। अभिजात कुल के लोगों द्वारा इतर जाति की स्त्रियों का भोग एक परम्परा के रूप में चला आ रहा था जिसके अनेक प्रमाण इतिहास में मिल जाते हैं। राजनर्तकी के उद्यान में सर्वसाधारण के जमघट का उल्लेख तो इतिहास में मिलता है परन्तु शरद् की पूर्णिमा के दिन लेखक ने राजनर्तकी 'मल्लिका' के प्रासाद में जो रास कराया है, वैसे रासों की चर्चा प्रायः इतिहास में कम आयी है।

आज की पाश्चात्य सभ्यता में जिस प्रकार स्त्री और पुरुष मिलकर पर-पुरुष के साथ भी वास करते पाये जाते हैं, वैसे, 'बाल-डास', की प्रथा भारत में कभी नहीं रही। यौन-स्वच्छन्दता का प्रमाण इतिहास में भले ही मिल जाय, किन्तु पति के सामने पत्नी और भाई के सामने बहन का हाथ पकड़नेवाले की गर्दन पर रक्तरंजित-खड्ग होता था। भारतीय संस्कृति के अन्दर कभी भी ऐसी छूट नहीं थी जैसी यशपालजी ने दिखलायी है।

समाज के अन्दर वैयक्तिक समानता का बौद्धकाल में अत्यन्त अभाव था। मानव का मानव के प्रति भी कितना तिरस्कार हो सकता है, इसकी पराकाष्ठा भी उस समय की दास-प्रथा के रूप में पहुँच चुकी थी। उस समय की दास-प्रथा भारतीय संस्कृति की धवल कीर्ति की चादर पर लगा हुआ वह काला धब्बा है जो कभी भी धोया नहीं जा सकता। दासी के साथ स्वामियों का जो व्यवहार उस समय था वैसा व्यवहार पशुओं के साथ भी आज के समाज में नहीं है। उपन्यासकार को इस दूषित प्रथा ने इतना द्रवित कर दिया है कि उसने तत्कालीन गण-राज्यों के पारस्परिक व्यापारिक सम्बन्ध को दिखलाने के लिए एकमात्र दास-दासियों के क्रय-विक्रय का ही प्रसंग उठाया है। प्रत्येक गण-राज्य की अपनी अलग-अलग मुद्रा होती थी और उनके बीच पारस्परिक सम्बन्ध भी स्थापित थे, इसे दिखलाने के लिए जिस विनिमय-पद्धति की कल्पना लेखक ने की है, निःसन्देह उस पर आधुनिक 'फॉरेन एक्सचेंज' का प्रभाव है। दासों के क्रय-विक्रय उसी प्रकार किये जाते थे जिस प्रकार आज विश्व-बाजार में तैयार वस्तुओं का क्रय विक्रय हो रहा है।

'प्रतुल' जो दास दासियों का थोक व्यापारी है, 'दिव्या' को व्यापारी 'भूधर' के हाथ इसलिए बेच देना चाहता है कि इस गर्भिणी दासी का सौंदर्य दिन-दिन घटता जायगा जिससे भविष्य में लाभ की सम्भावना भी जाती रहेगी। परन्तु भूधर का अनुभव भी उससे कम नहीं था। 'प्रतुल' ने उसे फँसाने के लिए जब दासी की प्रशंसा की : "क्या तुम उसके अवयवों का लास्य तथा उसका चम्पाकली-सा वर्ण नहीं देखते। गर्भिणी होने के कारण मलिन है तो क्या, यह नहीं देखते कि एक मूल में दो जीव पा रहे हो।" तो उसने स्पष्ट कह दिया : "मित्र! वही सब देख रहा हूँ। गोधन और अश्वधन नहीं, मनुष्य का ही व्यापार करता हूँ। उसकी जाति देखते हो ·· पर्यंक पर पली है। द्विज कन्या है मित्र! गर्भिणी···और वह भी प्रथम गर्भ, तिस पर भी दीर्घ यात्रा। यदि फिसल गई तो बीस मुद्रा भी गए।" मानवता का इससे बड़ा पतन और क्या हो सकता है। पशुओं की भाँति सवा सोलह आने ठोक बजा कर मनुष्यों का क्रय-विक्रय होता था। भूधर के घर से पुरोहित चक्रधर के घर जाने पर 'दिव्या' की जो दुर्दशा हुई वह मानवता के पाप की अत्यन्त करुण कहानी है। दूध के लोभ में लोग गाय के बछड़े को भी जीवित रखना चाहते हैं परन्तु दासियों के पुत्रों का मूल्य उन

बछड़ों के बराबर भी नहीं था। गाय बछड़े को स्तन देने के पश्चात् ही स्वामी को दूध देती है पर बेचारी दासी के शरीर पर तो संपूर्ण स्वामित्व क्रेता का ही होना है। पुरोहित-पत्नी ने 'दिव्या' के पुत्र को इसलिए बेच देने का प्रस्ताव पास किया कि वह उसके लिए अपने दूध की चोरी करती है। नारीत्व और मातृत्व का इससे बड़ा और क्या अनादर हो सकता है? तत्कालीन समाज शासन और धर्म स्थानों में अनेक बाह्याडम्बर तथा थोथी मान्यताएँ वर्तमान थीं, परन्तु उनकी जड़ में जो यह विषकीट लगा था उसकी ओर किसी ने भी ध्यान नहीं दिया। राज्य दासी को आत्महत्या करने से रोक सकता है, उस पर स्वामी की सम्पत्ति को हानि पहुँचाने का अभियोग लगा सकता है, समाज दास-दासियों का निर्माण कर सकता है, धर्मस्थान उसे अपनी शरण में लेने के पूर्व उससे पति तथा स्वामी की स्वीकृति की माँग कर सकता है, परन्तु सब मिलकर उस दूषित प्रथा को रोक नहीं सकते? इसे न रोकने के कारण के मूल में थी शोषण की वृत्ति जिसे उपन्यासकार ने पकड़ी है। इस एक मूलबिन्दु को सामने रखकर लेखक ने सारी ऐतिहासिक परिस्थितियों की विवेचना की है।

जहाँ तक लेखक ने तटस्थ भाव से ऐतिहासिक सत्यों को चित्रित किया है, उसने आधुनिक समाज को एक अमूल्य वस्तु दी है परन्तु जहाँ कहीं उसका व्यक्तिगत आग्रह प्रधान हो उठा है, उसने हमें सम्भावित अनुभवों से वंचित रखा है। उपन्यास का एक पात्र 'मारिश' आरम्भ से अन्त तक भौतिकवादी दर्शन की व्याख्या करता जान पड़ता है। उपन्यासकार स्वयं कुछ न कहकर जो कुछ चाहता है, वह 'मारिश' के माध्यम से प्रस्तुत करता है। कलात्मकता के कारण उपन्यास की एकसूत्रता में व्यवधान नहीं आने पाया है। दार्शनिकता का मेल लेखक तत्कालीन दार्शनिक प्रवृत्तियों से नहीं करा सका है, जो साधारण जागरूक पाठक को भी खटके बिना नहीं रह सकता। जिस भोगवाद का समर्थन मारिश करता है उस काल में उसकी गंध भी नहीं थी। जितने भी तत्कालीन दार्शनिक सिद्धान्त थे सभी मोक्ष को प्रधान स्थान देते थे। जीवन की स्थिरता की ओर लोगों का कुछ भी आकर्षण नहीं था, चाहे वह बुद्ध का निर्वाण हो अथवा वर्णाश्रम का मोक्ष। हाँ 'चारवाक' ने उसके पूर्व भोगवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था जो इससे कुछ भिन्न न था। उपन्यासकार का तो दावा है कि मारिश 'चारवाक' ही है। 'मारिश' के अनुसार "दुःख की भ्रान्ति में भी जीवन का शाश्वत क्रम इसी प्रकार चलता है। वैराग्य और त्याग पुरुष की आत्मप्रवंचना मात्र है, जीवन की प्रवृत्ति प्रबल और असन्दिग्ध सत्य है।" वह कला का कोई भिन्न अस्तित्व स्वीकार नहीं करता बल्कि उसे नारी की आकर्षण-शक्ति का निखार मात्र मानता है और आकर्षण को ही नारी की सृजनात्मक शक्ति का स्रोत मानता है। इस प्रकार नारी का प्रधान रूप उसकी दृष्टि में सामाजिक भोग ही है जिससे सृष्टि की परम्परा आगे चलती है। यों तो यह मनोविज्ञान का प्रश्न है कि नारी का वास्तविक स्थायी स्वभाव

क्या है, परन्तु ऐतिहासिक अर्जित अनुभवों के आधार पर कहा जा सकता है कि उसका प्रेम जीवन में एक बार और एक व्यक्ति से न मालूम क्यों और कैसे हो जाता है'। जिस मांसल प्रेम और सन्तान ने 'दिव्या' को समाज के सामने कलंकित किया उसे जीवन की अनेक दम घुटा देनेवाली दर्दीली गलियों से गुजरने के लिए बाध्य किया, वह किस प्रकार पुनः मारिश की व्याख्या से प्रभावित हो उसकी ओर आकृष्ट हो जाती है। उसने 'रुद्रधीर' द्वारा दिया गया राजसी वैभव ठुकराया, पृथुसेन द्वारा दिए गये मोक्ष को लात मारी जो अपनी ही भूलों और दिव्या के प्रति किए गये अपराधों के प्रायश्चित के फल-स्वरूप भिक्षु हो गया था जिसने जीवन के प्रथम उभार में ही एक दिन कहा था कि "दिव्ये ! मय और मांस से क्या लाभ। जीवन के दो क्षण पूर्णता से जीकर साहस से जीवन समाप्त कर दें।" और–वह दिव्या को सान्त्वना देने के प्रयत्न में स्वयं दिव्या के शरीर की सजीवता में आश्रय ढूंढने लगा था। शिथिल दिव्या के मेरुदण्ड और कटि को उसने अपने प्रगाढ़ आलिंगन में और अधिक समेट लिया था। दिव्या के कन्चुकी में बंधे उरोज उसके हृदय की धड़कन को आश्रय देने के लिए ही आगे बढ़ आए थे—तथा उसके अवश हाथ दिव्या के उरोजों के नीचे स्पन्दित प्राणों की खोज में उसके कंचुक पर चचल हो उठे थे—को छोड़ कर 'मारिश द्वारा दिए गए' सन्तति की परम्परा के रूप में मानव की अमरता की ओर बाहें फैला देनी है, बात समझ में नहीं आती। इस सम्बन्ध में तो इतना ही कहा जा सकता है कि इसके लिए उपन्यासकार की अपनी दृष्टि ही उत्तर-दायिनी है। उनके अनेक अन्य उपन्यासों के नारी-पात्र भी अपने यौवन के असह्य भार को भोगवादी दार्शनिक पुरुष-पात्र पर ही ला फेंकते हैं। ऐतिहासिक उपन्यास-लेखक की ये ऐसी दुर्बलताएँ हैं जो कभी उनके सारे कृतित्व पर पानी फेर सकती हैं।

परन्तु उपन्यासकार ने कथानक का सगठन तथा प्रासंगिक देश-काल का संचयन इतनी कलात्मकता के साथ किया है कि इसकी औपन्यासिकता में कहीं भी दोष नहीं आने पाया है। इसमें सन्देह नहीं कि यशपालजी की 'दिव्या' को हम हिन्दी साहित्य के कुछ सफल ऐतिहासिक उपन्यासों की कोटि में रख सकते हैं।

सच तो यह है कि यदि लेखक अपनी स्वाभाविक दुर्बलता से कुछ और बच सका होता तो यह हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ ऐतिहासिक उपन्यास होता। "आजकल हिन्दी में बहुत ऐसे उपन्यास निकल रहे हैं जिनमें अद्भुत बातें साबित कर दी जाती हैं। ऐसे अनेक उदाहरण हैं। खेद है कि आपको यहाँ दास दार्शनिकों की-सी बातें करता मिलेगा। उसकी परिस्थिति प्रकट है। वह उस काल के शिक्षित दार्शनिकों की भाँति बहस नहीं कर सकता। न वह वैज्ञानिक भौतिकवाद मानता है न द्वन्द्वात्मक ऐतिहासिक व्याख्या। मैं समझता हूँ, इतिहास को इतिहास की दृष्टि से देखना अधिक श्रेयस्कर है न कि अपने आपको पात्र बनाकर किये कराये पर पानी फेर देना[१]।" यशपाल की 'दिव्या' में यह

१—रांगेय राघव—'मुर्दों का टीला' की भूमिका।

दोष मिल जाता है। आधुनिक मार्क्सवादी ऐतिहासिक व्याख्या को उन्होंने इस उपन्यास में समाहित किया है।

यशपाल हिन्दी के प्रथम उपन्यासकार हैं जिन्होंने प्राचीन बौद्ध युगीन मानव जीवन को नवीन व्याख्या प्रस्तुत की है। अतीत स्वर्णिम और स्वर्गिक नहीं था जिसमें मनुष्य-रूपी देवता निवास करते थे, बल्कि उस समय भी आज के से भूल-चूक करनेवाले रक्त-मांस से गठित शरीरवाले व्यक्ति थे। उनके अन्दर भी ईर्ष्या, लोभ, छल, प्रपंच तथा वासना आदि दुर्गुण प्रभूत मात्रा में विद्यमान थे। साथ ही साथ लेखक ने अपनी प्रतिभा के बल से ऐतिहासिक अनौचित्य से बचने के लिए तत्कालीन ऐतिहासिक सामग्री और ऐतिहासिक तथ्यों का बड़े ही कौशल के साथ प्रयोग किया है। ऐतिहासिक उपन्यासकार को ऐसे व्यक्तियों और समाज का चित्रण करना पड़ता है जो सदा के लिए विलुप्त हो चुका है। उसे इतिहास के पन्नों पर छोड़े कुछ ही चरणचिह्नों के द्वारा समूचा तत्कालीन वातावरण चित्रित करना पड़ता है। यदि उपन्यासकार का अध्ययन विशाल नहीं है और उसने बिना किसी तैयारी के ही कलम उठा ली तो निश्चित ही उसे असफलता मिलेगी और वह ऐतिहासिक यथार्थ को चित्रित करने में असमर्थ सिद्ध होगा।

यशपालजी को इतिहासकार का विवेक मिला है जिससे ऐतिहासिक वातावरण प्रस्तुत करने में उनकी कला का चमत्कार अत्यन्त रमणीय हो उठा है। वर्णनों, संवादों एवं घटनाओं के द्वारा उपन्यासकार ने यथार्थता लाने का प्रयत्न किया है। यहाँ तक कि उपन्यास के अन्दर उस समय प्रयोग में आनेवाले शब्दों का प्रयोग भी प्रचुर मात्रा में हुआ है। ब्राह्मण श्रेष्ठ धर्मस्थ की पौत्री 'दिव्या' का प्रेमोद्दय जाति बन्धन का तिरस्कार कर दास-पुत्र पृथुसेन की ओर बढ़ जाता है। परन्तु समाज-निर्मित मिथ्या मान्यताओं के कारण, उसका गर्भ उसकी लज्जा का विषय बनता है। समाज की थोथी मान्यताओं के कारण किस प्रकार उसे संघ तथा राज्य के द्वारों से निराश लौट कर दासीजीवन की यंत्रणाओं को सहना पड़ा, इस प्रकार के प्रसंगों की व्यवस्था करके उपन्यासकार ने तत्कालीन धार्मिक आडम्बर, वर्णभेद एवं दासों के क्रय-विक्रय आदि कुप्रथाओं को सजीव रूप में चित्रित किया है।

उपन्यास के अन्दर आई हुई दार्शनिकता तथा उपन्यास के व्यक्तिगत उमड़े विचार कहीं-कहीं खटकते हैं। यशपालजी के प्रत्येक उपन्यास में नारी को यौन-स्वच्छन्दता दिलाने की वकालत पाई जाती है। नारी के रूप का आकर्षण देश काल और व्यक्ति का भेद नहीं मानता, यहाँ तक तो बात ठीक समझ में आती है; परन्तु किसी भी प्रकार के उचित सामाजिक बन्धनों के तिरस्कार से किस प्रकार सामाजिक व्यवस्था बनी रहेगी, बात समझ में नहीं आती। यद्यपि इतिहास को उपन्यासकार ने अपनी एक विशेष दृष्टि

से दक्षा है फिर भी प्रस्तुत करने के ढंग में इतनी कलात्मकता है कि विशेष व्यवधान नहीं आने पाया है और पाठक को ऐतिहासिक यथार्थ का पूर्ण रस प्राप्त हो जाता है।

अमिता

'दिव्या' की ही भांति ऐतिहासिक वातावरण को सजीव कल्पना यशपालजी ने अपने ऐतिहासिक उपन्यास 'अमिता' में की है, पर दोनों के मूल स्वर में महान अन्तर है। 'दिव्या' का केवल वातावरण ऐतिहासिक है पर 'अमिता' के सम्राट् अशोक जैसे एकाधिक पात्र इतिहास के प्रमुख नियामक रहे हैं। इस उपन्यास में 'दिव्या' को भांति सामाजिक वातावरण के चित्रण में पुरुष वर्ग की नारी विषयक दुर्बलता को आधार न बना कर एक नन्ही-मुन्नी बालिका 'अमिता' की बाल सुलभ वाचालता एवं भोलेपन के आस-पास अशोक कालीन भारत को खींच लाने का सफल प्रयत्न किया गया है।

ऐतिहासिक सम्भावनाओं के चित्रण में उपन्यासकार को एक सीमा तक छूट मिलती ही है और अपनी इसी छूट के द्वारा वह इतिहास की तर्कसंगत नवीन व्याख्या प्रस्तुत करने का प्रयत्न भी करता है। कलिंग विजय इतिहास की एक ऐसी घटना है जिसका प्रभाव केवल भारत पर ही नहीं बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय जगत पर भी पड़ा। इसम हुए नरसंहार ने ही नृशंस अशोक को प्रियदर्शी अशोक बनाया जिसने शांति और अहिंसा का सन्देश सुदूर देशों तक पहुँचा कर बौद्ध धर्म का प्रचार किया। सम्राट् अशोक के हृदय-परिवर्तन के अनेक कारण हो सकते हैं और यशपालजी ने भी उनमें से एक कारण की अनुपम कल्पना की है। उपन्यास की बाल नायिका 'अमिता' को ही उपन्यासकार ने अशोक के हृदय परिवर्तन के मूल में स्वीकार किया है और जिस कौशल के साथ उन्होंने इस उपन्यास का ताना बाना बुना है, उससे उस कालकी सामाजिक, राजनैतिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों का सफल चित्रण हो गया है। इस उपन्यास की जो सबसे बड़ी विशेषता है, वह यह कि उपन्यासकार अश्लील प्रसंगों से इसे साफ बचा ले गया है जब कि अन्तःपुर में चलनेवाले दासी प्रसंगों में ऐसे प्रसंगों का आ जाना अत्यन्त स्वाभाविक था। कलिंग राज्य के कर्मचारियों की कर्त्तव्यनिष्ठा एवं महारानी का बौद्ध धर्म पर अन्धविश्वास परस्पर लड़कर राज्य की रक्षा कर पाने में असमर्थ हो गया। युद्धकाल में पूँजीपतियों की राजद्रोही स्वार्थपरता को उभाड़कर रखना उपन्यासकार नहीं भूला है जो उसकी अपनी विशेषता है। कुल मिलाकर इसे एक सफल ऐतिहासिक उपन्यास की संज्ञा दी जा सकती है यद्यपि इसका आधार-फलक यशपालजी की प्रतिभा को देखते हुए सीमित ही कहा जा सकता है।

बाणभट्ट की आत्म-कथा

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का उपन्यास 'बाणभट्ट की आत्मकथा' शैली, वस्तु संचयन तथा परिस्थिति योजना आदि सभी दृष्टियों से उत्कृष्ट कोटि का एक ऐतिहासिक

उपन्यास है जो मध्यकालीन भारत का सजीव चित्र उपस्थित करता है। "मध्यकाल के प्रति सहज साहित्यिक आकर्षण से प्रेरित उपन्यास 'बाणभट्ट की आत्मकथा' उपलब्ध होता है, जो प्रायः उपेक्षित रहते हुए भी भारतीय ऐतिहासिक उपन्यासों की विशाल परम्परा में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। उसका वास्तविक सौन्दर्य, कथा की सत्यता प्रमाणित करने के साहित्यिक छल और कथानक के प्रति लेखक की आत्मीयता में निहित है।"[1] द्विवेदीजी की लेखनी जब कहीं प्राकृतिक सरस प्रसंगों का वर्णन करने के लिए चल पड़ती है तो विलम्बित सजे वाक्यों की योजना बाणभट्ट की शैली का ही रूप धारण कर लेती है।

पाठकों को विश्वस्त बनाए रखने के लिए लेखक ने जिन प्रसंगों की योजना की है उससे तत्कालीन सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थितियों का यथार्थ चित्रण हो गया है। निउनियों की अवतारणा तथा पानवालों का चित्रण ऐसे ही सरस प्रसंग हैं।

'बाणभट्ट की आत्मकथा' हर्षकालीन भारत के परिवेश में लिखी एक ऐतिहासिक रोमांस की सृष्टि है। उपन्यास की कथा-भूमि का आधार कादम्बरी के लेखक बाणभट्ट का प्राप्त जीवनवृत्त है जिसे उपन्यासकार ने अपनी महती कल्पना और गहन तथा खोजपूर्ण स्वाध्याय के द्वारा प्राप्त कतिपय सूत्रों के आधार पर संगठित किया है। उपन्यास के कथामुख भाग में उपन्यासकार ने आस्ट्रियन महिला मिस कैथेराइन (दीदी) का प्रवेश इस ढंग से कराया है कि साधारण पाठकों को उपन्यास की मौलिकता में भी सन्देह होने लग जाता है। लोग इसे लेखक की मौलिक कृति न समझकर 'बाणभट्ट की आत्मकथा' का हिन्दी अनुवाद समझने लग जाते हैं क्योंकि दीदी द्वारा शोण नद के दोनों किनारों की पैदल यात्रा तथा इस दो सौ मील की पैदल यात्रा में पाण्डुलिपि के रूप में प्राप्त कागज के एक बड़े पुलिन्दे की चर्चा व्योमकेश शास्त्री (द्विवेदीजी) ने अत्यन्त विश्वसनीय ढंग से की है। भारत छोड़ते समय दीदी की स्वीकृति भी लेखक (व्योमकेश शास्त्री) को प्रकाशनार्थ मिल जाती है और वह उपन्यास के अन्त में दीदी के स्वदेश से भेजे हुए पत्र का भी उल्लेख करना नहीं भूलता जिससे पाठकों के मन में सन्देह के लिये पर्याप्त भूमि मिल जाती है। उपन्यास के जिस प्रसंग से पाठकों के मन में सन्देह की पुष्टि होती है वहीं कुछ बातें ऐसी भी हैं जिन्हें ध्यानपूर्वक समझ लेने पर भ्रम का निवारण भी हो जाता है। इधर जब से प्राचीन पुस्तकों की खोज अथवा किसी भी ग्रन्थ की प्रामाणिकता तथा अप्रामाणिकता को विशेष महत्व दिया जाने लगा है तभी से पुस्तकों की जाली पाण्डुलिपियों को प्रकाश में लाकर पांडित्य का ढिंढोरा पीटने का भी प्रचलन खूब हुआ है, स्पष्टतः लेखक ने इस ओर गहरा व्यंग किया है।

---

१. जगदीश गुप्त—आलोचना, उपन्यास अङ्क, पृ० १७६।

राजगृह में एक सियार का मिलना और ठिठक-ठिठककर देखने मात्र से दीदी का यह विश्वास कर लेना कि वह अवश्य ही बुद्धदेव का समसामयिक था, एक ऐसा प्रसंग है जो दीदी के कल्पना कुशल मस्तिष्क की झलक उपस्थित करता है और विवेकशील पाठक के लिये इतना ही पर्याप्त है। उपन्यास को अत्यधिक स्वाभाविक एवं विश्वसनीय बनाने के लिये ही लेखक ने कथामुख भाग को जोड़कर अपने अपूर्व कौशल का परिचय दिया है जिससे आत्मकथात्मक शैली में लिखे इस उपन्यास की स्वाभाविकता में वृद्धि ही हुई है।'

भारतीय संस्कृति तथा प्राचीन परम्पराओं का अत्यन्त गंभीर विवेचन द्विवेजी ने पांडित्यपूर्ण ढंग से किया है। कथानक के निर्माण में इतिहास और कल्पना का ऐसा अपूर्व योग उपस्थित किया है कि घटनायें बिल्कुल सत्य-सी जान पड़ती हैं। उपन्यासकार ने इतिहास का केवल सहारा भर लिया है और कल्पित घटनाओं को इस ढंग से उपस्थित किया है कि उनका इतिहास से कहीं विरोध नहीं होने पाया है। कथा का अधिकांश भाग हर्षचरितसार और कादम्बरी से मिलता-जुलता है। अन्य संस्कृत ग्रन्थों से प्राप्त सामग्री का उपयोग प्रायः सामाजिक आचार-विचार, आनन्दोत्सव तथा प्राकृतिक चित्रण आदि वर्णित प्रसंगों को सजीव बनाने के लिये किया गया है। उपन्यास की शैली प्रायः वही है जो बाणभट्ट में कादम्बरी की शैली है, होना भी स्वाभाविक और आवश्यक ही था। उपन्यासकार जब कभी सरस एवं मार्मिक प्रसंगों की चर्चा करने बैठता है तो उसकी भावुकता प्रबुद्ध हो जाती है। प्रभात होने में अब ज्यादा देर नहीं थी, इतना कह देने मात्र से उपन्यासकार को संतोष नहीं हो पाता जब तक वह इतना नहीं कह डालता—"देखते-देखते चन्द्रमा पद्म मधु से रँगे हुए वृद्ध कलहंस की भांति आकाश गंगा के पुलिन से उदास भाव से पश्चिम जलधि के तट पर उतर गया। समस्त दिगंत मंडल वृद्ध रंकु मृग की रोमराजि के समान पांडुर हो उठा। हाथी के रक्त से रंजित सिंह के सटाभार की भाँति या लोहित वर्ण लाक्षारस""""पुष्प सौरभ से भ्रमरों को संतुष्ट करके मन्द-मन्द संचारी प्रभात वायु बहने लगी।"

लेखक ने स्वयं स्वीकार किया है कि उपन्यास बहुत कुछ डायरी शैली पर लिखा गया है। जैसे-जैसे घटनाएँ अग्रसर होती गई हैं वैसे-वैसे लेखक उन्हें लिपिबद्ध करता गया है। जहाँ उसके भावावेग की गति तीव्र होती है वहाँ वह जमकर लिखता है परन्तु जहाँ दुख का आवेग बढ़ जाता है वहाँ उसकी लेखनी गम्भीरता के साथ मर्म को छूती भी जाती है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' की प्रेम व्यंजना अत्यन्त गूढ़ एवं अप्रकट भावों के आधार पर होने के कारण कादम्बरी से भिन्न है। भट्टिनी और निपुणिका

---

[1] विस्तार के लिये देखिये लेखक की ही—
'ऐतिहासिक उपन्यास की सीमा और बाणभट्ट की आत्मकथा'

का प्रेम बहुत ही संयत और मर्यादित है। सारी कथा में स्त्री की महिमा का बड़ा तर्कपूर्ण और जोरदार समर्थन है। भारतीय नारी की शालीनता, स्वाभाविक लज्जा, उनका शुद्ध संयत प्रेम, उनकी दया-क्षमा और धर्मशीलता, गुरुजनों के प्रति उनकी श्रद्धा भक्ति तथा उनकी महिमामयी मर्यादा हमें इस उपन्यास के छोटे से छोटे नारी पात्र में भी सम्मिलित मिलती है।

इस उपन्यास में लेखक ने 'दक्षभट्ट' (जिसे आवारा होने के कारण लोग बण्ड कहने लग गये थे) के घर से भाग जाने से लेकर महाराज हर्षवर्धन के सभापण्डित बन जाने तक की कथा कही है। बचपन में ही माँ-बाप से वंचित भट्ट आवारों की तरह यहाँ से वहाँ मारा मारा फिरता रहा। इस भटकपन में वह कभी नट बना कभी पुत-लियों का नाच दिखलाता रहा, कभी नाट्यमण्डिली का सगठन किया और कभी पुराण बाँचकर जनपद के लोगों की आँखों में धूलि झोंकता रहा। घूमते घामते एक दिन वह हर्षवर्धन की राजधानी स्थाणीश्वर (थानेश्वर) पहुँचा, उस दिन हर्षवर्धन के कनिष्ठ भ्राता कुमार कृष्णवर्द्धन के पुत्र-जन्मोत्सव की धूम नगर में मची हुई थी। अच्छा अवसर जान 'बाण' महाराज को आशीर्वाद देकर दक्षिणा लेने की कामना से राजधानी की ओर चल पड़ा। रास्ते में ही पास की दुकान पर उसे निपुणिका (निउनिया) मिल गई जो कि उसकी नाट्य मंडली में अभिनेत्री रह चुकी थी। बाण की नाट्य मंडली से पलायन करने के बाद वह इसी पान की दुकान पर बैठती और मौखरी वंश के छोटे महाराज के यहाँ महल में भी कुछ काम करने चली जाया करती थी। निपुणिका बाण से एक ऐसी नारी के उद्धार कार्य में सहायता की याचना करती है जो कि एक महीने से मौखरी वंश के छोटे महाराज के अन्तःपुर में अपनी इच्छा के विरुद्ध बंदिनी है। नारी शरीर-को देव मंदिर समझने वाला--बाण सहायता के लिये तुरन्त सन्नद्ध हो जाता है। जिस राजकुमारी का बाण ने उद्धार किया वह विषम समर विजयी वाह्लीक विमर्दन प्रत्यन्त आडवदेव पुत्र तुवर मिलिन्द की एक मात्र पुत्री थी जिसका दस्युओं ने हरण किया था और किसी तरह वह लम्पट मौखरी वंश के छोटे महाराज के हाथ लग गई थी। उसे स्थाणीश्वर के राजकुल से घृणा हो गई थी जिससे उसकी इच्छानुसार आचार्य सुगतभद्र की कृपा से कुमार कृष्णवर्धन की सहायता प्राप्त कर बाणभट्ट ने देवपुत्र नन्दिनी अर्थात् भट्टिनी को मगध की ओर ले जाने की सफल योजना तैयार की और चुने हुए मौखरी वीरों के संरक्षण में गंगा में पड़ी एक बड़ी नौका द्वारा जलमार्ग से प्रस्थान किया। चरणाद्रि दुर्ग से आगे बढ़ते ही आभीर ईश्वरसेन के सैनिकों ने व्यवधान उपस्थित किया और युद्ध हो ही रहा था कि भट्टिनी अपने आराध्य देव वाराह भगवान की मूर्ति के साथ—गंगा में कूद पड़ी जिसे बचाने के लिये निउनियाँ तदनन्तर बाणभट्ट भी कूद पड़ा। भट्ट किसी प्रकार भट्टिनी को बचा पाया पर निउनियाँ और वाराह भगवान की मूर्ति से बिछुड़ ही गया। भट्टिनी की आश्वस्त

कर वह निपुणिका की खोज में निकल पड़ा जहाँ उसके सामने एक नई विपत्ति उपस्थित हो गई। उस अवसर पर भैरवी महामाया ने बाणभट्ट की बहुत बड़ी सहायता की। भैरवी महामाया और अघोर भैरव से भट्ट का परिचय थानेश्वर में ही हुआ था। आभीर टोली के एक युवक ने जिससे वह मार्ग में ही मिल गया था, यद्यपि मना किया कि वह रात्रि में वज्र तीर्थ की देवी का दर्शन करने न जाय पर न जाने किस अज्ञात शक्ति से खिंचा हुआ युवक के आग्रह की उपेक्षा करता बाणभट्ट निपुणिका को खोजता-खोजता उस स्थान तक पहुच हो गया। देवी का वह मंदिर वज्रतीर्थ गंगा और महा सरयू के संगम पर स्थित था जहाँ रात्रि में साधक लोग साधना के हेतु आया करते थे। अघोर घण्ट और चंद्रमंडना द्वारा बाणभट्ट देवी के सम्मुख बलि होने ही वाला था कि भट्टिनी तथा निपुणिका के साथ महामाया ने पहुँचकर उसकी रक्षा की और उसे अघोर भैरव की शरण में ले गयी। तान्त्रिक अभिचार के कारण निपुणिका कई दिनों तक और बाणभट्ट तीन दिनों तक संज्ञाहीन रहे और होश में आने पर सबों ने अपने को भद्रेश्वर दुर्ग के आभीर सामंत लोरिकदेव के घर पर पाया। कुमारकृष्ण के निमंत्रण पर भट्टिनी और निपुणिका को लोरिकदेव के संरक्षण में छोड़कर पुनः स्थाणीश्वर गया जहाँ राजसभा में प्रथम दिनों तो सम्राट् द्वारा उसकी थोड़ी उपेक्षा हुई अवश्य पर कुमार के प्रयत्न से वह महाराज हर्ष का राजकवि नियुक्त हो गया। वहाँ उसकी भेंट कवि धावक और निपुणिका की सखी सुचरिता से हुई जो स्थाणीश्वर में निंद्य एवं उपेक्षित जीवन बिताती हुई वैंकटेश भट्ट के नये धर्म में दीक्षित हो पुनः अपने सन्यासी पति विरतिवज्र को पति रूप में प्राप्त करके गृहस्थाश्रम में लौट आने के कारण ढोंगी पंडित वसुमति के संकेत पर उसके चेले नगरश्रेष्ठी धनदत्त द्वारा लगाये गये ऋण के आरोपों के कारण राज्य द्वारा बन्दिनी बना ली गई थी। अपनी इस यात्रा में बाणभट्ट उस बन्दी दम्पति को मुक्त कराने का भी श्रेय प्राप्त करता है। आचार्य भवुशर्मा द्वारा प्रचारित उस पत्र से देश की आन्तरिक स्थिति अत्यन्त चिन्तनीय हो गई थी जिसमें उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया था कि प्रत्यन्त दस्यु-पुत्र आ रहे हैं जिन्हें रोकने के लिए देवपुत्र मिलिन्द का युद्ध-भूमि में आना परम आवश्यक है जब कि वे कन्या के विरह से उदासीन हो उठे हैं। उन्हें पुनः युद्धभूमि में आने के लिये, प्रोत्साहित करने के लिये उनकी पुत्री का पता लगाया जाय। कुमारकृष्ण ने देवपुत्र मिलिन्द की सहानुभूति प्राप्त करने तथा उनसे मित्रता करने के हेतु उनकी पुत्री भट्टिनी को बहन का स्थान देकर स्थाणीश्वर में ही साम्राज्ञी राज्य श्री के साथ ससम्मान अतिथि के रूप में रखना उपयुक्त समझा और उसके लिये उन्होंने बाणभट्ट से आग्रह किया कि वह जिस प्रकार भी हो भट्टिनी को प्रस्तुत कर ले। कुमार ने सामन्त लोरिक देव को भी भट्टिनी की रक्षा हेतु अपने राजकीय सामन्ती पद से समादृत किया। यह ज्ञात होते ही कि भट्टिनी देवपुत्र तुवर मिलिन्द की नयनतारा राजनन्दिनी एक मात्र कन्या है, लोरिक देव ने एक समारोह कर

उसे समादृत किया। बाणभट्ट के प्रस्ताव को सुनकर निपुणिका तो अत्यधिक उत्तेजित हो उठी पर भट्टिनी ने संयम से काम लिया और किसी प्रकार यह तय हो पाया कि लोरिक देव के एक महान सैनिकों के साथ भट्टिनी स्वतंत्र साम्राज्ञी के समान स्थाणीश्वर से लगभग एक कोस की दूरी पर अपने स्कंधावार में रहेगी। इस प्रकार पुनः बाणभट्ट निपुणिका और भट्टिनी के साथ स्थाणीश्वर को लौट आया जहाँ उन्हें राज्योचित सम्मान मिला जिससे भट्टिनी के मन का सारा मैल दूर हो गया और उसके प्रोत्साहन पर ही बाणभट्ट ने महाराज हर्षवर्धन और भवुशर्मा के स्कंधावार में आने के उपलक्ष्य में महाराज हर्ष द्वारा ही लिखित नाटिका के अभिनय की व्यवस्था की। प्रसिद्ध नर्तकी चारुस्मिता ने रत्नावली और निपुणिका ने वासवदत्ता का अभिनय किया तथा राजा की भूमिका में बाणभट्ट स्वयं उतरा। इस अभिनय के साथ ही निपुणिका के जीवन का सचमुच अभिनय समाप्त हो गया और ज्यों ही भरत वाक्य समाप्त हुआ त्यों ही दूसरी ओर निपुणिका की ऐहिक लीला भी समाप्त हो गयी। जीवन का यह वास्तविक अभिनय देखकर तो भट्टिनी निश्चेष्ट हो गई पर भट्ट ने हृदय पर पत्थर रखकर स्वयं उसकी अन्त्येष्टि क्रिया का संपादन किया। इस प्रकार निपुणिका के इस अन्तकालीन वियोग ग्रहण के पश्चात् ही बाणभट्ट को भट्टिनी से भी अलग होना पड़ा क्योंकि आचार्य भर्वपाद ने भट्टिनी को स्थाणीश्वर में ही छोड़ कर उसे पुरुषपुर जाने की आज्ञा दे दी। भट्टिनी के यह कहने पर कि 'जल्दी लौटना', बाण ने कातर कंठ से कहा—'फिर क्या मिलना होगा ?' इसी स्थान पर अपने समस्त अभावों के साथ उपन्यास की कथा समाप्त हो जाती है जो अपेक्षाकृत-उपन्यास में आये हुए कार्य व्यापारों के वर्णन से बहुत छोटी है पर उपन्यासकार ने अनेकों प्रसंगों की सहायता से कथावस्तु का निर्माण इतने कौशल से किया है कि उसने हमें एक ऐसी प्रशस्त भूमि दे दी है जिसमें हर्षकालीन भारत के समस्त सामाजिक आचार-विचार, राजनैतिक उलट-फेर, धार्मिक आन्दोलन, जनता में व्याप्त अनेक मत-मतान्तर एवं विश्वास तथा कला और संस्कृति आदि सिमिट कर आ गई है।

उपन्यास का मुख्य कथा भाग देखने में जितना सीधा और सपाट जान पड़ता है वस्तुतः वह उपन्यास में वैसा नहीं है बल्कि वह अनेक प्रसंगों के साथ इस प्रकार गुँथा हुआ है कि साधारण पाठक के लिये उसे अलग करके देख पाना सरल कार्य नहीं, यही इस उपन्यास की सबसे बड़ी विशेषता है। पाठक इसमें आई हुई एक भी घटना का समाधान तबतक नहीं ढूँढ़ सकता जबतक कि वह संपूर्ण उपन्यास को समाप्त न कर ले। सभी कथाएँ, सभी घटनाएँ और सभी पात्र संयुक्त रूप से एक ऐसे रहस्य को छिपाये रहते हैं जिसे वे बीच में कहीं भी प्रकट नहीं करते और पुस्तक की समाप्ति पर पाठक को सभी रहस्य उद्घाटित होते दिखलायी पड़ते हैं जहाँ पहुँच कर उसकी सारी जिज्ञा-

चाएँ शान्त हो जाती हैं। देखने में तो सारे उपन्यास पर बाणभट्ट का ही व्यक्तित्व छाया हुआ दिखलाई पड़ता है पर जिन घटनाओं एवं वर्णनों के द्वारा उपन्यास की कथावस्तु का निर्माण हुआ है, उनको आगे बढ़ाने वाली स्त्रियाँ हैं जिनके हाथ में बाणभट्ट अथवा अन्य पुरुष पात्र मुग्ध भाव से खेलते हुए जान पड़ते हैं। यह इसलिये भी आवश्यक था कि लेखक ने संपूर्ण उपन्यास में नारी आदर्शों पर ही विशेष बल देने का प्रयास किया है। प्रमुख कथा को लेकर तीन ऐसी कथाएँ हैं जिनका सम्बन्ध संपूर्ण उपन्यास से है जो स्वतंत्र होते हुये भी एक दूसरे पर इस प्रकार आश्रित रखी गई है कि उन्हें अलग करके देख पाना असम्भव-सा जान पड़ता है जब कि वे अलग-अलग उपन्यास के लिये स्वतन्त्र विषय बन सकती हैं। मुख्य कथा के प्रमुख पात्र हैं बाणभट्ट, निपुणिका और भट्टिनी; दूसरी कथा के मुख्य पात्र, अघोर भैरव, महामाया भैरवी और मौखरी सम्राट् ग्रहवर्मा तथा तीसरी कथा के मुख्य पात्र विरतिवज्र, सुचरिता और विरतिवज्र की वृद्धा माँ हैं। ये तीनों कथाएँ मुख्य कथा में इस प्रकार गुँथी हुई हैं कि यदि बाभ्रव्य, बाणभट्ट और निपुणिका की साक्षी हटा ली जाय तो इनका अलग करना तो कठिन है ही, समझ पाना भी असम्भव हो जाय।

बाणभट्ट की आत्मकथा में बीच बीच में न जाने कितने ऐसे प्रसंग और पात्र आते रहते हैं जो पाठक को अजीब से लगते हैं। इससे कभी-कभी घबराहट, कभी आश्चर्य और कभी असंगति के कारण अविश्वास-सा होता है। उपन्यास में महामाया भैरवी के आकस्मिक प्रवेश तथा बाणभट्ट के संपर्क में आए हुए अघोर भैरव तथा वज्रतीर्थ की घटनाएँ इसी प्रकार की हैं। ये घटनाएँ भी ऐसी हैं जो समय-क्रम में व्यवधान उपस्थित होने पर ही घटती हैं। उपन्यास में कथावस्तु और चरित्र की प्रौढ़ता का मणिकाञ्चन संयोग हुआ है। उपन्यास की एक भी घटना और पात्र ऐसे नहीं हैं जो अनावश्यक, असंगत या अनुचित प्रतीत होते हों या जिनका उपयोग शुरू से अन्त तक अच्छी तरह न किया गया हो।

जहाँ कहीं भी लेखक को उपन्यास में नयी बात पूर्वापर प्रसंगों के अभाव में कहनी पड़ी है वहाँ उसने या तो किसी नये पात्र की अवतारणा कर ली है अथवा किसी पात्र की पूर्वस्मृतियों को जगाकर उसके स्वगत कथन द्वारा कार्य संपादित कर लिया है। वस्तु-निर्माण की इस कुशल कला ने 'बाणभट्ट की आत्मकथा' को सदोष होने से इसलिए बचा लिया कि कहीं भी उपन्यासकार को प्रकट होकर स्वयं लम्बे भाषण नहीं देने पड़े हैं। इस उपन्यास में उपन्यास-कला की प्रौढ़ता का ही परिणाम है कि उसमें आई हुई किसी भी एक घटना से एकाधिक उद्देश्यों की सिद्धि हो जाती है। यद्यपि उपन्यासकार ने आकस्मिक घटनाओं, संयोगों एवं दैवी शक्तियों जैसी कथा को आगे बढ़ाने वाली युक्तियों को भरसक 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में आने से रोका है, पर कुछ स्थल ऐसे आ ही'

गये हैं जिनको संभालने के लिये उसे उपरोक्त हथकंडो का प्रयोग करना ही पड़ा है, जिनसे उसे बचना चाहिये था। परन्तु लेखक ने जहाँ कहीं भी ऐसे चमत्कारों का वर्णन किया है, उन्हें तान्त्रिकों तथा साधनों से सबद्ध करने की चेष्टा की है, जिनके लिये सभी कुछ सम्भव माना जा सकता है। भट्टिनी का गंगा में कूद जाना और बाणभट्ट का कूद कर उसे बचा लेना और सैनिकों को उसका पता तक भी न चला ऐसी घटना है जिस पर सन्देह किया जा सकता है।

उपन्यास में आये हुए पात्रों का निर्माण लेखक ने प्रायः अपनी कल्पनाशक्ति के बल पर किया है जो तत्कालीन भारत की सची-सामाजिक एवं सांस्कृतिक तथा राजनैतिक गतिविधियों की झांकी प्रस्तुत करते हैं। उपन्यास के जिन पात्रों में मानवीय भावनाओं को अभिव्यक्ति मिली है उनमें से अधिकांश पुरुष पात्र तो लेखक के, और स्त्री पात्र उसके मूर्तिमान आदर्शों के प्रकाश से ही प्रतिभासित जान पड़ते हैं। उपन्यास मे आये देश-काल का चित्रण भी अधिकांशतः ऐतिहासिक तथ्यों पर आधारित है। उपन्यासकार की कल्पना कहीं भी ऐतिहासिक तथ्यों का अतिक्रमण करती नहीं जान पड़ती। देश में लोग ब्राह्मणों का कितना अधिक सम्मान करते थे इसका पता तो बाण से लग ही जाता है। उपन्यासकार ने ऐतिहासिक तथ्यों को तो अपनी रचना का आधार नहीं बनाया है पर उसने तत्कालीन सामाजिक आचार-विचार और देश-काल का जो वर्णन किया है वह पूर्णतः कल्पित होते हुए भी इतिहास समर्थित है। इस प्रकार उपन्यासकार ने ऐतिहासिक सत्य की अपेक्षा संभावित ऐतिहासिक सत्य की चर्चा अपेक्षाकृत अधिक की है। बाणभट्ट की आत्मकथा का उद्देश्य हर्षकालीन भारत का तथ्यात्मक इतिहास प्रस्तुत करना नहीं बल्कि तत्कालीन सामाजिक चेतना का सजीव चित्र उपस्थित करना ही है। यही कारण है कि उपन्यासकार ने विषय सामग्री को प्रामाणिकता प्रदान करने लिए ऐतिहासिक तथ्यों से अधिक तत्कालीन काव्य ग्रंथों का ही अधिक सहारा लिया है। बाणभट्ट की आत्मकथा जहाँ पर राजनैतिक अंचलों का स्पर्श करती है, उपन्यासकार ने उसे अनैतिहासिक नहीं होने दिया है। बाणभट्ट का सम्बन्ध अधिकतर राजदरबार से अवश्य रहा पर उसे घेर कर चलने वाली उपन्यास की सारी कथा का अधिकांश कथा भाग तत्कालीन सामाजिक अंचलों मे ही विकसित हुआ है। जिसमें संस्कृत भाषा के गौरव पूर्ण अध्ययन-अध्यापन की विधि, धार्मिक तथा मांगलिक अवसरों पर निकलनेवाले जुलूसों के प्रति उत्साह एवं उनके स्वरूप, मदनोत्सव, उपवन विहार तथा नृत्य आदि के आयोजन रूप में नागरिकों की कला प्रियता आदि सामाजिक उत्सवों की जो यथार्थ चर्चा बाणभट्ट की आत्मकथा मे हुई है वह अत्यन्त विश्वसनीय है। यहाँ तक कि बाणभट्ट की वेशभूषा का उल्लेख करते समय उपन्यासकार अत्यन्त सतर्क रहा है। बाणभट्ट जिस समय कृष्णवर्धन को पुत्रोत्सव पर बधाई देने जा रहा था उस समय उसने शुक्लांग राग धारण किया, शुद्ध पुष्पों की माला धारण की आगुल्फ शुद्ध धौत उत्तरीय धारण किया।

यहीं उनका प्रिय वेश था जिसका उल्लेख उनकी रचना हर्ष चरित (२३ उच्छ्वास पृ० ४०) में मिल जाता है। मांगलिक अवसरों पर नगर के मुख्य मार्ग से जुलूस निकालने की प्रथा हर्षकालीन भारत में थी जिनमें सभी वर्ग के पुरुष समान रूप से भाग लेते थे। कान्यकुब्ज मदनोत्सव बड़ी धूमधाम से मनाया करते थे। उपन्यासकार ने रत्नावली नाटिका के प्रथम अंक को आधार बना कर बाणभट्ट की आत्मकथा में हर्षकालीन भारत की विलासिता, कामुकता तथा कला-प्रियता का जो वर्णन किया है उससे अतीतकालीन भारत की एक मनोरम झाँकी पाठकों को मिल जाती है। अन्तःपुर एवं राजसभा का वर्णन भी, उपन्यास में हर्षकालीन भारत के अनुरूप ही हुआ है। वात्स्यायन कृत कामसूत्र में नागरिक गृह का जैसा वर्णन किया गया है, उपन्यासकार ने भट्टिनी के धनिश्वर स्थित गृह का वर्णन भी उसी प्रकार किया है। बाणभट्ट की आत्मकथा में उपन्यासकार ने अनेक स्थलों पर अनेक रूपवती स्त्रियों का चित्र खींचा है, पर उन चित्रों में कहीं से भी बीसवीं शताब्दी की उस नारी की छाया नहीं पड़ने पाई है जो जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पुरुषों से प्रतिद्वन्द्विता करती हुई समान अधिकार प्राप्त करने के लिए आन्दोलन करने को तैयार है और जो भौतिकवादी प्रसाधनों से सजधजकर लोगों की आँखों को चौंधिया देने की होड़ लगा रही हो। बाणभट्ट की आत्मकथा के नारी पात्रों का सौंदर्य उनके प्रसाधनों पर नहीं बल्कि उनके आन्तरिक गुणों पर आधारित है जो स्वाभाविक लज्जा एवं संकोच के कारण और भी आकर्षक बन गया है। उपन्यास की भट्टिनी आधुनिक युग की नारी नहीं बल्कि कादम्बरी की महाश्वेता है। बाणभट्ट के रूप में जब उपन्यासकार ने उसे पहली बार देखा तो वह वीणा बजा रही थी। लेखक का विश्वास है कि उसको देख कर पतित व्यक्ति के हृदय में भी भक्ति का संचार हुए बिना नहीं रह सकता।

इनके अतिरिक्त उपन्यासकार ने उस समय के दूसरे पक्ष का भी यथार्थ चित्रण किया है। महाराज हर्षवर्धन के शासनकाल में म्लेच्छों के नृशंस आक्रमण से नगर वीरान हो जाते थे, नागरिकों को अत्यन्त अमानवीय व्यवहार और कष्ट सहन करने पड़ते थे। पुरुषपुर से साकेत तक के विशाल जनपद को उन्होंने रौंद डाला था।..."दिनांतकालीन प्रचण्ड आँधी से छिन्न-भिन्न मेघ पटल की भाँति नगरियाँ श्रीहीन हो गई थीं। जिन राजपथों पर घनी अँधेरी रातों में भी निर्भय विचरण करने वाली अभिसारिकाओं के नूपुरों की रुनझुन सुनायी देती थी उन पर शृगालों के विकट रव सुनाई देते थे, मृदंग के ताल पर नाचने के अभ्यस्त और सुवर्ण यष्टियों पर विश्राम करने वाले क्रीडा मयूर जंगली बन गये थे, अट्टालिकाओं की जिन सीढ़ियों पर रमणियों के सराग पद संचरण किया करते थे उन पर व्याघ्रों के लहूलुहान पैर दौड़ा करते थे, सौधस्तंभों पर लकड़ी की बनी स्त्री मूर्तियों का रंग धूसर हो गया था और उनपर साँपों की लटकती केंचुलें ही उत्तरीय का कार्य करने लग गयी थीं। राजमहलों के अमल-धवल प्राचीर काले पड़ गये थे,

दीवार के दरारों से तृणावली निकल पड़ी थी। जिन उद्यान लताओं से विलासीनियाँ बड़े सदय भाव से पुष्पचयन किया करती थीं उनको मर्कटों ने बुरी तरह विदीर्ण कर डाला था। अट्टालिकाओं के गवाक्ष न तो रात्रि में मांगल्य प्रदीप से ही और न दिन में गृहलक्ष्मियों की मुखकान्ति से ही उद्भासित हो रहे थे मानो उनकी लज्जा ढकने के लिये मकड़ियों ने उनपर जाला तान दिया था।"...इस प्रकार के भयावह दृश्यों का निर्माण जो उपन्यासकार ने किया है, उसका समर्थन तत्कालीन इतिहास से तो हो ही जाता है पर जहाँ उसके विभिन्न आधुनिक कलात्मक वर्णन का प्रश्न है वह भी वर्णन प्रणाली के पूर्ण प्रतिकूल हर्षकालीन, संस्कृत की वर्णन प्रणाली के टक्कर का है। उपन्यासकार ने हर्षकालीन भारत की राजनैतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों की वास्तविक झाँकी प्रस्तुत करने में ऐतिहासिक संगतियों का पूर्णतः ध्यान रखा है, जिसके कारण 'बाणभट्ट की आत्मकथा' के चित्र अत्यन्त विश्वसनीय बन पाये हैं।

चारु-चन्द्र-लेख

हजारीप्रसाद जी द्विवेदी का यह ऐतिहासिक परिवेश में लिखा उपन्यास उनके प्रथम उपन्यास 'बाणभट्ट की आत्मकथा' की शैली पर ही लिखा गया है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' की ही भाँति इस उपन्यास के आरम्भ में भी 'कथामुख' की व्यवस्था कर के व्योमकेश शास्त्री अथवा हजारीप्रसाद द्विवेदी ने उपन्यास के मूल लेखक के सम्बन्ध में पाठकों को भ्रम में डाल दिया है। आत्मकथात्मक शैली में लिखे गए इस उपन्यास की सम्पूर्ण कथा राजा सातवाहन द्वारा कही गई है। कथामुख के अनुसार यह कथा ब्रह्मपुत्र के उतार पर चन्द्रदीप नामक उपत्यका में चन्द्र गुहा के पिछले हिस्से में उट्टंकित थी जिसका उद्धार अघोरनाथ ने किया। इसमें आए पात्रों की सहायता से राजा सात वाहन ही विविध कथाओं को सुनाता अथवा लिखता है। 'सीदी मौला' नामक पात्र तत्कालीन देश के बाहर घटने वाली घटनाओं का आँखों देखा हाल सातवाहन को समय-समय पर सुनाता है। रानी चन्द्रलेखा ने अपना जीवनवृत्त जितना उन्होंने अपनी माता से सुन रखा था अवसर आने पर सातवाहन से कहा। जो पूर्व की घटनाएँ अप्रकट थीं उन्हें विद्याधर भट्ट ने कह सुनाया है। बोधा प्रधान, रानी के लेख से कुछ सूचनाएँ प्राप्त कर करनाटकी की कथा कहते हैं तथा बीच की टूटी हुई कड़ियों को पूरा करने का कार्य अघोर वज्र ने कर दिया है। विष्णुप्रिया, मंगल, जल्हण तथा जगनिक भी कथा को पूर्णता प्रदान करने में अपना योगदान देते हैं।

इस उपन्यास में तत्कालीन समाज की विशृंखलता, अन्धविश्वास, पारस्परिक कलह, देश की विकट राजनैतिक परिस्थिति, मुस्लिम आक्रमण एवं शासन के कारण उत्पन्न कुण्ठा और हीन भावना, सिद्धों और नाथों के बढ़ते हुए प्रभाव, स्त्रियों के प्रति अस्पृश्य दृष्टि, आचार-विचार तथा राष्ट्रीय एकता के अभाव आदि प्रसंगों पर सम्यक

दृष्टिपात किया गया है। देश-काल की सीमा का इतना अधिक विस्तार इस उपन्यास में समाहित किया गया है कि कथानक का दुर्बल हो जाना स्वाभाविक था। कामरूप और ब्रह्मपुत्र के उतार से आरम्भ होकर कथा का विस्तार उज्जयनी और जालंधर तक के सिद्धपीठों तक होता गया है। इसके अतिरिक्त सीदी मौला के प्रवेश ने तिब्बत, मंगोल देश, कन्दहार एवं बलख तक की तत्कालीन सामाजिक एवं राजनैतिक घटनाओं को उपन्यास में समेट लिया है। एक स्थान पर बैठ कर कथा को इस सीमा तक ढील देना और उसके निर्वाह का संकल्प पूरा कर लेना सिद्धों का ही काम है, पर उपन्यासकार की जादुई शैली ने इस चुनौती को स्वीकार कर लिया है।

चन्द्रलेखा का तपस्वी की खोज में निकलना, मार्ग में सातवाहन से उसकी भेंट हो हो जाना, और उसे पति रूप में वरण करना, नागनाथ द्वारा कोटिवेधी रस के लिए बत्तीस लक्षणों युक्त चन्द्रलेखा का आह्वान करना, चन्द्रलेखा का इस कार्य के लिए विविध परिस्थितियों से गुजरना, रस सिद्धि के पश्चात् नागनाथ की हत्या एवं अन्य प्रभावों के अन्दर उसका विक्षिप्त होना, विष्णुप्रिया के अप्रतिम प्रयत्न से सामान्य अवस्था को प्राप्त कर पुनः सातवाहन को पति रूप में स्वीकार करना और गृहकलह आदि कथानक के प्रमुख अंश माने जा सकते हैं। चन्द्रलेखा का सातवाहन का प्रथम दर्शन में ही वरण एक पूर्वनियोजित घटना ज्ञात होती है। इसको विश्वसनीय स्वरूप प्रदान करने में लेखक ने अपनी कलात्मकता का परिचय दिया है। किसी भद्र कन्या का पूर्वपरिचय के अभाव में यह कहना कि 'मुझे अपनी रानी बना लो पर तपस्वी की खोज दो' प्रायः अविश्वनीय ही ज्ञात होता है। उसके वंशानुक्रम, पालन पोषण एवं जीवन से सम्बन्धित जिस स्वरूप को द्विवेदी जी ने प्रस्तुत किया है उसके परिपार्श्व में प्रायः यह अनौचित्य भी औचित्य में परिणत हो जाता है। 'कथामुख' में ही कथानक का ऐसा सूत्र प्रदान कर दिया गया है कि आगे आने वाली घटनाओं को उसके आधार पर समझने में सरलता होती है। यहाँ 'चन्द्रलेखा' को लेखक ने सिद्ध योगिनी एवं सर्वलक्षण-सम्पन्न स्त्री के रूप में स्वीकृति प्रदान की है। एक गृहस्थ परिवार में पल कर वह रानी बनती है, पर रानी बनने के कई सहायक तत्व पूर्व से ही उसमें वर्तमान हैं जिनका सम्बन्ध भविष्यवाणी से है। पहली भविष्यवाणी काशी के ज्योतिषी की है, दूसरी नागनाथ की और तीसरी भविष्यवाणी सातवाहन के स्वप्न में रुक्ष वेश तापस ने की है। उसके शब्द हैं "निद्रा में समय न गँवाओ सीधे पश्चिम की ओर घोड़ा दौड़ाओ सीदी मौला नहीं मिलेगा, सीदी देवी मिलेगी ·····सिद्धि तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही है।" सिद्धि का अर्थ न समझने पर पर सातवाहन पूछते हैं "बाबा बताओ मेरी सिद्धि क्या है?" उसे उत्तर मिला "आत्मदान। जहाँ तुम्हारा अन्तरतम अकारण सहस्र धाराओं में क्षरित होकर गल जाना चाहे वही तुम्हारी सिद्धि है।" मृगशावक का पीछा करते जब वे दुष्यन्त की भाँति आगे बढ़ते हैं तो उन्हें शकुन्तला की भाँति मृग की रक्षा

करती हुई चन्द्रलेखा मिलती है। प्रथम दर्शन में ही राजा अभिभूत हो जाता है, सौंदर्य के अप्रतिम स्वरूप से उनका हृदय क्षरित होकर गल जाता है। चन्द्रलेखा को सातवाहन और सातवाहन को चन्द्रलेखा मिलती है जिसमें उनके आत्मदान का रहस्य छिपा हुआ है।

कथानक में चन्द्रलेखा की पूरक 'मैना' है जो अपने प्रथम चित्रण में मैनसिंह के रूप में पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत की गयी है। 'चन्द्रलेखा' अगर पुत्रलाभ करने की अभिलाषा से गये हुए दम्पति का काशी में आत्मलाभ माना जा सकती है तो 'मैना' डेढ़ वर्ष की अवस्था में देवदासी के रूप में प्रदत्त वह बालिका, जिसके लिये नाटी माँ मचल पड़ती हैं। चन्द्रलेखा का पालन-पोषण गृहस्थ परिवार में हुआ है तो मैना का जीवन के कलुषित व्यवसाय से मुक्ति की खोज में संन्यासी हुई 'नाटी' के आध्यात्मिक वातावरण में। एक में अगर जन-जन को उद्बुद्ध करके देशसेवा में संलग्न करने एवं पारद को सिद्ध करके मानवता को जरामरण से मुक्त करने की अदम्य अभिलाषा है तो दूसरे में त्याग, शूरवीरता, रणकौशल एवं निःस्वार्थ प्रेम की वह मानवोचित जिज्ञासा जो अपने आदर्श में शूरवीरों का अलंकार बन सकती है। इसीलिये एक को लेखक ने सिद्ध योगिनी की उपाधि से अभिहित किया है तो दूसरी को, भगवती उग्रतारा अथवा चित्त की क्रिया शक्ति से। इस क्रिया शक्ति के अभाव में 'सिद्धि' की क्या दुर्दशा हो सकती है, वह किस भांति निष्क्रिय हो जाती है, इसको हम विक्षिप्त चन्द्रलेखा एवं मैना के वार्तालाप से स्पष्ट कर सकते हैं।

दूसरा पात्रों का समुदाय सीदी मौला, नागनाथ, अन्य योगियों एवं भक्तों से सम्बद्ध है। 'सीदी' का अर्थ सिद्ध होता है। 'सीदी मौला' का अर्थ हुआ 'सिद्ध मौला' या सिद्ध योगी। सीदी एक दृढ़प्रतिज्ञ साधक हैं, सिद्धियाँ उनकी चेरी हैं, वे आपाद मस्त हैं, बेफिक्र हैं। मौज में आकर अपने कुछ अनुभवों को व्यक्त कर देते हैं। 'नागनाथ' एवं अन्य सिद्ध संप्रदाय के लोग सिद्धियों के चक्कर में पड़े हैं, विविध तंत्रमंत्रों का सहारा लेकर उन सिद्धियों को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं, कुमारिका पूजन से कोटि-वेधी रस के सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं, पर ये असिद्ध ही रहते हैं। तीसरा दल सहज भाव से भक्ति करनेवाली स्त्रियों का है। इनमें 'नाटी माता' एवं विष्णु-प्रिया प्रमुख हैं। विष्णु-प्रिया भी प्रायः सिद्ध हैं। जहाँ नागनाथ असफल होते हैं, वहीं विष्णु-प्रिया सफल होती हैं।

घोर शर्मा और विद्याधर जी विद्वान् एवं कूटनीतिज्ञ हैं, इनके अतिरिक्त बघेना और अलहना हैं जो युद्धवीर, तेजस्वी और आत्म-बलिदान के प्रतीक हैं। सम्पूर्ण कथानक इन्हीं पात्रों को आधार लेकर क्रियाशील होता है। इसमें विदूषक का सर्वथा अभाव है। सर्वत्र गाम्भीर्य है, दो एक स्थलों को छोड़ कर हास्य का सर्वथा अभाव है। यथास्थान

करुण, शृंगार, वीर एवं वीभत्स की योजना की गई है। खलनायकों के रूप में विदेशी अत्याचारी एवं चुण्डक अपना पार्ट अदा करते हैं। संघर्ष की प्रमुख पृष्ठभूमि धर्म और जाति नहीं अपितु इनसे भी वृहत्तर देशसेवा, त्याग एवं बलिदान है। लेखक के सभी प्रयत्न उद्बोधन एवं चेतना के आधार पर इन संघर्षों की परिसमाप्ति एवं विदेशी आक्रमणों से मुक्ति पाने के लिये किए जान पड़ते हैं।

उपसंहार में कथानक के विषय में अपना मत व्यक्त करते हुए विद्वान् लेखक ने लिखा है, "अघोरनाथ के लिये यह असम्भव हो जान पड़ता है कि इसमें से तथ्य और कल्पना को अलग करके दिखा दें। इस दृष्टि से कथा में एक जीवन्त ऐक्य है।" यथार्थ में कथानक का अंश क्षीण होते हुए भी लेखक ने अपनी वर्णन-पटुता, सूक्ष्म निरीक्षण, पाण्डित्यपूर्ण अध्ययन तथा ऐतिहासिक ज्ञान के आधार पर उसे ऐसा स्वरूप प्रदान किया है कि उपन्यास आद्योपान्त अपनी एकता को बनाये रखता है। उपन्यास का आरम्भ लेखक ने सातवाहन के द्वारा सोदी मौला की खोज से किया है। यहीं उसकी दूरदर्शिता से नायक को 'सोदी' नहीं अपितु 'सिद्धि' की हस्तामलकवत् उपलब्धि होती है। यह 'सिद्धि' अपने ही मुखारविन्दो से अपने विषय में चर्चा एवं परिहास के द्वारा कथासूत्र को आगे बढाती है। 'मुझे अपनी रानी बनाओ' को सुनते ही सातवाहन 'सिद्धि' का आह्वान तो करता है, पर समुचित नियंत्रण एवं पथ प्रदर्शन के अभाव में वही 'सिद्धि' उसके लिये समस्या बन जाती है। शक्ति की उपलब्धि के पश्चात् शक्ति को बनाये रखने की दूरदर्शिता एवं क्षमता की अत्यन्त आवश्यकता होती है। साधक को 'सिद्धि' के वशीभूत नहीं रहना पड़ता अपितु सिद्धि को साधक का नियंमित अनुगामी बनना पड़ता है। अगर साधक इसमें किसी भी प्रकार का प्रमाद दिखाता है, और उसके वशीभूत होता है तो वह स्वतंत्र होकर उसकी इच्छा के विरुद्ध भी अनेक कार्य करती रहती है, इस प्रकार साधक उसके हाथ का खिलौना बन जाता है। 'सातवाहन' चन्द्रलेखा के हाथ का खिलौना है, उसकी संशयालु एवं निर्बल चेतना उसके वशीभूत है, वह कठपुतली जैसे उसी के हाथो में नाचता है, उसी के लिये उसाँसें भरता है, उससे अनुनय-विनय करता है, पर उसे नियन्त्रित नहीं कर पाता। उसके मोह में अवश्य है। इसकी आशंका चन्द्रलेखा ने व्यक्त की है, "सोए सोए मैंने स्वप्न देखा कि मैं एक छोटी सी चिड़िया हूँ जो एक सोने के पिंजड़े में बन्द है। न जाने कितने लोग पिंजड़ा तोड़ कर मुझे ले जाने आये। अन्त में एक घुड़सवार आया और पिंजड़ा ही उठा कर चलता बना। मैंने घुड़सवार से कहा कि "तुम पिंजड़ा क्यों ले जाते हो, इसे तोड़ कर मुझे निकाल लो मैं तुम्हारे साथ चलूँगी।" परन्तु घोड़सवार ने कहा मुझे पिंजड़ा भी चाहिए चिड़िया भी चाहिए। मैंने कहा तुम पिंजड़े के सोने को अपने काम में लाओ और मुझे पूर्ण स्वतंत्र विचरण करने के लिये छोड़ दो। जब चाहोगे मैं तुम्हारे पास आ जाऊँगी।""""मैंने कहा घुड़सवार तुम क्या मुझे मेरे पिंजड़े से नहीं छुड़ा सकते"....

मेरे वश की बात नहीं है तुम्हारा पिंजड़ा टूटने लायक नहीं है। घुड़सवार दया करो, "मैं भी तुम्हारी पिंजड़ा भी तुम्हारा।"

वह पुनः कहती है :—

"और इसीलिये महाराज तुमसे अनुरोध करती हूँ मुझे बहुत छूट मत देना··· देखो यह तुम्हारी रानी है और तुम्हारी चेरी होकर ही धन्य हो सकती है। मैं पतिरूप में वरण कर रही हूँ इस बात को तुम कभी मत भूल जाना।"

यहाँ 'चिड़िया' एवं 'पिंजड़ा' सामान्य बुद्धि को चकित करनेवाले हैं। यहाँ चिड़िया का मतलब आत्मा, पिंजड़े का मतलब देह, अथवा चिड़िया का अर्थ पिण्डमानव एवं पिंजड़े का तात्पर्य उसको सीमित करनेवाले अन्य उपादान से लिया जा सकता है। अगर इन अर्थों को ग्रहण किया जाय तो इनमें से किसी एक को वे ग्रहण नहीं करना चाहते अपितु उनका व्यामोह द्वन्द्वात्मक है। इसके साथ ही वे 'तुम्हारी चेरी होकर ही धन्य हो सकती है' का ध्यान भी नही रखते। वे उसके गुलाम हो जाते हैं।

इसी सन्दर्भ में द्विवेदीजी ने आत्मदान के द्वारा 'एकमेक मिलि ह्वै रहे" की स्थिति की ओर भी संकेत किया है। यथा—

"रानी ने मुझे आलिंगन-पाश में बांध लिया, ऐसा जान पड़ा कि मुझमें और कुछ नही है केवल एक अखण्ड अनुभूति है। मैं नही, मेरा शरीर नही, मेरी रानी नही, एक अखण्ड अविचल अनुभूति।" यथार्थ में भगवती विष्णु-प्रिया द्वारा 'तेजोगरिमा के एकमएक हो जाने एवं 'अलौकिक आनन्द' की उपलब्धि का साधन बनने का सूत्र इसमें प्रस्तुत है जिसके आधार पर उसने 'लीला-निकेतन' का अर्थ स्पष्ट करके सातवाहन एवं चन्द्रलेखा को दम्पत्ति-जीवन व्यतीत करने को उद्यत किया था। पर प्रारम्भिक प्रभाव ही सातवाहन की निर्बलता एवं तेजहीनता का प्रमुख कारण बनता है।

इसके पश्चात् कथा-सूत्र को आगे बढ़ाने वाले 'सीदी मौला' हैं। द्विवेदीजी ने उन्हें सिद्ध-मौला के रूप में प्रस्तुत किया है। वे मंगोलों की परम्परा, रहन-सहन, युद्ध के पूर्व अन्धविश्वासों की पूजा तथा इलिमश खान की समाधि से ज्वाला प्रकट करने का वृत्तान्त प्रस्तुत करते हैं। गुप्तचर रूप में उनके पकड़े जाने का इतिहास भी पर्याप्त मनोरंजक है। इसके बाद वाले अध्याय में वे 'जोई पिण्डे सोई ब्रह्माण्डे' की भावना प्रतिपादित करके भौतिक एवं दैवी शक्तियों के सामञ्जस्य पर जोर देते हैं। उनका विचार है कि "जब मनुष्य अपने अन्तर्यामी देवता के आधार पर शक्ति के नवीन स्रोतों का रहस्य ढूँढ़ निकालेगा, तब-तब तमोगुण जोर मारकर उसकी विवेक-बुद्धि पर आक्रमण करेगा। एक व्यक्ति के तमोगुण के उद्रेक से उतना अनर्थ नहीं होता जितना सहस्र व्यक्तियों के मिलित तमोगुण से होता है।' इसके पश्चात् ये बौद्ध-दर्शन के पेचीदे सिद्धान्तों को प्रस्तुत करते हैं।

राजधानी में लौटते ही सातवाहन देखता है कि नागनाथ वापस आगये हैं। वे जाते समय 'रानी' को महती सिद्धि के रूप में उनसे दिल के कल्मष को त्याग कर ग्रहण करने की बात कह जाते हैं। इसी समय विद्याधर मिश्र अन्तःपुर में जाते हैं और देश की विकट स्थिति की ओर उनका ध्यान आकृष्ट करते हैं, वे 'परमर्दिदेव और जयन्तिचन्द्र के सम्मिलित प्रताप की मूर्तिमती प्रतिभा 'चन्द्रलेखा' के जन्म का वृत्तान्त सुनाते हैं और उसको उद्बोधित करते हुए कहते हैं कि 'शस्त्रबल से हारना हारना नहीं है, आत्मबल से हारना ही वास्तविक पराजय है। बेटी सारा का सारा देश विदेशियों से आक्रान्त हो जाए, मुझे रंचमात्र भी चिन्ता नहीं, यदि प्रजा में आत्मविश्वास बना रहे। अपने गौरवमय इतिहास की प्रेरणा जाग्रत रहे।,...'महान संकल्प ही महान फल का जनक है।' इसी के परिणाम स्वरूप सातवाहन और चन्द्रलेखा जन-उद्बोधन का कार्य करने लगते हैं। इसी स्थान पर लेखक ने सातवाहन द्वारा चन्द्रलेखा को समझाने में की गई त्रुटि का भी उन्हीं के मुख से संकेत देना है—

"क्षमा करो देवि मेरे लिये तुम्हारा यह रूप और लावण्य ही सर्वस्व है। उसको पाकर ही अपने को चरितार्थ अनुभव कर रहा हूँ। इसके भीतर जो तेजोमय चिन्मय तत्व है उसे पा जाऊँ तो शक्तिशाली हो जाऊँगा। लेकिन उसके प्रति मेरा कोई लोभ नहीं है।"

वास्तव में यही सातवाहन की सबसे बड़ी त्रुटि है जिसका मैंने संकेत किया है। इसके पश्चात् 'गधैया साल' के वृत्तान्त के रूप में लेखक ने कथा को आगे बढ़ाया है। इस प्रसंग में दिया हुआ ऐतिहासिक वृत्तान्त उनकी सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि का परिचायक है। इसके पश्चात् नागनाथ 'रानी' को रसमर्दन के लिये ले जाते हैं। सातवाहन अपने किये पर अकेले पश्चात्ताप करते हैं। एक ओर लेखक अन्तर्युद्ध का वर्णन करना आरम्भ करता है तो दूसरी ओर बाह्य युद्ध का। अब उपन्यास की स्रोतस्विनी इन्हीं दो उपकूलों के बीच प्रवाहित होने लगती है। 'रसमर्दन' में विविध विघ्नों एवं उसकी क्रियाओं की चर्चा महत्वपूर्ण है। इसका विवरण सातवाहन को रानी के द्वारा भेजे हुए पत्र से प्राप्त होता है। 'मैनसिंह' का अचानक समावेश भी कम कौतूहलपूर्ण नहीं है। पत्र में उल्लिखित तंत्र-प्रयोगों में 'कुमारी साधना' का भी उल्लेख आया है। इस सन्दर्भ में तापस बाला के ये शब्द, "तुम जिस मोह के आकर्षण में खिंची जा रही हो वह स्त्री को सबसे बड़ी विफलता है, परन्तु स्त्री अन्नभाव से इधर ही खिंचती है" चन्द्रलेखा के प्रमाद पर कठोर आघात करते हैं और उसे स्थिति का भान करा देते हैं। अमोघवज्र चन्द्रलेखा को कुछ विक्षिप्त अवस्था में विष्णु-प्रिया के यहाँ छोड़ जाते हैं। इधर सातवाहन के अन्तर्द्वन्द्व भी बढ़ते हैं और मैनसिंह उन्हें लेकर नाटी माँ के आश्रम पर आते हैं। विष्णुप्रिया के इन शब्दों में "नागनाथ भूल ही गये थे बत्तीस लक्षणों से

सम्पन्न सधवा सती केवल सीमा का विस्फूर्जित विलास है" सारे कोटिवेधी रसकी त्रुटि निहित है। इस अवस्था में सातवाहन का मस्तिष्क रानी के लिये व्याकुल है, तो रानी का मस्तिष्क सातवाहन के लिये। तापस बाला के शब्दों ने उसके मस्तिष्क पर परिव्याप्त कुहरे को समाप्त करके एक स्त्री के समुचित ज्ञान का आदर्श उसके समक्ष प्रस्तुत किया हो था, इधर 'मैना' की निरन्तर प्रवाहित गूढ़ वाग्धारा से वह और भी घुल गया। चन्द्रलेखा विलख उठती है, 'मैं सिद्ध योगिनी नहीं महा अधम नारी हूँ। मैंने होरा पाया था उसे जलती रेत में फेंक दिया।''''मैना तू अच्छी लड़की है, चन्द्रलेखा ने महाराज को केवल धोखा दिया था। वह उनके किसी काम नहीं आ सकी। हाय बहन क्या महाराज उसे क्षमा करेंगे।" इस परिस्थिति के अन्दर चन्द्रलेखा और सातवाहन का मिलन होता है। परन्तु इस मिलन में भी अभी अपूर्णता है। चन्द्रलेखा अपने को सिद्धयोगिनी के प्राचीर मे बन्द पाकर सातवाहन को अपने से विमुख होने का आग्रह करती है, पर सातवाहन का विश्वास है कि उसके साथ रहने पर अमंगल हतप्रभ रहता है और विछुड़ जाने पर प्रचण्ड हो जाता है।" इसके पश्चात् वह उससे पत्र की चर्चा करते हुए स्पष्टीकरण की माँग करता है और पूछता है कि उसमें क्या कुछ ऐसा था जो अक्षरो की सीमा के अन्दर नही आ सका। इस उत्तर में विविध सैद्धान्तिक पक्षों पर प्रकाश डालती हुई वह अमोघ वज्र का निम्नांकित वाक्य कहती है "तुम राजा के लिए व्याकुल हो, तुम अपनी सिद्धियों को सम्मान नहीं दे रही हो और तुम्हारे भीतर श्रद्धा और विश्वास काम कर रहा है।" इस वाक्य से वह अपने पति में अपनी आस्था प्रकट कर देती है। अब सिद्धिरस से तो वह वंचित हो है, प्रेमरस की अप्रतुप्त चाह के मार्ग में भी बाधाएँ हैं। इस बात का आभास पाते ही सातवाहन अपने को निःशेष भाव से समर्पित करके उसके अन्तर्द्वन्द्वों को समाप्त करता है। इसी बीच युद्ध आरम्भ हो जाता है और उसमें चन्द्रलेखा घायल हो जाती है। दिन भर के युद्ध के पश्चात् किसी तरह आततायी पराजित होते हैं। मैना के दिल्ली पर आक्रमण करने के आह्वान से सभी स्तब्ध एवं उद्बुद्ध हैं। इसी बीच सीदी मौला पुनः आ टपकते हैं। वे धीर शर्मा की चर्चा के द्वारा कुछ समय के लिये वातावरण को हास्य से मुखरित कर देते हैं। अचानक मैनसिंह (मैना) के उद्बोधन से सब कुछ समाप्त हो जाता है और धुण्डकों से युद्ध आरम्भ होता है। इसी बीच 'नाटी माता' के संन्यासिनी होने की कथा पाठकों के समक्ष आती है और बोधा 'मैनसिंह' अर्थात् मैना की जीवनी की चर्चा करता है। अब चन्द्रलेखा और सातवाहन विष्णु-प्रिया के आश्रम पर दिखाये गये हैं। उनके उपदेश से दोनों के दिल का कल्मष धुलता है, इसी बीच मैना की बेहोशी से घटना में परिवर्तन होता है। अचानक धुण्डकों के आक्रमण से सब पुनः सावधान हो जाते हैं। यहाँ पर द्विवेदीजी ने अपने रणकौशल सम्बन्धी ज्ञान का भी परिचय दिया है। भगवती विष्णु-प्रिया के प्रभाव का भी विचित्र ढंग से वर्णन किया

गया है। महाराज भी घायल होने के कारण अलहना की मृत्यु को नहीं देख पाते और निसंज्ञ हो जाते हैं। अब इन्हें आश्रम पर छोड़कर रानी चन्द्रलेखा और विद्याधर जी पुनः जन-उद्‌बोधन में लग जाते हैं। सातवाहन के पूछने पर भी उन्हें 'रानी' का सन्देश नहीं दिया जाता। वे घबरा उठते हैं। इस समय 'मैना' की सेवा और नाटी माँ के कीर्तनों एवं भजनों का अच्छा उल्लेख है। भम्मल नट भी अपने वंश को प्रशस्ति करता है। विनाशलीला को देखकर भगवती विष्णु-प्रिया अपनी योगाग्नि में अपने को जला देती हैं। कुछ समय पश्चात् सातवाहन अमोघवज्र के यहाँ जाते हैं। अमोघवज्र उन्हें प्रस्तुत देखकर कहते हैं कि, "देखो महाराज पश्चिम की ओर से जो महान् इस्लाम आ रहा है, उसे ठीक समझो। उसके एक हाथ में अमृत का भाण्ड है दूसरे में नग्न-कृपाण·······मैं हतबुद्धि हूँ मुझे कुछ सूझ नहीं रहा है। मैं शस्त्रयुद्ध की व्यर्थता समझ गया हूँ, क्षणिक जय पराजय की कुहेलिका और रंगीन मिथ्याचारिता का रहस्य जान गया हूँ। मैं भविष्य देखकर चिन्तित हूँ महाराज ;···सब बदल जायगा ···इस देश की जनता अपने पूर्वजों के नाम बदल देगी···उनसे बचाओ।" इस उद्‌बोधन में वे बेकार की सिद्धियों के पीछे पड़े हुए योगियों को फटकारते हैं इसे निठल्लापन एवं देशद्रोहिता सिद्ध करते हैं। इसके पश्चात् अशोकचल्ल के शंकालु मस्तिष्क, अन्धविश्वास परायणता का वर्णन है। शिवावलि एवं उग्रतारा के फेर में पड़कर युद्ध से विरत होने की चर्चा है। धोवा उन्हें लेकर नीलतारा के मन्दिर में गया है। वहाँ के पुजारी को फटकार से वे सहायता के लिये तत्पर होते हैं। युद्ध में सफलता पाने के मिथ्या उद्‌देश्य से रानी के छिपाने की बात भी सामने आती है। मुसलमानों के अत्याचार के भी चित्र प्रस्तुत किये गए हैं।··इसी स्थान पर लेखक ने जल्हण का प्रवेश कराया है। करनाटी के नृत्य का वर्णन भी दिया गया है, मैना की सातवाहन के प्रति उत्कट आसक्ति भी उसी के मुख से प्रस्तुत करायी गई है। अक्षोभ्य भैरव आज की परिस्थिति में राज्यशाही के दोषों की चर्चा करते हैं। इसके पश्चात् विद्याधर भट्ट की युद्ध तत्परता एवं चन्द्रलेखा का योगियों की सेना एकत्रित करने की घटना से महाराज अवगत होते हैं। 'मैना' और अक्षोभ्य भैरव मिल कर भद्रकाली के अपहर्ता की हत्या कर देते हैं। मैना अपने को दोषी पाकर आत्महत्या करती है। उसके घायल शरीर को उठा कर तीनों जंगल में भाग जाते हैं। यहीं उपन्यास का अन्त होता है।

इस पर दृष्टिपात करने से स्पष्टरूपेण ज्ञात होता है कि इसकी सीमा में लेखक की विलक्षण प्रतिभा ने इतने अधिक तत्वों एवं घटनाओं का समावेश किया है और उन्हें इस प्रकार नियोजित किया है कि पाठक मंत्रमुग्ध-सा आदि से अन्त तक इनके क्रिया-कलापों को देखता रह जाता है और उसका कुतूहल नवीन जानकारी के लिए निरन्तर बढ़ता जाता है। घटनाएँ आवश्यकतानुसार अंशों में विभक्त करके एक ही स्थानपर नहीं अपितु खण्डरूप में कई स्थानों पर प्रस्तुत की गई हैं। जहाँ 'विश्वास' की कमी की सम्भावना

है वहाँ लेखक अपने भाष्य द्वारा उन्हें सरस एवं सुग्राह्य बनाने में सक्षम है। कहीं-कहीं अनावश्यक विस्तार एवं दार्शनिक विवेचनों से कुछ ऊब अवश्य होती है। सोदीमौला के आख्यान प्रायः अज्ञात तथ्यों के विवेचन के साथ ही देश के बाहर के सांस्कृतिक स्वरूप का भी परिचय देते हैं। इस प्रकार उपन्यास का कथानक अपनी विविधता में भी एकता की रक्षा कर सकने में समर्थ है।

इस उपन्यास में ऐतिहासिक तत्वों एवं घटनाओं का भी समावेश है। इस दृष्टि से भी इसका महत्व है। लेखक ने उपसंहार में इसकी चर्चा करते हुए लिखा है कि "ऐतिहासिक दृष्टि से कथा में असंगति नहीं है। ऐसा लगता है कि किसी ने सोच-विचार कर तथ्यों को इनमें पिरोया है। फिर भी उज्जयिनी के राजा सातवाहन का कोई प्रमाण नहीं है।" द्विवेदी जी का यह भाष्य समीचीन है। सातवाहन वंश का नाम तो अवश्य है, 'सातवाहन' राजा का नाम नहीं मिलता। इसीलिये बड़ी पटुता के साथ उपन्यास के आरम्भ में ही चन्द्रलेखा के द्वारा 'सातवाहन' शब्द की व्याख्या करा दी गई है। 'जल्हण' 'कर्नाटकी', चन्द्रलेखा, गोरखनाथ, सोदी मौला आदि का नाम इतिहास में किसी न किसी रूप में आता है, पर मैना, बोधा, आदि काल्पनिक हैं। लेखक ने उस समय की सामाजिक पृष्ठभूमि, मान्यताओं एवं गतानुगतिक रूढ़ियों के सन्दर्भ में उन्हें इस प्रकार स्थापित किया है कि वे अपनी क्रियाशीलता द्वारा परोक्ष को प्रत्यक्ष बना कर उसे सर्वजनसुलभ कर देते हैं। इसमें संगति का निर्वाह करते हुए सम्भावित सत्य को भी प्रश्रय दिया गया है। यही सम्भावित सत्य बाद में यथार्थ का रूप ले लेता है। भूत, वर्तमान एवं भविष्यत् में एक अभिन्न सम्बन्ध है। भूत के बीज वर्तमान में पुष्पित एवं भविष्य में फलित होते हैं। इस प्रकार भूत का सामाजिक यथार्थ वर्तमान के लिए ऐतिहासिक यथार्थ का रूप ले लेता है। अतएव ऐतिहासिक उपन्यासकार के लिये विगत काल के इतिहास का परिचय आवश्यक है। द्विवेदी जी ने उस काल के साहित्य का गम्भीर अध्ययन किया है। उनकी दृष्टि में उस काल का चित्र अपने सम्पूर्ण घात-प्रतिघातों के साथ प्रस्तुत है। इन्हीं पात्रों के माध्यम से उन्होंने उसे अभिव्यक्त किया है। विद्याधर जी एक कूटनीतिज्ञ की पृष्ठभूमि में उतरे हैं तो धीर शर्मा एक विद्वान की भूमिका निभाते हैं, सोदी मौला एक प्रगतिवादी विचारक हैं, तो अन्य पोंगापन्थी साधक काल की परम्पराओं से पूर्ण आवेष्ठित हैं। 'मैना' के चरित्र द्वारा भी उन्होंने उस काल की तेजोद्दीप्त स्त्री गरिमा का परिचय कराया है तो तापस बाला एवं कर्नाटकी के चरित्र द्वारा उन्होंने शक्ति तत्व के उस बहिष्कृत रूप को प्रस्तुत किया है जो समाज को उस काल की खोखली साधना से अवगत कराता है। चन्द्रलेखा का चरित्र उस काल की सूक्ष्म क्रियाओं, प्रतिक्रियाओं का एक पुंज है। यह एक ओर स्त्री आदर्श की संरक्षिका है तो दूसरी ओर तेजोद्दीप्त चण्डी का मूर्तिमान परिग्रह। उस

काल के शासको की प्रेमभावना का यथा स्थान उपयुक्त चित्रण किया गया है। सातवाहन को इतिहास-पुरुष न स्वीकार कर के उन्होंने दूरदर्शिता का परिचय दिया है। वे उसे अपने इच्छानुसार सामाजिक स्वरूपों से सम्बद्ध करने के लिये स्वतन्त्र हैं। इसका परिणाम है कि वे सातवाहन के माध्यम से उतने परोक्ष ऐतिहासिक सत्यो को प्रत्यक्ष कर सके हैं जितने ऐतिहासिक सत्यो का उद्घाटन एक इतिहास के पात्र द्वारा नही कराया जा सकता था।

ऐतिहासिक उपन्यासकार 'कल्पना', अनुभूति एवं इतिहास-संगत सामग्री को अपना उपजीव्य बनाता है। द्विवेदी जी के 'चारु चन्द्रलेखा' में यह त्रिवेणी इस रूप में प्रवाहित हुई है कि इस की अलग सत्ता का अभिज्ञान कर सकना प्राय. असम्भव है। फिर भी वे एक सतत जागरूक स्रष्टा एव द्रष्टा हैं। इसीके सम्यक संयोग पर उनके उपन्यास का महल खडा है। अतएव यथा स्थान उन्होंने चिन्तन के द्वारा उन घात-प्रतिघातो को इस रूप में प्रस्तुत किया है कि उससे हमें आधुनिक सामाजिक, राष्ट्रीय एवं धार्मिक परिस्थितियो का भी उस सन्दर्भ मे सकेत मिलता है। वास्तव में उनके इतिहास विश्लेषण एवं उसके नियोजन में वर्तमान के लिए भी एक महान् सन्देश निहित है। सामाजिक परिवर्तन में उनका विश्वास नहीं है, विकास को ही इसकी मूल चेतना के रूप में वे स्वीकृति प्रदान करते हैं। इस विकास में हम भूत को भूल नही सकते, केवल वर्तमान को लेकर चल नहीं सकते और न केवल भविष्य की 'युतोपिया' के आधार पर ही अपने स्वप्न का निर्माण कर सकते हैं। भूत वर्तमान का पथ-प्रदर्शक एवं भविष्य का निर्माता होता है। अपने साहित्यिक अध्ययन में इतिहास के मणिकाचन सयोग द्वारा इन्होंने यही महती उपलब्धि प्राप्त की है। इसी आधार पर उनकी व्याख्या इतिहास की यथार्थ व्याख्या बन सकी है। उनके कुछ स्थलो को हम लेते हैं—

(अ) भारतवर्ष की धर्मव्यवस्था मे बहुत से छिद्र हो गये हैं।

(ब) आर्यावर्त के विनाश का हेतु व्यर्थ कुलाभिमान है।

(स) हमें कुछ ऐसा करना है कि सारी प्रजा दुर्भेद्य चट्टान की तरह हो जाय। किसी को उसकी ओर आँख उठाने का साहस न हो।

(द) मैं स्पष्ट देख रहा हूँ कि आर्यावर्त नाश के कगार पर खडा है, भेद-बुद्धि से जर्जर स्वार्थ-बुद्धि से अन्धा, ग्रहगृहीत भारतवर्ष महानाश की ओर बढ़ रहा है'''तुम कूट युद्ध से विजय पाना चाहते हो। मृगमरीचिका है यह। इस देश को वही बचायेगा जिसके पास सहज-जीवन का कवच होगा, सत्य की तलवार होगी, धैर्य का रथ होगा, साहस की ढाल होगी, मैत्री का पाश होगा, धर्म का नेतृत्व होगा।"

(य) "यह देश रसातल को जाने वाला है। यहाँ मिट्टी का दाम अधिक आँका जा रहा है। पुरुष नारी को मांस पिण्ड समझ कर भुक्खड़ गिद्ध की तरह उस पर टूट रहा है। नारी भय से व्याकुल होकर अपना वास्तविक धर्म भूल गई है।"

(फ) इस किंकर्त्तव्यविमूढ़ प्रजा का संशोधन कठिन जान पड़ रहा है। सर्वत्र घुन लगा हुआ है। क्षुद्रता के अहंकार से यहाँ की प्रत्येक जाति जर्जर है प्रत्येक सम्प्रदाय अन्तर्विदीर्ण है।

(र) "सीधा जन-सम्पर्क रखने वाला राजनेता कहीं रह ही नहीं गया है। राज्यशक्ति दुर्बल है। प्रजा मूक-दर्शक बनी हुई है। राज्यपुत्रों को झूठी दर्पोक्तियाँ अन्तःसार शून्य ढफ बन गई हैं। धिक्कार है इस दम्भ-बुद्धि की पाखण्ड प्रसारिणी जड़ नीति को।"

(ल) स्वार्थ के गुलाम हैं, दिल्ली में गुलामों का राज्य है। सबके सब चुगलखोर, चरित्रहीन, क्रूर, गँवार। नाश हो जायेगा इस सल्तनत का गाँठ बाँध लो महाराज, जिस सल्तनत में सबको अपनी अपनी पड़ी हो, जिसमें बड़े से बड़े को अपना सिर बचाने की ही चिन्ता पड़ी हो, जिसमें प्रजा के सुख दुःख से कोई मतलब न हो, वह नाश के कगार पर खड़ी है। वे भाग्यहीन डण्डे के बल से राजा बनना चाहते हैं, सब नरक के कीड़े बनेंगे।"

इन उपर्युक्त उद्धरणों पर दृष्टिपात करके कोई भी समझदार व्यक्ति उनके हृदय की वेदना और आकुलता को समझ सकता है। धर्मभीरु देश में धर्म के नाम पर, जाति के नाम पर, वंश के नाम पर आज कितने अत्याचार, अनाचार एवं उत्पीड़न किये जाते हैं यह सर्वविदित है। इस उपन्यास में इससे बचने का एकमात्र साधन उन्होंने जन-चेतना को माना है जो प्रायः हर शासन में प्रसुप्त पड़ी रहती है। परन्तु इसके स्थान पर बोलबाला है भेदबुद्धि, स्वार्थ-वृत्ति और कूटनीति का। परन्तु इस से तो देश का कल्याण होता नहीं। जब व्यक्ति की स्वार्थपरता अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँच जाती है अपने स्वार्थ में वह मिट्टी को भी सोना समझने लगती है। इस पिपासा के रहते किसी भी प्रकार देश का हित नहीं हो सकता। प्रजातन्त्र के अन्दर स्वार्थी एवं लोलुप नेताओं पर भी उन्होंने प्रहार किया है जो देशहित से बड़ा स्वहित को समझते हैं। उनका असन्तोष दिल्ली के दलालों पर भी आक्रमण करने से बाज नहीं आया है। इस प्रकार अपने पूरे उपन्यास में उन्होंने आधुनिक भारत को उद्बुद्ध किया है और जन-चेतना को एक नया सन्देश दिया है।

द्विवेदीजी का यह उपन्यास ऐतिहासिक आत्मकथात्मक उपन्यास है। इसी प्रकार की एक कृति वे पहले भी हिन्दी-जगत को दे चुके हैं। यह उपन्यास उस परम्परा की द्वितीय महती उपलब्धि है। इसकी सबसे बड़ी विशिष्टता यह है कि इसमें लेखक ने

ऐतिहासिक पटल पर एक नायिका की आत्मकथा को प्रस्तुत किया है। इसी की लपेट में अन्य पात्रों सम्बन्धी आवश्यक ज्ञान भी सुस्पष्ट होता चलता है। इसमें ऐतिहासिक एवं अनैतिहासिक दोनों प्रकार के पात्र आये हैं। प्रमुख पात्र में विश्वास उत्पन्न कराने के लिए द्विवेदीजी ने कई प्रकार के उपायों का सहारा लिया है। अतएव 'चन्द्रलेखा' का चरित्र असामान्य परिस्थितियों की उपज होते हुए जनसामान्य के कुछ निकट आ सका है। 'चन्द्रलेखा' के साथ ही उसे सम्बल प्रदान करनेवाले अन्य पात्र स्वतः लेखक की कल्पना, अनुभूति एवं चिन्तन के प्रमुख प्रमाण हैं। 'सीदी मौला' (जिन्हें हम इस समुदाय में नहीं ले सकते) भी एक पूरक पृष्ठभूमि प्रस्तुत करते हैं। पात्रों के सभी आचार-विचार की पृष्ठभूमि ऐतिहासिक है। भाषा का यथास्थान उसी सन्दर्भ में प्रयोग हुआ है। उद्धरण भी प्राचीन पुस्तकों से ही लिये गये हैं। इस प्रकार अपने विचार को किसी प्रकार के अविश्वास का जनक बनाये बिना वे अतीत व्यक्तियों पर आरोपित करने में सफल हैं। इस प्रकार आधुनिक चिन्तन के प्रतीक ये अतीत के पात्र कुछ हद तक सजीव एवं सप्राण हैं। उनमें एक स्पन्दन है, एक मूर्तिमान चेतना है। वास्तव में आत्मकथात्मक उपन्यास 'विषयिगत' साहित्य की कोटि में आता है। इसमें लेखक का चिन्तन ही अन्य पात्रों के माध्यम से मुखर रहता है। उसकी अन्तर्दृष्टि ही उपन्यास के प्रमुख मोड़ों की निर्णायक रहती है। फिर भी एक सजग कलाकार की तरह वे सामान्य तटस्थता का उपयोग करके विकास को अबाध-गति से अग्रसर एवं उन्मुख करते हैं। द्विवेदीजी के इस उपन्यास में उपर्युक्त विशेषताएँ प्रस्तुत हैं। सीमा-संकोच के निवारण के लिये ही इन्होंने दार्शनिक एवं साधनात्मक पृष्ठभूमि का अवलम्ब ग्रहण किया है। पर इस पृष्ठभूमि में उनके कुछ ही पात्र 'व्युत्पन्न मति'- एवं प्रतिभा सम्पन्न बन पड़े हैं। 'मैना' को छोड़कर उनके अधिकांश पात्र स्वयंचालित यंत्र की तरह परिस्थिति के शिकंजे से जकड़े ज्ञात होते हैं। उपन्यास का प्रमुख पात्र इसकी नायिका है। उसका सम्पूर्ण जीवन एक विचित्र अन्तर्द्वन्द्व की कहानी है। उसके जीवन के प्रेरक एवं उद्बोधक तत्व निखर कर जन-मानस के सम्मुख नहीं आ सके हैं। उपन्यास में क्रान्ति के स्वर हैं, पर पात्रों में उसका एक प्राञ्जल सामंजस्य स्थापित होने में सर्वत्र बाधा है। हर स्थान पर लेखक का व्यक्तित्व मुखरित होकर उनके माध्यम से कुछ कहता हुआ ज्ञात होता है।

शिल्प की दृष्टि से 'प्रायः बाणभट्ट की आत्मकथा' ही इसका प्रमुख मार्ग-दर्शक है। दोनों ही उपन्यासों में सन्त साहित्य के पाण्डित्य-पूर्ण ज्ञान का प्रयोग हुआ है। दोनों के पुरुष पात्र प्रायः कमजोर हैं, स्त्री पात्र ही उनका मार्ग-निर्देशन करते हैं, दोनों में स्त्री-शरीर को मन्दिर जैसा पवित्र होने का भाव है, दोनों में समाज-च्युत नारियों को साधिका की पृष्ठभूमि प्रदान की गई है, दोनों में ही कतिपय स्त्री पात्र अन्त में आत्महत्या कर लेते हैं, दोनों के अन्त के पूर्व महान् उद्देश्य की ओर संकेत

करके उपन्यास को समाप्त कर दिया जाता है। इस उपन्यास में भी बाणभट्ट की आत्मकथा की तरह उद्बोधन एवं राष्ट्रीय चेतना के स्वर मिलते हैं। भिन्न राजनीतिक एवं सामाजिक स्तर के बावजूद दोनों के मूल स्वर एक-से हैं।

उपन्यास को प्रमुख रूप से मनोरंजन का साधन माना गया है। पर ऐसा मानने वाले लोगों को इस बात की सतर्कता बरतनी चाहिये कि उपन्यास कला है अतएव औपन्यासिक मनोरंजन कलात्मक मनोरंजन होगा। हम कलात्मक मनोरंजन को उथले मनोरंजन से भिन्न रूप में जीवन की एक तदाकार अनुभूति के आधार पर इसी से प्राप्त नवीन 'सन्तोष' एवं 'आनन्द' के रूप में ग्रहण कर सकते हैं। वास्तव में उपन्यास-लेखक भी मानसिक अनुभूतियों का कलात्मक अभिव्यक्तीकरण है। इसमें जीवन के संघर्ष, घात-प्रतिघात, विस्मयविमुग्ध कर देनेवाले दृश्य तथा ज्ञान एवं विज्ञान के नये स्वरूपों से हमारा परिचय होता है। हम इसके आधार पर जीवन को समझने में सफल होते हैं। अतएव इस दृष्टि से उपन्यास जीवन का ही एक कलात्मक अनुकरण है। खोखले मनोरंजन एवं कुत्सित प्रचारवादी दृष्टिकोण के मानदण्ड पर अगर हम द्विवेदीजी के उपन्यास का मूल्यांकन करते हैं तो हमें निराशा होगी। पर, अगर हम इसे जीवन की कलात्मक अनुभूति का अभिव्यक्तीकरण मानकर इसकी व्याख्या आनन्द एवं सन्तोष के रूप में करते हैं तो हमें ऐसे गूढ़ दृश्य आँखों के समक्ष दृष्टिगोचर होंगे कि हमारे अन्तःचक्षु उससे आप्लावित होकर उसमें निहित जीवन सन्देश, आदर्श एवं क्रान्तिकारी भावनाओं को हृदयंगम कर सकेंगे। "महान कला का प्रमुख उद्देश्य हमारे अन्दर वह अभिज्ञान उत्पन्न करना है, जो अपने अन्दर सभी स्वरूपों एवं विश्वासों को समाहित कर सके" और यह अभिज्ञान यथार्थ घटनाओं के सम्पूर्ण स्वरूपों एवं उनके सम्बन्धों के सूक्ष्म विवेचन द्वारा ही उपलब्ध होता है। परन्तु इसके लिये ज्ञान की *अजस्र निर्झरिणी की आवश्यकता* होती है जिसके प्रवाह में हम इन गतिशील एवं द्वन्द्वात्मक विचारों की सूक्ष्म व्याख्या प्रस्तुत कर सकें। द्विवेदी जी अपने उपन्यास में पाठक के अन्दर आवश्यक अभिज्ञान एवं सूक्ष्म विवेचन-क्षमता उत्पन्न करके तत्कालीन एवं सामयिक सत्य का अवबोध कराते हैं। उनकी अन्तर्दृष्टि इस जीवन के महासागर में गोते लगाकर वह अमूल्य मार्ग खोज ले आती है जिसका दर्शन होते ही हम मूक हो जाते हैं। और गूँगे की तरह आस्वादन के बावजूद उसको अभिव्यक्त करने में अक्षम रहते हैं—

'मैंने रानी को कठिन आलिंगन-पाश में बाँध लिया। कुछ समय तक ऐसा जान पड़ा कि मेरी सम्पूर्ण सत्ता रानी में विलीन हो गई। एक अद्भुत सत्ता जिसका नाम नहीं है, कदाचित् शून्यरूपा है, *भावाभाव विनिर्मुक्ता अवस्था है।' जीवन से लिये गये* इस प्रसंग को जिस सूक्ष्मता, दूरदर्शिता एवं तल्लीनता के साथ उन्होंने अभिव्यक्त किया है, वह क्या कम सराहनीय है। मक्खियों जैसे मिठाइयों पर भिनकने वाले सामान्य

व्यक्ति इसे क्या समझेंगे ? उन्हें तो चाहिये गुड़ और गोबर के मिश्रण पर ऊपर से मति भ्रम उत्पन्न करने वाली पन्नी।

अब रही उनके पाण्डित्य और उसको उपन्यास का उपजीव्य बनाने की बात। सामान्य रूप से विचार करने पर तो यह उपन्यास के लिये एक अनुपयुक्त विषय ठहरता है। पर बात ऐसी नहीं है। हम उपन्यास-लेखन को भी एक दार्शनिक प्रक्रिया का रूप दे सकते हैं। प्रायः विश्व के सभी महान उपन्यासों में यह प्रक्रिया प्रमुख रूप से उपस्थित है। वे अपने अत्यधिक कल्पना एवं प्रेरणा-प्रवण क्षणों में ही जीवन को व्याख्या प्रस्तुत कर सके हैं। जहाँ भी उपन्यास में जीवन के स्पन्दन होंगे, विधायक कल्पना का समुचित आह्वान होगा, सर्जनात्मक प्रतिभा के विशिष्ट आलोड़न होंगे और जीवन के गतिशील क्षणों को उनकी अखण्डता में ग्रहण कर के उनको व्याख्या का प्रयत्न होगा, वहीं किसी न किसी रूप में लेखक के दार्शनिक मस्तिष्क में जीवन के अनन्त घात-प्रतिघातों से उद्बुद्ध संवेग एवं जीवन चेतना भी होगी। इनके अभाव में सर्जन शुष्क एवं नीरस होगा। अतएव साहित्यकार द्वारा कलात्मक रूपों में इन्हें बांधने के प्रयत्न को हम हेय नहीं ठहरा सकते। हेय है वह प्रतिभा और बुद्धि जो उपन्यास को कलाकृति मान कर भी 'प्लेटो' की तरह उसके गणराज्य से इसका निष्कासन करना पसन्द करती है। यहाँ औचित्य की बात विचारणीय अवश्य है। इस सन्दर्भ में अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि ऐसे तत्वों का उपन्यास में एक निश्चित सीमा में प्रयोग होना चाहिए।

'वाणभट्ट की आत्मकथा' में जिस प्रकार निउनियों को मृत्यु हो गई है, उसी प्रकार चारु चन्द्रलेख में 'मैना' की आत्महत्या का प्रसंग है। मैं यह कदापि मानने के लिये तैयार नहीं हूँ कि यहाँ पर द्विवेदी जी ने अभारतीय पद्धति को प्रश्रय दिया है। आज देश-काल की सांस्कृतिक सीमा के अन्दर भारतीय एवं अभारतीय 'साहित्य तत्व की व्याख्या एक विडम्बना है। समाज का जो स्वरूप द्विवेदी जी ने प्रस्तुत किया है उसमें उनके क्रान्तिकारी मस्तिष्क की पूरी झाँकी मिलती है। इस प्रकार के उत्पीड़न एवं शोषण में जहाँ मानव घुट-घुट कर अपना दम तोड़ देता है, उसकी अस्मत और इज्जत खुले बाजार बिकती है, उसके असन्तोष पर फब्तियाँ कसी जाती हैं, उसकी इच्छाओं को अमानवीय मान कर उनका तिरस्कार किया जाता है, अपनी कुण्ठा समाप्ति का मार्ग ही क्या है ? अगर समाज आज अपने आदर्श नहीं बदलता तो पुराने और खोखले आदर्शों को भी अपनाने की अनाधिकार चेष्टा इनको रोक नहीं सकती। परन्तु विचारणीय यह है कि क्या एक पुरुष को माननेवाली दो स्त्रियाँ अथवा दो स्त्रियों को मानने वाला एक पुरुष उनका भरण-पोषण नहीं कर सकता। क्या उस समय समाज में चलती हुई बहुपत्नी-प्रथा को मान्यता नहीं दी जा सकती। पर ऐसा प्रश्न करने वाली

के लिए द्विवेदी जी के 'विशेष भाव से अपने को उत्सर्ग' कर देने वाले सिद्धान्त पर भी दृष्टिपात करना चाहिए। मैना ने एक स्थल पर कहा है कि :—

"दीदी के धन को देखा—महाराज सातवाहन ! ऐसा जान पड़ा जैसे सारे जन्म-जन्मान्तर इसी लक्ष्य तक पहुँचने के लिये अनादि काल से आयोजन करते आ रहे थे। सत्य कहती हूँ प्रधान मन में जो भाव था वह लोभ नहीं था, पाऊँ ऐसी लालसा नहीं थी। केवल यही भाव था कि अपने को निःशेष भाव से उड़ेल कर दे दूँ।'

इसी सन्दर्भ में मैना और चन्द्रलेखा की बात पर भी दृष्टिपात कीजिये—

'क्यों री महाराज अस्वस्थ हो गये तो तुमने सचमुच पैर दबाये ?'

'सचमुच दीदी।'

'और आज तू ने उनके पैर धोए हैं।'

'देर तक दीदी।'

रानी ने एक झटके से चिल्ला कर कहा, 'मैना तू चोर है.......।'

'बिलकुल नहीं दीदी........।'

रानी ने व्याकुल भाव से पूछा 'क्या महाराज को यहाँ ले आई है।'

'एकदम।'

'मैना तू चोर है'

'हाँ दीदी'

'तू मेरा धन नहीं ले सकती'

'थोड़ा भी नहीं'

ऊपर के सन्दर्भ में 'मैना' ने निःशेष भाव से उड़ेल कर देने की बात कही है। और नीचे के सन्दर्भ में 'दीदी' के धन को किसी भी अंश में ग्रहण न करने की प्रतिज्ञा करती है। कैसा अन्तर्द्वन्द्व है ? निःशेष भाव तक देने का प्रश्न तो उसके आत्मत्याग एवं शांति-पूर्ण कृत्यों से पूर्ण हो गया है। अब तो प्रश्न रानी के धन को न छूने का है। सातवाहन की अपने प्रति आसक्ति से भी वह परिचित है। अतएव उसके सामने इसके अतिरिक्त और साधन ही क्या बचता है कि वह मार्ग से हट जाय। यहाँ द्विवेदी जी का वह वाक्य 'मैं स्त्री शरीर को देवमन्दिर तुल्य पवित्र मानता हूँ' चरितार्थ होता है।

द्विवेदी जी के उपन्यासों में नाटकीयता एवं प्रबन्धात्मक कौशल प्रचुर रूप में पाया जाता है। शैली पाण्डित्यपूर्ण एवं प्रांजल है। प्रायः भौतिक एवं आध्यात्मिक चिन्तन का सामंजस्य ही उनकी कृति की प्रमुख विशेषता है। इच्छा शक्ति, क्रिया शक्ति एवं ज्ञान शक्ति की जिस त्रयी की ओर मैंने आरम्भ में संकेत किया है वह द्विवेदी जी की इसी मनोवृत्ति का परिचायक है। उपन्यास के अन्त में 'मैना' अर्थात क्रिया-शक्ति का

उन्होंने परित्याग कर दिया है। अच्छा होता वे उसे पुनः अर्जित करके अन्य कोई 'सामाजिक' आत्मकथात्मक उपन्यास' प्रस्तुत करते।

'बाणभट्ट की आत्मकथा' के निर्माण में द्विवेदीजी ने ऐतिहासिक वातावरण को सजीव एवं विश्वसनीय बनाने के लिए तत्कालीन संस्कृत काव्यों का साक्ष्य पाठकों के सम्मुख रखा है पर चारु चन्द्रलेखा में वह इसलिए सम्भव नहीं था कि इसकी कथा-सामग्री जिस काल को आधार मान कर संगृहीत की गई है वह साहित्य और संस्कृति के लिए संकट का काल था। तुर्कों के प्रभाव में भारतीय राजनीति बड़ी तेजी से परिवर्तित होती जा रही थी। इस राजनैतिक अस्थिरता के काल में जिस निराशामय वातावरण की सृष्टि हुई थी और परिणाम स्वरूप समूचे उत्तर भारत में जिस प्रकार नाथों और सिद्धों का विस्तार बढ़ चला था उनके मूल कारणों का स्वाभाविक सप्राण विवेचन करना ही उपन्यासकार को इसमें अभीष्ट रहा है। पर उसने अपनी परम्परागत साहित्य की गतिविधियों की उपेक्षा नहीं की है। संस्कृत के सुभाषित पद्यों की आत्माएँ अपनी स्वाभाविक छटा के साथ उपन्यास में वर्तमान मिलती हैं। एक श्लोक तो द्विवेदीजी को इतना प्रिय है कि उन्होंने उसे नाटी माँ से इस उपन्यास में अनेक बार गवाया है, जिसे देख कर हिन्दी के सरस कवि 'मंडन' आँखों के सामने खड़े हो जाते हैं।

> गताहं कालिन्दी गृहसलिल माने तु मनसा
> घनोद्घूर्णैर्मेघैर्गगनममितो मेदुरमभूत।
> मृर्शं धारासारैरपतमसहाया क्षितितले
> जयत्वङ्क्के गृह्णान् पटुनटकला कोपि चपलः॥

(चा० चं० लेख से उद्धृत)

> अलि हौं तो गई जमुना जल को सो कहा कहौं वीर! विपति परी।
> घहराय के कारी घटा उनई, इतनेई में गागरि सीस धरी॥
> रपट्यो पग, घाट चढ्यो न गयो, कवि मंडन ह्वै कै विहाल गिरी।
> चिरजीवहु नन्द को बारो अरी, गहि बाँह गरीबने ठाढ़ी करी॥

'बाणभट्ट की आत्मकथा' में जिस प्रकार भगवान्—मंडन वाराह की मूर्ति का प्रयोग प्रतीकात्मक ढंग से किया गया है, उसी प्रकार उपर्युक्त संस्कृत-श्लोक का प्रयोग इस उपन्यास में हुआ है।

बेकसी का मजार

प्रतापनारायण श्रीवास्तव का ऐतिहासिक उपन्यास 'बेकसी का मजार' १८५७ के प्रथम स्वतंत्रता आन्दोलन एवं जन-क्रान्ति का एक अत्यन्त सत्य एवं सजीव चित्र है जिसके द्वारा लेखक ने बड़ी ही सफलतापूर्वक तत्कालीन प्रायः सभी, घटनाओं, घटनास्थलों एवं

परिस्थितियों की सम्पूर्ण झाँकी किसी न किसी प्रकार पाठको तक पहुँचा दी है। जैसा लेखक ने स्वयं कहा है कि घटनाओं में तारतम्य एवं एक शृंखलाबद्धता स्थापित करने के लिए उसे एँडी-चोटी का पसीना एक कर देना पड़ा है। वास्तव में स्थिति कुछ ऐसी ही है क्योंकि कथा-शिल्प और ऐतिहासिक वास्तविक घटनाओं का कलात्मक ढंग से औपन्यासिक प्रवाह में एक साथ चलना साधारण परिश्रम एवं कौशल का कार्य नहीं है। लेखक को इस कार्य में बहुत कुछ सफलता मिली है इसमें संदेह नहीं है। उसने स्वयं स्वीकार किया है कि उसे कितनी बार सैकड़ो पृष्ठ लिखकर काटना पड़ा है, घटनाओं के सजाने मे कितनी बार उन्हे उलटना-पलटना पड़ा है। बात बिल्कुल ठीक भी है, क्योंकि ऐतिहासिक उपन्यासो में जब लेखक घटना अंश की सत्यता की ओर अधिक झुकता है तो उपन्यास के कथा प्रवाह मे अवश्य कुछ न कुछ व्यतिक्रम एवं बाधा उपस्थित हो जाती है। कथा मे गतिहीनता एवं शुष्कता आने लगती है। उदाहरण के लिए हम श्री वृन्दावनलाल वर्मा कृत 'झाँसी की रानी' को उपस्थित कर सकते हैं। ऐतिहासिक सत्यांशो की प्रबलता के कारण कथा-प्रवाह मे तरलता की कमी हमे उक्त उपन्यास मे पग-पग पर खटकती है। 'बेकसी का मज़ार' एक ऐसा उपन्यास है जिसमे ऐसा ज्ञात होता है लेखक ने इस बात पर पहले से ही ध्यान रखा है और प्रायः पाई जाने वाली इस त्रुटि को यथाशक्ति दूर करने का प्रयत्न किया है।

उपन्यास की ऐतिहासिकता का विवेचन करते समय भी उपन्यासकार का यही गुण हमारे विश्लेषण का विषय बनता है। ऐतिहासिकता का निर्वाह करते हुए लेखक को कथा-निर्माण एवं कथा-प्रवाह में किस प्रकार सफलता मिली है, इसे देखने के लिए तनिक सूक्ष्म दृष्टि अपेक्षित है। पाँच साल के अनवरत परिश्रम के द्वारा उपन्यास की ऐतिहासिकता का पता लेखक ने ठीक-ठीक नहीं लगाया है, ऐसा कहना न्यायसंगत नहीं होगा। कल्पना कलेवर मे सजी हुई घटनाएँ एवं पात्रादि प्रायः ऐतिहासिक हैं। कुशलता लेखक की यही है कि उसने कुछ विशेष घटनाओं एवं कुछ विशेष चरित्रों पर विशेष बल देकर कथा को उपन्यास की धारा के अनुकूल मोड़कर प्रवाहपूर्ण बना लिया है।

१८५७ की क्रान्ति प्रायः सम्पूर्ण देश की क्रान्ति थी, पर लेखक ने प्रधान रूप से दिल्ली के इर्द-गिर्द ही घेरा डाला है। अंतिम मुगल बादशाह बहादुरशाह जफर, उसकी नवयुवती पत्नी ज़ीनतमहल, उसकी दो परिचारिकाएँ गुलनार एवं गुलशन, क्रांति के सूत्रधार शाह हसन अस्करी आदि पात्र जो उपन्यास की मुख्य भूमिका में आते हैं प्रायः सभी दिल्ली से ही संबंधित हैं। 'झाँसी की रानी' में जिस प्रकार 'तात्याटोपे' उपन्यास के मुख्य सूत्र-संचालक के रूप में दिखाई देता है, ठीक वही स्थिति 'बेकसी के मज़ार' में शाह साहब की है। देश के कोने-कोने में बिखरी उपन्यास की सामग्री को एक सूत्र में पिरोने का कार्य 'शाह साहब' के माध्यम से होता है, जो एकमात्र प्रधान

क्रान्तिनायक के रूप में चित्रित किये गये हैं। देश के विभिन्न भागों में क्रान्ति का बिगुल बजाने का कार्य इन्हीं की प्रेरणा से होता है। 'वृन्दावनलाल वर्मा' के 'झाँसी की रानी' की भाँति इसमें भी महत्वपूर्ण घटनाओं का संचालन स्त्रियाँ ही करती हैं। एक प्रकार से इस उपन्यास की सारी कथा 'शाहंशाह बहादुरशाह' को घेर कर चलती है। अंग्रेजों की कूटनीति के कारण अन्तिम मुगल सम्राट् के सम्बन्ध में देशवासियों के मन में किस प्रकार के भ्रम फैले हुए थे और उसका वे अपने हित में किस प्रकार उपयोग करते थे आदि का सजीव चित्र उपस्थित करने का लेखक ने प्रयत्न किया है और इन भ्रांति उत्पन्न करने वाले ऐतिहासिकताओं को कल्पना से पखार कर स्पष्ट करने में वह सफल हुआ है इसमें सन्देह नहीं।

उपन्यासकार का दावा है कि सन् १८५७ की क्रान्ति के साथ-साथ ही भारत में 'सामाजिक तथा धार्मिक क्रान्तियाँ' भी आरम्भ होती हैं और वस्तुतः यहाँ से भारत के मध्ययुग का अवसान होकर नये युग का आरम्भ होता है। उसने विगत सौ वर्षों में होने वाले परिवर्तनों का सूत्र सन् १८५७ ई० से ढूँढ़ निकालने का प्रयत्न किया है। उपन्यासकार ने उपन्यास की भूमिका में ही उन प्रमुख तथ्यों की ओर संकेत कर दिया है जिनको प्रस्तुत करने के लिए उसने इस उपन्यास की सृष्टि की है।

सन् १८५७ ई० भारतीय इतिहास का वह महत्वपूर्ण वर्ष है जिसमें पहली बार आधुनिक प्रजातन्त्रीय भावना का जन्म हुआ। मुगल साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया था। अन्तिम मुगल सम्राट 'बहादुर शाह' सम्राट न होकर कम्पनी सरकार का केवल पेन्शेनियर ही रह गया था जैसा कि ऐतिहासिक तथ्यों से भी पता चलता है और लेखक ने अंग्रेज कप्तान 'हाडसन' से भी उक्त बात की पुष्टि कराई है। 'गुलशन' जो 'दिल्ली के रईस नवाबजादा युसुफ अबू मोहम्मद आलीशाह की लड़की और मलका मोअज्जमा नवाब जीनत महल की खादिमा और मुँहबोली सहेली' थी और जो हिन्दोस्तानी सेना में क्रान्ति भावना का प्रसार करने के लिए नाचनेवाली के रूप में मेरठ आई थी, के यह कहने पर कि 'हुजूर', मैं बादशाहों की दिल्ली में रहती हूँ।' हाडसन साक्रोश कहता है—'कौन बादशाह? बहादुरशाह! वह तो हमारा पेन्शनिया गुलाम है, उससे भी गया बीता! दिल्ली कम्पनी बहादुर की है, बहादुरशाह तो जानवर की तरह अपने लाल किले के बाड़े में बन्द रहता है। उसको दिल्ली मत बोलो, कम्पनी बहादुर की दिल्ली बोलो।' क्रान्तिकारियों ने एक स्वर से 'मुगल सम्राट्' को अपना सम्राट् स्वीकार किया, किन्तु यह सन् १८५७ ई० का शाहंशाह बहादुरशाह मुगल-साम्राज्य की गद्दी का उत्तराधिकारी नहीं, बल्कि जनता द्वारा स्वीकार किया हुआ इसका शासक था। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस समय बादशाहत के पैत्रिक अधिकार का स्थान जनमत ने लिया जो प्रजातंत्र का मुख्य लक्ष्य है। देश की आजादी के लिए अपने प्राणों की बलि देनेवाले देशभक्त हथेली पर प्राण लेकर निकल पड़े—और जो भारत छोटे-छोटे

राज्यों मे विभक्त हो गया था, उसकी एकता की नींव भी इसी समय पडी जिस पर हो आगे चल कर हम देखते हैं कि सन् १९४७ में भारत की रूपरेखा निश्चित हुई।

कुछ इतिहासकारों ने १८५७ की इस क्रान्ति को सिपाही-विद्रोह का नाम दिया है, इसका उत्तर भी देने का प्रयत्न उपन्यासकार ने किया है। सिपाहियो मे असन्तोष का कारण जो उनको धार्मिक स्वतन्त्रता का छिनना और चरबीयुक्त नये कारतूसो का आना बताया गया है उसके सम्बन्ध में उपन्यासकार का मत है कि यह प्रचार फौज के कुछ इने-गिने सिपाहियो द्वारा ही किया गया था, जिसमे उनकी अपूर्व नीति छिपी थी। इस प्रकार वे धार्मिक भावनाओ को कुरेद कर फोजी जवानों को कम्पनी सरकार के विरुद्ध खडा करना चाहते थे। अंग्रेजो ने फौजी जवानों को 'शाहंशाह' बहादुरशाह के प्रतिकूल भडका रखा था—"कि वे सारी पेन्शन अपने ही ऐश के कामो मे खर्च करते हैं, बुढापे में भी शादी की है, वे पक्के फरेबी, झूठे और जाहिल हैं और हिन्दुओ के घोर शत्रु हैं जो रियाया को हमेशा लूटा करते हैं और रैयत की स्त्रियो को दिन दहाडे लूट ले जाते हैं, नाहक खून-खराबी करते रहते हैं।" इस प्रकार फौज के ऐसे सरदार, जिन लोगो ने स्वतंत्रता के महत्व को समझ लिया था तथा कम्पनी सरकार के अत्याचारों से जो परिचित हो चुके थे और जिन्हे इसका ज्ञान हो गया था कि अब सम्पूर्ण भारत में क्रान्ति की लहर उत्पन्न होने वाली है, जिसमे योग देना हमारा पूर्ण कर्त्तव्य है, उन लोगो ने साधारण सिपाहियों को भडकाने के लिए ऐसा प्रचार किया था जिससे विद्रोही-भावना व्यापक रूप धारण कर ले। हम देखते हैं, सम्पूर्ण देश ने यद्यपि आन्दोलन मे सक्रिय भाग नही लिया, फिर भी उसकी सहानुभूति अवश्य थी। भारत का कोई भी ऐसा शक्तिशाली व्यक्ति नहीं था जो शक्ति रखते हुए भी निष्क्रिय रहा हो। क्रान्ति के प्रतीक 'रोटी' और 'लाल कमल' का सर्वत्र पहुँच जाना सम्पूर्ण जनता का सहयोग न था तो और क्या था? अतः इसे सिपाही-विद्रोह कहना कोरी भ्रान्ति है।

एक प्रश्न उठता है कि राजाओ और नवाबों का इस क्रान्ति में मुख्य रूप से भाग लेना क्या उनकी असन्तुष्टि का कारण नही था? उपन्यासकार ने इस सूत्र को भी पकडा है। किसी भी प्रकार के परिवर्तन की इच्छा मे असंतोष का होना अनिवार्य है। यदि हम अपनी वर्तमान परिस्थिति से असन्तुष्ट नही हैं तो हम कभी भी यह नही चाहेंगे कि उसमें परिवर्तन आ जाय। भारत के राजे और नवाब असन्तुष्ट थे, इसमे सन्देह नही। उनके राज्य, उनके ऐश व आराम एक विदेशी ने छीन लिये थे। उनके मन में इसकी इच्छा थी कि वे वैभव को प्राप्त करें। सबकी लडाई एक व्यक्ति से थी जो स्वदेशी नहीं बल्कि विदेशी था। जिस बात को लेकर राजाओ और महाराजाओ में असन्तोष फैला था, उसका मुख्य कारण एक था, और वह था स्वभूमि को विदेशियों से छीनना। इससे इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि सब स्वतन्त्रता के लिए लडना चाहते

थे, चाहे वह देश की स्वतन्त्रता रही हो या अपनी। जहाँ तक व्यक्तिगत स्वतंत्रता का प्रश्न है, क्रान्ति के प्रारम्भ में भले ही इससे प्रेरणा मिली हो किन्तु क्रान्ति के देशव्यापी हो जाने पर सबके मन में यही भावना दृढ हो गयी थी कि हमको विदेशियो से अपने देश को स्वतंत्र करना है। यदि उस समय देश स्वतंत्र हो गया होता और स्वतंत्र होने के पश्चात् यदि यह प्रश्न उठ खडा हुआ होता कि राज्य-सत्ता किसके हाथो मे सौंपी जाय और उसके लिए गृहयुद्ध छिड़ता तो हम अवश्य ही अधिकारी थे यह कहने के लिए कि यह युद्ध जनता द्वारा देश की आजादी के लिए नही लडा गया था, बल्कि इसे राजाओ और नवाबो ने अपने स्वार्थ के लिए लडा था।

दुर्भाग्य से अपूर्व बलिदान के उपरान्त भी उस समय भारत को स्वतंत्रता नही प्राप्त हो सकी। ऐसी स्थिति मे हम किसी भी प्रकार यह नहीं कह सकते कि १८५७ की क्राति राजाओ और नवाबो के वैयक्तिक स्वार्थ की क्राति थी। सम्पूर्ण देश की जनता ने अपना बलिदान किया था। प्रमाण के लिए हम ले सकते हैं कि जब स्वतन्त्रता की लड़ाई अन्तिम साँस ले रही थी और अग्रेज पूर्णत क्राति को दबाने में सफल हो चुके थे, तो भी लखनऊ की जनता ने, जिन्हें इतिहासकारो ने विलासी कहा है, एक-एक इच भूमि के लिए युद्ध किया और नगर का एक एक घर मौलवी अहमदशाह के नेतृत्व में एक-एक किला बन गया था। क्या इतने पर भी हम कहते हैं कि यह स्वतन्त्रता युद्ध नहीं था? गुलामी के दिनो का जो इतिहास हमारे सामने है वह हमारे देश का सच्चा इतिहास नहीं है। अंग्रेजों ने इतिहास को अत्यन्त विकृत रूप मे हमारे सामने रखा है जिससे हम उससे किसी भी प्रकार की प्रेरणा न प्राप्त कर सकें और अपनी वास्तविक समस्याओ से दूर ही हटते रहे। इतिहासज्ञो द्वारा नवाब वाजिदअली शाह के सम्बन्ध में फैलाई गई ऐसी ही धारणा है जो अब शोधलेखो द्वारा असत्य सिद्ध हो चुकी है। वाजिदअलीशाह को विलासी तथा अकर्मण्य बनाना अंग्रेजो का ही कार्य था। यदि उसके स्वभाव का स्वतन्त्र विकास हो पाया होता तथा उसके पुरुषार्थ पर प्रतिबन्ध लगाकर उसे विलासी न बना दिया गया होता तो कौन जाने भारत की क्राति का नक्शा कैसा होता। उसकी लोकप्रियता का प्रमाण हमें उसके प्रसिद्ध शेर :—

दरोदीवार पर हसरत की नजर करते हैं।
खुश रहो अहले-वतन हम तो सफर करते हैं।

और बुढ़िया के सडे आम की उस भेंट से लग जाता है, जो उसने नवाब वाजिद-अलीशाह को उस समय दिया था, जब वह 'मटियाबुर्ज' में नजरबन्द था।

जीनतमहल का सदा यह सोचना कि उसका लड़का बादशाही गद्दी पर बैठेगा, हल्का-सा सकेत है कि वह मुगल-साम्राज्य को पुन प्राप्त करना चाहती थी किन्तु उसका इस पर तैयार हो जाना कि दक्षिण की पेशवाई 'नानासाहब' को दे दी जायगी, स्पष्ट प्रमाण है कि उसके मन में साम्राज्यवाद की वह भावना नही थी जो अन्य मुगल

सम्प्राटों में थी । वे 'महारानी झाँसी' की वीरता का वर्णन करते नहीं अघाती, उनके मन में कभी भी यह सन्देह नहीं उत्पन्न हुआ कि कहीं ये बलवाई सशक्त होकर स्वतंत्र होने पर राजसत्ता स्वयं हथिया न लें। सम्पूर्ण देश की क्रांति का प्रतीक 'शाहंशाह बहादुर शाह' माना गया था जो हिन्दू-मुस्लिम एकता के साथ-ही-साथ क्रांति-युद्ध की एकनिष्ठता का भी प्रमाण है । सबने उसे एक स्वर से अपना अगुआ चुना था—चाहे वे महारानी-झाँसी रही हों अथवा कानपुर के नाना । हिन्दू और मुसलमान दोनों ने समान रूप से युद्ध में भाग लिया था । उपन्यासकार ने अंग्रेजों की दमन-नीति तथा क्रांतिकारियों के अपूर्व साहस का सजीव चित्र उपस्थित किया है। इतिहास की इस महती घटना को जो असंख्य व्यक्तियों द्वारा अनेक स्थलों पर घटी, एक स्थान पर सम्रहीत करने के कारण उपन्यासकार पूर्णतः उभाड़ कर नहीं रख पाया है, किन्तु जितना भी वह कर सका है, वह उसके अपूर्व कौशल का उदाहरण है । उसने शुष्क ऐतिहासिक तथ्यों के बीच कथा की सरसता की जो निर्झरणी प्रवाहित की है, वह उसकी औपन्यासिकता का प्रमाण है ।

उपन्यासकार ने क्रांति की पूर्वपीठिका तैयार करने में उपन्यास के जितने स्थल खपाये हैं, उतने घटनाओं के सजीव चित्रण में नहीं । यह ऐसी क्रांति थी जो एक स्थान पर नहीं; बल्कि भारत की सम्पूर्ण भूमि पर छिटक कर हो रही थी। उपन्यासकार ने युद्ध का अधिक ऊहापोह दिल्ली और लखनऊ में ही दिखलाया है। मेरे कहने का यह तात्पर्य नहीं कि दिल्ली में युद्ध हुआ ही नहीं था । दिल्ली में युद्ध हुआ था और महत्वपूर्ण युद्ध हुआ था जिसने भारत के भाग्य को ही पलट दिया, किन्तु उससे कम युद्ध भारत के अन्य भागों में नहीं हुए थे, जिनका जिक्र उपन्यासकार नहीं कर पाता । यदि एक ओर कानपुर के नाना साहब अपने उस युग के अन्यतम सेनानी तात्याटोपे के माध्यम से अंग्रेजों के दाँत खट्टे कर रहे थे तो दूसरी ओर बाबू कुँअर सिंह के गुरिल्ला युद्ध से अंग्रेजों के छक्के छूट रहे थे और महारानी लक्ष्मीबाई जैसे अंग्रेजों का सर्वनाश करनेवाले दो-एक भी उस समय उत्पन्न हो गये होते तो उसी समय भारतवर्ष का मानचित्र भी बदल जाता, किन्तु उपन्यासकार ने इन महत्वपूर्ण घटनाओं को अत्यन्त गौण कर दिया है, जब कि उपन्यास की उस वृहत् काया में वे आसानी के साथ लाये जा सकते थे । उपन्यास में जिस कथा एवं घटना को अत्यधिक महत्व दिया गया है, उसके लिए उपन्यास के आकार को इतना बढ़ाने की आवश्यकता नहीं थी । यदि कौशलपूर्वक लिखा जाता तो एक चौथाई पृष्ठों में ही सम्पूर्ण उपन्यास समाप्त किया जा सकता था और उपन्यासकार का मन्तव्य भी प्रकट हो जाता । उपन्यास का सारा कथानक दो राजधानियों में मुख्यतः घूमता रहा है जिसका सम्बन्ध अन्य भागों से केवल शाह हसन अस्करी द्वारा मिल पाता है । इसमें सन्देह नहीं कि लेखक अन्य

क्रान्तिकारी नेताओं के शौर्य के प्रति सतर्क है। सारे ऐतिहासिक सूत्रों को उसने जोड़ना चाहा है।

क्रान्ति की भूमिका बहुत पहले ही से तैयार हो रही थी। कम्पनी सरकार के अत्याचार, उसके धार्मिक प्रचार तथा उसकी साम्राज्यवादी नीति ही जिसकी उत्तरदायिनी थी। जिन लोगों के मन में यह भावना पहले से जग गई थी कि अब देश को स्वतन्त्र कराना है, वे थे देशी राजा और नवाब। उन्हें अपनी परिस्थिति और कम्पनी सरकार की शक्ति का पूर्ण ज्ञान था और वे यह भी जानते थे कि भारतीय जनता की शक्ति कितने भागों में विभक्त है। अपने इन दुर्बल अंगों को पुष्ट करने के लिए वे क्रान्ति प्रारम्भ होने के पूर्व ही जागरूक हो गये थे। लोगों ने यह सोचा कि सर्वप्रथम देश की वास्तविक परिस्थिति से, न्याय का दम भरनेवाली अंग्रेज जाति को परिचित कराना चाहिए और इसी बहाने यूरोप के अन्य देशों से सम्पर्क स्थापित करके अन्य राष्ट्रों की सहानुभूति भी प्राप्त करनी चाहिए। जब तक फौजी सिपाहियों के मन में भी स्वतन्त्रता के महत्व का भाव नहीं पैदा किया जाता, तब तक इतनी अपार शक्तिशाली सरकार के साथ युद्ध करके पार पाना कठिन है। लोगों ने इङ्गलैंड में डाइरेक्टरों के यहाँ अपने प्रतिनिधि भेजे। सतारा से भेजे हुए रंगो बापू और कानपुर से भेजे हुए अजीमुल्ला खाँ ऐसे ही प्रतिनिधि थे जो ऐतिहासिक सत्य है जिसका संकेत उपन्यासकार ने किया है। नाना साहब ने जो प्रार्थना-पत्र कम्पनी के डाइरेक्टरों की सेवा में इङ्गलैण्ड भेजा था, उसके वाहक अजीमुल्ला थे, और वहाँ उस देश में पहुँच कर उन्होंने जो धाक जमाई और विश्वास प्राप्त किया वह सदैव ज्वलंत रूप से स्थायी रहेगा।" उन्हीं दिनों अर्थात् १८५३ में सतारा राज्य के उत्तराधिकारियों की पैरवी करने के लिए एक महान कूटनीतिज्ञ महापुरुष भी इङ्गलैंड गये हुए थे। उनका नाम था रंगो बापू जी। ये घटनाएँ ऐतिहासिक हैं, कल्पित नहीं। फौजों में लोगों ने प्रयत्न करके ऐसे व्यक्तियों को भेजना प्रारम्भ कर दिया था जो जाकर अन्य सिपाहियों को देश की आजादी के हेतु लड़ने के लिए उकसायें तथा अन्य राजनैतिक दाँव-पेंच अपना कर उन्हें अंग्रेजों के विरुद्ध भड़काने का प्रयत्न करें, जिसमें 'शाह हुसन अस्करी तथा उनकी शिष्या गुलशन का प्रमुख हाथ था। नाना साहब से बाबू कुँवर सिंह का तथा उनका तीर्थ-यात्रा के नाम पर भारत-भ्रमण करना और झाँसी की रानी का इस षड्यंत्र में मिलना आदि इतिहास की तथ्यपूर्ण घटनाएँ हैं।

कुछ पात्रों को छोड़ कर उपन्यास के प्रायः सभी पात्र ऐतिहासिक हैं जिनका प्रमाण मिलता है। 'शाह साहब' जो उपन्यास की कथा के प्रमुख सूत्रधार हैं, ऐतिहासिक पात्र हैं। उपन्यासकार उनके अन्दर कुछ दैवी शक्तियों का आरोप करता जान पड़ता है। जहाँ तक उनके प्रभावोत्पादक व्यक्तित्व, उनके कला-कौशल, युद्ध संचालन,

षड्यंत्रो के रचने की क्षमता तथा सगठन-शक्ति का प्रश्न है, सन्देह नही किया जा सकता। किन्तु जब लेखक उनके अन्दर ऐसे गुणो की प्रतिष्ठा करता जान पड़ता है जो दैवी है, तो सोचना पड जाता है। बेगम जीनत महल का गुलशन और गुलनार से यह कहना कि कुछ बातें अपने पीर से भी छिपाई जाती हैं और यह निश्चय करना कि खजाने का राज शाह साहब से न बताया जाय और फिर भी उसको न छिपा सकना शाह साहब की दैवी शक्तियों का परिचायक है। उन्हे जैसे प्रत्येक बात का इलहाम होता है। वे बिना बताये ही दूसरो के मन की बातें जान लेते हैं, ऐसा उपन्यासकार ने दिखलाया है। वे अग्रेजो के कट्टर शत्रु थे जिसका भी कारण है। उनकी अग्रेज प्रियतमा उनसे छीन ली गयी थी जिसे उन्होने जगली शेर के पजे से जान की बाजी लगाकर बचाया था। प्रारम्भ मे उनका द्रोह अग्रेज जाति के प्रति था जो आगे चलकर राष्ट्रीय भावना में परिवर्तित हो गया। उनके अन्दर शौर्य, साहस, चातुर्य, सगठन-शक्ति तथा देश-भक्ति का अपूर्व समन्वय हुआ है। आदि से अन्त तक वे देश-भक्त, क्रान्ति के नेता के रूप में हमारे सामने आते हैं जो आने वाली सम्पूर्ण परिस्थितियो का समाधान अत्यन्त सयत भाव से ढूँढ निकालते हैं।

गुलशन शाह साहब की प्रमुख शिष्या है जो आगे चलकर गुलमुहम्मद हो जाता है, यह उपन्यासकार की कल्पना की उपज है। इसी के माध्यम से लेखक ने तात्कालिक राजनैतिक सघर्षों के बीच प्रेम की रस स्निग्ध धारा बहाई है। सन् १८५७ ई० की क्रान्ति में स्त्रियो ने भी पुरुषो का पूर्णत साथ दिया था और मैदान में आकर उन लोगों ने केवल प्रेरणा ही नही दी बल्कि तलवारें भी चलाई हैं। देश के भीतर जासूसो का जो जाल क्रान्तिकारियो ने फैला रखा था, उसकी सफलता में स्त्रियो का विशेष हाथ था। हम देखते हैं कि बेकसी के मजार में शाह साहब की कल्पनाओ को स्वरूप प्रदान करने का कार्य गुलशन ही करती है। सारे जासूसो के सूत्र का सचालन, फौजी जवानो में विद्रोह की भावनाओ को फैला देन तथा विद्रोह की सारी गतिविधिया के सचालन का कार्य गुलशन ही करती है। इससे हम अनुमान लगा सकते हैं कि स्त्रियो ने इस कार्य को आगे बढ़ाने मे कितना योग प्रदान किया है। जब हम मेरठ की एक दूकान पर उस नगर की एक 'वेश्या' को सिपाहियो को धिक्कारते हुए सुनते हैं तो निश्चय हो जाता है कि उस समय देश का कोई भी ऐसा व्यक्ति नही था जिसके कि मन में अग्रेजो के प्रति विद्रोही भाव न जगे हो। उपन्यासकार प्रारम्भ से ही गुलशन के अन्दर ऐसे गुणो की प्रतिष्ठा करता जान पडता है जिससे वह सामान्य बालिका नही जान पडती। उसके भीतर अनेक अद्भुत गुणो का समन्वय-सा जान पडता है। यदि बेगम जीनत महल के सामने वह एक भोली शिष्ट बालिका है तो गुलनार के साथ एक चंचल सहेली। शाह हसन असकरी के सामने यदि वह आज्ञाकारी मुँहलगी शिष्या है तो फौजी जवानो के बीच नवयुवको को विचलित कर देने वाली दृढ एव कुटिल एकनिष्ठ राजनीतिज्ञा।

उसके भीतर मातावदल की प्रेमिका बनने से लेकर "ना के प्रेमी बनने के सभी गुण विद्यमान हैं। वह यदि घुँघुरो के सम पर नाच कर नवयुवकों को बेदिल बना सकती है तो उसमे हाडसन ऐसे योद्धा की छाती में तलवार घुसा देने की भी शक्ति है। यदि उसमें अंग्रेजो को रूप के फरेब मे फँसाने की झूठी कला है तो शाहंशाह बहादुर शाह के बेटो का शीश काटने वाले का रक्तपान करके 'भीम' सी प्रतिज्ञा पूरी करने की शक्ति भी है। राजनीति के हाथो खेलते रहने पर भी उसमें एक प्रकार की ऐसी मानवता है जिसका वह आद्यन्त निर्वाह करती है। आरम्भ में ही इसका संकेत कर दिया गया है कि उसमें लेखक ने कुछ असाधारण गुणों का आरोप किया है जिससे कहीं-कही अस्वाभाविकता आ गयी है। मातावदल सिंह और उसका प्रणय-व्यापार खिलवाड़ तो है ही, अस्वाभाविक भी है। एक प्रकार से मातावदल प्रारम्भ से ही सच्चे प्रेमी के रूप मे दिखायी पडता है और वह अपनी प्रेमिका 'गुलशन' के कारण ही विद्रोह के षड्यन्त्र मे ऐसे समय सम्मिलित होता है जब कि उसके महत्व का उसे रचमात्र भी ज्ञान नही था, किन्तु गुलशन को जब हम शाह साहब से यह कहते पाते हैं कि 'यहाँ पर आकर उन्होंने अपनी मुहब्बत का इजहार किया और मैंने उससे पूरा फायदा उठाया वह अब जी-जान से हमारी इमदाद करेगा। मैंने इसको कह दिया है कि काम पूरा हो जाने के बाद मैं निकाह कर लूँगी।" और कहते-कहते उसका खिलखिला कर हँस पडना तो स्पष्ट कर देता है कि मन में छल और प्रपंच विद्यमान था। जिस मातावदल की अंगुलियों को दबा-दबा कर उसने प्रेम का इजहार किया था, उसके ही प्रति उसके ये शब्द उसे नारी धर्म से नीचे गिराते हैं। उसके चरित्र मे अस्वाभाविकता लाने का भी कारण जान पडता है। उपन्यासकार ने व्यक्ति के व्यक्तित्व को मिटाकर उसे विद्रोही भावों मे समाहित कर दिया है। व्यक्ति प्रधान न होकर जब लक्ष्य प्रधान हो जाता है तो व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास का अवसर ही नही रह जाता। ऐसी स्थिति में गुलशन का वह आचरण अधिक असंगत नही जान पडता। किन्तु उसमे प्रेमी के जन्मजात गुण मौजूद हैं जो नारी रूप में न विकसित होकर पुरुष रूप में विकसित हुए। वह मातावदल सिंह की प्रियतमा तो नहीं हो पाई, किन्तु मैनावती का प्रेमी अवश्य बन गया और मैना के मारे जाने का समाचार पाते ही उसके उसन्न उन्माद का स्वरूप अद्भुत बन पडा है।

स्त्री का पुरुष मे परिवर्तन होता रहा होगा, इसके सम्बन्ध मे मुझे कुछ नही कहना है, पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि आज के 'लिंग परिवर्तन' का जो क्रम चल रहा है उससे उपन्यासकार ने लाभ उठा कर गुलशन से गुलमुहम्मद का निर्माण किया है। द्रष्टव्य वस्तु तो यह है कि मातावदल का प्रेम यथावत् बना रहता है और उसके प्रेम का स्वरूप गुलशन के रूप के साथ बदलता रहता है। जहाँ एक ओर उपन्यासकार ने मातावदल सिंह के प्रेम को लेकर उसके अमरत्व और आध्यात्मिक पक्ष पर अधिक बल

दिया है, वहीं वह गुलमुहम्मद को लोकभूमि पर उतार लाता है जो पहले नारी रूप में अलौकिक भूमि पर थी। उसने गुलशन के 'सेक्स परिवर्तन' के कारण की ओर संकेत किया है और उसकी यथार्थता का प्रतिपादन भी करना चाहा है किन्तु बात अधिक जमती नहीं। इस परिवर्तन के अभाव में भी उपन्यास अच्छी प्रकार समाप्त हो सकता था।

अजीमुल्ला खाँ ऐतिहासिक पात्र है। उसका जो चित्रण हुआ है वह भी यथार्थ है, किन्तु गुलनार को जो कसरत करनी पड़ी है अजीमुल्ला खाँ की बीबी बनने के लिए, वह स्वाभाविक नहीं। लगता है उपन्यासकार ने यह सारा उपक्रम इसलिए किया है कि वह इस रूप से लाभ उठा कर बहादुर शाह को जलयान से बचाने के प्रयत्न की यथार्थता प्रकट करना चाहता है, किन्तु उसे विशेष सफलता मिलती नहीं जान पड़ती। अजीमुल्ला खाँ और गुलनार ने जिन कौशलों का उपयोग जहाज में किया है वह अस्वाभाविक जान पड़ता है। शहंशाह बहादुर शाह ऐसे राजबन्दी को ले जाने वाले जहाज मे दो अपरिचितों का प्रवेश पा जाना और सभी अधिकारियों का विश्वास कर लेना कि वे फ्रेंच दम्पति हैं, विश्वसनीय नहीं जान पड़ता। इसके साथ ही जैसा कि लेखक ने दिखलाया है, जहाज के सभी व्यक्ति परस्पर लड़ कर मर गये या शीघ्र मर जाने वाले हैं, तो प्रश्न यह उठता है कि वह जहाज किस प्रकार ले जाया गया। ऐसी अस्वाभाविक घटनाओं के चित्रण से उपन्यासकार को जहाँ तक हो सके बचना चाहिए।

अन्य जितने भी चरित्र आये हैं स्वाभाविक हैं। बहादुर शाह का जो चरित्र उपन्यासकार ने खींचा है वह इतिहाससंगत और उसकी बेगम हज़रत ज़ीनत महल का भी अत्यन्त स्वाभाविक है। इसके अतिरिक्त अन्य विद्रोही सेनानियों का चरित्र उभड़ कर आने ही नहीं पाया है जिससे उनके सम्बन्ध में कुछ कहना ही नहीं है। लेखक को चाहिये था कि जितना समय उसने अप्रासंगिक घटनाओं के चित्रण में दिया और उनका लाभ उपन्यास मे न उठा सका, वह समय अन्य विद्रोही नेताओं के लिए देता जिनके बलिदान के ही कारण क्रान्ति मर कर भी चिरजीवी रही तो अच्छा होता। मुगल बादशाहों के गुप्त खजाने के प्रसंग को लेकर उसने व्यर्थ के पन्ने रंगे हैं जिनका कोई उपयोग उपन्यास मे नहीं हुआ है। यदि वह खजाना लेखक ने क्रान्ति की सफलता के लिए खोल भी दिया होता तो हम कहते कि उसका प्रयत्न सफल हुआ। इन कतिपय घटनाओं को छोड़ कर यह उपन्यास ऐतिहासिक उपन्यासों की श्रेणी मे अपना प्रमुख स्थान रखता है। इसमे सन्देह नहीं कि यह अपने ढंग की अनोखी कृति है जिससे ऐतिहासिक उपन्यासों के मंगल भविष्य की सूचना मिलती है।

उपन्यास का आरम्भ जितना ही आकर्षक है उतना ही कारुणिक उसका अन्त भी। शहंशाह बहादुर शाह के अन्तिम उद्गार उपन्यास के नामकरण की सार्थकता प्रमाणित करते हैं।

सम्राट के आदेशानुसार शाहजादी गा रही थी—

न किसी की आँख का नूर हूँ, न किसी के दिल का करार हूँ।
जो किसी के काम न आ सके, वह एक मुश्ते गुबार हूँ॥
न तो मैं किसी का रक़ीब हूँ, न तो मैं किसी का हबीब हूँ।
जो बिगड़ गया वह नसीब हूँ, जो उजड़ गया वह दयार हूँ॥
मेरा रंग रूप बिगड़ गया, मेरा यार मुझसे बिछुड़ गया।
जो चमन ख़िज़ा से उजड़ गया, मैं उसी की फस्ले बहार हूँ॥
कोई मुझ पे फूल चढ़ाये क्यों, कोई लाके शमा जलाये क्यों।
कोई मुझ पे अश्क बहाये क्यों, मैं बेकसी का मज़ार हूँ॥

आचार्य चाणक्य —(सत्यकेतु विद्यालंकार)

सत्यकेतुजी का ऐतिहासिक उपन्यास 'आचार्य चाणक्य' बहुत कुछ ऐतिहासिक तथ्यों पर आधारित है। इतिहास के पण्डित होने के नाते उपन्यासकार ने अनेक ऐसे तथ्यों को ढूँढ़ निकाला है जिनका मेल सामान्य प्रसिद्धियों से नहीं बैठ पाता। आचार्य चाणक्य तक्षशिला के गण्यमान आचार्य तो हैं ही इसके अतिरिक्त वे उपन्यास में दण्डनीति, अर्थनीति के प्रकाण्ड पंडित, योग्य अन्वीक्षकी तथा सफल वैज्ञानिक के रूप में भी चित्रित किये गये हैं।

आहत चन्द्रगुप्त को एक दिन अपने सम्मुख पाकर तथा उससे उसके विगत जीवन की कहानी सुनकर चाणक्य शिष्य बना लेने की उसकी प्रार्थना को स्वीकार कर लेता है। जिस उग्र रूप में चन्द्रगुप्त ने अपनी भावनाओं का प्रदर्शन किया था उससे उसके अदम्य उत्साह, साहस और तेज की झलक मिलती थी जिससे चाणक्य ने उसे अपने गुरुकुल में रख लिया। केकयराज पोरु ने गान्धार पर आक्रमण किया और उसे विजय भी मिली पर उसने विजित राजा आम्भि को पुनः उसका राज्य लौटा दिया। वररुचि गान्धार नरेश आम्भि का आमात्य है जिसे उसने षड्यन्त्र का आरोप लगाकर बन्दी बना लिया था। केकयराज से पराजित हो जाने पर आम्भि ने चाणक्य से मंत्रणा की जिसमें आचार्य ने उसे सुझाया था कि वह केकयराज से भी अधिक अन्य शक्तिशाली राजा का आश्रय ग्रहण करे। इसी समय सिकन्दर के आक्रमण की सूचना मिली और आम्भि ने चाणक्य की बातों को दृष्टिपथ में रखते हुए सिकन्दर से केवल सन्धि ही नहीं की बल्कि पोरु के युद्ध में उसने सिकन्दर को सैनिक सहायता भी दी और उसकी सेनाओं को अपने राज्य से मार्ग भी दिया। पोरु पराजित तो होता है पर उसकी वीरता पर मुग्ध होकर सिकन्दर ने उसे मित्र बना लिया।

आम्भि के कार्यों से चाणक्य को हार्दिक वेदना हुई और वे सम्पूर्ण आर्यावर्त को एक शासन-सूत्र में लाने का दृढ़ संकल्प कर तक्षशिला से चल देते हैं। वाहीक में

औशनस राजनीति के प्रकाण्ड पंडित इन्द्रदत्त से समसामयिक समस्याओं पर उनका विचार विमर्श हुआ जिससे इन्द्रदत्त ने उनके सुझावों का हार्दिक स्वागत किया। इसके उपरान्त बलिदान की गौरवमयी आर्यभूमि साँकल में आचार्य चाणक्य का अपूर्व स्वागत हुआ जहाँ के कर्तव्यपरायण नर नारियों ने यवनों से देश की रक्षा करने का संकल्प लिया। इसके पश्चात् अपनी ऐतिहासिक यात्रा करते-करते वे मगध पहुँचे जहाँ का राजा सुमाल्यानन्द था जिसने छल से अपने पिता महापद्मनन्द का वध राजा बनने के लिये करा दिया था। मगध का आमात्य वक्रनास था और प्राचीन आमात्य शकटार बन्दीगृह में डाल दिया गया था। चाणक्य ने वक्रनास तथा सुमाल्यानन्द से मिलकर उन्हें तत्कालीन परिस्थितियों से अवगत कराना चाहा, पर उन्होंने उसकी उपेक्षा की। इतना ही नहीं बल्कि वक्रनास ने राजद्रोह का अपराध लगाकर चाणक्य को बन्दी बनाना चाहा कि ठीक समय पर चन्द्रगुप्त ने आकर उसकी रक्षा की। वक्रनास और चाणक्य के बीच दाँव-पेंच चलते रहे पर चाणक्य के सम्मुख उसकी एक भी न चल पाई। एक दिन कुछ बौद्ध भिक्षुओं को देखकर उसे बौद्धधर्म से घृणा हो गई जिससे चाणक्य उनके उद्धार के लिये व्यग्र हो उठा। मगध में उसने सैन्य सगठन कर राज्य पर आक्रमण किया पर असफल रहा, फिर भी उसे निराशा नहीं हुई और वह वाहीक की ओर बढ गया।

वाहीक में सम्पूर्ण आर्य प्रदेश को यवनों से मुक्त करने की योजना बनाई गई जिसमें व्याडि और इन्द्रदत्त ने चाणक्य की सहायता की। इसी समय सिकन्दर फिलिप्स को प्रतिनिधि रूप में छोड़कर भारत से लौट पड़ा। उसके विदा होते समय यवन सैनिकों का भारतीय नारियों से ब्याह कराकर उत्सव मनाया गया जिसे आधार बनाकर व्याडि ने अपने नीति-जाल में वाहीक की जनता को फँसाकर उन्हें यवनों के विरुद्ध उकसाया और इन्द्रदत्त ने पोरु को मिलाकर फिलिप्स की हत्या की मन्त्रणा शुरू की। चाणक्य ने तक्षशिला के विद्यार्थियों को देशभक्ति का पाठ पढ़ाकर एक ऐसी राष्ट्रीय चेतना उत्पन्न की कि पुन- गान्धार हाथ में आ गया। एक गणतन्त्र की वीरांगना ने नर्तकी के रूप में फिलिप्स का वध किया। जनविद्रोह के फलस्वरूप केकय स्वतन्त्र हुआ जिसमें चन्द्रगुप्त का सैन्य सगठित आक्रमण भी सहायक हुआ। चन्द्रगुप्त की वीरता की ओर करभिका आकर्षित हुई जिससे वह उसे प्यार करने लग गई। यवनों से विवाहित आर्य ललनाओं के ब्याह को बलात्कार घोषित कर चाणक्य ने उनका विवाह भारतीय सैनिकों से करवा दिया। मगध आमात्य वक्रनास पोरु के मन में यह बात बैठा देने में समर्थ हो गया कि चाणक्य मगध का सम्राट उसके पुत्र पर्वतक को न बनाकर चन्द्रगुप्त को ही बनाना चाहता है, पर इन्द्रदत्त ने उसकी धारणा निर्मूल कर दी। पोरु ने कुछ काल पश्चात् वैराग्य ग्रहण कर लिया। क्षुद्रक, मालव, केकय तथा गान्धार आदि सभी देशों की सैन्य के साथ चाणक्य ने मगध विजय का अभियान किया। दास-दासी व्यवसायी के

रूप में एक गूढ़ पुरुष पर्वतक को चन्द्रगुप्त तथा चाणक्य के विरुद्ध भड़काने की चेष्टा करता है। अन्त में विषयासक्ति के कारण एक विषकन्या द्वारा पर्वतक की मृत्यु हो जाती है जिसका भी अनुचित लाभ यह कहकर विरोधी लोग उठाना चाहते थे कि उसकी मृत्यु में चाणक्य और चन्द्रगुप्त का हाथ था। पर्वतक के सैनिक विद्रोह कर बैठते हैं जिन्हें चाणक्य का गूढ़ पुरुष ज्योतिषी के रूप में वास्तविक स्थिति का ज्ञान कराता है और इस प्रकार वक्रनास को असफलता मिलती है। वक्रनास का गूढ़ पुरुष भी पकड़ा जाता है। अन्तःपुर में घुस कर करभिका सन्यासिनी के वेश में सुमाल्यानन्द का वध कर देती है जिससे मगध पर चन्द्रगुप्त का अधिकार हो जाता है। चाणक्य राक्षस को आमात्य नियुक्त करता है। करभिका का चन्द्रगुप्त के प्रति प्रेम पूर्ण विकसित हो गया था कि उसी बीच सिल्यूकस को रोकने के लिये चन्द्रगुप्त उत्तरापथ की ओर चला गया जहाँ उसे राजनीतिक कारणों से सिल्यूकस की कन्या हेलन से विवाह कर लेना पड़ा। करभिका भी देशहित में अपने प्रेम का उत्सर्ग करती है और आचार्य चाणक्य भी कर्तव्य के आगे करभिका के प्रति अपने वात्सल्य का गला घोट कर उसे स्वीकार कर लेते हैं।

इस उपन्यास में चाणक्य का ही व्यक्तित्व सर्वत्र छाया हुआ है जिसमें चन्द्रगुप्त का चरित्र उभड़ नहीं पाया है। इतिहाससंगत अपनी नवीन मान्यताओं को प्रस्तुत करने का जो आग्रह लेखक ने दिखलाया है उससे उपन्यास की सरसता को बाधा पहुँचने की सम्भावना थी परन्तु वह कुछ बच सका है। इस उपन्यास में चाणक्य को मगध का निवासी न मान कर उसे तक्षशिला का नागरिक माना गया है। उसके अनेक इतिहास प्रसिद्ध नामों में लेखक ने वात्स्यायन भी माना है जिससे उसे कामशास्त्र का रचयिता भी कहा गया है। उसके चरित्र में असाधारणत्व का आरोप किया गया है। उसके सफल गूढ़ पुरुषों के उपयोग से तत्कालीन भारत की शासन व्यवस्था का परिचय मिलता है। लेखक ने दास-दासी व्यवसाय का भी संकेत किया है जो मौर्य शासनकाल के पूर्व पर्याप्त मात्रा में प्रचलित था। सुमाल्यानन्द की मृत्यु करभिका द्वारा करा कर उपन्यासकार ने एक अप्रचलित घटना को महत्व प्रदान किया है। ऐसा ही बहुत कुछ उसने पोरु और पर्वतक के सम्बन्ध में भी किया है। पोरु को उपन्यासकार ने केकयराज माना है। करभिका का चरित्र अत्यन्त सुन्दर बन पड़ा है जिसके त्याग और बलिदान की करुण गाथा पाठक के कानों में दीर्घ काल तक गूँजती रहेगी।

आचार्य चाणक्य—(डा० यतीन्द्र)

डा० यतीन्द्र द्वारा लिखित ऐतिहासिक उपन्यास आचार्य चाणक्य में अपेक्षाकृत औपन्यासिकता अधिक है। उपन्यासकार ने चन्द्रगुप्त और चाणक्य के सम्बन्ध में प्राप्त

सभी सामग्रियो का उपयोग किया है जिसमें वह जयशंकर प्रसादकृत नाटक चन्द्रगुप्त से अधिक प्रभावित जान पडता है। चन्द्रगुप्त नाटक के स्थलो के भावानुवाद भी कही-कही स्पष्टत. आचार्य चाणक्य मे आ गये हैं। सुवासिनी कतिपय परिवर्तनो के साथ आचार्य चाणक्य में विराजमान है और मदनलेखा की स्थिति बहुत कुछ प्रसाद की मालविका से मिलती-जुलती है, पर चाणक्य सम्बन्धी अन्य घटनाएँ सत्यकेतु विद्यालंकार रचित आचार्य चाणक्य के समान हैं।

इस उपन्यास का आरम्भ गुरुकुल के अत्यन्त पवित्र वातावरण में हुआ है। ब्राह्म मुहूर्त में आचार्य चाणक्य भ्रमणार्थ अपनी कुटिया छोडते हैं। मार्ग में शीत से ठिठुरा निर्वस्त्र एक पुरुष मिलता है। आचार्य अपना उत्तरीय उसे दे देते हैं। लौटते समय पता चलता है कि वह आचार्य का प्रिय शिष्य चन्द्रगुप्त ही है। यह लेखक की कल्पना ही है। आचार्य उसे आश्रम तक लाते हैं। चन्द्रगुप्त का प्रतिशोध ताप बढते-बढते भयकर ज्वर ताप में परिणत हो जाता है। उसी समय पाँच गूढ पुरुष चाणक्य के आश्रम में आते हैं जिनमें एक सिकन्दर का सेनापति सिल्यूकस भी था। सिकन्दर की आज्ञानुसार वे आचार्य को छल-बल-कल से उसके पास तक ले जाना चाहते थे। आचार्य समझ जाते हैं और चतुराई पूर्वक उनसे युद्ध करने लगते हैं। चन्द्रगुप्त भी शय्या छोडकर उठ जाता है और उनको बन्दी बनाता है। आचार्य उन्हे मुक्त करते हुए कहते हैं, "यह भारत है यहाँ की मिट्टी जहाँ सोना उगलती है वहाँ उसके रक्षार्थ फौलाद से वीर भी पैदा करती है।" यही पर पूरे उपन्यास की भूमिका तैयार हो जाती है। आचार्य राजनीति में सक्रिय भाग लेने के कारण गुरुकुल छोड देते हैं।

अब उनके समक्ष दो ही उद्देश्य हैं, प्रथम भारत को एक राष्ट्र बनाना और विश्व राष्ट्र मे परिवर्तित करना और दूसरा आसन्न भविष्य में होने वाले सिकदर के आक्रमण से देश की रक्षा करना। किसी तरह छिपे वेश में वे कैकय तक पहुँचे। उन्हें विश्वास था कि उन्हें कोई पहचानेगा नही, पर कैकय की राजधानी राजगृह पहुँच कर देखा कि कैकय-राज पुरु, महामन्त्री इन्द्रदत्त और आभि उनके स्वागत मे खडे हैं। गुप्त वार्ता में आचार्य ने देखा कि सभी प्रतिशोध और स्वार्थ भावना के पुजपात्र बने हैं। आचार्य क्रुद्ध होकर वहाँ से भी चल देते हैं। चद्रगुप्त भी प्रतिशोध की अग्नि में बेतरह जल रहा था अतः उसने भी आचार्य का साथ छोड दिया। आचार्य भूखे प्यासे आगे बढे। उनके पीछे गूढ पुरुषो का एक दल भी था। मार्ग में एक बार बेहोश भी हो जाते हैं और गूढ पुरुषों के हाथ में पड जाते हैं। वे उनको चकमा देकर श्रावस्ती की तरफ बढते हैं। वहाँ प्रिय शिष्य कात्यायन एव पुजारीजी से उनकी भेंट होती है।

इस समय मगध का महामन्त्री वक्रनास था जो आचार्य की सघ घोषणा को सुन चुका था। वह चाहता था कि भारतीय सघ का प्रथम महामन्त्री मैं ही बनूँ।

मगध पहुँच कर आचार्य योजनाएँ बनाने लगते हैं। उधर वक्रनास भी भयंकर औशनस नीतिज्ञ था। दोनों काटे एक दूसरे को निकालने का प्रयत्न करते थे। आचार्य ने अपना एक गुप्त संगठन बनाया। कात्यायन को पाटलिपुत्र गुरुकुल में व्याकरण का आचार्य बनवा दिया और पुजारी जी को सहायता दिलवायी। यहाँ बाल्यकाल से साथ रहने वाली सुवासिनी से भेंट होती है और वे अपनी सारी योजनाएँ उसे सुनाते हैं। भावी युद्ध में सिकन्दर को पराजित करना चाणक्य का प्रथम कर्त्तव्य हो गया था। वक्रनास ने संघ की स्थापना के हेतु छोटे-छोटे राज्यों को जीतने के लिये आचार्य के साथ सेना भेजी। आचार्य भी उसकी चालाकियों को समझते हुए सभी काम में उसी को आगे रखते थे। चाणक्य सेना लेकर सीमान्त प्रदेश की ओर बढ़े।

उधर चन्द्रगुप्त सिकन्दर के स्कन्धावार में पहुँचा और सिल्यूकस का अतिथि बनकर रहने लगा। दो बार फिलिप्स से सिल्यूकस की पुत्री हेलन को बचाया। अतः सिल्यूकस बड़ा आभारी हो गया। वहीं वह यवन राष्ट्रनीति भी सीखने लगा। सिकन्दर ने चन्द्रगुप्त को पाँच सैनिकों की हत्या के अपराध में दण्डित करने के लिये बुलाया पर आम्भि द्वारा बताने पर उसे प्रसन्न रखने का प्रयत्न करने लगा।

चाणक्य जब स्रुघ्न पहुँचे तो वहाँ के राजा व्याघ्रपाद ने खुले दिल से स्वागत किया। वह भी आचार्य का शिष्य था। दोनों ने मिलकर योजनाएँ बनायीं। व्याघ्रपाद के राष्ट्रगीतों का अत्यन्त प्रभाव पड़ने लगा। कुछ ही समय में पश्चिमोत्तर के करीब सैकड़ों राज्य संघ में सम्मिलित हो गये। पुरु को आचार्य की योजना में सन्देह था। पर आशातीत सफलता देखी तो आश्चर्य में पड़ गया। पुरु ने जब सुना कि आम्भि और चन्द्रगुप्त सिकन्दर से मिल गये तो आम्भि पर उसे अत्यन्त दुःख हुआ। चन्द्रगुप्त के लिये तो यही मुख से निकला कि एक दासी-पुत्र से और क्या आशा की जा सकती है।

अब आचार्य संघ सेना एकत्रित करके उसके प्रशिक्षण में लग गये। उधर चन्द्रगुप्त सिकन्दर की तरफ से आक्रमण कर देता है, आचार्य द्वारा बन्दी बनाया जाता है। सिकन्दर किसी तरह आचार्य को भारत की सीमा से हटाना चाहता था। उसने एक नाटक मंडली में दो सुकुमारी, अत्यन्त सौंदर्यशीला पार्स कुमारियों के साथ एक विष-कन्या भी भेजी जो उसका अन्तिम अस्त्र था। चन्द्रगुप्त के बन्दी हो जाने पर नाटक-मंडली के नायक ने विषकन्या का प्रयोग करना चाहा। अचानक भारत का भाग्य-सूर्य डूबना ही चाहता था कि चन्द्रगुप्त ने पार्स कुमारी के चिल्लाने पर विषकन्या का केश पकड़ लिया। आचार्य बच गये पर चन्द्रगुप्त को लेकर नायक सिकन्दर के पास पहुँचा। चन्द्रगुप्त को देखते ही सिकन्दर क्रोधाभिभूत होकर दासी-पुत्र आदि कहता है और उसे एक तलवार देता है। वह उसे वीर की मृत्यु देना चाहता था। चन्द्रगुप्त बिजली की तरह निकल गया और जटिल वेश में आचार्य के पास पहुँचा। दोनों अत्यन्त प्रसन्न थे पार्स कुमारी मदनेला भी।

मगध में कात्यायन गहरी नींव डाल रहा था। राक्षस से उसकी मित्रता गहरी होती जा रही थी। व्यथित और निराश प्रेमी राक्षस कात्यायन के ही सम्मुख अपना दिल खोलकर रख सकता था। वह अपने पिता और राजा सुमाल्यानन्द को बन्दी बनाने की योजनाएँ बनाने लगा।

मदलेखा स्वस्थ होकर चन्द्रगुप्त के साथ घूमने निकली। दोनों में काफी देर तक मनोविनोद होता रहा। लौटे तो मार्ग में आचार्य मिले जो उन्हें ढूँढ़ने जा रहे थे। वे रात्रि में ही कैकय जाने वाले थे। चन्द्रगुप्त और मदलेखा के बीच प्रेम का बीज अंकुरित हो गया था।

आचार्य के आदेश से शार्ङ्गरव तक्षशिला की स्थिति देखने गया था। वहाँ पर सिकन्दर के सैनिकों का वीभत्स अत्याचार देखकर उसका दिल दहल गया। पवित्र गुरुकुल मरघट बना था। अत्याचार की सीमा लूट और हत्या तक ही नहीं रही बल्कि आंभि द्वारा अभिजात कुल की हजारों कुमारियाँ सिकन्दर को भेंट की गयी जिनका विवाह उसने अपने सैनिकों के साथ कर दिया। आंभि पश्चिम भारत का सम्राट होने की कल्पना में प्रसन्न था।

आचार्य से भेंट करना भी पुरु और इन्द्रदत्त ने अस्वीकार कर दिया था, पर किसी तरह चाणक्य छिपकर दरबार में पहुँचा। पुरु ने अभिमान में आकर आचार्य की योजना को अस्वीकृत कर दिया। युद्ध के अनेक कलाकौशलों एवं औशनस नीति के बावजूद पुरु बन्दी हुआ। सिकन्दर द्वारा पूछे जाने पर कि तुम्हारे साथ कैसा व्यवहार किया जाय, पुराना इतिहास-प्रसिद्ध वाक्य—'जैसा एक राजा दूसरे राजा के साथ करता है' कहा। सिकन्दर ने उसे मित्र बना लिया।

कात्यायन और राक्षस ने अपनी योजना को कार्यान्वित करने की पूरी तैयारी कर ली थी पर महादण्डपाल एवं वक्रनास को पता लग गया और वे सभी बन्दी बनाकर दरबार में उपस्थित किये गये। मौका पाकर प्रधान सेनापति ने विद्रोह कर दिया और आकर राक्षस, कात्यायन, पुजारी आदि के बन्धन खोले तथा सुमाल्यानन्द और वक्रनास को बन्दी बना लिया। अब घननन्द राजा हुए और राक्षस प्रधान मन्त्री।

पुरु के पराजित होने पर चन्द्रगुप्त ने आचार्य को आक्रमण करने की सलाह दी पर उधर सिकन्दर शीघ्र यूनान पहुँचना चाहता था। अतः आचार्य ने मार्ग में उससे युद्ध करने की योजना बनायी। सिकन्दर हार गया। आचार्य ने उसे मुक्त करके पुरु का बदला चुका दिया। जाते-जाते चन्द्रगुप्त और हेलेन एक दूसरे को पुकार उठे।

राक्षस की अब एक ही आकांक्षा थी सुवासिनी। उसके लिये वह कुछ भी कर सकता था, पर जब चाणक्य के प्रति उसका प्रेम देखा तो हतचेत हो गया। वह अपने गूढ़ पुरुषों द्वारा आचार्य के विरोध में साम्राज्यव्यापी प्रचार खड़ा करता है। अब भी

कात्यायन और राक्षस मन्त्रिमण्डल में थे। चाणक्य, चन्द्रगुप्त और व्याघ्रपाद के प्रयत्न से पश्चिम भारत एक संघ के रूप में परिणत हो गया। इन्द्रदत्त उसका प्रथम महामन्त्री हुआ। पुरु सम्राट होना चाहते थे और इन्द्रदत्त को तैयार करना चाहते थे पर उसके तैयार न होने पर उसकी हत्या का षड्यन्त्र किया पर गिरफ्तार हुए और इन्द्रदत्त बच गया। आचार्य अपने विरोध में प्रचार देखकर तथा धननन्द एवं अन्य राजपुरुषों द्वारा अपमानित होने पर नन्दवंश के नाश का प्रण करता है। पुरु की विषकन्या द्वारा मृत्यु हो जाती है। उसका पुत्र मलयकेतु राक्षस से मिल जाता है। पर सयोगवश आचार्य का पूरा दल राजधानी में पहुँच जाता है। चन्द्रगुप्त का राज्याभिषेक होता है। आचार्य पुन गुरुकुल मे ग्रन्थ-प्रणयन के लिये चले जाते हैं। चन्द्रगुप्त चतुरग विजय के लिए निकल पडता है। महामन्त्री राक्षस ही है। राष्ट्रीय उत्सव का सोलहवाँ समारोह मनाया जाने को था कि तबतक सिल्यूकस पुन आक्रमण कर देता है। युद्ध होता है और सिल्यूकस पराजित हो जाता है पर मदलेखा को जीवन-यात्रा समाप्त हो जाती है। हेलेन को शादी चन्द्रगुप्त से होती है और विश्व राष्ट्र का स्वप्न भी साकार हो उठता है।

अन्त मे चन्द्रगुप्त और हेलेन वानप्रस्थ में प्रवेश करते हैं। आचार्य अपना आश्रम उन्हें देकर स्वय हिमालय पर नि श्रेयस की प्राप्ति के लिये चले जाते ह। यही पर उपन्यास की विस्तृत भूमिका अपनी चरम सृष्टि करके समाप्त होती है।

इस उपन्यास में आचार्य चाणक्य को कामशास्त्र का प्रणेता स्वीकार किया गया है। मौर्यकालीन वातावरण को सजीव रूप मे प्रस्तुत करने के लिये उपन्यासकार ने प्राचीन शब्दो का भी यथोचित प्रयोग किया है जिनके अर्थ भी उसने अन्त मे लिख दिये हैं।

चेतसिह का सपना

गिरिजाशंकर पाण्डेय का ऐतिहासिक उपन्यास 'चेतसिंह का सपना' दो भागो में मुझे देखने को मिला। लेखक ने इस उपन्यास की रचना राजनीतिक क्रान्ति के आधार पर की है। राजा बलवन्त सिंह की मृत्यु के उपरान्त ही काशिराज सिंहासन के लिये षड्यन्त्र प्रारम्भ हो गया था। राजा बलवन्तसिंह अपने चचेरे भाई मेहरबानसिंह के लडके मनियारसिंह को युवराज बनाना चाहते थे, पर राजा साहब के दामाद बबुआन साहब (दुर्ग विजय सिंह) अपने लडके को उस पर आसीन कराना चाहते थे और इन सबसे अलग औसानसिंह का षड्यन्त्र चल रहा था जो चेतसिंह को राजा बनाना चाहते थे। औसानसिंह को सफलता मिली और गृहकलह तथा दूषित राजनीतिक वातावरण में चेतसिंह राजा बन गया। शुजाउद्दौला को जब चेतसिंह की धृष्टता का समाचार मिला तो वह रामनगर पर ससैन्य चढ़ दौडा। औसानसिंह ने कौशल पूर्वक उससे मार्ग में ही जौनपुर में मिलकर उसे चेतसिंह से सधि करने के लिए राजी कर लिया। चेत-

सिंह उस पिता का लड़का था जो सदैव नवाब का विरोध करता रहा जिससे चेतसिंह के स्वागत से यह अत्यधिक प्रभावित हुआ। नवाब काशी आया।

यह वह समय था कि जिस समय राजनीतिक क्रान्ति सारे देश में व्याप्त थी। यहाँ तक कि साधु आश्रमों में भी इसकी चर्चा थी। भारतप्रसिद्ध महात्मा पुराणपुरी ने कल्याणसिंह से कहा कि "कल्याण जानते हो? ये विदेशी बनिए भारत पर राज्य करने आये हैं, व्यापार तो बहाना है। आज बंगाल, बिहार, उड़ीसा तथा मद्रास में उनके डंके बज रहे हैं।"

उपन्यास के प्रथम भाग में उपन्यासकार ने चेतसिंह के स्वप्न को स्पष्ट रूप से व्यक्त करने का प्रयास नहीं किया है। उसकी माता के सम्बन्ध में प्रजा में मतभेद चल रहा था जिसका चित्रण लेखक ने भोज का प्रसंग लाकर किया है। मालती नामक रानी की दासी की पदच्युति के प्रसंग को लेकर राजा और औसानसिंह के मतभेदों का भी लेखक ने संकेत किया है। कल्याण सिंह एक अत्यन्त जीवंत चरित्र के रूप में उपन्यास में चित्रित हुआ है। वह निर्बलों का सहायक है।

नारियों के कष्टों को दूर करने के लिए मानों कल्याण सिंह का जन्म ही हुआ था। हर जगह उसने नारियों की इज्जत बचायी। जब "हेस्टिंग्ज आ रहा था तो उसके स्वागतार्थ राजा का जाना सुनकर नवाब शुजाउद्दौला आपे से बाहर हो गया तथा चेतसिंह को अपदस्थ करने के लिए ससैन्य फैजाबाद से चल पड़ा। इस समय कितना आपसी विद्रोह चल रहा था, एक दूसरे को उन्नति के पथ पर देखना न चाहता था तथा उस समय की सामाजिक तथा राजनीतिक स्थिति आदि का स्पष्ट चित्र दिखाई पड़ता है।

लेखक को मुहावरों के प्रयोग का व्यामोह-सा दिखाई पड़ता है। बिरला ही पन्ना ऐसा होगा जो बिना मुहावरों एवं लोकोक्तियों से गुजरे। लेखक ने उत्तर-पूर्व भारत की देशी बोली का सफल समावेश किया है। उपन्यास में प्रभाव डालने की शक्ति की कमी है।

इस उपन्यास में इतिहासप्रसिद्ध घटनाएँ तथा व्यक्तियों के चित्रण का सफल प्रयास किया गया है। उस समय की राजनीतिक व्यवस्था का स्पष्ट चित्रण है। राजा चेतसिंह, बलवन्त सिंह तथा नवाब शुजाउद्दौला एवं अंग्रेजी कम्पनियों का सही विवरण है। उस समय भारत में कम्पनियों का आधिपत्य था तथा उनका उद्देश्य भी स्पष्ट था कि वे व्यापार करने नहीं आई थीं, उनका लक्ष्य था राज्य करना। चेतसिंह की माँ के बारे में लेखक 'प्रसाद' जी की "गुण्डा" कहानी का अनुसरण करता दिखाई पड़ता है, पर जनता द्वारा। के बारे में समाज ही प्रमाण दे सकता है। ऐसे मामलों में समाज

को पूर्ण अधिकार है, वह चाहे तो सत्य को असत्य और असत्य को सत्य बना दे। समाज जिसको मान्यता दे वही मान्य होता है।

इसके अधिकांश पात्र काल्पनिक हैं, पर हां लेखक ने इतिहास और कल्पना का सफल समन्वय किया है। ऐतिहासिक उपन्यास की अपेक्षा यह राजनीतिक उपन्यास बनने के अधिक निकट जान पड़ता है। सारा वातावरण ही राजनीतिमय दिखाई पड़ता है। सभी अपना-अपना उल्लू सीधा करने में लगे हुए हैं। तर्क का साम्राज्य है। कोई भी चरित्र अपने निखार पर नहीं आने पाया है। इसका कारण बस एक ही दिखाई पड़ता है, व्यक्ति की अपेक्षा नीति-प्रमुखता है, राजनीति पर ध्यान है, किसी व्यक्ति विशेष पर नहीं। नीति में प्रौढ़ औसान सिंह अपेक्षाकृत अधिक दिखाई पड़ता है।

यों तो पूरे उपन्यास में पात्रों की कमी नहीं है पर स्त्री पात्रों की अपेक्षा पुरुष पात्रों को अधिकता है। पन्नाधनिकता रानी के रूप में, चेतसिंह की धर्मपत्नी तथा उत्सर्ग करने वाली सेविका के रूप में मालती का स्वरूप निखर गया है किन्तु राजनीति की दृष्टि में ये निर्दोष नहीं। निःस्वार्थ सेवक के रूप में सन्तराम का चरित्र सराहने योग्य है, उसने अपने जीते स्वामी पर कोई संकट न आने दिया। स्वामी के बदले अपने जीवन को भी उत्सर्ग कर दिया परन्तु अपने भाग्य से बचा। सम्पूर्ण इतिहास में कोई भी ऐसी चरितावली नहीं जिसका कि पाठक पर स्थायी प्रभाव पड़े। पाठक के मन को रमाने की शक्ति का अभाव-सा दिखाई पड़ता है। यों तो सारी कथा चेतसिंह के ही आगे-पीछे चलती है परन्तु औसान सिंह के कारण चेतसिंह का चरित निखर नहीं पाया।

उपन्यास-कला की दृष्टि से दूसरा भाग अधिक अच्छा बन पड़ा है। इसमें सन्देह नहीं कि 'राजा चेतसिंह का सपना' ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर कल्पना की कला से संजोया हुआ यथार्थवादी उपन्यास है। लेखक श्री गिरिजा शंकर पांडेय ने तत्कालीन परिस्थितियों तथा परिवेशों का बड़े ही कौशल तथा चातुरी से आलम्बन लेकर चित्रण किया है। उनकी सूक्ष्मतर अनुभूति तथा अभिज्ञता ने गत ऐतिहासिक घटनाओं को मनोयोग पूर्वक इतिवृत्तात्मक प्रवाह दिया है। उससे प्रबुद्ध पाठक की जिज्ञासा और कौतूहल-वृत्ति रोचक अनुरंजना से रंग जाती है।

कथानक सुरुचिकर व्यक्तिगत तथा काल विशेषीय है। उपन्यास में लेखक ने एक व्यक्ति के माध्यम से वैसे ही समग्र वर्ग का प्रारूप प्रस्तुत किया है। राजा चेतसिंह की अवधि (१८ वीं शती) में भारत का चप्पा-चप्पा परोक्ष-अपरोक्ष, कूटनीतिज्ञ गोरों के अधीन था। भारतीय राजनीतिक प्राङ्गण अव्यवस्थित, संकीर्ण, दुष्कर तथा दुरूह था। सबमें पारस्परिक तथा व्यक्तिगत स्वार्थ की भावना कूट-कूटकर भर गई थी। परिणामस्वरूप विदेशियों की सूक्ष्म तथा दूरन्देशी प्रतिभा ने पूर्ण रूप से लाभ उठाया। वणिक विधान के विधायक हो गये; नियामक नियंता से नियंत्रित हो गये।

मुगल साम्राज्य काल के गर्त में था। नवाब नाजुक हालात लिये ऐश-व-आराम में मशगूल थे। राजे-महाराजे पारस्परिक वैमनस्य से आक्रान्त तथा आक्रात थे। राजा चेतसिंह तत्कालीन विषम परिस्थितियों में उलझे हुए थे। इतना होते हुए भी जन-जागरण नवोत्स की भाँति स्वतः अपना पथ-प्रदर्शन कर रहा था। उसे केवल एक सेनानी के इंगित की देर थी। लोगों को 'फिरंगी' प्रवृत्ति का सत्य रूप परिलक्षित हो चला था, पर निरभिमानी राजा किंकर्तव्य विमूढ 'हाथी के दाँत' के प्रतीक मात्र थे। अंग्रेज महाप्रभुओं ने उनमें सार्वभौम सत्ताधारी उपाधि का व्यामोह तथा मृगतृष्णा जगा दिया था। इतना होते हुए भी जनवर्ग के साथ राजा चेतसिंह ने श्रेय को अपनाया तथा प्रेय को मुक्त कर दिया। विगत इतिहास, अरावली के महाराणा के हुंकार का गुंजार प्रतिध्वनित कर जन जीवन में एक ज्योति का सन्देश देकर उद्बोधित कर रहा था। सभी गतव्य को उन्मुख हो रहे थे। त्रिकाल से वैषम्य को हँस-हँस के झेलने वाली काशी पीछे न रह सकी। अंग्रेज गवर्नर जेनरल वारेन हेस्टिंग्ज तथा राजा चेतसिंह के कलह और द्वंद्व में काशी के गण्यमान व्यक्तियों ने हाथ बटाया। अंग्रेजों के दाँत खट्टे हो गये। पर, दुर्भाग्य कौन रोकता, होनी अनहोनी न हो सकी। राजा चेतसिंह का सपना साकार हुआ और स्वप्न की भाँति तिरोहित भी हो गया। पारस्परिक विद्वेष तथा राज-नीतिक कटुता ने अंग्रेजों को पुन प्रतिष्ठित होने को आह्वान किया, हुआ भी यही।

इसी ऐतिहासिक आधार पर घटनाओं को लेखक ने यथोचित अभिव्यंजना का प्रसार दिया है। घटना तथा परिणाम अधिकांशतः सत्य हैं— वर्णन लेखक की कल्पना कला तथा शिल्प विधान का सजीव द्योतक है। लोकोक्तियों तथा किंवदंतियों का भी समाहार रूप से वर्णन बन पड़ा है। -

राजा चेतसिंह, उनके जाति परिवार तथा मुसाहिबों की रूपरेखा, नवाब, उनके गुलाम तथा उनके हरम की निन्दनीय विलासिता, तत्कालीन काशी का जनवर्ग तथा उसकी स्वतंत्र जागरूक भावना, ईस्ट इंडिया कम्पनी तथा उसके अंग्रेज कर्मचारियों की लालुप प्रवृत्ति, देश के अन्य लब्धप्रतिष्ठित राजकुलों के सहयोग-असहयोग के उत्कर्षापकर्ष की जटिल तथा जीर्ण-शीर्ण समस्या आदि का मुखरित चित्रण सुयोग्य लेखक ने विधिवत किया है। कल्पना को कला का रंग दे सत्य सा बना दिया है। समग्र रूप में उपन्यास सजीव और रोचक है। किंवदंतियाँ तथा लोकोक्तियाँ भी सत्य रूप से प्रतिष्ठित होकर कथा में प्रवहमान हैं पर लेखक का अद्भुत सर्वोपरि कौशल है।

बलिदान

रघुवीरशरण मित्र

'बलिदान' के अन्दर रहमान ... न की कहानी है जिन्होंने अपने जीवन का अन्तिम ... लिए दिया और

यदि आँसू बहाये तो भारत माँ की हीन अवस्था पर, नहीं तो हँस-हँस कर फाँसी के तख्ते पर झूल जाना तो उनके लिए खेल था। इसके अन्दर १९४२ ई० की क्रान्ति के पश्चात् अंग्रेजों ने किसी प्रकार हिन्दू मुसलिम के प्रश्न को उठाकर आयी हुई आजादी को पीछे ढकेलना चाहा था, की यथार्थ कहानी कही गयी है। पाकिस्तान के प्रश्न को लेकर किस प्रकार देश को खंडित कर दिया गया और उसका क्या दुष्परिणाम हुआ, लेखक ने उसका अत्यन्त ही स्पष्ट नक्शा पाठकों के सामने उपस्थित कर दिया है।

उपन्यास में जिस घटना का मार्मिक चित्र उपस्थित किया गया है। यदि लेखक ने पात्रों के नाम कल्पित न रखे होते तो उसे नोवाखाली और बिहार की घटी घटना मान लेने में किसी प्रकार की आपत्ति न होती। क्रान्ति के पश्चात् अंग्रेजी सरकार ने कितनी करवटें लीं तथा देश के नेताओं ने किस प्रकार उन समस्याओं का धैर्यपूर्वक सामना किया, का बड़ा यथार्थ ऐतिहासिक चित्र लेखक ने उतारा है। मि० जिन्ना के नेतृत्व में सर्वप्रथम मुस्लिम लीग ने अन्तरिम सरकार में सम्मिलित होने से इनकार किया, जिसके बावजूद पं० जवाहरलाल ने अन्तरिम सरकार को स्वीकार किया, आचार्य कृपालानी जो प्रथम विधान कमेटी के स्थायी सभापति हुए और तत्पश्चात् राजेन्द्रबाबू स्थायी सभापति मनोनीत किये गए आदि सभी सच्ची ऐतिहासिक घटनाएँ हैं।

सन् १९४२ की क्रांति के पश्चात् भी देश में एक ऐसा दल सक्रिय रहा जो जानता था कि निकट भविष्य में हमें एक देश-व्यापी क्रान्ति पुनः करनी होगी, जिसमें सेना का भी सहयोग आवश्यक है और उसके लिए विदेशों से सहायता प्राप्त करने के लिए देश के कुछ राष्ट्रभक्त अत्यन्त ही सक्रिय थे। 'बलिदान' का शेखर ऐसे ही दल का नेता है। किस प्रकार उसने आगामी क्रान्ति का नक्शा तैयार किया, स्वयं सेनापति के यहाँ ड्राइवर बना और अन्त में क्रान्तिकारियों की असफलता का जो रूप हुआ करता है, वह शेखर का भी हुआ, वह सन्यासी हो गया। यद्यपि शेखर अत्यन्त कल्पित पात्र है, ऐतिहासिक नहीं, फिर भी हमारे स्वातन्त्र्य संग्राम का इतिहास शेखर जैसे अनेक रास-बिहारी बोस तथा अरविन्द के समान क्रान्तिकारियों की कृतियों से भरा है।

स्त्रियों के भी जितने चरित्र आये हैं वे अयथार्थ नहीं हैं। रागिनी, अरुणा, पूर्णिमा आदि राष्ट्रीय संग्राम में भाग लेने वाली वीर महिलाओं की प्रतिनिधि हैं। लेखक ने जितने प्रसंग राजनैतिक रखे हैं, जैसे सभाओं आदि का होना, सभी इतिहाससंगत हैं और उसमें नेहरू, गांधी, जयप्रकाश नारायण, पटवर्द्धन तथा नरेन्द्रदेव के नाम यथा-नुकूल ही रखे गये हैं।

यद्यपि उपन्यास की साज-सज्जा से ऐसा लगता है कि लेखक का संकल्प ऐतिहासिक उपन्यास लिखने का नहीं है फिर भी वर्त्तमान क्रान्तिकारी परिवर्तनों एवं प्रभावों से वह इतना प्रभावित हो गया है कि उपन्यास में देशकाल, तत्कालीन वातावरण तथा

राजनैतिक समस्याओं आदि का जो यथार्थ चित्रण हो गया है, वह भावी पाठकों के लिए ऐतिहासिक यथार्थ का ही महत्व रखता है।

कुछ अन्य उपन्यासकार

रांगेय राघव ने अपने ऐतिहासिक उपन्यास 'मुर्दों का टीला' में गणतंत्रात्मक राज्य-विधान की समस्याओं को प्रकारान्तर से उठाया है और प्रस्तुत प्रजातंत्रीय शासन-व्यवस्था का समर्थन प्राचीनता को महानता प्रदान करके किया है। महापण्डित 'राहुल' ने भी अपने 'जय यौधेय' नामक उपन्यास में इस गणतंत्र शासन-प्रणाली का समर्थन किया है, परन्तु इनके उपन्यासों की ऐतिहासिकता उनके व्यक्तिगत सिद्धान्तों के भार से नष्ट हो गई है। 'यशपाल' और 'राहुल' दोनों ने ही आधुनिक मार्क्सवादी ऐतिहासिक व्याख्या को अपने उपन्यासों में समाहित किया है। यशपाल से भी अधिक यह प्रवृत्ति राहुलजी के उपन्यासों में पायी जाती है, जो ऐतिहासिक यथार्थता का गला घोंट देती है। ऐतिहासिक उपन्यासकार अपनी कल्पना का रंग वहीं तक चढ़ा सकता है जहाँ तक कि देश-काल की सीमाओं की मर्यादा नष्ट न हो। उसे तत्कालीन यथार्थता के आवरण में ही कुछ कहने का अधिकार है। वह 'कलिंग' के युद्ध में वायुयान तथा अणु बम आदि का प्रयोग दिखलाने का अधिकारी नहीं है और न तो वह कभी भी 'महाराणा प्रताप' को सूट-टाई में सजाकर सिगरेट पीते पार्क में टहलते हुए 'हल्दीघाटी' के युद्ध का प्लान बनाते हुए ही दिखला सकता है। ऐसा करने से उसकी सारी कृति पर पानी फिर जायगा और उसे यश के स्थान पर अपयश ही हाथ लगेगा।

इरावती

हिन्दी में स्वस्थ ऐतिहासिक उपन्यासों का अभाव देख प्रसादजी ने इस ओर ध्यान दिया ही था कि काल के क्रूर हाथों ने उन्हें असमय ही उठालिया। 'महाकाव्य कामायनी' की परिसमाप्ति के साथ ही उन्होंने 'इरावती' नामक ऐतिहासिक उपन्यास लिखना आरम्भ किया था जो अपूर्ण ही रह गया। यद्यपि इस अपूर्ण कृति के आधार पर किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचना अत्यन्त कठिन है, पर जिस ढंग पर इसका कथानक चला है और उन्होंने जो कौतूहलपूर्ण शैली अपनाई है, उससे ज्ञात होता है कि वे मौर्यकालीन भारत की सांध्यवेला का सजीव चित्र तो उपस्थित करना ही चाहते थे, साथ ही ऐतिहासिक उपन्यासों को एक विशिष्ट शैली भी प्रदान करना चाहते थे। इतिहास का जो मौलिक चिंतन 'प्रसादजी' ने किया, उसके परिणामस्वरूप 'चन्द्रगुप्त' नाटक में मौर्य साम्राज्य के आरम्भ और नन्दवंश के विनाश के मूल कारणों पर नवीन प्रकाश पड़ा। इस कृति के द्वारा वे शुंगवंशीय शासन के आरम्भ और मौर्य साम्राज्य के पतन के मूल कारणों पर प्रकाश डालना चाहते थे। मौर्यवंश के अन्तिम सम्राट बृहस्पति मित्र एवं उसके दिवंगत पिता शतधनुष सम्राट नन्द का-सा ही आचरण करते

दिखाये गए हैं। सेनापति पुष्पमित्र अत्यन्त जागरूक एवं उसका पुत्र अग्निमित्र साहसी प्रेमी के रूप में चित्रित किए गए हैं। बौद्धों की कट्टरता एवं मन्दिरों में देवदासियों की निस्सारना का भी प्रसंग उठाया गया है। 'इरावती' मन्दिर की नर्तकी से भिक्षुणी और फिर स्वतंत्र नारी बनी। अग्निमित्र उसका पुराना प्रेमी था और बाद में बृहस्पति मित्र भी उसकी ओर आकर्षित हो जाता है। कालिंदी नामक युवती को नन्दवंश के शेष चिह्न के रूप में चित्रित किया गया है जिसे सम्राट शतधनुष ने उपभोग के लिए पकड़ मंगवाया था पर भोगने के पूर्व ही वे चल बसे और वह मगध में षड्यन्त्र का संचालन करती हुई अग्निमित्र को प्रेम करने लगती है। श्रेष्ठी धनदत्त की पत्नी मणिमाला के मुख से क्रीतदासियों का भी उल्लेख कराया गया है जो उस युग की विशेषता थी। आगे इसका अन्त प्रसाद किस प्रकार करते कहना कठिन है।

ऐतिहासिक कल्पना और सामाजिक रोमांस

हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यासो की कोई एक निश्चित सीमा निर्धारित करना एक असफल प्रयास ही होगा। उनके स्वरूप को निश्चित करने के लिए अत्यन्त आवश्यक है कि ऐतिहासिक उपन्यासों को भिन्न भिन्न प्रकार की मान्यताएँ स्वीकृत की जायँ। यदि हम स्वरूप-निर्धारण मे एकमात्र शास्त्रीय सिद्धातो को ही आधार मानते हैं, तो हमारे लिए अत्यन्त कठिन हो जायगा कि किस प्रकार हम हिन्दी के ऐतिहासिक कहे जाने वाले उपन्यासो की उपलब्धियो की सम्यक् विवेचना करें। इसमें सन्देह नही कि सिद्धातों की कसौटी पर बहुत से ऐसे ऐतिहासिक उपन्यास खोटे निकलेंगे जिन्हे हम छोडना न चाहेगे। हिन्दी के कुछ ऐसे प्रमुख ऐतिहासिक उपन्यास हैं, जिनमे इतिहास नाम की कोई वस्तु है ही नही, बल्कि उनके द्वारा ऐतिहासिक भ्रम की ही सृष्टि हुई है, किन्तु साधारणतः आज का पाठक उन्हे ऐतिहासिक उपन्यास मान बैठा है। जिसमें हमारे लिये यह एक समस्या है कि ऐसे प्रमुख उपन्यासो को ऐतिहासिक उपन्यासो की किस श्रेणी में रखें। हिन्दी साहित्य के अन्दर जितने भी ऐतिहासिक उपन्यास मिलते हैं, उनमें से कुछ उपन्यास, इतिहास के प्रमुख पात्रो और घटनाओ को लेकर उनके आधार पर कल्पना का महल निर्मित करने के लिये लिखे गये हैं। कुछ उपन्यासो में केवल ऐतिहासिक वातावरण को लेकर मनोरजक एवं स्वतन्त्र कथाओ की सृष्टि की गई है। कुछ उपन्यास ऐसे भी हैं जिनमें दो एक पात्रो के नाम ऐसे आ गये हैं जो ऐतिहासिक हैं, किन्तु उनसे किसी ऐतिहासिक अभिप्रेत घटना की न तो सिद्धि होती है और न ऐतिहासिक उपन्यास की कलात्मकता की ही अभिवृद्धि होती है, क्योकि उनके स्थान पर यदि अनैतिहासिक पात्रो की व्यवस्था कर दी जाय तो उपन्यास की औपन्यासिकता मे किसी भी प्रकार की बाधा नही पडती। कुछ उपन्यास ऐसे भी हैं जिनके न तो पात्र ऐतिहासिक हैं और न उनकी कथा ही, किन्तु उनके अन्दर ऐसी घटनाओ और वातावरण का चित्रण है कि हम उन्हे अनैतिहासिक किसी भी प्रकार कह ही नही सकते। ऐसी स्थिति में हम विवश हैं कि साहित्य के शास्त्रीय सिद्धातों को जनमत के समीप लायें और उनके अन्दर तथाकथित उपन्यासों की विवेचना करें। जिस समस्या का हमने ऊपर उल्लेख किया है, वह सबसे अधिक हिन्दी के जिन दो प्रमुख ऐतिहासिक उपन्यासो के लिए है वे हैं—वृन्दावन लाल वर्मा का 'विराटा की पद्मिनी' और भगवती चरण वर्मा का 'चित्रलेखा'।

विराटा की पद्मिनी

इस उपन्यास के अन्दर ऐतिहासिक वातावरण को लेकर एक मनोरंजक स्वतन्त्र कथानक की सृष्टि की गयी है। इसमें 'वर्माजी ने कुछ पात्रों के नाम ऐसे दिये हैं जो ऐतिहासिक पुरुष तो हैं किन्तु यदि उन्हे हम ऐतिहासिक पुरुष मान भी लेते हैं तो इस उपन्यास में उपन्यासकार की एक बड़ी भारी भूल उभड़ कर सामने आ जाती है, जो इसको ऐतिहासिक औपन्यासिकता पर पानी फेरे बिना नही रह सकती। 'वर्माजी' ने स्वयं स्वीकार किया है: "अनेक कालो की सची घटनाओं का एक ही समय में समावेश कर देने के कारण मैं इस पुरुष के सम्बन्ध की घटनाओ को दूसरी घटनाओ से अलग करके बतलाने में असमर्थ हूँ।' ऐतिहासिक उपन्यासकार को केवल इतनी छूट है कि वह इतिहास प्रचलित अनेक सत्यों में से किसी एक को सत्य मानकर अपने उपन्यास के कथानक की सृष्टि कर सकता है। वह कभी देश-काल को सीमाओ की उपेक्षा करके विभिन्न काल की घटनाओं एवं पात्रों को एक साथ लाकर चित्रित नही कर सकता। यद्यपि 'वर्माजी' ने उपन्यास की भूमिका में अपने उपरोक्त दोष का संकेत पाठकों की जानकारी के लिये कर दिया है, फिर भी वह दोष तो माना ही जायगा यदि हम उनके पात्रों को ऐतिहासिक पुरुषों के रूप में स्वीकार करते हैं। इस प्रकार के दोष वर्माजी के अन्य ऐतिहासिक उपन्यासों में भी पाये जाते हैं। इन्होंने अपने प्रमुख ऐतिहासिक उपन्यास 'मृगनयनी' में भी ऐसे प्रसंगों सृष्टि की है।

देश और काल की सीमाओ की तो उन्होंने उपेक्षा की ही है, इसके अतिरिक्त ऐतिहासिक पात्रो की ऐतिहासिकता में भी उन्होने आमूल परिवर्तन कर दिया है जिसे उन्होने उपन्यास की भूमिका में स्वीकार भी किया है। "जनार्दन शर्मा का वास्तविक व्यक्तित्व एक दुःखान्त घटना है। जिस तरह जनार्दन ने जाल रचकर देवीसिंह को राज्य दिलाया था उसी तरह वह इतिहास और किंवदन्तियो मे भी प्रसिद्ध है, परन्तु वास्तविक जनार्दन का अन्त बड़ा भयानक हुआ था। कहा जाता है, राजा नायकसिंह के वास्तविक नामधारी राजा के मरने के बाद उनकी रानी ने प्रण किया था कि जब तक जनार्दन (वास्तविक व्यक्ति) का सिर काटकर मेरे सामने नहीं लाया जायगा तब तक मैं अन्न ग्रहण न करूँगी। रानी का एक सेवक जब उस बेचारे का सिर काट लाया तब उन्होंने अन्न ग्रहण किया। किन्तु उपन्यास के अन्दर उपन्यासकार ने 'जनार्दन शर्मा' का सिर सलामत रखा है। उन्होंने राजा नायकसिंह की छोटी रानी से प्रण तो अवश्य करवाया है कि जब तक मंत्री जनार्दन शर्मा का सिर काटकर उनके सामने नही आ जाता, तब तक वे अन्न ग्रहण नहीं करेंगी, पर उन्होंने कुशल सेवक रामदयाल की सृष्टि करके उन्हें अन्त तक धोखे में रखा। वास्तविक घटना की जब व्यवस्था उपन्यास के अन्दर न हो सकी तो उपन्यासकार ने उसे ऐसा तोड़ा-मरोड़ा कि उसमें आमूल परिवर्तन उपस्थित हो गया। उपन्यासकार की उपरोक्त ऐसी दो भूलें अथवा अनाधिकार

चेष्टाएँ हैं जिन्हें कोई भी समीक्षक ऐतिहासिक उपन्यासों की व्याख्या करते समय क्षमा नहीं कर सकता। इससे अच्छा होता यदि उनके तथा कथित ऐतिहासिक पुरुषों के दावे को झूठा मान लिया जाता क्योंकि उससे इतना तो कल्याण अवश्य होता कि उपन्यास की कलात्मक व्याख्या तो प्रस्तुत की जा सकती।

किसी सीमा तक यह स्वीकार किया जा सकता है कि उपन्यास का कथानक उन ऐतिहासिक कथाओं पर आधारित है जिन्हें इतिहास का नाम नहीं मिल पाया है। अनेक ऐसी महत्वपूर्ण घटनायें हैं जिन्हें लिपिबद्ध होने का सौभाग्य तो आरम्भ में नहीं प्राप्त हो सका किन्तु जनश्रुतियों के आधार पर वे आज तक जीवित रहीं और आज उन्हें इतिहास की प्रामाणिक घटना माना जाने लगा है और बहुत-सी ऐसी घटनायें भी हैं जो इतिहास के पन्नों पर न आने तथा देश-काल के अन्तर पड़ने के कारण काल-कवलित हो गयीं जिससे आज उनका कोई भी रूप हमारे सामने नहीं रह पाया है। यदि 'विराटा की पद्मिनी' की कथा को हम उन्हीं जन-श्रुतियों के आधार पर ऐतिहासिक स्वीकार कर लें तो कोई विशेष कठिनाई नहीं। 'वर्माजी' ने पुस्तक की भूमिका में स्वीकार किया है कि मैंने 'विराटा की पद्मिनी' की कथा 'सुरतान पुरा' (परगना मौठ, जिला झांसी) निवासी श्री नन्दू पुरोहित से सुनी। 'विराटा की पद्मिनी की कहानी उन्होंने सुनाई थी। यह कहानी सुनकर मुझे उस समय तो क्या सुनने के बाद भी बड़ी देर तक नींद न आयी।' इसके अतिरिक्त उपन्यासकार का दावा है कि उसने विराट, रामनगर और मुसावली की दस्तूर-देहियाँ सरकारी दफ्तरों में भी पढ़ीं जिनमें पद्मिनी के बलिदान का सूक्ष्म वर्णन था। इसमें सत्यता का कितना अंश है उसे उपन्यासकार ही जाने, क्योंकि यह कथा क्षेत्रीय है जिसका उससे जन्म का सम्बन्ध है 'वर्माजी' की यह अपनी एक विशेषता रही है कि उन्होंने अपने क्षेत्र बुन्देलखंड को अपने उपन्यासों में अधिकाधिक स्थान दिया है जिससे उनकी रचनाओं के माध्यम से बुन्देलखंड का क्षेत्रीय जीवन उभड़कर सजीव रूप में चित्रित हो उठा है। इसके साथ ही साथ यह भी सत्य है कि क्षेत्रीय मोह के कारण उपन्यासकार के पात्रों में अतिरंजना की मात्रा सर्वत्र विद्यमान है जिससे ऐतिहासिक वातावरण की सारी सुव्यवस्था ढीली पड़ जाती है और उपन्यास की यह त्रुटि पाठक को बिना खटके नहीं रह सकती। यह दोष "विराटा की पद्मिनी' में 'वर्माजी, के अन्य सभी ऐतिहासिक उपन्यासों से अधिक है। उपन्यास की नायिका 'पद्मिनी' का चित्रण इतना अतिरंजित हो गया है कि पाठक की सहज स्वाभाविक बुद्धि सन्तुलन खो बैठती है और वह उपन्यास को और शंकालु नेत्रों से देखने लग जाता है, जिसकी चर्चा हम आगे करेंगे।

जहाँ तक ऐतिहासिक वातावरण का प्रश्न है 'विराट की पद्मिनी' बहुत ही सजीव एवं यथार्थ ऐतिहासिक वातावरण उपस्थित करता है और औपन्यासिकता की दृष्टि से भी यह उपन्यास बहुत ही सुन्दर बन पड़ा है परन्तु इसमें जहाँ तक इतिहास का प्रश्न

है, ऐतिहासिक है ही नहीं। 'वर्माजी' के अधिकांश ऐतिहासिक उपन्यासों की महत्व-पूर्ण घटनाओं का संचालन स्त्रियाँ ही करती हैं और वे ही उपन्यास की प्रधान पात्र होती हैं जैसे 'झाँसी की रानी' में महारानी लक्ष्मीबाई तथा 'मृगनयनी' में मृगनयनी आदि। इस उपन्यास की प्रधान नायिका 'विराटा की पद्मिनी' है, जिसे घेरकर उपन्यास की सारी कथा चलती है। एक प्रकार से यदि हम देखें तो इसमें विराटा की पद्मिनी के सम्बन्ध में उतना नहीं लिखा गया है जितना उसके सम्पर्क में आनेवाले पात्रों के सम्बन्ध में। उपन्यास के प्रारम्भ होने के पश्चात् उपन्यास का कथानक विराटा की पद्मिनी को छोड़कर राजनैतिक दाँव-पेंच में उलझ जाता है जिससे वह पाठकों के समक्ष चर्चा का विषय नहीं रह पाती। एकमात्र कुंजरसिंह का उसके प्रति आकर्षण आद्योपान्त उसकी कहानी के क्रम को जीवित रखता है और वह निःसन्देह उपन्यास की प्रधान नायिका बनने की अधिकारिणी बन जाती है।

उपन्यास की कथा का सृजन इस प्रकार हुआ है कि वह ठीक-ठीक जन-श्रुतियों पर आधारित जान पड़ती है, जिनमें ऐतिहासिक प्रसिद्धियों का अपने आप से संयोग होता गया है। देश में मुसलमानों के आ जाने और सत्तारूढ़ हो जाने से यह एक साधारण-सी बात हो गयी थी कि सुन्दर हिन्दू-बालिका भयंकर युद्ध का कारण बनती थी। कथाकारों तथा राष्ट्र-नायकों को भारतीय संस्कृति पर मरमिटने की आन को प्रदर्शित करने का इससे अच्छा अवसर भी नहीं मिलता था जिससे प्रत्येक कल्पित वीरतापूर्ण घटनाओं में इस प्रकार का प्रसंग जोड़ देना एक प्रकार का प्रचलन हो गया। 'विराटा की पद्मिनी' की कल्पित कहानी में ऐसे प्रसंगों का आधिक्य है। 'विराटा की पद्मिनी' जिसका असली नाम 'कुमुद' था, का जन्म पालर में एक योगी के घर हुआ था। उसका अलौकिक सौंदर्य उसके परिवार तथा गाँव के लिए एक अघटित घटना थी जिससे वहाँ के लोगों ने एक स्वर से उसे देवी का अवतार मान लिया। उसके रूप को ख्याति दूर-दूर तक फैली जिससे उपन्यास का सारा कथानक सिमिट कर उसके निकट आने लगा। जिस समय कुमुद के लावण्य की ख्याति दूर-दूर फैल रही थी उसी समय निकटवर्ती राज्य दलीपनगर पर राजा नायक सिंह राज्य करते थे जिनकी दो रानियाँ थीं। रानियाँ निःसन्तान थीं किन्तु राजा का एक दासी-पुत्र कुंजरसिंह था। समय पाकर दासी-पुत्र कुंजरसिंह और कुमुद का साक्षात्कार हुआ। दोनों के हृदय में परस्पर मधुर भाव का उदय हुआ जो कुंजरसिंह के पक्ष में शीघ्र ही प्रेम का रूप धारण करता गया और 'कुमुद' भी उसके प्रति साहचर्यगत अनुराग का अनुभव करने लगी, इसमें सन्देह नहीं। उसी समय कालपी पर नवाब अलीमर्दान का शासन था, जो 'कुमुद' को प्राप्त करने का प्रयास करने लगा। राजा नायकसिंह निःसन्तान थे किन्तु वे अधिक कामुक थे। बुढ़ापे में उनकी कामुकता और भी अधिक बढ़ गयी जिससे 'कुमुद' को प्राप्त करने की उनके मन में प्रबल इच्छा जग पड़ी। 'कुमुद' की पालर में उपस्थिति

के कारण नायकसिंह और अलीमर्दान की सेनाओं में मुठभेड़ हो गई जिसमें देवीसिंह नामक एक अपरिचित क्षत्रिय ने, जो राजा का सगोत्री था और मौर बाँध कर ब्याह करने जा रहा था, घायल राजा नायकसिंह की जान बचाई जिससे वह राजा की कृपा का पात्र बना। लोचनसिंह राजा का सेनापति था और जनार्दन शर्मा, असली राज्य-मंत्री के किसी अपराध में बन्दी हो जाने के कारण, मन्त्री का सारा कार्य करता था। राजा की मृत्यु के पश्चात् राज्य देवीसिंह को ही मिला जिसमें जनार्दन शर्मा के षड्यंत्र का बहुत बड़ा हाथ था। छोटी रानी राज-सत्ता स्वयं हथियाना चाहती थीं, कुंजरसिंह गद्दी न पाने के कारण विद्रोही हो गया और अलीमर्दान से युद्ध राजा के समय से ही चल रहा था, इस प्रकार आंतरिक और बाह्य युद्ध उग्र रूप में चलने लगा। अलीमर्दान 'विराटा' पर चढ़ दौड़ा। वहीं कुञ्जरसिंह मारा गया और कुमुद ने जल-समाधि ले ली। यही मुख्य कथा है। 'विराटा की पद्मिनी' की प्रासंगिक कथाएँ भी इनके अन्य गढ़-कुंढार ऐसे ऐतिहासिक उपन्यासों की कथाओं की अपेक्षा एक-दूसरे से अधिक गुथी हुई हैं। वे एक-दूसरे का कारण बन कर कथा को आगे बढ़ाती हैं। वर्माजी ने कथानक का गठन इस कौशल से किया है कि प्रत्येक पक्ष की मर्यादाएँ अक्षुण्ण हैं। विद्रोही कुञ्जरसिंह परिस्थितिवश छोटी रानी के साथ अलीमर्दान की सेना से जा मिलता है और देवीसिंह की सेना को हराता है, किन्तु उसके सहयोग से राज्य प्राप्त करने का वह पक्षपाती नहीं है। वह अलीमर्दान का भी अन्त इसीलिये करना चाहता है कि वह उसकी प्रेमिका 'कुमुद' को ले जाना चाहता है। यही कारण है कि वह उन सब का भी साथ छोड़कर चला जाता है या निकाला जाता है। 'कुमुद' भी अपने पिता के साथ अलीमर्दान के डर से विराटा पहुँचती है जहाँ कुञ्जरसिंह उससे जाकर मिलता है। यहीं से मुख्य कथा में फिर से बड़ा बल आ जाता है जिसमें रामदयाल और गोमती, जो देवीसिंह की होने वाली पत्नी थी और नायकसिंह के बचाने में देवीसिंह के घायल होने के कारण न हो सकी थी, के सम्बन्ध को कथा भी बड़ा योग प्रदान करती है। कथा के स्वाभाविक प्रवाह और एकसूत्रता तथा चुस्ती का जो उदाहरण वर्माजी ने अपने इस उपन्यास में दिया है वह उनके अन्य ऐतिहासिक उपन्यासों में कहीं नहीं मिलता।

मैंने ऊपर संकेत किया कि यह उपन्यास एक सुन्दर ऐतिहासिक वातावरण उपस्थित करता है। इस उपन्यास के अन्दर मुख्यतः राजनैतिक तथा सामाजिक चित्रों की झाँकी दिखाने का लेखक ने प्रयत्न किया है। 'विराटा की पद्मिनी' का ऐतिहासिक काल भारतीय इतिहास का यह समय है जब मुगल-वंश के वैभव का पराभव के बाद समस्त उत्तरी भारत विभिन्न छोटी-छोटी स्थानीय रियासतों में विभक्त हो गया था, जिनकी रक्षा नवाब और हिन्दू राजा निम्नस्तर के राजनीतिक षड्यन्त्रों और कुचक्रों तथा धूर्तता से करते थे। किसी व्यापक राष्ट्रीय भावना का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। हिन्दू ऐक्य के आधार पर मुस्लिम सत्ता का प्रतिरोध का जोश ठण्डा-सा पड़ गया था। वैसे धर्म

के नाम पर तलवारें अब भी चमकती थीं। दिल्ली की नाममात्र की अधीनता समीपवर्ती रियासतें प्रत्यक्ष तो मानती थी, लेकिन वह अधीनता या तो स्वत्व रक्षा के हेतु होती थी या अपने कुचक्रों के आवरण के लिए। दिल्ली की मुसलमानी बादशाहत डगमगा रही थी। उसके अन्दर इतनी शक्ति नहीं रह गयी थी कि वह नगर में भी शान्ति कायम रख सके। राजा और नवाब अपने-अपने स्थान पर स्वतन्त्र होते जा रहे थे। परन्तु इतना अवश्य है कि हिन्दू राजाओं की वह स्थिति कभी भी नहीं रही जो कि नवाबों की थी किन्तु लेखक ने राजा नायकसिंह को उतना ही स्वतन्त्र दिखलाया है जितना कि 'अलीमर्दान' को। अवश्य ही दो विभिन्न राजनैतिक परिस्थितियों को उसने एक साथ ला खड़ा किया है। जहाँ तक उत्तराधिकार नियम का सम्बन्ध है बहुत पहले से ही दासी पुत्रों के लिए किसी भी प्रकार की राज्याधिकार व्यवस्था वर्णाश्रम धर्म ने नहीं की थी। उसने राजाओं के लिए रखैलियों को रखने की अनुमति तो दे रखी थी किन्तु उनसे उत्पन्न सन्तान के लिए किसी भी प्रकार की व्यवस्था नहीं थी जिससे वे वर्णाश्रम व्यवस्था को चकनाचूर करने के लिए भरपूर कोशिश कर रहे थे। पर यह स्थिति उस समय उत्पन्न हो चुकी थी जब भगवान् बुद्ध के निर्वाण को थोड़े ही काल बीते थे। वर्माजी ने इस उपन्यास में इस समस्या को स्पष्ट नहीं किया है। कथानक तथा घटना से यह स्पष्ट नहीं होता कि वे कहना क्या चाहते हैं। कुमुद के प्रसंग के पूर्व राजा नायकसिंह का अनुराग यह कभी भी नहीं बताता कि वे कुंजरसिंह को राज नहीं देना चाहते, किन्तु लेखक ने युद्ध-भूमि में राजा से देवीसिंह के सम्बन्ध में यह कहलाकर कि मैं तुम्हें बहुत बड़ी वस्तु दूंगा, समस्या को जटिल बना दिया है। यदि हम राजा की प्रतिज्ञा की ओर ध्यान देते हैं तो निश्चय हो जाता है कि मरते समय बार-बार देवीसिंह का नाम लेना स्पष्ट अर्थ रखता है कि वे उसे गोद लेना चाहते थे जो न कर सके। यदि गोद की क्रिया पूरी न हो सकी तो यह भी प्रथा पाई जाती थी कि मरते समय राजा जिस किसी निकट के व्यक्ति का नाम ले लेता था, वह उत्तराधिकारी घोषित कर दिया जाता था। इस प्रकार कुंजर सिंह के उत्तराधिकारी घोषित होने में किसी भी प्रकार का सन्देह नहीं रह जाता। ऐसी स्थिति में जनार्दन शर्मा की सारी व्यवस्था को यदि षड्यन्त्र मान लें तो कुंजरसिंह का और भी समर्थन हो जाता है। पर हम देखते हैं कि राजधानी में एक और भी चर्चा है। कुंजरसिंह का तो प्रश्न ही नहीं आता क्योंकि वह दासीपुत्र है और देवीसिंह को उन्होंने गोद नहीं लिया जिससे वे वास्तविक राज्याधिकारी नहीं हुए; बल्कि जनार्दन शर्मा की मक्कारी थी जो राजवंश को खतरे में डाल रही थी। अतः रानी के उत्तराधिकार के भी समर्थक थे ऐसा जान पड़ता है। उपन्यासकार ने जो ऐसी समस्या उत्पन्न कर दी है और उसका कोई हल उपस्थित नहीं कर सका है, इससे ज्ञात होता है कि यह उसका अभिप्रेत विषय नहीं है; बल्कि उसने कथानक को आगे बढ़ाने के लिए ऐसी घटनाओं

की कल्पना की है जिससे यदि हम इसे ऐतिहासिक तथ्य के रूप में स्वीकार करेंगे तो हमारी भूल ही होगी।

इस उपन्यास की घटनाओं को अंशतः ऐतिहासिक मानना ही समीचीन होगा। जहाँ तक तथ्यों का प्रश्न है यदि हम इस उपन्यास में ऐतिहासिक तथ्यों को ढूँढ़ेंगे तो हमें निराशा होगी। किन्तु साथ ही साथ इसके ऐतिहासिक वातावरण की यथार्थता पर अविश्वास नहीं किया जा सकता। श्री शिवनारायणजी के शब्दों में स्वीकार किया जा सकता है कि "यह ऐतिहासिक भूमिका में प्रस्तुत ऐतिहासिक रोमांस मात्र है।" लेखक ने जिस ऐतिहासिक रोमांस की सृष्टि की है वह पद्मिनी को घेरकर चलता है। उपन्यास की नायिका का नाम पद्मिनी नहीं वरन् वह उसका विशेषण है। इस विशेषण-सूचक शब्द से अनजान पाठक के सामने जौहर की ज्वाला का दृश्य आ जाता है, किन्तु यह जौहर-पथ पर अग्रसर होने वाली पद्मिनी नहीं बल्कि नायिका-भेद में सर्वोत्तम मानी जानेवाली नायिका पद्मिनी है, जिसमें प्रधानता रूप की है न कि गुण की। यद्यपि लेखक का अभिप्राय 'कुमुद' के अनुपम रूप-लावण्य से प्रेरित रोमांस की ही चर्चा है, फिर भी उसने कथा का विकास इस ढंग से किया है कि अन्त नायिका के बलिदान से ही होता है। अन्तर केवल इतना ही है कि उसने जौहर की ज्वाला में नहीं बल्कि जल-तरंगों में अपनी आहुति दी।

उपन्यास की नायिका 'कुमुद' है इसमें दो मत नहीं। लेकिन परम्परागत मान्यताओं के आधार पर नायक की भी खोज निकालने की कसरत की जाय तो वह उपन्यास और उसके पात्रों के साथ अन्याय होगा। देवीसिंह वीर है; युद्ध उसका जीवन है। विपरीत परिस्थितियों में धैर्य धारण करने की क्षमता उसमें है और अपने इन गुणों का परिचय भी वह अनेक स्थलों पर देता है; पर प्रेमी पाठक की सहानुभूति उसे कहाँ मिलती है जो कुञ्जरसिंह को, इसके कई कारण हैं। देवीसिंह जनार्दन के कुचक्रों की सहायता से राज्य प्राप्त करता है, वह राज्य का वास्तविक अधिकारी नहीं। राज्य-प्राप्ति के पश्चात् दिलीपनगर की रक्षा के हेतु, कुञ्जरसिंह और छोटी रानी के प्रतिरोध में अपने धैर्य और सैनिक कुशलता का परिचय तो वह देता है लेकिन वह बुन्देला मर जाता है, जो पालकी से उतरकर मुसलमान को खड्ग का लक्ष्य बनाते समय था। अपनी वाग्दत्ता पत्नी गोमती का विस्मरण कर अपने मन से भले ही वह राज-गौरव की महत्ता की अनुभूति कर पाया हो लेकिन तत्वतः वह एक दम्भी बनकर अपने आदर्शों से च्युत हो जाता है। अलीमर्दान का प्रतिरोध वह 'कुमुद' और मंदिर की रक्षा के लिए कम, कुञ्जर और छोटी रानी को समाप्त कर दिलीपनगर को निष्कंटक बनाने के लिए अधिक करता है। निर्भीक और कटु लेकिन सत्यभाषी लोचनसिंह अन्तिम समय में उसका साथ छोड़ देता है। देवीसिंह द्वारा पाठकों की सहानुभूति प्राप्त न कर सकने का एक और कारण है कि पाठक की सहानुभूति अधिकारच्युत राजकुमार कुञ्जर के प्रति हो जाती

है। कुञ्जरसिंह आद्यान्त कुमुद का कृपापात्र बना रहता है तथा कुमुद का यह स्नेह और प्यार सम्पूर्ण उपन्यास के मार-काट के बीच कथा का सूत्र बना रहता है।

जनार्दन शर्मा का निर्माण करते समय लगता है वर्माजी के सामने महान् राजनीतिज्ञ 'चाणक्य' का चरित्र अवश्य था। पर न तो वह 'चाणक्य' ही बन पाया है न 'जनार्दन' ही। जनार्दन शर्मा का निर्माण उस समय की अस्थिर और षड्यंत्रपूर्ण राजनीति के अनुरूप ही हुआ है, यद्यपि यह चित्रण इतिहास के जनार्दन शर्मा से भिन्न है॥ इस भिन्नता का संकेत लेखक ने स्वयं किया है। राजनीति का यह षड्यंत्र उसे राज नायकसिंह की हत्या के असफल प्रयत्नों तक ले गया है। जनार्दन शर्मा (उपन्यास का) परवर्ती मध्यकालीन भारत की उस राजनीति का संचालक है, जिसमें मंत्री को व्यक्तिगत मानापमान को त्याग कर सब कुछ करना पड़ता था। ऐतिहासिकता की सीमा से बाधित होने के कारण किसी सशक्त मन्त्री के रूप में जनार्दन शर्मा का चित्रण सम्भव न था, यद्यपि इतिहास से दूर रहकर लेखक ने भरसक उसका प्रयत्न किया है।

अन्त में कुञ्जरसिंह ही एक ऐसा व्यक्ति बच रहता है जिस पर पाठक की दृष्टि जमती है। वह फल का भोक्ता तो नहीं है बल्कि विपत्तियों का मारा ही है और अपनी अन्तिम अभिलाषा को मन में ही लिए देवीसिंह की तलवार में सर्वदा के लिये मौन हो जाता है, लेकिन पाठक की सहानुभूति इसलिए रहती है कि उपन्यास की नायिका का एकमात्र सच्चा प्रेमी वही है, जिसके सम्पर्क में आकर पत्थर की देवी 'कुमुद' का भी मन ढीला हुआ। आरम्भ में कुञ्जरसिंह चाहे जो कुछ रहा हो, अन्त में वह शुद्ध प्रेमी ही रह पाया। एक प्रकार से उत्तराधिकारी होते हुए राज्य न पाने पर उसने जो विद्रोह किया, वह भी हम देखते हैं, धीरे-धीरे प्रेम की शीतल छाया में ठण्डा पड़ गया और अन्त में वह यहाँ तक भी तैयार हो जाता है कि सारे विद्रोह समाप्त हो जायँ किन्तु 'पद्मिनी' सुरक्षित रहे। अलीमर्दान के हितैषी होने पर भी वह उसे शत्रु इसीलिये समझता है कि वह 'पद्मिनी' पर कुदृष्टि रखता है। उसके प्रेमी जीवन में कहीं भी उच्छृङ्खलता नहीं आने पाई है। वह प्रेम की वेदी पर अपना सब कुछ बलिदान करने को तैयार है, पर साथ ही साथ उसे अपनी प्रेम की देवी की मर्यादा का पूरा-पूरा ध्यान है, जिसे उसने अन्त तक निभाया है। कुञ्जरसिंह में मानव-सुलभ सभी बातें विद्यमान हैं। वह एक वीर, साहसी और कुशल सैनिक योद्धा है, यह उसके गुणों की ही विशेषता है कि जिसके चरणों पर सारा जमाना लोटता था, उस पत्थर के समान देवी कुमुद का भी हृदय पिघल कर प्रेम-नीर बनकर वह निकला और यदि युद्ध का परिणाम अनुकूल हुआ होता तो इसमें सन्देह नहीं कि 'कुमुद' का उदात्त यौवन कुंजर के आलिंगन में आबद्ध होता। इस प्रकार हम देखते हैं कि 'विराट की पद्मिनी' के बाद सबसे आकर्षक चरित्र 'कुञ्जर' का ही है जो उपन्यास का नायक होने का अधिकारी जान पड़ता है।

'कुमुद' का निर्माण लेखक ने सामान्य धरातल से ऊपर किया है, जिससे उसका चरित्र अत्यन्त अस्वाभाविक है। आदर्श का बोझ उसके ऊपर इतना अधिक लाद दिया गया है कि वह उस गट्ठर को कभी नहीं फेंकती। यह जानना कठिन हो जाता है कि उसे देवी बनाकर जो आडम्बर रचा गया है जिसमें उसके लालची पिताका विशेष हाथ है, उसे वह जानती है अथवा नहीं। इसके अतिरिक्त वह कुंजर सिंह को प्रेम करती है अथवा उसके भोलेपन पर कृपा करती है? लड़कपन से ही उसे बुजुर्गी का ऐसा जामा पहनाया गया कि उसे वह अन्तिम क्षण तक न फेंक सकी। वह जिस किसी के भी सम्पर्क में आई चाहे वह कुंजर सिंह रहा हो अथवा उसकी सहेली 'गोमती', सामान्य नारी धरातल से ऊपर ही रही। यह उपन्यास ऐतिहासिक नहीं वरन् ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में, वातावरण में लिखा ऐतिहासिक रोमांस है। यह रोमांस अनुपम सुन्दरी दासी-पुत्री कुमुद और दलीपनगर के अधिकारच्युत दासी-पुत्र कुंजर को लेकर है। कुमुद श्रद्धालु हिन्दुओं द्वारा साक्षात् दुर्गा की अवतार मान लिए जाने के कारण, जीवन के अन्तिम क्षणों तक एक अलौकिक नारी के रूप में ही रहती है। उसका स्वभाव, क्रियाकलाप सभी कुछ साधारण प्रेमिका के ऊपर ही रहा है। सम्पूर्ण उपन्यास की लड़ाई और घेरेबन्दी के बीच यह प्रेम-सम्बन्ध-सूत्र का काम करता है। बुन्देलखण्ड की पहाड़ियों के बीच छोटी-छोटी कलकल प्रवाहित पहज और बेतवा आदि नदियाँ उपन्यास को भी सरस बनाती हैं। कुंजर सिंह और कुमुद का यह मौन प्रेम व्यापार शुष्क मरुस्थल में प्रवाहित नदी की भाँति है। वर्माजी के उपन्यासों के बारे में चर्चा करते मेरे एक मित्र ने कहा था कि उनके उपन्यासों की तुलना रंगमंच के उस अभिनय से की जा सकती है जिसमें दर्शक नेत्रों के समक्ष तो मार-पीट के दृश्य देखता है लेकिन यवनिका की पृष्ठभूमि में एक मोहक करुण और मधुर संगीत प्रवाहित रहता है तथा संगीत का यह स्वर कभी-कभी इतना स्पष्ट और तीव्र हो जाता है कि सामने के दृश्य लुप्त से जान पड़ते हैं। विराटा की पद्मिनी में यह स्वर करुण अधिक रहा है मधुर तो है ही।

कुछ चरित्रों का निर्माण जैसे राजा नायक सिंह तथा सैनिक लोचनसिंह का वातावरण के अनुकूल हुआ है। रामदयाल की नीचता का सजीव चित्र तो लेखक ने उरेहा है किन्तु वह जिस प्रकार जासूसी करके उपन्यास की कथा को आगे बढ़ाता है वह अत्यन्त अस्वाभाविक है। गोमती और उसका प्रणय प्रसंग खिलवाड़-सा लगता है जिस पर लेखक ने पन्नों खर्च कर डाले हैं।

रचना की दृष्टि से यह उपन्यास लेखक के अन्य ऐतिहासिक उपन्यासों से अधिक कलात्मक और मनोरंजक है।

चित्रलेखा

भगवतीचरण वर्मा का 'चित्रलेखा' उपन्यास समाज के सामने एक समस्या लेकर उपस्थित हुआ। इस उपन्यास के व्यापक प्रभाव से इतना तो स्पष्ट ही हो जाता है कि

समाज अपनी चली आती मान्यताओं को ही जो अन्तिम सत्य मान बैठता है, वह नितान्त भ्रान्तिमूलक है क्योंकि परिस्थितियों के कारण मान्यताएँ बनती बिगड़ती रहती हैं। "पाप क्या है और उसका निवास कहाँ?" यही इस उपन्यास की वास्तविक समस्या है। "परिस्थितियों के आवर्त में कुमारगिरि का संयम स्खलित होता है, उसका गर्व खर्व होता है। इधर परिस्थितियों के प्रभाव में ही भोगी बीजगुप्त एक महान त्यागी बन जाता है।"[१] साधारणतः जिसे हम अच्छा समझते हैं वह बुरा ठहरता है और बुरा हमारे लिए अन्त में अच्छा बन जाता है। जिस बीजगुप्त को हम एक विलासी तथा दुर्बलताओं का दास समझते हैं वही देवता और त्याग की मूर्ति के रूप में प्रकट होता है तथा कुमारगिरि जिसे हमने योगी एवं महात्मा समझा था वह राक्षस और पशु बन जाता है।

इसे स्वीकार किया जा सकता है कि चित्रलेखा स्पष्टतः सोद्देश्य है अतएव इसकी घटनाएँ एवं उनकी संघटना एक पूर्वनिश्चित योजना के अनुसार है। कथा का आरम्भ उसका विकास एवं अन्त सभी पहले से निश्चित करके ही लेखक ने लेखनी उठाई होगी। इस प्रकार के उपन्यासों में कृत्रिमता आ जाने की सम्भावना रहती है। जीवन की गति किसी निश्चित योजना पर अवलम्बित नहीं है।......चित्रलेखा की सभी घटनाएँ पूर्वनिश्चित हैं सही किन्तु कलाकार के कौशल ने उन्हें इस प्रकार नियोजित किया है कि उनमें यन्त्रवत् शुष्कता अथवा कृत्रिमता नहीं आने पाई।"[१] किन्तु उपन्यास की सरसता एवं स्वाभाविकता का एकमात्र कारण उपन्यासकार का कौशल ही नहीं है, बल्कि यह है कि यह उपन्यास सोद्देश्य होने से कहीं अधिक एक रूपवती नारी की सरस गाथा है, रूप ही जिसकी शक्ति है, समाज की थोथी मर्यादाएँ जिससे आकर टकराती हैं और चूर हो जाती हैं, सांसारिक अनुभवों के कारण जिसने अपने पर काबू पा लिया है, जो सिद्धान्त की पाषाण-प्रतिमा ही नहीं बल्कि सांसारिक विलास की मूर्ति भी है, जिसका आत्मबल इतना महान है कि सारा जमाना चरण चूमने को लालायित रहता है किन्तु निकट तक भी नहीं पहुँच पाता, जिसकी कृपा से ही लोग उसके निकट पहुँच पाते हैं जो सम्पूर्ण समाज में बीजगुप्त से व्यक्ति कहीं एक होते हैं, समाज की महत्त्वपूर्ण समस्याएँ जिससे उत्पन्न होती हैं और जो उनका समाधान भी है।

हम इसे भी अस्वीकार नहीं कर सकते कि उपन्यास का मूल बिन्दु एक समस्या है, (पाप क्या है?) जबकि उपन्यासकार प्रारम्भ में ही उसे घोषित कर देता है। 'चित्रलेखा' में एक समस्या है, मानव-जीवन के तथा उसकी अच्छाइयों और बुराइयों के देखने का मेरा अपना दृष्टिकोण है।"[२] प्रस्तावना में ही लेखक श्वेतांक और विशाल देव के

१—हिन्दी उपन्यास—(शिवनारायण श्रीवास्तव)
२—'चित्रलेखा'—(भगवतीचरण वर्मा)

माध्यम से उपन्यास की मूल समस्या उपस्थित करता है। वे प्रश्न करते हैं कि पाप क्या है ? प्रश्न यह नहीं है कि पुण्य क्या है ? किन्तु यह प्रश्न ही ऐसा है कि एक के समाधान से दूसरे का समाधान अपने आप हो जाता है। एक की व्याख्या से दूसरे की व्याख्या अपने आप हो जाती है क्योंकि लेखक ने कुमार गिरि से कहलवाया भी है, "तुम्हें मैं पुण्य का रूप दिखा दूँगा और पुण्य को जान कर तुम पाप का पता लगा सकोगे।" जैसा लेखक का दावा है कि वह अच्छाइयों और बुराइयों को अपने दृष्टिकोण से देखता है, अधिक स्वस्थ नहीं जान पड़ता। यह कभी भी सम्भव नहीं है कि एक व्यक्ति के दृष्टिकोण से समाज के सामूहिक दृष्टिकोण का पता लगाया जा सके। जब तक व्यष्टि और समष्टि का भेद मिट नहीं जाता तब तक सिद्धान्त रूप में कोई भी वस्तु स्वीकार नहीं की जा सकती। इस प्रकार यदि हम यह मान लें कि "संसार में पाप कुछ भी नहीं है" तो इसका यही अर्थ हुआ कि संसार में अच्छाई-बुराई का अस्तित्व ही नहीं है। किन्तु आगे चलकर हमें महाप्रभु रत्नाम्बर के शब्दों में इस समस्या के समाधान का ठोस धरातल दिखलाई पड़ने लग जाता है। उन्होंने प्रारम्भ ही में श्वेतांक से कहा था कि "अच्छी वस्तु वही है जो तुम्हारे साथ अच्छी होने के साथ ही दूसरों के वास्ते भी अच्छी है।"

अच्छी वस्तु, जिसे दूसरे रूप में हम पुण्य कह सकते हैं, की जैसी सुन्दर परिभाषा महाप्रभु रत्नाम्बर ने दी है वैसी अन्यत्र दुर्लभ है। ऐसी स्थिति में एक प्रश्न का उत्तर पाना शेष ही रह जाता है कि "संसार में पाप कुछ भी नहीं है।" इस प्रश्न का उत्तर भी उपन्यास में मौजूद है। इस समस्या को सुलझाने का दृष्टिकोण लेखक का अत्यन्त उदार है जो भारतीय दर्शन पर आधारित है। वह भारतीय दर्शन की उदार व्याख्या के अनुरूप रत्नाम्बर के माध्यम से कहता है—"हम पाप करते हैं न पुण्य करते हैं, हम वह करते हैं जो हमें करना पड़ता है।" और इसकी पुष्टि आगे चल कर वह 'बीजगुप्त' के शब्दों में करता है—"एक अज्ञात शक्ति प्रत्येक व्यक्ति को चलाती है और वह आने वाली समस्त परिस्थितियों को पूर्व जन्म के कर्मों का फल मानता है और वह परिस्थिति चक्र बना है, पूर्वजन्म के कर्मों के फल का विधान।" (बीजगुप्त के शब्दों में)। इसका तो स्पष्ट अर्थ यही हुआ कि मनुष्य स्वयं कुछ नहीं करता; वह परिस्थितियों का दास है। इस प्रकार जब सब कुछ एक अज्ञात शक्ति और परिस्थितियाँ ही कराती हैं तो उसमें मनुष्य का अपना कुछ क्या ? ऐसी स्थिति में उसके द्वारा पाप-पुण्य किये जाने की सम्भावना ही कहाँ रह जाती है ? किन्तु वास्तविक स्थिति ऐसी नहीं है। समस्या का यह समाधान शक्ति वाली दो प्रमुख प्रवृत्तियाँ होती हैं। एक है आध्यात्मिक जिसका सम्बन्ध बहुत कुछ आत्मा से है और दूसरी है भौतिक जिसका बहुत कुछ सम्बन्ध मन से है। परिस्थितियों का अधिक सम्बन्ध भौतिक प्रवृत्ति से है जिसे ही हम समस्या का मूल

नहीं मान सकते। मनुष्य ने समाज के सामूहिक शाश्वत सुख के लिए सामाजिक मर्यादाओं का निर्माण किया है जिसकी रक्षा के लिये व्यक्ति को अनेक स्वार्थों की बलि देनी पड़ती है। ऐसी स्थिति में पाप पुण्य के निर्धारण में परिस्थितियों को ही सब मान लेना उचित नहीं है। हमें एक ऐसे समाधान पर पहुँचना होगा जो व्यक्ति का होकर समाज का भी हो और वह समाधान है महाप्रभु रत्नाम्बर की परिभाषा, जिसे उन्होंने प्रारम्भ में ही श्वेताङ्क से कहा था कि —"अच्छी वस्तु वही है जो तुम्हारे वास्ते अच्छी होने के साथ ही दूसरों के वास्ते भी अच्छी है।"

यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो स्पष्ट हो जायेगा कि चित्रलेखा उपन्यास की प्रमुख समस्या यौन (सेक्स) से सम्बन्धित है न कि पाप पुण्य-सम्बन्धी। इस उपन्यास द्वारा उत्पन्न समन्वित प्रभाव और उसके प्रतिपाद्य विषय की सीमा को दृष्टि पथ में रखते हुए ऐसा लगता है कि पाप पुण्य के स्वरूप को उपस्थित करते समय उपन्यासकार ने अपने को बहुचर्चित एक सामाजिक समस्या (यौन-समस्या) तक ही सीमित कर लिया है। मानव-जीवन का पाट बहुत चौड़ा है, जिसकी सीमा उसके कार्य-विस्तार एवं सामाजिक सबधों तक जाती है न कि केवल स्त्री पुरुष के यौवन सम्बन्धों तक ही। पर लेखक ने उसकी प्रवहमान, वेगवती, शक्तिबहुला-धारा को रूप और यौवन के दृढ़ तटों में ही समाहित कर लिया है। स्त्री-पुरुष के आकर्षण एवं उनकी कामुक चेष्टाएँ अनेक, भावभंगिमाएँ तथा वासनायुक्त मासल अनेक ललित क्रीडाएँ जिसमें स्नानार्थ जाने वाली लेखक की विषम सीढ़ियाँ हैं, जिसमें इतनी फिसलन है कि शारीरिक संतुलन बनाये रखना किसी भी व्यक्ति के लिये सम्भव नहीं है, चाहे वह यौवन मदिरा में आकण्ठ डूबा बीजगुप्त हो अथवा तपोपूत कायाधारी विरक्त तपस्वी कुमार गिरि। उपन्यास की कथा का विकास जिस सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक तथा मौर्य-कालीन राजनैतिक वातावरण में हुआ है, उसमें उपन्यासकार के लिये पर्याप्त अवसर था कि वह पात्रों को जीवन के विविध क्षेत्रों में लेजाकर सामाजिक अच्छाइय।एवं बुराइयों का चित्रण करता जैसा करना उसका मुख्य उद्देश्य रहा है। आरम्भ में ही वर्मा जी ने मानव जीवन की अच्छाइयों एव बुराइयों को अपने दृष्टिकोण से चित्रित करने की घोषणा की है, पर उनका वह दृष्टिकोण मानव-जीवन की पूर्णता पर न पहुँच कर उसके एक दुर्बल अग यौन तक ही सीमित रह गया है। लेखक का विश्वास है और उसमें वास्तविकता का पर्याप्त अंश भी है कि भारतीय समाज ने पाप-पुण्य की एकमात्र कसौटी यौन पवित्रता ही मानी है। अनेक असामाजिक कार्यों में रत, नृशंस, अन्यायी, समाज, राष्ट्र तथा मानवता द्रोही व्यक्ति भी यदि यौन सम्बन्धों में पवित्र है तो हमारा भारतीय समाज एव स्वर से उसे चरित्रवान व्यक्ति के रूप में स्वीकार कर लेगा। पर यदि समस्त मानवतावादी कार्यों में रत, उदार, कर्मठ, समाजसेवी एव

परोपकारी व्यक्ति भी अपने यौन सम्बन्धो को पवित्र नही रख पाया है, तो उसे चरित्र-हीन एवं पापी की सज्ञा दी जाती है। इस प्रकार के सामाजिक दृष्टिकोणो से लेखक का दृष्टिकोण भिन्न है और वह स्त्री-पुरुष के शारीरिक सम्बन्धो को अत्यन्त उदारता पूर्वक देखता है। इस प्रकार मूल समस्या चित्रलेखा में यौन सम्बन्धो है, पाप पुण्य जिससे उत्पन्न होते हैं। यदि यौन सम्बन्धी सामाजिक दृष्टिकोण मे परिवर्तन हो जाय तो पाप पुण्य की परिभाषा का दृष्टिकोण बदल जायेगा। इससे सम्बन्धित दृष्टिकोण व्यक्ति के संस्कारो के अनुसार बनते बिगडते रहते हैं जिससे उसे स्थिर करना कठिन है। जिस प्रकार यौन सम्बन्धी दृष्टिकोण की स्थिरता स्थिरकर्ता के सस्कारो पर निर्भर है उसी प्रकार पाप-पुण्य को परिभाषा भी, जिसका उत्स यौन सम्बन्धो सामाजिक मान्यताओ पर निर्भर है।

लेखक ने रत्नाम्बर से यह कहला कर कि "मनुष्य अपना स्वामी नही है, वह परिस्थितियों का दास है, वह कर्ता नही है केवल साधन है। फिर पुण्य और पाप कैसा ?" उसने पाठको को भ्रम में डाल दिया और इस भ्रम मे डालने का एकमात्र कारण यही है कि वह अपनी इस कृति द्वारा दो ऐसे चरित्रो का निर्माण करना चाहता है जो परस्पर विरोधी होते हुए भी अपने में पूर्ण पराकाष्ठा को पहुँचे हुए हैं।

'चित्रलेखा' को पढ लेने के पश्चात् एक महत्वपूर्ण प्रश्न जागरूक पाठक के मन में उठे बिना नही रह सकता और रूढिग्रस्त भारतीय प्राचीन सभ्यता मे साँस लेनेवाला पाठक तो बिना नाक-भौं सिकोडे भी नही रह सकता। वह प्रश्न है भारतीय सस्कृति की मर्यादा-रक्षा का। सहसा कोई भी कह सकता है कि कुमार गिरि ऐसे सिद्ध योगी को, जिसका "दावा है कि उसने संसार की समस्त वासनाओ पर विजय पा ली है। ससार से उसको विरक्ति है, और अपने मतानुसार उसने सुख को भी जान लिया है, उसमें तेज है और प्रताप है, उसमें शारीरिक बल और आत्मिक बल है। जैसा कि लोगो का कहना है, उसने ममत्व को वशीभूत कर लिया है।" इस प्रकार एक रूपवती नर्तकी द्वारा नीचे गिराना कि उसका सारा-का सारा योगाभ्यास आहत होकर रमणी की मादक उष्ण स्वाँसो से पिघलकर रूपसागर में विलीन हो गया, लेखक की किस समस्या का समाधान है ? क्या उसने इस प्रकार के चित्रण से भारतीय संस्कृति को चोट नहीं पहुंचाई है ! क्या उसने भारतीय योग और आत्मवाद की हँसी नही उडाई है ? परम्पराओ के प्रति इस प्रकार की विरक्ति उत्पन्न करने का प्रयास कहाँ तक उचित कहा जा सकता है ? यदि वे समाज के स्वाभाविक विकास में बाधा नही उत्पन्न कर रही हैं तो। कुमार गिरि का आकस्मिक पतन देखकर पाठक प्रतिपाद्य विषय की सार्थकता पर सोचने अवश्य लग जाता है, किन्तु पूर्णरूपेण विषय की गहनता पर विचार करने के पूर्व यदि उसने अपने निर्णय की घोषणा कर दी तो उसका यह निर्णय स्वस्थ न होगा। मानव जीवन को देखने के अनेक दृष्टिकोण हैं, जिनके लिये आवश्यक नहीं है कि वे परिणाम की एकता में ही

सम्पूर्ण निष्ठा रखें। 'वर्माजी' का अपना अलग दृष्टिकोण है जिसे उन्होंने 'चित्रलेखा' उपन्यास द्वारा प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। वे परिस्थितियों के बीच से होकर विकसित होने वाले मानव-जीवन को श्रेष्ठ समझते हैं न कि परिस्थितियों से दूर रह कर। जिस व्यक्ति ने जीवन में अनुभव ही नहीं किया कि बुरी कही जाने वाली सांसारिक वस्तुओं का मानव-जीवन में क्या स्थान है, और प्रस्तुत स्थिति को ही संसार की सर्वश्रेष्ठ वस्तु मान बैठता है, उसके लिये अवसर आने पर फिसलने की सम्भावनाएँ इसलिये अधिक रहती हैं कि उसने उस राह को जाना ही नहीं जिससे उसे बचना है। ऐसी स्थिति वाले व्यक्ति जब अपनी मर्यादा से स्खलित होते हैं तो वे पुनः इसलिये नहीं उठ पाते कि सदा के लिए समाज में निन्दा के पात्र बन जाते हैं। समाज ऐसे व्यक्ति के क्रमिक विकास से परिचित नहीं रहता बल्कि वह उन्हें अच्छे रूप में जानने का अभ्यासी है, जिससे उन्हें पतित होते देखकर उनके सारे बड़प्पन पर सदा के लिए अविश्वास कर बैठता है। इसके प्रतिकूल परिस्थितियों के बीच से उठ खड़े होने वाले व्यक्ति के साथ जो श्रद्धा एवं सहानुभूति समाज में बनती है, वह स्थायी होती है और ऐसे व्यक्ति जो सांसारिक बुराइयों को दूर से तो जानते हैं, किन्तु उनका अनुभव नहीं किया है, उनके गिरने की सम्भावना तो और भी अधिक रहती है क्योंकि वे बुराइयों से दूर इसलिये भागना चाहते हैं कि उनका अपने पर विश्वास नहीं रहता। ऐसे व्यक्ति जीवन में जब कभी बुरी वस्तुओं के सम्पर्क में आते हैं तो अपने को संभालना उनके लिए असम्भव हो जाता है और उनके गिरते देर नहीं लगती।

'कुमार गिरि' उन लोगों में से नहीं हैं जिन्हें बुराइयों का ज्ञान ही नहीं, बल्कि उन लोगों में से हैं जो बुराइयों से दूर रहना चाहते हैं। उसे इसका ज्ञान है कि किस प्रकार पाप से दूर रहा जा सकता है। वह 'विशालदेव' से कहता है, "पाप क्या है, यह अधिकतर अनुभव से ही जाना जा सकता है और मेरे साथ रह कर तुम्हें पाप का अनुभव न हो सकेगा। मेरा क्षेत्र है संयम और नियम—"संयम और नियम से पाप दूर रहता है।" उपन्यासकार की दृष्टि में कुमार गिरि जीवन की परिस्थितियों से भागा हुआ है, उसमें शक्ति नहीं है कि वह परिस्थितियों से संघर्ष करे, वह पापवृत्तियों को दबा कर पुण्य की प्रतिष्ठा करने की शक्ति नहीं रखता बल्कि उनसे इतनी दूर भागा हुआ है कि वे निकट तक भी न पहुँच पायें क्योंकि वह जानता है कि सम्पर्क में आकर उनसे पीछा छुड़ाना कठिन है, वे उसकी प्रधान वृत्तियाँ हैं, वह हठात् योगी बन बैठा है, वह पलायनवादी है। कठिनाइयों से दूर भाग जाना, परिस्थितियों से पलायन कर जाना मानव की सबसे बड़ी दुर्बलता है और कुमार गिरि संसार का ऐसा ही एक दुर्बल प्राणी है। यदि उसकी साधना तथा योग का विकास भोग विलास की प्रारम्भिक सीढ़ियों से होकर हुआ होता तो उसे योग की पराकाष्ठा पर पहुँच कर उसी भोग-विलास

के लिये नीचे न गिरना पड़ता। तृप्ति के पश्चात् की विरक्ति स्थायी होती है और अतृप्त-विरक्ति को निश्चित ही एक न एक दिन तृप्ति के चरणों को चूमना पड़ता है। 'कुमार गिरि' वासना की शक्ति को जानता है। वह इसे स्वीकार करता है कि "वासना पाप, जीवन को कलुषित बनाने का एकमात्र साधन है। नारी पाप-वासना की जड़ है।" कुमार गिरि के शब्दों में "स्त्री अन्धकार है, मोह है, माया है।" वह नारी-आकर्षण की शक्ति को पहचानता है जिससे वह दूर ही दूर रहा। उसने कभी भी नारी को निकट से नहीं देखा, इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि उसमें नारी के प्रति आकर्षण नहीं। उसमें नारी के प्रति इतना प्रबल आकर्षण है कि वह उसके निकट इसलिये नहीं जाना चाहता कि वह अपनी दुर्बलता पर नियन्त्रण नहीं रख सकता। अपनी दुर्बलताओं के कारण ही वह नारी से दूर भाग कर योग की कन्दरा में आ छिपा है, जो दुर्बलता नारी 'चित्रलेखा' के सम्पर्क में आने पर प्रकट हो जाती है। लेखक का दृष्टिकोण उससे सर्वथा भिन्न है। 'चित्रलेखा' के शब्दों में उसके अनुसार "स्त्री शक्ति है, वह सृष्टि है यदि उसे संचालित करनेवाले व्यक्ति योग्य हैं, वह विनाश है यदि उसे सचालित करने वाले व्यक्ति अयोग्य हैं। इसलिये जो मनुष्य स्त्री से भय खाता है, वह या तो अयोग्य है या कायर।"

'कुमार गिरि' का पतन कराके लेखक भारतीय परम्परा की हँसी नहीं उड़ाना चाहता है, बल्कि वह यह दिखलाना चाहता है कि वासना की मूर्ति नारी से भयभीत होकर जो व्यक्ति स्वाभाविक जीवन से पलायन करके असमय में ही विरक्त हो जाते हैं उनका पतन उसी प्रकार होना है जिस प्रकार योगी कुमार गिरि का पतन हुआ है। मानव नीरस पाषाण-प्रतिमा नहीं है और न तो उसका जीवन ही एकरसता का अक्षुण्ण भाडार है। उनके जीवन में स्वाभाविक उतार-चढाव का आना अनिवार्य है जिसकी प्राकृतिक सीमाएँ हैं। जब कभी वह प्राकृतिक सीमाओं को छोड़कर आगे जाना चाहता है तो उसे असफलता की चट्टानों से टकराकर नीचे आना ही पड़ता है। मनुष्य की इच्छाएँ प्राकृतिक होती हैं जिनके सहयोग से ही मानव अपने संयम-बल को दृढ़ बना सकता है। कुमार गिरि ने इच्छाओं के साथ कभी भी सहयोग नहीं किया। उसने सदैव उन्हें दबाये रखा जिससे अवसर पाकर वे कुसमय ही प्रकट हो गईं। इच्छाओं को दबाने की उसकी अपनी परिभाषा थी, और भ्रम से उसका विश्वास हो गया था कि इच्छाओं को उत्पन्न होने से ही रोका जा सकता है। वह विशाल देव से कहता है, "तुम वासना को त्याग कर अपने मन को शुद्ध करो। यह एक तपस्या है, पर इस तपस्या में दुःख नहीं है। इच्छाओं को दबाना उचित नहीं, इच्छाओं को तुम उत्पन्न ही न होने दो। यदि एक बार इच्छा उत्पन्न हो गयी तो वह प्रबल रूप धारण कर लेगी। इसीलिए तुम्हारा कर्तव्य होगा इच्छाओं को सदा के लिए मार डालना।" इस प्रकार अन्त में हम देखते हैं कि लेखक ने कुमार गिरि के जीवन-दर्शन पर अनास्था प्रकट की है क्योंकि इच्छा न उत्पन्न होने देने का उपदेश

देने वाले कुमार गिरि के मन में इच्छा उत्पन्न होकर ही रहती है। जिस नारी की छाया भी वे अपने ऊपर नहीं पड़ने देना चाहते थे उसी नारी को उन्होने "आलिंगन-पाश में कसकर बाँध लिया, उसके अधर चित्रलेखा के अधरों से मिल गये, उसने कहा, नर्तकी ! मैं तुमसे प्रेम करता हूँ !"

—दूसरी ओर "बीजगुप्त भोगी है, उसके हृदय में यौवन की उमंग है और आँखो में मादकता की लाली। उसकी विशाल अट्टालिकाओं में भोग-विलास नाचा करते हैं; रत्न-जटित मदिरा के पात्रों में ही उसके जीवन का सारा सुख है। वैभव और उल्लास की तरंगो में वह केलि करता है, ऐश्वर्य की उसके पास कमी नहो है। उसमें सौंदर्य है और उसके हृदय में संसार की समस्त वासनाओ का निवास।" उसने अपने प्राकृतिक यौवन का भरपूर आनन्द उठाया और अन्त में उस वस्तु को पा लिया जिसे पाकर भी कुमारगिरि सुरक्षित न रख सका। कुमारगिरि भोग-काल में ही योगी हो गया जिससे उसे पुनः वापस लौटना पड़ा किन्तु बीजगुप्त का चारित्रिक विकास परिस्थितियों के अनुकूल हुआ जिससे भोगी बीजगुप्त योगी और योगी कुमारगिरि भोगी हो गया। यह लेखक का नैतिकता के सम्बन्ध में सामाजिक मूल्य है।

समय के साथ-साथ सामाजिक मूल्यों में भी परिवर्तन होना है और काल तथा परिस्थितियों के अनुसार ही सामाजिक मूल्यो का आकलन किया जाता है। भारतीय समाज की नैतिक मान्यताएँ भी आज वैसी नहीं रह गई हैं जैसी कभी शतियों पूर्व थीं। कभी समय था जब आध्यात्मिक मूल्यो को विशेष महत्व दिया जाता था और आज ऐसा युग आ गया है जब कि भौतिक मूल्यो पर ही विशेष बल दिया जा रहा है। इस दृष्टि से कुमारगिरि योगी का पतन भारतीय परम्परा का उपहास नहीं बल्कि आध्यात्मिकता पर भौतिकता की विजय है। आज विरक्ति से भोग को श्रेष्ठ माना जाने लगा है। उपन्यास के इन्ही दो महान् पुरुष पात्रो के माध्यम से उपन्यासकार ने मानव-जीवन-दर्शन को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है।

पात्रो के चरित्र-विकास के माध्यम से समस्याओ का समाधान उपस्थित करना लेखक की सबसे बड़ी कलात्मकता है। यही कारण है कि समस्या-प्रधान उपन्यास होते हुए भी यह चरित्र-प्रधान उपन्यास है। इसलिये आवश्यक है कि लगे हाथो पात्रों की चारित्रिक विशेषताओ के सम्बन्ध में भी संक्षिप्त जानकारी कर ली जाय। महाप्रभु रत्नाम्बर एक प्रकार से उपन्यास के सूत्रधार हैं जो आरम्भ और अन्त की सूचना देकर चले जाते हैं, विशालदेव भोला शिष्य है जिसे सांसारिक हवा लग ही नहीं पाई है और वह ऐसे गुरु के पास रख भी दिया जाता है जहाँ उसके चरित्र-विकास की कोई सम्भावना ही नहीं है। श्वेतांक को बीजगुप्त के साथ रहने के कारण कुछ अवसर मिलता है। उसमें मनुष्य सुलभ सभी गुण-दोष विद्यमान हैं। वह एक आज्ञाकारी सेवक, साधा-

रण औसत का सरल नवयुवक है और यशोधरा भारतीय महिला की प्रतिमूर्ति है। उपर्युक्त पात्र उपन्यास के कथानक को आगे बढ़ाने तथा समस्याओं को उभाड़ कर लाने का अवसर प्रदान करने के लिये लाये गये हैं जिससे इनके सम्बन्ध में अधिक चर्चा करने की कोई आवश्यकता नही है।

उपन्यास के मुख्य पात्र हैं कुमारगिरि, बीजगुप्त और चित्रलेखा। कुमारगिरि यद्यपि उपन्यास का नायक नही बन पाया है, किन्तु यह इतना महत्वपूर्ण पात्र है कि जिसके अभाव में उपन्यास एक रूपवती नर्तकी और एक विलासी सामंत की प्रेम कहानी बनकर ही रह जाता। इस अद्भुत चमत्कारिक योगी के योग की बलि देकर ही लेखक ने उपन्यास की अपूर्व घटना को प्राणवान बनाया है। उपन्यास के दो पात्र कुमारगिरि तथा चित्रलेखा ऐसे हैं जिन्हे देखकर 'अनातोले' के 'पापनाशी' और 'थायस' का स्मरण हो उठता है। इसमें सन्देह नही कि उपन्यास लिखते समय लेखक के सामने ये दो पात्र उपस्थित थे। उसने स्वीकार भी किया है "मेरी चित्रलेखा में और अनातोले फ्रास की थाया में उतना ही अन्तर है जितना मुझ में और अनातोले फ्रास में।"

इसे भी अस्वीकार नही किया जा सकता कि 'वर्माजी' ने जिस ढंग से अपने चरित्रों को उपस्थित किया है उसमें उनकी मौलिकता का अंश अधिक है। 'अनातोले फ्रास' के 'पापनाशी' के जीवन-दर्शन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मानव इच्छाएँ उत्पन्न होने पर तुष्टि चाहती हैं। इच्छाओ के उत्पन्न हो जाने पर यदि मनुष्य उन्हें सन्तुष्ट नहीं कर लेता तो वे उसके समस्त कार्य-व्यापारो को असंतुलित कर देती हैं और अन्त मे उसे वे अपना दास बना कर ही छोडती हैं। कुमारगिरि को जिस रूप में लेखक ने हमारे सामने रखा है। उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मानव की स्वाभाविक इच्छाएँ उत्पन्न होकर ही रहती हैं, उन्हे दीर्घकाल के लिए दबाकर नही रखा जा सकता और यदि उन पर आवश्यकता से अधिक नियंत्रण हुआ तो अवसर पाते ही वे व्यक्ति का सर्वनाश करके ही छोडती हैं।

"इस्कन्द्रिया" की नाट्यशाला मे यौवन के प्रथम उभार ही में 'पापनाशी' अनुपम रूपवती नर्तकी 'थायस' को पहली बार देख कर ही आसक्त हो जाता है। उसका पुरुषत्व रूपवती नर्तकी को गले लगाने के लिए आकुल हो उठा और वह अपनी तीव्र इच्छाओ के कारण नर्तकी के "माया-फाँस में फँसते-फँसते रह गया था। वह काम-तृष्णा से उन्मत्त होकर एक बार उसके द्वार तक चला गया था, लेकिन वारागणा के चौखट पर वह ठिठक गया, कुछ तो उठती हुई जवानी की स्वाभाविक कातरता के कारण और कुछ इस कारण कि उसके जेब में रुपये न थे।" वह अपनी प्रथम उत्पन्न इच्छा की पूर्ति में अपने को असमर्थ पाकर स्वयं को धर्म के चरणों में निछावर कर देता है और हम देखते हैं कि वह सब होते हुए भी एक क्षण के लिये अपनी प्रेयसी को

मूल नहीं पाता । वह महान् सिद्ध हो जाता है, संसार के लोग उसे बड़ी पूज्य दृष्टि से देखते हैं और उसे अपने स्वरूप का ज्ञान भी है, किन्तु उसके विचारों में किसी न किसी प्रकार 'थायस' विद्यमान है। वह उस नर्तकी का उद्धार करने में भी सफल होता है किन्तु अपने विचारों में वह उत्तरोत्तर असफल होता जान पड़ता है । अपनी मर्यादा के कोरे स्वाभिमान में वह जिन इच्छाओं का गला घोंटता रहा वे अन्त तक जाते-जाते उसका सर्वनाश कर बैठीं । वह अपने को जिस रूपवती से दूर रखने के लिये खोह-कन्दराओं की खाक छानता रहा उसे ही उसकी प्रबल काम-इच्छाओं ने विवश कर दिया कि वह 'थायस' के शव का आलिंगन कर उसका आकण्ठ उपभोग करे। तप द्वारा अर्जित उसके जीवन की सारी कमाई प्राणहीन प्रेयसी के शरीर पर लुट गयी और वह 'अलबीना' के द्वारा पापी 'पिशाच' कह कर अपमान के साथ हटा दिया गया । कुमारगिरि की स्थिति 'पापनाशी' से भिन्न है । वह स्त्री के सम्पर्क में आया ही नहीं, जिससे स्त्री की मादकता का उसे ज्ञान ही नहीं है । वह केवल इतना जान पाया है कि स्त्री विनाश की जड़ है, उससे दूर रहना चाहिए । उसका ज्ञान सैद्धान्तिक है न कि अनुभवजन्य । उसने मन में इच्छा को उत्पन्न ही नहीं होने दिया जिससे इच्छाओं पर काबू पाने का प्रश्न ही नहीं उठ पाता और हम देखते हैं कि यह अनुभवशून्य युवकयोगी इच्छाओं के उत्पन्न हो जाने पर विवश होकर एक क्षण में ही अपना सर्वस्व खो बैठता है । 'थायस' के 'पापनाशी' में अहंकार की मात्रा अधिक है, किन्तु कुमारगिरि में कम नहीं है। उसने जीवन के प्रति जो दृष्टिकोण बना लिया है उसे ही वह सर्वश्रेष्ठ समझता है। उसके शब्दों से अहंकार की मात्रा स्पष्ट झलकती है। विशालदेव से कहे हुए उसके ये शब्द, "तुमने उचित ही कहा है, विशालदेव, क्योंकि तुम पर एक गुरु का प्रभाव है। उस प्रभाव को दूर करके मुझे तुम पर अपना प्रभाव जमाना पड़ेगा। मैं तुम्हारा भ्रम निवारण कर दूँगा, पर आज नहीं। भ्रम में पड़े हुए गुरु के शिष्य में भ्रमों का होना स्वाभाविक है।" आचार्य रत्नाम्बर के सम्बन्ध में कहे गये उसके ये शब्द यदि अहंकार नहीं तो और क्या हैं । इसमें सन्देह नहीं कि वह अद्वितीय प्रतिभासम्पन्न-तेजस्वी तपस्वी है जिसका प्रमाण हमें सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य की सभा में मिल जाता है। भले योगी द्वारा उत्पन्न किये गये चमत्कार को लोग अस्वाभाविक कह कर टाल दें किन्तु सर्वसम्मुख घोषित विजयिनी 'चित्रलेखा' ने अपना विजय मुकुट पहना कर उसके ऐश्वर्य का ढिंढोरा पीट दिया। जहाँ तक उसके चमत्कार का प्रश्न है जिस भूमिका में लेखक ने ऐसा प्रसंग उठाया है वह अविश्वसनीय नहीं है। आज के वैज्ञानिक चमत्कार यदि असम्भव को सम्भव कर दिखा सकते हैं तो तत्कालीन योगाभ्यास के लिए वह जो कुछ हुआ असम्भव नहीं था। भारत को तो सदा से ऐसे चमत्कारों के लिए गर्व रहा है। रत्नाम्बर द्वारा कहा हुआ उसके सम्बन्ध में यह वाक्य, "कुमारगिरि योगी है......उसका दावा है, संयम उसका साधन है और स्वर्ग उसका लक्ष्य।" उसकी

महत्ता को और भी प्रतिपादित कर देता है। चित्रलेखा ऐसे सबल व्यक्तित्व वाली नारी जिसका मन 'बीजगुप्त' को छोड़कर किसी के सामने ढीला ही नहीं हुआ, कुमारगिरि के सामने जा कर प्रेम की भीख माँगती है "........ मैं भी तुम से सच ही कहूँगी मैं तुमसे प्रेम करने आई हूँ।" जो कुमारगिरि के आकर्षक व्यक्तित्व का सबल प्रमाण है। किन्तु उसकी यह सारी महानता अनुभव-शून्यता की चट्टान पर टकरा कर चूर-चूर हो जाती है जो उसकी सबसे बड़ी दुर्बलता है।

चित्रलेखा के उस मोहक आलिंगन एवं प्यार को उसने पहली बार पाकर ठुकरा दिया जिसे पुनः प्राप्त करने के लिये भिखारी बनना पड़ा। झूठ का सहारा लेना पड़ा, बीजगुप्त को बदनाम करने के लिये उसपर झूठे आरोप लगाने पड़े तथा चित्रलेखा को धोखा देना पड़ा जिससे अन्त में सारा पोल भी खुल जाता है और न वह स्वस्थ भोगी रह पाता है न योगी। 'चित्रलेखा' के शब्दों मे उसे "वासना के कीड़े! तुम प्रेम क्या जानो? तुम अपने लिये जीवित हो ममत्व ही तुम्हारा केन्द्र है—तुम प्रेम करना क्या जानो? प्रेम बलिदान है—आत्मत्याग है, ममत्व का विस्मरण है। तुम्हारी तपस्या और तुम्हारा ज्ञान—तुम्हारी साधना और तुम्हारी आराधना—यह सब भ्रम है, सत्य से कोसों दूर है। तुम अपनी तुष्टि के लिये गृहस्थ आश्रम की—बाधाओं से कायरता-पूर्वक संन्यासी का ढोंग लेकर विश्व को धोखा देते हुए मुख मोड़ सकते हो—तुम अपनी वासना को तुष्ट करने के लिए मुझे धोखा दे सकते हो—और फिर भी तुम प्रेम की दुहाई देते हो।" बनकर रह जाना पड़ता है। यदि लेखक ने इस दुर्बलता का चित्रण न किया होता तो कुमारगिरि साधारण व्यक्ति न रहकर असाधारण मानव हो जाता। कुमारगिरि का चित्रलेखा के लिये मोह, उसके हृदय का द्वन्द्व, उसका स्खलन दिखलाकर लेखक ने उसे अति मानव होने से बचा लिया है। वह वही है जो उसे होना चाहिये। इस अन्धकार पक्ष को छोड़ उसके चरित्र का केवल एक ही पहलू है जो प्रकाश से पूर्ण है।[१] कुमारगिरि का चरित्र एक योगी के अहंकार और उसके पतन की मार्मिक कथा है। इसका चरित्र जितना ही मार्मिक है, उतना ही नीरस है। उसके योग की महत्ता सुनते-सुनते जी ऊब जाता है, किन्तु उसके आकस्मिक पतन से घृणा की अपेक्षा उसके प्रति करुणा अधिक जगती है।

'बीजगुप्त' इस उपन्यास का सर्वश्रेष्ठ पात्र है जो पूर्णरूपेण उपन्यास के मानव-जीवन-दर्शन का प्रतिनिधित्व करता है। वह सच्चे अर्थों मे मानव है जिसमें एक महान् पुरुष के सभी गुण विद्यमान हैं। वह नवयुवक सामंत यश, विद्या और वैभव सभी वस्तुओं में पूर्ण है। सासारिक सुखो में आकंठ डूबा रहनेवाले भोगी बीजगुप्त का चरित्र योगियों के लिये स्पृहा की वस्तु है। वह भोगवाद में विश्वास करता है और व्यक्ति को सारी

१ हिन्दी उपन्यास (शिवनारायण श्रीवास्तव)

क्रियाओं को परिस्थितिजन्य मानता है। वह कहता है, "श्वेताक, याद रखना कि मनुष्य स्वतन्त्र विचारवाला प्राणी रहते हुए भी परिस्थितियों का दास है। और यह परिस्थिति-चक्र क्या है, पूर्वजन्म के कर्मों के फल का विधान। मनुष्य की विजय वहीं सम्भव है, जहाँ वह परिस्थितियो के चक्र में पडकर उसी के साथ चक्कर न खा जाय वरन् अपने कर्तव्याकर्त्तव्य का विचार रखते हुए उस पर विजय पावे।" वह अत्यन्त आकर्षक व्यक्तित्व वाला पुरुष है जिसे प्रथम दर्शन मे ही 'चित्रलेखा' जैसी दृढ़ नारी ने अपना सर्वस्व दान कर दिया, जिसने व्यक्ति से न मिलने का निश्चय कर लिया था।

साक्षात्कार हो जाने के पश्चात् 'बीजगुप्त चला गया, पर चित्रलेखा के हृदय में वह एक प्रकार की हलचल पैदा कर गया।" जिस चित्रलेखा के रूप और यौवन पर पाटलिपुत्र का समाज उन्मत्त हो रहा था, जिसका मन ढीला होना जानता ही नहीं था, वही नारी स्वयं प्रस्ताव करती है कि केवल एक व्यक्ति उसके जीवन में आ सकता है, और वह व्यक्ति बीजगुप्त है। बीजगुप्त भोगी एवं विलासी है किन्तु उसे पतित और कामी नही कहा जा सकता है। वह एक सच्चा प्रेमी है, जिसके प्रेम में छल-कपट का कोई स्थान नहीं है। वह चित्रलेखा को केवल विलास की ही वस्तु नहीं समझता बल्कि उससे उसका सच्चा प्रेम है जैसा कि एक पति का अपनी पत्नी के साथ होता है। उसने स्वयं स्वीकार भी किया है, "इनका नाम चित्रलेखा है, और यह पाटलिपुत्र की सर्वसुन्दरी नर्तकी होते हुए भी मेरी पत्नी के बराबर हैं। इसीलिये तुम्हारी स्वामिनी हुई।" यही कारण है कि दोनों के प्रणयसूत्र में बँध जानेपर भी वे समाज के लिए निन्दा के पात्र नहीं बने बल्कि दोनों के इस संयोग से एक दूसरे का सम्मान ही बढ़ा। वह जीवन को प्रत्येक वस्तु को उदार दृष्टि से देखने का अभ्यासी हो गया है। यह जानते हुए भी कि श्वेताक जिसकी स्थिति दास के समान है, उसकी प्रिया के साथ अनैतिक सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास कर रहा था, उसे दंड न देकर कहता है, "तुमने जो कुछ किया उसके विपरीत तुम्हारी परिस्थिति में दूसरा मनुष्य नहीं कर सकता था।" चित्रलेखा के चले जाने पर उसे अभाव बुरी तरह से खटक रहा था, किन्तु उसका संयम बना रहा। साहचर्य के प्रभाव से वह 'यशोधरा' की ओर आकर्षित अवश्य होता है, किन्तु उसके हृदय में चित्रलेखा के लिये स्थान पूर्ववत् बना रहता है। 'यशोधरा' के प्रति उसका आकर्षण उसके चरित्र की स्वाभाविकता का ही परिचायक है, उसे हम उसकी दुर्बलता नहीं कह सकेंगे और जब श्वेतांक के लिये वह उधर से भी मुँह फेर लेता है और अपना सर्वस्व वैभव उसे दान के रूप में दे देता है तो वह मानवता के धरातल से भी कुछ ऊपर उठ जाता है। इसी स्थल पर आकर उसका चरित्र अत्यन्त आदर्श हो उठता है। जिस तत्व की उपलब्धि कुमारगिरि को कठिन साधनों में न हो सकी थी वही बीजगुप्त ने हृदय की साधना से उपलब्ध कर लिया था। उसका

हृदय इतना विशाल था, उसमें इतनी उदारता थी कि वैभव के रस में डूबे रहने पर भी कमल पत्र के समान वह अछूता था। जिस विलासिता में वह जीवन भर आकंठ डूबा रहा, समय आने पर उसे बिल्कुल ही त्याग देने में उसे तनिक भी हिचकिचाहट न हुई। भोग करते हुए भी वह भोगों में बँधा नहीं है, वास्तव में मृत्युलोक ऐसे ही मनुष्यों की स्पृहा करता है।''[१] और हम देखते हैं कि सम्राट चन्द्रगुप्त उसकी दानशीलता एवं त्याग की प्रशंसा करते नहीं अघाते, जो उसके जीवन की सबसे बड़ी सफलता है और अन्त में पतित चित्रलेखा को भी क्षमा करके वह पूर्ण तपस्वी बन जाता है।

उपन्यास के सारे सूत्रों का संचालन नर्तकी चित्रलेखा ही करती है जो उपन्यास की प्रधान नायिका है। वह अनुपम लावण्यमयी दृढ़ व्यक्तित्व वाली नारी है। उसके रूप में कुछ ऐसी विलक्षण शक्ति है जिससे लोग अपने आप उसकी ओर खिंचे चले आते हैं। लेखक के शब्दों में—"कुछ ऐसे व्यक्तित्व होते हैं जो दूसरों को अपनी ओर आकर्षित कर लेते हैं ·····और उसको अपना दास बना लेते हैं। चित्रलेखा का व्यक्तित्व भी ऐसा ही था।" चित्रलेखा के चरित्र की सृष्टि उपन्यासकार की मौलिक उद्भावना है। अनातोले फ्रास की 'थायस' और वर्माजी की 'चित्रलेखा' एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। उपन्यास-जगत के ये दो अमर नारी पात्र जीवन के आरम्भ में दृश्य से दूर रहते हैं और बड़े होने पर उपन्यासकारों ने प्रसंग निकाल कर पूर्व इतिहास से परिचय करा दिया है। 'थायस' के चरित्र विकास में उतनी गुत्थियाँ नहीं हैं जितनी मानसिक गुत्थियाँ 'चित्रलेखा' के विकास में पाई जाती हैं। 'थायस' के जीवन विकास के स्पष्ट दो अंश हैं जिन्हें विभाजक रेखा द्वारा अलग किया जा सकता है। एक तो है उसका आरम्भिक जीवन, जिसमें उसके लड़कपन से लेकर पूर्ण यौवन तक की कथा है। इस कथा भाग में लेखक ने दिखलाया है कि किस प्रकार उसका बाल जीवन स्नेहाभाव में बीता जिससे कि वह एक पतित वृद्धानारी के बहकावे में आकर नृत्य आदि कार्यों के लिए ले जाई जाती है। यौवन के प्रथम उभार में वह 'लोलस' नामक सम्भ्रान्त युवक की मीठी-मीठी बातों में आकर आत्मसमर्पण कर देती है जो रूप-लोभी थोड़े ही दिनों में विरक्ति का अनुभव करने लगा जिससे स्वाभिमानी 'थायस' दूसरे 'लोलस' की खोज में निकल पड़ी जिसे अन्त तक न पा सकी। उसका पतन जीवन में यही एक बार हुआ था जो अत्यन्त स्वाभाविक था। वह जीवन-यापन के लिए रंगमंच पर आती है जहाँ हर दिल की धड़कन और हर मन की रानी बन जाती है। धन-वैभव उसके चरणों को चूमने लगा किन्तु उसने शारीरिक समर्पण कहीं नहीं किया। उसके यश के चरमबिन्दु पर ही 'पापनाशी' का प्रवेश होता है जो उसे उपदेशों द्वारा बदल कर

---

१. हिन्दी उपन्यास (शिवनारायण श्रीवास्तव)

ईसाई धर्म में दीक्षित करता है, जहाँ से अन्त तक वह सन्त रहती है। बीच में केवल एक स्थान पर उसके चरित्र में अस्वाभाविकता आई है। उसके अन्दर एक महान् दुर्बलता यह थी कि वह अनन्त यौवना और सदा सुन्दरी रहना चाहती थी। जब उसने पहले पहल 'पापनाशी' के दार्शनिक सिद्धान्त सुने तो उसे विश्वास हो गया कि यह व्यक्ति चाहे तो मुझे सदा सुन्दरी बने रहने का मन्त्र दे सकता है जिससे वह उसे लुभाने के लिए सम्भोग का मूक आमन्त्रण देती है जैसी निलज्जता एक वेश्या भी नहीं कर सकती। इसके प्रतिकूल 'चित्रलेखा' के अन्दर इतने मानसिक द्वन्द्व हैं कि उसकी सृष्टि अत्यन्त मनोवैज्ञानिक एवं जटिल हो गई है। उसके जीवन में अनेक मोड आते हैं।

लेखक के शब्दों में चित्रलेखा वेश्या न थी, वह केवल नर्तकी थी। यदि हम चित्रलेखा के जीवन को आरम्भ से उठाते हैं, तो वह विधवा होते हुए भी गर्भ धारण कर चुकी थी। अतः नर्तकी होने के पूर्व वह एक साधारण नारी थी जो कुलटा हो गई थी। किन्तु चित्रलेखा का वास्तविक जीवन नर्तकी होने के साथ ही आरम्भ होता है जहाँ वह अनुपम लावण्यमयी तर्कनिपुण सुदृढ़ व्यक्तित्व वाली, विद्वान्, कलाविद् तथा विलास की साक्षात् प्रतिमा के रूप में हमारे सामने प्रकट होती है। अनेक मानवीय गुणों का अद्भुत संयोग लेखक ने चित्रलेखा के चरित्र में दिखलाया है। उसकी तर्क-बुद्धि और वाचालता का परिचय हमें उस समय मिल जाता है जब वह चन्द्रगुप्त मौर्य की सभा में खडी होकर कुमारगिरि के तर्कों का खंडन करती है। उसमें नारी के सहज स्वाभाविक गुण धर्मों का भी अभाव नहीं है। पुरुष आकर्षण के कुपरिणाम को भोग लेने पर भी 'बीजगुप्त' को सामने देखकर उसका निश्चय बदल जाता है। नारी एक सुकुमार लता के समान है जिसे पुरुष-वृक्ष का सहारा आवश्यक है, जिसके अभाव में उसका विकास असम्भव है। चित्रलेखा अपने यौवन का भार अधिक न ढो सकी और उसने अपनी बाहुलताओं को युवक सामंत 'बीजगुप्त' के कंधों पर डाल दिया। फिर भी वह वेश्या नहीं थी इसका एकमात्र कारण यही है कि उसका प्रेम बीजगुप्त के साथ पति का-सा था। उसने बीजगुप्त को छोड कर किसी की ओर आँख उठा कर भी न देखा जब कि पाटलिपुत्र के श्रेष्ठि सामंत अतुल धन उसके चरणों पर लुटाने के लिये सन्नद्ध थे। उसे अपने प्रियपात्र के सुख की सदैव चिन्ता बनी रही। वह यह कदापि नहीं चाहती थी कि बीजगुप्त उसके प्रेम में अपना सर्वनाश कर डाले। उसने उसे यशोधरा से ब्याह कर लेने का आग्रह भी किया और इसीलिये उससे दूर हटकर कुमारगिरि के आश्रम में भी चली आई। त्यागी बीजगुप्त के चरणों में जब हम अंत में उसे अपना सर्वस्व लुटाते देखते हैं तो उसकी महानता की सीमा नहीं जान पड़ती जब कि वह जानती है कि वह अब बीजगुप्त के योग्य नहीं रह गयी है, वह कुमारगिरि द्वारा भ्रष्ट हो चुकी है। वह कहती है, "मैं अपने को पवित्र कर रही हूँ।.... मैं योगी कुमारगिरि की वासना का

साधन बन चुकी हूँ। जहाँ उसके चरित्र में अलौकिक गुण है वहीं पर उसमें नारी सुलभ दुर्बलताएँ भी वर्तमान हैं। सर्वप्रथम श्वेतांक को कामुक बना कर और पुन उस पर कुचेष्टा का आरोप लगा कर उसे अपमानित करना उसकी थोथी रूपगर्विता का प्रमाण है। जो चित्रलेखा एकप्रेमी व्रत का दम भरती है वही चित्रलेखा कुमारगिरि के चमत्कार से अभिभूत होकर उसके सामने प्रेम की भीख माँगती है, "मैं भी तुमसे सच ही कहूँगी, मैं तुमसे प्रेम करने आई हूँ।" ऐसी स्थिति मे उसके चरित्र की सारी दृढ़ता समाप्त हो जाती है। यहाँ तक तो बात समझ में आती है कि स्त्री को आकर्षित करने के जो गुण एक व्यक्ति में होते हैं वे सभी कुमारगिरि मे थे जिससे वह उसकी ओर आकर्षित हो गयी, किन्तु उसमें यह साहस नहीं था कि वह इस प्रेम को प्रकट कर सके। जो प्रेम प्रकट न किया जा सके वह व्यभिचार से अलग कोई अर्थ नहीं रखता। साथ ही साथ वासना का ऐसा भूत होता है जो सिर चढ़कर बोलता है। चित्रलेखा के सिर पर वह भूत था जिसे उसने श्वेतांक पर इस शर्त के साथ प्रकट किया कि वह उसे बीजगुप्त से गुप्त रखेगा। उसने सच्चे प्रेमी बीजगुप्त को धोखा दिया, उससे छिपा कर उसने कुमारगिरि से प्रेम किया और रहस्य को छिपा रखने के लिये झूठे बहाने भी किये।

उसने कुमारगिरि के प्रेम प्रस्ताव को ठुकरा दिया वहाँ तक तो बात समझ में आती है, क्योंकि एक बार योगी द्वारा ठुकराई जाकर उसने प्रेम करने का निश्चय बदल दिया और दीक्षा लेने का निश्चय कर लिया था जिससे वह उसे एक प्रकार से गुरु मानने लगी थी। इसके अतिरिक्त जब नारी के निर्लज्ज अभिसार का तिरस्कार पुरुष द्वारा होता है तो वह कभी भी उस पुरुष की छाया तक भी नहीं छूती। किन्तु चित्रलेखा इन सब बातों के होते हुए भी योगी की झूठी बातों में आकर कि उसका प्रेमी दूसरी सुन्दरी से ब्याह कर रहा है, अपना सर्वस्व दे देती है। चित्रलेखा का यह समर्पण अत्यन्त अस्वाभाविक है जो उसके चरित्र को नीचे गिरा देता है। यदि हम इसे उसकी मानसिक प्रतिक्रिया मान लें जो अपने प्रेमी को दूसरी रमणी के हाथों में जाते हुए देख कर हुई थी तो भी सम्भव नहीं है क्योंकि उसने ही हठ किया था कि बीजगुप्त अपना ब्याह कर ले। इस प्रकार हम भले यह मान लें कि यह वेश्या नहीं थी किन्तु हमारे सामने कोई प्रमाण नहीं है कि वह यौनपूता थी। किन्तु इतना तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि चित्रलेखा का व्यक्तित्व बड़ा सबल है। नर्तकी होते हुए भी वह पतित नहीं है। "जीवन के कठोर अनुभवों ने उसे संसार को परखने की सूक्ष्मदर्शिता दी है। वह पाटलिपुत्र के युवकों के हृदय की गति है।"[1] उसके रूप वैभव मे वह शक्ति है जिसके सामने पुरुष तो क्या हिमालय भी अविचल नहीं रह सकता।

इस उपन्यास के चरित्रों को मानवीय दृष्टि से इसलिए भी अधिक दूर तक नहीं देखा जा सकता क्योंकि वे पूर्वनियोजित कारणों को लेकर निर्मित किये गये हैं। यह तो

१—हिन्दी उपन्यास (शिवनारायण श्रीवास्तव)

हुई उपन्यास के पात्रों और कथानकों की समस्या को कथा अथवा व्याख्या, किन्तु मूल प्रश्न छूटा ही रह गया कि इस उपन्यास को ऐतिहासिक उपन्यासों की सीमा में रखा जाय अथवा नहीं।

इस उपन्यास में ऐतिहासिक पुरुषों के नाम आये हैं, जैसे सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य, मंत्री चाणक्य आदि। किन्तु इन ऐतिहासिक पुरुषों का उपन्यास के कथानक से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। यदि इन नामों के स्थान पर कल्पित नाम रख दिये जायँ तो उपन्यास के कथानक में किसी भी प्रकार का व्यवधान नहीं पड सकता। ऐसी स्थिति में केवल नाम मात्र से इसे ऐतिहासिक उपन्यास के रूप में स्वीकार कर लेना उचित न होगा। जिस समय के ऐतिहासिक वातावरण का चित्रण किया गया है उसकी सीमा इतनी दीर्घ है कि उसे 'हर्षवर्द्धन' आदि के युग का चित्रण भी माना जा सकता है। अतः उसे एकमात्र मौर्य काल के नाम से अभिहित कर देना भी ठीक नहीं है। जब हम उपन्यासों के ऐतिहासिक और अनैतिहासिक रूपों का वर्गीकरण करने बैठें तो हमारे लिए आवश्यक है कि हम इतिहास और ऐतिहासिक उपन्यासों की सीमा का स्पष्ट भेद जान लें। इतिहास मनुष्यों की भूलों, उसके दुर्भाग्यों तथा राज्यों की उन्नति और अवनति की तथ्यपूर्ण सूची का नाम है, किन्तु ऐतिहासिक उपन्यास कल्पना के आधार पर चित्रित ऐसे समाज तथा देश-काल की व्याख्या है जो अतीत के पृष्ठों पर बिखर गये हैं। ऐसी स्थिति में हमारे लिए यह आवश्यक नहीं है कि हम जिस देश-काल का चित्रण करें वह एक ही हो; यदि एक प्रकार के देश-काल के चित्रण से कई देश-काल का चित्रण हो जाता है तो उससे ऐतिहासिक उपन्यास का कुछ बनता बिगडता नहीं। यदि सम्राट् चन्द्रगुप्त के शासन-काल के चित्रण से हमें 'हर्षवर्द्धन' के शासन-काल का भी चित्रण मिल जाता है तो उससे कोई हानि नहीं। जहाँ तक नामों की सार्थकता का प्रश्न है, एक भी पात्र ऐतिहासिक न होने पर भी ऐतिहासिक उपन्यास लिखा जा सकता है यदि उसमें ऐतिहासिक वातावरण का चित्रण है। जैसे 'यशपाल' द्वारा लिखित 'दिव्या' ऐतिहासिक उपन्यास है।

"प्राचीन समय के नामों से कोई पुस्तक ऐतिहासिक नहीं होती। पुराने शिला-लेख और ताम्र-पत्र भी इतिहास नहीं हैं। इतिहास है किसी समय की भाषा और विचार को व्यक्त करना।"[१] इस दृष्टि से हम देखते हैं तो 'चित्रलेखा' उपन्यास के माध्यम से लेखक हमें अतीत भारतवर्ष की एक झाँकी दे देता है। वह समय ऐसा था जब उच्च श्रेणी के लोग भोग-विलास में डूबे हुए थे। दार्शनिकता की प्रधानता थी, भाँति-भाँति के वादों का जोर-शोर था। कोई अध्यात्मवादी था तो कोई भोगवादी। राजदरबारों में

---

१. प्रेमचन्द (अनातोले फ्रांस की 'थाया' के अनुवाद की भूमिका)।

शास्त्र-चर्चा तथा कला-प्रदर्शन के कार्यक्रम हुआ करते थे जिसमें सम्राट स्वयं भाग लेते थे। नर्तकियों की स्थिति आज की वेश्या की-सी नहीं थी। उनका समाज में बड़ा सम्मान था। 'चित्रलेखा' का रथ जिस गली से निकल जाता था, बड़े बड़े सामंतों के रथ अभिवादन के लिए रुक जाया करते थे। नगर की जनता पुष्पमालाओं से उसका स्वागत करती थी। लेखक ने पाटलिपुत्र के तत्कालीन समाज का बड़ा ही सुन्दर चित्र खींचा है। उस समय किस प्रकार दूर से लोग काशी-भ्रमण करने के लिए आते थे और मृत्युंजय से यह कहलाकर कि 'मेरी इच्छा काशीवास' की होती है, उसने प्राचीन काल से चली आनी पवित्र नगरी काशी की महत्ता की ओर संकेत किया है। उसके बाजार-हाट तथा गंगा, घाटों और नौकाविहार का जो चित्रण लेखक ने किया है वह कुछ आधुनिक होते हुए भी हमें अतीत की गोद में लुभाये लिये चला जाता है।

ऐतिहासिक भूमिका में हिन्दी उपन्यास के नारी पात्र

किसी भी साहित्य रूप के माध्यम से जब हम मानव-जीवन की व्याख्या करने बैठते हैं तो नारी-जीवन की व्याखया सबसे पहले करते हैं। भोला मानव माँ की गोद में ही अपने विवेक की आँखें खोलता है, तत्पश्चात् वह क्रमशः बहन, भाई तथा पत्नी आदि सामाजिक सम्बन्धों से आवश्यकतानुसार परिचित होने लग जाता है। सामाजिक जीवन में पूर्णत. प्रविष्ट हो जाने के पश्चात् भी पुरुषों के सम्बन्ध नारियों से अपेक्षाकृत अधिक आत्मीय होते हैं। प्रेयसी, पत्नी तथा साथी के रूप में नारी हठात् जितनी निकटता प्राप्त कर लेती है उतने पुरुष नहीं प्राप्त कर पाते। पुरुषों की परस्पर निकटता अपेक्षाकृत सामाजिक स्वार्थों पर अधिक-आधारित होती है। मानवता का इतिहास आज जितना उपलब्ध है, चाहे वह इतिहास ग्रन्थों के रूप में हो अथवा काव्य ग्रन्थों के रूप में उसके नियामक अथवा स्रष्टा अधिकांश पुरुष ही हैं पर उन्होंने चर्चा के लिये मुख्यतः नारी को ही चुना है। नारी मानवता के इतिहास की मूल प्रेरक शक्ति है। नारी इतिहास का निर्माण करती है और सामाजिक परिस्थितियों में नारी का स्वयं निर्माण भी होता है। परिणाम स्वरूप समयानुसार नारी के समाजगत मूल्यों में परिवर्तन होता रहा है। आदिकालीन नारी को सामने रखकर यदि हम बीसवीं शताब्दी के नारी मूल्यों की तुलना करने बैठ जायेंगे तो हमें निराश ही होना पड़ेगा। उपन्यास-साहित्य में मुख्यतः मानवीय मूल्यों की ही व्याख्या की जाती है, जिससे नारी-मूल्यों की चर्चा करना उपन्यासकारों का प्रिय एवं प्रमुख विषय रहा है।

आदि से लेकर आज तक नारी के सामाजिक मूल्यों में विकास होता रहा है जो वर्तमान हिन्दी उपन्यासों में बहुत कुछ बदल गई है और उसके बदलने का मुख्य कारण है, सामाजिक मूल्यों में आशातीत परिवर्तन। प्रागैतिहासिक काल मातृ-सत्तात्मक समाज का काल रहा जिसमे माता ही समस्त शक्ति का केन्द्र होती थी। उसकी सृजन-शीलता तथा आर्थिक उपादेयता इतने महत्व की थी कि स्वभावतः विवाह सम्बन्धी नियम अत्यन्त शिथिल थे। आज के परिवार के स्थान पर छोटे-छोटे समूह थे जो परस्पर मिलकर जन-जीविकोपार्जन का कार्य करते थे। सम्पत्ति पर सबका समान अधिकार था। मातृसत्तात्मक समाज की कतिपय असुविधाओं के कारण उसका पितृसत्तात्मक समाज मे विकास हुआ और नारी घर-गृहस्थी के कार्यों तक ही सीमित हो गयी क्योंकि लोग अब घरों में बसने लगे थे। बाहर का कार्य पुरुष करने लगे जिससे आर्थिक सत्ता

पुरुषों के हाथ में आने लगी और उनका विकास भी बराबर बाहर होता रहा जिससे समाज पर उनका महत्व बढ़ गया।

भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति में जो स्थान नारी को प्राप्त है उसका सम्बन्ध वैदिक साहित्य से ही जोड़ा जाता है जिसे समय की दृष्टि से मुख्यतः दो भागों में—१ पूर्व वैदिक काल जिसका मुख्य आधार ऋग्वेद है, २ उत्तर वदिक काल जिसमें यजुर्वेद, अथर्ववेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् और सूत्र साहित्य लिखे गये।—बाँट सकते हैं।

ऋग्वेद काल में (१६०० ई० पू० के लगभग) अन्य देशों की तुलना में जो स्थान भारतीय नारी को प्राप्त था, वह अपूर्व है। उन्हें दैवीशक्ति का प्रतीक माना जाता था जिसके लिये उस काल की राजनैतिक परिस्थिति को ही श्रेय देना पड़ेगा। आर्यों को उस समय अनार्यों के साथ निरन्तर युद्ध करना पड़ रहा था और स्त्रियाँ वीर पुत्र-रत्नों को जन्म देती थीं; साथ ही साथ पुरुषों के युद्ध में रत रहने के कारण स्त्रियाँ ही घर-गृहस्थी का भी कार्य सँभालती थीं। सामाजिक और राजनैतिक कारणों से उनका महत्व धार्मिक कार्यों में भी बढ़ गया था। पत्नी के अभाव में किसी भी धार्मिक क्रिया को पूर्ण नहीं माना जाता था। लड़कियों को भी भाइयों के समान ही यज्ञोपवीत धारण करने, शिक्षा पाने और विदुषी बनने का पूरा-पूरा अधिकार था। विवाह के पूर्व लड़के-लड़कियों के परस्पर मिलने-जुलने पर किसी भी प्रकार का सामाजिक प्रतिबन्ध नहीं था। उत्सवों में सज-धज कर जाने के लिये माँ-बाप लड़कियों को उत्साहित करते थे जहाँ जाकर वे अपना जीवन-साथी भी चुन लिया करती थीं। अनार्यों से मेल-जोल बढ़ने के कारण वर्ण बन रहे थे जिनमें ब्राह्मणों को सर्वश्रेष्ठ पदवी प्राप्त थी। इस समय तक अनुलोम और प्रतिलोम दोनों प्रकार के विवाह प्रचलित थे। च्यवन, श्यावाश्व, कक्षीवान और विमद् ब्राह्मण ऋषियों ने क्षत्रिय राजपरिवारों में विवाह किया था किन्तु प्रतिलोम विवाह कम होते थे। विवाह में प्रेम तत्व मुख्य था और दूल्हा वधू के घर जाता था। साधारणतः एक पुरुष एक ही पत्नी रखता था, पर राजा-महाराजा और बड़े पुरोहित अनेक विवाह भी करते थे। कहीं-कहीं बहुपति रखने का भी प्रमाण मिल जाता है। दासी-पत्नियों का आर्य पत्नियों की भाँति सम्मान नहीं था पर उनके पुत्रों को आर्यपुत्र कहा जाता था और उनका सम्मान भी था जैसे—काक्षीवान, औशिज तथा कवष दासी पुत्र ही थे पर उनको ऋग्वेद में उच्च स्थान प्राप्त है।

सती प्रथा नहीं थी। स्त्री पति-चिता के पास बैठती थी जहाँ से उसे उठाकर दूसरे विवाह की आज्ञा दे दी जाती थी। प्रायः वहाँ से उठाने का कार्य स्त्री का देवर करता था जिससे उसका विवाह हो जाता था। इस समय सहचरी, गृहिणी और माँ नारी के तीन रूप समाज में वर्तमान थे। विधवाएँ दूसरा विवाह करके अथवा नियोग द्वारा पुत्र उत्पन्न करती थीं और इसे इसलिये उत्साहित किया जाता था कि युद्ध में सैनिकों

की आवश्यकता थी। पति के चले जाने अथवा अयोग्य होने पर भी नियोग की प्रथा थी जिसमें आँख बचाकर चलने वाले स्त्री-पुरुष के अवैध सम्बन्धों की कोई समस्या ही नहीं थी क्योंकि नियोग द्वारा तीन पुत्र तक उत्पन्न करना बुरा नहीं माना जाता था। नियोग भी अपने देवर आदि सम्बन्धी से ही श्रेष्ठ माना जाता था और पुनः विवाह की अपेक्षा उसे अधिक सामाजिक सम्मान भी दिया गया था। नाचने-गाने तथा शृंगार करने का बड़ा शौक था जिससे कुछ न कुछ अवैध सम्बन्ध तो चलते ही थे और उत्पन्न सन्तानों को त्याग दिया जाता था। कुछ लड़कियाँ दुराचार से भी अपना पेट भरती थी। विवाह में धन देने की प्रथा थी और बालिका के जन्म पर उत्सव नहीं मनाया जाता था। प्रतुलोम, बहु तथा पिशाच विवाह आदि ऐसे उदाहरण हैं जिससे विदित होता है कि स्त्रियों की स्थिति पूर्णरूपेण पुरुषों के समान नहीं थी।

उपर्युक्त स्थिति में भी समय के साथ साथ परिवर्तन हुआ और ज्यों-ज्यों समाज का विकास होता गया, नारियों की स्थिति बिगड़ती ही गई। वर्ण-व्यवस्था के नियम ज्यों-ज्यों कड़े होते गये, त्यों त्यों नारियों के अधिकार भी सीमित होने लगे। उत्तर-वैदिक काल तक अन्तर्वर्ण विवाह प्रचलित थे पर उनसे उत्पन्न सन्तान निकृष्ट मानी जाने लगी। स्त्रियाँ अपने आप में सीमित रहने लगीं और उन्होंने पुरुषों की गोष्ठियों से भी अपना सम्बन्ध तोड़ लिया। प्रेम-विवाह के स्थान पर माता-पिता की इच्छा प्रधान हो गई। स्वतन्त्रता के घट जाने से ज्ञान घटा जिससे नारियों के सामाजिक सम्मान में भी कमी आई। उच्च वर्ग की कन्या निम्न वर्ग में ब्याह कर सकती थी और निम्न वर्गीय विवाहित कन्या का सम्मान उच्च वर्ग में कम होता था जिसका परिणाम यह हुआ कि धीरे धीरे नारी जाति का ही सम्मान घट गया। अब आनन्दमय जीवन की अपेक्षा तपस्या वृत्ति पर विशेष बल दिया जाने लगा जिसमें नारी बाधक समझी जाती थी। बहु विवाह की प्रथा ने स्त्री-सम्मान की जड़ों को काट दिया। विधवा विवाह अभी भी होता था और बाल-विवाह, सतीप्रथा तथा पर्दा प्रथा का प्रचलन नहीं हुआ था। नारी शिक्षा का धीरे-धीरे अभाव होने लग गया और पहले की अपेक्षा लड़कियों को शिक्षार्थ बाहर संस्थाओं में भेजना कम हो गया। लड़कियों की शिक्षा का प्रबन्ध घर पर ही होने लगा, जो अधिक खर्चीली थी जिससे धनिकों की ही लड़कियाँ शिक्षा प्राप्त कर पाती थी। अशिक्षित रहने के कारण स्त्रियाँ अब धीरे धीरे यज्ञ आदि की विधियों से अपरिचित होने लगीं।

'महाकाव्य काल' तक भी अन्तर्जातीय विवाह होते थे। बहुधा राजकुमारियाँ स्वयम्वर के द्वारा अपने पति का चुनाव करती थी। पिता द्वारा स्वयम्वर के नियम अथवा उसकी शर्तें कभी-कभी इतनी कड़ी कर दी जाती थी कि स्वयम्वरों की स्वतन्त्रता का कोई महत्व ही नहीं रह जाता था। राम ने एक पत्नीव्रत धारण किया था, पर दशरथ को तीन रानियाँ थीं। नियोग की प्रथा अब भी थी, स्त्रियों के बाहर जाने की भी प्रथा

थी क्योंकि दशरथ के साथ उनकी प्रिय रानी कैकेयी रणभूमि में भी गई थी। विवाह अधिकतर बड़ी उम्र में ही होता था, जिनको साधारणतः माँ बाप ही तय करते थे। स्वयम्वर और गान्धर्व विवाह के भी उदाहरण मिलते हैं। शकुन्तला ने गान्धर्व विवाह किया था, पाण्डु के मरने पर माद्री सती हो गई थी तथा पति के मर जाने अथवा खो जाने पर स्त्री को दूसरे विवाह का भी अधिकार मिला था। दमयन्ती के स्वयम्वर की घोषणा से नल को छोड़कर और किसी को आश्चर्य नहीं हुआ था। 'महाभारत' के समय नियोग की प्रथा थी। पाण्डु ने अपनी दोनों पत्नियों को नियोग के लिये आज्ञा दी थी। कभी-कभी बिना आज्ञा के भी नियोग होता था और ऐसे सम्बन्ध से होने वाले पुत्र को 'प्रच्छन्न' कहा जाता था। कर्ण का जन्म कुमारी कुन्ती से इसी प्रकार हुआ था।

बौद्धधर्म ने अपने 'बहुजन हिताय' वाले सिद्धान्त से नारी की स्थिति में सुधार करना चाहा और उसने स्त्री-पुरुष को समान मानकर नारी को भिक्षुणी का सम्मान दिया। पर हम देखते हैं कि भिक्षुणी बनने पर भी स्त्रियों को पुरुष के समान अधिकार नहीं मिल पाये। उनके ऊपर अनेक प्रतिबन्ध लगा रखे गये थे। संन्यास के विशेष महत्वपूर्ण बन जाने के कारण स्त्रियों की निन्दा अधिक बढ़ गयी थी। जातकों में स्त्रियों के बारे में अपशब्द भी कहे गये हैं। क्षत्रियों में बहुविवाह की प्रथा बढ़ गई थी, जिससे स्त्रियों की स्थिति और भी बिगड़ गई। वे पिता, पति या पुत्र की आज्ञा के बिना न तो बाहर कार्य कर सकती थीं और न तो भिक्षुणी ही बन सकती थी। सम्पत्ति पर अधिकार पहले जैसा ही था। बौद्धों के समान ही दृष्टिकोण नारी के प्रति जैनियों का भी रहा।

नारी की सामाजिक स्थिति की दृष्टि से मौर्य काल का विशेष महत्व है। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, असुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाचिक आठ प्रकार की विवाह सम्बन्धी विधियों का उल्लेख किया है। इन आठ पद्धतियों में सामान्यतः प्रथम चार को श्रेष्ठ और शेष को घृणित बताया गया है। अन्तर्जातीय विवाह प्रचलित तो थे पर अपने ही जाति में विवाह करना उचित समझा जाता था। बारह वर्ष की कन्या और सोलह वर्ष के बालक विवाह के योग्य समझे जाते थे। दहेज भी मान्य था। इस समय तक जो यज्ञोपवीत प्रथा का अन्त, शिक्षा की कमी तथा बाल-विवाह का प्रारम्भ हो गया था उससे स्त्रियों की सामाजिक स्थिति को काफी हानि पहुँची। विधवा-विवाह और नियोग की प्रथा धीरे-धीरे बन्द हो चली थी। 'स्त्रीधन' को छोड़कर धन सम्पत्ति पर स्त्रियों का अधिकार नहीं था जिससे वे सन्तान उत्पन्न करने की साधन मात्र रह गईं। संगीत, नृत्य तथा चित्रलेखन आदि ललित कलाओं की शिक्षा प्राप्त करने की सुविधाएँ तो थीं पर उच्च शिक्षा की नहीं। इसी से बहुत कुछ मिलती जुलती अवस्था नारियों की शुगकालीन भारत में भी थी, पर उनका सामाजिक स्तर उत्तरोत्तर गिर ही रहा था। विवाह की आयु घटा देने के कारण शिक्षा और स्वतन्त्रता का

मार्ग तो रुक ही गया था; वे पति भी अपने मन का नहीं चुन सकती थीं। विधवा-विवाह का प्रचलन किसी सीमा तक था, यह कहना कुछ कठिन अवश्य है। शूद्रक के 'मृच्छकटिक' और कालिदास के नाटकों में सती प्रथा का उल्लेख मिलता है। हर्षवर्द्धन के राज्यकाल में भी मूर्तियों से विदित है कि पर्दे की प्रथा तो नहीं थी पर अभिजात्य कुल की स्त्रियाँ घरों से निकलने पर घूँघट अथवा पर्दे का प्रयोग करती थीं। इस प्रथा का पालन कठोरतापूर्वक नहीं किया जाता था।

पूर्व मध्य काल में सती प्रथा विशेष कर राजपूतों में जोरों पर थी, जिसके मूल में थी तत्कालीन राजनैतिक परिस्थिति। बारहवीं शताब्दी में मोहम्मद गोरी के आक्रमण के पश्चात् मुसलमानों का राज्य स्थापित हो गया था। बारहवीं से पन्द्रहवीं शताब्दी तक गुलाम, खिलजी, तुगलक, सैयद और लोदी वंश के अनेक शासकों ने भारत में राज्य किया। मुसलमान हिन्दू लड़कियों को मुसलमान बनाकर विवाह कर लेते थे। उनका घर से निकलना तथा शिक्षा प्राप्त करने बाहर जाना कठिन था, जिसके परिणाम स्वरूप बाल विवाह, बहुविवाह तथा सती आदि कुप्रथाओं को सामाजिक स्वीकृति मिली। आठ वर्ष की कन्या का विवाह आदर्श हो गया तथा सती और जौहर प्रथा अपनी पराकाष्ठा को पहुँच गई। मुसलमानों के भय से मध्य युगीन भारत की संत्रस्त जनता संन्यास की ओर बढ़ी जिसमें स्त्रियाँ मुख्य बाधक थीं। नाथों और सिद्धों ने नारी को माया कहा तथा कबीर और तुलसी ने उसे शूद्र की श्रेणी में रखा। नारी के प्रति सूफियों का भी कोई स्वस्थ दृष्टिकोण नहीं था और रीति काल में वह केवल पुरुष की भोग्या बनकर रह गई। अंग्रेजों के आगमन से सामाजिक आन्दोलन आरम्भ हुआ। पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति के सम्पर्क में आने के कारण भारतीय सामाजिक जीवन के मूल्यों में भी परिवर्तन आया जिससे नारी को देखने के दृष्टिकोण में भी महान् अन्तर उपस्थित हुआ। इन काल के देशीय एवं विदेशीय अनेक सामाजिक आन्दोलनों ने नारी जीवन के निर्माण में अपना हाथ लगाया है। भारत का आधुनिक समाज अंग्रेजों के आने के बाद का तो है हा, इसका निर्माण भी उन्हीं की प्रभाव-छाया में हुआ है। उपर्युक्त नारी के समस्त रूप उपन्यासकारों के लिये आकर्षण के विषय रहे हैं। इतिहास तथा काव्यकारों ने तथ्य तथा अतिरंजना के आधार पर जिन नारी मूल्यों की कल्पना की थी उसकी ही यथार्थ व्याख्या वर्तमान समाज के हित में उपन्यासकार करता है। प्रत्येक उपन्यासकार की अपनी सीमाएँ होती हैं। सामाजिक उपन्यासकार अतीतकालीन नारी-मूल्यों का चित्रण यदि करना भी चाहे तो नहीं कर सकता क्योंकि ऐसा करने में वह अपने लक्ष्य से बहुत दूर चला जायगा और उससे उसके उद्देश्य की भी सिद्धि नहीं हो सकती। वह समसामयिक समस्याओं एवं परिस्थितियों के अनुकूल ही अपने नारी-पात्रों का निर्माण कर पाता है जिससे आधुनिक समस्याओं को लेकर लिखे सामाजिक उपन्यासों में पाश्चात्य सभ्यता

के प्रभाव में निर्मित नारी के ही दर्शन होते हैं। अतीतकालीन भारत के नारी मूल्यों की व्याख्या तो ऐतिहासिक उपन्यासों के माध्यम से ही हो पाती है। यद्यपि हिन्दी में सफल ऐतिहासिक उपन्यासों का अपेक्षाकृत अभाव है, फिर भी कुछ ऐसे ऐतिहासिक उपन्यास हिन्दी में मिल ही जाते हैं जिनमें मानव-समाज के बदलते हुए मूल्यों की सुन्दर व्याख्या प्रस्तुत की गई है।

मानव समाज के विविध पक्षों पर प्रकाश डालने के निमित्त पुरुष-पात्र की अपेक्षा नारीपात्र का माध्यम अधिक उपयुक्त ठहरता है क्योंकि मानव समाज के मूल में नारी विद्यमान है। नारी से समाज सृष्टि, प्रेरणा, शक्ति, तुष्टि, प्रेम आदि सभी कुछ पाता है। उसके विकास का इतिहास मानव सभ्यता एवं संस्कृति का इतिहास है। मानव समाज के बदलने वाले सामाजिक मूल्यों को आँकने के जितने भी साधन हैं, नारी उन सबमें प्रधान है। सामाजिक विकास से नारी अस्तित्व की परख हम अलग नहीं कर सकते। एक दूसरे का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। सामाजिक मूल्यों के साथ नारी के सामाजिक मूल्यों का परिवर्तित होना अनिवार्य है। जब कभी हमें नारी के सामाजिक मूल्यों की परख करनी हो, तो हमारे लिए आवश्यक हो जाता है कि तत्कालीन समाज का पूर्ण परिचय प्राप्त करें। ऐतिहासिक उपन्यासों के द्वारा प्राप्त प्रमुख नारी पात्रों की व्याख्या तत्कालीन वर्णित सामाजिक वातावरण को सामने रखकर ही की जा सकती है। हिन्दी उपन्यास साहित्य के विकास को देखते हुए हम कह सकते हैं कि अपेक्षाकृत ऐसे ऐतिहासिक उपन्यासों का नितांत अभाव है जो अतीत के पृष्ठों पर बिखरे हुए भारतीय समाज की यथार्थ व्याख्या प्रस्तुत कर सकें। द्रष्टव्य यह है कि हिन्दी साहित्य में जितने भी श्रेष्ठ ऐतिहासिक उपन्यास उपलब्ध हैं, उनकी प्रधान संघटना नारी पात्रों को घेर कर ही हुई है। प्रधान पात्र के रूप में हमारे सामने 'नारी' ही आती है। जैसे 'झाँसी की रानी' 'विराटा की पद्मिनी', 'वैशाली की नगरवधू', 'दिव्या', 'चित्रलेखा', 'भट्टिनी', 'निपुणिका'[1] आदि, जिससे ऐतिहासिक उपन्यासों में 'नारी' की महत्ता अपने आप प्रमाणित हो जाती है।

उपर्युक्त हिन्दी उपन्यासों में नारी को चित्रित करने का उपन्यासकारों के विभिन्न दृष्टिकोण रहे हैं। ऐसे ऐतिहासिक उपन्यास जिनमें केवल नारी के पराक्रम, शौर्य एवं पुरुषत्व (शौर्ययुक्त नारीत्व) की ही चर्चा होती है, उसके द्वारा सामाजिक मूल्यों एवं नारी के स्वाभाविक चरित्र-विकास के सम्बन्ध में जानना सम्भव नहीं क्योंकि ऐसी स्थिति में वीर पूजा की भावना से प्रेरित हो लेखक हर ओर से आँखें मूँद कर यशोवर्णन में ही व्यस्त रहता है। ऐसी स्थिति में वह दुर्गा, चण्डी, शक्ति एवं देवी का चित्रण करता

१—भट्टिनी और निपुणिका यद्यपि उपन्यास 'बाणभट्ट की आत्मकथा' के प्रधान पात्र नहीं हैं, फिर भी उपन्यास का सम्पूर्ण ताना-बाना उन्हीं के सहारे बुना गया है।

है, नारी का नहीं। इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण वृन्दावन लाल वर्मा का ऐतिहासिक उपन्यास 'झाँसी की रानी' है। ऐसी नारियाँ स्वयं इतिहास का निर्माण करती हैं, इतिहास उनका नहीं। अतः ऐसे नारी पात्रों की ऐतिहासिक भूमिका में व्याख्या करना आवश्यक नहीं जान पड़ता। जिन नारी पात्रों के विकास में समाज का योग अधिक रहता है अथवा दोनों एक साथ विकसित होते हैं वे ही हमारी व्याख्या के योग्य हैं।

'वैशाली की नगरवधू', 'चित्रलेखा', 'दिव्या', 'बाणभट्ट की आत्मकथा' और 'विराटा की पद्मिनी' हिन्दी के ऐसे ऐतिहासिक उपन्यास हैं जिनमें क्रम से भारत के ऐसे काल का चित्रण है जिसमें महान धार्मिक, सांस्कृतिक एवं राजनैनिक परिवर्तन हुए हैं। यदि एक उपन्यास में भगवान् बुद्ध का आँखों देखा समाज चित्रित है तो दूसरा सम्राट चन्द्रगुप्त-कालीन समृद्ध भारत की झाँकी देता है, तीसरे उपन्यास में यदि मौर्य साम्राज्य के पराभव एवं पुष्यमित्र शुङ्ग-कालीन भारत का चित्र है तो चौथे में हर्षकालीन भारत और पाँचवाँ लड़खड़ाते हुए मुगल साम्राज्य का। उपन्यासकार यत्र-तत्र अतीत के पृष्ठों पर बिखरी ऐतिहासिक सामग्रियों के माध्यम से अपनी कल्पना को रूप देता है। यदि उसे उपन्यास की साहित्यिक भूमि से उठकर केवल सच्ची घटनाओं का ही चित्रण करना होता, तो उसके द्वारा प्रस्तुत किये गये नारी पात्रों का मूल्यांकन करना अत्यन्त सरल होता। उपन्यासकार कथा तथा अपने अन्य पात्रों के विकास को दिखलाने के लिए अन्य स्वाभाविक कही जाने वाली रूढ़ियों को मानने के लिए विवश हो जाता है और इसके अतिरिक्त उसे समस्त स्वाभाविकताओं का निर्वाह करते हुए उद्देश्य तक भी पहुँचना होता है। ऐसी स्थिति में ऐतिहासिक उपन्यासकार को जितनी अग्नि-परीक्षा के लिए प्रस्तुत रहना पड़ता है, उतना अन्य उपन्यासकारों को नहीं।

'वैशाली की नगरवधू' और 'चित्रलेखा' का समय 'दिव्या' और 'विराटा की पद्मिनी' के समय से अपेक्षाकृत अधिक निकट है। दोनों की सीमाएँ एक दूसरे से मिली हैं जिससे दोनों की कथावस्तु एवं ऐतिहासिक वातावरण में अपेक्षाकृत साम्य अधिक है। 'विराटा की पद्मिनी' की नायिका 'कुमुद' की स्थिति तीनों उपन्यासों से ही नितान्त भिन्न है। उपन्यासकार ने 'कुमुद' के माध्यम से किसी सामाजिक समस्या का समाधान उत्पन्न नहीं करना चाहा है, जिससे चरित्र-विकास में उस प्रकार के मोड़ नहीं आ पाये हैं जितने कि 'आम्रपाली', 'चित्रलेखा' और 'दिव्या' में आये हैं। किन्तु इन चारों स्त्री पात्रों में स्त्री-सुलभ रूप आकर्षण समान रूप से विद्यमान है। उपन्यास की सारी समस्या तथा कथा का विकास इसी रूपाकर्षण के कारण होता है। इन नारी पात्रों के रूप में इतनी शक्ति है कि तत्कालीन सम्पूर्ण समाज प्रभावित हुए बिना नहीं रहता, जिससे उसकी सामाजिक व्याख्या उभड़कर उपन्यास में आ गयी है। 'चित्रलेखा' और 'कुमुद' का प्रभाव अपेक्षाकृत जितना ही सीमित है उतना ही गम्भीर भी। 'कुमुद' को

छोड़कर अन्य तीनों नारी पात्रों की विकास रेखाएं बहुत कुछ आपस में मिलती जुलती जान पड़ती हैं। आम्रपाली अपने वाग्दत्त पति की न होकर 'नगरवधू' बनने के लिए बाध्य की जाती है। संयम की दृढता के बावजूद उसका मन एक बार 'महाराज उदयन' और दूसरी बार 'सोम प्रभु' को देख कर ढीला होता है और अन्त तक जाते-जाते वह अपने यौवन का असह्य भार महाराज बिम्बसार के कन्धों पर उतार फेंकती है। वह अपना पूर्ण शारीरिक समर्पण कर बैठती है। 'दिव्या' का स्वाभाविक अनुराग 'सागल' के 'मधुपर्व' के अवसर पर घोषित सर्वश्रेष्ठ खड्गधारी श्रेष्ठि-पुत्र पृथुसेन के साथ हो जाता है। जहाँ एक ओर 'गणराज्य' के दूषित नियम के कारण 'आम्रपाली' अपने होने वाले पति को न प्राप्त कर सकी, वहीं दूसरी ओर 'गणराज्य' के नियमों के प्रतिकूल 'दिव्या' को उसके होने वाले पति पृथुसेन से वंचित होना पड़ा। दोनों के भाग्यपरिवर्तन के मूल में है उनका अतुल सौन्दर्य। यदि 'आम्रपाली' गणराज्य की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी न होती तो उसे कदापि 'नगरवधू' होने के लिए विवश न होना पड़ता और वह अपने पति की परिणीता वधू होती। 'दिव्या' का भी सौन्दर्य उसके दुर्भाग्य का कारण बना। हम देखते हैं कि उस समय के गणराज्यों पर सत्ता अभिजात्यवर्ग की ही थी जिसे वे अपनी इच्छा और सुविधा की दृष्टि से चलाते थे। 'पृथुसेन' का 'प्रतिद्वन्द्वी' 'रुद्रधीर' अभिजात्यवर्ग का प्रभावशाली सामन्त था जो 'दिव्या' को पाना चाहता था। हम देखते हैं कि निर्णय के अनुसार 'दिव्या' 'पृथुसेन' की हो चुकी थी, किन्तु न तो उसे अपने परिवार से ही स्वीकृति मिल पाती है और न तो रुद्रधीर के षड्यन्त्रों के कारण ही वह अबाध है। इस प्रकार हम देखते हैं कि 'आम्रपाली' के पथ में केवल उसका रूप ही था किन्तु 'दिव्या' के मार्ग में उसका रूप और समाज दोनों आ जाते हैं। 'चित्रलेखा' और 'विराटा की पद्मिनी' की स्थिति इन दोनों से बिल्कुल भिन्न है। 'चित्रलेखा' विधवा थी और ऐसी स्थिति में उसका गर्भवती होना उसकी समस्याओं को जन्म देना है। वह स्वतन्त्र नारी, जिसे हम वेश्या कह सकते हैं, हो जाती है और अपने रूप के माध्यम से वह जिन्हें जहाँ गिराने में समर्थ हुई वहीं वह स्वयं गिरी भी। यदि 'चित्रलेखा' ने योगी कुमारगिरि के सामने अस्वाभाविक शारीरिक समर्पण किया तो 'आम्रपाली' ने वृद्ध सम्राट बिम्बसार के सम्मुख किया था और इससे ही मिलता जुलता समर्पण 'दिव्या' का 'मारिश' के प्रति भी है। किन्तु 'विराटा की पद्मिनी' कल्पना-पूत रमणी है, जिसके शरीर को वायु स्पर्श से मलिन होने का भय बना रहता है। वह धरती पर उतरना जानती ही नहीं, उसके पाँव कल्पना के आकाश में ही चलते पाये जाते हैं। वह मानवी नहीं देवी है। वह प्रेम नहीं करती, बल्कि वरदान देती है, जो उसने केवल राजकुमार कुञ्जरसिंह को दिया था। लेखक ने जिन परिस्थितियों में 'कुमुद' का निर्माण किया है उसमें उसका काम ही वरदान देना है किन्तु यह अभ्यागतों को केवल भस्म देती है। पुष्प और भस्म उसने केवल, कुञ्जरसिंह

ही को दिया जो एकमात्र उसका प्रेमी बन पाता है। इन दोनों का प्रेम आदर्श के उस छोर को छू लेता है जहाँ वह लौकिकता के धरातल से ऊपर उठ कर अलौकिक हो जाता है। अत चित्रलेखा, दिव्या तथा आम्रपाली के साथ 'कुमुद' जो आगे चल कर विराटा की पद्मिनी बन जाती है, की व्याख्या करना आवश्यक नहीं।

'आम्रपाली', 'चित्रलेखा' और 'दिव्या' की मानसिक प्रक्रिया में बहुत कुछ साम्य है। 'आम्रपाली' को जब हम बिम्बसार को आलिंगन देते देखते हैं तो कुछ अच्छा नहीं लगता। जिस आम्रपाली ने 'उदयन' और 'सोमप्रभु' जैसे आकर्षक युवक से अपने को अक्षत रखा, जब कि वह मनसे उनकी हो चुकी थी तो वृद्ध सम्राट के गले लग जाने का कुछ-न-कुछ रहस्य अवश्य होगा। इस समर्पण का जो सबसे बड़ा कारण है वह उसके मन में हुई 'गणराज्य' के विरुद्ध प्रतिक्रिया, जिसने अपने दूषित विधान-द्वारा उसको सर्वभोग्या बना दिया था, जिसने यौवन के प्रथम उभार में उत्पन्न हुई उसकी इच्छाओं का गला घोट दिया था और जिसने उसे कुलीन नारी से वेश्या बना दिया था। वह गणराज्यों का विनाश अपनी आँखों देखना चाहती थी। उसे विश्वास था कि उसकी यह इच्छा एकमात्र सम्राट बिम्बसार के द्वारा ही पूरी हो सकती है जिससे उसने इच्छा की तुष्टि के लिए अपने यौवन और रूप को साधन बनाया। आम्रपाली का आत्म समर्पण एक नारी का पुरुष के सामने नहीं, बल्कि एक निराश्रित स्त्री का आश्रय के लिए सम्राट के सम्मुख था। उसके मन मे छिपी एक भावना और भी विद्यमान थी कि इस प्रकार उसका पुत्र ही साम्राज्य का उत्तराधिकारी होगा। उसने अपने यौवन, रूप और इच्छाओं की बलि परिस्थितियो की वेदी पर दी थी।

'मारिश' के सम्मुख 'दिव्या' का समर्पण उसके परिस्थिति-जन्य अनुभवों का परिणाम है। उसका यह प्रथम समर्पण नहीं था, बल्कि इसके पूर्व वह जब यौवन की रँगीनियो में प्रवेश कर रही थी उसने पृथुसेन के सम्मुख भरपूर समर्पण किया था जो अत्यन्त स्वाभाविक था। उसका दूसरी बार का आत्मसमर्पण यद्यपि प्रतिक्रियात्मक ही है, किन्तु अस्वाभाविक नहीं। आरम्भ में जिस सूत्र का संकेत 'मारिश' द्वारा दिव्या को मिला था और जिस पर उसने उस समय यौवन के उन्माद के कारण ध्यान नहीं दिया था, वही उसे जीवन की कंकरोली राहों पर चल लेने के पश्चात् उचित जान पड़ने लगा। इससे यह अत्यन्त स्वाभाविक है कि उस पुरुष के प्रति उस नारी का स्वाभाविक आकर्षण हो जिसके सिद्धान्तों की सत्यता उसके जीवन में प्रमाणित हो चुकी है। दिव्या जीवन में आनेवाली प्रत्येक परिस्थितियो में पवित्र रहती है। उसके मानसिक और शारीरिक व्यवहारों में सन्तुलन सदैव बना रहता है जो उसके चरित्र की सबसे बड़ी विशेषता है। समाज एवं धर्म जब उसे शरण न दे पाये तो उसने वेश्या होना अपनी इच्छा से स्वीकार किया था क्योंकि धर्मगुरुओं द्वारा कहे हुए ये वाक्य उसके कानों में

बराबर गूँजा करते हैं "वेश्या एक स्वतन्त्र नारी है।" वह स्वतन्त्र नारी बनती है, किन्तु काजल की उस कोठरी में उसे काजल की एक लीक भी नहीं लग पाती। भारतीय नारी की वह सच्ची प्रतिनिधि है जिसका निर्माण सामाजिक संघर्षों के बीच हुआ है। सामाजिक कुरीतियों के प्रतिकूल चलकर उन्हें मिटा देने की शक्ति तो उसमें नहीं है, किन्तु बहुत जल्दी यह परिस्थितियों से हार भी नहीं मानती।

'चित्रलेखा' एक समर्थ स्वतन्त्र नारी है समाज जिसका कुछ भी बना बिगाड़ नहीं सकता। तत्कालीन समाज उस पर प्रभाव डालने में असमर्थ है, वह अपने मन की रानी है और अपने दृढ़नारी व्यक्तित्व के कारण अपने आसपास के समाज का स्वयं निर्माण करती है। वह पूतकाया नारी नहीं है और न तो अन्त तक व्यवहार में एक प्रेमी की विश्वासपात्र प्रेमिका ही रह पाती है। वैधव्य काल में गर्भ धारण करने के कारण जो उसे समाज के सामने अपमानित होना पड़ा, उसके परिणाम स्वरूप तो वह स्वतन्त्र नारी बनी और अन्त में यह जान कर कि उसका एकमात्र प्रेमी 'बीजगुप्त' ब्याह करके अपनी गृहस्थी बसाने जा रहा है, प्रतिक्रिया स्वरूप कुमारगिरि को अपना सब कुछ दे बैठती है। इस प्रकार उसका समर्पण आकर्षणजन्य न होकर प्रतिक्रिया-जन्य है।

तीनों ही नर्तकी हैं। किन्तु तीनों की स्थिति में उतना ही अन्तर है जितना कि उनके समय में। इनके द्वारा जिस समाज का चित्रण मिलता है उससे अतीत काल के समाज में वेश्याओं की स्थिति का पता लगता है। पूर्व काल में वेश्याओं की स्थिति आज की-सी नहीं थी। मुख्यतः हमें तीन प्रकार की वेश्याओं का चित्रण मिलता है, गणिका, राजनर्तकी और वेश्या। आम्रपाली गणिका थी। गणिका गणराज्यों की सबसे अधिक सम्मानित नारी समझी जाती थी, जिसका चुनाव सुन्दरता के आधार पर किया जाता था, जिसमें हम आज के सौन्दर्य प्रतियोगिता का सूत्र ढूँढ़ सकते हैं। जाति-धर्म निरपेक्ष किसी भी सर्वसुन्दरी को अनिवार्यतः गणिका का पद स्वीकार करना पड़ता था जिसे 'नगरवधू' कहते थे। अठारह वर्ष की आयु की समाप्ति के साथ ही सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी कन्या को पुष्पकरणी में स्नान कराने के पश्चात् 'नगरवधू' घोषित कर दिया जाता था। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि १८ वर्ष की आयु के पूर्व लड़कियों को विवाह करने की अनुमति नहीं थी। इस कार्य का संपादन गणसमारोह में किया जाता था। "अब भन्ते गण सुनें" "भन्ते महानामन आज—आपकी पुत्री अम्बपाली अठारह वर्ष की आयु पूर्ण कर चुकी। वैशाली जनपद में सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी है। इसलिए वज्जीगणतंत्र के कानून के अनुसार उसे यह परिषद् वैशाली की नगरवधू घोषित करती है।" नगरवधू का गण-राज्य में कितना सम्मान था, वह इससे ही जाना जा सकता है कि घोषणा के पश्चात गणभोज में किस प्रकार नगरवधू के पत्तल पर का भोजन खाने के लिए गणक आतुर रहते थे। अब गण-भोज आरम्भ हुआ। "गण के प्रत्येक सदस्य ने अम्बपाली के पत्तल

से कुछ खाया।" मधुपर्व के अवसर पर सज-धज के साथ उसकी सवारी निकलती थी। उसे गण के प्रत्येक व्यक्ति का मनोरंजन करना था।

'दिव्या' के अन्दर जिस काल का चित्रण किया गया है उस समय तक 'नगरवधू' की स्थिति नहीं रह गयी थी। उस समय की प्रधान गणिका 'मल्लिका' गणिका नहीं, बल्कि 'राजनर्तकी' थी। इस समय तक राजनर्तकी का सम्बन्ध बहुत कुछ कला से जोड़ दिया गया था। वह कला की अधिष्ठात्री थी। उसका सम्मान सम्पूर्ण गण मे राज्य-स्तर पर था। 'नगरवधू' और उसके सम्मान में यह भी अन्तर था कि उसका सम्मान कलाप्रियता के कारण था। उस समय तक समाज मे कला की उपासना बढ़ गयी थी। राजकीय स्तर पर कला की प्रतियोगिताएँ भी हुआ करती थीं, जिनमें गण के श्रेष्ठ पुरुष भाग लेते थे। राजनर्तकी का स्थान ऐसा था जहाँ मनोविनोद की दृष्टि से जाने में किसी को किसी प्रकार का संकोच नहीं होता था। यहाँ तक कि संभ्रात कुल की कुमारियाँ भी कला की शिक्षा प्राप्त करने वहाँ जाया करती थीं, ऐसा उपन्यासकार ने दिखलाया है। दिव्या की कलात्मक शिक्षा 'मल्लिका' के स्थान पर ही हुई थी। इतिहास में इतना तो मिल जाता है कि वह समय स्थूल भोगैश्वर्य का था, जनपद कल्याणी नर्तकी वेश्या भी राज्य के आश्रय में प्रतिष्ठित थी, कला की प्रतियोगिताएँ भी जन-समाज में चला करती थी, किन्तु गण या धर्मस्थ की प्रपौत्रियाँ किसी वेश्या की शिष्या बनकर उसके यहाँ जाकर, नृत्य गान सीखती थी और उस प्रसंग में वे जन-साधारण के नेत्रो का उत्सव बनती थी—ऐसा तत्कालीन अभिजात वर्ग के इतिहास मे नहीं मिलता। इसका यह अर्थ नहीं कि वे ललितकलाएँ सीखती ही नहीं थीं, सीखती थीं, पर उसकी व्यवस्था उनके घर पर ही होती थी, वेश्याओं के घरों में नहीं। उपन्यासकार राजनर्तकी के सामाजिक स्तर को उठाने के लिए 'दिव्या' की शिक्षा का वर्णन राजनर्तकी के यहाँ करता है, किन्तु आगे चल कर उसके ही चित्रण से उसका प्रतिकार हो जाता है। राजनर्तकी वेश्या भी होती थी, ऐसा उस समय प्रकट हो जाता है जब 'दिव्या' को राजनर्तकी 'मल्लिका' चाहकर भी अपनी उत्तराधिकारिणी नहीं बना पाती। लोगों को यह जानकर कि कला की पीठ की उत्तराधिकारिणी विष्णुशर्मा की पौत्री द्विजकन्या 'दिव्या' है, आश्चर्य होता है और आचार्य भृगु शर्मा ने जिसका सशक्त प्रतिरोध भी किया "भद्र यह द्विजकन्या वेश्या के आसन पर बैठकर जन के लिए भोग्य बनकर वर्णाश्रम को अपमानित नहीं कर सकती।" जिस से राजनर्तकी की वास्तविक स्थिति का पता लग सकता है जब कि 'नगरवधू के सम्बन्ध में ऐसी कोई बाधा नहीं थी। गण सीमा के बाहर नर्तकियों का स्थान वेश्या का-सा ही था। जिस वेश्या रत्न-प्रभा के यहाँ 'दिव्या ने आश्रय लिया था वह वेश्या ही थी। वेश्या होकर भी पवित्र रहना 'दिव्या' की अपनी व्यक्तिगत विशेषता थी। राजनर्तकी का चुनाव भी 'नगरवधू'

के समान नहीं होता था, बल्कि उसकी योग्य संतान ही उत्तराधिकारिणी होती थी। संतान के अभाव में अपनी उत्तराधिकारिणी की घोषणा वह स्वयं कर जाती थी। सामान्य वेश्या और उसमें मुख्य रूप से यह अन्तर था कि उसका सम्मान राजकीय स्तर पर किया जाता था। राजनर्तकियों और वेश्याओं के महल उस समय में राजनीति के अखाड़े बन गये थे, ऐसा इतिहासों में भी मिलता है और उपन्यासकार ने भी संकेत किया है। इन कुछ अपवादों को छोड़कर दिव्या उपन्यास में कुछ भी अविश्वसनीय नहीं रह जाता और उसमें ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की कल्पना भी सर्वथा निर्दोष उतर जाती है।

'दिव्या' के समाज में हमें जिस वेश्या-जीवन की झाँकी मिल जाती है उसका स्वरूप 'चित्रलेखा' तक आते-आते अत्यन्त स्पष्ट हो गया है। वह न तो 'नगरवधू' की-सी सम्मानित गणिका है और न तो 'राजनर्तकी की-सी सम्मानित कला की अधिष्ठात्री ही, बल्कि वह वेश्या है जिसे नर्तकी कहा जाता था। राजकीय स्तर पर उसका कोई सम्मान नहीं जान पड़ता, किन्तु उसे सामाजिक सम्मान मिला था। उसकी स्थिति समाज में आज की-सी वेश्याओं की नहीं थी। पाटलिपुत्र की सड़कों पर जब कभी उसका रथ निकल जाता था तो श्रेष्ठ सामंतों के रथ अभिवादन के लिए रुक जाते थे और उसका शरीर पुष्प-मालाओं से लद जाता था। इसके सम्मान के मूल में थी समाज की कलाप्रियता जिसमें चित्रलेखा के वैयक्तिक गुणों का महत्व अधिक है, उसके नर्तकी होने का नहीं, क्योंकि उसके समान और भी नर्तकियाँ थीं जिनका वैसा सम्मान सम्भव नहीं था। वह केवल नगर की एकमात्र नहीं बल्कि सर्वश्रेष्ठ नर्तकी थी। 'चित्रलेखा' के वैयक्तिक गुण उपन्यास में उभड़ कर अधिक आये हैं, समाजगत कम जिससे वह अपने आस पास ऐतिहासिक वातावरण उतना प्रस्तुत नहीं कर पाती है जितनी कि 'आम्रपाली' और 'दिव्या' कर पाती हैं। मौर्य काल तक समाज में स्पष्ट अध्यात्मवाद और भोगवाद के सिद्धान्तों का प्रतिपादन होने लगा था, क्रम से जिसके प्रतिनिधि हैं 'कुमारगिरि' और 'बीजगुप्त'। 'चित्रलेखा' द्वारा 'कुमारगिरि' का पतन अध्यात्मवाद पर 'भोगवाद' की विजय है। इस प्रकार की समस्या इस रूप में 'आम्रपाली' के समय में नहीं थी। अन्य सामाजिक कुरीतियाँ थीं जिनको दूर करने के लिए भगवान् बुद्ध प्रकट हो चुके थे। किन्तु दिव्या के समय में इसका सूत्र मिल जाता है। जिस काल का चित्रण लेखक ने 'दिव्या' में किया है उसके पूर्व ही आचार्य 'चार्वाक' ने 'भोगवाद' के सिद्धान्त की घोषणा कर दी थी। अपनी कल्पना-शक्ति द्वारा लेखक ने उसी भोगवाद के सिद्धांत का किसी न किसी प्रकार प्रतिपादन अपने प्रतिनिधि पात्र 'मारिश' से कराया है। 'चारवाक' के सिद्धांतों में व्यक्ति को अधिक महत्व दिया गया था, किन्तु 'दिव्या' में मानव की अमरता पर अधिक बल दिया गया है जो समाज के माध्यम से ही सम्भव है।

"'मारिश' और 'दिव्या' उपन्यासकार के विचारों के प्रतिनिधि होकर आये हैं। 'दिव्या' क्रान्ति तथा विद्रोह का प्रारम्भ है तो 'मारिश' उसकी पूर्ण आहुति है। दिव्या की वैयक्तिक क्रान्ति का समाधान 'मारिश' के भौतिकवाद में है। 'दिव्या' के चरित्र में व्यक्ति, परिवार, धर्म, पुरुषाश्रयता, पुरुष-दासता और पुरुष-भोगता के प्रति नारी का चिरंतन विद्रोह प्रकट हुआ है। 'दिव्या' वर्गवाद, अहंवाद के मुख पर एक थप्पड़ है। पृथुसेन की चारित्रिक अवकीर्णता और विश्वासघात (जिसके भीतर मनुष्य की उच्छृङ्खलता और नारी की दासता की पृष्ठभूमि है) के कारण दिव्या को नारी की परवशता, भयंकर अभिशाप जान पड़ी। इससे प्रेम का वह आदर्श उसे छूछा ही जान पड़ा जिसकी साधना 'कालिदास' को 'शकुन्तला' ने की थी। दूसरे शब्दों में पातिव्रत धर्म की सम्भावना का पूरा-पूरा विरोध दिव्या के चरित्र में है। कुल-धर्म की रूढ़ि और वैयक्तिक आचार-विचार की साधना अनपेक्षणीय ठहरती है।

कालिदास की 'शकुन्तला' का समय बीत चुका था। 'दुष्यन्त' के साथ गान्धर्व सम्बन्ध होने पर भी शकुन्तला ने जिस एकनिष्ठा और पातिव्रत प्रेम को दुष्यन्त से प्रत्याख्यात होकर भी, संयम-साधना से तपाकर, समाज के सम्मुख रखा था 'दिव्या' ने उसी को खीझकर भौतिक-शिला पर चूर-चूर कर दिया। उसकी खीझ के मूल में था आपत्ति के समय धर्म, कुल आदि की शरण प्राप्त न होना जिससे उसका अनुभव उनके प्रति अत्यन्त कटु हो गया था और वह बुरी तरह इनके खोखलेपन पर प्रहार करती है। वह जीवन के आध्यात्मिक आदर्श और काल्पनिक नक्षत्रों को दुत्कार कर उसके भौतिक तथा व्यावहारिक धरातल पर उतरने का निर्णय करती है। पृथुसेन और रुद्रधीर दोनों को ठुकरा कर मारिश को ही अपना आश्रय तथा जीवनसाथी चुनना इस तथ्य की प्रामाणिकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'दिव्या' के चरित्र-विकास के माध्यम से जितने ऐतिहासिक यथार्थ और सामाजिक वातावरण सामने लाये जा सके हैं उतने 'अम्बपाली' तथा 'चित्रलेखा' के माध्यम से नहीं।

निपुणिका भी नर्तकी रह चुकी है पर उसका नर्तकी रूप अम्बपाली, दिव्या और चित्रलेखा से नितान्त भिन्न है क्योंकि हर्षकालीन भारत की सामाजिक स्थिति बहुत कुछ बदल चुकी है। यही कारण है कि निपुणिका और भट्टिनी के माध्यम से तत्कालीन समाज का चित्रण उतना नहीं हो सका है, जितना कि उनके कारण उत्पन्न परिस्थितियों के माध्यम से हो सका है। उपन्यासकार नारी आदर्श के निर्माण में अधिक लग गया है जिससे अन्य उपर्युक्त ऐतिहासिक नारी पात्रों से निपुणिका और भट्टिनी थोड़ा भिन्न हैं पर उनके माध्यम से हर्षकालीन भारत की सामाजिक झाँकी प्रस्तुत हुई है इसमें सन्देह नहीं।

'बाणभट्ट की आत्मकथा' में जितने भी स्त्री पात्र आये हैं उनमें राज्यश्री को छोड़कर प्रायः सभी उपन्यासकार की कल्पना की उपज हैं परन्तु उन काल्पनिक स्त्री पात्रों के द्वारा ही लेखक हर्षकालीन भारत का एक सजीव सामाजिक रोमांस उपस्थित करने में सफल हो सका है। कार्य विस्तार एवं महानता की दृष्टि से बाणभट्ट के पश्चात् उपन्यास का सबसे महत्वपूर्ण चरित्र निपुणिका है पर प्रभाव की दृष्टि से भट्टिनी का स्थान अत्यन्त महत्व का है, जिसके कारण ही भट्ट, बाणभट्ट हो पाता है। भट्टिनी एक ऐसी प्रेरणा-दायिनी रूपवती शक्ति है जिसके संपर्क में आकर बाणभट्ट 'बण्ड' न रहकर शिव का प्रतीक बन गया है। उपन्यासकार ने भट्टिनी को विषम समर विजयी तुवरमिलिन्द की एकमात्र नयनतारा राजनन्दिनी के रूप में उपस्थित किया है, जिससे आत्मगौरव, निश्चय की दृढ़ता तथा उदात्त भावों के प्रति निष्ठा का समावेश उसके चरित्र में जातीय संस्कार के रूप में आ गये है। न जाने कितनी स्त्रियाँ ऐसी मिल सकती हैं जो भट्टिनी के रूप की समानता कर सकती हैं, पर कितनी ऐसी हैं, जिन्हें तुवरमिलिन्द जैसे पिता की पुत्री होने का अधिकार है। पद, वैभव एवं कुलमर्यादा से भी सौंदर्य का महत्व बढ़ता है, जो महानता भट्टिनी को प्राप्त है और ऐसा सौन्दर्य जिसके द्वार पर याचना के लिये खड़ा हो उस व्यक्ति की महानता का तो पूछना ही क्या ? बाणभट्ट ऐसा ही व्यक्ति है जिसके सम्मुख भट्टिनी ऐसी नारी, गोमुखी गंगा की भाँति उपस्थित होती है। दोनो का ही चरित्र महान् है और दोनों ही एक दूसरे को प्रभावित करते हैं तथा दोनो ही के दृष्टिकोण में जो परिवर्तन आया है, वह एक दूसरे के प्रभाव का ही परिणाम है। बाण-भट्ट ने अपने स्वाभाविक संकोच को छोड़कर जब पहली बार भट्टिनी को वीणा बजाते देखा तो उसने अनुभव किया कि भट्टिनी के स्वरूप मे ऐसी शक्ति है जिसे देखकर पतित व्यक्ति के हृदय में भी भक्ति हुए बिना नहीं रह सकती। उसका रूप ऐसा है मानो वह धर्म के हृदय से निकली हुई है। 'मानो विधाता ने शंख से खोदकर मुक्ता से खोंचकर, मृणाल से सँवार कर चंद्र-किरणों के कूर्चक से प्रक्षालित कर, सुधा-चूर्ण से धोकर, रजत-रस से पोंछकर, कुटज कुन्द और सिंधुवार पुष्पों की धवलकान्ति से सजा कर ही उसका निर्माण किया था।' ऐसी कमनीय एवं अलौकिक नारी के संपर्क में आकर बाणभट्ट का नारी-शरीर को देवमन्दिर समझ बैठना और उसका भक्त बन जाना स्वाभाविक है। पिता से वंचिता भट्टिनी को भी बाणभट्ट ही ऐसा पुरुष पात्र मिलता है जो उसके गौरव के अनुकूल व्यवहार करता है, नहीं तो वह अब तक तो पुरुषों की 'कामुक चेष्टाएँ तथा अश्लील प्रदर्शन ही देखती आई है जिससे पुरुषमात्र के प्रति घृणा करने लग जाना उसके लिए स्वाभाविक ही है।' भट्टिनी के रूप में उपन्यासकार ने नारी आदर्शों को मूर्तमान कर दिया है। वह कमल से भी कोमल, चाँदनी से भी पावन, नवनीत से भी तरल, सागर से भी गंभीर और हिमाचल से भी दृढ चरित्र वाली नारी है। उसके संयम की सीमा नहीं और बाणभट्ट ऐसे प्रभावशाली व्यक्ति के सम्पर्क में

यदि वह आकर अपने स्वाभाविक सहृदयता का परिचय पाठकों को न कराती तो उसे आदर्श पुत्तलिका के रूप में ही स्वीकार करना पड़ता जिसका स्थान धरती नहीं, कल्पना-लोक है। नारीसुलभ ईर्ष्या, द्वेष तथा इच्छा और उत्कण्ठा के लिये भट्टिनी के चरित्र में कोई स्थान नहां, उसने इन दुर्बलताओं को संयम की शिला से दबा रखा है। निपुणिका तो उसे सरल बालिका कहती है, जिसे संसार की कटुता का लेशमात्र भी ज्ञान नहीं है। उसकी सरलता ही उसके आस-पास निःस्वार्थ अभिभावकों को पैदा कर देती है, चाहे वह निपुणिका हो अथवा बाणभट्ट। संयम, मर्यादा, आदर्श एवं सारल्य का अद्‌भुत संयोग हमें भट्टिनी के चरित्र में दिखाई पड़ता है। बाणभट्ट के प्रति भट्टिनी में सहज स्वाभाविक आकर्षण है। तांत्रिक अभिचार के कारण भट्ट के मूर्च्छित हो जाने पर भट्टिनी की विह्वलता, आवास पर देर से लौटने पर प्रतीक्षा करती हुई आँखों से उसका 'भट्ट' को मृदु उपालंभ देना, रात्रि में बाहर अकेले बैठे भट्ट को आदेश के स्वरों में वैसा न करने के लिए आग्रह करना तथा यह स्वीकार कर लेना कि "भट्ट! मैं जानती थी कि तुम मुझे डूबने न दोगे", आदि आकर्षण के स्पष्ट संकेत हैं। एक दिन जब उसने भट्ट को कहा कि तुम आर्यावर्त के द्वितीय कालिदास हो, तो कहते-कहते उसका मुख लाल हो गया, बड़े-बड़े विजन-शावक से चपल नयन कुछ झुक गये और अधरोष्ठों का मंद स्मित जल्दी-जल्दी भीतर भाग जाने की चेष्टा करने लगा। लेकिन भट्टिनी का आनन्द छिपाया नहीं जा सका। रह-रहकर कपोल पालि विकसित हो उठती थी और नयन-कोरक विस्फारित हो उठते थे। इन सबके ऊपर संयम के कारण ऐसे पुरुष के साथ अकेली रहने पर भी भट्टिनी कहीं भी अपनी मर्यादा का उल्लंघन करती नहीं जान पड़ती। अत्यन्त सरल एवं संकोची स्वभाव की नारी होते हुए भी जब कभी भट्टिनी मुखर हो जाती है तो 'भट्ट' को उपदेश देते समय उसके आदर्श स्वरूप के भी दर्शन हो जाते हैं। भारतीय संस्कृति परम्परा की भूमिका में भट्टिनी जीवन्त नारी आदर्श की एक मोहक कल्पना है।

निपुणिका के रूप में उपन्यासकार ने भारतीय नारी के आत्मबलिदान की अपूर्व छाया ऊर्जस्वित की है। लेखक भौतिक शरीर से ऊपर उठकर आदर्शों के गुणों के आधार पर नारी तत्व की कल्पना करता है, जिसे उसने निपुणिका के रूप में मूर्तमान करने का प्रयत्न किया है। 'यह जड़ मांस पिंड न नारी है न पुरुष। वह निषेध रूप तत्व ही नारी है। जहाँ कहीं अपने आपको ,सता देने, अपने आपको उत्सर्ग करने की भावना प्रधान है वहीं नारी है। जहाँ कहीं दुःख-सुख की लाख-लाख धाराओं में अपने को दलित द्राक्षा के समान निचोड़ कर दूसरे को तृप्त करने की भावना प्रबल है, वही नारी तत्व है या शास्त्रीय भाषा में कहा जाय तो यह 'शक्ति तत्व' है।" निपुणिका का निर्माण ही दूसरे की सुख सुविधा के लिये हुआ है। उसका व्यक्तित्व दूसरों के हित

में पर्यवसित हो गया है जिससे उसकी न तो अपनी कोई इच्छा है और न आवश्यकता हो। उसने जीवन में दान ही सीखा है और प्रतिदान की इच्छा उसके मन में कभी उत्पन्न ही नहीं हुई। समाज ने परिस्थितियों में विवश, उसका (निपुणिका) पूरा लाभ उठाया है। उसने उसके शरीर, रूप, यौवन, मान, मर्यादा और प्रतिष्ठा तक का भी सौदा किया है। लेकिन उसका कोई कुछ बिगाड़ नहीं सका। भौतिक शरीर को ही नारी समझने वाले भले ही उसे दुराचारिणी तथा कुलभ्रष्टा कहें, पर उसका वास्तविक नारी रूप जो भौतिक शरीर के वर्म के अन्दर है कभी भी पथभ्रष्ट नहीं हुआ। नारी, जीवन में एक बार और एक व्यक्ति से प्रेम करती है तथा उसके बाद के उसके सभी प्रेम प्रसंग परिस्थितियों के आग्रह से होते हैं जहाँ वह प्रेम नहीं करती बल्कि पशुता, अत्याचार तथा निर्धनता के सम्मुख विवश आत्मसमर्पण करती है जो पूर्णतया शारीरिक होता है। वास्तविक समर्पण तो आत्मा का समर्पण होता है। निपुणिका ने केवल एक व्यक्ति के सम्मुख समर्पण किया है जो है बाणभट्ट जिसके चरणों में उसने अपनी इच्छा, आकांक्षा तथा सुख-सुविधा आदि सभी का समर्पण कर दिया है। समाज की दृष्टि में वह जो भी हो पर 'भट्ट' की दृष्टि में वह देवी, गुरु तथा पवित्रता की प्रतिमूर्ति आदि सभी कुछ है। विवाह के एक वर्ष बाद ही विधवा हो जानेपर जब वह परिस्थितियों की मारी घर से भाग कर उज्जैनी में आकर बाणभट्ट की नाटक-मण्डली में शरण लेती है तो उसे बाणभट्ट ऐसे एक अनोखे पुरुष का साहचर्य मिलता है जो स्त्री शरीर को देव-मन्दिर के समान पवित्र समझता है। यह अनुभव निपुणिका के लिये नितान्त नवीन था जिससे वह प्राणपण से भट्ट के प्रति अनुरक्त हो जाती है। रह रह कर मन की चंचलता में उसका नारीत्व भी विचलित हो जाया करता है पर बाणभट्ट के निर्विकार मन पर कुछ भी प्रभाव न पड़ते देखकर वह उसकी वास्तविक महत्ता का अनुभव करती है जिससे उसके सामने से मोह के सभी बादल कट जाते हैं। वह प्रेमिका की भूमिका से अपने को उतार कर जीवन-भर के लिये भक्त के रूप में अपने को बाणभट्ट के चरणों में डाल देती है। उसकी यदि अपनी कोई इच्छा है तो यही कि वह भट्ट को आर्यावर्त के श्रेष्ठ पुरुष के रूप में देखना चाहती है। जिस सेवा भाव की प्रेरणा उसे भट्ट द्वारा मिली है, उसका उपयोग वह यथावसर करती है। छोटे राज-कुल के घृणित वातावरण से भट्टिनी को निकाल लाने में निपुणिका ने जिस चतुराई एवं कौशल का परिचय दिया है वह अद्भुत है। भट्टिनी का बाणभट्ट के प्रति मौन एवं गम्भीर सयमित प्रेम निपुणिका से छिपा नहीं रहता और वह साधारण स्त्रियों की भाँति ईर्ष्या ...के कारण किसी प्रकार का संकट उत्पन्न करने की चेष्टा नहीं करती जब कि ऐसा करना अत्यन्त स्वाभाविक था। जो वस्तु बाणभट्ट को प्यारी है उसकी मान-मर्यादा का ध्यान निपुणिका उसी प्रकार रखती है जैसा कि भट्ट का। भट्ट की सुख-सुविधाओं के चिन्तन को ही वह अपने जीवन का चरम लक्ष्य मान बैठती है जिसका चरम परिणाम

हमें उस समय दिखलाई पड़ता है जब देवी के सम्मुख बलि के लिये बाणभट्ट को हम खड़ा पाते हैं। निपुणिका जान की बाजी लगाकर बाणभट्ट की रक्षा करती है। बाणभट्ट और भट्टिनी के सम्पर्क में निपुणिका को एक साथ लाकर उपन्यासकार ने जिन परिस्थितियों की योजना की है, उनके अन्तर्मन में चलने वाले मानवोचित संघर्षों को चित्रित करने के लिये पूर्ण अवकाश था पर लेखक अपने को साफ-साफ बचा ले जाता है। इस प्रकार निपुणिका भट्टिनी और सुचरिता का ही उद्धार नहीं करती बल्कि उपन्यासकार के कार्य को भी संक्षिप्त करके उसकी सहायता करती है। प्रतिदान में उपन्यासकार ने भी उसके चरित्र को मानवीय स्तर से बहुत ऊँचा उठा दिया है। भट्टिनी एवं भट्ट के परस्पर प्रेम प्रसंग को विकसित देखने का जो अपूर्व साहस निपुणिका ने अपने में संचित किया है, वह देखने में भले ही अस्वाभाविक लगे पर उससे अपूर्व आत्मबलिदान का अनुपम आदर्श तो स्थापित हो ही जाता है। नारी आदर्शों के मूर्तिमान स्वरूप का ही नाम निपुणिका है। निपुणिका, उपकारों का बहुत बड़ा बोझ भट्टिनी के ऊपर लाद देती है परन्तु भट्टिनी भी कृतघ्न नहीं है। भट्टिनी प्रतिदान में, चाह कर भी कुछ करने में असमर्थ है क्योंकि निपुणिका जिस आँधी और तूफान की गति से अपने लक्ष्य की ओर बढ़ी जा रही है उसमें भट्टिनी की इच्छा और प्रयत्नों का मूल्य तिनका से भी कम है। भट्टिनी अपने हृदयगत भावों को जो वाणी नहीं दे सकी अथवा जो वह भट्ट के प्रति उत्पन्न अपने आकर्षण को संयम के बल से अप्रकट ही रखती रही इन सबके मूल में निपुणिका अवश्य रही। भट्टिनी कहीं निपुणिका के मार्ग में अवरोध न बन जाय, इसका उसे सदैव ध्यान रहता है। संयम की भी एक सीमा होती है। अन्त में हम देखते हैं कि भट्टिनी और निपुणिका दोनों को ही प्रकट होना पड़ा, भट्टिनी यहाँ भी पीछे रह जाती है। वासवदत्ता की भूमिका में जब निपुणिका रत्नावली का हाथ राजा बने हुए बाणभट्ट के हाथ में देने लगी तो सचमुच वह अपने को सँभाल न सकी। नागर जन जब साधु-साधु की आनन्द-ध्वनि से दिगन्त कँपा रहे थे, उसी समय यवनिका के अन्तराल में निपुणिका के प्राण निकल रहे थे। भट्टिनी ने दौड़ कर उसका शिर अपनी गोद में ले लिया और चीत्कार के साथ चिल्ला उठी—"हाय! भट्ट अभागिनी का अभिनय आज समाप्त हो गया। उसने प्रेम की दो दिशाओं को एक सूत्र कर दिया और पछाड़ खाकर निपुणिका के मृत शरीर पर गिर पड़ी।" भीतर ही भीतर घुँटकर निपुणिका ने अपने प्राण दे दिये, उसने व्यक्तिगत इच्छाओं को किसी दूसरे के मार्ग में बाधक नहीं होने दिया। यही

ऐतिहासिक भूमिका के परिवेश में लेखक ने इन नारी पात्रों को जो रंग दिया है वह बिल्कुल यथार्थ और तत्कालीन सामाजिक, सांस्कृतिक और नैतिक मान्यताओं के अनुकूल है। भट्ट की नाट्यमण्डली में कुछ दिन कार्य करने के पश्चात् तरह-तरह की लोकनिन्दा और समाज के अन्य पुरुषों से व्यथित होकर एक रात, अभिनय समाप्त होते-होते निपुणिका पलायन करती है और यहाँ आकर पान की दूकान पर बैठती है। उसके लिये 'बाण' बहुत ग्लानि और पश्चात्ताप करता है परन्तु बहुत खोज करने के बाद भी कोई पता नहीं लगता। अकस्मात एक दिन निपुणिका को (पहले निउनियाँ) बाण के दर्शन, (उसके अपने आवास के समीप ही) होते हैं और पिछली सारी बातों को भुलाकर वह 'बाण' को पुकारती है, "भट्ट, ओ भट्ट" । बाण को ये शब्द परिचित से लगते हैं और घूमकर वह जो देखता है तो उससे उसके नेत्र विस्फारित और मुँह खुला ही रह जाता है। दोनों मिलकर आगे के कार्यक्रम की योजना बनाते हैं। भट्टिनी का छोटे राजकुल के अन्तःपुर में घुट-घुट कर नारकीय जीवन बिताना भी तत्कालीन समाज की एक ज्वलन्त झाँकी है। कठोर अवधूत वाममार्गी साधक अघोर भैरव का स्मरण ही रोंगटे खड़े कर देता है, लेकिन उसने भी इन दो नारी चरित्रों के विकास में बड़ा योग दिया और उसने बाणभट्ट पर दया की, उसकी दयालुता ने दो नारियों की सुरक्षा में केवल सहयोग ही नहीं दिया बल्कि महामाया को भी सहायक रूप में प्रदान किया। भद्रेश्वर दुर्ग के स्वामी लोरिकदेव की सेवाएँ भी इन नारी चरित्रों के विकास में बड़ा योग देती हैं। अज्ञात रूप में भट्टिनी की सुरक्षा और ज्ञात रूप में उसके प्रति राजभक्ति और सम्मान प्रदर्शित करने में उन्होंने जिस उत्साह का परिचय दिया है वह इन दो नारी पात्रों की ओर से स्तुत्य है। सबके ऊपर कुमार कृष्णवर्धन की सेवाएँ और उपकार बुद्धि ही बाण की संकटकालीन घड़ियों में काम आते हैं। इन नारी पात्रों के चरित्र को रंग देने के लिये आई हुई प्रसंग प्राप्त घटनाएँ हर्षकालीन भारत की ऐतिहासिक घटनाएँ भले ही न हों, पर उनकी सम्भावना का समर्थन तो प्राप्त ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर अवश्य ही हो जाता है। निपुणिका और भट्टिनी का बार-बार यह कहना कि बाण तुम ब्राह्मण हो न ? तथा भट्ट को प्रथम भोजन करा के तब अन्न ग्रहण करना और उसे ब्राह्मणोचित सत्कार देने के लिये सदैव प्रस्तुत रहना आदि बातें ब्राह्मणों की तत्कालीन सामाजिक श्रेष्ठता बतलाती हैं। राजमहल के जीवन का दूसरा पहलू भी था जो अत्यन्त जघन्य तथा अश्लील था। राज्य के मन्त्री गुप्त प्रेम करते थे। राजा लोग बहुधा स्त्रियों के लिये ऐसी नैतिक दुर्बलता दिखलाते थे जो उनके लिये उचित नहीं प्रतीत होती थी। महल वेश्याओं के अवास थे। उपन्यासकार ने इसे स्पष्ट करने के लिये ही छोटे राजकुल की चर्चा की है जिसमें भट्टिनी बंदिनी थी। इस प्रकार हम देखते हैं कि दिव्या की तरह भट्टिनी और निपुणिका के चरित्र विकास के माध्यम से जितने ऐतिहासिक यथार्थ और स्वाभाविक वातावरण सामने लाये जा सके हैं वे इन चरित्रों के विकास में पृष्ठभूमि का ही कार्य करते हैं।

प्रकृतवाद (नेचुरलिज्म)

प्रकृतवादी उपन्यासकार

चरित्रप्रधान उपन्यासों में कुछ रचनाएँ ऐसी हैं जिन पर प्रकृतवाद का प्रभाव स्पष्ट दिखायी पड़ता है। डाक्टर श्रीकृष्णलाल ने अपने 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास' ग्रन्थ में चतुरसेन शास्त्री, बेचन शर्मा उग्र, इलाचन्द्र जोशी और चन्द्रशेखर पाठक को प्रमुख प्रकृतवादी उपन्यासकार के रूप में स्वीकार किया है। परन्तु कुछ अन्य उपन्यासकार ऐसे और भी हैं जिनकी शैली घोर प्रकृतवादी है, भले ही वे प्रकृतवादी उपन्यासकार न हों। इस प्रकार के उपन्यासकारों में 'अज्ञेय' तथा 'यशपाल' के नाम उल्लेखनीय हैं। यद्यपि दोनों उपन्यासकार प्रकृत्या प्रकृतवादी नहीं हैं। "चरित्र-चित्रण की दृष्टि से इन प्रकृतवादियों ने न तो प्रकार विशेष (टाइप्स) ही दिए और न आदर्श-चरित्रों की अवतारणा की, वरन् इनके विपरीत ऐसे चरित्रों की सृष्टि की जो पुकार-पुकार कर कहते हैं कि मनुष्य और पशु में कोई विशेष अन्तर नहीं, विशेषकर विषय-भोग की दृष्टि से वे पशुओं से भी निकृष्ट और नीच हैं।"[1] इन उपन्यासकारों की रचनाओं में चरित्रों का निर्माण नहीं किया गया है, बल्कि मनुष्य रूप में पशुओं तथा समाज के कीड़ों का ही निर्माण किया गया है। अपने उपन्यासों के लिए इन लोगों ने जो कथानक लिए हैं, वे समाज के निकृष्टतम समुदाय और जीवन के अत्यन्त घृणित और दूषित पक्षों से सम्बन्धित हैं! चन्द्रशेखर पाठक ने 'वारांगना रहस्य' में वेश्याओं के जीवन का नग्न चित्र उतारा है।

चतुरसेन शास्त्री

चतुरसेन शास्त्री के 'अमर अभिलाषा' नामक उपन्यास का कथानक विधवाश्रम से लिया गया है। इसमें भगवती, नारायणी, सुशीला, कुमुद, मालती और वसन्ती नामक छः विधवाओं की कहानियाँ हैं। लेखक ने यद्यपि अपनी रचना के द्वारा समाज के सामने इस समस्या को उसके वास्तविक रूप में रखकर एक समाधान उपस्थित करना चाहा है, परन्तु विधवाओं की दुर्दशा का जो खाका शास्त्रीजी ने खींचा है, वह यथार्थवाद की पराकाष्ठा को पहुँच गया है। चित्रण यथार्थ होते हुए भी कहीं-कहीं अस्वाभाविक हो उठा है और उसमें अश्लीलता आ गई है। छजिया ने जब भगवती को 'हरगोविन्द' के कमरे में

1—डा० श्रीकृष्णलाल 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास', पृ० ३१५–३१६।

पहुँचा कर बाहर से दरवाजा बन्द कर लिया तो लेखक को शेष घटनाओं का चित्र संकेतो द्वारा देना चाहिए था। परन्तु वैसा न करके लेखक ने अवांछित सविस्तार वर्णन उपस्थित किया है। यों तो स्त्री और पुरुष सभी साड़ी तथा धोती के नीचे नंगे ही हैं, परन्तु समाज की मर्यादा ने उन पर आवरण डाल रखा है और उन आवरणों की सीमा प्रत्येक सभ्य कहलानेवाले समाज को माननी ही चाहिए। उसको यह कभी भी न भूलना चाहिए कि वह पशु नहीं है, बल्कि सभ्य सुसंस्कृत मानव है और जब यह उपन्यास स्त्रियों के लिए लिखा गया है तो इसके अन्दर अवांछित कुरुचिपूर्ण चित्रों का बहिष्कार तो अति आवश्यक है।

पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र'

पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' का 'दिल्ली का दलाल' नामक उपन्यास शुद्ध प्रकृतवादी शैली का प्रतीक है। इसे हम घोर प्रकृतवादी उपन्यास कह सकते हैं। इस उपन्यास के अन्दर जिस नग्न वास्तविकता का विस्तार के साथ वर्णन किया गया है वह किसी भी श्रेष्ठ साहित्य के लिए वाछनीय नहीं है। इसमें उन नर-पिशाचों का यथातथ्य चित्रण मिलता है जो स्त्रियों का कुत्सित व्यापार करते हैं। 'उग्र' जी ने अपने इस उपन्यास के द्वारा अनेक कुरुचिपूर्ण पाठकों के हृदय में सम्मानित स्थान अवश्य प्राप्त किया, परन्तु इसके लिए उन्हें आलोचकों की कम बौछारें नहीं सहनी पड़ीं। और इन्हीं बौछारों का परिणाम यह है कि 'चन्द हसीनों के खतूत' तथा 'दीवाचा' आदि में उन्हें साहित्यिक संयम का पालन करना पड़ा है, और 'जीजी जी' में आकर तो 'उग्र' जी में महान् परिवर्तन उपस्थित हो गया है। जिन्होंने 'दिल्ली के दलाल' में भले घर की भोली युवतियों तथा बालिकाओं के बहलाने, फँसाने, उड़ाने तथा सताने आदि के हथकंडों का विशद एवं रोमांचकारी अपूर्व चित्रण किया था, उन्होंने ही 'जीजी जी' नामक उपन्यास को, जिसकी कहानी पूर्णरूपेण यथार्थवादी है, आदर्शवाद के छोर पर पहुँचा दिया।

इलाचन्द्र जोशी

इलाचन्द्र जोशी के उपन्यास यद्यपि मूलतः मनोविश्लेषणात्मक हैं, परन्तु कथा के प्रसार के लिए उन्होंने जो ढंग अपनाया है, और उसके कारण जिन चरित्रों का उन्होंने निर्माण किया है, उनके चरित्रों का यदि मूल्यांकन किया जाय तो वे प्रकृतवादी ही ठहरते हैं। इनकी 'घृणामयी' की शैली प्रकृतवादी ही रही है। 'पर्दे की रानी' नामक उपन्यास में निरंजना नामक बालिका, जिसकी माता वेश्या थी, जिसने मरते समय अपनी पुत्री को मनमोहन नामक एक व्यक्ति को संरक्षण के लिए दे दिया था, सोलह वर्ष की अवस्था तक तो वह सभ्य बालिकाओं की भाँति लालित पालित होती रही, परन्तु सोलह वर्षोपरान्त उसके रूप और यौवन के ऊपर मनमोहन के पुत्र इन्द्रमोहन की

...लुप दृष्टि पड़ी जो विलायत से लौट कर आया था। इन्द्रमोहन ने होटल में, जब कि शराब के नशे से वह उन्मत्त हो रहा था, जबरदस्ती 'निरंजना' के शरीर को अपनाने का प्रयत्न किया और इतना ही नहीं उन्हीं दिनों मनमोहन ने भी उसके सामने अश्लील प्रस्ताव किया, जिसे उसने लड़की की भाँति पाला था।

'निरंजना' जब छात्रावास में चली जाती है तो पुनः इन्द्रमोहन और उसके बीच स्वाभाविक प्रेमांकुर उगता है। परन्तु 'निरंजना' अपनी अभिन्न-हृदय सखी 'शीला' के प्रति विश्वासघात नहीं करना चाहती। 'शीला' इन्द्रमोहन को प्यार करती थी। परन्तु इन्द्रमोहन 'निरंजना' से झूठ बोलता है कि 'शीला' की मृत्यु हृदयगति बन्द हो जाने से हो गई, और इस प्रकार इन्द्रमोहन की अवरुद्ध वासना संयम को इतना अधिक खो चुकी थी कि उसने नेपाल जाते हुए रेलगाड़ी में ही निरंजना का आलिंगन किया और उसका कौमार्य नष्ट करके ही छोड़ा। इस प्रकार जोशीजी ने रति के सम्बन्ध में मानव और पशुओं में कोई अन्तर नहीं रहने दिया है।

यशपाल

आधुनिक प्रकृतवादी उपन्यासकारों ने जिस पश्चिमी साहित्य से प्रेरणा ग्रहण की, उसमें इतना चटपटापन था कि हिन्दी के नवोदित उपन्यासकारों को उधर आकर्षित होते देर न लगी, और उस नग्न यथार्थवाद के आधार पर नवयुवक हिन्दी लेखक उस बाह्य रूपाकृति पर भवन निर्माण करने को कमर कसकर खड़े हो गये। 'यथार्थ' को बहुत खींच लाकर जो अर्थ लगाया गया उससे कम अनर्थ नहीं हुआ। यथार्थ का बिल्कुल ही एकांगी अर्थ लगाकर उसे निम्न जीवन की नग्न वास्तविकता, अश्लीलता आदि का पर्याय समझा गया और इनके फलस्वरूप हिन्दी में जिस गरमा-गरम साहित्य की सृष्टि हुई उसने साधारण जनता और स्त्री के बाह्य रूप तथा उसके आकर्षक एवं उत्तेजक सौंदर्यों के चित्रण में ही इन लेखकों का मन अधिक रमता है, और वे चरित्रों का विकास मुख्यतः परिस्थितियों के झुकाव और प्रगति के आधार पर ही कराते हैं।

आधुनिक लेखकों में 'यशपाल' एक ऐसे उपन्यासकार हैं जो रति-स्वातंत्र्य के पूर्ण समर्थक जान पड़ते हैं, परन्तु उनके ऊपर एक विशिष्ट सिद्धान्त का इतना बड़ा बोझ है कि अन्य चित्र उभर नहीं पाये हैं बल्कि वे गौण होकर ही रह जाते हैं। उन्होंने 'दादा कामरेड' नामक उपन्यास में 'शैला' और 'हरीश' को लेकर जो प्रसंग उठाया है वह इसी प्रकार का है। 'शैला' अपना जीवन-चरित्र स्वयं बतलाती है कि किस प्रकार उसका एक सरकारी अफसर के लड़के से प्रेम हो गया था, जिसके हाथों वह समाज के भय से दवा की पुड़िया खाकर मरने से बची। समाज में इस प्रकार के अनाचार मिल अवश्य जाते हैं, परन्तु इनका यथार्थ चित्रण साहित्य के अन्दर असोमन-सा ही लगता है। 'हरीश' का 'शैला' से यह प्रस्ताव कि वह उसे नंगी देखना चाहता है, मनो-

विश्लेषणात्मक कलाकारों की दृष्टि से भले ही उपयुक्त हो क्योंकि उनके अनुसार नारी को उसके प्राकृतिक रूप में देख लेने से आसक्ति के स्थान पर अनासक्ति ही बढ़ती है, परन्तु आवरण-हीन 'शैला' के शरीर को देखकर 'हरीश' के मन में अनासक्ति का भाव नहीं उठता बल्कि वे दोनों एक दृढ़ प्रेम-बन्धन में बँध जाते हैं तथा विवाहित न होने पर भी दोनों का शारीरिक सम्बन्ध भी हो जाता है। एक श्रेष्ठ साहित्य के साहित्यकार के लिए इस प्रकार के चित्र वांछनीय नहीं हैं।

अज्ञेय

'अज्ञेय' जी का उपन्यास 'नदी के द्वीप' शेखर एक जीवनी के बाद निकला है, जिसको लेकर विद्वानों में अनेक प्रकार की चर्चाएँ चल रही हैं। किसी के अनुसार इस उपन्यास में उपन्यासकला की चरम सीमा है तो किसी को इस का गद्य ही अनूठा लगता है। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि यह उपन्यास मनोविज्ञान को लक्ष्य मान कर लिखा गया है, जिसकी चर्चा हम अन्यत्र करेंगे और इसमें नवीनतम शैली का सफल निर्वाह भी हुआ है। सब कुछ होते हुए भी हमें इसके अन्दर वर्णित घटनाओं एवं चित्रों को देखकर अधिक प्रसन्नता नहीं होती। लेखक को चाहिए था कि उसने वस्तु-विस्तार तथा चित्रोपमता के लिए जिस शैली को चुना है, उसमें भी अपनी कलात्मकता का परिचय देता। 'अज्ञेय' जी ने तो ऐसे कोनों तक को भी झाँक डाला है, जहाँ छोटे-छोटे बच्चे खेल किया करते हैं। 'हेमेन्द्र' जब अपनी मनयम मेम का जिक्र करता है और कहता है कि "औरत दुनिया की मुसीबतों की जड़ है लेकिन उसके बगैर रहा नहीं जाता" तो 'चन्द्र' आँख मारते हुए कह उठता है, "दोस्त, सुना है तुम्हारा काम तो उसके बगैर भी चल जाता है।" स्त्री-पुरुष का प्रेम-प्रसंग यदि स्वाभाविक होने के कारण अश्लील भी हो तो क्षम्य है, परन्तु पुरुष का पुरुष के प्रति अनैतिक आकर्षण समाज के लिए चिन्ता की वस्तु है।

काश्मीर के तम्बू में 'भुवन' जब 'रेखा' के सामने पराजित हो जाता है, तो उस प्रणय-प्रसंग को लेखक संकेतों के द्वारा अच्छी प्रकार चित्रित कर सकता था, परन्तु वैसा न करके वह अति नग्नवादी हो जाता है। "कम्बल के भीतर उसका हाथ रेखा का वक्ष सहलाने लगा'''सहसा वह चौंका। झीने रेशम के भीतर रेखा के कुचाग्र ऐसे थे जैसे छोटे-छोटे हिमपिंड''" "सहसा रेखा ने बाहें बढ़ा कर उसे खींच कर छाती से लगा लिया, उसके दाँतों का बजना बन्द हो गया क्योंकि दाँत उसने भींच लिये थे, भुवन को उसने इतनी जोर से भींच लिया कि उन छोटे छोटे हिम-पिंडों की शीतलता 'भुवन' की छाती में चुभने लगी। फिर स्निग्ध गरमाई आई'''रेखा की बन्द पलकें नये तांबे-सी चमक रही थीं।"

दूसरी बार भुवन लौट कर जब रेखा से मिसेज ग्रीव्ज के स्थान पर मिला जहाँ उसने नौकरी कर ली थी, तो निकट आ जाने के पूर्व बैठे-ही-बैठे "वहीं से उसने बाँहें बढाईं कि भुवन लपक कर पहुँच गया, एक बाँह से उसने रेखा को घेर लिया और कुर्सी की बाँह पर अध-बैठा होते-होते उसे खींच कर अपने से लगा लिया, उसके माथे पर गाल टेक कर स्तब्ध रह गया, रेखा के दिल की धड़कन उसकी जाँघ पर बहुत हल्का-हल्का ताल देने लगी।" इस प्रकार के कामुक एवं उत्तेजक चित्रों से समाज के संयम को बहुत बड़ा आघात पहुचेगा। इसे पढ कर रक्त और मांस-पिंडो से बने हुए युवकों का रक्त गरमाने से कभी भी नही रुक सकता और वे समाज की मर्यादाओं को तोड़ने का सशक्त प्रयत्न करेंगे जिसका परिणाम होगा कि भ्रष्टाचार बढेगा तथा हम मनुष्य रूप में पशुओं से कुछ अधिक नही ठहरेंगे।

अतियथार्थवाद (सररियलिज्म)

स्वभाव से ही मर्यादावादी होने के कारण हिन्दी के लेखकों और पाठकों में इस कोटि के उपन्यासों को लोकप्रियता नहीं मिल सकी जिससे ऐसे उपन्यासों का हिन्दी में नितान्त अभाव है।

घेरे के बाहर

इस प्रकार के उपन्यास एवं उपन्यासकारों को समाज एवं साहित्य की ओर से किसी भी प्रकार का समादर नहीं मिला, नहीं तो हिन्दी उपन्यासों में भी ऐसे साहित्य का अभाव नहीं होता। आज भी हम स्टेशन की दूकानों में 'कुशवाहा कान्त' ऐसे उपन्यासकारों की कृतियों को चाव से ढूँढने वाले अनेक मनचले युवक और युवतियों को देख सकते हैं। परन्तु साहित्य के अन्दर उनके स्थान न पाने के कारण वे हमारे विवेच्य विषय की कृतियाँ नहीं हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं कि इस प्रकार के साहित्यिक प्रयत्न बिल्कुल हुए ही नहीं। अभी-अभी करीब तेरह वर्ष हुए दिनांक २०-१०-४७ को द्वारिकाप्रसाद एम० ए० नामक एक साहसी युवक ने 'घेरे के बाहर' नामक अपना एक वृहत्काय सात रुपये मूल्य का उपन्यास प्रकाशित कराया है। यद्यपि बिहार की प्रांतीय सरकार ने उसके वितरण एवं पुनर्प्रकाशन पर प्रतिबन्ध लगा दिया है, फिर भी यह अपनी विशिष्ट प्रियता के कारण कुछ घरों में सुरक्षित है। जहाँ तक इस उपन्यास के कथानक एवं इसकी कला का प्रश्न है, इसमें कथानक नाम की कोई वस्तु है ही नहीं। इसके अन्दर कुमार नामक एक युवक की उसकी पत्नी प्रेमलता एवं चचेरी बहन 'नीरा' के साथ चलने वाली काम-क्रीड़ा की कहानी है। लगभग छः सौ पृष्ठों का उपन्यास 'नीरा' को ससुराल से मायके लाने तथा उसका भैया 'कुमार' से गुप्त अभिसार कराने में समाप्त कर दिया गया है। नीरा की झूठी आत्महत्या की व्यवस्था करने तथा कुमार को चिर सम्बन्ध विच्छेद करने का पत्र दिलवाने में उपन्यासकार ने अवश्य ही अपनी कलात्मकता का परिचय दिया है। सम्पूर्ण उपन्यास पढ़ लेने से ऐसा लगता है कि उपन्यासकार चाहता है कि मनुष्य को उसके वास्तविक रूप में चित्रित कर दे, यद्यपि वह यथार्थ चित्र उपस्थित करते समय स्त्री-पुरुष के रति तथा अभिसार आदि को लेकर उठनेवाले घातों-प्रतिघातों के अन्दर ही उलझ कर रह गया है।

वास्तविक जगत के यथार्थ से साहित्य का यथार्थ सर्वथा भिन्न हुआ करता है इसे कभी भी नहीं भूलना चाहिये। मानव-कल्याण के लिए संसार की कितनी ही वास्त-

विक, स्वाभाविक एवं सत्य वस्तुओं पर पर्दा डालना पड़ता है। स्त्री-पुरुष का स्वाभाविक आकर्षण, रूप की चोट खाकर सामाजिक संबंधों की सीमा लाँघ जाता है, जैसा कि उपन्यास का मत जान पड़ता है जो सत्य है, परन्तु सामाजिक सीमा उल्लंघन क्या अव्यवस्थित समाज में व्यक्ति के स्थायी सुखों को सुरक्षित रख सकता है? यदि उपन्यासकार या यह विश्वास हो कि बुराइयों को दूर करने के लिये बुराइयों को खोलकर सामने रख देना ही अनिवार्य है, तो यह उसका एकमात्र भ्रम है। यदि वह पाठक रूप में एक बार एकान्त में बैठकर इस उपन्यास को पढ़ भी ले तो अवश्य ही उसे ज्ञात हो जायगा कि अश्लील चित्रों को पढ़ने से बुराइयों के प्रति कितनी घृणा होती है। घृणा तो क्या होगी? मानव की दमित वासनाएँ स्वतंत्र होने के लिए तड़फाने अवश्य लगेंगी। उपन्यास चैलेंज करता है कि यौवन पर से अगर हर प्रकार का प्रतिबंध हटा लिया जाय तो समाज में व्यक्ति का जीवन और भी सुखमय हो जायगा; परन्तु इतना तो मानना ही पड़ेगा कि विश्व के किसी भी समाज में कुछ-न-कुछ ऐसी मर्यादा होती है जो सबमें अनिवार्य रूप से मान्य है। आज की दुनिया में सबसे अधिक सभ्य कहलाने वाले लोग भी अपने प्रत्येक कार्य समाज को दिखला कर ही नहीं करते, अब भी वे पशु-सुलभ स्वतंत्रताओं से वंचित हैं।

भले ही रति सम्बन्धी उनकी स्वतंत्रताएँ समाज में मान्य हैं, फिर भी हम उन्हें कभी भी जानवरों की भाँति चौराहों पर रति करते नहीं देखते, उन्हें भी अन्य लोगों की निगाहों से बचना होता है। जब हम अपने सभी कार्यों को प्रत्यक्ष रूप में नहीं करते, तो उसे साहित्य में लाने के लिए क्यों उत्सुक हैं, बात समझ में नहीं आती। इसे सारा समाज जानता है कि पति और पत्नी अपने अभिसार काल में खुलकर छेड़-छाड़ करते हैं, स्त्री का पति से यह पूछना कि "विवाह के पहले तुमने कितनी लड़कियों को लिया है" स्वाभाविक है। पर जब पति और पत्नी दुनिया की आँख बचा कर ऐसी बातें करते हैं तो उन्हें साहित्यिक पृष्ठों पर अंकित करने से समाज का कौन-सा हित हो जायगा? स्त्री-पुरुष के सम्भोग का अर्थ ही होता है, एक दूसरे को आत्मसात् कर लेना। जब एक दूसरे का रक्त मिल गया तो दोनों के बीच किसी को रहने का अधिकार वैसे ही नहीं रह जाता, फिर भी उपन्यासकार जब इसका ब्योरेवार वर्णन करने लग जाता है, तो हम यही कह सकते हैं कि वह अपनी मानसिक कुत्साओं का आनन्द लिख कर ही उठा लेना चाहता है। 'नीरा' और कुमार के कामुक मिलन को संकेतों द्वारा भली प्रकार प्रकट किया जा सकता था, परन्तु ऐसे अवसरों पर लेखक की विवरणात्मक प्रतिभा और भी मुखर हो गई है। जैसे:—"उसने हाथ में गरम गरम नंगी छाती ले ली और जोर-जोर से मलने लगा।""कुमार ने नीरा के हाथ पैर छटपट करते रहने पर भी उसे चित कर दिया और ऊपर चढ़ बैठा। साड़ी हटी, जाँघों पर जाँघ जा रही, छाती से छाती मिल गयी और होठों-से होठ।""मेरा मन तुम्हारे मन को पा गया और सारा

शरीर तुम्हारे गोरे शरीर को, अनावृत्त, नग्न शरीर को लेगा।" कुमार के हाथ ने साड़ी को खींच कर पायताने फेंक दिया। तब आई बारी साये की। कुमार ने उसकी नीवी पर हाथ दिया और नीरा ने उसके दूसरे छोर को पकड़ लिया" कुमार ने जोर से नीवी को खींचते हुए कहा, 'नीरा' खोल दो नहीं तो साया फाड़ डालूँगा"' 'फाड़ डालो' कह कर नीरा खुद साये का बन्धन खोलने लगी। रस्सी सरक गई।"..... कुमार भी निरावरण था।" इस प्रकार के चित्रों को पढ़कर कभी भी विकर्षण नहीं हो सकता, बल्कि आकर्षण ही होगा और जिसका परिणाम यह होगा कि समाज में अनाचार और भ्रष्टाचार फैलेगा।

यह सत्य है कि मनुष्य के अन्दर कामवृत्ति अन्य वृत्तियों से अधिक सजग रहती है। परन्तु वह इतना अधिक कामी नहीं होता जितना कि उपन्यासकार ने कुमार को दिखलाया है। काम की तृष्णा की भी सीमाएँ होती हैं। वह भी समय, शक्ति और स्वास्थ्य के अनुसार गतिशील होता है। कुमार, ऐसा जान पड़ता है कि मनुष्य नहीं, बल्कि काम की पाषाण प्रतिमा है जो शिथिल होना जानता ही नहीं। वह जब भी अवसर पाता है, अपनी पत्नी की आँख बचा कर नीरा के साथ सम्भोग करने लग जाता है। इतना ही नहीं, तुरन्त ही उसे छोड़कर पत्नी के साथ भी रति-क्रिया में लीन हो जाता है, जो अत्यन्त अस्वाभाविक है। किसी भी प्रकार की पत्नी क्यों न हो वह कभी नहीं चाह सकती कि उसका पति अन्य सुन्दरी के साथ रमण करे, परन्तु 'प्रेमलता' कुमार को नीरा से प्रेम करने मे हर प्रकार से सहायता पहुँचाती है। इस प्रकार के अनेक अश्लील एवं अस्वाभाविक चित्रों से यह उपन्यास भरा पड़ा है। यह उपन्यास न होकर कामशास्त्र हो गया है जिसमें रति-सम्बन्धी अनेक आवश्यक बातों से पाठकों को विज्ञ कराया गया है। स्त्रियाँ किस प्रकार का सम्भोग अधिक पसन्द करती हैं, यह बताना उपन्यासकार का कार्य नहीं है। उसे यह लिखने की बिल्कुल आवश्यकता नहीं है कि "इसलिये प्रायः कहा जाता है कि द्वितीय बार का सम्भोग स्त्रियाँ ज्यादा पसन्द करती हैं।" उपन्यास के लक्ष्य और कामशास्त्र के लक्ष्य बिल्कुल भिन्न हैं। इसे कभी भी नहीं भूलना चाहिये।

लेखक सत्यतः समाज के 'घेरे से बाहर' चला गया है। यद्यपि पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव ने भारतीय सामाजिक एवं सांस्कृतिक मान्यताओं की जड़ों को हिला दिया है, फिर भी भाई बहन में यौन सम्बन्ध नाम सुनकर समाज अब भी सिहर उठता है। कुमार और नीरा चचेरे ही भाई बहन सही, परन्तु समाज के सामने एक दूसरे को बहन और भैया कह कर सम्बोधित करते हैं। भाई और बहन शब्द के पीछे कितनी बड़ी सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक शताब्दियों की परम्परा लिपटी हुई है, उसे दोनों अवश्य समझते हैं, क्योंकि उनका विश्वास है कि इसी पवित्र आवरण के पीछे ही छिप

पर हम सम्मान पूर्वक अपनी काम-पिपासा शान्त करते हैं। उपन्यासकार का भले ही परोक्ष संकेत इसमें छिपा हो कि यदि युवक भाई और युवती बहन हों तो भी एक दूसरे को दूर-दूर रहना चाहिये, क्योंकि नारी और पुरुष का स्वाभाविक प्रबल आकर्षण श्रद्धा की सीमा नहीं स्वीकार करता। परन्तु इस प्रकार के चित्रों को उपस्थित करने में यह भी सम्भावना रहती है कि बहुत सी ऐसी बुराइयाँ हैं जिनसे समाज बिल्कुल अपरिचित है, जिससे उनसे सहज हो बच जाता है। परन्तु जान लेने पर बुराइयों के होने की अधिक सम्भावना रहती है।

जहाँ तक हो सके साहित्य के अन्दर अश्लील और गन्दी बातों का निरस्कार करना चाहिये। साहित्यकार को मधु की मक्खियों की भाँति गन्दी वस्तुओं से अपने मधु जैसे साहित्य की सृष्टि करनी चाहिये, उसकी गंदी वस्तुओं को नहीं, बल्कि उनमें से मधु को ही अपनाना चाहिये।

चुटकीभर चाँदनी

रहन-सहन एव परिवेश की दृष्टि से आधुनिक समाज नग्नता की ओर उन्मुख है। इस उपन्यास में लेखक केशनीप्रसाद चौरसिया ने अपनी पैनी दृष्टि से आधुनिक समाज के अन्तस्तल को वेधकर नकाबपोश सभ्यता को जिस हस्तलाघव से निरावृत करने का प्रयत्न किया है, वह स्तुत्य है। समाज के विशृंखलित पर यथार्थ स्वरूप को इस उपन्यास में चित्रित किया गया है। सुधार का एकमात्र मार्ग है, आत्मबोध एवं आत्म-ज्ञान। लेखक ने इस रचना के द्वारा समाज को आत्म-बोध की ओर उन्मुख करने का साहसिक प्रयत्न किया है। इसमें यथास्थान अतिरंजना, भावोन्माद-सम्वलित लम्बे-लम्बे व्याख्यान एवं कतिपय अश्लील एवं असंगत सन्दर्भों को स्थान मिला है जो अनावश्यक एवं अवांछित जान पड़ते हैं, फिर भी सामाजिक चित्रफलक पर विषमता एवं विद्रूपता के प्रभावशाली चित्रण के लिए वे कुछ सीमा तक आवश्यक भी हैं। उपन्यास में सभी भावुकता एवं मानसिक क्षय-ग्रस्तता के चित्र भी आए हैं, फिर भी शैली के तीखेपन एव आत्म-बोध की साहसिक अभिव्यक्ति के समक्ष वे निष्प्रभ हो गए हैं।

उपन्यास में लेखक ने यदि दुरूह संस्कृत शब्दों को प्रयुक्त किया है तो उन्हीं ने चिरचे हुए उर्दू शब्दों का निखार भी दर्शनीय है। इसमें स्थानीय एवं व्याकरणविरुद्ध शब्दावली का भी जमकर प्रयोग किया गया है। कुछ खटकने वाले शब्दों एव विचारों के प्रयोग के बावजूद वस्तुविन्यास सुगठित है और उपन्यास दो एक स्थलों का छोड़कर, निर्बन्ध रूप से अपने गन्तव्य की ओर उन्मुख हुआ है। परम्परित मान्यताओं के विरुद्ध जेहाद बोलते हुए इसमें स्वच्छन्द मनोवृत्तियों को प्रश्रय मिला है। 'चुटकीभर चाँदनी' उपन्यासकार के भावाभाव-विनिर्मुक्त स्वच्छन्द चिन्तन का प्रतिफलन है।

- कलाकार मात्र यथार्थ परिस्थिति का चितेरा ही नही होता, उसे अपनी संकीर्ण सीमा का त्याग करके उच्च पृष्ठभूमि एवं आदर्श लोक का भी चित्रण करना पड़ता है।

इस उपन्यास में कुछ अनास्थाप्रद दृश्यों का भी समावेश हो गया है। अनावृत्त सौंदर्य सुन्दर ही नहीं बल्कि जुगुप्सोत्बोधक भी होता है। 'ब्यूटी इन न्युडिटी' का सिद्धान्त अब पर्याप्त पुराना पड गया है। कलात्मक सर्जन के सौंदर्य का केन्द्र बिन्दु रहस्यमय गोपन भी हुआ करता है।

'चुटकी भर चाँदनी' के प्रति यथार्थवादी दृष्टिकोण एवं तीखे प्रहार से कुछ लोग रुष्ट हो सकते हैं, पर यह निश्चित है कि लेखक मे औपन्यासिक प्रतिभा के बीज हैं। आवश्यकता है उन्हे उपयुक्त पृष्ठभूमि में प्रशस्त व्यापक एवं संयत दृष्टिकोण से प्रस्फुटित करने की। मात्र 'कान्त' शैली या "बुक स्टाल टाइप" सस्ते उपन्यासों से ऐसी प्रतिभाएँ वंचित होती हैं। आशा है लेखक भविष्य में अपनी प्रतिभा का समुचित प्रयोग करके मात्र बम्बई के फिलिमस्तान की सैर ही न करेगा, अपितु कोई महान् कृति प्रस्तुत करके उच्च कलाकारो मे अपना स्थान बना लेगा।

समाजवादी यथार्थवाद

समाजवादी यथार्थवाद और यशपाल

उन उपन्यासकारों में 'यशपाल' सर्वप्रमुख हैं जिनकी कृतियों में मार्क्सवादी दर्शन का आग्रह स्पष्ट रूप में उमड़ कर आया है। जब कभी स्रष्टा अपनी सृष्टि में स्वभाव के प्रतिकूल आरोपित भावों की अभिव्यक्ति करता है तो उसमें विकार आ ही जाता है। यशपालजी मार्क्स के सिद्धान्तों में विश्वास करते हैं, हमें इसमें किसी भी प्रकार की आपत्ति नहीं है; परन्तु जहाँ तक उनकी रचनाओं का प्रश्न है, उनमें उनकी यौन-ग्रन्थियों का ही जलवा अधिक जाहिर है। स्त्री-पुरुष सम्बन्धित समाज की कुछ मान्यताएँ उन्हें अखरती हैं, जिन पर वे सचेष्ट होकर वार करते हैं और जहाँ तक हो सका है अपनी कृतियों में स्त्री-पुरुष को खुलकर यौन-सम्बन्ध स्थापित करने की उन्होंने वकालत की है। सुजान (बदला हुआ अफगानिस्तान का निमार) के रूप में तो वे यहाँ तक मानते हैं कि विवाह एक बुर्जुआ फैशन है और मैत्री को ही वे औचित्य प्रदान करते हैं। प्रेमचन्द की भाँति इनके यहाँ प्रेम का अन्त विवाह नहीं, बल्कि विवाह का अन्त मैत्री है, जिससे समाज के सामने चिर कौमार्य का दम भरा जा सके। ऐसा लगता है कि यशपाल जी को अपने राजनैतिक सिद्धांतों की ज्वाला पर इतना अधिक विश्वास हो गया है कि उसके ताप से समस्त सामाजिक कलंकों को पवित्र हो गया मान लेते हैं अथवा यों कहें कि उनकी मजदूर क्रांति को सफल बनाने के लिए वासना के बोझ से झुकी नारी की बाँहों का सहारा अति आवश्यक है।

'दादा कामरेड' हिन्दी साहित्य में पहला उपन्यास है जिसमें रोमांस और राजनैतिक सिद्धांतों का मिश्रण हुआ है। यह उपन्यास 'शरद' बाबू के बंगला उपन्यास 'पथेर दावी' द्वारा क्रांतिकारियों के जीवन और आदर्शों के सम्बन्ध में उत्पन्न हुई भ्रामक धारणाओं का निराकरण करने के लिए लिखा गया है। इतना ही नहीं, बल्कि यह श्री जैनेन्द्र की आदर्श पुरुष की खिलौना 'सुनीता' का उत्तर भी है। यथावस्तु के विस्तार के लिए राजनैतिक क्रांतिकारी दल की कहानियों का सहारा लेखक ने लिया है, परन्तु उसका मूल तात्पर्य इससे भिन्न एक विशेष वर्ग के प्रति सहानुभूति उत्पन्न करना तथा सामाजिक रूढ़ियां मुख्यतः स्त्री सम्बन्धी परम्पराओं की निस्सारता प्रकट करना है।

कांग्रेस के अहिंसात्मक आन्दोलन के साथ-साथ गुप्त रूप मे चलनेवाले क्रांतिकारियों के हिंसात्मक आन्दोलन तथा क्रान्तिकारियो के अनुशासन सम्बन्धी कडे नियमों का सजीव चित्र इसके अन्दर खीचा गया है। क्रान्तिकारियो के अन्दर संदिग्ध व्यक्ति को गोली से उडा देने की व्यवस्था थी, इसका सकेत हमे उस मंत्रणा से मिल जाता है जिसमें डाका डालने की योजना बनाई जा रही थी। 'हरीश' और पार्टी के बीच उत्पन्न सैद्धान्तिक मतभेद के कारण पार्टी ने हरीश को गोली से उडा देने का निश्चय किया जिसके लिए 'दादा' के रूप मे 'चन्द्रशेखर आजाद' और 'हरीश' के रूप में हमें स्वयं 'यशपाल' ही दिखलाई पडते हैं। रेलवे मे खलासी का कार्य करने वाले मुस्लिम-परिवार का दयनीय चित्र बडा ही सजीव बन पडा है। किस प्रकार उनसे घूस लिया जाता है, उनकी बहू-बेटियाँ ली जाती हैं तथा ये स्वयं शराब आदि में रुपया खर्च कर किस प्रकार दाने-दाने को तडपते हैं, आदि बातो का बडा मार्मिक चित्रण मिलता है और मजदूरो के हडताल का चित्र तो स्पष्टतः रूसी साम्यवादी की ओर संकेत है। इस उपन्यास के अन्दर भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी का उतना समर्थन नही किया गया है जितना कि अन्य राजनैतिक दलों की निन्दा।

'हरीश' को फाँसी दिलाकर लेखक ने 'शैला' को 'दादा' के साथ हरीश का गर्भ लेकर निकल पडने की व्यवस्था करके जो समस्त पारिवारिक एवं सामाजिक मर्यादाओं को लात मारी है, उससे राजनैतिक की अपेक्षा समाज-विद्रोही का रूप अधिक उभड आया है।

इनका दूसरा उपन्यास 'देशद्रोही' साम्यवादी उपन्यासो के ढर्रे पर लिखा गया है जिसके अन्दर स्पष्ट रूप से मार्क्स के सिद्धान्तो का प्रचार किया गया है। परन्तु 'देशद्रोही' के अन्दर 'दादा कामरेड' की भाँति अन्य भारतीय राजनैतिक दलो को छोछालेदर नही की गई है, बल्कि लेखक का एकमात्र लक्ष्य भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी का समर्थन करना है। वह 'साम्यवाद' का प्रचार करना चाहता है तथा १९४२ ई० में किये गये देशद्रोह का कलंक, अपनी औपन्यासिकता के द्वारा कम्युनिस्ट पार्टी के मस्तक से धोना चाहता है और सिद्ध करना चाहता है कि डाक्टर खन्ना देशद्रोही नही बल्कि देशभक्त हैं।

भारत के अन्न-जल से पलने वाले भारतीय कम्युनिस्ट भी अपनी पवित्र भूमि 'रूस' को ही मानते हैं, तथा 'रूस' ही उनका राजनैतिक गुरु है और उनके लिए देश-काल की सीमा को तोडकर दुनिया की सारी नयी रोशनी का स्रोत 'रूस' में ही दिखलायी पडता है। यशपाल जी ने जहाँ तक हो सका है अपने पात्रों से 'रूस' की प्रशंसा करवाई है। यशपाल जी इसको अच्छी प्रकार जानते हैं कि स्वय किसी वस्तु की प्रशंसा न कर एक तीसरे अपरिचित व्यक्ति से कराने का प्रभाव अधिक पडता है। संसार की सभी जातियों की अपेक्षा मुसलमान जाति अपने धर्म और रसम-रिवाज की अधिक

गबंद होती है, पर जब हम 'नासिर' को 'रूस' जाने के लिए उत्सुक पाते हैं, तो ऐसा जान पड़ता है कि लेखक बरबस पाठकों की जिज्ञासा को उसकाना चाहता है। 'नासिर' को मुस्लिम रहन-सहन पसंद नहीं; वह 'रूस' जाकर नयी दुनिया की रोशनी से परिचय पाना चाहता है।

इस उपन्यास के अन्दर डाक्टर भगवान दास खन्ना की कहानी आदि से अन्त तक चलती है। लेखक ने खन्ना के जीवन को प्रभावित करने के लिए, उसे भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में रखा है, उससे यही जान पड़ता है कि जान-बूझ कर उपन्यासकार एक ऐसे पात्र का निर्माण करना चाहता है जो रूसी साम्यवादी शिक्षण-शिविर में शिक्षा लेकर भारत में प्रचार कार्य करे। डाक्टर खन्ना को लेखक ने देश-देशान्तरों में भ्रमण तो अवश्य कराया है, परन्तु वह उसकी उचित व्यवस्था नहीं कर पाया है। पठानों के बीच से मुक्ति पाने के लिए डाक्टर खन्ना रुपयों के लिए अपनी प्यारी पत्नी 'राज' के पास चिट्ठियाँ लिखता है, परन्तु एक भी पत्र उसको नहीं मिल पाता। उपन्यासकार इन पत्रों के न मिलने को प्रसंगानुकूल व्यवस्था करने में अवश्य ही चूक गया है जिससे तो यही जान पड़ता है कि वह किसी न किसी प्रकार डाक्टर 'खन्ना' को गजनी ले जाकर, उसे 'रूस' भेजने की व्यवस्था करना चाहता है। उपन्यासों के अन्दर इस प्रकार की आरोपित घटनाओं को चित्रित करने से उनकी सारी स्वाभाविकता समाप्त हो जाती है।

राजनैतिक सिद्धान्तों को लेकर तथा साम्यवाद के समर्थन में दिये गये व्याख्यानों से उपन्यास के पृष्ठ के पृष्ठ भरे पड़े हैं। इस प्रकार रोमांटिक प्रसंगों की घूस देकर लेखक ने पाठकों को मार्क्सवादी दर्शन पढ़ने के लिए बाध्य किया है। 'शिवनाथ' के व्यक्तित्व को हल्का करने का उपन्यासकार ने जान-बूझ कर प्रयत्न किया है। युद्धकाल में कम्युनिस्ट पार्टी की नीति की सार्थकता सिद्ध करने के लिए खन्ना के चरित्र को माध्यम बनाया गया है, परन्तु समर्थन में दी गयी दलीलें अत्यन्त लचर और थोथी हैं।

यशपाल जी के उपन्यासों में उनकी सबलता ही सबसे बड़ी दुर्बलता बन गयी है। उनके राजनैतिक सिद्धान्त की ज्वाला वासना की लहरों से बुझ जाती है। उनका नायक सिद्धान्तों के लिए तो क्या जूझेगा, उसके पूर्व ही वह प्रेम की ज्वाला में जल मरता है। 'देशद्रोही' में उनका नायक विभिन्न देशों की सैर करता हुआ भारत में कम्युनिस्ट पार्टी के कार्यक्रम और सिद्धान्त के साथ प्रेम-कला के अनेक पाठ सीखता हुआ अन्त में अपने को बलिदान कर देता है। कहा नहीं जा सकता प्रेम की वेदी पर या कम्युनिज्म की वेदी पर। उसी प्रकार 'पार्टी कामरेड' की भी कहानी है। इसमें भी नायक को अन्त में शहादत मिलती है, लेकिन इसका निपटारा करना कठिन है कि वह शहादत प्रेम की है अथवा सिद्धान्त और आदर्श की[1]।"

१—मोतीसिंह—आलोचना, उपन्यास अङ्क, पृ० २०६।

इसमें सन्देह नहीं कि चमत्कारपूर्ण घटनाओ के संघटन से उपन्यास में कुतूहल की वृद्धि हुई है, परन्तु उन घटनाओं मे भी संगति तथा स्वाभाविकता का निर्वाह नहीं हो सका है। सभी पात्रो का व्यक्तित्व इतना दुर्बल है जिससे यही अनुमान लगता है कि कम्युनिस्ट-समाज मे सचमुच ही समाज की व्यापकता और व्यक्तित्व के विकास का मार्ग रुद्ध हो जायेगा। इस उपन्यास के अन्दर रोमास और साम्यवाद का ऐसा अपूर्व संयोग किया गया है कि यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि लेखक 'समाजवादी यथार्थ' का चित्रण कर रहा है या रोमाण्टिक यथार्थ का। "देशद्रोही केवल भगवानदास खन्ना के ही रोमास और भ्रमर वृत्ति की कहानी नही है, वरन् उसमे प्रानुषंगिक रूप से अन्य भी कई रोमास फूटते हैं। बद्री और राज का रोमास अन्त में विवाह मे परिणत होता है। 'सुजान' और 'यमुना' में भी इसी प्रकार का प्रेम-व्यापार चलता रहता है।"[1]

'देशद्रोही' के अन्दर लेखक ने खुलकर मार्क्स के सिद्धान्तो का प्रचार तो किया है, परन्तु उसने मार्क्स के विचारो की सर्वथा अवहेलना की है। मार्क्स ने कहीं भी अपना ऐसा विचार नही व्यक्त किया है कि लेखक को खुलकर अपने सिद्धान्तो का प्रचार करना चाहिये। कलात्मकता की दृष्टि से लेखक का दृष्टिकोण प्रच्छन्न ही रहना श्रेयस्कर होता है।

'मनुष्य के रूप' यशपाल जी का सामाजिक उपन्यास है जिसमें अपेक्षाकृत वैयक्तिक सिद्धान्तों का आग्रह कम है। परन्तु उपन्यास की मूल प्रेरणा लेखक को 'मार्क्स' के सिद्धान्तो से ही मिली है। 'मार्क्स' के अनुसार मनुष्य के सारे कार्य-कलापों का कारण आर्थिक होता है। 'मनुष्य के रूप' में परिस्थितियो के कारण परिवर्तित होने वाले मानव-स्वरूप के मूल में आर्थिक समस्या ही है। 'सोमा' और 'धनसिंह' के स्वभाव में जो-जो परिवर्तन आये हैं, सब उनकी आर्थिक कठिनाइयो के कारण। किस प्रकार पूजीपति सम्पत्ति का अम्बार लगाकर साधारण लोगो को जीवन मे आर्थिक विषमताओं के कारण घुट-घुट कर मरते देखते हैं और उदारता के नाम पर एक भी डकार नहीं लेते। दुर्बल व्यक्तित्व के मनुष्यो में आर्थिक कठिनाइयो के कारण विकार आ जाता है, तभी आर्थिक परिस्थितियाँ ही उसके स्वरूप का निर्माण करती हैं। शरीर-सुख की अभिलाषा ने सोमा को व्यभिचारिणी बनाया जिससे उसे जीवन की अनेक गंदी गलियों से गुजरना पड़ा।

इस उपन्यास के अन्दर १९४२ के आन्दोलन में किये गये पुलिस के अत्याचारो, कामुक पुरुषो की असहाय स्त्रियो के प्रति कुचेष्टाओ तथा पूँजीपतियो की अनैतिकता आदि के सजीव चित्र खींचे गये हैं। परन्तु इस अतिसामाजिक उपन्यास में भी यशपालजी कम्युनिस्टो के प्रसंग तो लाना भूले नही हैं। इनके सभी उपन्यासों की

[1] — गोवर्सिंह—आलोचना, उपन्यास अङ्क, पृ० २०६।

पट लेने पर यही जान पड़ता है कि किसी भी व्यक्ति का कम्युनिस्ट होना नारी के लिए सबसे बड़े आकर्षण की वस्तु है। नारी की ओर से ही सारे प्रयत्न होते हैं, इनका बेचारा कम्युनिस्ट पात्र तो दया करके प्रेम कर लेता है, क्योंकि नारी की कामुक विह्वलता को वह सह नहीं पाता। 'मनोरमा' कम्युनिस्ट प्रेमी 'भूषण' से प्रोत्साहन न पाकर उत्तेजना में एक फिल्म-एजेण्ट सुतलीवाला से विवाह कर लेती है, परन्तु कुछ ही दिनों बाद उस पुंसत्वहीन पति से सम्बन्ध विच्छेद कर फिर पार्टी के काम में भूषण के निकट आ जाती है।

'पार्टी कामरेड' का एक कम्युनिस्ट लड़की, मावरिया नामक एक लखपती किन्तु लफंगे व्यक्ति को अपने प्रेम से सुधार लेता है। 'गीता' के प्रेम ने 'मावरिया' के जीवन में आमूल परिवर्तन ला दिया; वह स्त्री को केवल मनबहलाव की वस्तु न समझ कर उससे वास्तविक प्रेम करने लगा और इसी कारण वह अन्त में सिपाही-विद्रोह में बलिदान होता है। परन्तु लेखक यह नहीं दिखला पाया है कि 'मावरिया' के हृदय में सामाजिक न्याय की प्रेरणा आ गई थी या नहीं। वह अपने सामाजिक संस्कारों के कारण नहीं, बल्कि 'गीता' के प्रेम को प्राप्त करने के लिए बढ़ा था, और अन्य प्रेमियों की भांति उसने भी अपने को प्रेम की वेदी पर बलि दे दी।

यशपालजी की प्रतिभा बड़ी प्रखर है, उनका अनुभव-क्षेत्र विशाल है तथा समाज के मार्मिक चित्रों को चित्रित करने में प्रेमचन्द जी को छोड़कर इनका नाम सर्वप्रथम लिया जा सकता है। परन्तु जहां तक इनके वैयक्तिक सिद्धान्त और उपन्यास-कला का सम्बन्ध है, वह अति रोमांटिक प्रवृत्ति के कारण अपने वास्तविक मूल्य की अधिकारिणी नहीं रह जाती। स्पष्ट रूप से न तो हम इनके उपन्यासों को समाजवादी यथार्थ के अन्दर रख सकते हैं, न तो रोमांटिक यथार्थ के और न तो उन्हें मुख्यतः सामाजिक यथार्थ की ही संज्ञा दी जा सकती है।

समाजवादी यथार्थ और कुछ अन्य उपन्यास

'रांगेय राघव' ने अपने 'घरौंदे' नामक उपन्यास में 'भगवती' और जमींदार साहब की प्रजा को विद्रोह के लिए भड़काने के प्रसंग को लेकर एक हल्का सा संकेत राजनैतिक आवश्यकताओं की ओर किया तो अवश्य है, परन्तु वह उपन्यास के अन्य मार्मिक प्रसंगों में इस प्रकार घुल-मिल गया है कि उभड़ने ही नहीं पाया है। 'विषाद मठ' और 'हुजूर' नामक दो उपन्यासों में वर्तमान समाज में पाये जानेवाले शोषण, नग्नता, दरिद्रता एवं बेबसी का बड़ा ही यथार्थ चित्रण मिलता है। 'विषाद मठ' के अन्दर लेखक ने अपने समस्त राजनैतिक आग्रहों से ऊपर उठकर बंगाल की त्रस्त मानवता का रुला देनेवाला चित्र उरेहा है। अकाल के समय किस प्रकार बंगाल के नागरिक एक मुट्ठी अन्न के लिए घर, खेत, शरीर आदि सभी बेचने को तैयार थे, आदि दृश्यों का वास्तविक चित्रण इस

उपन्यास में मिलता है। इस प्रसंग में आये नर-नारी के नग्न चित्रों से कामुकता नहीं, बल्कि करुणा का उद्रेक ही फूटता है। सारी कामुकता तो उस करुणा के आवेग से न जाने कहाँ लुप्त हो जाती है।

इनके 'हुजूर' नामक उपन्यास मे प्रस्तुत समाज के विभिन्न खंडो के चित्रों को उपस्थित किया गया है। इस उपन्यास मे लेखक का मुख्य अभिप्राय आधुनिक परिवर्तनशील युग मे समाज की वास्तविक स्थिति को चित्रित करना है। समाज के बाहरी स्वरूप में परिवर्तन तो जान पड़ता है, पर मनुष्यो के बीच की शासन-व्यवस्था मात्र बदली है, "किन्तु समाज के शोषित मानव और प्रताड़ित नारी उसी प्रकार, सम्भवतः उससे भी अधिक हीनतर जीवन बिता रहे हैं।" लेखक ने समाज की नवीनतम आवश्यकताओं को पहचान कर उन्हें अत्यन्त ही व्यंगपूर्ण ढंग से उपस्थित करने का प्रयत्न किया है। इसमें शासक, शोषक, पूँजीपति और देशेश्वर नेताओं के जीवन में नैतिक पतन और चारित्रिक ह्रास दिखलाते हुए ऐसे चित्र उपस्थित किये गये हैं जिनसे उत्कट विलासिता की गंध आती है। इस प्रकार 'रागेय राघव' के उपन्यासों मे वास्तविक सामाजिक यथार्थ के सफल चित्र मिल जाते हैं, जिन्हें समाजवादी यथार्थवाद के संकीर्ण शिकंजो में बन्द न करके, सामाजिक यथार्थवाद के अन्दर ही रखना अधिक उपयुक्त जान पड़ता है। शासक, शासित, शोषक और शोषित समाज के ही अंग हैं, जिससे सामाजिक चित्रण करते समय इनका प्रसंग आ जाना स्वाभाविक ही है। केवल कुछ शब्दावलियों के भ्रम से उसे गलत नाम देना उचित नहीं है।

बलचनमा

'नागार्जुन' का यह उपन्यास उनके मार्क्सवादी सिद्धान्तो के बोझ से दबा अवश्य है, परन्तु लेखक ने सोशलिस्ट आन्दोलन का जो इसमें समर्थन किया है, इससे बात अस्पष्ट ही रह जाती है। कोई भी कम्युनिस्ट भूमि आन्दोलन का श्रेय अन्य राजनैतिक दलों को देने के लिए कभी भी तैयार नहीं हो सकता। 'नागार्जुन' ने इस उपन्यास में और दूसरे भी उपन्यासो में कहीं-कहीं उच्छृङ्खलता का परिचय दिया है जैसे 'रतिनाथ की चाची' में अप्राकृतिक व्यभिचार का और इसमें अत्यन्त फूहड़ शब्दों के प्रयोग का। यदि लेखक का ध्येय समाजवादी यथार्थवाद का चित्रण करना है, तो उसे अपनी शैली में प्रकृतवादी होने की क्या आवश्यकता है, बात समझ में नहीं आती। 'नई पौध' इनकी बाद की रचना है जिसमें लेखक ने सामाजिक समस्याओं को ही मुख्यतः अपनाया है।

नागार्जुन जी का 'बाबा बटेश्वरनाथ' सन् १९५४ में प्रकाशित हुआ है। इसमें सन्देह नहीं कि लेखक के सामने रचना करते समय जमीन्दारी उन्मूलन के पश्चात् की आई हुई-परिस्थितियाँ थीं। किस प्रकार जमीन्दारों ने परती, चरागाह तथा

सार्वजनिक उपयोग में आने वाले वृक्षों को बेचकर रुपया बना लिया जिनके कारण सर्वसाधारण के सामने विकट परिस्थितियाँ उपस्थित हो गई हैं। लेखक ने केवल प्रश्न उठाकर ही छोड़ नहीं दिया है, बल्कि उसका हल भी उसने अपनी दृष्टि से उपस्थित करना चाहा है। जहाँ तक कथा की स्वाभाविकता का प्रश्न है, बात समझ में नहीं आती कि नागार्जुन जी जैसे अपने को यथार्थवादी लेखक कहने वाले किस प्रकार भूत-प्रेत के चक्कर में पड़ गये। ऐसा लगता है कि उन्होंने भारतीयों की स्वाभाविक दुर्बलता 'भूतों के विश्वास' से नाजायज फायदा उठाना चाहा है। उपन्यास का तीन-चौथाई भाग एक बटवृक्ष का उपदेश है जो मनुष्य रूप में आकर अपनी आत्मकथा जयकिसुन को सुना जाता है। उसने बड़ा जमाना देखा है। उसे राजनीति, धर्मनीति तथा समाज-नीति का अच्छा ज्ञान है। यहाँ तक कि वह नेताओं के ऊपर भी आलोचना करने की क्षमता रखता है और वह साफ-साफ कह सकता है कि जयप्रकाश की नीति ढुलमुल है। जयकिसुन के पूर्वजों ने उसे लगाया था, उसे वहाँ से किस प्रकार पाया, ठीक-ठीक पैसे की आत्मकहानी है। परन्तु कला की दृष्टि से, बटवृक्ष जो असंख्य भारतीयों के विश्वास और शान्ति तथा शरण का प्रतीक है, इसका चुनाव उपन्यासकार की अत्यन्त मार्मिक एवं सूक्ष्म-कला की परख का द्योतक है।

टुनई पाठक और जैनरायन ने उसे जमीन्दार से खरीद लिया है और उसे कटवाना चाहते हैं, यहीं से कहानी में वास्तविक जोर आता है। किसानों का संगठन बरगद की ममता को लेकर ही आरम्भ होता है। जीवनाथ नामक युवक भी जैकिसुन के साथ आकर किसान आन्दोलन में भाग लेता है और शीघ्र ही अपनी कर्मठता के कारण सब का नेता बन जाता है। दयानाथ की पूरी आस्था कांग्रेस के साथ थी। उसने सत्याग्रह आन्दोलन में बाईस रोज का जीवन नागपुर जेल में बिताया था परन्तु वह भी किसानों के साथ आ मिलता है। नीलाम्बर ने, जो टुनई पाठक का लड़का था और मुजफ्फरपुर में इनकम टैक्स आफिसर था, अपने प्रभाव से जिले के सभी अधिकारियों के दरवाजे किसानों के लिए बन्द कर दिये थे। "कांग्रेसियों का स्वार्थी रूप देखकर जीवू का दिल उनकी ओर से कटने लगा।" रुपये-पैसे वालों के पास लोगों को परेशान करने के कितने हथकंडे होते हैं और बेगुनाह लोग किस प्रकार उससे पिस जाते हैं, आदि बातों का सजीव चित्र लेखक ने पाठक के षड्यंत्र को चित्रित कर उतारा है। "शत्रुओं को फँसाने की नीयत से पाठक ने डेढ़ सौ रुपये में टसले गूँगे की जान का सौदा किया और दो ही रोज बाद बेचारा बाँसों के झुरमुट में बेजान पाया गया।" हत्या के अभियोग में पाँच आदमी गिरफ्तार हुए जिसमें जीवनाथ राय और जयकिसुन भी थे।

कांग्रेसी एम० एल० ए० ने किसानों की कुछ भी मदद नहीं की और अन्त में उन्हें शरण यदि कहीं मिली तो वह थे श्यामसुन्दर बाबू वकील, जो जनवादी नौजवान संघ

भी जिला कमेटी के प्रेसीडेण्ट भी थे। इस प्रकार समस्त घटनाओं को सामने रखकर लेखक इस परिणाम पर पहुँचता है कि वर्तमान राजनीतिक पार्टियों से अब देश का कल्याण होने को नहीं। किसानों का एक ऐसा संयुक्त मोर्चा बनाना है जो पूँजीपतियों और सत्ताधारियों से मोर्चा ले। जीवू के नेतृत्व में बेदखली के खिलाफ गाँव वालों का वैसा ही मोर्चा बना। ग्राम कमेटी बनी, हाजी करीम बख्श सदर चुने गये, दयानाथ उपसभापति हुआ और जीवनाथ सेक्रेटरी। एक दिन के अन्दर ही पन्द्रह मन धान भी स्थायी कोष में आ गया, अखबारों के लिए शुल्क भी भेज दिये गये और उन लोगों ने अपनी सारी समस्याओं को स्वयं हल करने की सफल योजना बना ली।

इस प्रकार लेखक ने जिस समाज और व्यापक संघर्ष की कल्पना की है, उसने निश्चित ही एक विशिष्ट राजनैतिक दल की ओर संकेत मिलता है जिसका नाम है साम्यवाद। उपन्यासकार ने सारी प्रस्तुत समस्याओं का एकमात्र समाधान साम्यवाद के सिद्धान्त को समझा है। इसकी जो सबसे बड़ी विशेषता है वह यह कि लेखक इसमें नारी सम्बन्धी अश्लील प्रसंगों को बचा ले गया है जो समाजवादी यथार्थ का चित्रण करने वाले भारतीय प्रमुख कलाकारों का विशेष दुर्बल बिंदु है।

भैरवप्रसाद गुप्त के भी उपन्यास समाजवादी यथार्थवाद को लक्ष्य करके लिखे गये हैं। इनके 'मशाल' को पढ़कर ऐसा लगता है कि इनका कलाकार रूप अभी परिपक्व नहीं हो पाया है।

कतिपय उपन्यासों को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि इस प्रकार के उपन्यासकारों की प्रतिभा भ्रम में पड़कर उपयोग में नहीं आ पा रही है। सिद्धान्तों के चक्कर में पड़ने के कारण इनकी स्वाभाविकता भी नष्ट हो जाती है और ये पाठकों का विश्वास प्राप्त कर लेने में भी असमर्थ रहते हैं। किसी समसामयिक सिद्धान्त का समावेश हो जाना उपन्यासों के लिए अहितकर नहीं है, यदि वे सिद्धान्त कला के माध्यम से लाये जायँ जिससे लेखक के विचार पाठकों को आरोपित न जान पड़ें, बल्कि पाठक स्वयं व्यञ्जित विचारों को ढूँढ निकाले।

मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद

मनोवैज्ञानिक शैली को लक्ष्य मानकर लिखने वाले उपन्यासकारों में इलाचन्द्र जोशी, अज्ञेय तथा डा० देवराज के नाम प्रमुख हैं।

इलाचन्द्र जोशी

जोशीजी के 'पर्दे की रानी' का इन्द्रमोहन एक 'शरीफ बदमाश' का अच्छा उदाहरण है। वह 'निरंजना' के शरीर का उपभोग करने के लिए सभी छलछंदों का प्रयोग करता है, 'शीला' की झूठी मृत्यु का प्रचार करता है तथा दाढ़ी-मूँछ बढ़ाकर आधुनिक युग में देखे जाने वाले निराश एवं अतृप्त तथा प्रेमिका के द्वार से लौटाये हुए सच्चे प्रेमी का-सा स्वांग बनाकर निरंजना को अंकस्थ करना चाहता है। उसके अन्दर काम की अदम्य वासना ने उग्र रूप धारण कर लिया है और वह अपनी जिस इच्छा को प्रथम बार होटल में नहीं पूरी कर सका था, उसकी पूर्ति नेपाल जाते समय ट्रेन में ही निरंजना का कौमार्य भंग करके करता है।

अपने निश्चय एवं विश्वास को टूटते देखकर किस प्रकार व्यक्ति का हृदय टूट जाता है इसका एक पूर्ण चित्र उस समय उपस्थित हो जाता है जब इन्द्रमोहन ने शैतानी प्रवृत्तियों की प्रेरणा में 'शीला' की मृत्यु की वास्तविक कथा निरंजना को सुनाई और जिसे सुन कर वह घृणा एवं क्रोध से पागल-सी हो उठी थी। उसके मन के अन्दर माता-पिता की पतित कहानी जान लेने के कारण जो एक विचित्र ग्रन्थि पड़ गई है वह अत्यन्त मनोवैज्ञानिक है।

इस प्रकार के उपन्यासों की गतिविधि मूलतः यौन समस्याओं को ही लेकर चलती दिखलाई देती है। जोशी जी के 'प्रेत और छाया' नामक उपन्यास में सारा का सारा कथानक इसी पर आधारित है। पारसनाथ ऐसा सुशिक्षित व्यक्ति भी, जिसने कि एम० ए० तक शिक्षा प्राप्त की है, पिता द्वारा यह सुनकर कि वह उसका पिता नहीं है, बल्कि वह एक वैद्य की अवैध सन्तान है जिससे उसकी माता का अनैतिक यौन सम्बन्ध था, अपना मानसिक सन्तुलन खो देता है। अपने जन्म की कलंक-कथा को सुनकर तथा पिता के प्रत्यक्ष पाप कर्मों को देखकर वह एक असामान्य व्यक्ति बन जाता है। उसने न जाने कितनी स्त्रियों के साथ यौन सम्बन्ध स्थापित किया और तोड़ा। 'मंजरी' नामक एक दीन छाया पर जो पैसे के लिए होटल में अपने रूप से लोगों का मनोरंजन करने के लिए आया करती थी, वह विशेष करुणार्द्र हो उठता है, और जब वह उसके साथ रहने लग

जाती है तो उससे भी यौन सम्बन्ध स्थापित कर लेता है और उसे गर्भवती छोड़कर 'नन्दिनी' नामक वेश्या के साथ चला जाता है। परन्तु उसके सर पर से प्रेत की छाया तभी हटती है जब वह पुनः पिता द्वारा सुन लेता है कि वह अपने पिता की ही सन्तान है, वैद्य की नहीं और उसी क्षण से वह 'मंजरी' की बहन हीरा के साथ एक सच्चे गृहस्थ का-सा वैवाहिक जीवन व्यतीत करता है। इस प्रकार के उपन्यासकार मानसिक रोगियों का निदान रहस्योद्घाटन करके ही करना चाहते हैं। इस प्रकार की पद्धति कला की दृष्टि से भले ही श्रेष्ठ हो पर नैतिकता की दृष्टि से इसे श्रेष्ठ नहीं कहा जा सकता।

जोशीजी के 'संन्यासी' का नन्दकिशोर, 'पर्दे की रानी' का निरंजन और 'प्रेत और छाया' का पारसनाथ न्यूरोटिक चरित्र हैं। इनकी गाँठें खुल जाने पर इन्हें अपेक्षित मार्ग मिल जाता है।

अज्ञेय

अज्ञेय जी के उपन्यासों में वैयक्तिकता का अधिक चित्रण है। वे सम्पूर्ण समाज को उसके वास्तविक रूप में चित्रित करने की अपेक्षा एक व्यक्ति को विभिन्न परिस्थितियों में रखकर उसके वास्तविक जीवन की सूक्ष्मातिसूक्ष्म छान-बीन करना अधिक श्रेयस्कर समझते हैं। उनके 'शेखर : एक जीवनी' का शेखर ऐसा ही एक व्यक्ति है जो जीवन भर विद्रोह करता है। परन्तु 'अज्ञेय' जी ने केवल उसके विद्रोही जीवन का चित्र ही नहीं उरेहा है, बल्कि उसका निर्माण भी दिखलाया है। 'शेखर' की जीवन-सरिता का पाट इतना चौड़ा है कि जिसके अन्दर देश, काल सम्बन्धी राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा नैतिक सभी समस्याएँ सिमट कर आ गई हैं, अन्यथा लेखक का एकमात्र लक्ष्य नायक की वैयक्तिकता का चित्रण मात्र ही है।

'शेखर' के अन्दर एक सशक्त कुतूहल है। वह किसी वस्तु को देखकर या उसके बारे में किसी से सुनकर ही सन्तोष नहीं करता बल्कि उसके मूल में क्या है उसे जानने के लिए सदैव उत्सुक रहता है। जब तक उसने माँ और पिता को दोपहरी में एक चारपाई पर सटे देख नहीं लिया तब तक 'बच्चे कहाँ से आते हैं' की जिज्ञासा उसे पागल बनाये रखती है। यह बाल स्वभाव है कि जिस किसी वस्तु के लिए निषेध किया जाय उसके लिए उत्सुकता में वेग अधिक आ जाता है। शेखर का 'गीतगोविन्द' छिपाकर पढ़ना अत्यन्त स्वाभाविक है। वह अपनी प्रकृति का राजा है, जिसने उसे अत्यन्त अहंवादी बना दिया है। बालक 'शेखर' के सभी गुण सामान्य बालक के गुण नहीं, वह प्रारम्भ से ही असाधारण बालक के रूप में हमारे सामने आता है, जिससे कहीं-कहीं पाठक लेखक के साथ अपनी सहमति नहीं प्रकट कर पाता।

लेखक का मनोविश्लेषणात्मक चिन्तन कहीं-कहीं अधिक गम्भीर हो जाने के कारण इस सीमा तक पहुँच गया है कि बहुत से अवांछित चित्र आ गये हैं। इस प्रकार के

लेखकों के अन्दर यौन (सेक्स) सम्बन्धी सबसे बड़ी दुर्बलता है। 'शेखर' का विद्रोह जीवन के हर क्षेत्र में होता है, परन्तु उसने कभी भी अपना विराग नारी के प्रति नहीं दिखलाया, बल्कि लड़कपन से ही उसमें नारी आकर्षण विद्यमान है। 'अज्ञेय' जी के पात्र को जब अनेक नारियों से तृप्ति नहीं मिली तो उसने पुरुष के प्रति पुरुष के आकर्षण की परिपाटी निकाल ली। समुद्र के किनारे 'शेखर' कुमार का साधिकार चुम्बन लेने के बाद कहता है कि "कुमार, यदि मेरे अतिरिक्त तुम और किसी के हुए तो मैं तुम्हारा गला घोंट दूँगा।"

लेखक ने मनुष्य की तीन मूल प्रवृत्तियों को पकड़ा है जो उसके जीवन का सचालन करती हैं। अहम्, भय और काम मनुष्य की शाश्वत प्रवृत्तियाँ हैं। आगे चलकर उसने शेखर के बाल्यकाल से तीनों के उदाहरण दिये हैं। यदि आप ध्यान से देखें तो इन तीनों वृत्तियों पर अधिकार पाने का शेखर प्रयत्न कर रहा है। भय तो एकदम उसके जीवन से एक दिन निकल ही गया, काम भावना धीरे-धीरे प्रेम में बदल गयी।.... समीक्षकों को जो एक बहुत बड़ा दोष दृष्टिगत हुआ है, वह है उसका अहम्। यह अहम् की भावना भी आत्मविश्वास में परिणत हुई है। शेखर का ईश्वर में विश्वास चाहे डिग गया हो, अपने में बना हुआ है, परन्तु सबसे आवश्यक बात जो इसमें कहने को रह जाती है, वह यह कि 'शेखर' के चित्रण में लेखक ने वैयक्तिक रंग इतना गहरा कर दिया है कि वह समाज के लिए कोई भी एक निश्चित मानदंड उपस्थित करने में समर्थ नहीं हुआ है।

इतना तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि एक उपन्यास लिख कर हिन्दी उपन्यास-ससार में किसी भी लेखक को उतनी ख्याति नहीं मिली, जितनी अज्ञेय जी को 'शेखर : एक जीवनी' लिख कर मिली। 'शेखर : एक जीवनी, हिन्दी उपन्यास-संसार में एक नया प्रयोग है, जिससे इसके मूल्यांकन में विशेष सतर्क एवं सूक्ष्म दृष्टि से काम लेना होगा। लेखक या इसकी शैली का अपना नया प्रयोग है। सारी कथा एक जीवनी के रूप में लिखी गयी है जिसे स्वयं 'शेखर' ने बड़े होने पर मृत्यु की छाया में बैठ कर लिखा है। इसके पहले भाग में तो उसके स्मृतिपटल पर आने वाले संस्मरण हैं, परन्तु दूसरे भाग में शशि और शेखर की कथा उपन्यास का रूप धारण कर लेती है, जिसे साधारण पाठक अपेक्षाकृत अधिक पसन्द करता है। शेखर के जीवन में लेखक ने जो एक बालक की विकसित होने वाली मनोवृत्तियों का चित्रण किया है, उसमें ही उसकी वास्तविक मौलिक प्रतिभा का चमत्कार दिखलाई पड़ता है। यदि लेखक का दावा है कि सभी बालकों की मानसिक प्रतिक्रिया एक-सी होती है तो इसे किसी अंश तक स्वीकार किया जा सकता है, परन्तु 'शेखर' साधारण नहीं बल्कि एक असाधारण बालक है, जो सहस्रों में कहीं एक होता है। समाज के प्रत्येक व्यक्ति के

मानसिक स्तर में असमानता पाई जाती है जिससे इस प्रकार के चित्र कभी भी समाज के व्यापक चित्र नहीं हो सकते। उसकी धारणा है कि मनुष्य बनाये नहीं जाते बल्कि वे वैसे उत्पन्न ही होते हैं—"मैं समझता हूँ विद्रोही बनते नहीं, पैदा होते हैं।" 'शेखर' के पढ़े-लिखे माँ-बाप प्रयत्न कर के भी उसके चरित्र का निर्माण अपनी इच्छा के अनुसार नहीं कर पाये और बालक का चरित्र अपनी स्वाभाविक गति से अपनी विशेषताओं के साथ विकसित होता गया।

'शेखर' के स्वभाव ने किसी के आधिपत्य में रहना नहीं सीखा है, बल्कि दबाव का उलटा प्रभाव उसके ऊपर पड़ता है। मास्टर साहब को परेशान करने के अपराध में जब वह पीटा जाता है तो और भी उसका 'घुग्गू' कह कर चिढ़ाना बालकों की प्रवृत्ति के अनुकूल ही है। विवश होकर किसी कार्य का करना उसके स्वभाव के प्रतिकूल ही है। अनुकरण तथा प्रतियोगिता की भावना का होना बालकों का स्वाभाविक गुण है। भय के हट जाने पर शेखर अपनी बहन तथा भाई का पढ़ना सुन कर उनका पाठ जबानी सुना देता है, और सम्मानप्रिय तो वह इतना है कि लेखक बनने के लिए एक पुस्तक भी तैयार कर लेता है। 'शेखर' की ये ऐसी प्रवृत्तियाँ हैं जो अधिकांशतः बालकों में नहीं पाई जाती हैं, जिससे लेखक के इन चित्रों को साधारण बालक के चित्र न कह कर असाधारण बालक के चित्र ही कहना चाहिए, किन्तु जहाँ उसने उसकी अवस्था और मानसिक सीमा का ध्यान छोड़ कर, उससे दार्शनिक जैसी बातें करानी चाही हैं, वे चित्र अवश्य ही अस्वाभाविक लगते हैं।

बाल 'शेखर' की प्राकृतिक प्रवृत्तियाँ समय पाकर धीरे-धीरे जगती हैं, परन्तु उसके अन्दर यह कैसा परिवर्तन होता जा रहा है, उसका उसे ज्ञान नहीं, किन्तु यदि वह शारदा से नहीं मिलता, तो इतना जान सका है कि उसे चैन नहीं पड़ता। एकान्त निर्जन घास पर शारदा के पास बैठा वह कामातुर हो जाता है। उसका सारा शरीर झनझना उठता है। वह कस कर धरती से औंधा होकर चिपट जाना चाहता है। शारदा को स्पर्श करता है तो शारदा भी काँपती हुई दिखलाई पड़ती है, किन्तु यह सब क्या है और क्यों है, उसे ज्ञात नहीं। अत्ती की नंगी पीठ तथा उसके केशों का सुगंध आदि का प्रभाव, सावित्री का मौन, शशि का आग्रह, शारदा का कम्पन, सब क्या था, तब उसकी समझ में आया जब उसने अपनी पहले देखी हुई एक पुस्तक पढ़ी, जिससे नारी का सम्पर्क उसके लिए वरदान सिद्ध हो गया और वह प्यार की शक्ति को पहचान पाया। मानव-जीवन में प्रेम ही एक ऐसा सूत्र है जिसके द्वारा समाज का गठन सम्भव हो सका है और प्रेम की प्रधान वृत्ति वासना ही वह ऐसी शक्ति है, जिसके कारण सृष्टि सम्भव हो सकी है। हमें 'शेखर' के जीवन-विकास से स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य के लिए कामनामय वृत्ति की उपेक्षा करना सम्भव नहीं है। विद्रोही शेखर का सम्पूर्ण जीवन नारी प्रभावों से आहत रहा है। जीवन में प्रेरणा लाने के लिए नारी का प्यार

एक अपूर्ण साधन है। नारी-जाति मे बहुतो के सम्पर्क मे 'शेखर' आता है। उदाहरण के लिए उसकी माँ, मौसी विद्यावती, उसकी बड़ी बहन सरस्वती, आया जिन्निया, नौकरानी अत्ती, फूला, सावित्री, मिस प्रतिमालाल, मणिका, शान्ति, शीला, शारदा और शशि को हम ले सकते हैं। इनमे कुछ ऐसी है जो पथ में आती हैं और चली जाती हैं, कोई गहरा विशिष्ट या स्थायी प्रभाव वे नही छोड़ती। इनमे से माँ एक ऐसी है जिसके प्रति शेखर की मानसिक प्रतिक्रिया अनुकूल नही। इसमे सन्देह नही कि माँ ने शेखर के स्वभाव को नहीं समझा। वह दबाकर शेखर को अपने इच्छानुसार आचरण करने के योग्य बनाना चाहती थी, परन्तु उसके दबाव का विपरीत ही प्रभाव पड़ता गया। शेखर के जीवन में यदि सुधार आये तो वे उसके वैयक्तिक अनुभवो के द्वारा ही। जीवन मे झटके खाने पर उसकी दिशा मुड़ी और वह सुधार कार्यों की ओर प्रवृत्त हुआ और लिखने-पढने की भी रुचि उसमें जगी। आरम्भ से अन्त तक यदि किसी प्रवृत्ति में विकास होता रहा, तो वह है प्रेम की प्रवृत्ति। मनुष्य की वासना प्रबल होती है। वह गिरती-पड़ती नाना रूप बदलती रहती है। लोग कहते हैं, प्रेम अमर होता है, वह तो जीवन मे एक बार होता है और मर कर फिर नही होता, परन्तु अमर है वासना जो मरती ही नही और अवसर पाकर उठ खड़ी होती है।

उपन्यास के प्रथम खड में लेखक का मनोविश्लेषणात्मक चिंतन कहो-कही अधिक गम्भीर हो गया है, जिससे ऐसे भी चित्र उपस्थित हो गये हैं जिनका कि न प्रस्तुत करना ही उचित था। अतियथार्थ चित्रण मे लेखक को कभी भी यह न भूला देना चाहिए कि उसका सग्रह समाज की दृष्टि से अनुपयुक्त है। शेखर की लम्बी जीवन-यात्रा मे जो अनेक सामाजिक, धार्मिक एवं राजनैतिक चित्र आये हैं, वे लेखक को इसलिए लाने पडे हैं कि उन्हीं चित्रो के बीच उसे शेखर के जीवन का विकास दिखलाना है। स्वतन्त्र रूप से तत्कालीन समसामयिक सामाजिक चित्रों को उतारना कभी भी इस उपन्यास-लेखक को इष्ट नही है। वे सभी समस्याएँ और चित्र, जिनका शेखर से सम्बन्ध है, किसी न किसी प्रकार उसके जीवन को प्रभावित करते हैं। पजाब में शेखर जब पढ़ने के लिए होस्टल में पहुँचा तो उस प्रसंग को लेकर लेखक ने जो बालको से उसका परिचय कराया है, वह निश्चित ही युनिवर्सिटी स्टूडेण्टों का एक सफल व्यग्यचित्र है। उनके ठाट-बाट, आधे नाम तथा उपनामो को लेकर पुकारने की प्रवृत्ति, आपस में महिला छात्रो की ही चर्चा तथा उनके नैकट्य की होड आदि दुर्व्यसनों का सजीव चित्र उपस्थित हो जाता है, जिसे देख कर शेखर को उस प्रकार के समाज से एक प्रकार की विरक्ति हो होती है और वह अपनी सामाजिक सीमा कुछ इने-गिने लोगो तक ही सीमित कर लेता है।

यों 'मणिका' का एक कारुणिक चित्र उपन्यासकार ने खींचा है। मणिका ने विदेशी उपाधि प्राप्त की है और आधुनिक कहलाने वाले समाज मे उसका

स्थान भी है। वह शराब भी पीती है। इतना ही नहीं, बल्कि वह अप-टू-डेट समाज के योग्य सभी आवश्यक साज-शृंगार करती है। यदि हम मणिका के बाह्य स्वरूप को ही उसका वास्तविक स्वरूप मान लें तो आज के आधुनिक समाज से हमारी आस्था ही बिल्कुल हट जायेगी। उसे वास्तविक रूप मे देखने के लिए उसके मन की आँधी को जानना होगा जो निरन्तर उठ रही है। हम देखते हैं कि उसका हृदय बिल्कुल मर नही गया है। सर्वप्रथम वह भले ही शेखर को तिरस्कार की दृष्टि से देखती है, किन्तु शीघ्र ही उसकी मानवता जगती है वह उसकी सादगी तथा शालीनता की ओर आकर्षित हो जाती है। जिसने समाज में प्रतिष्ठा पाने की इच्छा ही ऐसे जीवन को बनाने वाली है, जिस समाज के प्रति शेखर का कभी भी आकर्षण नही हुआ, वह वास्तविक स्थिति का अनुभव करता है, जिससे मणिका के प्रति उसे कभी भी घृणा नहीं होती है।

एक चबूतरे पर अधनंगे दो लडकों की वीभत्स मुद्रा तथा उनका सटकर बैठना और परस्पर एक दूसरे का चुम्बन करना तथा सामने पानी मे पडी हुई तारा के समान चमकती नीली साडी में वेश्या का सूरत भारतीय समाज की पतनोन्मुखी कहानी तो है, जिसे लेखक लगे हाथो दिखला देना चाहता है, परन्तु शेखर के ऊपर उसका जो प्रभाव पडा, उसे ही दिखलाना उपन्यासकार का मुख्य लक्ष्य है। आर्थिक ढाँचे की विषमता किस प्रकार लोगो को पाप कर्म के लिए बाध्य करती, अधनंगी लडकी का बाँह खींचना और पैसे के लिए अपनी प्रतिष्ठा का सौदा करते हुए एक दूर की कोठरी की ओर इशारा करना आदि, इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। शेखर के ऊपर इसका स्थायी प्रभाव पडा जिसके लिए जीवन भर वह व्याकुल रहा।

शेखर के जीवन निर्माण पर प्रभाव डालने वाली सबसे महत्वपूर्ण घटना है उसकी जेल-यात्रा। जेल के वातावरण में पड कर उसके जीवन तथा चरित्र का विकास होता है। बाबा मदन सिंह, मोहिसिन तथा रामजी आदि के चरित्रों का उसके ऊपर प्रभाव पडता है। शशि की स्मृति का वास्तविक आनन्द उसे वही मिलता है। और अन्त में हम देखते हैं कि उसका प्रेम किस प्रकार बहन और भाई के बन्धन को कुछ भी परवाह न करके घनत्व को प्राप्त करने लग जाता है। इस प्रकार उपन्यास के अन्दर जितनी ही समस्याएँ अथवा घटनाएँ आती हैं, उन सभी का स्थायी प्रभाव शेखर के ऊपर किसी न किसी रूप में पडता है और इसी लक्ष्य से उपन्यासकार ने उन्हें इस कृति मे स्थान दिया है अन्यथा उपन्यास का मुख्य लक्ष्य शेखर के जीवन की गतिविधि दिखलाना है, जिसका वास्तविक सम्बन्ध उसकी अन्तर्वृत्तियो से है।

मानव मन की अन्तर्वृत्तियो पर सबसे अधिक अधिकार वासना-जन्य प्रेम का रहता है, जिस सूत्र पर ही शेखर के जीवन की अनन्त मालकमणियाँ लटकती दिखलाई पडती हैं। वह विद्रोही सर्वत्र हुआ है, किन्तु कही भी नारी के प्रति उसका विद्रोह प्रकट

नहीं हो पाया, केवल एक माता को छोड़ कर। नारी को वह स्त्री छोड़कर और कुछ मानने के लिए तैयार नहीं।

शेखर का शशि से जो एक बार साक्षात्कार बालकपन में हुआ वह अवस्था के अनुसार विकसित होता गया तथा आयु के अनुसार सहज भाव से उसमें परिवर्तन भी होता गया। आरम्भ में जब वे शिशु थे तो शेखर ने लोटे से शशि का सिर फोड़ा था और जब वही बड़ा हो जाता है, तो मौसी विद्यावती की तीमारदारी करती हुई शशि से मिलने में लज्जा का अनुभव करता है। उसके ये परिवर्तित गुण अवस्था के ही विकसित गुण-धर्म हैं। अन्त में शेखर को एकमात्र प्रेरणा शशि से ही मिलती है। उसी के प्रेम से प्रेरित होकर वह लेखक क्या, सब कुछ बनता है। परन्तु दोनों का प्रेम एक दूसरे तक ही सीमित है, क्योंकि एकान्त और सर्वाधिकार की भावना ही प्रेम का वास्तविक स्वरूप है। प्रेम-व्यापार को बढ़ाने में साहचर्य का सबसे बड़ा हाथ होता है। रामेश्वर द्वारा तिरस्कृत करने पर जब शशि शेखर के निकट आई तो साहचर्य के कारण ही अप्रत्यक्ष प्रेम प्रत्यक्ष रूप में प्रकट हो जाता है, जब कि शेखर 'शशि' का सिर पकड़ कर उसके ओठ कई बार चूम लेता है। वह शशि से स्वीकार कर लेता है कि 'जितने स्वप्न मैंने देखे हैं, सब तुम में आकर घुल जाते हैं।'

इस उपन्यास के ऊपर बुद्धिवादिता, वैयक्तिकता तथा दुःखवादिता आदि के प्रचार का आरोप लगाया जाता है, परन्तु इस कृति के ऊपर सरलता से कोई निर्णय कर देना उपयुक्त न होगा। आगे आने वाली नवीन उपन्यास-परम्परा का यह प्रवेश-द्वार अत्यन्त ही भव्य बन पड़ा है और यदि आगे विद्वान् लेखक अपनी वैयक्तिक कुण्ठाओं एवं आग्रहों से उठ कर उस ओर आकर्षित हुए तो इसमें सन्देह नहीं कि उपन्यासों के द्वारा वह आवश्यक कार्य सम्पन्न हो जायगा जिसे प्रेमचन्द जी ऐसे समर्थ उपन्यासकार नहीं कर पाये।

अज्ञेय जी के नवीनतम उपन्यास 'नदी के द्वीप' में हमें उनकी बौद्धिकता का और भी चमत्कार दिखलाई पड़ता है। 'शेखर' ने जहाँ से सूत्र छोड़ा है 'भुवन' वहीं से प्रारम्भ करता है। इस उपन्यास में देश-काल का नितान्त अभाव है, परन्तु कला की दृष्टि से ऐसे सुन्दर उपन्यास हिन्दी में अभी कम ही लिखे गये। भुवन, चन्द्रमाधव, रेखा और गौरा की समस्याएँ सेक्स और विवाह में केन्द्रित हैं, किन्तु पारिवारिक, सामाजिक संश्लेष अत्यन्त क्षीण है। 'भुवन' मनोवैज्ञानिक प्रयोगों का पुतला है, हमें उपन्यास के अन्दर उसके बदलते हुए विचारों के कारण का कोई भी सशक्त प्रमाण नहीं मिलता। 'भुवन' शेखर की भाँति अराजकतावादी भी नहीं है। 'शेखर' का सशक्त और प्रखर व्यक्तित्व भुवन में बुझ गया है।

'नदी के द्वीप' में मनःस्थिति की गहराई में अत्यधिक प्रवेश करने के कारण लेखक को चिन्तन-मुक्ताओं के साथ-साथ अनिच्छित सीप और घोंघे भी बटोरने पड़े हैं और

कुछ ऐसे जुगुप्सित चित्रण कर गया है जिनको प्रकाश में न लाना ही उचित था। इसके अन्दर प्राचीन रूढ़ियों तथा परम्पराओं के प्रति लेखक का हृदय विद्रोही हो उठा है। इसमें प्रेम और विवाह दोनों को जीवन से स्वतंत्र स्थान प्रदान करने की लेखक ने वकालत की है। प्रेमचन्द को भांति वह प्रेम का अन्त विवाह नहीं मानता। 'रेखा' विवाहिता तथा पति के जीवित रहने पर भी 'भुवन' से प्रेम करती है और पुनः विवाह कर लेने पर भी वह 'भुवन' का पूर्ववत् ही प्रेम करती रहती है। उसका यह प्रेम मानसिक ही नहीं है, बल्कि वह अवसर आने पर अपना सम्पूर्ण शारीरिक समर्पण करती है। यह है अज्ञेय जी का मनोविश्लेषणात्मक शैली पर आधारित मनोवैज्ञानिक, यथार्थवाद।

अज्ञेयजी के प्रत्येक उपन्यास में मनुष्य को काम-सम्बन्धी गतिविधियों एवं उसके अभाव में होनेवाली प्रतिक्रियाओं का सूक्ष्मातिसूक्ष्म चित्रण करने की प्रवृत्ति अधिक पाई जाती है। मानव-जीवन में काम-भावना का महत्वपूर्ण स्थान है, किन्तु समाज ने प्रतिबन्ध लगाकर उन्हें खुल कर खेलने का अवसर प्रदान नहीं किया है। जब कभी ये प्रतिबन्ध आवश्यकता से अधिक कड़े हो जाते हैं तो व्यक्ति का सम्पूर्ण जीवन कुण्ठाओं के कारण विषाक्त हो जाता है। इसलिए आवश्यक है कि मानव-जीवन के बाह्य पक्षों के साथ-साथ उसके आन्तरिक पक्षों का भी अध्ययन करें जिनके संचालन में काम-भावना का प्रमुख हाथ है। जहाँ तक कला समाज के लिए उपादेय है उसका स्वागत करना आवश्यक है, किन्तु जहाँ वह समाज को पतनोन्मुख बनाने के लिए तत्पर हो जाती है-वहाँ उसका तिरस्कार भी करना चाहिये। अज्ञेय जी के विवेचन में कहीं-कहीं अति रंजना अवश्य आ गई है। उनके 'शेखर : एक जीवनी' और 'नदी के द्वीप' दोनों ही उपन्यासों में स्वजातीय रति को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। मानव-जीवन की एक अवस्था होती है जब कि उसका आकर्षण स्वलिंगी होता है किन्तु उसकी वह ऐसी अवस्था है जब कि उस आकर्षण के कारण का उसे ज्ञान नहीं रहता। मानव-जीवन में काम-भावना का विकास किन-किन अवस्थाओं में किस-किस प्रकार से होता है, का ज्ञान कराना बुरा नहीं, किन्तु समाज में उसकी अनिवार्यता की ओर संकेत करना बुरा है।

काम-भावना के विकास की कई सीढ़ियां हैं। सर्वप्रथम बालक की काम-भावना उसके ही शरीर के किसी खास स्थान पर न रह कर सारे शरीर में व्याप्त रहती है जिसे विशृंखलावस्था कह सकते हैं और जो अस्थायी होती है। इस अवस्था के समाप्त हो जाने पर वह शरीर के किन्हीं विशिष्ट स्थानों पर केन्द्रित हो जाती है, जिससे बालक को तृप्ति मिलती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि आरम्भिक अवस्था में रति का कोई स्वरूप नहीं होता। पुनः उसका एक रूप निश्चित होता है जिसे स्वरति का स्वरूप कहा जा सकता है। स्वरति की अवस्था अधिक दिनों तक नहीं रहती और वह पर-रति में शीघ्र बदल जाती है। पर-रति के दो भेद हैं—

एक स्वलिङ्गी जिसे स्वजातीय रति भी कहते हैं और दूसरी परलिङ्गी, जिसे स्वाभाविक रतिभावना कहा जा सकता है। स्वलिङ्गी रतिभावना स्वरति के परिवर्तीकाल मे ही होती है, जो रूप साम्य के कारण उत्पन्न होती है, उसमें वासना का वह स्वाभाविक उद्वेग नहीं होता जो स्वाभाविक रति मे होता है। इस रति के मूल में है आकर्षण की भावना। किन्तु 'अज्ञेय' जी के उपन्यासों में स्वजातीय रति की जहाँ भी चर्चा हुई है, वह विकास की अवस्था को प्रकट करने के लिए नहीं, बल्कि उसकी अनिवार्यता को प्रमाणित करने के लिए हुआ। 'शेखर: एक जीवनी' में तो यह चित्र कुछ दबा-दबा-सा जान पड़ता है, किन्तु 'नदी के द्वीप' में आकर वह और भी उभड़ आया है। इस उपन्यास से ऐसा लगता है कि प्राचीन रूढ़ियों तथा परम्पराओं के प्रति लेखक का हृदय विद्रोही हो उठा है। इसमे स्त्री सबंधी समाज की दुर्बलताओं का प्रश्न लेखक ने उठाया है। लेखक का विश्वास है कि दुर्बलताओं को छिपाकर दूर नहीं किया जा सकता, बल्कि उनको सामने रखकर घृणा उत्पन्न करा देने से ही उनसे समाज को बचाया जा सकता है। 'हेमेन्द्र' के स्वजातीय रति-भाव की ओर संकेत करके लेखक ने समाज मे फैलते हुए ऐसे घृणित रोग की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट किया है जिसके कारण रेखा ऐसी न जाने कितनी सुहागिन स्त्रियाँ परित्यक्त हो जाती हैं। 'हेमेन्द्र' ने 'रेखा' से इसलिए नहीं ब्याह किया था कि वह उससे प्रेम करता है या उसे अपनी पत्नी बनाना चाहता है, बल्कि इसलिए ब्याह किया था कि उसका चेहरा उस पुरुष से मिलता था जिससे वह प्रेम करता था। किन्तु ये ऐसे कुरुचिपूर्ण चित्र हैं जिनके सामने आने से सामाजिक रोगों की संख्या बढ़ने की सम्भावना अधिक है, कम होने की नहीं।

उपन्यास-कला की दृष्टि से 'नदी का द्वीप' एक उत्तम कृति है। एक छोटे से कथानक को लेकर उपन्यासकार ने अपने जिस कौशल का प्रदर्शन किया है उसके लिए वह बधाई का पात्र है।

डा० देवराज

डा० देवराज के उपन्यास 'पथ की खोज' मे थोथे मध्यवर्गीय आदर्शों की पोल बड़े ही कलात्मक ढग से खोली गई है। मनोवैज्ञानिक उपन्यास होने तथा मनोविश्लेषणात्मक शैली का अनुगमन करते हुए भी यह उपन्यास एकमात्र यौन ग्रन्थियो के चित्र उतारने से बच गया है। परन्तु नायक के प्रेम की सीमा प्रस्तुत सामाजिक मर्यादा का अतिक्रमण कर गई है। 'चन्द्रनाथ' का व्यक्तिवाद लोकाचारों का प्रतिबन्ध स्वीकार नहीं करता, उसके लिए 'साधना' का प्रेम जीवन की चरम साधना है। परन्तु इस उपन्यास की एक विशेषता यह है कि लेखक अन्य सामयिक प्रश्नों की उपेक्षा नहीं करता। इसके अन्दर यत्र-तत्र मध्यवर्गीय संयुक्त परिवार की आर्थिक परिस्थितियों का समूल ढाँचा उपस्थित किया गया है।

हिन्दी उपन्यास के नवीन अंचल

आंचलिकता

उपन्यास-साहित्य के माध्यम से वास्तविक चित्रण पर आग्रह होने के कारण उपन्यासकारों ने भाषा, शैली तथा वर्ण्य विषय सम्बन्धी अनेक प्रयोग किये हैं। इस प्रकार के किये जाने वाले प्रयोगों के मूल में विश्वसनीय एवं यथार्थ वर्णन का आग्रह ही प्रधान है। मानव जीवन की सम्पूर्णता को दृष्टिपथ में रखकर ही उपन्यासकार अपनी रचना प्रस्तुत करने का प्रयत्न करता है। आंचलिक उपन्यासों का उद्देश्य अन्य उपन्यासों से भिन्न नहीं पर आंचलिक उपन्यासकार अन्य उपन्यासकारों की भाँति समस्त मानव-समाज एवं अखण्ड भूभाग को सामने रख कर अपनी रचना नहीं करता बल्कि वह उसके लिये एक समाज विशेष एवं भूखण्ड को ही आधार बना लेता है जो समस्त मानव समाज एवं सम्पूर्ण भूमण्डल का अंग होते हुए भी अपनी कतिपय विशेषताओं के कारण भिन्न जान पड़ता है। अंचल का अर्थ ही होता है क्षेत्र, जो अपनी कतिपय विशेषताओं के कारण किसी सम्पूर्ण वस्तु का एक अंग होते हुए भी अपना विशिष्ट महत्व रखता है। यह एक विशिष्ट भूभाग भी हो सकता है और उस पर रहने वाला एक विशिष्ट समाज भी। आंचलिक उपन्यासकार एक गाँव, एक प्रान्त, एक जाति तथा एक व्यवसाय के लोगों को अपने उपन्यास का विषय बना सकता है। गाँव, देश अथवा राष्ट्र की सबसे छोटी इकाई है जिनके संयोग से एक विशाल राष्ट्र का निर्माण होता है। एक रुचि, एक संस्कार तथा एक प्रकार के व्यवसाय वाले जब एक ही स्थान पर सुविधा पूर्वक रहने लगे होंगे तो परिणामस्वरूप गाँवों का निर्माण हुआ होगा। प्राय ऐसा देखा जाता है कि एक गाँव में एक ही प्रकार के लोगों का आधिक्य होता है। अपवाद स्वरूप कुछ गाँव अवश्य ही ऐसे मिल जायँगे जिनमें सभी प्रकार के लोग एक साथ रहते हैं। इस प्रकार के गाँवों का निर्माण निश्चय ही क्षत्रियों तथा अन्य ऐसे लोगों द्वारा हुआ होगा जो जमींदार अथवा छोटे-छोटे जागीरदार या गुजारेदार के रूप में सामाजिक सम्मान के भागी रहे। देश का केन्द्रीय शासन उत्तरोत्तर बिखरता हुआ छोटी-छोटी शक्तियों में विभक्त होता गया और ये छोटे छोटे शासक सुविधानुसार जहाँ कहीं बसे उन्होंने अपनी सुविधा के लिये उन सभी जातियों को भी बसाया जिनसे उनका काम चलता था। फिर भी ऐसे गाँवों में भी स्पष्टतः देखने को मिल जायगा कि एक प्रकार अथवा रुचि के लोग एक साथ बसे हैं। गाँवों में कोंहरउटी (कुम्हकारों का

पूरा), सोनरौटी (स्वर्णकारों का पूरा), लोहरौटी (लोहारों का पूरा), अहिराना (ग्वालों का पूरा), चमरौटी (हरिजनों का पूरा) तथा भरौटी (भरों का पूरा) आदि नाम से पाये जाने वाले छोटे-छोटे पूरे उपर्युक्त प्रवृत्ति के ही परिणाम हैं जो न जाने कितने दिनों से एक साथ एक ही गाँवों में रहते चले आ रहे हैं पर उनके आचार-विचार अब भी एक दूसरी जमात से मेल नहीं खाते। ऐसी स्थिति में जिस प्रकार किसी एक व्यक्ति के बाह्य आचार-विचार का वर्णन कर देने से उस व्यक्ति का तब तक सम्पूर्ण वर्णन नहीं हो पाता जब तक कि उसका आन्तरिक वर्णन भी न कर दिया जाय, इसी प्रकार ऐसे गाँवों का वर्णन करते समय जिसमें विभिन्न जाति अथवा रुचि के लोग रहते हैं, सभी वर्गों का वर्णन आवश्यक है। जिन गाँवों में एक ही प्रकार के लोग निवास करते हैं, उनका वर्णन आंचलिक उपन्यासकार उस गाँव को आधार मानकर कर देता है, पर अनेक वर्गों से युक्त गाँवों को वर्णन का आधार बनाते समय वह एक वर्ग विशेष का ही वर्णन करना अधिक श्रेयस्कर समझता है।

जिला अथवा प्रान्त, राष्ट्र की वह छोटी इकाई है जिसका निर्माण शासकीय सुविधाओं की दृष्टि से किया जाता है, पर निर्माण करते समय भौगोलिक परिस्थितियों का विशेष ध्यान रखा जाता है। भौगोलिक सीमाएँ निवासियों के आचार-विचार-निर्माण में भी महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं और निवासियों में उनके प्रति एक विशेष प्रकार का पक्षपात उत्पन्न हो जाता है जिससे कभी-कभी राष्ट्रीय अखंडता को आघात लगने का भी भय उत्पन्न हो जाता है। ऐसे संस्कारों में पले उपन्यासकार जिस आंचलिक उपन्यास की सृष्टि करते हैं उन पर प्रान्तीयता का ही प्रभाव अधिक रहता है। ऐसे उपन्यासों के लिए आवश्यक नहीं कि वे सामाजिक ही हों, वे ऐतिहासिक भी हो सकते हैं। ऐसे सामाजिक और ऐतिहासिक आंचलिक उपन्यासों के लिये हम वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यासों को ले सकते हैं जिनमें बुन्देलखण्ड को वाणी दी गई है। सीमा-विस्तार के कारण आंचलिक उपन्यासों की अधिकांश विशेषताओं से इस कोटि के उपन्यास वंचित ही रहते हैं, क्योंकि सीमित क्षेत्र में ही अधिकाधिक यथार्थ वर्णन सम्भव हो पाता है। यही कारण है कि आंचलिक उपन्यासों के लिए एक सीमित भूखण्ड अथवा समाज को ग्रहण करने की ही प्रवृत्ति उपन्यासकारों में दिखलाई पड़ती है।

जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है कि एक ही भूखण्ड पर रहने वाले विभिन्न जाति के लोग साथ रहकर भी जातीय व्यवहार में एक दूसरे से भिन्न होते हैं। मनुष्य के समाजगत जितने पक्ष होते हैं उनमें उसके जातीय गुण प्रधान होते हैं। भारतवर्ष में रहने वाला मुसलमान मक्का और अरब मे रहने वाला हिन्दू काशी की ओर ही पूज्य दृष्टि से देखेगा। पाँच सौ घर ब्राह्मणों के बीच रहने वाला एक घर हरिजन दूसरे गाँव

मे रहने वाले हरिजनो के ही संस्कारो से चालित होगा। ये व्यक्ति के जातीय सस्कार हैं जिन्हे पूर्णतः समझने के लिए उनका विशेष अध्ययन करना पड़ेगा, जो आंचलिक उपन्यासो द्वारा सम्भव हो रहा है। कुछ ऐसे सम्प्रदाय हैं जिनमे दीक्षित हो जाने के कारण जातीय संस्कार बदल भी सकते हैं। साधु और संन्यासियो की ऐसी ही जमात है जिनमें आकर किसी भी जाति का व्यक्ति साधु अथवा संन्यासी जैसा आचरण कर सकता है। साधु और संन्यासियो को अपनी एक अलग जाति है जिसके सम्बन्ध में अभी बहुत कम जानकारी प्राप्त है। उनकी पूतकाया में कितनी पंक्तिना पलती है तथा विरक्ति का स्वांग धारण कर किस प्रकार वे आसक्ति के दास हैं आदि सभी आंचलिक उपन्यास के विषय हैं। व्यवसाय विशेष को अपना लेने पर भी एक विशेष प्रकार का संस्कार बन जाता है। ऐसा देखा गया है कि किसी भी जाति का व्यक्ति क्यो न हो यदि उसने विजातीय व्यवसाय ग्रहण कर लिया है तो उसके संस्कार उसी प्रकार के हो जाते हैं। सरकारी दफ्तरो में काम करने वाले क्लर्कों की अपनी एक अलग जाति ही होती है, चाहे वे ब्राह्मण हो, क्षत्रिय हो अथवा कायस्थ सभी और सभी स्थानो पर वे एक से ही आचरण करते दिखलाई पड़ते हैं। इस प्रकार व्यवसाय के आधार पर भी दूकानदार, ठेकेदार, कुली, बहेलिया तथा मछलीमार आदि सामाजिक ऐसे वर्ग हैं जिनका निकट से अध्ययन करना आंचलिक उपन्यासकारो का कार्य है। आधुनिक युग मे सिनेमा-जगत भी एक विशेष आकर्षक अंचल का रूप धारण करता जा रहा है जिसमें कार्य करने वाले अनेक जाति के होते हुए भी एक जातीय गुण के पोषक बनते जा रहे हैं। जिन लोगो ने सिनेमा-जगत के लोगों के चेहरो को केवल चित्रपट पर ही देखा है, निश्चित ही उनके लिये यह दुनिया रहस्य की है और इसे रहस्य समझने वालों की संख्या समाज में अपेक्षाकृत अधिक है। अतः सिनेमा-जगत् का रहस्योद्घाटन स्वयं अपने में एक आकर्षण लिये है जिससे आंचलिक उपन्यासकारो को इधर भी सच्चाई के साथ कदम बढ़ाना चाहिए। कुछ उपन्यासकारों ने प्रयत्न किये भी हैं पर उनमे अभी तटस्थ दृष्टि का अभाव दीखता है।

आंचलिक उपन्यासों में मुख्यतः सामाजिक, सांस्कृतिक, नैतिक तथा आर्थिक समस्याओ पर ही विशेष बल दिया जाता है। राजनैतिक जागरण तथा सुधारवादी आन्दोलनो के उचित-अनुचित प्रभावो का लेखा-जोखा लेना भी आंचलिक उपन्यासकार नही भूलता। खान-पान को लेकर उठने वाले जातीय संघर्ष एवं परस्पर चलने वाले स्थानीय असामाजिक रोमास तथा अनैतिक यौन व्यापारो का सजीव वर्णन उपस्थित करना आंचलिक उपन्यासकारो की सामान्य दुर्बलता है। वैवाहिक जीवन के होते हुए तथा उसके अभाव में जो अर्थाभाव तथा भय के कारण अवैध यौन सम्बन्ध अंचलो में हो जाया करते हैं उसके प्रति आंचलिक उपन्यास अधिक जागरूक दिखलाई पडते हैं, जिसका परिणाम यह होता है कि कलात्मकता के अभाव में वे पाठक को किसी निष्कर्ष

तक तो नही पहुँचा पाते पर वे उनके सामने एक असामाजिक एवं अस्वस्थ मानव जीवन की झांकी अवश्य प्रस्तुत कर देते हैं। [1]

वास्तविक जीवन-चित्रण पर विशेष आग्रह होने के कारण आंचलिक उपन्यासकार अपनी कृति में किसी एक ऐसी निश्चित कहानी का निर्माण नही कर पाते जिसका कि समन्वित प्रभाव पाठकों पर समान रूप से पड़ सके। सम्पूर्ण उपन्यास का कथा भाग इतना छितराया रहता है कि कथात्मकता के अभाव मे नायक का निर्माण भी सम्भव नही हो पाता। एक भी ऐसे पात्र का निर्माण करना आंचलिक उपन्यासकारों के लिये सम्भव नही, जिसे घेर कर उपन्यास की सम्पूर्ण बातें कही गई हो और वह अपने व्यक्तित्व से किसी आदर्श की स्थापना करता हो। श्रेष्ठ पात्रों के माध्यम से ही उपन्यासकार पाठकों को प्रभावित करने में समर्थ हो पाता है। अतः आंचलिक उपन्यासों मे नायकत्व का अभाव होने के कारण स्वभावतः उनमे प्रभावहीनता भी आ जाती है। आंचलिक उपन्यासो के सूक्ष्मातिसूक्ष्म वर्णन एवं उसकी मनोरम शैली पाठकों को क्षणिक उल्लसित भले कर दे पर वह अपना स्थायी प्रभाव डालने मे पूर्णतः असमर्थ सिद्ध होती है। प्राय ऐसा देखा जाता है कि आंचलिक उपन्यासकार सामाजिक बुराइयो का चित्रण विशेष रुचि पूर्वक करते हैं और उसके स्वस्थ सामाजिक रूपों की वे प्रायः उपेक्षा कर जाया करते हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि ऐसे उपन्यासकारो का कोई निश्चित उद्देश्य नही है जिसे कि वे पाठकों के सम्मुख रखना चाहते हैं। सोद्देश्य साहित्य ही लोकमंगलकारी सिद्ध हो सकता है न कि उद्देश्यहीन।

आंचलिक उपन्यासो के क्षेत्र में भाषा की समस्या सर्वाधिक जटिल है। स्वाभाविकता लाने के लिए पात्रानुकूल भाषा-प्रयोग की आवश्यकता पर बल देना उपन्यासकार के लिये अत्यावश्यक है। इसकी अनिवार्यता पर मु० प्रेमचन्द जी ने भी विशेष ध्यान दिया था, पर वे इसका निर्वाह एक सीमा तक ही कर सके। भाषा का यह प्रतिबन्ध कड़ाई के साथ उपन्यासकारों पर नहीं लागू किया जा सकता क्योंकि भारतीय समाज के ही सम्पर्क में इंग्लिश, जर्मन, फ्रेंच तथा रूसी, न जाने कितने भाषा भाषी घुल-मिल गये है कि उन सब की मातृभाषा का प्रयोग करके उपन्यास को भाषा का अजायबघर नही बनाया जा सकता और यदि ऐसा प्रयोग किया भी जाय तो उसके लिये सहृदय पाठक कितने उपलब्ध होंगे? आंचलिक उपन्यासो में जिन व्यक्तियों की चर्चा की जाती है उनकी भाषा मुख्यतः साहित्यिक नहीं बल्कि बोल-चाल की होती है। बोल-चाल की भाषा थोड़ी-थोड़ी दूरी पर बदलती रहती है और एक बड़े नगर में तो न जाने कितनी बोली के लोग मिल जायेंगे। ऐसी स्थिति में बोल-चाल की भाषा का व्यवहार करने से तो साहित्य के लिए नये-नये शब्द अवश्य मिल जायेंगे पर जब वे साहित्यिक भाषा को तोड़ मरोड़ कर बोलने लग जाते हैं तो उसके व्यवहार से साहित्य का कौन-सा पक्ष संवलित होगा, विचारणीय है? हिन्दी साहित्य आज उस अवस्था को प्राप्त कर चुका,

है जबकि उसके श्रेष्ठ ग्रंथों का अनुवाद अन्य विदेशी भाषाओं में हो। आंचलिक उपन्यासों में जिस प्रकार की भाषा का प्रयोग मिलता है, उसका दूसरी भाषा में प्रामाणिक अनुवाद प्रस्तुत करना कठिन है।

चित्रण को अत्यन्त विश्वसनीय बनाने के लिए आंचलिक उपन्यासकार केवल क्षेत्रीय बोलियों का ही नहीं बल्कि क्षेत्रीय लोकगीतों अथवा लोककथाओं तथा भूत-प्रेत सम्बन्धी अन्धविश्वासों का भी प्रयोग करता है। उपन्यासकार का यह कौशल उसके वर्णन को तो रंगीन अवश्य बनाता है पर इसके आधिक्य के कारण कथानक की कथात्मकता को क्षति पहुँचने की सम्भावनाएँ हैं। ऐसे उपन्यासों के माध्यम से जन-जीवन की जो सूचना प्राप्त होती है, उसका महत्व विवरण से बहुत अधिक नहीं है।

हिन्दी को राष्ट्रभाषा का जो गौरव मिला है, उसकी रक्षा के हेतु साहित्यकारों का कर्तव्य है कि वे ऐसे साहित्य का निर्माण करें जो सम्पूर्ण भारतीय जीवन का स्पर्श करते हुए उसे सत्प्रेरणा प्रदान करने में पूर्ण समर्थ हो सके। आंचलिक उपन्यासों पर निश्चय ही अनजाने समाज की उन कुरुचिपूर्ण मनोवृत्तियों का प्रभाव पड़ा है जो स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारतीय समाज में उत्पन्न हो गई हैं। जातीयता, प्रान्तीयता तथा भाई-भतीजावाद का आज सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन में बोलबाला है जिसका कुपरिणाम हमारे सामने है, फिर भी हम उससे ऊपर उठ पाने में अपने को असमर्थ पा रहे हैं। इस मनोवृत्ति का जब स्वस्थ परिणाम सामाजिक जीवन पर नहीं पड़ रहा है, तो आंचलिक उपन्यासों के माध्यम से ऐसी प्रवृत्ति को प्रश्रय देने का क्या परिणाम निकलेगा? यदि आंचलिक उपन्यासों के माध्यम से साहित्यिक एकता को क्षति पहुँचती है, जैसी कि सम्भावना है, तो एक सीमा तक ही आंचलिक उपन्यासों का समर्थन किया जा सकता है। इससे बचने के लिये आंचलिक उपन्यासकार को चाहिये कि वह अपनी कृति में ऐसे ही तत्वों को स्थान दे जो राष्ट्रीय एवं सामाजिक समस्याओं को सुलझाने में सहायक हो सकें। प्रायः उपन्यासकार अंचलों की बुराइयों में ही रस लेने लग जाते हैं और साहित्य के उद्देश्य से बहुत दूर चले जाते हैं। इस वर्णन को ही यदि हम सत्य मान लें तो इसका यही अर्थ हुआ कि उपेक्षित भूभाग के निवासियों में सद्गुणों का नितान्त अभाव है, पर ऐसी बात नहीं है। आधुनिक नगर-जीवन न तो सद्गुणों की खान ही है और न तो आधुनिक सभ्यता के प्रकाश से दूर देहाती जीवन में बुराइयाँ ही बुराइयाँ हैं। अच्छाइयाँ और बुराइयाँ कहीं भी मिल सकती हैं, जिसे व्यक्तिगत ही समझना चाहिये, न कि समाजगत। ग्रामीणों की जाने कितनी विशेषताएँ ऐसी हैं, जो शहरों के लिए स्पृहा की वस्तु है। आंचलिक उपन्यासकारों को ऐसी ही आंचलिक विशेषताओं का चित्रण करना चाहिये जिससे आदर्श समाज-निर्माण में सहायता मिल सके। उसके लिए ऐसे व्यक्तियों तथा पात्रों

का निर्माण आवश्यक है जिससे देश के सभी लोग समान-रूप से प्रेरणा ग्रहण कर सकें। आंचलिक उपन्यासों के विषय और पात्र यदि आंचलिक होने के साथ ही साथ सम्पूर्ण देशीय भी हैं तो ऐसी कृतियों के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार की आपत्ति नहीं उठाई जा सकती, बल्कि ऐसी कृतियों के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि इनके माध्यम से उपन्यासकार विषय और पात्रों के साथ अधिक सच्चाई इसलिये बरत पाता है कि वे भाषा में अल्प और अधिक उसके जाने-पहचाने होते हैं।

आंचलिक उपन्यासों की सामान्य विशेषताओं को तो अधिकांश उपन्यासों में ढूँढ निकाला जा सकता है क्योंकि उनका तो कार्य ही है यथार्थ जनजीवन का चित्र प्रस्तुत करना पर यहाँ पर हम कुछ चुने हुए विशिष्ट आंचलिक उपन्यासों की ही चर्चा करेंगे। वैसे तो नागार्जुन के 'रतिनाथ की चाची', 'बलचनमा' और 'नई पौध' आदि उपन्यासों में आंचलिकता के दर्शन होने लग जाते हैं क्योंकि उन्होंने अपने इन उपन्यासों द्वारा दरभंगा-पूर्णिया जनपदों के जनजीवन का सजीव चित्र खींचा है पर उनमें आंचलिकता का उतना आग्रह नहीं दिखलाई पड़ता जितना कि आगे के आंचलिक उपन्यासकारों में पाया जाता है।

बहती गंगा

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में लिखा शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र' का आंचलिक उपन्यास 'बहती गंगा' काशी के लगभग दो सौ वर्षों की सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक चेतना से युक्त पौरुष की सच्ची कहानी कहता है। लेखक ने विषय का चयन इस कौशल से किया है कि उसके कथालोक में राजा-रंक, व्यापारी, मजदूर, तथा पण्डे-पुरोहित आदि सभी समान रूप से विकास पाते रहे हैं। भाषा, शैली, कथावस्तु तथा देश-काल आदि सभी क्षेत्रों में 'बहती-गंगा' एक सफल अनूठा प्रयोग है। उपन्यास लिखने का जो पुराना ढर्रा रहता है वह इस उपन्यास में देखने को भी नहीं मिलेगा। इसमें न तो एक व्यक्ति अथवा वंश की कहानी कही गयी है और न तो किसी विशिष्ट घटना मात्र का चित्रण ही किया गया है बल्कि एक ऐसे प्रवहमान समाज की विनाशोन्मुखी चेतना को वाणी दी गई है जिसके कारण काशी नगरी विश्व में अपना अलग महत्व रखती है। सन् १७५० से लेकर १९५० तक के काशी-खण्ड की जो यश-गाथा 'बहती-गंगा' में वर्णित है वह (१) गाइए गन-पति जग बन्दन, (२) घोड़े पै हौदा औ हौदा पै जीन, (३) नागर नैया जाला कालेपनियाँ रे हरी, (४) सूली ऊपर सेज पिया की, (५) आवे, आवे, आवे, (६) ग़ल्ला तेरो मसजिद मन्दल बनी, (७) रोम रोम में बस बस, (८) सिवनाथ बहादुर का खूब बना जोड़ा, (९) एही ठैयां झुलनी हेरानी हो रामा, (१०) राम काज छनभंगु सरीरा, (११) एहि पार गंगा ओहि पार जमुना, (१२) चैत की निंदिया जिया अलसाने, (१३) इस हाथ दे

उम हाथ ले, (१४) दिया यथा जले जम जिया जल रहा है, (१५) नारी तुम केवल श्रद्धा हो, (१६) मृषा न होइ रिति बानो तथा (१७) सारो रंग डारी लाल, नामक सत्रह खण्डो में विभक्त है, जो परस्पर एक दूसरे स मिले और स्वतत्र भी हैं।

'सूरज का सातवाँ घोडा' नामक उपन्यास में धर्मवीर भारती ने उपन्यास के माध्यम से कहानी कहने का एक नया प्रयोग 'वहती गगा' की भाँति हा किया था, पर 'रुद्र' जी का कथा प्रयोग उससे कुछ आगे तथा भिन्न कलात्मकता लिये हुये है। 'सूरज का सातवाँ घोडा' की सातो कहानियाँ दोपहरी में बैठकर माणिक मुल्ला नामक एक ही व्यक्ति द्वारा कही गई है जिससे वह उपन्यास के प्रसंग में एकसूत्रता लान का कार्य करता है, पर 'बहती गगा' की सत्रह कहानियो में एकसूत्रता स्थापित करने वाला एक भी ऐसा पात्र नहीं है जो उपन्यास के आरम्भ से अन्त तक दिखलाई पडता हो बल्कि एक कहानी का अगली दूसरी कहानी मे विकास होता है और पहली कहानी का कोई न कोई पात्र दूसरी कहानी का नायक बन जाता है। जिस प्रकार समाज में कुछ लोगो की ऐहिक लीला समाप्त होती है और उन्ही के रक्त और वीर्य से उत्पन्न नयी पीढी को नवीन भूमिका प्रारम्भ होती है जिससे समाज का विकास क्रम उत्तरोत्तर आगे बढ़ता रहता है, उसी प्रकार 'बहती गगा' का कथानक उत्तरोत्तर विकसित होता गया है। पहली कहानी 'गाइए　　' के प्रमुख पात्र राजा बलवन्त सिंह, रानी पन्ना तथा चेतसिंह हैं जिसमें से पन्ना और राजा चेतसिंह निकल, दाताराम नागर, लोटन बहेलिया तथा लबदनसाव आदि पात्रो के साथ, दूसरी कहानी 'घोडे पै　　' का निर्माण करते हैं। दूसरी कहानी के दाताराम नागर भगड भिक्षुक और सुन्दर गौनिहार के साथ और तीसरी कहानी 'नागर नैया　　' की भूमिका प्रस्तुत करते हैं। तीसरी कहानी का भगड भिक्षुक मगलागौरी तथा अमीर जान आदि पात्रो के साथ चौथी कहानी 'सूली ऊपर　　' का प्रमुख पात्र बन जाता है। पाँचवी कहानी आये, आये आये मे चौथी कहानी की अमीरन जिसका लडकपन का नाम किविनी था, चित्रकार रामदयाल लडकपन मे जिसका नाम हस था, नवाब मिर्जा अस्करी, मुलतानी (रकिया) तथा काशीनरेश के भाई प्रसिद्धनारायण सिंह आदि पात्रो के साथ उपन्यास की कथा को आगे बढाती है। रकिया (मुलतानी) पाँचवी कहानी से निकलकर मेजर बर्कले (१८५८) के साथ छठी कहानी मल्लातेरो 'की प्रमुख पात्र बन जाती है। इसके पश्चात् की सातवी आठवी कहानी (७ रोम रोम　८. सिवनाथ　) में आकर पुराने पात्रो का विकासक्रम एक प्रकार से टूट-सा जाता है जो नवी कहानी 'एहि ठैयाँ　' की दुलारी और बेनी से पुन नये सिरे से प्रारम्भ होती है। इस व्यवधान से उपन्यास के विकास एव उसके आकर्षण में व्यवधान नहीं आने पाया है क्योकि सातवी और आठवीं कथाएँ एक प्रकार से प्रासंगिक कथा के रूप में सामाजिक आचार विचार एव सस्कार विश्वास तथा सस्कृति को ही जीवत रूप में प्रस्तुत करने के लिये लाई गई हैं, जो किसी भी उपन्यास का

आवश्यक गुण-धर्म माना जाता है। उपन्यास का यह वह बिन्दु है जहाँ से सामाजिक विकास पर से ऐतिहासिकता का रंग हल्का होने लगा है और काशी की अपनी मस्ती पौरुष की रंगीनियों के साथ उमड़ आई है जिसमें उपन्यासकार ने न जाने कितने अविस्मरणीय चित्रों की सृष्टि की है जो नाम के अतिरिक्त सोलहो आने सच्चे हैं और ईमानदारी के साथ काशी के स्थायी सामाजिक मूल्यों की झाँकी प्रस्तुत करते जान पड़ते हैं।

दुलारी, टुन्नू, फेंकू सरदार तथा झींगुर नवीं कहानी 'एहि ठैयाँ' के प्रमुख पात्र है जिसमें से दुलारी निकल कर बेनी, सितारा (जमीन का चाँद) तथा शहाबुद्दीन के साथ दसवी कथा 'राम काज छन ···' में आ जाती है। गंगा तथा रायसाहब आदि दसवीं कथा के बेनी के साथ, ग्यारहवी कथा की गंगा बारहवी कथा के पद्मानन्द तथा सोनमती के साथ, ग्यारहवी कथा के रायसाहब तेरहवीं के शर्माजी, कोयले वाले, प्रेमबनी, सुधा, गंगो तथा चमेली के साथ, तेरहवीं की गंगो और चमेली, लल्लन से मिलकर, चौदहवी का लल्लन (रघुवीरशरण अथवा बीमेन हंटर) जनार्दन आदि के साथ, नवीं का झींगुर सोलहवी के सुबच्चू तथा साधू के साथ तथा पन्द्रहवी का लल्लन सोलहवीं के झींगुर और तेरहवी के सुधा के साथ क्रम से कथा को एक सूत्र में बाँधने हुए परम्परित विकास में सहायक होते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि कहानी का क्रम विकसित होकर उपन्यास बन गया है। इसे चाहे तो हम कथाकार के रचनाक्रम की विशेषता मान लें अथवा उसका मौलिक रचनात्मक दृष्टिकोण, पर यह कथाशिल्प की दृष्टि से हिन्दी उपन्यास साहित्य के लिये अत्यन्त नवीन वस्तु है। 'बहती गंगा' के एक-एक शीर्षक में अलग अलग कहानी का रूप है, जो अपने आप में पूर्ण है, पर वे समन्वित रूप में एक उपन्यास का बोध कराने में पूर्ण समर्थ हैं।

यह नायकविहीन उपन्यास होते हुए भी नायकविहीन उपन्यास नहीं कहा जा सकता क्योंकि 'बहती गंगा' में निश्चित रूप से एक नायक है। इसमें घटनाओं का महत्वपूर्ण विकास भी क्रम से होता गया है। इस उपन्यास में आई प्रत्येक घटना के पीछे ऐतिहासिक एवं सामाजिक सत्य का ठोस आधार है जिसे लेखक ने उपन्यास के भूमिका भाग में स्पष्ट करने का प्रयत्न भी किया है। जिन प्रसंगों के पीछे कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है वे प्रामाणिक घटनाओं से भी अधिक यथार्थ और प्रामाणिक हैं जिनके उदाहरण आज भी काशी के समाज में सुरक्षित हैं। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो इस कथात्मक उपन्यास की नायिका काशी है और महाकाल रूपी व्यतीत होने वाला समय ही इसका नायक। इस उपन्यास में लेखक का एक विशिष्ट दृष्टिकोण दिखलाई पड़ता है और ऐसा जान पड़ता है कि उसके द्वारा वह सम्भवत पौरुष का संदेश देना चाहता है। 'बहती गंगा' में शारीरिक शक्ति द्वारा वीरोचित पौरुष-सन्देश

को लेखक दाताराम नागर तथा भंगड भिक्षुक के रूप में दे सका है। वैसे तो काशी का पौरुष इतना जागरूक है कि वह एक आह्वान पर सरकारी मशीनों को गंगा में ढकेल सकता है और बड़े से बड़े रईस की इज्जत उतारते भी उसे देर नहीं लगती यदि वह धर्म के सामने प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में रोड़ा बनकर खड़ा हुआ है तो। काशी की अलग एक जाति ही है, जिसमें न तो कोई मुसलमान है और न तो कोई हिन्दू बल्कि वे काशीवासी हैं जो धर्म की गुहार तथा दीनों की पुकार पर सभी भेदभाव भूलकर जुट पड़ते हैं और अपार शक्ति रखते हुए भी निर्दोष व्यक्ति पर आँख तक भी नहीं उठाते। सचमुच यदि 'नागर नैया जाला कालेपनियाँ रे हरी' की कथात्मक मूलबद्धता को देखा जाय तो वह कथानक में 'प्रसाद' के 'गुंडे' का और भी पुरातन विकसित रूप है, जिसे शत्रु भी पहचानता है कि वह निहत्थे पर वार नहीं कर सकता। पुरुषों की तो बात छोड़िये ही स्त्रियों में भी जो मर्दानगी देखने को इस उपन्यास में मिल जायगी, वह अन्यत्र दुर्लभ है। ऐसा भी नहीं है कि उपन्यासकार ने असाधारण स्त्रियों को ही विवेचना के लिये चुना है बल्कि उसने साधारण स्त्रियों में छिपे असाधारण गुणों का उद्घाटन किया है। ऐसा भी नहीं है कि प्रेमचन्द के पात्रों की भाँति पतित देवत्व की ओर बढ़ते दिखलाई पड़ते हैं बल्कि अपनी समस्त दुर्बलताओं के साथ 'बहती गंगा' के नर नारी अपने अलौकिक गुणों के कारण आकर्षण एवं श्रद्धा के केन्द्र बन जाते हैं। उपन्यासकार की यही सबसे बड़ी सफलता रही है कि उसने एक अंचल विशेष के वातावरण, आचार-विचार एवं लोगों के ऐसे पक्ष का चित्रण किया है जो देश के लिये ही नहीं बल्कि विदेशों के लोगों के भी आकर्षण-केन्द्र एवं अनुकरणीय बन सकते हैं। प्रायः आंचलिक उपन्यासकार अपने सीमित दायरे का इतिवृत्तात्मक वर्णन प्रस्तुत करते समय शेष अंचल एवं उसके समाज को भूल जाया करते हैं जिससे एक सफल सृष्टि करने में वे पूर्णतः असफल सिद्ध होते हैं, पर 'बहती गंगा' का लेखक कला की इस अग्निपरीक्षा में खरा उतरा है।

लेखक ने निजत्व के रूप में बनारसी मस्तीवाद (आनन्दवाद) को अपनाया है। इस उपन्यास की घटनाएँ काशी के इतिहास की स्मृति दिलाकर पाठक को रोमांचित कर देती हैं। इन घटनाओं को खोज निकालना ही कम महत्व की बात नहीं है। काशी के पुराने आन-बान, रूप-विन्यास और रोमांस तथा अर्थ व्यवसाय का भी संकेत लेखक ने दिया है। इस उपन्यास के परिच्छेदों के शीर्षकों में स्वयं बोलने की शक्ति अन्तर्निहित है। 'सारी रंग डारी लाल', 'घोड़े पै हौदा हाथी पै जीन', 'अल्ला तेरी मसजिद अब्बस बनी', 'सूली ऊपर सेज पिया की' आदि में भावों का वैभिन्न्य और कथानक का अन्तर स्वयं स्पष्ट हो जाता है। उपन्यासकार ने 'बहती गंगा' में कल्पना का सहारा न लिया हो ऐसी बात भी नहीं है, पर उसकी रचना जहाँ कहीं भी यथार्थ से

दूर हुई है वहां वह आदर्श ही है। कथाकार मानता है कि आदर्श ही यथार्थ है। नाटकीयता पर कुतूहल का संयोग इस उपन्यास की मौलिक विशेषता है।

उपन्यासकार ने जिस समाज का चित्रण किया है उसे उसने बड़े नजदीक से देखा ही नहीं है बल्कि वह उसी के रस से तरल और उद्भासित भी है। यही कारण है कि जितने भी चित्र उपन्यास में आये हैं वे अत्यन्त सजीव एवं यथार्थ हैं। भाषा पर तो जैसे उसका सहज स्वाभाविक अधिकार ही है जिसमें न तो उसे श्रम करना पड़ा है और न तो उसे शब्दकोश ही उलटने पड़े हैं बल्कि वह उसके अन्तर्मन से फूट पड़ी है। भूमिका भाग में उल्लिखित पं० सीतारामजी के मत से सभी को सहमत होना ही पड़ेगा। "इस 'बहती गंगा' की सबसे बड़ी विशेषता है इसकी भाषा जिसमें तनिक मिलावट नहीं, सीधी मुहावरेदार सरस सूक्तियों और लहरियादार शब्दावली से भरी भावों के साथ ऐसी झूमती, इठलाती, बलखाती, लचकती, लहरें लेती झूमती-मचलती है कि आप एक-एक वाक्य को दस-दस बार पढ़ें तो जो न भरे।" निश्चित ही आंचलिक उपन्यास लिखनेवालों को 'बहती-गंगा' को सामने रखना पड़ेगा।

मैला आँचल

फणीश्वरनाथ 'रेणु' का आंचलिक उपन्यास 'मैला आंचल' सन् १९५४ में एक नयी विधा, एक नयी दृष्टि और कथा कहने का एक नया ढंग लेकर प्रकाशित हुआ जिसमें प्रेमचन्दयुगीन उपन्यासों के ही चेहरे तो दिखलायी पड़े पर नयी स्फूर्ति एवं ताजगी के साथ। सम्पूर्ण उपन्यास में पूर्णिया ज़िले के एक गाँव मेरीगंज से सम्बन्धित लोगों की कहानी कही गयी है जिसमें सभी वर्ग, सभी जाति और सभी स्तर के लोग रहते हैं जो अपने आवश्यकतानुसार वकील, डाक्टर, आफिसर पुलिस- कर्मचारी तथा राजनैतिक नेताओं के सम्पर्क मे आते रहते हैं जिससे ही उपन्यासकार मेरीगंज की कथा को थोड़ा विस्तार दे पाया है। उपन्यासकार ने ग्रामीण सभी पात्रों एवं समस्याओं के साथ यथोचित न्याय करना चाहा है जिससे मेरीगंज की धरती बोल उठी है। प्रेमचन्दयुगीन उपन्यासों की इतिवृत्तात्मक शैली में जो ऊबास पाठकों को मिली थी उससे कहीं अधिक इतिवृत्तात्मकता उसको 'मैला आंचल' में मिल जायगी पर पाठक इस उपन्यास को पढ़ते समय जो इतना नहीं ऊबते उसका एकमात्र कारण यही है कि 'रेणु' जी को कथा कहने और उसके प्रसंग-नियोजन की कला में कमाल हासिल है। इस प्रकार के उपन्यासों में जो सबसे बड़ा दोष है वह यह कि न तो उपन्यास की कथा में समुचित प्रवाह आ पाता है और न तो ऐसे पात्रों का ही निर्माण हो पाता है जिनसे सम-सामयिक समाज को कुछ प्रेरणा मिल सके। प्रायः ऐसे उपन्यास उद्देश्यहीन सुन्दर विवरण बनकर रह जाते हैं। 'मैला आंचल' भी इस दोष से नितांत मुक्त नहीं है फिर भी

उपन्यासकार ने अनजाने कुछ ऐसी कथाओं का निर्माण कर दिया है जिनके कारण उपन्यास की सरसता में व्यवधान उतना नहीं आ पाया है जितना कि सम्भव था।

उपन्यास का शीर्षक (मैला आँचल) ही ऐसा है कि जिससे स्पष्ट हो जाता है कि लेखक ग्राम्य जीवन मे व्याप्त बुराइयों का ही चित्रण करने बैठा है। उसका विवेच्य क्षेत्र पूर्णिया जिले का धवल अंचल नहीं बल्कि मैला अचल ही है। उपन्यासकार ने मेरीगंज नामक "धूमिल क्षेत्र के एक गाँव के धूमिल, मटमैले, दागदार जीवन का यथातथ्य हूबहू ·····चित्र खींचा है। मेरीगंज रौतहट स्टेशन से सात कोस पूरब बूढ़ी कोशी के पार पूर्णिया जिला (बिहार) मे स्थित एक गाँव है जिसमें कायस्थ, राजपूत, ब्राह्मण, यादव तथा संथाल आदि रहते हैं। उस गाँव में एक मठ भी है। जिसमें अधे महन्त सेवा दास अपनी दासी लक्ष्मी के साथ धार्मिक विहार करते हैं जिनके दिवगत होने पर बडी मुश्किल से वह गद्दी रामदास को मिली। हाल ही में जो मलेरिया सेन्टर खुला है वह गाँव के लिए आकर्षण और चर्चा का सबसे बडा केन्द्र है और उसने थोड़ा ही कम महत्व चर्खा सेण्टर को भी मिला है। मलेरिया सेण्टर का डाक्टर प्रशान्तकुमार, चर्खा सेण्टर की शिक्षिका मंगला देवी तथा देहाती लीडर बलदेव को छोड़कर मेरीगंज में रहने वाले स्थायी रूप से वहीं के लोग हैं और कुछ लोग चन्द दिनों के लिए आते-जाते रहते हैं। चाहे वह फुलिया का पति खलासी हो, मठ पर जुटने वाले साधु बैरागी हो तथा सरकारी कर्मचारी हों और ये ही मैला आँचल के पात्र हैं जिनमें गुण की मात्रा तो कम अवगुण ही अधिक दिखलायी पड़ते हैं।

कायस्थ, राजपूत और यादव परस्पर झगड़ते रहते हैं और जिन्हें लड़ाने का कार्य ब्राह्मणों का है क्योंकि उनकी सख्या सबसे कम है। पिछड़ी हुई जातियाँ उठ रही हैं जिनमे एक विचित्र प्रकार की प्रतिक्रिया का भाव है जिससे वे अपनी शक्ति का दुरुपयोग भी कर बैठती हैं। यादव टोली के लोगों का बात-बात पर लाठी निकाल लेना जिसका उदाहरण है। यह अवस्था केवल मेरीगंज की ही नहीं है बल्कि भारतवर्ष के अधिकाश ग्रामों की है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद से जितनी धूर्तता, मक्कारी, स्वार्थपरता एवं बेईमानी गाँवों में फैल गई है उतनी कभी भी नहीं थी। प्रत्येक व्यक्ति नेता बनना चाहता है और साथ ही साथ दूसरों को मिटाना भी। उच्च जाति के लोगों के हथकडे अब भी कभी कभी कामयाब हो जाते हैं इसका भी संकेत लेखक ने संथालों के संघर्ष के प्रसग मे कर दिया है। पुराने तहसीलदार विश्वनाथ प्रसाद नये तहसीलदार हरगौरी के पिता सिंहजी, रामखेलावन यादव तथा जोतखी काका गाँव के जातीय नेता हैं जो अपने स्वार्थों में पडकर गाँव की नींद हराम कर दिया करते हैं। गरीबी स्वयं मे एक पाप है, जिससे न जाने कितने पाप उत्पन्न होते हैं इसका बड़ा ही सुन्दर चित्रण उपन्यास में हुआ है। गरीबों की जवान बेटियाँ किस प्रकार धनी लोगों द्वारा लूटी जाती

हैं और वे सामाजिक व्यभिचार को प्रश्रय देते हैं आदि कुरीतियों की खासी खबर 'मैला आँचल' में ली गई है। यह एक प्रकार का सामूहिक बलात्कार था जो उच्च वर्ग के लोगों द्वारा निर्धनों की बहू-बेटियों के साथ किया जाता था। संथालों के संघर्ष में तो लेखक ने सचमुच सामूहिक बलात्कार करवा ही दिया है। इन चित्रों की अनिवार्यता का समर्थन हम भले ही न कर सकें पर जो चित्र सामने आये हैं वे इतने सच्चे, इतने जीवंत और इतने व्यापक हैं कि लेखक की तटस्थ दृष्टि एवं कला के प्रति उसकी ईमानदारी की दाद देनी ही पड़ती है। मेरीगंज की ही नहीं 'मैला आँचल' की कहानी सात लाख गाँवों की कहानी है जो आंचलिक उपन्यास में आने वाले दोषों से उपन्यास को मुक्त कर देती है।

गाँवों में जो कुछ है, घृणित ही नहीं है, उसमें भी अच्छाइयाँ हैं, जिसकी ओर लेखक ने बहुत कम ध्यान दिया है। उसकी दृष्टि घिनौने प्रसंगों की ओर ही अधिक रही है जिसे उसकी कल्पना सर्वत्र ढूँढती जान पड़ती है। उदाहरण के लिए महंत सेवादास से सम्बन्धित घटनाओं को ले सकते हैं। धर्म की आड़ में न जाने कितने साधु-सन्यासी अनैतिक कार्यों में रत रहते हैं, समाज का अधिकांश भाग उनसे अपरिचित ही रहता है जिससे उसकी पोल खोल कर रख देना आवश्यक ही है, पर लक्ष्मी कोठारिन और अन्धे महन्त सेवादास के सम्बन्धों का जिस रस के साथ उपन्यासकार ने वर्णन किया है उससे तो ऐसे चित्रों के प्रति लेखक का आग्रह ही प्रकट होता है। लक्ष्मी कोठारिन का निर्माण तो बहुत कुछ अस्वाभाविक ही जान पड़ता है। लड़कपन से ही मठ पर उसकी जितनी दुर्गति महंत सेवादास और उसके चेले रामदास ने की है, क्या उसके प्रति कभी भी उसके मन में प्रतिक्रिया हुई है? ऐसा भी नहीं है कि लक्ष्मी कोठारिन भोली-भाली स्त्री है क्योंकि समय-समय पर उसने जो उपदेश दिये हैं उससे उसके असाधारणत्व का परिचय मिल जाता है। उसमें स्त्री-जनोचित भाव भी है क्योंकि उसके जीवन में एक समय ऐसा भी आता है कि वह बालदेव के साथ भली भाँति रम जाती है। मठ की सम्पत्ति से भी अधिक आकर्षक वस्तु लक्ष्मी कोठारिन ही है जिसे महंत के रूप में सभी साधु-वैरागी पाने के लिये लालायित हैं। इस प्रसंग का समर्थन दूसरे ढंग से किया जा सकता है। किस प्रकार गाँवों का जनमत साधारण से साधारण सहानुभूति से बदल जाता है, इसका उदाहरण हमें उस समय मिल जाता है जब कि मलेरिया सेन्टर के डाक्टर के आने के दिन महंत सेवादास सार्वजनिक भोज की घोषणा करते हैं, जिनके पापाचार से सारा गाँव परिचित है। गाँव के लोगों ने एक स्वर से स्वीकार कर लिया कि महंत आखिरकार है तो साधु ही न और उसे छोड़ कर आज तक किसने गाँव भर को भोज का निमंत्रण दिया है? साथ ही साथ खान-पान को लेकर टाट-पाँत सम्बन्धी गँवई झगड़ों का भी यथार्थ चित्र लेखक ने इसी स्थान पर उतार दिया है।

'मैला आँचल' के अधिकांश प्रमुख पात्र ऐसे हैं जिनमें यौन सम्बन्धी दुर्बलता

वर्तमान है। गाँधीवादी बालदेव आरम्भ में एक सच्चे सेवक और परोपकारी व्यक्ति के रूप में चित्रित किया गया है पर अन्त तक जाते-जाते वह लक्ष्मी कोठारिन के आकर्षण से अपने को न बचा सका और कंठी पहन कर उसके साथ ही रहता है। कालीचरन जो आरम्भ में बालदेव का ही शिष्य रहा और यादव टोली के उत्थान के लिये सब कुछ करने को तैयार दिखलाई पड़ता है, बाद में बदलते हुए राजनीतिक विचारों के साथ सोशलिस्ट पार्टी का कर्मठ कार्यकर्त्ता होता है। उपन्यासकार ने इस पात्र को बड़ा ही जीवन्त एवं प्राणवान तो चित्रित किया, पर अन्त में वह भी अपने को चर्खा सेन्टर की शिक्षिका मंगला देवी के आकर्षण से न बचा सका। डाक्टर प्रशान्त और तहसीलदार विश्वनाथ प्रसाद की कुँवारी बेटी कमली के प्रेम प्रसंग से तो उपन्यास में सरसता ही लाई गई है। त्यागमूर्ति बावनदास जिसे महात्मा गाँधी तक भगवान का अवतार कहते हैं, वह भी एक बार सोई हुई सुन्दर नारी के रूप को देखकर विचलित हो गये थे कि उन्हें महात्मा गाँधी के चित्र ने बचा लिया। गँवई प्रेम-व्यापारों का तो कहना ही क्या है। माँ-बाप की जानकारी में लड़कियाँ गाँव के छोकड़ों के साथ अवैध सम्बन्ध स्थापित करती हैं, उच्चजाति के लोग विद्यापति नाच में भाग लेते हैं और ऊँचे घर की बहुओं के साथ उनके नौकरों का अवैध सम्बन्ध चलता है। इसका तो व्यापक चित्रण उपन्यास में भरा पड़ा है। ऐसे प्रसंगो से उपन्यास की रोचकता तो बढ़ी है, इसमें सन्देह नहीं क्योंकि यह मानव स्वभाव है कि वह दूसरों की बुराइयों को देखकर और सुनकर आनन्द लेता ही है, पर समाज को दृष्टिपथ में रखते हुए इनका साहित्यिक मूल्यांकन करना अत्यन्त कठिन हो जायगा। मनोरंजन, उपन्यास-साहित्य की विशेषता हो सकती है न कि उद्देश्य, इस प्रकार के जितने भी प्रेमी युग्म आये हैं वे प्रासंगिक कथा का निर्माण भी नहीं कर पाते क्योंकि उपन्यास की न तो कोई प्रमुख कथा है और न तो उससे इन प्रसंगो का कोई सम्बन्ध। डाक्टर प्रशान्त और कमली को लेकर एक कथा का निर्माण हुआ अवश्य है, पर उससे भी उन प्रसंगो का कोई सम्बन्ध नहीं है। वे कैमरे द्वारा लिये गये स्वतंत्र चित्र हैं, जो अपने में पूर्ण और स्वतंत्र हैं। यदि उपन्यास में आये सभी विवरणों को सामूहिक रूप में प्रदर्शनी की संज्ञा दे दी जाय तो 'मैला आँचल' के उपर्युक्त छोटे छोटे स्वतन्त्र चित्रण उसमें प्रदर्शित होने वाले विशेष आकर्षण (Side Show) हैं जिनका अपना अलग महत्व होता है, पर इतना तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि जितने भी चित्र उपन्यासकार ने प्रस्तुत किये हैं, उनको स्वतंत्र रंग, रूप और जबान मिली है। इस उपन्यास में मेरीगंज का चित्र नहीं बल्कि गाँव ही कागज़ के पन्नों पर उतर आया है। इस दृष्टि से हिन्दी उपन्यास क्षेत्र में 'रेणु' जी का यह पहला प्रयास है जिसको ऐतिहासिक महत्व है।

एक अंचल के साथ ही साथ लेखक ने एक विशेष काल को ही चर्चा का विषय बनाया है और वह है स्वतन्त्रता-प्राप्ति से कुछ पूर्व और महात्मा गाँधी के दिवंगत होने तक का। यह विशेष काल ही एक प्रकार से उपन्यास का नायक है क्योंकि इसी के भीतर होनेवाले सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक जागरण को गतिविधि को मेरीगंज गाँव में दिखलाया गया है। उपन्यास का पूर्वार्द्ध अत्यन्त गठित एवं रोचक है पर उसका मध्य भाग उतना ही शिथिल हो गया है और अन्त में जाकर डाक्टर प्रशान्त और कमली के प्रसंग से कथा में गति आती है, जिसका एक प्रभावोत्पादक अन्त दोनों के मिलन से ही हो पाया है। उपन्यास को एक सुन्दर ढंग से उपन्यासकार ने समाप्त तो अवश्य किया है, पर आरम्भ में दिखलाये गये सामाजिक आन्दोलनों का प्रभाव यहाँ तक जाते-जाते बिलकुल दब-सा गया है। मेरीगंज गाँव का एक भी ऐसा व्यक्ति नहीं है जो उपन्यास के अन्त तक पहुँचकर पाठकों को प्रभावित कर सके। सभी किसी न किसी कारण से पाठकों की आँखों से ओझल हो जाते हैं चाहे वह बालदेव हो अथवा कालीचरन। बेचारा तहसीलदार हरगौरी तो मार ही डाला गया फिर भी वह गुनहगार था, पर बावनदास की हत्या तो गाँधीवाद की ही हत्या है। विभिन्न राजनैतिक दलों और उनके कार्यकर्त्ताओं की दुर्बलताओं को अत्यन्त यथार्थ रूप में चित्रित किया गया है और किसी भी दल विशेष के प्रति उपन्यासकार का कहीं भी पक्षपात नहीं प्रकट हुआ है। इसे उपन्यासकार की तटस्थता कहकर उसकी कला की दाद दी जा सकती है पर एक साहित्यकार का कार्य यहीं समाप्त नहीं हो जाता। उसे केवल दोष-दर्शन ही नहीं करना चाहिये बल्कि विकल्प की सम्भावनाओं की ओर भी उसको अपनी कृति को उन्मुख रखना चाहिये। इस प्रकार के आंचलिक उपन्यासों में भाषा की सबसे बड़ी समस्या है क्योंकि 'जिन्दाबाद' को 'जिन्दाबाघ' कहकर अथवा लिखकर सभी प्रकार के पाठकों को उत्फुल्ल नहीं बनाया जा सकता और न तो 'सोश-लिस्ट' को 'सुर्सलिग' कहकर ही। ऐसे शब्दों का भाषान्तर करना तो और भी कठिन हो जायगा जिससे कृति की व्यापकता अपने आप नष्ट हो जायगी। जहाँ तक अभिव्यक्ति और सूक्ष्मातिसूक्ष्म वर्णन की ताजगी का सम्बन्ध है, 'मैला आँचल' के साथ हिन्दी के कम उपन्यासों का ही नाम लिया जा सकता है।

परती परिकथा

यह रेणुजी का दूसरा आंचलिक उपन्यास है जो बड़ी सज-धज के साथ हिन्दी कथा-साहित्य में प्रविष्ट हुआ। कुछ आलोचकों का कहना है कि 'परती परिकथा' में रेणुजी की औपन्यासिक कला आगे बढ़ी है। सूक्ष्मातिसूक्ष्म यथार्थ चित्रण में अवश्य ही रेणुजी अपने पहले उपन्यास से आगे हैं पर मेरी दृष्टि में जहाँ तक औपन्यासिक कला का प्रश्न है वे 'मैला आँचल' से बहुत पीछे छूट गये हैं। जो चुस्ती एवं प्रभाव गाम्भीर्य 'मैला आँचल'

मे मिलता है उसका 'परती परिकथा' में नितान्त अभाव है। 'परती परिकथा' का एक पक्ष ऐसा है जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि 'मैला आँचल' से इस उपन्यास मे कतिपय ऐसी विशेषताएँ अधिक हैं जिससे यह उपन्यास अपेक्षाकृत अधिक कलात्मक बन पाया है। 'मैला आँचल' में उपन्यासकार न तो किसी एक निश्चित कहानी का निर्माण कर पाया है और न तो किसी ऐसे चरित्र का जिसे नायक की संज्ञा दी जा सके पर 'परती परिकथा' के सम्बन्ध में ऐसी बात नहीं कही जा सकती। 'मैला-आँचल' मे जिस प्रकार 'मेरीगंज' गाँव को कथा का आधार बनाया गया है उसी प्रकार 'परती परिकथा' में परानपुर गाव को। किसी प्रधान कथा का इस उपन्यास में भी अभाव है पर जितेन्द्र नामक चरित्र का निर्माण कर उपन्यासकार ने पाठकों को एक ऐसा चरित्र प्रदान कर दिया है जो उनकी आँखों से कभी भी ओझल नही होता। ताजमनी और इरावती नामक दो स्त्रियों के अधिक सम्पर्क में लाकर उपन्यासकार ने उपन्यास की विभिन्न प्रासंगिक एवं अप्रासंगिक कथाओं के बीच जितेन्द्र को इस प्रकार उपस्थित किया है कि वे प्रमुख नारी पात्र बन गई हैं जिसमें ताजमनी मे तो नायिका बनने के सभी गुण विद्यमान हैं। इरावती एक रिफ्यूजी लड़की है, जिसका पुरुष के प्रति अनुभव अत्यन्त कटु है क्योंकि न जाने उसे कितनी बार पुरुषों की पाशविक कामुकता के सामने चीखना पड़ा है, पर जितेन्द्र पहली बार उसे मनुष्य रूप मे देखता मिला। जितेन्द्र भी पूर्णतः इरावती की ओर आकर्षित है, पर इरावती जितेन्द्र को संयमित रखने का सफल प्रयास करती रहती है। ताजमनी में जितेन्द्र अपनी मा की अनुकृति देखता है पर यह स्वीकार करता है कि वह उसकी रक्षिता है। जहाँ तक दोनों के शारीरिक सम्बन्धों का प्रश्न है वह तो एक आलिंगन एवं चुम्बन तक ही सीमित है। कहीं भी सतीत्व नष्ट होने की परिस्थिति नहीं आ पाई है। ताजमनी जितेन्द्र की प्रेरक शक्ति है। जितेन्द्र के इन नारी सम्बन्धों के प्रति गाँव वालों की धारणा स्वस्थ नहीं थी। बूढ़े, बाल, युवतियाँ तथा वृद्धाएँ सभी जितेन्द्र को भ्रष्ट समझकर कोसते रहते। यहाँ तक कि झाड़ू देने वाली नौकरानियाँ तक उसके कमरे में टँगी नंगी नारी के चित्रों को देख कर उसे पतित समझती हैं। लोग उसे पागल कहते, पर अपनी वंश-परम्परा मे वह एक ऐसा व्यक्ति उत्पन्न हुआ था जिसने ग्रामीण जीवन की कटुता को सरसता में बदलने का प्रयत्न किया।

जितेन्द्र के पिता शिवेन्द्र मिश्र सामंती रुचि के व्यक्ति थे जिनके लिये विदेशी मेम से लेकर नटिन तक रख लेना एक साधारण-सी बात थी। बचपन म ही माता को खोकर जितेन्द्र नगर जीवन की राजनीति मे भाग लेता रहा, जिससे परानपुर लौटने पर उसके विचारों का अन्य लोगो के साथ मिलना कठिन था। यह वह समय था जबकि जमींदारी प्रथा समाप्त हो रही थी अथवा हो चुकी थी। जमीदार किसानों को बेदखल कर सभी

परती-परायत अपने कब्जे में करने लगे थे। किसान अधिकार जताकर दूसरों की जमीन भी हड़पना चाह रहे थे, जिससे गाँव का वातावरण अत्यन्त दूषित हो गया था। राजनीतिक पार्टियाँ सक्रिय हो गई थीं जिससे असंख्य गँवईनेता उत्पन्न हो गये थे जो समस्याओं को और उलझा रहे थे। लुत्तो उन्हीं में से एक है जो बराबर लोगों को उभाड़ कर संघर्ष के लिये प्रेरित करता रहता है। भूमि-सुधार के अनेक नियम बन रहे थे तथा सरकारी कर्मचारी भूमि का नये सिरे से बन्दोबस्त करने के लिये जमीन की नाप-जोख कर रहे थे। सर्वत्र बेईमानी, घूसखोरी, दलाली, झूठी गवाही तथा सस्ती नेतागिरी का राज्य था। ऐसी स्थिति में जितेन्द्र ऐसे दूरदर्शी व्यक्ति को पागल की संज्ञा दी गई तो अनुचित नहीं। जितेन्द्र लाखों एकड़ बन्ध्या धरती को उपजाऊ करना चाहते थे जिसे गाँव के देवी-देवता तथा अंध-विश्वास रोक रहे थे।

स्वार्थी लोगों ने जितेन्द्र को भरपूर अपमानित किया पर वह व्यक्ति भी इस्पात का बना था जो आगे बढ़ता ही गया और हम देखते हैं कि किस प्रकार उसने 'पंच चक्र' लोकनाट्य की व्यवस्था करके गाँव का असली नक्शा लोगों के सामने रखा।

'मैला आँचल' की भाँति ही 'परती परिकथा' में गँवई प्रेमव्यापारों का चित्र है पर उसे एक विशेष सिद्धान्त के साथ जोड़ दिया गया है। हरिजन अध्यापिका मलारी तथा भूमिहार युवक सुवंशलाल का सामाजिक विद्रोह निश्चित ही स्वच्छन्द प्रेम का परिणाम है पर कांग्रेसी मिनिस्टर से घोषणा कराके कि जो हरिजन बाला से ब्याह करेगा उस सवर्ण जातीय युवक को सरकार की ओर से छात्रवृत्ति दी जायगी, उपन्यासकार ने उसे समय की आवश्यक माँग के रूप में स्वीकृति प्रदान कर दी है। अनेक जीवन्त ग्रामीण पात्रों का निर्माण उनकी स्वाभाविक भाषा के साथ इस उपन्यास में हुआ है। अंग्रेजी के शब्दों का क्या रूप गाँवों में आकर हो जाता है, इसके अच्छे उदाहरण इस उपन्यास में मिल जायँगे। समाचार पत्रों की शक्ति तथा अनैतिकता का भी भंडाफोड़ इस उपन्यास में किया गया है। लोकगीतों, लोककथाओं, भूत-प्रेतों, देवी-देवताओं तथा डायरी रूप में प्राप्त स्मृति-पत्रों के आधार पर तो इस उपन्यास की कथा का निर्माण ही हुआ है जिससे बहुत से प्रसंग ऐसे आ गये हैं जो केवल मनोरंजन की ही सृष्टि करते हैं।

सागर लहरें और मनुष्य

उदयशंकर 'भट्ट' का यह उपन्यास आंचलिक उपन्यासकारों की उन कतिपय दुर्बलताओं से प्रायः नितान्त मुक्त है जिनके कारण उनकी कृतियाँ प्रायः कला की दृष्टि से असफल हो जाया करती हैं। प्रायः सभी आंचलिक उपन्यासों में कथात्मकता का अत्यन्त अभाव पाया जाता है जिससे उपन्यास के माध्यम से किसी एक भी अविस्मरणीय चरित्र का निर्माण नहीं हो पाता, पर 'सागर लहरें और मनुष्य' के सम्बन्ध

में इस प्रकार की कोई आपत्ति नहीं उठाई जा सकती। उपन्यासकार कथातत्व और चरित्रों के निर्माण में इतना सजग एवं सफल रहा है कि यदि वह उपन्यास में आये पात्रों को सागर और उसकी लहरों से दूर हटाकर उन्हें अपनी जबान दे पाता तो इसे आंचलिक कहने में भी अनेक बार सोचना-पड़ता। इसका तात्पर्य यह नहीं कि आंचलिक उपन्यासों की श्रेणी में रख देने से इस उपन्यास की महत्ता घटी है, बल्कि इस प्रकार से उपन्यासकार की कलात्मकता का डंका ही बजा है। मेरे कहने का केवल इतना ही तात्पर्य है कि आंचलिक कहे जाने वाले हिन्दी के उपन्यासों से सामान्यतः पाठक जो अर्थ लगा लेते हैं 'सागर लहरें और मनुष्य' उससे कुछ अच्छे अर्थ में भिन्न है।

इस उपन्यास में बम्बई शहर के एक तटीय गाँव बरसोवा में रहने वाले मछलीमारों के जीवन का विशद चित्रण तो है ही साथ ही साथ उसी परिवार की एक लड़की रत्ना के असन्तुष्ट, अपराजित एवं विद्रोही जीवन की मनोरंजक कहानी भी कही गई है जो अपनी महत्वाकांक्षा एवं आंतरिक शक्ति के बूते पर वर्तमान को सुनहले भविष्य में बदल देना चाहती है और अन्त में बदल कर ही रहती है। लेखक ने अनेक घटनाओं एवं चरित्रों का निर्माण किया है पर किसी न किसी रूप में रत्ना सबके सम्पर्क में जाती है और दूसरे शब्दों में कहा जाय तो कहा जा सकता है कि रत्ना के अभाव में उनका अस्तित्व ही संदिग्ध है। बरसोवा गाँव में रहने वाले जितने भी मच्छीमार हैं वे न तो अधिकांश पढ़े-लिखे हैं और न तो उनकी आर्थिक स्थिति ही इतनी अच्छी है कि आधुनिकतम साधनों से सम्पन्न भारत के सर्वश्रेष्ठ नगर बम्बई के उन्नत जीवन का आनन्द ले सकें। आधुनिक सभ्यता का महल अर्थ की नींव पर खड़ा है और हम देखते हैं कि मच्छीमारों के वे परिवार जिनकी आर्थिक स्थिति सन्तोषजनक है गँवई सभ्यता से असन्तुष्ट होकर नगरी सभ्यता की कल्पना करने लगे हैं। रत्ना के पिता विट्ठल और उसकी माता वंशी की आर्थिक स्थिति अपेक्षाकृत अच्छी है, फूस के स्थान पर रहने के लिये उसका पक्का मकान है, काम करने के लिए नौकर हैं, गाँव के लोगों में रोब-दाब है तथा औरों की अपेक्षा खाने-पीने का ढंग भी अच्छा है। उसी का एक घर ऐसा है जिसमें शिक्षा का प्रवेश हुआ है। रत्ना जो एकमात्र अपने पिता-माता की सन्तान है, आधुनिक शिक्षा की सुविधाओं से लाभान्वित है पर अपनी सखी सारिका के बहुत कहने पर भी वह एफ० ए० की परीक्षा न दे सकी क्योंकि उसमें उसका संस्कार ही बाधक हुआ। उतनी ही शिक्षा का प्रभाव भौतिकवादी चमत्कारों से पूर्ण बम्बई शहर के जीवन के प्रति रत्ना के मन में ऐसा वेग भर गया कि वह मच्छीमारों के रहन-सहन, उनकी सभ्यता तथा आचार-विचार से एक दम घृणा करने लगी। वह बरसोवा से निकल भागने के लिए एक ऐसे साथी की कामना करने लगी जो उसकी उड़ान में साथ दे सके। माना के लड़के यशवंत पर वह रीझी अवश्य थी और उसके माँ-बाप भी उससे ही रत्ना की शादी करना चाहते थे पर वह तो बेचारा गँवार ठहरा, जिसके साथ अब रत्ना के

विचारों का मेल नहीं मिल सकता। लकड़ी के टूटे हुए तख्ते पर अर्द्धमृत एक व्यक्ति माणिक लहरों के सहारे बहता हुआ जो एक दिन बरसोवा में आ लगा तो रत्ना के मन की आँधी को गति मिल गई। माणिक की चाल-ढाल, बात-चीत करने का सलीका, सिनेमा आदि सम्बन्धी उसकी जानकारी तथा सबसे बढ़ कर उसकी लम्बी-लम्बी डींगो ने रत्ना को मोह लिया जैसे भगवान ने प्रसन्न होकर उसके लिये माणिक को भेज दिया है, रत्ना ने ऐसा अनुभव किया। माता-पिता की इच्छा के विरुद्ध रत्ना माणिक के साथ सैर-सपाटे को जाने लगी और उसे अब कैन्टीन को छोड़ कर घर की चाय अच्छी ही नहीं लगती, सिनेमा के चेहरों के सामने बरसोवा के लोग कुरूप लगते, बड़ी-बड़ी अट्टालिकाओं के सामने झोंपड़े काटने को दौड़ते और होटल की जिन्दगी के सम्मुख सागर का विशाल तट अब उसे वीरान लगता। सागर के लहरों की लोरी को कान न देकर रत्ना माणिक की झूठ और फरेब से भरी जिन्दगी की ओर दौड़ गई। विवाहोपरान्त माणिक ने जब रत्ना को एक छोटी-सी गन्दी कोठरी में लाकर टिका दिया जो किराये की थी तो रत्ना की आँखों के सामने से महलों का स्वप्न ढहने लगा और तब उसे आया याद यशवंत का भरा हुआ यौवन जिसे उसने 'एक दिन मड द्वीप में अकेले में निहारा था।

माणिक पहले तो अपनी वास्तविक स्थिति छिपाता रहा और कभी मच्छी मार्केट का अढ़तिया बना तो कभी होटल का प्रोप्राइटर। इस प्रकार वह अपने को अधिक दिन तक न छिपा सका जिससे सैर-सपाटे भी कम हो गये और होटल के माध्यम से पैसा कमाना ही उसका एकमात्र उद्देश्य रह गया जिसमें वह रत्ना को भी सहायक बनाना चाहता था। रत्ना के भरे हुए यौवन और पुष्ट शरीर के लिए माणिक नितान्त अयोग्य सिद्ध हुआ क्योंकि एक बार के प्रसंग से ही वह मुर्दों की भांति शिथिल हो जाया करता था जिससे अतृप्त रत्ना का मन सर्पिणी की भांति हुँकारने लगा। उसके लिए माणिक ऐसे दुर्बल पति की नहीं बल्कि यशवंत ऐसे पुरुष की आवश्यकता थी जो उसके दृढ़ अंगों को शिथिल करने में समर्थ हो पाता। पति का दुर्बल होना स्त्री के लिए भारी विपत्ति है जिसमें उसके बिगड़ने की सम्भावनाएँ अधिक रहती हैं, पर शंकर ऐसे गुंडे के पड़ोस में रहकर भी रत्ना नहीं बिगड़ी बल्कि खून का घूँट पीकर वह माणिक की पत्नी बनी रही। दुर्बल पति स्वयं पत्नी पर अविश्वास करने लग जाता है, ठीक वही स्थिति माणिक की हुई। वह टहलने के बहाने होटल के अपने हिस्सेदारों के साथ रत्ना को भेज देता है पर वे रत्ना को पराजित नहीं कर पाये और रत्ना उनकी मरम्मत करके सुरक्षित लौट आयी और लौटने पर उसने माणिक की भी अच्छी खबर ली। विवश होकर माणिक को हिस्सेदारों को अलग करना पड़ा जिस से रत्ना स्वयं होटल के काउण्टर पर बैठने लगी। उसके बैठने से ग्राहकों की भीड़ बढ़ी और रत्ना के प्रति की गई उनकी कुचेष्टाओं को भी माणिक बुरा नहीं मानता क्योंकि उसे तो पैसे चाहिए थे।

स्वाभिमानी रत्ना ने वहाँ पर बैठना छोड़ दिया और नाराज होकर बरसोवा लौट आयी। वंशी ने तो निश्चय कर लिया था कि वह अब रत्ना का विवाह यशवंत से कर देगी पर माणिक के बहुत कहने-सुनने पर रत्ना वंशी की इच्छा के विरुद्ध पुनः चली गयी पर अधिक दिनों तक पति पत्नी की पट न सकी। माणिक शराबी हो गया था, रत्ना पर वह झूठे आक्षेप करता जिससे एक दिन वह उसकी मरम्मत करके अपने पैरों पर खड़ी होने के लिए अपनी सखी सारिका के घर आश्रय के लिए चली आई, अब जो विवाहिता हो चुकी थी। उसने एक किराये का मकान ठीक कर दिया जहाँ सारिका के माध्यम से ही उसका परिचय धीरूवाला नामक एक लम्पट वकील से हुआ जो लड़कियों के जीवन के साथ खिलवाड़ तो करता था पर व्याह किसी से भी नहीं। उसकी भावभंगिमाओं से रत्ना को हँसी तो आती रही पर वह जिस सुख और सुविधा के लिए बरसोवा से निकली थी उसकी सिद्धि उसे धीरूवाला के रूप में मिलती जान पड़ी। उसने बता रखा था कि उसके पास एक लाख रुपया और कई बड़े-बड़े मकान हैं। उसने रत्ना को कई दिन बड़े-बड़े होटलों में दावत भी दिया, शराब भी पिलाया और बेहोशी अथवा बेबसी की हालत में रत्ना का सतीत्व भी लिया पर सिविल मैरेजवाली उसकी दरख्वास्त में कभी भी तारीख नहीं पड़ी। जब एक दिन एक बुढ़िया से रत्ना को यह ज्ञात हुआ कि यह धूर्त वकील सभी लड़कियों के साथ यही करता है और विवाह नहीं करता, उसकी भी लड़की इसकी शिकार हो चुकी है तो वह धीरूवाला की अच्छी मरम्मत कर उसे अधमरा छोड़ कर चल देती है। उसने बरसोवा न लौटने का निश्चय कर लिया था। संयोग से रत्ना को डाक्टर पांडुरंग के यहाँ नर्स का काम मिल गया और शीघ्र ही वह अपने कार्यों के कारण डाक्टर का विश्वासभाजन बन गई। रत्ना के शोक में उसकी माँ वंशी अंधी होकर उसी अस्पताल में आती है पर रत्ना ने अपने को प्रकट नहीं किया। डाक्टर ने यह कहकर कि इसे कोई बहुत बड़ा सदमा पहुँचा है, जब तक वह दूर नहीं होगा इसका अंधापन दूर नहीं हो सकता, उसे अस्पताल से निकाल दिया। रत्ना के खोने का ही सदमा वंशी को है और यह उसकी माँ है, जब यह डाक्टर को ज्ञात हुआ तो उन्हें मिलाने के लिये वह बेचैन हो उठा। रत्ना धीरूवाला का पाप गर्भ के रूप में धारण किये हुए थी जिससे वह वंशी को अपना मुँह नहीं दिखाना चाहती थी। उसने अपना सारा पूर्ववृत्तान्त अस्पताल की दूसरी नर्स सुनयना से कह रखा था जिसके द्वारा डाक्टर भी जान गया था और उसने पहले से ही जच्चा-बच्चा अस्पताल पंचगनी में उसके लिये चारपाई (बेड) सुरक्षित करा ली थी। उपन्यासकार ने डाक्टर को एक आदर्श चरित्र के रूप में उपस्थित किया है और जब हम उसे रत्ना के सारे संकटों का समाधान इस रूप में करते हुए पाते हैं कि रत्ना उसकी पत्नी है और वंशी शीघ्र नानी बनने वाली है तो श्रद्धा से हमारा मस्तक झुके हुए बिना नहीं रहता। उपन्यास का आरम्भ प्रकृति के जिस प्रकार जीवंत वातावरण में हुआ था

उसी प्रकार उसका अन्त भी प्रभाव गाम्भीर्य की चरमपरिणति के साथ हुआ है। देश-काल तथा सामाजिक आचार-विचार का रंग हल्का हो सकता है पर रत्ना की संघर्षमयी कहानी और डाक्टर पांडुरंग का त्याग अपना स्थायी प्रभाव डाल कर ही रहेगा। यही आकर 'सागर लहरें और मनुष्य' हिन्दी के अन्य आंचलिक उपन्यासों से भिन्न हो जाता है।

सम्पूर्ण उपन्यास रत्ना, माणिक, रत्ना और माणिक तथा यशवंत नामक चार खंडों में विभक्त है। रत्ना खण्ड से उपन्यास आरम्भ होकर रत्ना और माणिक तथा यशवंत खण्ड तक क्रमशः विकसित होता जाता है। सभी पात्र तथा घटनाएँ क्रमशः आगे ही बढ़ती गई हैं पर दूसरा अध्याय माणिक के नाम से उपन्यासकार ने लिखकर कथा को उपन्यास के आरम्भ से पूर्व ढकेल दिया है। कथावस्तु के निर्माण में प्रायः उपन्यासकार कथा के स्वाभाविक विकास-क्रम में परिवर्तन लाकर अपनी कलात्मकता का परिचय देते हैं। इस प्रकार दूसरे खण्ड की व्यवस्था करके भट्टजी ने अपनी औपन्यासिक कलात्मकता का तो परिचय दिया ही है, साथ ही साथ उन्होंने एक और पात्र माणिक के जीवन और उस पर प्रभाव डालने वाली परिस्थितियों के आवर्त में निर्मित स्वभाव की पूर्ण व्याख्या प्रस्तुत की है। यदि रत्ना का चरित्र बरसोवा ग्राम की एक विद्रोह परायणा नारी की असीम शक्ति एवं अपूर्व निश्चय के परिणाम को चित्रित करने के लिए निर्मित किया गया है तो माणिक के चरित्र के माध्यम से एक अर्द्धशिक्षित अर्द्धसभ्य और एक साधनविहीन निम्नवर्गीय युवक की महत्वाकांक्षा की विफलता एवं सफलता का उल्लेख किया गया है। यदि इस खण्ड की कथा को उपन्यास में स्थान न मिला होता तो उपन्यास का यह दूसरा प्रमुख पात्र इतने अविश्वसनीय रूप में पाठकों के सामने आता कि उपन्यासकार रत्ना के माध्यम से जो कुछ कहना चाहता है उसकी सफलता के सम्मुख प्रश्नवाची चिह्न लग जाता। परिस्थितियों तथा आस-पास के समाज ने माणिक का निर्माण किया। रत्ना के सम्पर्क में आने के पूर्व वह अपनी विवाहिता पत्नी दुर्गा को खो चुका है। दुर्गा के साथ भी माणिक का व्यवहार बहुत अच्छा नहीं रहा और उसने उसके साथ जिस प्रकार के आचरण किये थे आगे चलकर हमें उसके वे ही आचरण रत्ना के साथ दिखलाई पड़ते हैं। इस प्रकार दुर्गा के प्रसंग को लाकर उपन्यासकार, उसके पिता तथा माता गूँगी और माणिक के मित्र कांतीलाल का भी सजीव चित्रण कर देता है जिससे बरसोवा ग्राम के अतिरिक्त माहिम के कोलियों का भी चित्रण हो गया है। माहिम बरसोवा की अपेक्षा शहरी सभ्यता के अधिक निकट है और इसी स्थान के एक भटके अनुभवी युवक माणिक के माध्यम से उपन्यास की कथा बरसोवा ग्राम से निकलकर बिजली की कौंध में चमकने के लिए आयी है।

आंचलिक उपन्यासों के लिये एक निश्चित भूखण्ड की सीमा को ही आधार के रूप मे स्वीकार किया गया है पर 'सागर लहरें और मनुष्य' मे कथानक का फैलाव उस सीमा को पार कर गया है और यदि इस नियम का कड़ाई के साथ पालन किया जाय तो वह आंचलिक उपन्यास नही ठहरता। इस उपन्यास मे एक निश्चित भूखण्ड को तो आधार नही माना गया है पर भारत के विस्तृत भूखण्ड पर रहने वाले एक ऐसे सामाजिक अंचल को आधार माना गया है जो आधुनिक साज-सज्जाओं से युक्त धन कुबेर की नगरी बम्बई के पूर्ण सम्पर्क में रहकर भी उसके प्रभाव से बहुत कुछ अछूता है, चाहे वह बरसोवा में रहकर मछली मारने का कार्य करता हो अथवा माहिम में रह कर उसका व्यवसायी हो। यह कोली जमात जहाँ भी है अथवा उसके व्यक्ति जहाँ कही भी जाते हैं वे अपने साथ अपनी सभ्यता, संस्कृति, स्वभाव और आचार-विचार अपने साथ रखते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि रत्ना से सम्बन्धित कथा का अधिकांश भाग शहर में ही समाप्त हुआ है पर उसके संस्कार शहर के न होकर जातीय ही बने रहते हैं।

प्रायः उपन्यासकार अपनी कल्पना के माध्यम से अपरिचित चेहरो एवं संस्कारो को कागज के पन्नो पर उतार दिया करते हैं और उनकी रोचक कलात्मक शैली के कारण पाठक वास्तविकता से दूर रहते हुए भी उसके लिए आग्रह नही कर पाता पर ऐसी किसी भी प्रकार की आशंका 'भट्ट' जी की इस कृति के सम्बन्ध में नही उठाई जा सकती है। लेखक ने एक उपेक्षित समाज को इतने निकट से देखने का प्रयत्न किया है, उसके एक-एक कोने को इतनी सावधानी के साथ झाँका है और उसके सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक पक्षो का इतना सूक्ष्म अध्ययन किया है कि उसके जीवित प्राणी अपनी भाषा, रहन-सहन, और समस्याओं के साथ 'सागर लहरें और मनुष्य' में बोल उठे हैं। इस प्रकार का प्रयास हिन्दी उपन्यास-क्षेत्र में अभी पहला ही कहा जा सकता है जिसमें उपन्यासकार अपने वर्गीय संस्कारो से मुक्त होकर एक ऐसे समाज के प्रति तटस्थ रह सका है जिसमे साँस लेना भी उसके लिये कठिन है। निश्चित ही उपन्यासकार को इन मछलीमारो में अपने अनेक वर्ष बिताने पडे होगे। अपने इस असाधारण व्यावहारिक विवेचन का जो रूप 'भट्ट' जी प्रकट कर सके हैं यह निश्चय ही भावी पीढ़ी के यथार्थवादी एवं आंचलिक उपन्यासकारो के लिए प्रकाशस्तम्भ का कार्य करेगा। सामाजिक व्यवस्था, त्योहार वर्णन, आर्थिक विषमता, यौन सम्बन्धी अनियमतता तथा देशव्यापी सुधारान्दोलन के पड़ते हुए प्रभाव आदि का सजीव चित्र कोली जाति को आधार मानकर इस उपन्यास में उतारा गया है।

कोली जातियों में लड़कों से अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान लड़कियों का है क्योंकि उनके यहाँ स्त्रियो का ही राज्य है। पुरुष-वर्ग दिन भर सागर की लहरो पर तैरता जाल लेकर मछली मारने का कार्य करता है और रात्रि में थक कर इतना चूर हो जाता है

कि शराब अथवा गांजा-चरस आदि पीकर दिन की थकान मिटाता झोपड़ों में सो रहता है। स्त्रियाँ मछली मारने का कार्य तो नहीं करतीं पर शहर में जाकर बेचने का कार्य उन्हीं का होता है जिससे पैसा सीधे उन्हीं के हाथ में आता है और वे घर-परिवार की पूरी व्यवस्था करती हैं। अतः पुरुष-वर्ग की स्थिति मजदूर की-सी है और सामाजिक व्यवस्था अपने आप एक प्रकार से स्त्रियों के हाथ में चली जाती है। दहेज के रूप में रुपये लड़की के बाप को नहीं बल्कि लड़के के बाप को देने पड़ते हैं जिससे लड़कियों का महत्व स्पष्ट हो जाता है। वंशी को यद्यपि रुपये की आवश्यकता नहीं थी बल्कि वह रत्ना के लिए घर-जमाई करना चाहती थी जिससे वह मछली मारने का कार्य कराती और रत्ना उसके ही घर रहकर उसके अर्थोपार्जन में सहायक होती पर माणिक को रत्ना के लिए एक हजार रुपये देने ही पड़े। सामाजिक रीति से लड़कियाँ स्वतंत्र अवश्य थीं पर उन्हें एक निश्चित मर्यादा का पालन करना पड़ता था क्योंकि माणिक के साथ विवाह के पूर्व स्वच्छन्द होकर घूमना न तो रत्ना की माँ को ही अच्छा लगता है और न तो कोली समाज को। इससे स्पष्ट हो जाता है कि प्रेम से अधिक महत्व विवाह को दिया जाता है। यौन सम्बन्धी आन्तरिक नियम अत्यन्त शिथिल जान पड़ते हैं। प्रायः कोली स्त्रियाँ पति के रहते हुए भी अनेक पुरुषों के साथ शारीरिक सम्बन्ध स्थापित करती रहती हैं और इस प्रसंग को लेकर किसी प्रकार का सामाजिक क्षोभ उत्पन्न होता नहीं दिखलाई पड़ता। पुनर्विवाह की तो छूट निम्न वर्ग को होती ही है जिसका प्रभूत प्रचलन इस जमात में दिखलाई पड़ता है। वंशी विवाहोपरान्त पति बिट्ठल के रहते हुए अपने ही नौकर जागला के साथ अनैतिक सम्बन्ध स्थापित तो करती ही है, विवाह के पूर्व भी वह अपने एक प्रेमी को आलिंगन दे चुकी थी। माणिक की पहली सास अपनी लड़की दुर्गा की तीमारदारी में आने का अवसर लाभ कर माणिक से अनैतिक शारीरिक सम्बन्ध स्थापित करती है जो उसका सगा दामाद था। सोमा यशवंत को पार्वती के लिए उपयुक्त वर समझकर उसके विवाह की बात चलाना चाहती है पर उसके गठीले बदन पर उसका ही मन रीझ जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि उपन्यास की नायिका रत्ना को यौन सम्बन्धी छूट उसे जातीय संस्कार के रूप में मिली है। यहीं पर एक बात द्रष्टव्य है कि कोलिनों के शारीरिक सम्बन्ध मानसिक तुष्टि से अधिक आर्थिक तुष्टि को केन्द्र मान कर चलते दिखलाई पड़ते हैं। वंशी जागला से सम्बन्ध इसलिये नहीं स्थापित करती कि उसकी कामभावना अतृप्त है बल्कि इसलिये करती है कि वह कहीं 'असन्तुष्ट कामभावना के कारण किसी स्त्री के साथ न हो ले और एक वफादार मेहनतकश नौकर उसके हाथ से निकल कर उसे आर्थिक क्षति न पहुँचा दे। ये स्त्रियाँ पुरुष की नारी विषयक दुर्बलता से लाभ उठा कर अपनी प्रस्तावित अर्थ-व्यवस्था को सुगठित करना चाहती हैं। रत्ना का भी पतन मनोवेगों के कारण नहीं बल्कि भौतिकवादी सुख-सुविधाओं से युक्त नारी बनने के साधनों

को संग्रह करने के हेतु ही होता है। इस प्रकार जहाँ उपन्यासकार ने एक ओर इन कोलिनों को अत्यन्त चतुरा रूप में प्रस्तुत करना चाहा है वहीं उसने कामभावना पर अर्थभावना की विजय भी दिखलाई है। इस समाज में ब्याह धार्मिक बन्धन न होकर आर्थिक बन्धन बनकर रह गया है और अनैतिक कार्य तो आर्थिक विषमताओं से उत्पन्न परिस्थितियों के कुपरिणाम हैं। इट्टा जैसी न जाने कितनी कोलिनें अस्मत बेचकर पेट भरती हैं। निम्न से लेकर उच्च वर्ग की सभी लड़कियाँ समाज में बढ़ते हुए अर्थ-प्राधान्य से पीडित हैं। औद्योगिक नगरों की चमक मे लिपिस्टिक और पाउडर की रंगीनियों मे छिपे धूमिल, वेशर्म और रसहीन चेहरे गवाह हैं कि उन्हे भौतिक साधनो को इकट्ठा करने में भारी मूल्य चुकाने पड़ते हैं तब कहीं वे बिजली की चमक में रूप बनाकर अगले दिन का शिकार ढूँढने को निकल पाती हैं। उपन्यासकार ने तो रत्ना का जीवन में केवल तीन बार ही पतन कराया है, पर जिन नगरो का दृश्य उसके सामने है उनमे तो एक नारी का पतन एक दिन मे तीन बार होता है। रत्ना के पतन के साथ पाठको की सहानुभूति घृणा की अपेक्षा अधिक रहती है, जिसके लिये उपन्यासकार की कला उत्तरदायी है।

जहाँ कहीं भी पात्रो के चरित्रो मे विकास अथवा परिवर्तन लाना हुआ है उपन्यासकार ने उसके लिये अनुकूल भूमि निर्मित की है। यशवंत एक आदर्श प्रेमी और चरित्रवान व्यक्ति के रूप में चित्रित किया गया है। 'भट्ट' जी कामभावना को अवकाश और आलस्य की देन मानते हैं और जब कभी उनके पात्र सामाजिक कार्यों में लग जाते हैं तो कामभावना उनसे कोसो दूर भाग जाती है। यशवंत का ग्राम-सुधार में योग देना और शिक्षा-प्रसार तथा सफाई के कार्यों में लग जाना ही उसके संयम का रक्षक है। रत्ना भी नर्स के रूप में ही अपनी वासना को मिटा पाती है। 'भट्ट' जी के प्राय. काम-भावना से असंतुष्ट पात्र अस्पताल में जाकर संयम का जीवन व्यतीत करते हैं क्योंकि मनुष्य-जीवन का असली रूप भी तो वही दिखलाई पड़ता है। 'डा० शेफाली'[1] को प्रमाण स्वरूप देख सकते हैं। नारियल पूर्णिमा कोलियो का एक विशेष त्योहार है जिसकी चर्चा करके उपन्यासकार ने आचार-विचार का भी अच्छा वर्णन प्रस्तुत किया है। सिनेमा जगत के बढ़ते हुए प्रभाव को दिखलाने के लिये ही भट्ट जी ने कोली टोला मे इसकी बराबर चर्चा की है। वरसोवा का प्रत्येक व्यक्ति सिनेमा की ओर आकर्षित जान पड़ता है और रत्ना तो उसकी शिकार है ही। मछलीमारो मे कुछ ईसाई भी हैं पर उनका प्रसंग उभड कर नहीं आ सका है, पर इतना संकेत तो मिल जाता है कि वे लडकों को बहका कर ईसाई बनाने की चेष्टा में रहते हैं। सारिका का प्रसंग उठाकर मध्यवर्गीय समाज का भी चित्रण उपन्यास में हुआ है। धन के अभाव मे किस प्रकार

१—उदयशंकर भट्ट का दूसरा उपन्यास।

माँ-बाप लड़कियों का व्याह नहीं कर पाते और उन्हें टाइपिस्ट आदि बन कर या तो अनैतिक सम्बन्ध स्थापित करने पड़ते हैं अथवा प्रेम-विवाह कर लेने पड़ते हैं। प्रेम-विवाह का सौभाग्य तो कम लोगों को मिल पाता है, अधिकतर उन्हें अनैतिक कार्य के लिए ही प्रेरित होना पड़ता है। डाक्टर पांडुरंग के निर्माण में लेखक यथार्थ से ऊपर उठ गया है और यशवंत भी उसी से कुछ मिलता-जुलता है। रत्ना का निर्माण उपन्यासकार की मौलिकता का परिचायक है। कथात्मकता का सफल निर्वाह इस उपन्यास की अपनी विशेषता है। देशकाल का चित्रण भी अत्यन्त स्वाभाविक हुआ है। सजीवता लाने के लिए 'भट्ट' जी ने वरसोवा ग्राम में बोली जाने वाली बोलियों का सहारा लिया है, पर उन्हें टिप्पणी के रूप में उसका अर्थ भी देना चाहिये था। आंचलिक उपन्यासों के क्षेत्र में भाषा की समस्या सबसे बड़ी है जिससे साहित्यिक एकता को आघात लग सकता है। अब तक के प्रकाशित ऐसे उपन्यासों में 'सागर लहरें और मनुष्य' का स्थान अपने ढंग का अनोखा है।

शेष अशेष

'सागर लहरें और मनुष्य' के पश्चात् भट्ट जी ने 'शेष अशेष' नामक दूसरा आंचलिक उपन्यास लिखा जिसमें साधुओं के जीवन पर प्रकाश डाला गया है। आंचलिक उपन्यासों की विशेषताओं के प्रसंग में मैंने ऊपर ही उल्लेख कर दिया है कि साधु और संन्यासियों का भी जीवन साधारण गृहस्थ के सामने जिस रूप में आता है वस्तुतः वह जीवन वैसा ही नहीं है। वे भी गैरिक वस्त्रों में न जाने कितनी आशा-निराशा, भूख-प्यास एवं आकर्षण-विकर्षण लिए ढोते फिरते हैं। सामान्यतः साधु-संन्यासियों के रहस्यमय जीवन का पता लगाना इसलिए भी कठिन है कि जो लोग उनके निकट तक पहुँचते हैं वे भी परीक्षा की दृष्टि से नहीं बल्कि आदर एवं श्रद्धाभक्ति से प्रेरित होकर ही। 'भट्ट' जी ने इस रंगीन पर्दे के अन्दर भी झाँकने की चेष्टा की है और उन्हें पर्याप्त सफलता भी मिली है। भले ही नारी विषयक प्रसंगों को लेकर उपन्यास में अस्वाभाविकता एवं अश्लीलता के दर्शन कहीं-कहीं हो जाते हैं पर उससे इस वर्ग पर जो प्रकाश पड़ता है वह समाज के लिए चेतावनी का द्योतक अवश्य है।

उपन्यासकार ने इस उपन्यास में केवल स्त्री-प्रसंग की ही चर्चा नहीं की है बल्कि उसने एक और रहस्य का उद्घाटन किया है और वह यह कि स्वतंत्रता-संग्राम की जो लड़ाई भारतवर्ष में लड़ी जा रही थी • साधुओं की जमात भी उससे पीछे नहीं थी। वैसे क्रान्तिकारियों का साधुवेश में छिपना तो सर्वविदित है पर साधुओं का सक्रिय रूप से आन्दोलन में भाग लेना सर्वविदित नहीं। उपन्यासकार ने अत्यन्त विश्वसनीय ढंग पर साधुओं के उस कार्य एवं सहयोग की चर्चा की है जो उन लोगों द्वारा राष्ट्रीय आन्दोलन को आगे बढ़ाने में दिया गया। कुल मिलाकर इसे 'भट्ट' जी की एक सफल

आंचलिक कृति माना जा सकता है। इसके अतिरिक्त 'एक नीड दो पंछी', 'डा० शेफाली' तथा 'लोक-परलोक' 'भट्ट' जी की अन्य श्रेष्ठ सामाजिक औपन्यासिक कृतियाँ हैं।

फागुन के दिन चार

कलात्मकता की दृष्टि से पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' को अपने अन्य उपन्यासों की अपेक्षा 'फागुन के दिन चार' नामक उपन्यास में अधिक सफलता मिली है। उपन्यासों के माध्यम से जीवन के एक विशेष अवांछित पक्ष को चित्रित करने के लिए यद्यपि उग्रजी बदनाम हैं फिर भी इस उपन्यास में उन्होंने जो कुछ कहना चाहा है, उसके लिए उन्होंने अपनी समर्थ भाषा, शैली एवं अभिव्यंजना का एक अच्छा उदाहरण प्रस्तुत किया है। काशी जनपद और धनकुबेर की नगरी बम्बई जैसे दो प्रमुख स्थानों में घटने वाली घटनाओं का ही वर्णन उपन्यास का मुख्य विषय है। यद्यपि काशी खंड की कथा भी बम्बई की घटनाओं की भाँति कल्पित ही है फिर भी जिस राष्ट्रीय आन्दोलन के परिवेश में उपन्यासकार ने उसका संगठन किया है वह ऐतिहासिकता के काफी निकट है। राजनीतिक नेताओं के नाम तथा घटनाओं को लेखक ने अकल्पित ही रखा है जिससे कल्पना के आधार पर उसने काशी के जिस सामाजिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक आचार-विचार का चित्रण किया है वे अत्यन्त विश्वसनीय बन पड़े हैं। लेखक का दावा है कि उसने जो कुछ भी लिखा है वह ३५ वर्ष पूर्व काशी में होता रहा। बम्बई खंड की कथा सिनेमा जगत के घृणित चित्रों से परिपूर्ण है जिससे उसके प्रति आसक्ति और अनासक्ति एक साथ ही पाठकों के मन में जगती है।

जगरूप उपन्यास का नायक है जो उपन्यास की बिखरी सभी कथाओं को एकसूत्रता प्रदान करता है। वह काशी स्थित भदैनी निवासी, काशी हिन्दूविश्वविद्यालय से एम० ए० पास, उच्च कुलीन ब्राह्मण रत्नशंकर का नाती तथा एक भटका हुआ युवक है। पं० रत्नशंकर अव्वल दर्जे के अमीर थे जिनकी मिर्जापुर जिले में बहादुरपुर गाँव के निकट एक बड़ी जमींदारी भी थी। जगरूप को चरित्रहीनता उत्तराधिकार के रूप में अपने नाना से मिली थी। रत्नशंकर जितने ही चरित्रहीन थे, उनकी पत्नी उतनी ही सती साध्वी, जिसने ब्रजरानी नामक एक पुत्री को जन्म देने के उपरान्त पुनः पति के साथ कभी सहवास ही नहीं किया। परिणामस्वरूप ब्रजरानी को ही सारा प्यार मिला जिसके गर्भ से काशी में ही जगरूप का जन्म हुआ था। पं० रत्नशंकर की बुराई सभी जानते थे। "शिवाला मुहल्ले की जवान मालिन भरत-बो को लगाकर पंडित रत्नशंकर के कई कामुक किस्से हैं। वह अक्सर दोपहर दिन को फूलों का हिसाब लेने आती—मासिक एक रुपया पाँच आने और रत्नशंकर उसको दुछत्ती पर बुला लेता और हिसाब करता—हर महीने तीन-चार दिनों से कम में एक रुपया पाँच आने का हिसाब न होता और घंटों लग जाते···और जब पंडित जी तहसील वसूल के लिए सुदूर मिर्जापुरी

हो उठे हैं जिसे ऐतिहासिक सत्य के रूप मे स्वीकार किया जा सकता है। कथा के उत्तरार्द्ध में बम्बई के सिनेमा-जगत के नारकीय जीवन का चित्र प्रस्तुत करना ही लेखक का उद्देश्य जान पड़ता है, पर काशी के सम्बन्ध मे भी वह कुछ ऐसी बातें कह गया है जिससे उसके उसी अश्लील साहित्य के पुराने ढर्रे का परिचय मिलता है जो एक स्वस्थ साहित्य के लिये निन्दनीय है। स्वजातीय रति (स्वलिंगी रति) का जो प्रसंग उसने राजू के माध्यम से उठाया है उससे लेखक की प्रकृतवादी शैली का ही परिचय मिलता है जिसमें कलात्मकता का नितान्त अभाव है। उपन्यासकार का राजू एक ऐसा प्रिय पात्र है जिसके सौन्दर्य पर काशी के सभी धनीमानी लोग मरते हैं। जगरूप ने भी उसे अकथ्य करना चाहा था और सम्भव है कर भी लिया हो। विलक्षण बात तो यह है कि बाप नामधारी लीलाधर भी ऐसे असामाजिक कार्यों के लिये राजू को प्रेरित करता है। वह इसलिये कि उसे बदले में पैसे मिल जाते हैं। राजू के चित्र उतारने के निमित्त जगरूप ने जब लीलाधर को कैमरा लेने के लिये सामने की कोठरी मे भेज दिया तो उसने दोनो हाथ पसार कर लडके को भुजाओ मे कसकर हृदय से लगाता हुआ कपोल नही उसके अधर चूमने की चेष्टा की। जब लडका शिकायत करता है तो उसे बाप से यह उत्तर मिलता है कि बड़े चाचाजी हैं बेटे। बड़े लोग छोटों को प्यार करते हैं। लीलाधर से यह जान कर कि यह लडका रुपये से खुश रहता है, जगरूप ने उसे रुपये दिये और 'सचमुच अब राजू जगरूप की गोद में था' और लीलाधर ने पूछा 'कैमरा जहाँ से लाया वहाँ रख आऊँ? जगरूप को बोलने की फुरसत नहीं थी, उसने इशारे से स्वीकृति दे दी।' वह जानबूझकर उसी प्रकार हट गया जैसे कुटनियाँ माल फँसाकर हट जाया करती हैं। लीलाधर के शब्दो मे लेखक का मत है, "लड़के बिगड़ते नही लड़के ही रहते हैं। बिगडती लडकियाँ हैं किसी की चपेट में पड़कर। लड़की मिट्टी की गागरी बिगडती तो बिगडी। लौंडा है धातु का घडा—सौ बार मल लगने के बावजूद जरा ही माज धो देने से ज्यों का त्यो।" यदि ऐसा है तो परिवार नियोजन के लिए इसका राष्ट्रीय स्तर पर प्रचार करना चाहिये ! ऐसे गन्दे चित्र साहित्य के लिए नहीं बल्कि गन्दे लोगो के मस्तिष्क के लिये ही उपयोगी हो सकते हैं। आगे चलकर हम देखते हैं कि राजू ऐसा बिगडा कि उसे अपने एक आशिक तीस वर्षीय बनारसी गुडे के छुरे से आहत होकर अपने प्राण भी खोने पडे। उसने स्वीकार भी कर लिया थानेदार के सामने—'हुजूर मैं औरत था आशिक नहीं। औरत नही वह लडका था—हुजूर झूठ न कहूँगा, मेरी सारी जमा-जथा मुझसे ले लेने के बाद मुझे ही कंगाल कहना हुआ, वह मालदार खत्री लच्छूराम गोटेवाला के संग रमने लगा और मुझे ठिकाने लगाने लगा, वह केवल हुस्नपरस्त था पर गोटेवाला बदमाश। थोडी देर के लिये माना जा सकता है कि यह बुराई समाज में है, पर लेखक का यह दावा करना कि ३५ वर्ष पूर्व की काशी की सभ्यता के अनुसार यह अस्वाभाविक नहीं था—'अक्सर अच्छे कायस्थ कुमार

को नवाब और मुस्लिम काल के अनेक हिन्दू जागीरदार भी अपनी भोग सेवा में रख लेते थे जिसमें सारी वैष्णवता दुर्गन्ध बनकर रह जाती थी—शहर के बाजारों में वेश्याओं के प्रति जैसी भावनाएँ थीं, वैसी ही कत्थक लड़कों के प्रति भी। अनेक मनचले तो राजू जैसे कत्थक कुमारों को गहरेबाज एक्कों पर सनकाते हुए बहरी तरफ ले जाते और उनके हुनर देखते, अपने दिखाते।' यह कहाँ तक सत्साहित्य के लिये उचित है ?

उत्तरार्द्ध में फिल्म-जगत के घिनौने चित्र हैं जो मिस मरियम रोज के माध्यम से उपस्थित किये गये हैं। 'नाम और नामा की भूखी नई-नई फिल्म-स्टार जवान-जवान लड़कियाँ सिनेमा-संसार के कुचक्रों में चंचल चली आ रही हैं। जहाँ नाम और दाम दोनों कमाने में उन्हें खासी कीमत चुकानी पड़ती है और वह कीमत ऐसी बुरी होती है कि जो भलमंसाहत की हद में अदा नहीं की जा सकती ?' रोज एक ईसाई आया की लड़की थी जिसका मालिक भी उसकी जवानी का इन्तजार कर रहा था जब कि वह बारह बरस की ही थी। स्वभाव से चंचल और खूबसूरत रोज गोश्त खरीदने नित्य जाती और छोकड़ों से नजर लड़ाती, आशिकों के दाँतों से चवन्नी छीनकर चली आती, जो उसकी माँ की प्रसन्नता का कारण भी था। पर माँ ने उसे न फिसलने की सख्त हिदायत दे रखी थी जो पुलिस हवलदार के सामने न टिक सकी।—'हवलदार ने ललकारा, वह थर्रायी, डरी, काठ मार गया उसे। अब तो हवलदार ने घर पकड़ा—शांताक्रूज पुलिस चौकी की हवालात में सारी रात वह तिलमिलाकर रह गई।' माँ ने अपने सेठ की बड़ी कोशिश-पैरवी से लड़की का लवनय उद्धार किया। सेठ के तीन सौ रुपये लगे थे जिसे अब उसने रोज के शरीर से चुकाना शुरू किया। यह दूसरा पुरुष भी उसे कडुवा ही मिला यद्यपि पैसे देता था। वह भाग निकली जहाँ उसे रायल फिल्म स्टूडियो वाले मिल गये। डाइरेक्टर ने रोज को अँगूठी भेंट की जो उसे भी भा गया। डाइरेक्टर के द्वारा वह रुस्तम सेठ तक पहुँची, जहाँ उसे एक नई हिरोइन के रूप में लाया गया था। 'सेठ ने उसे आराम से रखा जहाँ डाइरेक्टर को सुखद चिन्ता में ही रोजी को नींद आ गई जैसे घनघोर बेहोशी की ओर नींद ही में उसे लगा जैसे कोई जबर्दस्त आदमी उससे बलात्कार कर रहा है पर नशे से दुर्बल उससे बोला या चिल्लाया न गया, विरोध तक न किया, शायद वह मूर्छित हो गई थी ""रुस्तम उसकी बगल में भैंसे की तरह खर्राटे ले रहा था"""उसके हाथ से छूटकर टेबुल पर गिर पड़ा। रुस्तम सेठ जगा उसका ध्यान कुरे की तरफ नहीं गया। उसने रोजी की नंगी बाडी मात्र देखी और उठते ही जैसे कामासक्त हो गया—इधर आ साली""कपड़े तो पहन ले—देख रोजी ने रुस्तम को अपना तन तकाया ? कैसा कचरा कर डाला। हरामी! कसाई !—पहली तसवीर पन्ना दासी बनाने में पूरे एक वर्ष लगे और वर्ष भर रोजी को कभी रुस्तम सेठ और कभी अहमद सेठ के साथ कुछ रातें बितानी होतीं।'

काशी की प्रसिद्ध नर्तकी महामाया या महारानी को लेकर जब जगरूप बम्बई भागा तो जिस होटल में वह उसके साथ टिका था, होटल वाले ने सौ रुपये नोट की परीक्षा में ही उसे ताड़ लिया जहाँ महामाया एक अधिक वेतन पाने वाले मरहठा इञ्जीनियर से एक ही मुलाकात में अनैतिक सम्बन्ध स्थापित कर लेती है। जगरूप फिल्म डाइरेक्टर के रूप में रोजी के साथ नित्य मद्यपान और रमण करने लगा। रोजी का एक प्रेमी जॉन भी था जिसने उसके गहने के लिये शराब में विष दिलाया और अस्पताल में जगरूप की मृत्यु हो गई। जगरूप की पहली पत्नी जिसे लेकर उसकी माँ और लीलाधर बम्बई आये थे रोजी ही के कारण कोठे से गिर कर पहले ही मर चुकी थी। रोजी पजाबी लड़के को लेकर भागी और अपने पहले प्रेमी जॉन को उसी ट्रेन से धकेल दिया जो उसे अपनी बनाने की चेष्टा कर रहा था। जगरूप ने जिस रोजी के लिये अपनी पत्नी प्रेमा की हत्या की, अपने मित्र को सन्देह की दृष्टि से देखा जो काशी से बम्बई आकर फिल्म लाइन का एक अच्छा कहानीकार हो गया था, पर वहाँ के हथकण्डों को देखकर पुनः काशी लौट आया क्योंकि उसने अपनी आँखों सेठ द्वारा आयोजित नंगी लड़की का नृत्य तथा उसका राजा साहब से ब्याह के बल पर पैसा ऐंठना आदि सब कुछ देखा था, परन्तु रोजी किसी की न हुई। इस प्रकार उपन्यासकार ने समाज के जिन पक्षों का चित्रण किया है वे गन्दे एवं घिनौने तो अवश्य हैं पर वे वास्तविकता से नितान्त दूर नहीं।

लेखक ने कुछ व्यंग्य चित्र भी बड़े सटीक निर्मित किये हैं। "काशी के कुख्यात गुण राँड़-साँड़-सीढ़ी-सन्यासी उस अदा मे आज उसमें न हो—पर हैं, दूसरे रूप में। आज राँड़-साँड़-सीढ़ी-संन्यासी चारों के गुण काशी के पालिटीशियनों में इकट्ठे हो गये हैं, जबरे पार्टी पोलिटिकल नेताओं में। पंडित जी, सिंह जी, मुंशी जी, भैय्या जी में। ये राँड़ की तरह नीति-विरहित-वीर्य विरोधी हैं महाराज। यहाँ वीर्य माने तेज विरोधी। इनमें अपना तेज तो नहीं (छोट से बड़े बने लँगोटिये) ये तेजस्वियों से जलते हैं। गुरु महाराज हम जैसे जनता के भोलेपन की हरियाली तोड़कर ये पालिटीशियन सरासर साँड़ बने हुए हैं। दर्शन दृष्टि दोनों से क्या कभी घाट की सीढ़ियाँ ऐसी बारह बाट रही होंगी—खड़ी सपाट—जैसी इन जनता जीवियों की लोभ लालसा की सीढ़ी-दर-सीढ़ियाँ हैं। ऐसी फिसलनदार कि सभी फिसलें। रहा संन्यासी रूप सो इन दायादारी पालिटीशियनों से बड़ा 'सम' और 'न्यासी' हो कौन सकता है जिन्होंने त्याग की रौ में आर्यत्व, कुलीनता, हया—ब्रह्मचर्य तक का त्याग कर के दिखा दिया?' इस प्रकार जब उन्होंने यह भी स्वीकार कर लिया कि यह पार्टी सत्ताधारियों की है तो पाठकों को संकेत समझने देर नहीं लगती।

लेखक ने गन्दे और घिनौने प्रसंगों को जानबूझकर लाने की चेष्टा की है। बम्बई का तो उसने कोना-कोना छान डाला है। वहाँ के होटल तथा सिनेमा की तो बात ही अलग

नहीं, लेखक ने तो मोटल्लो तथा अधेड़ उन सेठानियों को भी देखा है जो युवकों को नौकर रखकर अपनी कामवासना शान्त करती हैं। इसका समुचित कारण भी है क्योंकि सेठ लोग लड़कियों के चक्कर में पड़कर या तो अपना पुंसत्व खो देते हैं, या तो जीवन। उपन्यासकार ने इस प्रकार के जिस सेठ का चित्रण किया है वह एक कश्मीरी लड़की के एक-एक चुम्बन के लिये दो-दो, तीन-तीन हजार रुपये तक देकर एक ही रात्रि में सात लाख रुपये तक के चुम्बन लेने का कलेजा रखता है ? 'इस प्रकार सेठ पूनमचन्द झवेरी ने अपने प्रतिद्वन्द्वी सेठ अब्दुल को मात दे दी जो केवल एक चुम्बन का दो हजार तक ही दे पाता था।' युवक श्रीचन्द और सुवा सेठानी का अनमेल सम्मिलन भी इसी प्रकार का है जो धनकुबेर की छाया में होता रहता है। इस चित्र की सार्थकता तो हम यह कहकर स्वीकार भी कर सकते हैं कि उपन्यासकार ने एक गन्दे समाज को चित्रित कर पाठकों को सावधान बनाना चाहा है, पर झिल्लर तबलिये से सम्बन्धित वर्णन की सार्थकता तो लेखक ही प्रमाणित कर सकता है ? झिल्लर तबलिये के मुख से 'दूल्हा खाँ' के सितार सिखाने के तरीके का वर्णन लेखक ने किया है। 'वह कहता आसन आ जाना आधा सितार आना है—इसके बाद वह चेलो के हाथ में सितार देता कि वह सही ढंग से बैठे। पर दूल्हा की नजरों में वह कभी सही न बैठ पाती। सो युवती के घुटने वह सही करता, सावधानी से उसका रान सहलाता हुआ फिर सितार दोनों"""के बीच में फिट करने की कोशिश में पहले सितार की लकड़ी से उसके"' को दबाता। इस पर युवती यदि हँसकर रह जाती तो अपने पंजे का प्रयोग करता। सीने पर कब्जा पाते ही दूल्हा खाँ समझ लेता कि पास प्राप्त हो गया, अब वह मुस्कराकर यन्त्र लेने की शिक्षा पर आता। दो-चार बार जब युवती उसके ढंग से नहीं मुस्करा पाती तो वह कहता कि यदि आप हुक्म दें तो सही मुस्कराहट पैदा कर दूँ और लड़की की इजाजत मिलते देर न लगती। तब दूल्हा खाँ कहता कि अब आप सितार अलग रख पहले मुख विलास समझ लें। आसन और मुद्रा आते ही सितार आया ही समझिये। जरा मुस्कराइये मेरी तरफ देखकर। स्वभावतः लड़की मुस्कराती, मगर झेंपती हुई। वह कहता आप शर्म करती हैं। शर्म करने वाला भला क्या कला सीखेगा। पहले शर्म छोड़िये और वह निकट जा, हाथ पकड़ कर युवती को सीने से लगा-कर कस-कसकर चूमने, उसके गालों पर अपने होठों से गुदगुदाने लगता। अब युवती को खिलने में देर न लगती—वह प्रफुल्लित हो उठती"""फिर लड़कियाँ ही आग्रह करतीं कि वह उसे कायदे से सितार लेना और सही आसन-मुद्रा में बैठना एक बार और बतलाये।" ऐसे अश्लील एवं उत्तेजक चित्रों को लाने से साहित्य का कौन-सा उद्देश्य सिद्ध हो जायगा, विचारणीय है ? 'फागुन के दिन चार' के कथ्य की अभिव्यक्ति का जहाँ तक प्रश्न है, 'उग्र' जी ने अपनी अनूठी कलात्मकता का परिचय दिया है पर उन्हें

उसी सुरुचि का परिचय विषय-चयन के सम्बन्ध में भी देना चाहिये था। उपन्यास की पूर्वार्द्ध कथा का ही यदि विकास हुआ होता तो उपन्यास मे काशी का सामाजिक इतिहास ही उतर आता, पर उत्तरार्द्ध की कथा के आ जाने के कारण वह लेखक की कल्पना सृष्टि बन कर रह गया है। यद्यपि काशी के ही एक व्यक्ति जगरूप के माध्यम से बम्बई की भी कथा कही गई है, और हो सकता है उसके माध्यम से लेखक ने किसी अपने परिचित व्यक्ति से सम्बन्धित घटनाओं को ही कथा का रूप दे दिया है, पर उसमें कल्पना का अंश निश्चित ही अधिक जान पड़ता है।

इतना तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि 'उग्र' जी की लेखनी में जादू है जो पाठकों के सर पर चढ़ कर बोलता है। अभिप्रेत भावों तक पाठकों को पहुँचाने मे 'उग्र' जी की शैली को कमाल की सफलता मिली है, 'फागुन के दिन चार' इसका सफल उदाहरण है।

लघु उपन्यास

लघु उपन्यास कथा साहित्य की एक ऐसी विधा है जो प्रसार की दृष्टि से उपन्यास से छोटा होता है। विद्वानों का मत है कि लघु उपन्यास का सम्पूर्ण विस्तार दो हजार से लेकर पाँच हजार शब्दों तक ही होना चाहिए। अंग्रेजी साहित्य में इसे 'नावेलेट' की संज्ञा दी गई है। कुछ अन्य पाश्चात्य विद्वान इसे 'नोवेला' का नाम देकर 'गिओवानी' और 'बोकेसिओ' की स्मृति को बनाए रखना चाहते हैं। 'जर्मनी' में इसी प्रकार की रचना को सम्भवतः 'नोविले' के नाम से पुकारा जाता है।

जर्मन 'नोविले' के सम्बन्ध में ई० के० वेनेट का कहना है कि यह "एक ऐसी गद्य कथा है जो उपन्यास से छोटी होती है और उसमें विशिष्ट परिस्थिति, अन्तर्द्वन्द्व, घटना तथा व्यक्तित्व के स्वरूप विशेष का चित्रण रहता है। यह नये तथ्य को आकर्षक एवं कलात्मक ढंग से प्रस्तुत करने का माध्यम है।"[१] उपर्युक्त कथन में हमें लघु-उपन्यास के रचना विधान सम्बन्धी सूत्र प्राप्त हो जाते हैं। वस्तुतः लघु उपन्यास में कथानक की एकात्मकता को विशेष महत्व दिया जाता है। उपन्यासों में पाई जानेवाली उपकथाओं के लिए लघु उपन्यासों में कोई स्थान नहीं है। लघु उपन्यासकार उपकथानक का परित्याग कर प्रासंगिक कथानक को भी कथानक के अंग स्वरूप ही प्रस्तुत करता है जिससे उसे ऐसा करने में कलात्मकता की अपेक्षाकृत अधिक आवश्यकता पड़ती है। ऐसी स्थिति में उसे इस बात की विशेष सतर्कता बरतनी पड़ती है कि प्रासंगिक कथानक से किसी भी प्रकार कथानक की संगति में व्यवधान न आये। देश-काल एवं वातावरण के चित्रण के लिए लघु उपन्यासों में विशेष अवकाश नहीं रहता। लेखक प्रमुख रूप से उन्हीं "खण्ड चित्रों को अपनी प्रतिभा द्वारा संकलित करता है जो लघु कथा के प्रवाह में प्रभविष्णुता पैदा करके इसे अधिक से अधिक प्रभावोत्पादकता प्रदान करें। लघु कथा प्रमुख रूप से लेखक के विषयिगत मस्तिष्क की प्रादुर्भूति होती है। परिणामस्वरूप इसमें लेखक के चिन्तन का पात्र विशेष के साथ तादात्म्य होता है।" इस तादात्म्य की स्थिति में उसकी सम्वेदना तीव्र भावात्मक एवं प्रभावोत्पादक होती है और वह सामग्री के रूप में इनको अपना उपजीव्य बनाते हुए कथा के सोद्देश्य अन्त की ओर द्रुतगति से अग्रसर होता है। लघु-उपन्यास का चित्रफलक संकुचित होता है। इसमें जीवन की व्यापकता नहीं अपितु उसका खण्ड चित्र समाहित रहता

१. E. K. Bennet—German Novelle P. 1

है। अतएव लेखक को 'संग्रह एवं त्याग' की मनोवृत्ति के आधार पर इसे सुनिश्चित स्वरूप प्रदान करना पड़ता है। इस प्रकार के उपन्यासों में उसके चिन्तन का विश्लेषण नहीं अपितु उसके सारभूत अंश का संश्लेषण प्रस्तुत होता है। इस संश्लेषणात्मक प्रवृत्ति के विकास में कलाकार की अन्तर्दृष्टि एवं उसके रचना-विधान या कौशल विशेष रूप से सहायक होता है।

लघु-उपन्यास लेखक के विषयगत स्वरूप की सार्थक कलात्मक अभिव्यक्ति का परिचायक है। कथा के प्रवाह एवं निश्चित कलात्मक स्वरूप में लेखक की आत्माभिव्यक्ति और गहनतम अनुभूति आवश्यक रूप से प्रस्तुत रहती है। अतएव इसकी पूर्णता एवं सुव्यवस्था के लिये लेखक अपने जीवन के घात-प्रतिघात, विद्रूपता-विषमता, हास-उल्लास तथा स्वात्मानुभूत अंश की प्रेरणा को ही विशेष महत्त्व प्रदान करता है। 'गेटे' का 'सारोज़ आफ वर्थर' एवं 'बेंजामिन', 'कान्स्टेण्ट' के 'एडोल्फ' नामक लघु-कथाएँ इसी सत्य की परिचायक हैं। इससे सिद्ध होता है कि लघु-कथाकार अपने यथार्थ जीवन की प्रभावोत्पादक अनुभूति को ही लघु-उपन्यास का 'मेरुदण्ड' मानता है। 'जीवन' की यही विशिष्ट प्रेरणा लघु-उपन्यास में एक ही प्रकार के चिन्तन को सघनता प्रदान करके कथानक को एकात्मकता को सम्भव बनाती है। लेखक का ध्यान प्रमुख रूप से अपनी तीव्रतम अनुभूति को ही सँवारने एवं कलात्मक स्वरूप प्रदान करने के लिये उत्सुक रहता है। परिणाम स्वरूप वह अनावश्यक विस्तार एवं लम्बे स्वगत कथनों से मुक्त रहता है। वह कम से कम पात्रों एवं उनसे सम्बद्ध घटनाओं के आधार पर कथानक की एकात्मकता पर दृष्टिपात करते हुए इसका नियोजन करता है। अतएव इसमें प्रमुख पात्र एवं प्रमुख भाव का प्रतिपादन प्रभावोत्पादक ढंग से किया जाता है। लेखक इस प्रकार के उपन्यास में नायक अथवा नायिका के जीवन के खण्ड चित्रों को अपनी अनुभूति-प्रवणता के आधार पर प्रस्तुत करता है। वह अन्य पात्रों का उसी सीमा तक उपयोग करता है जिस सीमा तक वे प्रधान पात्र से सम्बन्धित विचारों के विकास, प्रसार एवं कलात्मक अभिव्यक्ति के लिये आवश्यक होते हैं। इस प्रकार गौण पात्रों के जीवन से भी वह मात्र महत्त्वपूर्ण घटनाओं के संग्रह के लिये स्वतन्त्र है। इस दृष्टि से चरित्र-चित्रण के लिये कम-से-कम स्थान होते हुए भी लघु-उपन्यासों में जो चरित्र आते हैं उनकी एक विशिष्टता होती है और उस विशिष्टता का एक विशिष्ट मानदण्ड होता है। इसमें लेखक की नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा को खुलकर अपना चमत्कार दिखलाने की स्वतन्त्रता रहती है। इसी कारण लेखक पाठक पर भी इच्छित प्रभाव डालकर उसे मंत्रमुग्ध बनाये रखता है।

लघु-उपन्यास घटनाओं से सम्बद्ध होता है, कार्य से नहीं। वह एक ही घटना को लेकर अपने कथा के प्रवाह में इसी घटना का पात्रों या पात्र विशेष पर प्रभाव चित्रित करता है। एक ही घटना के चतुर्दिक चिन्तन के कलात्मक प्रसार के कारण यह घटना

कभी कभी संयोग (चांस) के सदृश ज्ञात होने लगती है। लघु-उपन्यास अपने कौशल के आधार पर इस बात को सिद्ध करता है कि सामान्य दृष्टि से जो अप्रत्याशित ज्ञात हो रहा है वही यथार्थ में नायक के भाग्य का निर्णायक है। कभी-कभी लघु-उपन्यासकार जिस दृष्टिकोण को अपना कर चलता है, वह अबौद्धिक होता है। उसे अपने पाठकों को इस बात का विश्वास दिलाना पड़ता है कि ये घटनाएँ यथार्थ विश्व की घटनाएँ हैं। लघु-उपन्यासकार जीवन के प्रभावोत्पादक अंश को ही इसकी सीमा में बांधता है। विषयवस्तु के इस अंश को उसे मूर्तस्वरूप प्रदान करने में सतर्कता बरतनी पड़ती है। कभी-कभी उसे अपने इस प्रयत्न की सार्थकता के लिये आन्तरिक प्रतीकवाद (Inner-Symbolism) का आश्रय भी ग्रहण करना पड़ता है। 'घटना' एवं घटना के पात्रों पर पड़े हुए प्रभाव के चित्रण के द्वारा लेखक कुछ सीमा तक समाज की अन्तर्निहित एवं अज्ञात विद्रूपताओं को सूक्ष्मता से अनावृत करने में सफल होता है। घटना ही वह माध्यम है जिसके आधार पर कलाकार व्यक्तिविशेष के गुणों एवं अवगुणों को सफलता पूर्वक चित्रित करता है। इस प्रकार सुसंस्कृत समाज के विभिन्न अज्ञात स्थल अनायास ही अनावृत हो उठते हैं। यथार्थ में लघु-उपन्यासकार अपने जीवन के स्वप्न विशेष, आकांक्षा विशेष एवं अभिलाषा विशेष के प्रणयन, परीक्षण अथवा सम्मूर्तन के लिये इस विधा विशेष को अपनाता है।

लघु-उपन्यासकार रचना-विधान के प्रयोग की दृष्टि से पूर्ण स्वतन्त्र है। वह अपने इच्छानुसार कोई भी रूप अपना सकता है। यूरोप में इस श्रेणी के लेखकों ने परम्परा-दर्शमयी, आत्मविषयक, स्वच्छन्दतावादी, तर्क-प्रधान, नाटकीय तथा व्याख्यात्मक, यथार्थवादी, दार्शनिक, दुःखान्त एवं मनोवैज्ञानिक आदर्शों पर अपने लघु-कथा-लेखन का प्रयोग किया है। भारतवर्ष में भी लघु-कथा-लेखन प्रगति पर है और इसकी कतिपय विशिष्टताएँ आज स्पष्ट हो चली हैं और इसको व्यापक मान्यता भी मिल रही है।

लघुकथा जीवन की आवश्यक पुकार का प्रतिफलन है। आज मानव-जीवन इतना विषम और उलझनपूर्ण हो गया है कि लेखक के लिये उसकी सम्पूर्ण समग्रता को चित्रित करना एक दुष्कर कार्य हो गया है। अतएव भाव-प्रवण कलाकार ने जीवन के खण्ड चित्र को लेकर इसी के माध्यम से अपनी अनुभूतियों को व्यक्त करना आरम्भ किया है। फिर भी उसमें उसने ऐसी प्राण-प्रतिष्ठा की है कि यह अपनी उपयोगिता के कारण मानव के गले का हार बन गया है। इसके द्वारा संश्लिष्ट चित्रों की अवतारणा (विविध) आज स्वयं इसकी सार्थकता का जयघोष कर रही है। कथा-साहित्य की यह विधा विषय व्याप्ति की दृष्टि से यदि एक ओर उपन्यास के निकट है तो दूसरी ओर यह अपनी क्षिप्रगतिमत्ता एवं प्रभावोत्पादकता की दृष्टि से आधुनिक कहानी के।

वर्तमान समाज की जिन आवश्यकताओं को लेकर आधुनिक कहानी-साहित्य का उदय हुआ था और वह उत्तरोत्तर बढ़ते हुए कलात्मक रूप के कारण जब उनके अनुरूप अपने को सिद्ध नहीं कर सका तो उपन्यासों के गर्भ से ही लघु-उपन्यासों का जन्म हुआ। कथा-साहित्य का यह रूप उपन्यास और कहानी-साहित्य के सद्गुणों का समन्वित प्रभाव है। हिन्दी के लेखक और पाठक इधर विशेष रूप से आकर्षित हुए हैं। साहित्य की इस नई विधा का भविष्य सुन्दर जान पड़ता है क्योंकि आधुनिक व्यस्त समाज को एक ऐसे साहित्य-रूप की आवश्यकता थी जो कम से कम समय में अधिक से अधिक प्रभावों की सृष्टि उसके लिए कर सके। इसके लघु कलेवर को देखकर जो कुछ लोग यह कहते हुए नाक-भौं सिकोड़ते हुए मिलते हैं कि इसमें मानव-जीवन की सुनिश्चित व्यापक व्याख्या को स्थान न मिलकर उसके एक खण्ड का ही उल्लेख हो पाता है। ऐसे लोगों से मेरा विनम्र निवेदन है कि वे युग की वर्तमान अभिरुचि की ओर यदि जरा भी ध्यान दें तो उन्हें ऐसी शिकायत न रह जायगी। हिन्दी के जाने माने उपन्यासकारों ने कुछ दिनों पहले ही इस साहित्य रूप की आवश्यकता का अनुभव कर लिया था। जैनेन्द्रकुमार के 'त्यागपत्र' ऐसे उपन्यासों में हम लघु-उपन्यासों के रूप देख सकते हैं। धर्मवीर भारती का 'सूरज का सातवां घोड़ा', गिरधर गोपाल का 'चांदनी के खण्डहर', प्रभाकर माचवे का 'परन्तु', भगवतीचरण वर्मा कृत 'वह फिर नहीं आई', अज्ञेय कृत 'अपने अपने अजनबी', उदयशंकर भट्ट कृत 'दो अध्याय' तथा आचार्य जगदीशचन्द्र मिश्र के लघु उपन्यासों के रूप में इस कथा-रूप का स्वस्थ विकास हो रहा है जिनमें आचार्य जगदीशचन्द्र मिश्र के लघु उपन्यासों को देखकर तो इसके भविष्य के सम्बन्ध में बड़ी-बड़ी आशाएँ हो चली हैं।

दो अध्याय

यह उदयशंकर भट्ट का लघु उपन्यास है जिसका विवेच्य साहित्य में बीसवीं शती के आरम्भ से विशेष चर्चा का विषय रहा है। समाज में एक ऐसा भी अंग रहा है जो किसी न किसी रूप में, सबके समक्ष आत्मोद्धार रूप अंचल फैलाता है और उत्तर में धूल-राख के अतिरिक्त उसे कोई प्रतिदान नहीं मिलता। सर्वप्रथम इसकी दारुण वेदना की अनुभूति हिन्दी में मुंशी प्रेमचन्द की लेखनी में जगी थी। तत्पश्चात् भगवतीचरण वर्मा, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, एवं राहुल सांकृत्यायन जैसे मूर्धन्य साहित्यकारों ने उद्गार अभिव्यक्त किए। इन साहित्यकारों की कोई ऐसी व्यवस्था सामने नहीं आ सकी कि जिसे समस्या का स्थायी हल कहा जा सके, 'दो अध्याय' इसी प्रकार के प्रयत्न की अगली कड़ी, जो सचेष्ट तो है ही बहुतांश में सफल भी है। आधुनिक युग मध्यवर्गीय मृगतृष्णा की असफल चेष्टाओं और मसोसों का है। अपने संस्कारगत अहंकार का शिकार यह वर्ग निम्न वर्ग में अपने को खपा नहीं पाता है और उच्चवर्गीय सम्पन्नता

के अभाव में उच्चस्तरीय जीवन की आवश्यकताओं की सम्पूर्ति नहीं कर पाता। उसकी अवस्था कुछ वैसी हो है कि "जो चाहता है उसे गलत रूप में चाहता है, जो पाता है उसे चाहता नहीं।" अतृप्ति की यह अग्नि बुद्धिजीवि-वर्ग के लिए और भी संहारात्मक हो उठी है। खास तौर से साहित्यिक वर्ग तो अत्यन्त उपेक्षित हो गया है। असमर्थ साहित्यकार के बौने हाथों को कुचलने में कोई झिझक नहीं पैदा होती और यदि इन उपेक्षितों के प्रति सद्भावना की भेंट चढ़ाते भी हैं तो उनमें चारित्रिक कमजोरी की आवाज बुलन्द की जाती है। इसी द्विधापूर्ण जीवन का निष्पक्ष विवेचन "दो अध्याय" के दोनों अध्याय में किया गया है। साहित्यकार व्यर्थ की प्रतिष्ठा का बोझ उठाए भूखों मरने और सौन्दर्य वासना का सहचर बनने को विवश है। पहला प्रतिष्ठित बन कर जो नहीं सकता, दूसरा वासना से दामन बचा कर टिक नहीं सकता।

शारदा नाम की रूपवती लड़की के लघुवृत्त को लेकर उपन्यास की काया खड़ी की गयी है। उसमें रूप, गुण, विवेक है, परिस्थितियों से जूझने की शक्ति भी है पर सब कुछ होते हुए भी उसे अपेक्षित सम्मान पाने का अधिकार नहीं है क्योंकि जातीयता की सर्टिफिकेट उसके पास नहीं है। वह एक सर्वगुणसम्पन्न वेश्या की लड़की है, उसकी प्रखर मेधा विद्या गुरु की कृपा अनायास हो पा लेती है, प्यार की पगडंडी पर पाँव बढ़ाने वाले दो एक सहचर भी मिलते हैं, पर वे हो जो उसकी मातृपक्षगत कमजोरी से परिचित हैं जिनका सहयोग केवल उसे लाछित एवं प्रताड़ित कर अस्पताल में मरने के लिए छोड़ देने भर को ही मिल पाता है उसका सम्पूर्ण अहं समाज की लाछना का ही पात्र है, मानवीय भावनाओं के पोषण का यह अभिशाप है।

लेखक ने आत्मकथा के रूप में इस चरित्र से निकट परिचय का अवसर दिया है। उसके खास नौकर या संरक्षक पंचू की जबानी उसकी कहानी कह कर वह अपनी ओर से "कुछ नहीं जोड़ा" की स्पष्ट ध्वनि अभिव्यंजित कर देता है। यहाँ वह एक परिवेक्षक रूपमें उपस्थित होता है, जहाँ कहीं कथा की गति अवरुद्ध होती दीख पड़ती है, सहायता का एक हाथ लगाकर वह उसकी गति संचालित कर पुनः उसकी गतिविधि का निरीक्षण करने लग जाता है। उसका आन्तरिक नैकट्य यद्यपि चरित्र के प्रति भयानक रूप से सहिष्णु है फिर भी सामाजिक प्रतिबन्धों के प्रति सजग बुद्धि प्रकट रूप में उसे एक शुभचिंतक से अधिक नहीं बनने देती। अपने दायित्व को लेखक ने बड़ी पटुता से निभाया है, किये के प्रति कृतज्ञता प्रकाश की आकांक्षा उसमें नहीं है, वह तो इतने में ही प्रसन्न है कि समाज की विशाल प्रतिभाएँ, जिस किसी रूप में सही, कर्मरत तो हैं आत्महत्या तो नहीं करतीं। निराश और निश्चेष्ट प्रतिभाओं की ज्वाला उनसे अधिक समाज का संहार करती है, लेखक ने उन्हें सुव्यवस्थित रूप में कार्य करने की अक्षुण्ण लगन प्रदान की, उन्हें किसी अनाथालय या चिकित्सालय की शरण नहीं लेनी पड़ी। आधुनिक जीवन में व्यष्टि की समष्टि की स्पर्धा में क्या यह साधारण विजय है?

शारदा के जीवन में प्रेम के कई प्रपंची आते हैं। पंचू के शब्दों में 'लड़की है न अनाथ।' सो हर किसी की हिम्मत हो जाती है, चाहे अविनाश हो, चाहे सुखदेव, चाहे अन्य कोई सबसे प्रेम का पचड़ा सुनते-सुनते उसे अपना बजड़ा ही डुबो देना पड़ता है। दूसरी ओर लेखक (साहित्यकार) है जो भूख से परेशान है उसे सर्वत्र अन्न की फिक्र है, चाहे सम्पादक का पद हो, चाहे लेखक की आत्मनिष्ठता या फिर चाहे किसी स्नेही मित्र का सादर आमन्त्रण ही क्यों न हो, यह बुद्धिजीवी पेट की व्यवस्था नहीं कर पाता। मानव-जीवन की इन दो महान समस्याओं का साक्षात्कार इस उपन्यास में होता है। दोनों मानव की मानवता को चुनौती देती हैं। मानव रह कर इनकी सम्पूर्ति कर पाना कोई साधारण शौर्य नहीं। रामलाल जैसे बाल-बच्चोंवाली पत्नी से यदि पेट ऐंठते बच्चों की असह्य पीड़ा जब मरने को विवश कर देती है तो भूख का यह पर्यवेक्षक मुँह बाए देखता ही रह जाता है। -

दूसरी ओर है शारदा का प्रेम-नाट्यपूर्ण जीवन। उसकी भी छीछालेदर क्या कम होती है। उसके उत्स की ओर यदि देखिये तो व्यक्ति निर्दोष हो प्रमाणित होगा। रामधन जैसे क्रूर बूढ़े से ब्याही गई शारदा की माँ कमला पति की निराधार शंकाओं एवं यातनाओं से बाध्य होकर हीरा बाई बनती है। पर हीराबाई भी कहाँ बनी रह पाती है, वासना के कुत्ते उसे भी नोच खाते हैं। रामधन चेतता है, गलतियों पर पश्चात्ताप भी करता है, पर अवसर निकल जाने पर सब कुछ व्यर्थ होता है, केवल रामधन और कमला का ही नहीं उसकी संतान भोली-भाली बच्ची शारदा का भी। शारदा की शिक्षा-दीक्षा एवं शानोशौकत उसकी माँ की ही जायज या नाजायज कमाई का धन है। यह समाज का पाप-संग्रह बेटी के पुण्य भविष्य के लिए किया गया था पर उसका भी जीवन पुण्यमय कहाँ हो पाता है। कलकत्ते भाग जाने पर भी तारक जैसे प्रतिभावान व्यक्ति का प्यार पा लेने पर भी जन्मस्रोत के खुलते ही उसकी अवस्था पुनः वैसी होती है जैसी त्रिभुवन, सुखदेव आदि ने अन्यत्र की थी। अन्त में पूज्य गुरु की स्नेह-छाया किसी तरह उसकी प्राणरक्षा कर पाती है। गुरु ने उसकी सारी शक्ति अध्ययन की ओर प्रवर्तित कर दी। यही नहीं, अन्तिम साँसों में उन्होंने अपनी सम्पूर्ण ग्रंथ राशि उसे सौंप दी! महान् उत्तरदायित्व में दब कर वासना का कर्दम-कीट स्वयं मर गया। फलतः जिस मृग-मरीचिका के पीछे दौड़ती हुई शारदा की जीवन-लीला ही समाप्त हो जाना चाहती थी उसका प्रत्यक्ष स्वरूप 'तारक' अब उसका अध्ययन सह-चर बन गया था। दो महान प्रतिभाएँ एक दूसरे की ओर न खिंच कर मानव-कल्याण के ज्ञानलोक के उद्रेक की ओर अग्रसर हो गयीं।

इस प्रकार परिस्थितिजन्य परवशता के आलोक में शारदा और उसके सम्पर्क में आनेवाले समाज की प्रबलता एवं दुर्बलता का चित्रण तो इस उपन्यास में हुआ ही है साथ ही प्राचीन समस्या का नवीन समाधान एवं कथाशिल्प का अभिनव समाधान देने में

उपन्यासकार सफल हुआ है। नारीगत समस्याओं का काल्पनिक समाधान तो हिन्दी उपन्यासों में भरा पड़ा है, अपने अन्य उपन्यासों में स्वयं भट्ट जी ने प्रताडित, उपेक्षित एवं पथभ्रष्ट नारियों के प्रति पाठकों की सहानुभूति जगाते हुए उन्हें मेडिकल डाक्टर अथवा नर्स के रूप में परिवर्तित कर उनकी समस्या का हल निकाला है, परन्तु 'वा अध्याय' की शारदा जिस प्रकार अपनी वेदना, उपेक्षा, एवं शारीरिक भूख की परितृप्ति का समाधान प्रथा के माध्यम से पा लेती है वह वर्तमान समाज के लिए अनुकरणीय है। शिक्षित नारियों के कुमारी रह जाने अथवा उनके अनुकूल पति के न मिलने की जो समस्या आधुनिक भारतीय समाज में वर्तमान है उसका उचित हल उपस्थित करने का स्वस्थ प्रयास इस उपन्यास में दिखाई पड़ता है।

अपने-अपने अजनबी

'अज्ञेय' जी का यह उपन्यास 'योके और सेल्मा', 'सेल्मा' और 'योके' नाम से तीन खण्डों में विभक्त है और प्रत्येक खण्ड का निर्माण दो पात्रों को लेकर ही हुआ है। प्रथम खण्ड में 'योके और सेल्मा', द्वितीय खण्ड में 'सेल्मा और यान' तथा तृतीय खण्ड में 'योके और जगन्नाथन्' ही मुख्य रूप से कथा को आगे बढ़ाते हैं। द्वितीय खण्ड में फोटोग्राफर भी यान के साथ कथा में अपना योगदान करता है पर वह शीघ्र ही दृश्य से ओझल हो जाता है। उसी प्रकार तृतीय खण्ड में भी पनी की दूकान में आने-जाते जर्मन लोग और मृत योके ने शरीर को घेरकर खड़े होनेवाले लोगों की कमी नहीं पर जगन्नाथन् ही मुख्य रूप से योके से मिलकर खण्ड की परिसमाप्ति में योगदान देता है। केवल 'योके' ही इस उपन्यास में इस ढंग से उपस्थित की गई है कि वह सभी पात्रों एवं खण्डों के सम्पर्क में आकर बिखरे विवरणों में एकसूत्रता प्रदान करती हुई एक विशेष वातावरण का सृष्टि करती है जिसमें वर्णित घटनाएं पाठकों के लिये सुलभ हो पाई हैं। प्रथम खण्ड के कुछ पृष्ठों को यदि छोड़ दिया जाय तो वे आत्म-कथात्मक शैली में लिखे 'योके' के दैनन्दिन संस्मरण ही जान पड़ते हैं जिन्हें उसने व्यवधान के साथ दिनांक-क्रम से डायरी के पन्नों पर लिख रखा है।

उपन्यास के नाम पर पाठक यदि कथा की अपेक्षा रखता है तो उसे इस उपन्यास से निराश हो जाना पड़ेगा क्योंकि इसमें कुछ विशेष घटनाओं को ही आधार बनाकर एक जीवन्त वातावरण के अस्तित्व में मानव-जीवन के एक विशिष्ट दार्शनिक पक्ष का ही चित्रण हुआ है। प्रथम खण्ड में, बर्फ की मोटी पर्त के नीचे दबे एक मकान और उसमें बन्द दो महिलाओं—जो परस्पर अजनबी हैं—की चर्चा की गई है जिनकी आँखों के सामने मृत्यु का अस्पष्ट संकेत दिखाई पड़ रहा है। पुलपर स्थित दूकानें जो तीन स्त्रियों तक सीमित रह गई हैं, भयंकर बाढ़ के प्रकोप में अस्थिर पुल के साथ अस्तित्व के लिये संघर्ष करती हुई द्वितीय खण्ड की कथा का निर्माण करती हैं। इन

प्रकार साहसिक जीवन प्रकृति की भयावह संहारक शक्ति के साथ किस प्रकार संघर्ष कर रहा है, अत्यन्त विश्वसनीय ढंग से इस उपन्यास मे चित्रित हुआ है। बर्फीली जिन्दगी का तो इतना सजीव चित्र प्रस्तुत करने में उपन्यासकार सफल हुआ है कि यदि वह उसका अनुभूत ज्ञान नहो है तो उसकी कल्पना शक्ति की दाद देनी ही पडेगी।

उपन्यास का प्रत्येक प्रमुख पात्र जीवन के लिये संघर्ष कर रहा है चाहे वह मरने के लिये तैयार 'सेल्मा' हो, बाढ़ के आवर्त में घिरा यान अथवा पेचिश से तपडता फोटोग्राफर हो अथवा विवश वेश्या जीवन व्यतीत करने वाली 'योके' हो। जीवन का मोह कितना कठोर होता है कि वह स्व के हित मे पर के विनाश की करुणा भी भूल जाता है। फोटोग्राफर की जल-समाधि और उसके दूकान का जलती हुई अग्निशिखा 'यान' को इसलिए करुणार्द्र न बना सकी कि उसे गोश्त पकाने की असम्भावित सुविधा तत्काल मिल गई थी। हर डूबनेवाला अपनी रक्षा के निमित्त पास खडे निरापद साथी को डुबाने मे संकोच नहीं करता। यही इस उपन्यास की मुख्य स्थापना है जिसे 'यान' और फोटोग्राफर तथा सेल्मा के परस्पर सम्बन्धो की चर्चा कर के उपन्यासकार ने सफलतापूर्वक स्पष्ट किया है।

हम देखते हैं कि समाज मे सभी अच्छे लोग हो नहीं रहते और जिन्हें हम अपना कहते हैं वे अजनबी का-सा व्यवहार कर बैठते हैं और जो अजनबी हैं वे समय पर अपनी मानवता का अमिट परिचय दे जाते हैं। 'सेल्मा' के लिये 'योके' अजनबी थी और सेल्मा, योके के लिये, पर दोनो के सम्बन्धो में मानवता का पूर्ण परिचय मिलता है। 'पाल' 'योके' का अपना हो गया था पर उसने विश्वासघात किया जब कि अजनबी जगन्नाथन् ने उसकी अन्तिम इच्छा अपने मानवतावादी व्यवहारो से पूर्ण की।

सम्पूर्ण उपन्यास अमूल्य सूत्रों से भरा हुआ है और ऐसे पाठक जिन्हे मानवजीवन के मार्मिक तत्वों का ज्ञान अथवा अनुभव नहीं है, वे कभी भी इस उपन्यास की न तो आत्मा तक पहुँच सकते हैं और न तो उनके लिए यह सुपाठ्य ही है। औपन्यासिक अश्लीलता का तो इस उपन्यास में नाम ही नहीं है जो 'अज्ञेय' जी के अन्य उपन्यासो की प्रमुख विशेषता रही है। भले ही कृतिकार के महत्व से अपरिचित पाठक इस उपन्यास को न पढ़ सकें पर निस्सन्देह ऐसे पाठको का यह जबर्दस्त उत्तर है जो उपन्यासो को हल्का-फुल्का साहित्य मानते रहे हैं।

भविष्य में भी यदि इस परम्परा को 'अज्ञेयजी' विकसित कर सके तो उपन्यास-साहित्य को एक स्वस्थ दिशा मिल जायगी। उपन्यास की कथा-भूमि भारत नहीं यूरोप है जिससे भारतीय जीवन की झाँकी न दी जा सकी है, इससे भारतीय उपन्यास साहित्य कितना समृद्ध होगा, यह विचारणीय प्रश्न है।

और वह हार गई

आचार्य जगदीशचन्द्र मिश्र का यह लघु-उपन्यास उनके 'इन्दिरा' नामक मनोवैज्ञानिक उपन्यास के बाद प्रकाश में आया। यह उपन्यास अपनी आकार-लघुता में बड़ा ही सुन्दर बन पड़ा है। वेश्या-जीवन, छूआ-छूत, आदि अनेक सामाजिक समस्याओं पर आधारित सभी दृष्टियों से यह एक सफल सामाजिक उपन्यास है। जाह्नवी के तीरपर स्थित मृग आश्रम और काशी नगरी को घेरकर उपन्यास की सारी कथा चली है जिसकी नायिका 'शारदा' जन्म से ही माँ द्वारा परित्यक्ता शूद्र बाला थी जिसे आश्रम के पीठाधीश पं० सदानन्द ने पुत्री बनाकर पाला था। आश्रम का बड़ा ही सजीव चित्रण इस उपन्यास में हुआ है। नायिका का अन्त उपन्यासकार ने बड़े ही मनोवैज्ञानिक ढंग से किया है। उपन्यास की शैली अत्यन्त आकर्षक है। इसके औपन्यासिकता की जितनी ही प्रशंसा की जाय थोड़ी है।

हाथी के दाँत

आचार्य जगदीशचन्द्र मिश्र का यह एक सामाजिक लघु उपन्यास है जो जया नामक एक पितृहीन बालिका की संस्मरणात्मक जीवनी के रूप में लिखा गया है। उपन्यास की सारी कथा प्रधान नायिका जया के मुख से स्मृति के आधार पर कहलाई गई है जिससे इसे आत्मकथात्मक शैली के अन्तर्गत रखा जा सकता है। उपन्यास का शीर्षक 'हाथी के दाँत' साभिप्राय है। एक कहावत है 'हाथी के दाँत खाने के और दिखाने के और।' समाज का ठीक ऐसा ही नक्शा इस उपन्यास में खींचा गया है। समाज में आदर पाने वाले समाजसेवी, महिला सेवा-आश्रम चलाने वाले समाज-सेवा के ठेकेदार तथा धर्मगुरु महंत आदि अपने व्यक्तिगत जीवन में कितने पतित होते हैं। वे समाज को कितने धोखे में रखते हैं आदि का बड़ा सजीव चित्र इस लघु-उपन्यास में खींचा गया है। जया के रिश्ते के भाई जनक, उसकी माता, जनक के गुरु जी पर नोटों की बौछार करने वाले नगर में प्रतिष्ठित एवं प्रभावशाली व्यक्ति गजानन किस प्रकार जया के मन में शहर की चाय और टोस्ट की आदत डलवाकर उसे अपनी ओर खींच लेते हैं तथा जनक को टी० बी० सिनेटोरियम में भर्ती कराकर माँ-बेटी को अपने महल में आश्रय देकर किस प्रकार उन्होंने एक सरल बालिका जया का सतीत्व नष्ट किया आदि का बड़ा ही कारुणिक और सजीव वर्णन मिश्र जी ने किया है। गजानन ने जया की माँ को अध्यापिका बनवाकर गाँव के स्कूल पर भिजवा दिया जिससे जया के साथ अवैध सम्बन्ध स्थापित करने में उन्हें पूरी छूट मिल गई। गजानन ने दिल के दौरे का बहाना करके जया को पत्नी बनने के लिए विवश किया जिसे अन्त में उसकी माँ ने भी स्वीकार कर लिया और शहर से सिन्दूर लाकर अल्पविधि से विवाह सम्पन्न कर दिया।

गजानन ऐसे प्रतिष्ठित लोगों का विवाह केवल वासनापूर्ति के लिए होता है न कि विवाह के लिए। जनक के साथ आई मधुबाला नामक लड़की पर उसने पुनः डोरे डालने आरम्भ किए और जया को जेल का दरवाजा देखना पड़ा। उद्धार के नाम पर प्रह्लादेव ने उसे जेल से छुड़ाकर महिला सेवाश्रम में ला रखा। महिला सेवा आश्रम में जया को विद्या, सरस्वती, लक्ष्मी और सुमित्रा नामक स्त्रियाँ मिली और आवभगत करने वाले रुद्रदेव तथा अनिदेव नामक पुरुष जिन्होंने उसकी सम्मान प्रदर्शित कर सौदा आरम्भ किया। जया बम्बई में बिकने वाली ही थी कि पेड़ के सहारे दीवार फाँदकर भाग निकली। वह बदला लेने की भावना से गजानन के द्वार पर पहुँची जहाँ उसे सन्त गोपालदास मिल गए। सन्त गोपालदास की निगाह में जया गड़ गई और उनकी मीठी बातों का ऐसा प्रभाव उस पर पड़ा कि गोपाल जी के मन्दिर में शरण लेना ही उसने उचित समझा। उसकी सरलता ही उसके मार्ग में काँटे बिछाती रही। गोपाल सन्त ने जाल बिछाना प्रारम्भ किया। जया के सम्मान में उत्तरोत्तर वृद्धि होने लगी, गोपाल स्वामी का वेदान्त पर प्रवचन आरम्भ हुआ, स्वाध्याय सभा लगने लगी और इतने पर भी जया को हाथ आते न देखकर उन्होंने उसके सामने एक कागज रखा जिसमें लाखों की सम्पत्ति उसके नाम कर दी गई थी। एक कार और सजा-सजाया एक आलीशान बंगला उसे भेंट किया गया था, पर वह अडिग रही, उसने पुरुष की प्रवंचना का कुपरिणाम जो भोग लिया था। अब सन्त गोपाल स्वामी इससे अधिक सहन करने को तैयार नहीं थे और उन्होंने एक दिन निर्मला, पार्वती, और मनोरमा की सहायता से बलात्कार की ठान ली। निर्मला द्वारा मुँह में कपड़ा ठुँसवा कर उसे पटक तो दिया गया पर वह अपनी असहमति ही प्रकट करती रही जिससे सन्त जी केवल अपनी विलम्बित तोंद ही रख पाते थे। अन्त में दूध पीकर तैयार होने की बात कहकर जया ने कपट स्वीकृति दी। स्टोव जलाया गया, और कौशल पूर्वक वह उसमें सन्त गोपाल को जलाकर भाग निकली। दुर्बल नारी हिंसक पुरुषों से कहाँ-कहाँ पीछा छुड़ाता बचेगी। अन्ततोगत्वा उसे पुनः बदमाशों के बीच जेल में बन्द होना ही पड़ा जो समाज के नेकनामों से तो उसके लिए अच्छे ही साबित हुए। यह लघु-उपन्यास कुल सोलह अध्यायों में समाप्त हो गया है जिसमें कुल एक सौ सत्रह पृष्ठ हैं। बाहरी सफेदी के भीतर कितना कालापन है, एक नारी को सम्पर्क में लाकर सबकी पोल खोल दी गई है। इसमें प्रायः अधेड़ पुरुषों का आकर्षण किशोरियों और युवतियों के प्रति दिखलाया गया है। इस उपन्यास का विषयबोध और सरसता इस विषय पर लिखने वालों के लिए अनुकरणीय है।

सीमा के पार

यह लघु-उपन्यास आकार में अत्यन्त छोटा पर प्रभावोत्पादकता की दृष्टि से अत्यन्त महत्व का है। इसमें कुल ग्यारह अध्याय और छाछठ पृष्ठ हैं जिनमें छबीसों भगिन और

म्युनिम्पिल्टी के मजिस्ट्रेट लाला चन्द्रभानु के सशक्त प्रेम का चित्रण किया गया है। इस नैतिक प्रेम से उत्पन्न सामाजिक प्रतिक्रिया और फलस्वरूप चलने वाले सामाजिक संघर्षों का बडा ही सजीव वर्णन उपन्यासकार ने किया है। युगल प्रेमी वयस्क है और यदि एक विधवा है तो दूसरा विधुर। घटनाओं का संकलन इस कौशल से किया गया है कि लाला चन्द्रभानु और छबीलो एक दूसरे के निकट आते गए हैं जिनमे कही कुछ भी अस्वाभाविक नही जान पडता। चेतू कारिंदा, चतरू भंगी इसके अन्य मुख्य पात्र हैं। चेतू के कहने पर लाला चन्द्रभानु ने चतरू को बीस रुपये का दण्ड दिया था जिसमे उसने लाला के विरुद्ध जातीय संघटन किया पर छबीली ने लाला का बिरादरी के विरुद्ध जाकर साथ दिया। भंगियो ने छबीलो का इस सीमा तक बहिष्कार किया कि उसके घर का कथा का प्रसाद आदि तक भी लेना अस्वीकार कर दिया। बेटी के ब्याह मे दूल्हे के आग्रह पर लाला की चौपिय्या आई। इस प्रसंग का बडा ही मार्मिक वर्णन इस उपन्यास मे हुआ। अन्त में तंग आकर छबीली लाला के अस्तबल में रहने लगी। लाला ने एक दिन प्रेमातिरेक में कहा था 'मैं किसी से नहीं डरता।' छबीली को साहस बटोरने के लिए इतना पर्याप्त था। वह लाला का स्वप्न देखने लगी और एक रात को लाला के कमरे में घुस गई। वे उसे लेकर छत पर चले गए पर उन्हे तलाशने उनके बेटे छत तक पहुँचे। लाला को प्रतिष्ठा बचाने के लिए छिपती-छिपती छबीली को छत से नीचे गिर कर अपनी जान दे देनी पडी। इस प्रकार उपन्यास का अन्त अत्यन्त कारुणिक और प्रभावोत्पादक हुआ है। परस्पर चलने वाले संवादों और भावभंगिमाओं का चित्रण बडे ही स्वाभाविक एवं मनोवैज्ञानिक शैली में हुआ है। वयस्कों में चलने वाले अवैध सम्बन्धो की एकनिष्ठता एवं गम्भीरता का बडा ही सजीव चित्रण इस उपन्यास में हुआ है।

दुर्बल के पाँव

मिश्र जी का एक सामाजिक लघु-उपन्यास है जिसमें उन्होंने एक विधवा दीन स्त्री की परवशता और एकमात्र पुत्र महावीर के प्रति ममता की मार्मिक गहनता का चित्रण किया है। दोनों को धर्म के प्रति आस्था और धर्म-स्थानों में चलने अथवा पलने वाले अनाचारों की निस्सारता इस उपन्यास में प्रकट की गई है। सरकारी प्रबन्ध बड़े-बड़े उत्सवों एवं मेलों में किस प्रकार अपने उद्देश्य की पूर्ति नहीं कर सकते, हम भारतीय किस सीमा तक निष्करुण एवं उत्तरदायित्वहीन हो गए हैं इसे स्पष्ट करने के लिए मिश्र जी ने महावीर की माँ को चिकित्सकों के पडे हुए कैम्प मे भेजा है। यह धर्म-भीरु नारी जिस प्रकार अपने बेटे महावीर की मिन्नत पूरी करने के लिए भीड में खड़ी होकर लोगों के पाँवों तले कुचल कर पिस जाती है और कैम्प में मुर्दे की स्थिति में पडी रहती है पर डाक्टर लोग आँख घुमा कर देखते भी नहीं। यह है हमारा समाज

जिसके प्रति घृणा के भाव उत्पन्न करना उपन्यासकार का उद्देश्य है । माँ के मर जाने और जगन्नाथ के शरण में आने के बाद का जीवन महावीर का किस प्रकार चला तथा उसे किन-किन परिस्थितियों का सामना करना पड़ा, आदि का बड़ा ही मनोवैज्ञानिक वर्णन इस उपन्यास में हुआ । महावीर को जीवन में असफलता ही मिली, उसके लिए उसकी आर्थिक स्थिति, उसका स्वयं का स्वभाव तथा वर्तमान समाज की मनोवृत्ति का किस सीमा तक हाथ रहा आदि इस उपन्यास के विषय हैं । करुण वातावरण के निर्माण में मिश्र जी को कमाल हासिल है जिसकी सफल अभिव्यक्ति इस उपन्यास में हुई है । पात्रों के निर्माण में भी वे बड़े सजग रहते हैं । जगन्नाथ, निर्मल और महावीर की चरित्र-रेखाएँ इतनी उभड़ी हुई हैं कि उनपर पाठकों की आँखें बरबस टिकी रहती हैं ।

वह फिर नहीं आई

भगवती चरण वर्मा का यह लघु उपन्यास परिस्थिति जन्य दुर्घटनाओं में हुई एक नारी की करुणा पूर्ण गाथा है । रानी श्यामला भारत और पाकिस्तान के विभाजन के फलस्वरूप निःसहाय होकर भी समाज की समस्त क्रूरताओं का साहस पूर्वक आलिंगन करती है और ऐसी विषम परिस्थिति में भी अपने पति के पवित्र प्रेम की आजीवन रक्षा करती है । प्रस्तुत उपन्यास में लेखक ने चरित्र के दो पहलुओं को अलग-अलग करके प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है । प्रथम पहलू चरित्र का बाह्य रूप है और दूसरा चरित्र का आन्तरिक रूप । चरित्र का बाह्य रूप शरीर सापेक्ष है और जीवन तथा परिस्थितियों की विभीषिकाओं मे कभी-कभी शरीर गत आचरण की पवित्रता का निर्वाह असम्भव हो जाता है, पर मन की पवित्रता अथवा उच्च मनोभावों की सुरक्षा सर्वदा सम्भव है और अन्ततः व्यक्ति अथवा समाज के लिये यह सुरक्षा मंगलमय और कल्याणकारी सिद्ध होती है ।

मनकी पवित्रता के सम्मुख शरीर का उतना मूल्य नहीं है, इसी तथ्य पर लेखक ने प्रस्तुत उपन्यास में अधिक बल दिया है । मूलतः यह उपन्यास चरित्र की आन्तरिक विशेषताओं को ही प्रदर्शित करने के लिए लिखा गया है । रानी श्यामला अपने पति जीवनराम के प्रेम के निर्वाह के लिए हजार बार अपना शरीर परपुरुषों के हाथों बेचती है पर माया की छाया उसके मानसिक जगत पर, किंचित मात्र भी नहीं पड़ती । यह स्वाभाविक है कि ऐसे उपन्यास प्रायः रोचक मर्म स्पर्शी और संवेदना पूर्ण हों । वर्मा जी के अन्य उपन्यासों की तुलना में फिर भी प्रस्तुत उपन्यास को साधारण कोटि का ही कहा जा सकता है यद्यपि कुछ विद्वान इस पर अपेक्षाकृत अधिक मुग्ध हैं ।

विकास खण्ड

हिन्दी उपन्यास की वर्तमान गतिविधि

हिन्दी उपन्यास की वर्तमान गतिविधि

वर्तमान गतिविधि

आधुनिक हिन्दी साहित्य की वर्तमान गतिविधि का अवलोकन करने पर हम जिस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं उसके अनुसार कहा जा सकता है कि यह बीसवीं शती समीक्षा-साहित्य की शती है। मानव-जीवन जिन परिस्थितियों से गुजर रहा है उसमें स्वस्थ रचनात्मक साहित्य की सृष्टि की सम्भावना करना व्यर्थ है। कविता-लोक में साहित्य का विकास विश्राम-सा लेने लग गया है। नाना प्रकार के प्रयोग काव्य के क्षेत्र में हो रहे हैं और कविता आज उस सीमा तक पहुँच गई है जहाँ उसे गद्य से अलग करके देख पाना अत्यन्त कठिन हो गया है जिससे स्पष्ट हो गया है कि उसने गद्य की शक्ति के सम्मुख अपनी पराजय स्वीकार कर ली है। जहाँ तक छोटी कहानियों का प्रश्न है वे मुख्यतः बाजारू पत्रिकाओं के माध्यम से जीवित हैं किन्तु उनके लेखक या तो इतने नये हैं कि जिन्हें छपास का भूत चढ़ा हुआ है या तो वे ऐसे साहित्यकार हैं जो अर्थोपार्जन के लिए प्रकाशकों के नमूनों पर कहानियों का निर्माण कर रहे हैं। ऐसी स्थिति में कहानियों के माध्यम से श्रेष्ठ रचनात्मक साहित्य की कामना करनी निरी भूल है। कहानीकार चाह कर भी व्यापक जातीय जीवन को नहीं चित्रित कर सकता। साहित्य क्षेत्र में आज जो कुछ कार्य अच्छा या बुरा हो रहा है वह उपन्यासों के माध्यम से हो। हिन्दी में कुछ ऐसे श्रेष्ठ उपन्यासों की रचना हुई है जिससे हिन्दी साहित्य गौरवान्वित हुआ है। स्पष्ट है कि कविता आधुनिक जीवन-जगत की अभिव्यक्ति में असफल सिद्ध हो चुकी है किन्तु यह महत् कार्य उपन्यासों के माध्यम से सम्पन्न हो रहा है। एक दीर्घकाल तक अभिव्यक्ति के क्षेत्र में कविता का एकछत्र राज्य रहा, पर मानव-जीवन की विभिन्न परिस्थितियों एवं मनोदशाओं का जितना चित्रण वह इतने दिनों में कर सकी है उससे भी अधिक चित्रण हिन्दी उपन्यासों द्वारा उनके ८० वर्षों के जीवनकाल में ही हो गया है। मुंशी प्रेमचन्द के हिन्दी उपन्यास क्षेत्र में प्रविष्ट होने के पूर्व हिन्दी उपन्यास साहित्यिक रूप धारण करने का केवल प्रयास कर रहा था जिसमें केवल भाँति-भाँति के प्रयोग ही किये जा रहे थे जिससे उपन्यास साहित्य के उस आरम्भ काल को भी हिन्दी उपन्यासों के जीवन-काल से निकाल देना होगा। सन् १९१८ में सेवासदन (उर्दू में बाजारे हुस्न के नाम से सन् १९०७ में यह प्रकाशित हो चुका था) के प्रकाशन के साथ ही हिन्दी उपन्यासों में सामाजिक जीवन को महत्वपूर्ण स्थान मिलना आरम्भ हुआ और आज हम देखते हैं कि ४२ वर्षों की ही छोटी दौड़ में उसने इतने

असाधारण कार्य कर डाले हैं कि सहसा उसकी शक्ति पर विश्वास ही नहीं होता। विषय, रूप तथा विस्तार आदि सभी दृष्टियों से जितना विकास हिन्दी उपन्यासों का इतने अल्पकाल में हुआ है उतना विकास साहित्य के अन्य रूपों का उनके दीर्घ जीवन-काल में भी नहीं हो पाया है। सामाजिक विकास की गति के साथ ही साथ साहित्य का भी विकास होता है। हिन्दी उपन्यासों का उदय जिस सामाजिक परिस्थिति में हुआ उसके विकास एवं परिवर्तन की गति अपेक्षाकृत पर्याप्त तीव्र रही जिससे साहित्य की प्रगति का भी उसी गति से होना अनिवार्य-सा हो जाता है। गतिमत्ता ही युग की विशेषताओं की परिचायिका है। हिन्दी कविता अपने उदय एवं विकास काल में जिस समाज के बीच से होकर अपनी प्रगति के पथ पर बढ़ रही थी वह युग अधिक से अधिक अश्व की पीठ पर बैठ कर दौड़ रहा था, पर आज का युग धरती का आंचल छोड़ चुका है और वह मन की गति की भाँति जेट विमानों से आगे बढ़ता हुआ नक्षत्रों की परिक्रमा करने चल पड़ा है। सभी भौतिकवादी दिशाओं में प्रगति अत्यन्त तीव्र गति से हो रही है और किसी भी एक स्थिति का स्थिर रहना कठिन हो गया है जिससे मानव के ज्ञान-विज्ञान का परिवेश भी जल्दी-जल्दी आगे बढ़ता जा रहा है। ऐसी स्थिति में साहित्यकार युग की माँग को ठुकरा कर अपने को पीछे कैसे छोड़ सकता है। साहित्यकार का अनुभव-क्षेत्र भी युग की प्रगति के साथ उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा है जिसको समाहित करने की एक-मात्र शक्ति उपन्यास साहित्य ने अर्जित की है। ऐसी स्थिति में हिन्दी उपन्यास-साहित्य ने यदि हजारों वर्षों की मंजिल केवल ५० वर्षों में ही तय करके अन्य अनेक नये नक्षत्र लोकों का अनुसंधान कर लिया है तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। प्रेमचन्द और उनके समसामयिक उपन्यासकारों की रचनाओं में कुछ सामान्य विशेषताएँ थीं जिससे उनका वर्गीकरण कर पाना सम्भव हो सका था। उनके बाद के उपन्यासों को भी विभिन्न प्रवृत्तियों के रूप में परखने में सफलता मिल सकती थी पर आज उपन्यासकारों का एक विशाल समूह अनेक दिशाओं में अपनी प्रतिभा का परिचय दे रहा है जिससे प्रवृत्तियों के आधार पर उनकी व्याख्या थोड़ी कठिन है और इसलिए आवश्यक भी नहीं है क्योंकि अभी उनका स्वरूप स्थिर भी नहीं हो पाया है क्योंकि यह उपन्यास-साहित्य का विकास-काल है जिसमें उसका बहुमुखी विकास हो रहा है। यह कार्य मैं हिन्दी उपन्यास साहित्य के इतिहास-लेखक के लिये छोड़ रहा हूँ और यदि अवसर मिला तो स्वयं इसे उस रूप में पूरा करने की चेष्टा करूँगा। यहाँ मैं उन उपन्यासों का सामान्य परिचय दे देना आवश्यक नहीं समझता जिनकी चर्चा प्रस्तुत ग्रंथ की विषय-सीमा में नहीं समा पायी है।

प्रस्तुत पुस्तक में मैंने यथार्थवादी प्रवृत्ति को ही सामने रख कर हिन्दी उपन्यासों की विवेचना की है जिससे सम्पूर्ण हिन्दी उपन्यासों को समेट पाना सम्भव तो नहीं है पर यदि व्यापक दृष्टिकोण को अपनाया जाय तो कोई भी ऐसा उपन्यास नहीं होगा जिसमें

यथार्थवादी प्रवृत्ति देखने को न मिल जाय। उपन्यास साहित्य का स्वरूप ही ऐसा है कि वह अधिक दूर तक यथार्थ की उपेक्षा करके नही चल सकता। यो तो रचनाकार की कृति में सदा की कल्पना का विलास रहता ही है किन्तु उपन्यासो के अन्दर अन्य साहित्य-अंगो की अपेक्षा कल्पना का विलास कम रहता है। "कल्पना आदर्श द्वारा अनुप्राणित भी हो सकती है और उससे रहित भी। आदर्श की प्राप्ति के पीछे सदा वर्तमान-यथार्थ से आगे प्रगति करने की चेतना निहित रहती है। कल्पना के क्षेत्र में प्रगति की चेतना का होना अनिवार्य नही। कल्पना चेतना की वह स्थिति है जो किसी भी असगति को संगति में बदल देती है। जो सगति असम्भव को लेकर चलती है वह आदर्श या उसके विपरीत हो सकती है पर जो संगति असम्भव को लेकर चलती है, वह कोरी कल्पना ही रह जाती है।" जिन उपन्यासों के अन्दर कोरी कल्पना का ही विलास रहता है उन्हे हम भले ही यथार्थ के निकट न मानें, परन्तु जिनमें सम्भावित संगति को कल्पना के माध्यम से उतारा गया है उन्हे यथार्थ के निकट स्वीकार करने में किसी भी प्रकार की आपत्ति नहा होनी चाहिये। 'भेद-भाव वहाँ पैदा होता है जहाँ लेखक जीवन की संगति को छोड कर किसी अप्राप्त या अप्राप्य संगति को सामने लाता है। जिस मात्रा में वह जीवन की प्राप्त सगति से दूर जाता है, उसी मात्रा में उसकी रचना यथार्थ से दूर हट जाती है।' ऐसे बहुत से उपन्यासो को सृष्टि हो रही है जो जीवन की प्राप्त सगति के निकट हैं किन्तु उनकी चर्चा पुस्तक मे इसलिये नहीं हो पाई है कि वे किसी निश्चित प्रवृत्ति को लक्ष्य करके नही लिखे गये हैं। यदि हम ऐसे उपन्यासो की चर्चा नहीं करते तो उपन्यास-साहित्य की वर्तमान गतिविधि से पाठको को परिचित कराना अत्यन्त कठिन हो जायगा। महत्वपूर्ण उपन्यासकारो की ही कृतियो की चर्चा करके हमने वर्तमान गतिविधि का एक परिचयात्मक सग्रह प्रस्तुत किया है।

भगवतीचरण वर्मा

हिन्दी उपन्यास-साहित्य में वर्मा जी का स्थान बडे महत्व का है। सन् १९२७ ई० से लेकर आज तक वर्मा जी बराबर लिखते आ रहे है। अब तक वर्माजी के पतन, चित्रलेखा, तीन वर्ष, टेढेमेढे रास्ते, आखिरी दाँव, भूले बिसरे चित्र, वह फिर नही आई, अपने-अपने खिलौने, सामर्थ्य और सीमा तथा रेखा, उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं।

भूले-विसरे चित्र

इस उपन्यास के द्वारा वर्मा जी ने विषय और शिल्प दोनो ही दृष्टियो से हिन्दी उपन्यास-साहित्य को एक नवीन देन दी है। सामाजिक रोमास के चित्रण में वर्माजी अपना प्रतिद्वन्द्वी नही रखते इसका परिचय तो पाठको को उनके 'चित्रलेखा' उपन्यास से ही लग गया था। मैंने चित्रलेखा को भी ऐतिहासिक भूमिका मे चित्रित सामाजिक रोमास ही माना है। चन्द्रगुप्त तथा चाणक्य जैसे पात्रो तथा मौर्यकालीन भारत के वातावरण के आ जाने के कारण 'चित्रलेखा' पर कुछ-कुछ ऐतिहासिक रग तो चढ़ ही

गया है, पर भूले-बिसरे चित्र के सभी पात्र उपन्यासकार की कल्पना की उपज होते हुए भी भारत के विगत लगभग पचास वर्षों की सामाजिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियों का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करते हैं। सन् १८८५ से लेकर १९३० तक के भारतीय समाज में कैसे-कैसे परिवर्तन उपस्थित हुए इसका कलात्मक लेखा-जोखा पाठकों को 'भूले-बिसरे चित्र' मे मिल जायगा। उपन्यासकार ने किसी व्यक्ति अथवा समस्या विशेष को इस उपन्यास में चर्चा का विषय नहीं बनाया है जैसा कि उसके अन्य उपन्यासो में दिखलाई पडता है, बल्कि उसने जाति विशेष के एक परिवार विशेष को ही विषय का आधार बनाया है। सामन्ती परम्पराओ में जन्मे, पले एक ऐसे परिवार की चार पीढियों की कहानी इस उपन्यास में कही गई है, जिसने सामन्ती जीवन को टूटते, मध्यवर्ग को पनपते और अन्त में मध्यवर्गीय धारणाओ के ह्रास को आरम्भ होते देखा और युग परिवर्तनो के परिणामों को झेला। उपन्यास का आरम्भ पटवारी कुन्दनलाल के अपढ आवारा बेटे के पुत्र अर्जीनवीस मुं० शिवलाल से होता है जो अपनी चाटुकारिता एव कलम के जोर से अपने बेटे ज्वाला-प्रसाद को कानपुर जिले की घाटमपुर तहसील में नायब तहसीलदारी के पद पर मुंतखिब करवा सके। ज्वालाप्रसाद का बेटा गंगाप्रसाद डिप्टी कलक्टर होकर ज्वालाप्रसाद के जीवनकाल में ही अपनी कतिपय खानदानी बुराइयो के कारण, जो उसमें बढ गई थी, मौत को गले लगाता है। गंगाप्रसाद नौकरशाही का आखिरी चिराग था क्योंकि उसका बेटा नवलकिशोर आई० सी० यस० न होकर नमक सत्याग्रह में जेलयात्री बना तथा उसकी लडकी विद्या पति का घर छोडकर स्वावलम्बी बन जाती है। इतने सारे-के-सारे परिवर्तन ज्वालाप्रसाद के देखते देखते हुए। इस उपन्यास में एक प्रकार से नौकरीपेशे में लगे एक कायस्थ कुल की चार पीढ़ी की कहानी कही गई है जिसके साथ ही साथ उसके एक नौकर-परिवार का भी चित्रण उमड कर आ गया है। कायस्थो में नौकरानियो के साथ अवैध सम्बन्ध स्थापित कर लेना एक शान-शौकत की ही बात समझी जाती थी जिससे उसे बहुत घृणास्पद भी नहीं समझा जाता था। घसीटे मुं० शिवलाल को दारू पिलाने का कार्य करता था और उसकी पत्नी छिनकी जिसे वह दूसरी पत्नी के मरने पर ब्याह कर लाया था, मुं० शिवलाल की अन्य सेवाओं के साथ पलंग-सेवा भी करती थी जिसे घर के प्रायः सभी लोग जानते थे। छिनकी का चित्रण जिस ढग से उपन्यासकार ने किया है उसने उसे श्रद्धा की वस्तु बना दिया है। उसने शिवलाल की जितनी सेवा की उतनी उनकी पत्नी भी नहीं कर सकती थी और उसने ज्वालाप्रसाद को माँ से भी अधिक प्यार दिया जिसे ज्वाला की बहू जमुना अपनी सास ही समझती थी। मुं० शिवलाल ने भी मरते-मरते ज्वाला के सामने यदि किसी के लिये हाथ पसारा तो वह छिनकी ही थी। उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि ज्वाला, यह तुम्हारी दूसरी माँ ही है और छिनकी का अभिनय भी वैसा ही सात्विक

उस परिवार के साथ रहा। घसीटे को पहली पत्नी का लड़का भीखू ज्वालाप्रसाद और फिर गंगाप्रसाद के साथ रहा। वह अत्यन्त स्वामिभक्त नौकर था और अन्त में वह समय आने पर अपने जीवन की सारी कमाई भी ज्वालाप्रसाद को, सौंप देता है। वह नौकर नहीं बल्कि उस परिवार का ही सदस्य रहा। उसने सेवा के निमित्त अपना ब्याह ही नहीं किया जिससे घसीटे का परिवार ज्वालाप्रसाद के परिवार के साथ ही समाप्त हो गया। नवलकिशोर ने ब्याह ही नहीं किया और विद्या ने पति का घर ही त्याग दिया था। इस प्रकार से मुं० ज्वालाप्रसाद का भी परिवार एक प्रकार से समाप्त ही हो गया। इस प्रकार यदि देखा जाय तो इसमें ऐसे दो परिवारों की कहानी कही गई है जो परस्पर मिलकर एक हो गये हैं। ज्वालाप्रसाद के छोटे भाई दलाल राधेलाल का परिवार ज्वाला के परिवार को बराबर लूटने के ही चक्कर में रहा, पर नौकर घसीटे का परिवार जीवनपर्यन्त शुभचिन्तक बना रहा। सचमुच अब ऐसे स्वामिभक्त लोगों की केवल कथाएँ ही रह गई हैं और वे इस भौतिकवादी युग में इतने भूल-बिसर गये हैं कि सहसा उन पर विश्वास ही नहीं होता।

मुं० ज्वालाप्रसाद के सम्पर्क में प्रभुदयाल का परिवार भी आया था और बरजोर सिंह द्वारा मारे जाने के बाद उसकी पत्नी जयदेई का जो अनैतिक सम्बन्ध तहसीलदार ज्वालाप्रसाद के साथ चलता है वह भी बहुत कुछ मुं० शिवलाल के छिनकी जैसा ही स्वम्य है यद्यपि दोनों के सामाजिक स्तर में काफी अन्तर है। जयदेई भी गंगाप्रसाद को उसी प्रकार प्यार देती है जैसा कि छिनकी ने ज्वालाप्रसाद को दिया था। अन्तर इतना ही है कि जयदेई के लखपती बेटे लक्ष्मीचन्द ने माँ के ऊपर छिनाल होने का कलंक लगा दिया, पर भीखू ने कभी इस पर विचार तक भी न किया। परस्त्री-गमन इस परिवार को उत्तराधिकार में मिलता रहा। फलतः गंगाप्रसाद ने भी दिल्ली में जौहरी राधाकिशन की सुन्दर पत्नी संतो को अंकस्थ किया। जब तक यह परिवार मर्यादा के भीतर कामिनी और कादम्ब का उपयोग करता रहा, चलता रहा और जहाँ गंगाप्रसाद ने सीमा का अतिक्रमण कर दिया, वहीं वह टूट गया, छिन्न-भिन्न हो गया। उपन्यासकार रतिस्वातंत्र्य का पक्षपाती अवश्य है, पर एक सीमा तक ही।

इस प्रकार अधिक निकट से जानने के कारण कायस्थ परिवार के घर का पर्दा उठाकर वर्माजी ने झाँका है, जिससे उसके संस्कार, आचार-विचार, कुरीतियाँ, बनावटीपन तथा मौज-मस्ती से भरे हुए उसके जीवन का सच्चा चित्र उतर कर उपन्यास में आ गया है। सफल चरित्र-निर्माण वर्माजी की अपनी व्यक्तिगत विशेषता है, पर इस उपन्यास के परिवेश का विस्तार इतना अधिक हो गया है कि किसी चरित्र विशेष पर केन्द्रित होना उपन्यासकार के लिये सम्भव नहीं था, जिससे इस उपन्यास के द्वारा वे कोई महत्वपूर्ण चरित्र नहीं दे पाये हैं। सामन्ती वर्ग के पात्रों की अपेक्षा

सेवा-टहल करने वाले पात्रों में जीवन अधिक दिखलाई पड़ता है क्योंकि अन्य चरित्रों की अपेक्षा छिनकी और भीखू पाठकों को अधिक प्रभावित करते हैं। बरजोर सिंह के निर्माण में भी उपन्यासकार की उस कला का हमें परिचय मिल जाता है जिसका परिचय उसने हमें अपने उपन्यास 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' में दिया था। स्त्री पात्रों में छिनकी और जयदेई का निर्माण जितना स्वाभाविक हुआ है उतना संतो का नहीं, पर जिस उद्देश्य को लेकर उसका निर्माण किया गया है उसमें उपन्यासकार को सफलता मिली है। समय के साथ व्यक्ति के बदलते हुए परस्पर सम्बन्धों को प्रकट करने का ही कार्य 'भूले-बिसरे चित्र' के पात्र करते हैं। छिनकी और जयदेई का पर-पुरुष-प्रेम जिस संस्कार एवं वातावरण में हुआ था, वह अंग्रेजी सभ्यता में रँगकर संतो के रूप में बदल चुका था। दिल्ली दरबार की झाँकी लेने के पूर्व सन्तो भी छिनकी और जयदेई के ही स्वभाव की जान पड़ती है, पर पति को सम्मानित पदवी दिलाने के प्रयत्न में वह पूर्ण तितली और मक्कार औरत बन गई है।

एक प्रकार से इस उपन्यास में चरित्रों का भारी जमाव है और उनमें से सभी कुछ न कुछ अपना प्रभाव छोड़ ही जाते हैं, पर कथानक को एक जाति विशेष तक ही सीमित कर देने के कारण उपन्यास में सम्पूर्ण भारतीय जीवन नहीं आ पाया है। एक ओर जाति विषयक संकीर्णता के कारण उपन्यास की व्यापकता को जो क्षति पहुँची है, उससे अधिक उपन्यासकार दूसरी ओर उसे व्यापकता प्रदान करने में भी सफल हो सका है। लगभग पचास वर्षों के सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनैतिक भारत की झाँकी के जो दर्शन पाठकों को इस उपन्यास में मिल जाते हैं, वह केवल इसी जाति विशेष के माध्यम से ही सम्भव था क्योंकि वह पढ़ा-लिखा नौकरीपेशा में होने के कारण देश के विभिन्न स्थानों में पहुँचता है, जिससे उपन्यासकार को अवसर मिल जाता है कि वह अत्यन्त विश्वसनीय ढंग से उन स्थानों को अपनी कृति में स्थान दे। कानपुर, इलाहाबाद, जौनपुर, मिर्जापुर, दिल्ली, कलकत्ता तथा पंजाब आदि स्थानों की जो दौड़ लेखक लगा सका है, वह केवल मुं० शिवलाल के परिवार के माध्यम से ही सम्भव था। उपन्यास पाँच खण्डों में विभक्त है और एक-एक खण्ड में एक ही पूर्ण चित्र देने की चेष्टा की गई है यद्यपि वे ही पात्र वर्तमान रहते हैं, जिनसे कुछ नये आकर मिल जाते हैं। प्रथम खण्ड में मुं० शिवलाल का वंश परिचय तथा उनका प्रयत्न, दूसरे में प्रयाग के आसपास के समाज तथा पर्व पर जुटने वाले तीर्थयात्रियों के आचार-विचार, तीसरे में दिल्ली दरबार, चौथे में राष्ट्रीय आन्दोलन का वेग एवं पाँचवें में नमक सत्याग्रह और उसके दमन आदि का सजीव वर्णन किया गया है।

'भूले-बिसरे चित्र' में एक नायक का अभाव अवश्य है, पर कालिदास के 'रघुवंश' महाकाव्य की भाँति इस उपन्यास में भी एक वंश को नायकत्व प्रदान कर वर्माजी ने

इसे महाकाव्य का गौरव देना चाहा है। सामाजिक मूल्यों में परिवर्तन इतनी तेजी के साथ हो रहे हैं कि लगभग पचास वर्षों में ही और वंश के मूल व्यक्ति के जीवित रहते ही जो चित्रण वर्माजी कर सके हैं वह कालिदास के वर्ण्य काल में सम्भव नहीं था। उपन्यास का वस्तुविन्यास अत्यन्त सीधे-सादे ढंग से वंश-परम्परा के साथ विकसित होता गया है, उसमें किसी प्रकार का कलात्मक तोड़-मरोड़ नहीं है, पर नायक के क्षेत्र में एक नवीन प्रयोग इस उपन्यास में अवश्य मिल जाता है।

अपने-अपने खिलौने

वर्माजी का यह लघु-उपन्यास दिल्ली के एक विशिष्ट समाज का व्यंग्य चित्र प्रस्तुत करता है। सीमित समय, सीमित पात्र और सीमित स्थान तक ही यह उपन्यास सीमित है। जिस विशिष्ट समाज को वर्माजी ने इस उपन्यास में चर्चा का विषय बनाया है, उसके भी विविध पक्षों का चित्रण इसमें नहीं हो पाया है। उपन्यासकार के सामने केवल उसका वह पक्ष ही पड़ा है जिसका सम्बन्ध सस्ते प्रेम-व्यापारों से है। यशनगर के भूतपूर्व युवराज वीरेश्वर प्रताप सिंह सम्प्रति फ्रांस में भारत सरकार की ओर से नियुक्त, जयदेव भारती, उनकी लड़की मीना, माता ज्ञानेश्वरी तथा उसका भाई रामप्रकाश, लाला पंचमलाल, विधवा पुत्री अन्नपूर्णा बंसल तथा पुत्र अशोक आदि उपन्यास के प्रमुख पात्र हैं। कैराकोमल, पीतम कमल कोमल, शायर जख्मी, फिल्म निर्माता रामा स्वामी चिट्टियर तथा राम किशन 'शैदा' आदि पात्र उपन्यास में रंग भरने के लिए लाये गये हैं जो उपन्यासकार की सहायता विषय प्रतिपादन में करते हैं। इन पात्रों को लेकर उपन्यास की कथा दिल्ली को आधार बनाकर लखनऊ और बम्बई तक घूम आई है। 'कला भारती' जो दिल्ली के कुछ सम्पन्न लोगों के मनोविनोद की सांस्कृतिक संस्था है, उपन्यास के समस्त कथा-सूत्रों का संचालन करती है। इसी की ओट में व्यवसायी धन कमाते हैं, विलासी अपनी मनोकामना पूरी करते हैं तथा स्वच्छन्द प्रेम की प्यासी सम्भ्रान्त युवतियाँ सम्मानित ढंग से अपने उद्देश्य की पूर्ति करती हैं। उपन्यास के पात्रों का जमाव इसी कला भारती में होता है जिसमें उद्घाटन-भाषण के लिए आने में भारत गृहमन्त्री भी नहीं चूकते। दिल्ली की नकल प्रान्तों की राजधानी में भी होती है। परिणाम स्वरूप दिल्ली के मनचले लोग लखनऊ तक का धावा मारते हैं और उपन्यासकार ने अवसर का लाभ उठाकर लखनऊ की सांस्कृतिक एवं साहित्यिक गतिविधियों का भी चित्र खींचा है और सन्दर्भ में वाराणसी की चर्चा करना भी वह नहीं भूला है। बम्बई में जाकर तो आकस्मिक ढंग से घटनाप्रधान उपन्यासों की भाँति उपन्यास समाप्त ही हो गया है। इस प्रकार कथा के लघुकलेवर में उपन्यासकार ने कई महानगरों को समेटा है पर उनका उतना ही जीवन उसने लिया जितने को कि कला भारती की गतिविधियों से सम्बद्ध कर सका है।

रूप-धन-सम्पन्न युवतियों को प्रेम करने के सिवा और करना ही क्या है। वीरेश्वर प्रताप उपन्यास का एक ऐसा पात्र है जिसके आसपास युवतियाँ चक्कर काटती फिरती हैं। यदि कैरा कोमल उसकी चित्रकारिता पर मुग्ध है, विधवा अन्नपूर्णा बंसल उसके शरीर को पाना चाहती है और मीना का तो बचपन का प्रेम ही जैसे जवान होकर उसे आत्मसात् कर लेना चाहता है। इस उपन्यास की प्रत्येक नारी कम से कम दो पुरुष से तो प्रेम करती ही है। मीना और अशोक का तो एक प्रकार से व्याह ही निश्चित हो चुका है और दोनों एक दूसरे को चाहते भी हैं पर बीच में वीरेश्वर प्रताप सिंह आकर त्रिकोण प्रेम की सृष्टि कर देता है। अन्नपूर्णा बंसल कान उमेठने के बाद नाटकीय ढंग से रामप्रकाश से प्रेम करने लगी है, जो दूसरी ओर अपनी सम्पत्ति और वैभव के द्वारा वीरेश्वर प्रताप का पाया हुआ ही समझती है। कैरा कोमल विवाहिता है पर वह भी वीरेश्वर प्रताप को चाहती है। वीरेश्वर प्रताप देश-विदेश घूम चुका है, विलासी राजवंश का है अतः उसके लिये कोई परेशानी की बात नहीं है। वह यथावसर सभी नारियों के प्रति अपनी आत्मीयता व्यक्त करता है। वह खुले व्यक्तित्व का आदमी है, उसके मन में कोई ग्रन्थि नहीं है, पर वह सभी प्रेमिकाओं को आश्वासन देता रहता है, निराश नहीं करता।

फिल्म अभिनेत्री बनने के लिए मीना का निकल पड़ना, अन्नपूर्णा बंसल का साथ हो लेना, रामा स्वामी और सौदा का उन्हें लेकर मद्रास की ओर रवाना हो जाना, अशोक और रामप्रकाश का ढूँढ़ते हुए बम्बई पहुँच कर स्टेशन की हवालात जाना, ताजमहल होटल से आकर वीरेश्वर प्रताप का उन्हें छुड़ाना तथा शायर जख्मी से सूचना पाकर रेलवे जनरल मैनेजर चन्द्रा की सहायता से उनका उद्धार करके बम्बई पहुँचने की व्यवस्था करना आदि घटनाएँ इतनी तेजी से घटी कि जादू के महल की भांति पुनः उपन्यास की समाप्ति के लिए सभी पात्र बम्बई के होटल में इकट्ठे हो गए। यहाँ पहुँच कर पुनः उन्होंने वही पुराना ढर्रा पकड़ा पर वीरेश्वर प्रताप की फ्रेञ्च प्रेमिका 'लिली' ने आकर सबकी आँखें खोल दी। सभी प्रेममयी नारियों के पाँव को नीचे की धरती खिसक गई और वे पालतू बुलबुल की भाँति अपने-अपने अड्डे पर आकर बैठ गईं। मीना ने अशोक के साथ और अन्नपूर्णा बंसल ने रामप्रकाश के साथ दिल्ली लौटना स्वीकार कर लिया। सबको अपने-अपने खिलौने मिल गए और खेल खत्म हो गया।

बीच-बीच में नारियों की शृंगारप्रियता,, पूँजीपतियों की मनोवृत्ति तथा राज कर्मचारियों के तौर तरीकों को लेकर उपन्यासकार ने अच्छे खासे व्यंग्य किये हैं।

सामर्थ्य और सीमा

प्रकृति पर विजय पाने का जो विज्ञान द्वारा आज अभियान चलाया जा रहा है तथा बुद्धि शक्ति संवलित मानव, जो आज अपने को सर्वशक्तिमान समझने लगा है, कि

निस्सारता का बडा ही सजीव चित्रण इस उपन्यास मे प्रतीकात्मक ढंग से हुआ है। यह चेतन, प्रबुद्ध ज्ञानी, समर्थ और अभिमान से पूर्ण मानव कितना भोला है जिसे अपनी वास्तविक शक्ति-सीमा का ज्ञान भी नही है। ऊपर से तो यह पुष्ट दिखलाई पडता है पर वास्तव मे है यह नश्वर ही। इसकी उत्पत्ति ही विनाश के लिए होती है। इस उपन्यास को पढ कर 'प्रसाद' जी की प्रसिद्ध उक्ति का स्मरण हो उठता है। 'प्रकृति रही दुर्जेय पराजित हम सब थे भूले मद मे।' विशिष्ट चरित्रनिर्माण के क्षेत्र मे वर्मा जी को लेखकों की अगली पंक्ति मे स्थान मिला है जिसका परिचय देना वे अपनी किसी कृति में नहीं भूले हैं। प्रस्तुत उपन्यास में भी कथा की सरसता एवं उसके आकर्षण की रक्षा करते हुए उपन्यासकार ने कुछ अविस्मरणीय चरित्रों का निर्माण किया है। स्थान एवं काल की दृष्टि से उपन्यास का परिवेश अत्यन्त लघु है।

हिमालय की तराई में जंगलों के बीच सुमना पलैग स्टेशन से उपन्यास की कथा प्रारम्भ होकर उसी गाँव के आस-पास समाप्त हो गई है। हिमालय की पहाड़ियों से होकर उस तराई में रोहणी नदी बहती है जिसपर बांध बनाने की योजना यशनगर के महाराज शमशेर बहादुर ने बनवाई थी और उन्होंने बहुत से बंगलों का निर्माण करके प्रारम्भिक तैयारी भी कर ली थी कि बीच ही मे वे कालकवलित हो गये। उनकी विधवा रानी मानकुमारी और चचा मेजर नाहर सिंह तथा उनका एकमात्र पुत्र रघुराज बच रहा जिन्हें राज्य की ओर से गुजारा मिला था। इधर भारत की अपनी सरकार बनी और जमींदारी प्रथा का अन्त हो गया जिससे रोहणी नदी की योजना को उत्तर प्रदेश सरकार ने अपने हाथ में ले लिया। रानी मानकुमारी को मुआवजा मिलने पर भी कठिनाई होने लगी क्योंकि सभी बंगले और मकान सरकार ने अपने अधिकार मे कर लिए। उत्तर प्रदेश सरकार के विकास मन्त्री जोखनलाल ने रोहणी नदी योजना को कार्यान्वित करने के लिए विशेषज्ञों एवं अपने मित्रों को आमंत्रित किया और स्वयं आकर सुमना गाँव में डट गए। स्टेशन पर अतिथियों का स्वागत करने मन्त्री जी के सिक्रेटरी विश्वनाथ सिंह के आने पर स्टेशन मास्टर मिट्ठनलाल एवं चपरासी नवल सिंह ने हार्दिक स्वागत किया क्योंकि सम्भवतः विश्वनाथ सिंह ही प्रथम संभ्रान्त नागरिक थे जो उस स्टेशन तक कार से गए थे और स्टेशन मास्टर साहब को उनकी कृपा से स्टेशन के विकास की सम्भावनाएँ दिखने लगी थी। विकास मन्त्री के अनन्य मित्र एवं आर्थिक सहायक रतनचन्द मकोला, वासुदेव चिंतामणि देवलंकर विश्वविख्यात इंजीनियर, ज्ञानेश्वर राव तैलंग दैनिक पत्र 'रिपब्लिक' के सम्पादक जिनके माध्यम से मंत्री जोखनलाल ने भारत के प्रधान मन्त्री की कृपा प्राप्त की थी, शिवनन्दन शर्मा जिन्होंने प्रारम्भ में स्वतन्त्रता-संग्राम में भाग लिया था, जेल गए थे, पार्लियामेंट को भी सुशोभित किया था, पर असफल होकर अब विश्वविख्यात उपन्यासकार शेष रह गए हैं। तथा

एलबर्ट किशन मंसूर कलाकार एवं प्लानर एक साथ सुमना स्टेशन पर उतरे और शर्बत से नवल सिंह ने जिस तत्परता से उनकी आवभगत की उससे भारतीय अतिथि सत्कार का अच्छा परिचय उपन्यासकार ने दे दिया है तथा बाल्टी के शर्बत को देखकर कुछ अतिथियों की जो प्रतिक्रिया हुई उससे आधुनिक सभ्यता के आलोक में साँस लेने वाले आडम्बर-युक्त जीवन की भी अच्छी झाँकी देखने को मिल जाती है।

अतिथियों का यह काफिला बीहड़ स्थान में कार बिगड़ जाने के कारण संकट में पड़ जाता है क्योंकि एक तो रात्रि का समय, बीहड़ सुनसान जंगल दूसरे अगल-बगल से गुर्राते हुए जंगली हिंस्र पशुओं की दौड़धूप। समय से दशनगर की रानी मानकुमारी जो सुमना गाँव ही जा रही थीं, इन लोगों की सहायता करती हैं। मानकुमारी की कार से सभी लोग विश्राम स्थल तक पहुँचते हैं जहाँ पहुँचकर उपन्यास की कथा रानी मानकुमारी के आसपास चक्कर काटने लग जाती है और तबतक नहीं समाप्त होती जबतक कि उपन्यास के सभी पात्र उपन्यासकार के कल्पित जलप्लावन में जल-समाधि नहीं ले लेते।

यह बीसवीं शताब्दी इतिहास की ऐसी महत्वपूर्ण शताब्दी है जिसने दो युग देखा है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व और स्वातंत्र्योत्तर युग के समाज में स्पष्ट अन्तर दिखलाई पड़ता है। इस उपन्यास में दोनों पीढ़ी के पात्रों को स्थान मिला है। मेजर नाहर सिंह और रानी मानकुमारी पूर्व स्वतन्त्रता युग के पात्र हैं जो बाद की परिवर्तित परिस्थिति में अपने को ढालने का प्रयत्न कर रहे हैं। मेजर नाहर सिंह का व्यक्तित्व इतना दृढ़, मोहक एवं पूर्ण है कि उसके परिवर्तन का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठ पाता। यह पात्र उपन्यासकार की अमर रचना है जिसे भुलाया नहीं जा सकता। राजभक्ति एवं वंश-गौरव का जो दृढ व्रत इस व्यक्ति में परिलक्षित होता है वह अन्यत्र दुर्लभ है। पुत्र-कलत्र की हानि की चिन्ता किए बिना वह मानकुमारी की इच्छा का दास है और अपनी अन्तिम साँस तक वह रानी की रक्षा करता रहता है। रानी मानकुमारी आधुनिक ढाँचे में ढलने का प्रयत्न करती हैं, नारीसुलभ कोमलता के दर्शन उनमें हो जाते हैं पर उनके संस्कार बीच में आ जाते हैं। मेजर नाहर सिंह का एकमात्र पुत्र रघुराज प्रतिक्रियाओं की निर्मिति है और वह अपने साथियों के साथ साम्यवादी हो गया है। शेष पात्र आधुनिक भौतिकवादी समाज का प्रतिनिधित्व करते हैं चाहे वे पूँजीपति रतनचन्द्र मरोला हो, विकास मंत्री जोखनलाल हो, पत्र सम्पादक ज्ञानेश्वर राव हो, उपन्यासकार शिवनन्दन शर्मा हो, प्लानर एलबर्ट किशन मंसूर हो अथवा मुसलमानों को संगठित करने वाले मौलाना रियाजुल हो। विख्यात इंजीनियर वासुदेव चिंतामणि देवलंकर आधुनिक युग का एक ऐसा व्यक्ति है जो पुरानी पीढ़ी के मेजर नाहर सिंह की भाँति मानसिक ग्रंथियों से

नितांत मुक्त है। यही कारण है कि अन्य लोगों की अपेक्षा नाहरसिंह ने उसे पसंद किया। मानकुमारी के एक प्रकार से नाहर सिंह संरक्षक थे और उनके संस्कार इतने प्रबल थे कि राजवंश की मर्यादा पर किसी प्रकार की आंच बर्दाश्त करना उनके लिए असम्भव था। रानी का सम्मान करने के कारण ही उनकी वाणी मौन थी, यद्यपि रानी पर डोरे डालने वालों को उनकी पारखी आंखों ने ताड़ लिया था। रानी से विवाह करने का खुला प्रस्ताव देवलंकर ने किया था न कि अन्य लोगों ने। वे सभी तो रानी के आस-पास प्रलोभनों का जाल बिछा कर उसे लूटने का प्रयत्न कर रहे थे। सबको अपनी शक्ति-सामर्थ्य का भरोसा था, वे मानसिक ग्रन्थियों के शिकार थे पर देवलंकर का खुला व्यक्तित्व नाहर सिंह ऐसे खूंख्वार व्यक्ति के लिए भी स्पृहणीय था। जाने-अनजाने रानी को आलिंगन-पाश में बांधने का सुयोग भी यदि किसी को मिला तो वह देवलंकर ही था जिसे अपनी प्रतिभा और शक्ति का कभी भी गर्व नहीं हुआ। शक्ति के सभी चमकीले पुतले प्रकृति की शक्ति से अपरिचित थे। रोहणी को बांधने का उपक्रम चल ही रहा था, उसके जलस्रोत के सूख जाने के कारणों का पता लगाया ही जा रहा था, पहाड़ के गिर जाने के कारण जो घाटी में वृहत् झील बन गई थी उससे जल निकलने की बात चल ही रही थी, आधुनिक पदवीधारी इन्जीनियर उस प्रकृत जलहृद के निर्माण को वरदानस्वरूप मान ही रहे थे और पहाड़ के कच्चे होने के कारण आकस्मिक फटन से उत्पन्न जलप्लावन की आशंका की वकालत देवलंकर कर ही रहे थे, कांग्रेसी विकास-मंत्री जोखनलाल योजना की सफलता और अपने यश-लाभ में डूब-उतरा ही रहे थे कि मानवीय शक्ति पर व्यंग्य करती हुई संग्रहीत अपार जलराशि हिमालय की छाती तोड़ कर मदनगर और उसके आसपास की भूमि को डुबाने के लिए, प्रकृतकोप के रूप में फूट निकली। मानकुमारी के जन्मोत्सव में मग्न नगर-निवासी एवं रूप की डोर से खिंचे चले आए सभी अतिथियों ने मेजर नाहर सिंह द्वारा प्रचारित भय की सूचना सुनी और प्राण लेकर भाग निकले। पर मृत्यु जीवन से तेज निकली एक भी नहीं बचा। नगर डूबा, राजवंश का अन्तिम चिराग रघुराज भागते हुए घोड़े के साथ डूबा, मवोला, जोखनराम, शिवनन्दन शर्मा, मंसूर, रियाजुल, ज्ञानेश्वर और देवलंकर सभी डूबे। कारें तृणवत् बह गईं। महल के शिखर पर चढ़े नाहर सिंह एवं मानकुमारी ने अपनी आंखों से सब कुछ देखा, जलप्लावन उतरा, रानी को प्राण बचने की आशा हुई, पर महल ढह गया। एक भी नहीं रहा केवल साक्ष्य देने के लिए खण्डहर बच रहे।

उपन्यास का यह अन्तिम अंश बड़ा ही सशक्त एवं हृदयग्राहक है। प्रलय की लघु कल्पना पाठक के मन में साकार हो उठती है। इसी प्राकृतिक शक्ति का प्रतिपादन उपन्यास का मुख्य विषय जान पड़ता है। वर्तमान सरकार जो कुछ मौलिक भूल कर रही है, उसकी ओर लेखक ने सटीक व्यंग्य किया है। अल्पसंख्यकों के प्रति की गई

तुष्टीकरण की नीति, मंत्रियों के आसपास दरबारियों का जमघट तथा शक्ति के पीछे पलने वाली पंकिल दुर्भावनाओं को उभाड़कर रखने की उपन्यास में सफल योजना की गई है।

जहाँ तक उपन्यास के विषय-औचित्य का प्रश्न है, इसे नया प्रयोग ही कहा जा सकता है। ऐतिहासिक समाज के सन्दर्भ में ऐसे जलप्लावन की कल्पना और उसमें ऐसी दुर्घटना का सन्निवेश कि एक भी व्यक्ति नहीं बच पाया आप बीती कहने के लिए, का समर्थन करना कठिन जान पड़ता है। चरित्रनिर्माण तक ही यदि उपन्यासकार सीमित रह गया होता और प्रचार की भावना से अपने को मुक्त कर सका होता तो यह उपन्यास भी 'भूले-बिसरे चित्र' की परम्परा का विकास माना जाता। स्वच्छन्द प्रेम का सजीव वातावरण सशक्त शैली में चित्रित तो हुआ पर प्रलयकरी बाढ़ की करुणा में सब कुछ डूब गया। नवीन शासन व्यवस्था के संरक्षण में पलनेवाले कतिपय सामाजिक रोगों जैसे भाडों एवं वेश्याओं को सांस्कृतिक प्रतिनिधि-मण्डल की संज्ञा देना आदि पर करारा व्यंग्य लेखक ने किया है।

रेखा

वर्मा जी का यह उपन्यास उनके प्रिय विषय नारी-सम्बन्धी स्वच्छन्द रोमांस पर आधारित है। स्त्री-पुरुष की यौन पवित्रता के सम्बन्ध में वर्मा जी की दृष्टि अत्यन्त स्वच्छन्दतावादी रही है जिसका परिचय हमें उनके 'चित्रलेखा' और 'भूले-बिसरे चित्र' जैसे उपन्यासों में मिल जाता है। वे सामाजिक बन्धनों को उस रूप में स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं जिस रूप में वे स्त्री पुरुष की शारीरिक तृप्ति का गला घोंट देते हैं। इस उपन्यास में कुछ और आगे बढ़कर उन्होंने यह कहने का दुस्साहस किया है कि शारीरिक पवित्रता के अभाव में भी मानसिक पवित्रता की रक्षा की जा सकती है। यह दृष्टिकोण उपन्यास-जगत के लिए कोई बहुत नया नहीं है। बंगला उपन्यास-लेखक शरतचन्द्र और हिन्दी के जैनेन्द्र ने अपने उपन्यासों में ऐसे प्रयोग किये हैं। परिस्थितियों के आवर्त में पड़कर यदि नारी परपुरुष के सम्मुख शारीरिक समर्पण करती है और उस समर्पण में उसकी मानसिक स्वीकृति का अभाव रहता है तो एक सीमा तक नारी के इस पतन के साथ पाठकों की सहानुभूति हो सकती है। पर जब अनायास रास्ते चलते दौड़ाकर नारी परपुरुष को अङ्कस्थ करने लग जाती है तो उसके इस पतन को मानसिक विकृति की ही संज्ञा मिलेगी। इस उपन्यास की नायिका रेखा भारद्वाज एक ऐसी ही नारी है जो अपनी भावुकता और असंतुष्ट काम वासना के कारण नारी-जीवन के घिनौने चित्र प्रस्तुत करती है, जहाँ न तो नारी नारी रह पाई है और न तो पुरुष पुरुष। सभी या तो प्रयोग-पुतले हैं अथवा मनुष्य रूप में पशु जिनसे नैतिकता कोसों दूर है। ०

प्रतिभावान रेखा भारद्वाज के दर्शन जब हमें छात्रावास में होते हैं तो उसकी सलोनी आकृति, अनिन्द्य सौंदर्य एवं भावुकता को देखकर विश्वास नहीं होता कि उसका व्यक्तित्व आगे चलकर इतना रीढहीन हो जायगा। प्रोफेसर प्रभाशंकर की विद्वत्ता, कक्षा में उनका सयमित निष्पक्ष व्यवहाररेखा को श्रद्धालु बनने के लिये विवश कर देता है। प्रभाशंकर की पारखी आँखों ने भी रेखा का मूल्यांकन शीघ्र ही कर लिया और उसे उपकृत करने मे प्रभाशंकर ने कोई कोर कसर नही रखी। उसे प्रभाशंकर की कृपा से केवल प्रथम श्रेणी ही नही मिली बल्कि उसने विश्वविद्यालय का रिकार्ड भी तोड दिया। विश्वविद्यालयों के प्रोफेसरो के प्रति उपन्यासकार की ईर्ष्या भावना यहाँ स्पष्ट रूप में दिखलाई पड जाती है। लगता है यह यह कहना चाहता है कि प्रोफेसर गण सुन्दर लडकियो को आकर्षित करने के लिए उन्हें केवल अतिरिक्त प्रोत्साहन ही नहीं देते बल्कि प्रश्नपत्र बताकर उन्हे अच्छे अंक दिलाने की व्यवस्था भी करते हैं। जैसा कि प्रभाशंकर ने रेखा के लिए किया। यह सब क्यों होता है, उपन्यासकार को इसमे तनिक भी भ्रम नही है। भावुक उमर भविष्य की चिन्ता नही करती और व्यक्ति का सर्वनाश हो जाता है। रेखा जानती है कि प्रभाशंकर की नैतिकता सन्दिग्ध है। देवकी को उसने इलाहाबाद मे रखैल के रूप में रख छोडा है जो कभी-कभी दिल्ली जाकर उनसे रुपये ऍठ ले जाती है। पर भावावेश में वह प्रभाशंकर के विवाह प्रस्ताव को अपने परिजनों की इच्छा के विरुद्ध स्वीकार कर लेती है और तिरपन वर्ष का बूढा दिल्ली विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग का अध्यक्ष प्रभाशंकर बीस वर्षीया सुन्दरी रेखा का पति बन बैठता है। अनमेल विवाह का परिणाम स्पष्ट है जिसपर हिन्दी उपन्यासो में बहुत लिखा जा चुका है, पर पूर्ववर्ती अनमेल विवाहो मे आर्थिक एवं पारिवारिक परिस्थितियो का हाथ रहता था जिससे घुटनशील वातावरण की दुखद परिस्थितियाँ ही सामने आती थी, पर यह अनमेल विवाह बिना किसी जोर-दबाव के हुआ था जिसका परिणाम सामने है। पर अजीब बात तो यह है कि रेखा का असन्तुष्ट काम जो प्रभाशंकर से कभी सन्तुष्ट हो ही नहीं सकता था, उसके मन में प्रभाशंकर के प्रति घृणा भाव नहीं उत्पन्न करता। वह अन्त तक पतिदेव को पूजती रहती है और बिना किसी मानसिक तैयारी के जब कभी अवसर मिल जाता है परपुरुष के साथ समागम करने से विरत नही होती।

रेखा के जीवन में सोमेश्वर, शिविन्द्रघोर, निरंजन, शशिकान्त, मेजर यशवंत सिंह और डॉ० योगेन्द्र मिश्र नामक छः व्यक्ति आते हैं जिनमें यशवत सिंह को छोड कर सभी तीस-बत्तीस वर्ष की आयु के हैं और सभी रेखा के अतृप्त काम को तृप्त करते हैं। सोमेश्वर का तो वह गर्भ धारण कर चुकी थी पर जब उसने यह सुना कि वह अमेरिकी युवती के वियोग में पागल हो गया है, तो पागल की सन्तान को उदर में रखना उसने उचित

न समझा और औषधि की सहायता से उससे मुक्ति पा ली। इसके अतिरिक्त डॉ योगेन्द्र मिश्र को छोड़ कर सभी युवक क्षणिक तुष्टि देकर चले जाते हैं उनमें से किसी का प्रभाव रेखा के मानसिक जगत पर स्थायी नहीं रहता। इस अनाचार के बाद वह पश्चात्ताप भी करती है, प्रभाशंकर के क्रोध का कारण भी बनती है, पुनः न करने का संकल्प भी करती है पर बार-बार फिसल जाती है। प्रभाशंकर भी अनुभव करते हैं कि इसका उत्तरदायित्व उन्हीं पर है और वे बराबर टूटने लगे। डॉ० योगेन्द्र मिश्र रेखा को लेकर ओसलो जाने ही वाले थे, पासपोर्ट आ गया था, पर मृत्यु शय्या पर पड़ी प्रभाशंकर की लाश को छोड़ कर रेखा न जा सकी और यथार्थ पर उसकी भावुकता पुनः विजयिनी हुई। अन्त तक हमारे लिए किसी निष्कर्ष पर पहुँचना कठिन हो जाता है। यह पता लगाना कठिन है कि उपन्यासकार क्या कहना चाहता है। वह भावुकता को महत्त्व देना चाहता है अथवा जीवन की यथार्थ अनिवार्यताओं को। रेखा के परपुरुष-गमन को किसी प्रकार से सामाजिक आदर नहीं मिल सकता। भावुकता भी वह थोथी और अस्वाभाविक है जो एक बकरी को वृद्ध ऊँट के साथ बाँध दे। न तो यह सम्भव है और न तो रेखा ऐसी कोई पढ़ी-लिखी लड़की वैसा कर सकती है। रेखा के चरित्र-निर्माण में मानसिक अन्तर्द्वन्द्वों को भी स्थान नहीं मिलने पाया है, उसकी भोली भावुकता अन्त तक बनी रहती है और अपने कतिपय सद्गुणों का वह अन्त तक त्याग नहीं करती। उसने प्रभा-शंकर के साथ कभी मानसिक विश्वासघात नहीं किया। उनकी रखेलियों के साथ भी उसके व्यवहार अच्छे रहे। देवकी के पुत्र रमाशंकर को उसने पुत्रवत् समझा और आखिरी दिनों में तो उसने उसे दिल्ली चले आने का निमन्त्रण भी दे दिया और स्पष्ट कह दिया कि ये भी लड़के तो प्रोफेसर साहब के ही हैं।

पति की यौन दुर्बलता का अज्ञात प्रभाव नारी पर पड़ता ही है और रेखा के पतन में भी वह सहायक हुआ है। ज्ञानवती, रत्ना चावला और शीरी नामक अन्य नारियाँ भी इस उपन्यास में आ गई हैं। जिसमें ज्ञानवती और शीरी तो अत्यन्त सरल स्वभाव की हैं पर रत्ना चावला ऐसी नारियाँ तो समाज के लिए अभिशाप हैं जो बेटी के नाम पर दामाद का उपयोग अपने लिए करना चाहती हैं। यह सब आधुनिक युग का सत्य होगा पर क्या यह सब समाज के लिए श्रेयस्कर है। रेखा को उपन्यासकार की सहानुभूति मिली है और पाठक भी उससे घृणा नहीं करता, पर ऐसे चरित्रों से समाज का कौनसा कल्याण होगा, विचारणीय है। काम की जिस शक्ति के प्रति उपन्यासकार ने आस्था व्यक्त की है, वह काम भावना आज की नई नहीं है। मानव सृष्टि के प्रारम्भ से ही वह विद्यमान है और उस पर संयम स्थापित करने के कारण ही तो मानव पशु से भिन्न समाज का निर्माण कर सका है। सभी सामाजिक बन्धन बुरे नहीं होते कि वास्तविकता एवं स्वच्छन्दता के नाम पर उनका तिरस्कार कर दिया जाय। वर्मा जी की

'रेखा' को ही केवल बूढ़ा पति नहीं मिला है, भारतीय इतिहास में तो उसकी एक लम्बी परम्परा है जिसके आधार पर सती साध्वी नारियों की कीर्ति-गाथाओं का निर्माण हुआ है। इसे एक स्वस्थ परम्परा के रूप में तो नहीं स्वीकार किया जा सकता पर सामाजिक संयम को दृढ़ता प्रदान करने के लिए साहित्य में, उसका समर्थन तो होना ही चाहिए। परिस्थितियों के आवर्त में रेखा बूढ़े प्रोफेसर से नहीं ब्याही गई थी, उसने तो सुहृदजनों की उपेक्षा करके स्वयं बूढ़ा पति चुना था, फिर इतनी उछल-कूद क्यों? अनमेल विवाह की समस्या को 'गबन' में मुं० प्रेमचन्द ने भी तो उठाया था। 'रतन' के बूढ़े वकील पति क्या उसके काम को सन्तुष्ट कर पाए थे। यदि नहीं तो क्या वह 'रेखा' की भाँति परपुरुषगमन करके भी पतिपरायणा बनी रहती है। 'रतन' भी घर से बाहर आई थी, पार्कों और होटलों की रंगत उसने भी देखी थी, रमानाथ ऐसे पुरुषों से उसका भी साबिका पड़ चुका था, पर क्या उसकी नैतिकता समाज के लिए अनुपयोगी है। वर्मा जी को प्रेमचन्द की ओर देखना चाहिए था। उपन्यास की भाषा-शैली एवं वस्तुविन्यास इतना अच्छा बन पड़ा है कि इसके विषयगत दोष छिप गए हैं। उपन्यास का अन्त बड़ा ही कारुणिक है। रेखा को भावुकता का परिणाम भोगना ही पड़ा।

प्रतापनारायण श्रीवास्तव

प्रतापनारायण जी मुख्यतः सामाजिक उपन्यासकार हैं। अपने सामाजिक उपन्यासों के लिए उन्होंने समाज की व्यापक भूमि नहीं चुनी है बल्कि समाज का जो वर्ग उनका अत्यधिक जाना-पहचाना था अथवा जिस वर्ग से उनका सीधा सम्पर्क रह चुका है, उसे ही उन्होंने अपने उपन्यासों का विषय बनाया है। अंग्रेजी सभ्यता के आलोक में पढ़े-लिखे ऊँचे ओहदेदारों के आसपास जिस प्रकार के समाज का निर्माण हुआ, प्रतापनारायण जी की दृष्टि उसी ओर विशेष रमी है। मुं० प्रेमचन्द के उपन्यासों की सामाजिक भूमि से दूर हटकर उन्होंने मिस्टर, मिसेज, ड्राइंग रूमों तथा सिनेमाघरों का ही कोना झाँका है। राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रभाव में कुछ ऐतिहासिक उपन्यास भी इन्होंने लिखे। अबतक इनके विदा, विजय, विकास, बयालीस, विसर्जन, वेकसीका मजार, विषमुखी, वेदना, विश्वास की वेदी पर, वन्दना, वंचना, विनाश के बादल, विषथगा, बन्धन विहीना और व्यावर्तन, उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं।

विदा

अपने विदा उपन्यास के द्वारा प्रतापनारायण जी को विशेष ख्याति मिली और आरम्भ में इसी एक उपन्यास द्वारा इन्हें प्रमुख उपन्यासकारों की श्रेणी में रखा जाने

लगा था। इस उपन्यास के अधिकांश पात्रों का चुनाव समाज के उच्चस्तर से किया गया है। प्रोफेसर, वकील, पदवी प्राप्त रायबहादुर, आई० सी० एस० तथा बड़ी फर्मों के मैनेजर आदि इसके पात्र हैं। जितने पात्र इसमें आए हैं सभी पश्चिमी सभ्यता से परिचित हैं। हरदू की माँ, ललतू जैसे कुछ निम्न वर्ग के पात्र भी आए हैं, पर वे मुख्य पात्रों के चरित्र को उभाड़ने के लिए ही लाए गए हैं, उनका कोई स्वतंत्र अस्तित्व नही है।

इस उपन्यास की नायिका कुमुदिनी रायबहादुर माधवचन्द्र ज्वाइंट मजिस्ट्रेट की लड़की है। उसकी शिक्षा तो केवल इन्टरमीडिएट तक ही हुई है, किन्तु अँगरेजी उपन्यास पढ़कर योरोपीय समाज के विषय मे उसने अपना ज्ञान विस्तृत कर लिया है। वह अपने को पश्चिमी उपन्यास का एक पात्र समझती है। उसका जीवन ही औपन्यासिक है और काल्पनिक पात्रों के समान वह व्यवहार भी करती है। माता की मृत्यु के बाद उसकी प्रत्येक इच्छाएँ पूरी की गई हैं इसलिए वह घोर हठीली, आत्माभिमानिनी और सेवकों के प्रति निर्दयी हो गई है। आरम्भ में वह एक जली-कटी युवती के रूप में सम्मुख आती है। उसका जितना ही सम्मान होता है उतना ही वह चिढ़ती है। बड़े बाप की बेटी होने के कारण वह सबको नाचीज ही समझती है और अपने आगे किसी को कुछ नही गिनती। बात-बात में नौकरों को जेल भिजवाने की धमकी देती है। अपनी ससुराल को वह दरिद्र बताती है। उसका दिमाग यहाँ तक बढ़ जाता है कि वह अपनी सास और पति का भी अपमान करने लगती है। किन्तु समय के थपेड़े उस प्रेम-गर्विता का सधार उजाड़ देते हैं और वास्तविकता का पता उसे तब चलता है, जब वह बहुत दिनों तक मैके रह जाती है और डॉ० सिनहा उसे पूछते तक नहा। लज्जा जैसी सुयोग्य भाभी उसका मार्ग-दर्शन करती है और जब उसे ज्ञात होता है कि उसके पिता उसका पुनर्विवाह करना चाहते हैं, तब उसको अकल ठिकाने आ जाती है। पति की चोट की खबर पाकर वह तुरन्त मसूरी पहुँचती है और लज्जा के प्रयत्न से पति-पत्नी का मिलन सम्भव होता है।

इस उपन्यास में दूसरा महत्त्वपूर्ण नारी पात्र मिस केट ट्रैंसम है जिसने भारत में आकर अपना नाम मिस सिमथ रख लिया है। इंगलैंड में मिस्टर वर्मा ने उसकी जान बचाई थी। इसलिए वह उसकी बड़ी उपकृत थी। उसने वर्मा को अपना शरीर समर्पित कर दिया। उनका विवाह हुआ और वह अपनी सर्वस्व छोड़ कर उसके साथ भारत के लिए रवाना हो गई। किंतु वर्मा के मन में कपट था। उसने एक तूफानी रात को उस बिचारी को भूमध्य सागर मे फेंक दिया। किन्तु वह प्रोर जहाज द्वारा बचा ली गई और किसी प्रकार भारत आई। उसकी इच्छा है कि वह वर्मा का फांसी पे तख्ते पर झूलता हुआ देखे, किन्तु जब वह जान डिक के साथ इलाहाबाद जाती है,

तब उसका विचार बदल जाता है। उसके मन में दो प्रकार के अन्तर्द्वन्द्व चला करते हैं, प्रतिशोध तथा क्षमा और प्रेम के। अन्त में क्षमा और प्रेम की ही विजय होती है, और वह फिर वर्मा के साथ दाम्पत्य-जीवन व्यतीत करना चाहती है। तब तक वर्मा की हत्या हो जाती है और उसकी साध अधूरी रह जाती है। अब हृदय में पुराना प्रेम इतना जोर मारता है कि वह वर्मा के शव को चूम लेती है और उसका प्रतिशोध-भाव जान डिक की ओर परिवर्तित हो जाता है। जब उसे फाँसी हो जाती है, तब उसका सारा काम समाप्त हो जाता है और वह अपने देश समाज-सेवा करने के लिए लौट जाती है।

तीसरा महत्वपूर्ण नारी-पात्र है मिस चपला। डॉ० सिनहा की ओर वह आकृष्ट हुई किन्तु उसने सर्वदा अपने को बचाने का प्रयत्न किया। केवल एक दिन उसने भावावेश में सोते हुए सिनहा का चुंबन ले लिया। इसका परिणाम हुआ इस घटना की पुनरावृत्ति जिसमें वह रँगे हाथ पकड़ भी गई। वह अपने प्रेम को अफ़लातूनी स्तर (Platonic level) तक ही रखना चाहती है, पर हाय रे नारी-हृदय की दुर्बलता! एक दिन वह उस स्तर से गिर ही जाती है। उसके हृदय में भी कर्तव्य और प्रेम का द्वन्द्व चलता रहता है। अपने को दुर्बल पाकर वह कुमुदिनी को पत्र पर पत्र देकर बुलाती है, फिर भी बिचारी का दुर्भाग्य साथ नहीं छोड़ता और कुमुदिनी के लिए वह अविश्वस्त हो ही जाती है। यदि वह चाहती तो उसकी विजय होती, मिस्टर सिनहा उससे विवाह करते और कुमुदिनी आत्माभिमान में घुलती रहती, पर कर्तव्य की वेदी पर उसने अपना स्वार्थ निछावर कर दिया और उसके मार्ग से सदा के लिए हट गई। फिर भी उसका प्रियतम उसके रोम-रोम में समाया रहा, पूज्य बन गया। उसने आमरण कुमारीत्व का व्रत ले लिया और नारी-उत्थान का ध्येय बनाकर इंगलैंड चली गई।

इस प्रकार इस उपन्यास में लेखक ने तीन नारी पात्रों की सर्जना की है। एक प्रेम-गर्विता है, दूसरी का प्रेम प्रियतम द्वारा ठुकराया जाता है और तीसरी अपनी सखी के कारण स्वयं अपने को प्रियतम से दूर हटा लेती है। मिस चपला की सृष्टि करके उपन्यासकार ने 'दुर्गेशनंदिनी' की दूसरी 'आयशा' की सृष्टि की है।

माता की दृष्टि से निर्मलचन्द्र की माता शांता का हृदय भी माता के हृदय के समान ही है। शान्ता है ही फिर महासागर जैसी शांत क्यों न हो।

पुरुष पात्रों में रायबहादुर माधवचंद्र कुछ अपने ही प्रकार के व्यक्ति हैं। निहायत आत्माभिमानी और सनकी। वे अपना ही गुण अपने बच्चों में भी देखना चाहते हैं। वे अपना विरोध कभी सहन नहीं कर सकते। जो उनकी हाँ में हाँ मिलावे वह तो ठीक, और जो विरोध करे उससे बड़ा उनका कोई शत्रु नहीं। क्रोध में वे आग-बबूला

हो जाते हैं और अपनी जिद के आगे किसी की नहीं सुनते। हितैषी और चापलूस को उन्हें पहचान नहीं। वे विदेशी सभ्यता के भक्त हैं और विदेश की सभी बातों को अच्छी समझते हैं। वे कुमुदिनी को सिनहा के पास जाने के कारण दंड देना चाहते हैं, पर वात्सल्य के आगे उनकी रायबहादुरी का नशा उड़ जाता है और वे स्वयं परिवार सहित मसूरी पहुँच जाते हैं।

मिस्टर वर्मा युवती-वधिक, मक्कार और विष-रस-भरे कनक-घट हैं। जान डिक को पन्द्रह हजार रुपया देकर वे मेट ट्रैसम की हत्या कराना चाहते हैं, पर वह पाप उन्हीं को ले डूबता है। उपन्यासकार ने ऐसे अद्यतन (Up-to-date) बगुला-भगतों का खूब भंडाफोड़ किया है।

इस उपन्यास में विशेष रूप से कुमुदिनी, मिस स्मिथ, चपला, लज्जा, शांता, माधवचंद्र और मिस्टर वर्मा के चरित्र का अच्छा चित्रण किया गया है। प्रथम तीन के माध्यम से उपन्यासकार ने नारी-हृदय का अच्छा रहस्योद्घाटन किया है। इस दृष्टि से इस उपन्यास का सामाजिक मूल्य है।

जहाँ तक भाषा और मुहावरेदानी का संबंध है, उपन्यासकार बड़ा सफल है। पात्रों की योग्यता के अनुसार वह अंगरेजी और उर्दू शब्दों का व्यवहार करके उपन्यास में बड़ी व्यावहारिकता ला देता है। अल्हमदुलिल्लाह, लेक्चर अटेंड करना या मिस करना, ब्रूट, गुड-डे, फोकस ब्रेन, सीरियस, साइकोलाजिकली, पालिश्ड, कांसर्ट, ब्रांसर-बुक, स्नैपशाट आदि शब्दों का उपयुक्त पात्रों के मुख से प्रयोग कराया गया है। कहीं-कहीं वह भारत के बने हुए विलायतियों की हिन्दी का नमूना भी पेश कर देता है, जैसे :—'वेल, आप्रो, हम बात नहीं सुनना माँगता (पृ० १३६), पर पता नहीं क्यों वह मिस स्मिथ से शुद्ध हिन्दी बुलवाता है।

कहीं-कहीं लेखक ने अंगरेजी शब्दों को रोमन अक्षरों में ही लिखकर उनका हिन्दी अर्थ कोष्ठ में नागराक्षरों में दे दिया है, जैसे—Brute (पशु), Better Halves (पत्नियाँ), Formality (दिखावट), Psychologically (मनोविज्ञान से) आदि। यह पद्धति अंगरेजी न जानने वाले पाठक की दृष्टि से ठीक नहीं है। अंगरेजी शब्दों को नागराक्षरों में ही लिखना ठीक है। एकाध स्थल पर हिज्जे की भद्दी भूल दिखाई पड़ती है, जैसे 'छात्र' के स्थान पर 'क्षात्र'. (पृ० २५२), पर यह छापे की भी भूल हो सकती है। एकाध देहाती प्रयोग भी मिल जाते हैं जैसे अरई (पृ० ७१), तथा नामधातुओं का भी प्रयोग, जैसे 'और न उनको शोभता ही है' (पृ० ६५)।

मुहावरों का प्रयोग भी लेखक ने सफलतापूर्वक किया है जिससे भाषा में प्रवाह आ जाता है।

विजय

'विजय' श्रीवास्तवजी का दूसरा सामाजिक उपन्यास है जिसमें भारत के उच्च मध्यवर्ग विशेषतः अंग्रेजी मनोवृत्ति के पात्रों का सफलतापूर्वक चित्रण किया गया है। इसमें लेखक ने कथानक को समस्यामूलक बनाकर विधवा हिन्दू नारी के जीवन की विषम परिस्थितियों का एवं समाज के भावनात्मक कुसंस्कारों की रूढ़ियों से मुक्ति का विषय प्रधान रखा है।

छः सौ इक्कीस पृष्ठों का यह लम्बा उपन्यास नारी अनुभूतियों, विधवा की मनःस्थिति, दीर्घकालीन संस्कारों से उत्पन्न मानसिक क्लेश एवं नारी स्वभाव की विवेचना से पूर्ण है। स्त्री और पुरुष के सहज आकर्षण की सीमा का निर्धारण ही इसका विवेच्य विषय है। हृदय की स्वच्छन्द अनुभूतियों एवं सामाजिक बंधनों के बीच सामञ्जस्य की कड़ी ढूंढ़ने का प्रयास लेखक ने किया है जो वास्तव में सदैव से समाज की एक कठिन समस्या रही है।

प्रस्तुत उपन्यास उच्चवर्ग के जीवन से सम्बन्धित है और मूलतः स्त्री-पुरुष संबंध की ही विवेचना करता है अतः इसे पूर्ण सामाजिक उपन्यास नहीं कहा जा सकता। इसकी सीमाभूमि एक विशिष्ट वर्ग और एक विशिष्ट अनुभूति तक ही है इसलिए समाज के विभिन्न वर्गों का चित्रण, उसकी आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक अवस्था आदि इस उपन्यास में नहीं आने पाई है। उपन्यासकार के अन्य उपन्यासों की भांति ही इस उपन्यास के भी सभी स्त्री पात्र 'भुवनमोहिनी' विशेषण-से संयुक्त हैं और अन्य उपन्यासों की भाँति इसमें भी लेखक ने कामोत्तेजक गोलियाँ एवं जारज संतान के चित्रण के प्रति अपनी विशेष अभिरुचि व्यक्त की है। उच्च वर्ग के आचार-विचार एवं उनकी रहन-सहन की विशेष जानकारी होने के कारण इस चित्रण में लेखक को पर्याप्त सफलता मिली है।

इस उपन्यास में यद्यपि यथार्थ की ओर लेखक का कुछ झुकाव अधिक दिखाई पड़ता है पर 'दैवयोग' या 'संयोग' का मोह लेखक नहीं छोड़ सका है। राजा प्रकाशेन्द्र के श्वशुर को उनकी विलायत यात्रा में अकस्मात् मिस ट्रेवीलियन का पति मिल जाता है और वह उनके साथ आकर उनकी हत्या का कारण बनता है।

कथानक के शिल्प में लेखक अद्वितीय है और यही कारण है कि पाठक की रुचि उपन्यास में आद्यन्त बनी रहती है। यद्यपि विवरण विस्तार एवं निरर्थक संवादों की अधिकता यत्र-तत्र पाठक को ऊबा देती है पर कथानक का आकर्षण देखकर पाठक लेखक को क्षमा कर देता है। लेकिन घटनाओं के चित्रण में उपन्यासकार का जो अक्षम्य दोष है वह यह कि एक-एक घटना का विवरण वह तीन-तीन, चार-चार बार उन्हीं शब्दावली में करता है। एक बार घटना घटित होती है और फिर परस्पर

उपन्यास के कई पात्र उसी घटना को एक दूसरे से कहते रहते हैं। ऐसी स्थिति में पाठक के मन में खीझ उत्पन्न हो जाती है और वह उस प्रसंग को बिना पढ़े ही आगे बढ़ जाता है।

वास्तव में प्रतापनारायण श्रीवास्तव व्यास शैली के लेखक हैं अतः संकोच की कला का उनमें सर्वथा अभाव है। निरर्थक दोहराव, निरर्थक संवाद एवं निरर्थक विवरण को यदि उनके उपन्यासों से निकाल दिया जाय तो उनके उपन्यास आकार में आधे होकर पूर्ण सुगठित एवं कलात्मक हो जायेंगे।

बयालीस

'बयालीस' उपन्यास सन् १९४२ ई० की भारतीय क्रान्ति और उसके निर्मम और पैशाचिक दमन का उज्ज्वल दर्पण है। इसमें एक ओर ब्रिटिश सरकार का अपनी सत्ता बनाये रखने का पैशाचिक प्रयत्न है तो दूसरी ओर स्वतन्त्रता की बलिवेदी पर चढ़ जाने की भारतीय हृदयों की उत्कट अभिलाषा है। क्रान्ति की एक चिनगारी किस प्रकार एक हृदय से निकल कर जनहृदयों को छूती हुई विशाल लपट की भाँति तीव्रता से आगे बढ़ती है, और दूसरी ओर यह भारतीय क्रान्ति किस प्रकार गान्धी जी की अहिंसा और गुरुता से पूर्णतया शासित है, इसकी अद्भुत छटा इस उपन्यास में दिखाई देती है।

इस उपन्यास का कथानक रमईपुर ग्राम से प्रारम्भ होता है। रहीम काका किस प्रकार हिन्दू और मुसलमान दोनों जातियों के हृदय पर शासन करते हैं और अनेक प्रकार के प्रलोभनों के बावजूद भी साम्प्रदायिकता को पनपने नहीं देते, इसका बड़ी कुशलता से लेखक ने चित्रण किया है। अपने पड़ोसी अनाथ लड़के मनोहर और उसकी बहन गुलाब को अपने बच्चों की तरह पालते हैं और मनोहर को कुश्ती के दाँव-पेंच सिखाकर उसके द्वारा इमामबख्श जैसे मशहूर पंजाब के पहलवान को परास्त कराते हैं। रहीम काका की पुत्री नसीम इमामबख्श पर आसक्त होती है और दोनों का विवाह हो जाता है।

इस गाँव के जमींदार सर भगवान सिंह प्रान्तीय सरकार के परामर्शदाता हैं और अंग्रेजी सभ्यता उनमें कूट-कूट कर भरी है। वे किसी भी प्रकार १९४२ की जनक्रान्ति को कुचलकर अंग्रेजी शासन के प्रियपात्र बनना चाहते हैं और अपने ग्राम में फैलते गान्धीवाद को वे बुरी तरह कुचलने में संलग्न होते हैं। वे हिन्दुओं और मुसलमानों में परस्पर साम्प्रदायिक भावना फैला कर जनक्रान्ति से जनता को विमुख करना चाहते हैं। पर युग की माँग ऐसी प्रबल है कि उनका पुत्र दिवाकर और उनकी पुत्री माधवी भी उनका साथ नहीं देते। दिवाकर देश और जाति की रक्षा के लिए घर त्याग देता है

और नवजागृति का सन्देश घर-घर पहुँचाने का व्रत लेता है। रमईपुर गाँव में ही दिवाकर को उसके पिता द्वारा आयोजित साम्प्रदायिक दंगे में गोली लगती है पर गुलाब के रक्तदान के कारण वह पुनः स्वस्थ हो जाता है।

अन्ततः वह अन्तिम दृश्य आता है जब सर भगवान सिंह अंग्रेजों द्वारा भड़काए जाने पर सैनिक दस्ते के साथ अपने ही गाँव पर धावा करते हैं और सारा गाँव जला कर राख कर देते हैं। पागलों की भाँति हाथ में पिस्तौल लिये हुए वे अपने पुत्र पर गोली बरसाते हैं और अन्य क्रान्तिकारी युवकों की हत्या करते हैं। अन्तिम दृश्य वह आता है जब सर भगवान सिंह पूर्ण पागल की अवस्था में आ जाते हैं और झूठे ही हाथ में पिस्तौल लेने का अभिनय करके उस सुनसान निर्जन में 'हः हः हः, रास्ता छोड़ो। रास्ता छोड़ो।' कहते हुए भटकते दिखाई देते हैं।

उपन्यास यथार्थ चित्रण से भरपूर है और श्रीवास्तव जी के अन्य उपन्यासों के 'संयोग', 'कथानक का अनावश्यक विस्तार' और 'एक ही घटना को अनेक पात्रों द्वारा कहकर दुहराए जाने की विधि' आदि दोषों से मुक्त है। गाँव के भोले-भाले किसानों की मानसिक गतिविधि, देवी-देवता और फकीरों में उनका विश्वास, परस्पर सौहार्द की भावना एवं निष्कपटता आदि का अत्यन्त स्वाभाविक चित्रण इस उपन्यास में हुआ है। १९४२ ई० में क्रान्तिकारियों के कार्य-विवरण की जानकारी के लिए लेखक ने नरेन्द्र, चक्रधर और जंगबहादुर को लेकर एक गौण कथानक द्वारा उनकी गतिविधि पर पर्याप्त प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है।

वेदना

वेदना उनका ऐसा ही एक सामाजिक उपन्यास है जिसमें स्वातंत्र्योत्तर विकसित सामाजिक भावना के परिवेश में पाश्चात्य शिक्षालोक से प्रभावित नर-नारी के प्रेम और विवाह सम्बन्धी नवीन मान्यताओं एवं उसके कुपरिणामों को अत्यन्त यथार्थ रूप में चित्रित कर समीचीन समाधान प्रस्तुत करते हुए आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की सृष्टि की गई है।

उपन्यास की कथा भैरवदत्त राज्यमंत्री, उनकी पत्नी ज्योतिर्मयी और पुत्री किरण; विजयगढ़ के भूतपूर्व नरेश भीमसिंह, उनकी तीसरी पत्नी अरुणप्रभा जो विद्यालयीय जीवन में मिनिस्टर भैरवदत्त की प्रेमिका के रूप में अवैध गर्भ धारण कर चुकी थी, दत्तक पुत्री हस्सो बाद में पता जो अरुणप्रभा की अवैध सन्तान है और उनके मुसाहिब राजनाथ बैरिस्टर, उनकी फ्रेंच-पत्नी लौरा जोजूफाइन, पुत्री शशिप्रभा और पुत्र प्रेमनाथ जो विजयगढ़ नरेश भीमसिंह के सहवास से कुल्लूघाटी के डेढ़ वर्षीय निवास में उत्पन्न हुआ था तथा डॉ० महेन्द्र डाक्टर बाद में केन्द्रीय मंत्री और उनकी पुत्री प्रेमलता जो नर्सिङ्ग होम की संचालिका हैं, चार परिवारों को घेर कर चलती है। दारोगा करीमबेग

चुगताई उसकी पत्नी शबनम, दीवान करामत अली उसकी नसीबन और जमीला दो पत्नियाँ, देवीसिंह सिपाही, मुन्नेमियाँ दलाल, लड़कियो का व्यापारी अब्दुल रहमान तथा कांग्रेसी नेताजी आदि अन्य पात्र तत्कालीन वातावरण एवं समस्याओं को सजीव रूप मे उभाड़ कर रखने के लिए चित्रित किए गए हैं।

कथा संगठन एवं कहने की अद्भुत शक्ति उपन्यासकार में है जिससे वह अनेक बिखरे हुए दूर के सूत्रों को अन्त में ऐसा मिला पाता है कि कहानी की पूर्णता के साथ उपन्यास अपने अद्भुत प्रभाव की सृष्टि कर जाता है। इस प्रकार की कथावस्तु में एक ओर जहाँ उपन्यासकार के कौशल का परिचय मिलता है वहीं उपन्यास के स्वाभाविक विकास में भी बाधा पहुँचती है क्योंकि उपन्यासकार आरम्भ में ही सभी पात्रों एवं घटनाओं की व्यवस्था करके ही लेखनी उठाता है। इस उपन्यास की कथा जिन पात्रों को लेकर आगे बढ़ी है उनका परस्पर मिलन एक संयोग ही है, यद्यपि उपन्यासकार ने इस आकस्मिक मिलन को तर्कसंगत बनाने की भरपूर चेष्टा की है। पात्रों के जीवन में घटी एवं घटने वाली घटनाओं को यदि उपन्यासकार अन्त तक रहस्यमय रख सका होता तो कथा का लालित्य और भी बढ़ जाता पर मध्य तक पहुँचते पहुँचते पाठकों को अन्दाज लगने लग जाता है कि मिनिस्टर भैरवदत्त की छात्रा प्रेमिका अरुणप्रभा से विजयगढ़ नरेश भीमसिंह तथा किरण को भ्रष्ट करने वाले प्रेमनाथ का उस परिवार से कोई न कोई सम्बन्ध अवश्य होगा। बाद में हस्सो अथवा पद्मा का भी दत्तक पुत्री के रूप में उस परिवार में आ जाना और भी उपन्यासकार की पूर्व-नियोजित कल्पना को प्रमाणित कर देता है। उपन्यास का सुखद अन्त करने के लिए ही लेखक ने भैरवदत्त और अरुणप्रभा को पद्मा से तथा प्रेमनाथ को महाराजा भीमसिंह स मिलाया है जो अवैध सन्तानें थी और इस प्रकार किरण के अवैध प्रेम एवं गर्भ को औचित्य प्रदान करने के लिए दो प्रेमियों का परिणय सम्पन्न कराने में भी उसे सफलता मिल सकी है।

इस उपन्यास के सभी पात्र उदारमना चित्रित किए गए हैं जो अपने अवैध सम्बन्धों को स्वीकार ही नही करते बल्कि वे उसके प्रकट हो जाने पर किसी भी प्रकार की मानसिक व्यथा का भी अनुभव नहीं करते जो अस्वाभाविक है, भले ही उपन्यासकार ने पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव में उनके रंगे रहने का ढिंढोरा पीटा हो। इस उपन्यास मे एक ही साथ दो विरोधी बातों को प्रस्तुत करने की चेष्टा की गई है जो सम्भव नहीं। एक ओर तो उपन्यासकार पाश्चात्य सभ्यता के अशुभ पक्ष को लौरा जोजफाइन तथा उसकी लड़की शशिप्रभा को सामने लाकर रखना चाहता है और वह उनके अनैतिक व्यापारों का चित्रण करता है। भारतीय समाज कभी भी स्वीकार नहीं कर सकता कि एक माँ अपने ही गर्भ से उत्पन्न पुत्र-पुत्री को लैंगिक सम्बन्ध कराने की प्रेरणा दे और

उनके गुप्तागों पर औषधि लगा कर उन्हें उत्तेजित करे जैसा कि जोजफाइन करती है। जोजफाइन फ्रेंच महिला थी और यह आचरण वह पति की प्रतिक्रिया स्वरूप करती है जिससे पाश्चात्य सभ्यता में स्वीकृत ऐसे कुकर्मों के प्रति अनास्था उत्पन्न कराने मे उपन्यासकार को पूरी सफलता मिली है; पर जब वह उसी रग में रँग कर भैरवदत्त, मरुणप्रभा और भीमसिंह को खुल कर अपने अनैतिक सम्बन्धो को स्वीकार करने के लिए प्रेरित करता है तो पाठक द्विविधा में पड जाता है कि आखिरकार उपन्यासकार कहना क्या चाहता है, वह किस सामाजिक आदर्श को सृष्टि करना चाहता है। क्या वह सभी पात्रो का आदर्शोन्मुख यथार्थवादी अन्त करना चाहता है, पर इस अन्त का मेल प्रेमचन्द के आदर्शोन्मुख यथार्थवाद से नही खाता क्योंकि उनके पात्रो के बीच से तो भारतीय आत्मा झाँकती है और वेदना के पात्रो में तो आधुनिक दिल्ली और लखनऊ के ही दर्शन होते हैं।

इसमें सन्देह नही कि नर्सिंग होम के माध्यम से चलने वाले अनैतिक व्यापारो का भण्डाफोड इस उपन्यास में किया गया है जो इस उपन्यास का मुख्य विषय है। प्रेमलता ऐसी न जाने कितनी कुँवारी महिलाएँ नर्सिंग होम जैसी सस्थाएँ खोल कर सामाजिक भ्रष्टाचार को प्रश्रय देती हैं। स्वयं भ्रष्ट जीवन व्यतीत करती हैं, सम्पर्क में आने वालो को भ्रष्ट करती हैं, भ्रष्टाचार पर पर्दा डालती हैं और भ्रष्ट सन्तानो की सेना खडी करके वेश्यालयो, गुण्डो, भिखमंगो एवं लडकियों के अनैतिक व्यापारो एवं नीलामो की वृद्धि को प्रश्रय देती हैं। ऐसी सस्थाएँ देश के लिए कलंक हैं, पर रोना तो यह है कि उन्हे शीर्षस्थ नेताओं का संरक्षण प्राप्त है।

लखनऊ की दुर्गन्धपूर्ण गलियो में चलने वाले अनैतिक व्यापारो, स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद देशी नरेशों के मनोभावों, उनके चाटुकार मुसाहिबो, दलालो तथा पुलिस कर्मचारियो का बडा सजीव चित्र इस उपन्यास में खींचा गया है। प्रजातंत्र की सफलता के लिए भैरवदत्त ऐसे योग्य एवं ईमानदार मन्त्रियो की आवश्यकता है तथा विजयगढ नरेश भीमसिंह के विचारो मे जिस प्रकार का परिवर्तन हुआ, कि वे विलासी से समाजसुधारक बन बैठे और अब्दुल रहमान की मार को उन्होंने प्रायश्चित्त के रूप में स्वीकार कर लिया, वैसे ही परिवर्तन से नरेशो और समाज का कल्याण हो सकता है। अन्त तक सभी पात्रो का सुधार कर लिया गया है। महिला जागरण के प्रश्न को उठाकर उपन्यासकार ने शबनम और देवी सिंह जैसे दो जीवंत चित्रो का तो निर्माण किया ही है, साथ ही उसने हिन्दू-मुस्लिम एकता की ओर भी इशारा किया है। इस प्रकार 'वेदना' में सामाजिक वेदना के प्रति सहानुभूति प्रकट की गई है और यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है कि परिस्थितियो के कारण अवैध गर्भधारण करने वाली किरण जैसी बालिकाओं को न तो आत्महत्या करने की आवश्यकता है और 'पप्पा' जैसी अवैध सन्तानों को न तो शरीर-व्यवसायी बनने की।

विश्वास की वेदी पर

भारत-चीन के विवाद पर आधारित यह उपन्यास सीमा-सम्बन्धी भौगोलिक, ऐतिहासिक एवं राजनीतिक सूक्ष्म विवरणों से भरा है। वर्षों समाचार पत्रों के अध्ययन से जो स्पष्ट सीमा-सम्बन्धी जानकारी नहीं प्राप्त होती, उसे इस उपन्यास मात्र के अध्ययन से प्राप्त की जा सकती है। कथानक की दृष्टि से यद्यपि ये तत्व नीरस हैं पर लेखक ने अपनी प्रतिभा एवं कौशल के बल से इनमें घटनाओं के अद्भुत सम्मिश्रण के द्वारा इन्हें आकर्षक बना दिया है।

नई दिल्ली में चीनी गुप्तचर विभाग सक्रिय है। दंत चिकित्सक डॉ० चिनमिन्ह सूया नामक चीनी लड़की की सहायता से भारतीयों में चीन के प्रति प्रेम उत्पन्न कराने का कार्य करता है। 'हिन्दी-चीनी सांस्कृतिक संघ' एवं 'हिन्दी चीनी भाई-भाई' के नारों की आड़ में यह गुप्तचर विभाग दिल्ली के प्रतिष्ठित नागरिकों एवं सैन्य अधिकारियों को अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है। सूया अपने प्रेम का जाल भी बिछाती है और कैप्टन अर्जुन सिंह से विवाह करके भारतीय नागरिक भी बन जाती है। इसके साथ ही साथ वह दिल्ली के 'मेयरशिप' के लिए भी चुनी जाती है। इन्हीं गुप्तचरों की प्रेरणा से दिल्ली से सम्भ्रान्त युवक-युवतियों का एक शिष्टमण्डल पीकिंग की सैर के लिए जाता है। मंजुला, प्रमोद, दामिनी आदि का यह शिष्टमण्डल एक चीनी परिचारिका लू से मिलकर चीन का भारत पर आक्रमण करने के गुप्त मन्तव्य को जान लेता है और यह दल तत्क्षण भारत के लिए रवाना होता है। यहाँ डॉ० चिनमिन्ह और सूया में वैमनस्य बढ़ता है और डॉ० चिनमिन्ह भागती हुई सूया को काश्मीर में गोली मार देता है। इस प्रकार षड्यन्त्र का पर्दाफाश होता है।

उपन्यास के इस कथानक के साथ लेखक ने बिरजू और केशर कुँवर का एक और कथानक जोड़ने का प्रयत्न किया है। केशर कुँवर मंजुला की दादी है और बिरजू उनका नौकर है। केशर कुँवर यद्यपि वृद्धा एवं विधवा हैं पर अब तक उनकी काम-पिपासा शान्त नहीं हुई है। इसकी शान्ति के लिए वे अपने नौकर बिरजू को, जो वास्तव में उनके पति की नाजायज सन्तान है, अपना पात्र चुनती हैं। पर जब भी केशर कुँवर बिरजू के निकट पहुँचना चाहती हैं उनके मृत पति का भूत बिरजू पर आ जाता है। अन्त में केशर कुँवर को सत्य का पता चलता है और बिरजू को वे अपनी संतान के रूप में स्वीकार करती हैं।

वास्तव में इस उपन्यास का यह दूसरा कथानक मूल कथानक से सर्वथा भिन्न है और इसका किसी भी प्रकार से पहले कथानक से सामंजस्य नहीं बैठाया जा सकता। इस दूसरे कथानक में लेखक की रुचि इतनी अधिक है कि उसने इसे ही एक प्रकार से

मूल कथानक का रूप दे दिया है। इसी दूसरे कथानक के बारे में लेखक ने भूमिका भी लिखी है। दोनों कथानकों में इतना भेद है कि लगता है कि दो उपन्यास मिलाकर एक कर दिए गए हैं। आश्चर्य है कि इतने सिद्धहस्त लेखक से इतनी बड़ी भूल किस प्रकार हो सकती है।

श्रीवास्तव जी के उपन्यासों में 'दैवयोग' या 'संयोग' प्रधान होने के कारण कटु यथार्थ की तुला पर उन्हें तौला ही नहीं जा सकता। कथानक में कुतूहल वृद्धि के लिए वे 'संयोग' तत्व पर बल देते हैं। प्रस्तुत उपन्यास भी उनकी इसी कला से प्रभावित है। वास्तव में कथानक का आकर्षण और भारत-चीन सीमा सम्बन्धी विवादों के विभिन्न पहलुओं की जानकारी से ही यह उपन्यास सफल कहा जा सकता है।

वन्दना

श्री प्रतापनारायण श्रीवास्तव का प्रथम उपन्यास 'विदा' इतना लोकप्रिय था कि उसी के आधार पर आपकी ख्याति हिन्दी-उपन्यास-जगत में प्रतिष्ठित हो गई थी। पर उस उपन्यास की कथावस्तु कुछ ऐसी थी कि पाठक उपन्यास को समाप्त करके प्रायः यह कह बैठता था कि इस उपन्यास की कहानी कुछ और आगे बढ़नी चाहिए। पाठकों के इस अनुरोध पर पूरे तीस वर्षों के उपरान्त श्रीवास्तव जी ने उस अधूरी कहानी को 'वन्दना' उपन्यास में पूरी की है।

प्रस्तुत उपन्यास का निर्माण १९४४-४५ ई० की पृष्ठभूमि में किया गया है। इस उपन्यास में मुख्य पात्र वे ही हैं जो 'विदा' में थे, पर उसके साथ ही साथ कुछ नये पात्रों की भी सृष्टि की गई है। इस कथानक की पृष्ठभूमि भारत तक ही सीमित न रह कर इंग्लैंड और मिस्र तक को भी अपनाती है।

उपन्यासकार ने इस उपन्यास का कथानक अत्यन्त विस्तृत बना दिया है। छः सौ बत्तीस पृष्ठ का यह उपन्यास घटनाओं से ओत-प्रोत है। लेखक की ऐसी शैली है कि इतनी दीर्घता के उपरान्त भी पाठक निरन्तर उपन्यास में तल्लीन रहता है। व्यास शैली के स्थान पर यदि उपन्यासकार ने समास शैली का आश्रय लिया होता तो अपने में ही यह उपन्यास अत्यन्त सुगठित होता। इस उपन्यास में रुचि तब अधिक आती है जब पाठक ने 'विदा' उपन्यास पढ़ा हो।

उपन्यास में सर्वत्र 'संयोग' तत्व भरा पड़ा है। सभी घटनाएँ संयोग पर ही आधारित हैं अतः यथार्थवादिता की दृष्टि से इस उपन्यास को यथार्थवादी उपन्यासों की कोटि में नहीं रखा जा सकता।

स्मृति का लोप हो जाना और पुनः झटका लगने से स्मृति की प्राप्ति, विवाहपूर्व सन्तानोत्पत्ति, उच्चवर्गीय समाज की केलि-क्रीड़ा, अनेक पात्रों द्वारा एक ही घटना का बार-बार दुहराया जाना आदि ऐसे तत्व हैं जो उपन्यासकार को परमप्रिय हैं और ये

सब तत्त्व इस उपन्यास में भी स्थान स्थान पर घुमेड़े हुए पाये जाते हैं। अनावश्यक लम्बे संवाद कहीं-कहीं पाठकों को उबानेवाले हैं।

प्रेमचन्द-युगीन उपन्यासों की भाँति प्रस्तुत उपन्यास की शैली रोचकता प्रधान और विचारधारा आदर्शवादी चरित्रों की सृष्टि करना है। इस उपन्यास में आए हुए प्रायः सभी पात्र निर्मल कुमार, चपला, केट, कुमुदिनी, लज्जा, सलीमा, बहादुरशा पाशा आदि आदर्शवादी प्रकृति के हैं और त्याग तथा तपस्या की प्रतिमूर्ति दिखाई देते हैं। निर्मलचन्द्र की माँ शान्ता की साधना तो ऐसी है कि भविष्य की घटनाओं का भी उसे ज्ञान हो जाता है और अपने नेत्रों के सामने मृत व्यक्तियों को भी देख लेती है।

सब मिला कर यह उपन्यास यथार्थवादी न होने पर भी रोचकता और अद्भुत वर्णन शैली से पाठकों के हृदय को छू लेता है। उपन्यासकार की रुचि जान लेने पर पाठक यथार्थता की शिकायत भी नहीं करता और लेखक के कल्पना-लोक में वह जीवन की कटुता भुला कर सुखपूर्वक भ्रमण करता रहता है।

विनाश के बादल

श्रीवास्तव जी ने अपने उपन्यासों के नामकरण के लिए 'व' या 'व' अक्षर को प्रारम्भिक अक्षर के रूप मे चुना है, जैसे 'विदा', वदना', 'विकास', 'वेकसी का मजार', 'विजय', 'विश्वास की वेदी पर' आदि। 'व' से प्रारम्भ होनेवाला प्रस्तुत उपन्यास नवीनतम है। यह लघु उपन्यास 'हिंद पाकेट बुक सीरीज' में प्रकाशित है और उपर्युक्त उपन्यास की भाँति यह भी चीन के आक्रमण की पृष्ठभूमि पर लिखा गया है।

प्रस्तुत उपन्यास में भी चीनी गुप्तचरों का दल दिल्ली में सक्रिय है। चीनी गुप्तचर विभाग प्राय सुन्दर चीनी लडकियो के द्वारा सैनिक अधिकारियो से भेद लेने का कार्य करता है। कुछ चीनी लडकियाँ तो सैनिक अधिकारियो से विवाह भी कर लेती हैं और सीमा-भूमिपर जाकर उनकी सैनिक टुकड़ियो को धोखा देती हैं। मिनचू नामक चीनी लड़की अपना नाम कला रखकर सौन्दर्य प्रतियोगिता मे 'मिस इंडिया' की उपाधि ग्रहण करती है और अपने झूठे प्रेम-पाश में रमणीमोहन को फँसाती है। चीन के आक्रमण के समय इन चीनी लड़कियो के रहस्य का पता चलता है और इनके कारण भारतीय सेना को पर्याप्त कष्ट उठाना पड़ता है। अन्त मे सब रहस्यों का भण्डाफोड होता है और इन गुप्तचरो की मृत्यु होती है। विविध पात्र एव घटनाओ से युक्त यह उपन्यास भी भारत चीन सीमा सम्बन्धी विवाद पर पर्याप्त प्रकाश डालता है।

इलाचन्द्र जोशी

अपनी एक विशिष्ट रचनाशैली के कारण जोशी जी के उपन्यास विशेष चर्चा के विषय रहे हैं। हिन्दी उपन्यास-साहित्य में मनोविश्लेषण प्रणाली के प्रवर्तक एव सफल लेखक के रूप मे जोशी जी का नाम लिया जा सकता है। घृणामयी (बाद में

यही उपन्यास 'लज्जा' के रूप में) संन्यासी, प्रेत और छाया, पर्दे की रानी, निर्वासित, मुक्तिपथ, सुबह के भूले, जिप्सी और जहाज का पंछी इनके अब तक के प्रकाशित उपन्यास हैं। विषय की दृष्टि से उनके समस्त उपन्यास-साहित्य को विशुद्ध व्यक्तिवादी, सामाजिक एवं मिश्रित, तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है। लज्जा, सन्यासी निर्वासित, पर्दे की रानी, प्रेत और छाया को विशुद्ध व्यक्तिवादी, मुक्तिपथ और सुबह के भूले को सामाजिक तथा जिप्सी और जहाज का पंछी को मिश्रित कथानक वाले उपन्यास की संज्ञा दी जा सकती है। वैयक्तिक प्रवृत्तियों के बाहुल्य के कारण इनके अधिकाश उपन्यासो की शैली आत्म-व्याख्यात्मक हो गई है जिनमें उत्तम पुरुष के रूप में पात्र कथा के विकास मे सहायक होता है। कामजनित प्रेम इनके उपन्यासों का प्रिय विषय है। इनके अधिकाश पात्र विवाह की अनिवार्यता को अस्वीकार करते हुए असामाजिक प्रेम का स्वच्छन्द होकर उपभोग करना चाहते हैं, पर अन्त तक जाते-जाते विवाह के औचित्य को वे स्वीकार कर लेते हैं। दमित कामभावना के उत्पीडन का चित्र जोशी जी ऐसी समर्थ शैली में कर ले जाते हैं कि पतित से पतित पात्रो के प्रति भी पाठक के मन में घृणा के स्थान पर सहानुभूति एवं करुणा का ही उदय होता है। अनेक दृष्टियो से इनका उपन्यास जहाज का पंछी इधर बहुचर्चित रहा है।

जहाज का पंछी

जहाज का पंछी; भावप्रवण कलाकार की यथार्थपरक रचना है, जिसके सन्दर्भ निदेश-क्रम में विद्रोही कवि निराला की सूक्ष्मावलोकन शक्ति, पंत के लालित्यमय साहित्य से उद्भावित 'भारतमाता ग्रामवासिनी' के 'तीस कोटि सन्तान नग्न तन; अर्द्धक्षुधित, शोषित, निरस्त्रजन' की आर्त दशा से प्रादुर्भूत 'गंगा जमुना में आँसू जल' मयी मानव प्रकृति अति यथार्थ दशा के मार्मिक दृश्य के साथ साथ रवीन्द्र की उद्बोधक वाणी 'जे फूल ना फुटिले झरे छे धरणी ते, जे नदी मरुपथे हारालो धारा; जानि हे जानि ताओ हयनिहारा' की शक्तिमयी अनुभूति वर्त्तमान है। 'जोशी' जी हिन्दी उपन्यास-जगत में असाधारण मनोवैज्ञानिक चितेरे के रूप मे लब्धप्रतिष्ठ हैं, पर स्वप्नदर्शी होने का दोष भी उनके समीक्षकों की ओर से उनपर लगाया जाता रहा है। 'जहाज का पंछी' में हमें उनकी स्वप्निल भावनाओं का सम्भार दृष्टिगोचर होता है पर यथार्थ की लघुपतम छाया के नीचे फूटे ये स्वनिल चित्र 'यूटोपिया' मात्र न होकर वर्तमान पीढ़ी के मरते हुए मानव का जीने के प्रति करुणक्रन्दन हैं। और इस आधार पर केवल रोमानी दुनिया में भटकते पात्रों से हमारी भेंट भी नहीं होती अपितु पिसती हुई दयनीय दशा के वे पात्र मिलते हैं जिनकी स्वाभाविक सरलता एवं दीनता के कारण आज उन्हें मानव मानने में भी लोगों को सन्देह होने लगता है। 'दीनता जीवन का अभिशाप है' इस उक्ति की चरितार्थता हमें प्रस्तुत उपन्यास मे स्पष्ट दिखाई पड़ती है।

उपन्यास को लेखक ने अतीत के संस्मरणात्मक रूप में (जो आत्मकथा से किंचित् भिन्न है) प्रस्तुत किया है। परिस्थितियों के आरोहावरोह में जीने की इच्छा लिए जीविका के साधन जुटाने की खोज में-जीवों के इस सागर में 'आश्रय पोत' सदृश महानगर कलकत्ता में एक सामान्य पंछी की भांति लेखक पहुँचता है। वर्तमान तथाकथित स्वतन्त्र विश्व के मुक्त वायुमंडल में साँस लेने की इस स्पृहा से वह कलकत्ता के नाना स्थनों एवं नाना प्रकार के व्यक्तियों के संसर्ग में आता है। नागरिक जीवन के सभी पहलुओं तक पहुंच पाने के लिए उपयुक्त पात्र की आवश्यकता के कारण उसे असामान्य पात्र की कल्पना करनी पड़ी है। क्योंकि किसी सामान्य कोटि का पात्र जीवन को बहुविध परिस्थितियों का सम्यक् चित्र नहीं दिखा पाता। फलतः कथाकार (लेखक या कथा कहनेवाला) पूर्णरूपेण शिक्षित होने पर भी अशिक्षित बनकर ही जीवनयापन कर पाता है; कुलीन होनेपर भी दीनहीनों के प्रति उसकी प्रदम्य करुणा उन्हीं के परिपार्श्व में पड़े रहने का पूर्ण श्रम करती है और तब हमारे समस्त नागरिक सभ्यता के उच्च स्तर (मन्त्री, एम० एल० ए०, बड़े सेठ-साहूकार) से लेकर निम्नतम स्तर (जेल एवं चकलों के नारकीय जीवन) तक के चित्र उभर आते हैं। [यद्यपि हमें एक ऐसा पात्र जो दार्शनिक, वैज्ञानिक, संगीतज्ञ, वक्ता, आदि सभी रूपों में अपनी अभिव्यक्ति करता है वर्तमान परिस्थितियों में भी इस प्रकार प्रताडित नहीं है। यदि वह चित्रण के माध्यम रूप में ग्रहीत है तब तो ठीक है अन्यथा यथार्थता से वह स्वयं परे हो जाता है भले ही उसके द्वारा प्रदर्शित चित्र यथार्थ हैं।]

औद्योगिक युग की बढ़ती हुई व्यावसायिक प्रवृत्ति के कारण समाज के प्रमुख दो विभाग हो गए हैं। एक तो वह जो इस युग की सभी उपलब्ध सुविधाओं का पूरा-पूरा लाभ उठाकर नित्यप्रति उन्नत से उन्नततर होता जा रहा है और अन्यों को अपनी सुविधा के साधन रूप में ही जीने देना चाहता है। वह (उपभोक्ता) और उसके साधन बने सारे अन्य जीव समाज के इस अंग में आते हैं। दूसरा वर्ग उन दीन-हीनों और असहायों का है जो स्वयं उपभोग करने में तो असमर्थ हैं ही दूसरों के उपभोग के साधन भी नहीं बन पाते। इनमें भी दो विभाग है एक वे जो अपनी प्रवृत्तिवश भाड़े के टट्टू बनना पसन्द नहीं करते फलतः जब कभी उनपर अकारण बंधन लगाए जाते हैं तो वे विरोध कर बैठते हैं अतः शक्तिसम्पन्न वर्ग उन्हें इस कदर परेशान करता है कि वे चोर डाकू जैसे वर्गों में सम्मिलित हो जाते हैं। दूसरे वे जो अपनी शारीरिक एवं मानसिक शक्ति के प्रदर्शन का धन्धा न चलाकर अपनी सीमित शक्ति के भरोसे ही जीना चाहते हैं। उनके पास कोई प्रबल सहायक की सहानुभूति न होने के कारण खाने को अन्न भी नहीं जुट पाता, अतः वे दर-दर भीख माँगते, चकलों में मुट्ठी भर अन्न के लिए वेश्यावृत्ति से भी नारकीय जीवन व्यतीत करते हैं। चोर डाकुओं की भाँति

समाज से बदले की न तो इनमें कोई मनोवृत्ति होती है और न तो ये समाज से अलग ही रहना चाहते हैं। इस प्रकार समाज में रहकर भी अपनी प्रतारणा के पाश में बंधे ये समाज के कोढ़ की भाँति जीवन यापन करते हैं।

महानगर कलकत्ता के इस दिग्दर्शन में हमें कालेज-जीवन के चहकते मन वायवी उड़ान भरते दृष्टिगोचर होते हैं। जीने का सम्बल जुटाने के लिए भीख माँगने के लिए, लोगों की करुणा उकसाने के लिए। सड़कों पर चिल्लाती हुई नवयुवतियाँ, अस्पताल में रोग का बहाना बनाते हुए मरीज, अपनी असहाय अवस्था में समाज के दम्भ का परिहास करते हैं। कलकत्ता के महाजन समुदाय में चरित्रों की थाह अगम है। मनोवैज्ञानिक कला के निखार के कारण लेखक ने चरित्रों को उद्भासित करने का भरपूर प्रयत्न किया है इसी कारण संसर्ग में आए हुए चरित्र अधिक भासमान हुए हैं फिर भी इन चरित्रों की स्वतन्त्र श्रेणी नहीं बनती अपितु उनके द्वारा उनके वर्ग का ही प्रतिनिधित्व होता है। वैसे वे वर्ग के प्रतीक मात्र नहीं हैं उनका अलग स्वतन्त्र अस्तित्व है।

क्रम-क्रम से लेखक अस्पताल और डाक्टरों की दुनिया, पुलिस और जेल का वातावरण, कलकत्ता में रहने वाले तथा हिन्दुस्तानी कहे जाने वाले उत्तरप्रदेश एवं बिहार के प्रवासी लोगों के घरेलू जीवन के सहवास, राजनीति के कर्णधार एम० एल० ए० के गार्हस्थिक जीवन, धोबियों के व्यवसाय, पंकलों की दारुण दशा और फिर मानवीय सहृदयता सम्पन्न अग्रगामी वर्ग के संसर्ग में आता है और इसी क्रम में उनको पूर्ण परिवेश के साथ चित्रित करता है। अपने चित्रण में लेखक ने भरसक सचाई अंकित करने की चेष्टा की है इसमें संदेह नहीं। (कथाकार के चरित्र को कुछ छोड़कर) व्यावसायिक-जगत में किस प्रकार घरेलू व्यवसाय नष्ट होते जा रहे हैं, यह धोबियों, नाइयों एवं कोयला इत्यादि छोटी चीजें बेचने वालों के जीवन से स्पष्ट हो जाता है। कुछ नई जीवन ज्योति लिए आने वाले इस निम्न समझे जाने वाले वर्ग में न खप पाने के कारण किस प्रकार वेदना के घूँट पीने को बाध्य है 'बेला' इसका ज्वलन्त उदाहरण है। दीनहीनों एवं गरीबों को किस प्रकार नरक के कीट समझने वाले एम० एल० ए० समाजसेवी होने का नारा बुलन्द करते हैं, किस प्रकार सेठ-साहूकारों को भ्रष्टाचार का प्रोत्साहन दे वे अपनी यशःकीर्ति एवं सम्पत्ति बढ़ाते हैं यह खगेन्द्रनाथ भादुड़ी के व्यवहारों से प्रत्यक्ष होता है। देश में और देश के बाहर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी लड़कियों का व्यापार किस नीचता के साथ हो रहा है, रोटी के दानों के लिए भरपेट अन्न न मिलने पर भी, शरीर से जर्जर अस्थिशेष, अमला अपने शिशु को अफीम देकर किस प्रकार रात को सजधज कर अपने ग्राहकों के लिए खड़ी होती है—मिस साइमन का चकला इसे स्पष्ट दिखा देता है। सुलेखा, अमला, और सुजाता की गर्हित पर

कारुणिक दशा इसका सच्चा स्वरूप हमारे समक्ष रखती है। इसका यह अर्थ नहीं कि लेखक ने केवल कुचली हुई हारी हुई प्रताड़ित जिन्दगी को लेकर आंशिक सत्य ही उभाड़ा है। वस्तुतः संसर्ग में आए हुए अच्छे-बुरे सभी को लेखक ने अपनी समवेदना अर्पित की है। उपन्यास में प्रायः सभी वर्ग में अच्छे और बुरे देखने को मिल जाते हैं। हीन होने पर भी फ्रैंक का त्याग, रमजान चाचा की करुणा, हरिपद का प्रतिशोध सभी मानवीय महानता की घोषणा करते हैं। धनी और सम्पन्न वर्ग भी केवल अत्याचार ही नहीं करता उसी वर्ग में पलने वाली लीला दुःख की वैसी ही समवेदना अनुभव करती है जैसी अत्यन्त दुःखी व्यक्ति। दुखिया के लिए उसका सर्वस्व त्याग इसका परिचायक है। स्वयं भादुड़ी महाशय की बेटी दीप्ति-कीर्ति में भी मानव के नवीन भाव-बोध का उत्कृष्टतम अंश विद्यमान है। केवल पुलिस वर्ग से ही कोई उपकार-वृत्ति-सम्पन्न चरित्र उपन्यास में नहीं आ सका है। जिसके होने न होने को कोई निश्चित माप भी नहीं दिया जा सकता। इस प्रकार 'जहाज के पंछी' ने जिस व्यापक मानवीय वर्ग चेतना की परख की है वह हमारे जीवन के यथार्थ को उद्घाटित करने में अधिक सहायक सिद्ध हुई है। अन्तिम पृष्ठों में आशा की किरण की ज्योति से उद्भासित रांची मे रमने वाले स्वामीजी का सेवाव्रत और लीला की सर्वस्वत्याग वृत्ति भावी जीवन को सम्पन्न बनाने के दिशा संकेत जान पड़ते हैं।

एक विशिष्ट बात, जिसके प्रति लेखक सजग रहा है, यह है कि लेखक ने आदर्शवादी स्वप्न की कल्पना नहीं की है अपितु यथार्थ की घिसती हुई जिन्दगी में ही ऐसे उदात्त भाव दर्शाने का यत्न किया है जिससे माटी में ही कंचन आभासित हो उठे। देश की बदलती परिस्थितियों के साथ समाज का कितना अंश विकसित हो रहा है और वह विकास भी निरा यान्त्रिक ही है या उसकी मानवीयता मे भी विकास हो रहा है? इन बातों को यथाशक्य वैयक्तिक परिवेश में दिखा कर सामाजिक यथार्थ को उभाड़ने का प्रयास किया गया है। एक ओर जहां परदुःखमोचन की भावना-सम्पन्न एक नवीन समाज का गठन हो रहा है तो दूसरी ओर स्वार्थ पर तनिक-सी आंच लगते देख किस प्रकार मानव को समूल उखाड़ फेंकने का उद्योग हो रहा है, एक ओर समाज के तिरस्कृत पागलों की सेवाव्रत के व्रती महात्मा हैं तो दूसरी ओर महान ढोंग रचनेवाले तथा धनी घरानों मे आडम्बर के बल पर पूजा पानेवाले महात्मा हैं। इस प्रकार कलकत्ता महानगर के कीट पतंग से लेकर उच्च पदासीन मानवों की दुनिया का एक व्यापक चित्र लेखक ने प्रस्तुत किया है। कृति मे उपदेश वृत्ति नहीं है परन्तु परिस्थितियों के कटु यथार्थ में कर्तव्या-कर्तव्य की भावना सुधी पाठकों मे जग सके, इसके लिए पर्याप्त उपादान संग्रहीत हैं। कथा की कोई एक स्वतन्त्र लड़ी नहीं है परन्तु घटनाओं का बाहुल्य औपन्यासिकता में

१—इलाचन्द जोशी—'जहाज का पंछी' द्वितीय संस्करण १९५६ ई०

व्याघात नहीं उपस्थित करता । पात्रों का जीवन क्षणिक है फिर भी उनकी प्रभावोत्पादकता में कमी नहीं आती । इस प्रकार सीमित उपादनों के भरोसे व्यापक धरातल को चित्रित कर जोशी जी ने अपनी निखरी हुई वर्णन-क्षमता का आभास 'जहाज का पंछी' में दिया है ।

यशपाल

हिन्दी उपन्यास-साहित्य में यशपाल का आगमन एक विशिष्ट सामाजिक दृष्टिकोण के साथ हुआ । अपने सामाजिक उपन्यासों में उन्होने समाजवादी दृष्टिकोण अपनाया है जिनमे वे 'मार्क्सवाद' से अत्यधिक प्रभावित हैं । अपने प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यास 'दिव्या' में भी उन्होंने अपने इस राजनैतिक दृष्टिकोण की व्याख्या अवसर निकाल कर की है । प्रचार के प्रति कहीं-कहीं आग्रह इतना अधिक दिखलाई पड़ता है कि इनके सामाजिक उपन्यास अपनी मर्यादा से हटकर राजनैतिक उपन्यासों की सीमा में प्रवेश कर जाते हैं । यथार्थवादी चित्रण की दृष्टि से यशपाल जी के उपन्यासों का विशेष महत्व । कथा निर्माण की अद्भुत शक्ति यशपाल जी में है और अपनी इन्हीं यतिपय विशेषताओं के कारण उन्होंने अद्भुत लोकप्रियता प्राप्त की है । अब तक इनके दादा कामरेड, देशद्रोही, दिव्या, पार्टी कामरेड, मनुष्य के रूप, अमिता और झूठा-सच (दो भागों में) नाम से सात उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं । इनके उपन्यासों की यथास्थान चर्चा मैंने की है । अभी यशपाल जी बराबर सक्षम रूप से लिखते जा रहे हैं, 'झूठा-सच' जिसका प्रमाण है ।

झूठा-सच (दो भाग)

यशपाल का यह उपन्यास दो भागों में प्रकाशित हुआ है और प्रथम भाग के ही पात्र उपन्यास के दूसरे भाग में भी दिखलाई पड़ते हैं जिससे दोनों भागों को एक ही उपन्यास की संज्ञा देनी चाहिये पर स्वतंत्र रूप से भी दोनों उपन्यास अपने में अलग-अलग पूर्ण हैं ।

यशपाल का झूठा-सच १९४२ तक की सामाजिक, राजनैतिक परिस्थितियों का अत्यन्त सजीव चित्र उपस्थित करता है । लाहौर की कुछ गलियों में पलती विचारधारा उस समय के सम्पूर्ण भारतीय परिवार का इतिहास है । उपन्यास के इस प्रथम भाग में जिसे 'वतन और देश' नाम दिया गया है, भारत के बटवारे का सही लेखा-जोखा है । यह उपन्यास नहीं है, एलबम है जिसमें प्रत्येक चित्र बोलते हैं । लेखक इन चित्रों के द्वारा दिखाना चाहता है कि साम्प्रदायिक विचारधारा समाज और राजनीति में कैसे जहर घोल देती है, कैसे मानवता पशुता में बदल जाती है और नंगा नाच उपस्थित हो जाता है । सदियों की परतन्त्रता समाप्त हो जाती है । सभी स्वतंत्र हो जाते हैं । इतनी

बड़ी घटना गौण हो जाती है, लेकिन 'देश हमारा वतन हमारा' का नारा खून से लिखा जाता है यही प्रधान हो जाता है।

उपन्यास चरित्रों पर नहीं परिस्थितियों पर आधारित हैं। लाहौर की 'भोला पांधे' गली, जयदेव पुरी, तारा, कनक आदि इस उपन्यास के चरित्र हैं। गांधीवादी युवक जयदेव पुरी का दर्शन ही जेल में होता है, ऐसा लगता है कि यह चरित्र उपन्यास में इतना प्रमुख होगा कि नायक की सारी विशेषताएँ इसे छू जायँगी लेकिन मियाँ की दौड़ मस्जिद तक। देश की राजनीति तो गोरे हाथों में खेलती थी जिसने उसे उठने ही नहीं दिया। नायक रोटी और वस्त्र की झंझटों से निकल ही नहीं पाया राजनीति और समाजनीति का खिलाड़ी होना तो दूर की बात रही। उपन्यास के प्रथम भाग के अन्तिम पन्नों तक वह रोटी कपड़े के लिए लड़ता रहता है। क्रान्तिकारी विचारधारा की झलक तो उसमें अवश्य दिखाई पड़ती है पर वह बिल्कुल निर्जीव-सी ही दिखाई पड़ती है। पुरी के संपूर्ण चरित्र को सामने रखकर यही कहा जा सकता है कि वह समाज और उसकी व्यवस्था के विरुद्ध प्रतिक्रियात्मक व्यवहार करता है। वह हिन्दू-मुस्लिम एकता का हिमायती है, पर यह नहीं चाहता कि उसकी बहन तारा असद के साथ रहे। यद्यपि वह अपनी इसी विचारधारा के ही कारण 'परोपकार' की पत्रकारिता से निकाला जाता है और उस समय की उसकी परिस्थिति विचारणीय थी। पिता मास्टर साहब पुराने विचार के व्यक्ति थे ट्यूशनें करके घर का अन्य खर्च चलाते थे। तारा युवती थी उसकी शादी की अवस्था आ गई थी। उसकी पढ़ाई भी जारी थी। पुरी स्वयं समाज में, पार्टियों में आने-जाने वाला व्यक्ति था। पत्रकार रहने के नाते कुछ सम्मानित व्यक्ति की हैसियत रखता था और उम्र के तकाजे के लिहाज से कनक की तरफ झुकने लगा था।

राजनीति, प्रेम और आर्थिक व्यवस्था को लेकर लिखा गया यह बहुत ही वृहद चिट्ठा है। प्रेम और राजनीति उपन्यास में खुलकर सामने आई है। प्रेम की कितनी स्वाभाविक भूमियाँ हो सकती हैं लेखक ने नायिका और नायक के माध्यम से व्यक्त कर दिया है। तारा के बचपन का साथी रतन है असद उसका उपास्य है, साथ ही साथ प्रोफेसर प्राणनाथ के लिए भी उसके हृदय में स्थान है। चाचा रामज्वाया अपने कुछ निजी स्वार्थों से उसका विवाह सोमराज से, जिसे तारा नहीं चाहती, करने के लिए मास्टर साहब को वादा करते हैं और तारा की छटपटाहट का ध्यान न रख कर उसे विवाह के लिए तैयार होने के लिए मजबूर कर देते हैं। तारा बी० ए० तक पढ़ी-लिखी लड़की अपनी जिम्मेदारियों को समझती है। वह ऐसे व्यक्ति से विवाह करना पसन्द नहीं करती जिसे वह अपना प्रेम नहीं दे सकती है। इससे बचने के लिए वह असद के साथ भाग जाने के लिए तत्पर हो जाती है और असद के ऐसा न करने पर आत्महत्या तक का प्रयत्न करती है।

नैयर भी नहीं चाहता कि कनक पुरी के पल्ले पड़े। वह कभी-कभी अपने कानूनी लहजे में पुरी को अपमानित भी करता है और उसे अवगत करता है कि वह कनक से विवाह की बात सोचकर अन्याय करता है। इन्हीं सब वातावरण से घुटकर कनक नैनीताल आती है। स्वयं पुरी को वह नैनीताल बुलाती है। पुरी तारा के विवाह के उपरान्त नैनीताल चला जाता है, तथा दोनों नौकरी में व्यवस्थित होकर जीवनसाथी बनने का स्वप्न देखने लगते हैं। पुरी जब लाहौर से आया था, तभी हिन्दू-मुस्लिम दंगे की आग जड़ पकड़ने लगी थी और रोज कहीं-न-कहीं दंगा हो जाया करता था और इसी बीच तारा का भी अपने पति के घर आग लग जाने से जल मरने की अफवाह सुन आया था। कनक के आश्वासन पर वह लखनऊ नौकरी पाने से निराश हो जाता है।

बटवारे के अन्तर्गत लाहौर पाकिस्तान में पड़ जाता है और वहाँ के हिन्दुओं के मारे-काटे जाने का भीषण समाचार फैल जाता है। पुरी माता-पिता की खोज के लिये पुनः लाहौर की तरफ चल पड़ता है।

इधर तारा सुहागरात के दिन पति के द्वारा निर्दयता के साथ पीटी जाती और अपमानित होती है। इसी बीच मकान में मुसलमानों द्वारा आग लगा दी जाने से वह वहाँ से भाग खड़ी होती है पर छाड़ से गिरा खप्पर पर मटका वाली कहावत मार्थ पड़ती है, वह एक निर्दय मुसलमान के द्वारा हरी जाती है और अपनी अस्मत की रक्षा करने में असमर्थ हो जाती है। वहाँ से उसका उद्धार एक हाफिज के हाथों होता है।

उपन्यास को नायक-नायिका प्रधान न कहकर परिस्थिति प्रधान ही कहा जा सकता है। यशपाल चरित्रों के निर्माण में उतने सफल नहीं हुए हैं जितने सफल परिस्थितियों के निर्माण में हुए हैं। चरित्रों की दृष्टि से उपन्यास नायिका के पक्ष ही में झुकेगा। उपन्यास पात्रों की दृष्टि से तारा, पुरी और कनक के ही जीवन पर प्रकाश मुख्य रूप से डालता है। अपने भाई पुरी की तरह तारा भी 'हिन्दू-मुसलमान भाई-भाई' के पक्ष में रहती है। तारा का यह सिद्धान्त पुरी से अत्यधिक सुदृढ़ एवं सुनिश्चित है। पुरी प्रतिक्रियावादी है। कभी-कभी वह अपने सिद्धान्त में थोथा जान पड़ता है। तारा स्वयं तो उसका अनुकरण करती, उसे आदर्श समझती है, पर बाद में चलकर उसे ढोंगी और केवल बात का धनी समझने लगती है। पुरी जब पड़ोसियों को समझाता है कि हिन्दू मुसलमान एक हो साथ-साथ रहेंगे चाहे मुस्लिमलीग की मिनिस्ट्री बने चाहे कांग्रेस की। इस पर तारा का मन वितिष्णा से भर जाता है "वाह रे पाखण्ड ! कैसे निबाहने वाले हैं ? इससे अच्छे तो रतन जैसे जो अन्दर और बाहर एक हैं। दुरंगा समझते हैं तो मित्र का पाखंड नहीं करते। ऐसे झूठे, जहरीले लोगों के संपर्क से तो मृत्यु अच्छी है।" इन सब बातों के साथ यशपाल कहानी में मोड़ पैदा करने के लिए वास्तविकता की अवहेलना कर जाते हैं। पुरी, तारा, भाई-बहन, सो हुई हैं साथ ही

साथ प्रेम के एक ही मैदान के खिलाड़ी हैं। पुरी खत्री है, ब्राह्मण कनक से शादी करना चाहता है। माँ-बाप की आज्ञा का उल्लंघन कर उनके द्वारा ठीक की गई शादी का विरोध करता है, वह स्वतंत्र प्रेम की भावना का पोषक है। वही पुरी तारा के असद के साथ प्रेम को घृणा की दृष्टि से देखता है। असद के साथ प्रेम को चाल चलना बतलाता है।

पुरी का तारा के साथ इस प्रकार का व्यवहार तारा से असद के संबंध में जिरह करना और उसके हृदय पर चोट पहुँचाकर अपने हृदय को शीतल करना आदि सब अप्रत्याशित और अतिशय जान पड़ता है। इसके अतिरिक्त तारा का चरित्र बहुत ही सुन्दर है, उसमें प्रवाह है, जान है। कनक का चरित्र कुछ अतिरंजित तो अवश्य है पर जमाने की लिहाज से प्रगतिशील है! वह पुरी से प्यार करती है, चाहे उसके साथ उसे भीख ही क्यों न माँगनी पड़े पर कोई अन्य परिणाम नहीं देखना चाहती। कुछ अन्य छोटे-मोटे चरित्र इस भाग में आए हैं जो अपने में भविष्य में चमक उठने का अपेक्षित प्रकाश रखते हैं। प्रोफेसर प्राणनाथ ऐसा ही एक चरित्र है। तारा के असद से प्रेम को परखना, तारा के विवाह के अवसर पर कनफूल का उपहार देकर चला जाना ही यह बता देता है कि यह चरित्र बहुत दिन तक जिन्दा रहने वाला है। क्योंकि तारा संबंधित दोनों मुख्य घटनाओं पर प्रोफेसर प्राणनाथ टपक पड़ते हैं। असद अपनी तरफ पाठकों को खींचता अवश्य है पर यह छिपा नहीं रहता कि उस पर कुछ मुलम्मा चढ़ा हुआ है।

इन सबके अतिरिक्त यशपाल की कुछ व्यक्तिगत विशेषताएँ हैं। परिस्थितियों में गहरे पैठना उनका एक विशिष्ट गुण है। नारीवर्ग के हर कोने की झलक उन्हें मिली है और उन्हें परिस्थिति में उतार कर दिखाने की कला भी प्राप्त है। भोलापाँधे गली में कर्तारो, भागवन्ती, भैलादेई की बातचीत उनके देशकाल, पास-पड़ोस, पति-पुत्र सबके लिए एक निश्चित मान्यता है। उनमें सभ्यता-मान्यता रूढ़ है। उनके बात-व्यवहार रहन-सहन में अशिक्षा की अत्यन्त संवेदनात्मक गंध आती है। वैसे ही धाकर द्वारा कैद मकान में चंती, सतवंत और दुर्गा हैं। उनके बातचीत के लहजे, आपस की छीना-झपटी के व्यवहार से ज्ञात हो जाता है कि वे अशिक्षित और असभ्य हैं।

उपन्यास आकार में अत्यन्त भारीभरकम है, देखने से हिम्मत छूट जाती है। पर कथानक-संगठन और उनका विकास इतना सुडौल है कि कहीं भी भटकना, भटकना नहीं पड़ता साथ ही साथ लेखनशैली में इतनी क्षिप्रता है कि आँखें पन्नों पर बँध जाने के लिए बाध्य हो जाती हैं। परिस्थिति निर्माण की कला तो लेखक की अपनी है। उन्हें चित्रों का रूप प्रदान कर के पाठक के सामने उपस्थित करना भी लेखक के अपने पल्ले पड़ा है।

देशकाल और परिस्थिति का जो चित्र लेखक ने जिस ढंग से उपस्थित किया है वह अन्यत्र अप्राप्य है। सन् १९४७ हिन्दुस्तान को स्वतंत्रता के आसपास की राजनीति का जो सजीव वर्णन लेखक ने किया है यह अपने ढग का अनूठा है। साथ ही साथ हिन्दू मुसलमान के साम्प्रदायिक दगो का रूप तो जल-कट कर साक्षात् उपन्यास में कराइ रहा है। ऐसा विशद, सजीव तथा निरपेक्ष वर्णन अन्यत्र दुर्लभ है। हिन्दू-मुसलमान दोनों एक दूसरे के लिए काल हैं। जैसा कि यह देखा गया है कि हर साम्प्रदायिक दगे में सबसे अधिक अत्याचार नारी-वर्ग पर होता है। पुरुष अपनी कुत्सित प्रवृत्ति अपनी जलन और दाह को स्त्रियों के माध्यम से शान्त करता है यह उपन्यास में बड़े ही मार्मिक ढंग से चित्रित किया गया है। तारा, वंती, सतवंत, दुर्गा, पून्ना, करीमो आदि सभी उसी नारी वर्ग की अगुवा हैं। ये अस्तित्व शेष हैं, दाव-घात पर चढ़-उतर कर बच गई हैं और उद्धार पथपर लाई गई हैं, पर हजारों लाखो का पता नहीं कहाँ कैसे क्या हो गई। यह अनाचार-अत्याचार किसी एक जाति की विशेषता नहीं, क्रिया-प्रतिक्रिया से उत्पन्न दोनों जातियों की कृति है। इसका वर्णन, चित्रण लेखक ने बड़े कलात्मक रूप से किया है। लेखक अपने उद्देश्य में पूर्ण सफल है।

'झूठा सच' का द्वितीय भाग भारत के विभाजन के बाद की परिस्थितियों को लेकर लिखा गया वृहत्काय राजनैतिक उपन्यास है। विभाजन के पूर्व की तथा विभाजन-कालीन परिस्थिति का अत्यन्त विशद चित्रण उपन्यास के पहले भाग में किया गया है। देश के विभाजन के बाद करोड़ो व्यक्ति बे-घरबार हो गए। धार्मिक उन्माद में भर कर देश के दोनों प्रमुख वर्गों हिन्दू और मुसलमानों ने एक दूसरे का इतना अधिक खून बहाया जितना कि रक्त-रंजित क्रान्ति कर देश को स्वतन्त्र करने में भी नहीं बहाना पड़ता। उपन्यास का द्वितीय भाग इसी रक्तरंजित वातावरण की पृष्ठभूमि पर हुए स्वतन्त्रता के नवीन सूर्योदय के काल में एक महान् राष्ट्र की सामाजिक, राजनैतिक और वैयक्तिक जीवन सम्बन्धी गतिशीलता का अत्यन्त यथार्थ और सुस्पष्ट चित्र उपस्थित करता है। यशपाल की सशक्त लेखनी से सन् '४७ से '५२ तक के भारत के राजनैतिक जीवन का अत्यन्त मार्मिक विवरण हमें प्राप्त हो जाता है। इस भाग की कथा का आरम्भ जालधर में पुरी के प्रवेश से होता है। पुरी जालंधर में अत्यन्त निस्सहायावस्था में आकर एक छोटे से होटल में नौकरी करता है। भाग्यवश यहीं उसकी मुलाकात पंजाब कांग्रेस के अत्यन्त प्रभावशाली नेता सूद जी से हो जाती है जो उसके जेल-जीवन के पुराने परिचित हैं। सूद जी उससे एक पाकिस्तान चले गए मुसलमान का प्रेस जो अब उन्हों के हाथों में आ गया है, चलवाते हैं। जीवन में आर्थिक स्थिरता प्राप्त कर पुरी एक बार फिर अपने खोए हुए सम्बन्धियों को ढूंढ़ने का प्रयास करता है। वह कनक को भी पत्र लिखता है पर कनक तब तक नैनीताल छोड़ चुकी रहती है। इसलिए पुरी के पत्र का जवाब वह नहीं दे पाती। इसी समय

घर-परिवार से दूर पुरी के एकाकी जीवन में उर्मिला का प्रवेश होता है। आत्मसमर्पण की मूर्ति उर्मिला से पुरी का परिचय उस समय हुआ था जब वह यौवन की दहलीज पर पैर रख चुकी थी। पर इस समय वह धर्मोन्माद से उत्पन्न पशुता की वेदी पर अपना सुहाग खोकर पूर्णतया अन्तर्मुखी हो गई है। उसके जीवन का दर्द भीतर ही भीतर जीवन के प्रशस्त राजमार्ग पर चलने की उसकी समस्त शक्ति खाए जा रहा है। पुरी उसकी इस दुःखद स्थिति को देखकर सहानुभूति से भर उठता है। वह उसके दर्द को पिघला देना चाहता है जिससे कि उर्मिला जीवन के सौन्दर्य का दर्शन कर सके और पहाड सी आगे पडी जिन्दगी को वास्तविक रूप मे भोग सके। पुरी स्वयं कटु जीवन की विभीषिका को भूलने के लिए एक अत्यन्त आत्मीय स्वजन चाहता है। कनक की आकांक्षा उसके जीवन में है अवश्य पर कनक इस समय उसके पास नहीं है। सहानुभूति से भर कर एक दिन पुरी उर्मिला को सीने से लगा लेता है। उर्मिला का दर्द धीरे-धीरे पिघल जाता है और वह पुनः मुखर हो जाती है। पुरी के जीवन मे उर्मिला का प्रवेश आकस्मिक है। उर्मिला उसके जीवन मे गहरे पैठती जाती है पर पुरी समझता है कि वह कनक को ही अधिक चाहता है। इसी बीच उर्मिला के घर वाले उसे छोड़कर चले जाते हैं। निःसहाय उर्मिला के लिए अब पुरी का ही एक-मात्र सहारा रह गया है। इधर कनक अपने परिवार के साथ भारत की राजधानी दिल्ली में आ जाती है और यहीं से राजधानी की राजनैतिक गतिविधि उपन्यास का केन्द्र बन जाती है। कहर ढाने में हिन्दू मुसलमानो से कम नहीं रहे। भारत की राज-धानी में भारत सरकार को मानवीय असाम्प्रदायिक नीति के बावजूद मुसलमानो के घरों में आग लगाई जाती है। उनकी बहू-बेटियो की अस्मतें लूटी जाती हैं। पाकिस्तान जाना चाहने वाले मुसलमानो की भी हत्या की जाती है। क्या भारत क्या पाकिस्तान सर्वत्र नारियो पर ही सर्वाधिक अत्याचार होता है मानों समाज का यह दुर्बल अंग ही सबके क्रोध का आश्रय हो। लोगो को अपने गाधी अपने नेहरू की भी बातो का विश्वास न रहा। सडको पर पाकिस्तान से आए शरणार्थी 'गाधी नेहरू मुर्दाबाद' के नारे लगाते फिरते हैं। प्रतिहिंसा की जलती आग को ये शरणार्थी रोक नही पा रहे हैं। इन परिस्थितियो से दुःखी होकर गाधी जी अनशन प्रारम्भ कर देते हैं। वे भारत द्वारा पाकिस्तान को उसके हिस्से का रुपया न दिये जाने का भी विरोध करते हैं। गाधी जी प्रत्येक प्रश्न को मानवीय दृष्टि से देखते थे। उनका मत था कि भारत के मैत्री के लिए आगे बढे हाथ को पाकिस्तान यों ही नहीं लौटा देगा और भारत में मुसलमानो के साथ किए गये अच्छे व्यवहार का प्रभाव पाकिस्तान पर भी पडेगा जिससे कि साम्प्रदायिकता का यह विषधर नाग नवस्वतन्त्र दोनो राष्ट्रों को असमय ही कालकवलित न कर पाएगा। गाधी जी की आशा कहाँ तक पूरी हुई, यह दूसरी बात है। पर इससे गाधी के मानवीय दृष्टिकोण पर प्रश्न चिह्न नहीं लग सकता। गाधी जी के उदार दृष्टिकोण का मानवीय

मुसलमानों ने अनुचित लाभ भी उठाया। यों भी गांधीजी ने अपनी व्यक्तिगत इच्छा के सामने राज्यसत्ता को झुकाकर एक ऐसी मिसाल कायम की जिसका अनुकरण कर आज सभी गांधी बन बैठे हैं। आज गांधी जी के दिखाये गए अनशन के मार्ग का अनुसरण कर लोग अपने क्षुद्र स्वार्थों के सामने भी राज्यसत्ता को झुकाना चाहते हैं, पर गांधी जी के महान् आदर्शों का इस गलत ढंग से प्रयोग करने पर उनके महान् उद्देश्यों का मूल्य नहीं कम होता। कनक दिल्ली में आकर पत्रकार बनती है। वह गांधी जी के विचारों के मानवीय पहलू को समझती है और हृदय से उनकी समर्थक है, पर उसके विचारों को गलत रूप में पाठकों के सामने रखा जाता है। स्वयं उसके साथ पत्र के सम्पादक तथा उसके एक मित्र अभद्र व्यवहार करते हैं। वह दिल्ली के पत्रकार-जीवन में अपना कोई स्थान नहीं देखती। वहां उसे अपनी अस्मत ही खतरे में दिखाई देती है, इसलिए वह लखनऊ जाकर अपना भाग्य आजमाना चाहती है, पर लखनऊ का वातावरण भी कम दूषित नहीं। वहां भी उसे प्रसाद जी जैसे रूपलोभी का सामना करना पड़ता है। वहां कनक को नौकरी तो मिल जाती है, पर इसके लिए गिल को त्याग करना पड़ता है। गिल मार्क्सवादी विचारधारा का पोषक है। प्रथम परिचय में ही कनक का सहानुभूति के लिए भूखा हृदय गिल की ओर झुक जाता है। इसके अलावा उसे गिल से यह आशा भी है कि वह उससे पुरी का पता जान सकेगी। गिल इस समय पुरी का पता नहीं जानता पर परदेश में सहानुभूति के लिए भूखे गिल और कनक एक दूसरे की ओर झुकते चले जाते हैं और ऐसा लगता है कि कनक गिल को आत्मसमर्पण कर देगी, पर पुरी का प्रेम उसे ऐसा नहीं करने देता। बहुत सोच-समझ कर वह यही निश्चित करती है कि गिल के साथ उसका व्यवहार आत्मीय मित्र का-सा ही रहेगा और गिल कनक की मर्जी के खिलाफ कुछ नहीं कर सकता। साम्प्रदायिक उन्माद की ज्वाला में वह अपनी प्रेमिका को खो चुका है, पर इससे उसके जीवन की भूख नहीं मर गई। वह समझता है कि कनक को पाकर उसके सभी घाव भर जाएँगे। भौतिकतावादी दर्शन ने जीवन का व्यावहारिक दृष्टिकोण तो उसे दिखाया है पर साथ ही साथ वह व्यक्ति की कद्र जानता है। कनक को नैयर के पत्र से पुरी का पता मिल जाता है। वह जाकर पुरी से मिलती है, पर वहां उर्मिला और पुरी को एक साथ देख कर वह स्तम्भित रह जाती है। पुरी परिस्थिति का गलत-सही अर्थ बता कर कनक का परितोष करता है। पुरी चाहकर भी उर्मिला को अपने घर नहीं रख सकता क्योंकि वह नगर का प्रतिष्ठित नागरिक है, कांग्रेस का जाना-माना नेता है और है अत्यन्त प्रतिष्ठित पत्र का सम्पादक। वह एक लावारिस लड़की को घर में रख कर अपनी प्रतिष्ठा का त्याग, आर्थिक सुविधा और राजनैतिक गतिविधि का त्याग नहीं कर सकता। फल यह होता है कि उर्मिला सूद और पुरी के प्रयत्न से नारिसङ्घ का काम सीखने के लिए भेज दी जाती है। मूक उर्मिला जिसके पेट में पुरी का बच्चा है अपने स्वत्व की भी मांग नहीं कर पाती। वह शोषित-

पीड़ित भारतीय नारी की जीवन्त मूर्ति है। पुरी की राजनैतिक महत्त्वाकांक्षा उससे वह निकृष्ट पाप करवा लेती है, जिसे वह नहीं चाहता। उर्मिला के रास्ते से हट जाने पर पुरी और कनक के विवाह की बाधा समाप्त हो जाती है। वे दोनों पति-पत्नी गिल को बुला कर पत्र का प्रकाशन जोर-शोर से करने लगते हैं।

दूसरी ओर पुरी की बहन तारा पाकिस्तान से उद्धार कर लाई लड़कियों के साथ दिल्ली पहुँचती है। तारा जानती है कि मुसलमानों के घर रह आई लड़कियों को मिथ्याभिमानी हिन्दू-समाज ग्रहण नहीं करेगा। वह स्वयं अपने भाई तथा ससुराल वालों से असन्तुष्ट है। इसलिए स्वाभिमानिनी तारा कैम्प वालों को अपने सम्बन्धियों का नाम नहीं बताती। वह पराजित नहीं रहना चाहती। पति तथा पुत्र के लिए ही अपने नारीत्व को बलि करनेवाली बंती की दुर्दशा वह देख चुकी है। कैम्प के जीवन-घोंटू वातावरण में वह रह नहीं सकती। बहुत प्रयत्न के बाद वह किसी प्रकार मिसेज अग्रवाल के यहाँ लड़कों-लड़कियों की गवर्नेस के रूप में नौकरी पा जाती है। मिस्टर अग्रवाल के पुत्र नरोत्तम तारा के प्रति आकर्षित होते हैं और उसके साथ सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करते हैं। उधर मिसेज अग्रवाल यह समझती हैं कि अग्रवाल साहब उसकी ओर आकर्षित हैं। इसलिये उनका तारा के साथ व्यवहार दिन-प्रतिदिन तिक्त ही होता जाता है। तारा वहाँ रहना नहीं चाहती। तारा को किसी प्रकार सरकारी नौकरी मिल जाती है और वह जाकर मर्सी के साथ रहने लगती है। मर्सी का घर कम्युनिस्टों का अड्डा है। नरोत्तम भी वामपन्थी विचारधारा की ओर झुका हुआ है। उसे अपने पिता के कार्यों में कोई रुचि नहीं है। मिस्टर अग्रवाल सफेदपोश कांग्रेसी हैं। कांग्रेस के कार्यों में आगे रहना, उच्चाधिकारियों को पार्टी देना, देना को प्रसन्न कर ठीके लेना और चाँदी काटना उनका व्यवसाय है। शासन की मशीनरी पर उनका तथा उनके जैसे पूँजीपतियों का इतना गहरा प्रभाव है कि नेहरूजी की इच्छाओं के बावजूद भी देश की प्रगति नहीं हो पाती। नरोत्तम यह नहीं चाहता। वह इस मार्ग का त्याग कर स्वयं नौकरी करता है। नरोत्तम का तारा के प्रति आकर्षण सहानुभूति से भरा है। वह तारा से विवाह का प्रस्ताव करता है, पर तारा की अनिच्छा जानकर बात आगे नहीं बढ़ती। उसने तारा को अपनी बहन के रूप में स्वीकार कर लिया। इसी बीच शीलो रतन के साथ भाग कर उसके यहाँ आती है। तारा उन्हें आश्रय देती है जिसके फलस्वरूप तारा और पुरी की टक्कर होती है। पुरी पारिवारिक मर्यादाओं का पक्का हिमायती है और नहीं चाहता कि समाज के बंधनों को तोड़ने वाली शीलो को उसकी बहन तारा प्रश्रय दे। यद्यपि वह जानता है कि सोमराज के साथ तारा का वैवाहिक जीवन संतोषप्रद नहीं पर वह यह नहीं चाहता कि तारा अपने प्रति अनुत्तरदायी सोमराज को ठुकरा कर स्वतन्त्र हो जाय। उसका राजनैतिक स्वार्थ उसे सोमराज के विरुद्ध नहीं जाने दे सकता।

तारा अपने निश्चयों पर दृढ़ है। कनक उसे समझाने आती है पर तारा के व्यक्तित्व की छाप लेकर लौटती है। उसे अपने पति पुरी का पक्ष असमर्थनीय मालूम पड़ता है। कनक और पुरी के विचारों में कोई मेल नहीं है। पुरी दिन-प्रतिदिन प्रतिक्रियावादी होता चला जा रहा है। पैसे के लोभ और राजनैतिक स्वार्थ के कारण वह वस्तुस्थिति का पोषक है। समाज के क्रान्तिकारी परिवर्तनों में उसकी आस्था नहीं है। यही नहीं पत्रकार होकर भी उसके अपने विचारों का कोई महत्त्व नहीं है। उसकी व्यावसायिक बुद्धि सदैव सचेष्ट रहती है और वह सूद की राजनैतिक महत्वाकांक्षा का खिलौना मात्र रह गया है। कनक उसकी अपेक्षा अधिक प्रगतिशील है। वह अपने विचारों के महत्व को समझती है। कनक का वैवाहिक जीवन भी सन्तोषप्रद नहीं है। पुरी अपने कामाचार में पूर्णतया बर्बर पशु के समान है। वह उत्तेजित होकर कनक से संभोग करता है परन्तु क्षणभर के बाद एक विचित्र मनःस्थिति में आकर उसके बालों को नोचता है उसका अपमान करता है। यौन दृष्टि से कनक पुरी से सबल है, पुरी उसका सन्तोष नहीं कर पाता इसलिए उसे अपनी प्रबल वासना का दमन करना पड़ता है। अस्वाभिक संयम के कारण वह ऐसी स्थिति में पहुंच जाती है कि पुरी का उत्तेजित पागलपन उसके लिए असह्य है। वस्तुतः पुरी के अन्तर्मन में उर्मिला का प्रवेश गहरे स्तर तक हो गया है। उर्मिला के त्याग से वह अपने भीतर एक प्रकार का अपराध भाव अनुभव करता है। कनक को ही वह उर्मिला-विछोह का कारण मानता है इसलिए कनक को पीड़ित कर अपने अन्तर्मन की तुष्टि करता है। कनक उसके साथ मित्र का-सा व्यवहार करना चाहती है पर उनके बीच की खाई नहीं पटती और उसे पुरी का त्याग करना पड़ता है।

उधर तारा नरोत्तम को अपने भाई के रूप में ग्रहण करती है। दिल्ली में कार्य करते समय ही उससे डॉ० प्राणनाथ की मुलाकात होती है। पूर्वपरिचय तथा डाक्टर के मृदुल व्यवहार के कारण तारा उसकी ओर झुकती है और धीरे-धीरे यह झुकाव प्रणय में परिवर्तित हो जाता है। वे दोनों अपने प्रेम को विवाह में बदल डालते हैं, पर पुरी तथा तारा के पहले पति सोमराज को यह बात अपनी राजनैतिक प्रतिष्ठा के लिए घातक मालूम पड़ती है। राजनैतिक चालबाजियों द्वारा इस संबंध को तोड़ने का प्रयास किया जाता है। इधर एलेक्शन भर पर रहने के कारण सूदजी उसी में व्यस्त रहते हैं। सत्ता को हथियाने का अथक प्रयास किया जाता है। अपने पक्षपातियों को कोटा दिया जाता है और अन्य प्रकार के भी राजनैतिक हथकण्डे प्रयोग में लाये जाते हैं, पर जनता जागरूक है। छोटे-छोटे बच्चे तक नारा लगाते हैं—"गली-गली में शोर है सूद पुरी चोर है।" कनक को छोड़ने में पुरी अपनी अप्रतिष्ठा समझता है पर कनक किसी भी प्रकार उसके साथ रहने के लिए राजी नहीं। वह तलाक चाहती है, पर पुरी तलाक

नहीं देता। मनक का गिल के प्रति आकर्षण बढ़ता जाता है। वह पुरी से मुक्ति पाकर गिल की हो जाना चाहती है। वह पुरी के विरुद्ध तारा के पक्ष मे गवाही देने को भी तैयार है। अपनी स्थिति सुरक्षित रखने के लिए पुरी उसे तलाक दे देता है। इधर तारा और प्राणनाथ की बात नेहरूजी तक चली जाती है। उनके विरुद्ध किसी प्रकार की विभागीय कार्यवाही नही हो पाती। पजाब के एलेक्सन मे सूदजी १७००० वोट से हार जाते हैं और कनक गिल को आत्मसमर्पण कर देती है। सक्षेप मे यही उपन्यास की कहानी है।

झूठा-सच की कथावस्तु अत्यन्त सुगठित है। उपन्यास के वृहत्काय कलेवर तथा विषय की व्यापकता को देखकर कथानक मे बिखराव की सम्भावना हो सकती थी, पर यशपाल की कुशल लेखनी कथानक का चुस्ती मे किसी प्रकार की कमी नही आने देती। उपन्यास में कथा धारा-प्रवाह रूप में चलती है। पंजाब और दिल्ली दो भिन्न स्थानो की घटित होनेवाली घटनाओ को आद्यन्त एक सूत्र मे पिरो दिया गया है। उपन्यास की कथा के प्रमुख केन्द्र हैं तारा, कनक और पुरी। समस्त घटनाएँ इन्हीं प्रमुख पात्रों के इर्द-गिर्द घूमती रहती हैं और अन्य पात्र भी इन्ही से सम्बन्धित होकर कथा मे स्थान पाते हैं। उपन्यास मे यशपाल के राजनैतिक विचारो का भी प्रतिफलन हुआ है, पर सामान्य रूप से राजनैतिक विचार कथा-प्रवाह पर हावी नही हो पाते। उपन्यास के उत्तरार्ध में राजनैतिक विषयो पर कुछ नीरस बहसें अवश्य हैं जिनका कथा-प्रवाह से कोई सम्बन्ध नही पर उपन्यास के उद्देश्य को देखते हुए उसके लिए लेखक को दोषी नही ठहराया जा सकता। सब कुछ होते हुए भी कथावस्तु के गठन की दृष्टि से यशपाल का यह उपन्यास एक उत्तम कलाकृति है।

चरित्रांकन की दृष्टि से यशपाल के पात्र अपने अपने वर्गों का प्रतिनिधित्व करते हुए ही अधिक दिखाई देते हैं। यशपाल अपने पात्रो की वर्गगत विशेषताओ को उभाड़ने मे अधिक सफल हैं। सामाजिक और राजनैतिक गतिविधि का लेखक का अध्ययन अत्यन्त गहरा है इसी कारण उसके पात्र वर्गों के प्रतीक होकर भी जीवन्त मालूम होते हैं। पुरी और सूद टिपिकल कांग्रेसी के रूप में सामने आते हैं। सामान्य कांग्रेसी की भांति उनमें भी निजी स्वार्थसिद्धि, पदलिप्सा और प्रतिक्रियावादी दृष्टिकोण की प्रधानता है। पदमोह के लिए व अपने आदर्शों का भी हनन कर सकते हैं। तारा और कनक आधुनिक पढ़ी लिखी विचारशील नारी वर्ग का प्रतिनिधित्व करती हैं। दोनो स्वाभिमानिनी हैं और जीवन के प्रति स्वस्थ दृष्टिकोण रखती हैं। वे पुरुष के साथ समता के आधार पर ही सम्बन्ध कायम कर सकती हैं। पुरानी रूढियो से वे बँधी नही रह सकतीं। वे समाज मे अपना स्थान बनाने के लिए सघर्षशील हैं और समाज के प्रगतिशील 'तत्वो' से सहानुभूति रखती हैं। फिर भी यशपाल पर यह आक्षेप किया

जा सकता है कि वे तारा और कनक के चरित्र के वैयक्तिक पहलू को नहीं उभाड पाए। प्रत्येक व्यक्ति का अपना व्यक्तित्व होता है, उसकी अपनी कुछ ऐसी विशेषताएँ होती हैं जिनके कारण वह अन्य व्यक्तियों से भिन्न मालूम पड़ता है। तारा और कनक सभी दृष्टियों से एक-सी ही दीखती हैं। उनके व्यक्तित्व का कोई ऐसा पहलू नहीं उभड पाया है कि जिसके कारण वे अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व की घोषणा कर सकें। यशपाल के कम्युनिस्ट पात्र आदर्श रूप में सामने आते हैं। अन्य उपन्यासों की भाँति यहाँ भी उनके प्रति लेखक का पक्षपात प्रकट होता है। गिल, चड्डा, प्राणनाथ आदि ऐसे ही पात्र हैं। उपन्यासकार इन्हें समाज के प्रगतिशील तत्त्वों के रूप मे चित्रित करता है और प्रकारान्तर से यह भी व्यक्त करता है कि ऐसे ही व्यक्ति देश की आशा के केन्द्र हैं। देश इन्हीं का आश्रय लेकर आगे बढेगा। उपन्यास के इस भाग मे उर्मिला का चरित्र अधिक निखरा है। वह मूक बलिदान करने वाली भारतीय नारी की असहायावस्था का जीवन्त चित्र है।

यशपाल को देश-काल तथा घटनाओं के यथार्थ चित्रण में कमाल हासिल है। उपन्यास के सर्वाधिक सशक्त अंश सम्भवत: वे हैं जहाँ पर लेखक ने विभाजन के बाद की परिस्थितियों और घटनाओं का विवेचन किया है। इन समस्याओं को लेकर इतने मार्मिक और यथार्थ रूप में प्रस्तुत करने वाला दूसरा उपन्यास सम्भवतः हिन्दी में नहीं है। कल्पित पात्रों और उनके सम्बन्ध में कल्पित घटनाओं को लेकर लिखा गया यह उपन्यास झूठ है, पर ऐसा झूठ जिसके सत्य होने में किसी प्रकार का संदेह नहीं किया जा सकता। ये पात्र कल्पित हैं, पर ऐसे पात्र यहाँ रहे हैं और ऐसी घटनाएँ यहाँ घटी हैं। इतिहास के सम्बन्ध मे कहा जाता है कि उसमें नाम के अलावा कुछ भी सत्य नहीं रहता, पर साहित्य में नाम के अलावा सब कुछ सत्य होता है। झूठा-सच विभाजन के बाद के भारतीय जन-जीवन की दर्दभरी जटिल परिस्थिति का ऐसा सच्चा चित्र पाठकों के सामने रखता है जैसा इतिहास लाख प्रयत्न करने पर भी सामने नहीं रख पाएगा।

भाषा-शैली तथा शिल्प की दृष्टि से यह उपन्यास यशपाल के अन्य उपन्यासों की ही भाँति है। इसमें हम यशपाल की सृजनशील प्रतिभा का कोई नया मोड नहीं पाते।

अन्य उपन्यासों की भाँति इस उपन्यास में भी यशपाल के साम्यवादी विचार पाठक के सामने आए हैं। लेखक का उद्देश्य है उन प्रगतिशील विचारों को पाठक के सामने वास्तविक रूप में रखना। प्रगतिशील विचारों से किसी का क्या विरोध हो सकता है। पर यशपाल का साम्यवादियों के प्रति पक्षपात कभी-कभी खल-सा जाता है। जिस प्रकार उन्होंने पुरी और कनक का विद्रोह करा कर कनक को गिल के हवाले किया है उससे उनका साम्यवादियों के प्रति अनुचित पक्षपात ही लक्षित होता

है। ऐसा मालूम पड़ता है कि लेखक यह प्रदर्शित करना चाहता है कि कम्युनिस्ट ही पढ़ी-लिखी स्वाधीनचेता नारियों का ध्यान आकृष्ट कर सकते हैं और वे ही किसी नारी का पूर्ण परितोष भी कर सकते हैं। नर-नारी सम्बन्ध के विषय मे कम्युनिस्ट ही आदर्श हैं ऐसा तो नही ही माना जा सकता। इतना सब होते हुए भी यह उपन्यास आजकल के कांग्रेसियों की स्वार्थपरता और देश की नवजाग्रति का अच्छा चित्र उपस्थित कर देता है। 'देश का भविष्य' उन नवयुवकों के साथ है जो पूर्णतया क्रान्तिकारी हैं, रूढ़ियों के बन्धन से मुक्त हैं और जो सभी बातों पर नई दृष्टि से विचार करते हैं।

उपेन्द्रनाथ 'अश्क'

उपेन्द्रनाथ 'अश्क' मूलतः मध्यवर्गीय समाज को यथार्थ रूप में प्रस्तुत करने की ओर ही विशेष रत रहे हैं। अब तक उनके 'सितारा के खेल', 'गिरती दीवारें', 'गर्म राख', 'बड़ी बड़ी आँखें', 'पत्थर-अलपत्थर' और 'शहर मे घूमता हुआ आईना' नामक छः उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं। इनका एक और उपन्यास 'बाँधो न नाव इस ठाँव' धारावाहिक रूप मे 'नई कहानियाँ' नामक कहानी पत्रिका मे अपूर्ण प्रकाशित हुआ है।

'सितारों के खेल' नामक उनके प्रथम उपन्यास को देखकर 'अश्क' जी की भावी दिशा का ज्ञान कर पाना अत्यन्त कठिन था। आगे चलकर उन्होंने अपने अन्य उपन्यासों में जिस तटस्थ यथार्थवादी दृष्टि का परिचय दिया है, उसका 'सितारों के खेल' मे नितांत अभाव था। शीर्षक से ही स्पष्ट हो जाता है कि उपन्यासकार धरती की अपेक्षा आकाश की ओर अधिक देख रहा है। पर उसने आकाश को देखा है तब जब धरती की पीड़ा को बर्दाश्त नही कर सका। यह पीड़ा भले समाजगत न होकर व्यक्तिगत रही हो। यह उपन्यास प्रेम और विवाह की समस्या पर प्रकाश डालता है। मानव समाज की सफलता और असफलता पर 'सितारों की' दृष्टि रहती है वे भाग्य के साथ खिलवाड़ किया करते हैं। लता नाम एक नारी को विभिन्न परिस्थितियों में रखकर उसके मन में उठने वाले प्रेमपरक द्वन्द्वों का चित्रण करना ही उपन्यासकार का मूल उद्देश्य रहा है। परिस्थितियों का निमाण घटनाओं के आधार पर किया गया है। लता की भावुकता पर वासना की विजय दिखला कर उपन्यासकार ने आदर्श के बीच से यथार्थ का द्वार खोल दिया है। विकलांग यशी को डॉ० अमृत राय क लिए विष देना जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण है।

'गिरती दीवारें' के प्रकाशन के साथ 'अश्क'-जी का वर्तमान उपन्यासकार स्वरूप सामने आया जो उत्तरोत्तर 'शहर में घूमता आईना' तक विकसित होता गया है। 'गिरती दीवारें' में उपन्यासकार ने चेतन नामक एक निम्न मध्यवर्गीय व्यक्ति की कहानी कही है जो अपनी उपस्थिति से आर्थिक विषमता और यौन-सम्बन्धी कुण्ठा का सजीव चित्र उपस्थित कर देता है। इसमें सन्देह नहीं कि भारतीय मध्य वर्ग इन्हीं दो सम-

स्याओं का शिकार है जिससे उसका व्यक्तित्व टूटता जा रहा है। इस उपन्यास में मध्यवर्गीय समाज की विषम परिस्थितियों और उनके कारणों को तो उभाड़ कर रखने की चेष्टा की गई है पर किसी समाधान पर पहुँचने की लेखक ने चेष्टा नहीं की है। पूर्वप्रसंग में इस उपन्यास की चर्चा मैंने अन्यत्र की है।

'गिरती दीवारें' की भाँति ही 'गर्म राख' में भी अश्क जी ने एक जगमोहन नामक पात्र के आधार पर मध्यवर्गीय युवक की यौन-सम्बन्धी कुण्ठाओं का चित्रण किया है। 'गिरती दीवारें' में तो फिर भी आर्थिक विपन्नता एवं अन्य सामाजिक कुरीतियों की ओर उपन्यासकार का ध्यान गया था पर इस उपन्यास में जाकर तो वह केवल यौन-अतृप्त युवक की मानसिक कुण्ठाओं को ही व्यक्त करता रह गया। चेतन में भी हमें इस कुण्ठा के दर्शन हुए थे पर जगमोहन को तो जैसे चेतन की कुण्ठा का ही दाय मिला है। अपनी साधनहीनता और सामाजिक विपन्नता के बीच 'गर्म राख' का युवक जगमोहन आकांक्षा और महत्त्वाकांक्षा की गुत्थी सुलझाता रह जाता है। चारित्रिक दृढ़ता का भी इस युवक में अभाव है। प्रेम करता है और छोड़ देता है। दूसरी प्रेमिका की तलाश उसे बराबर रहती है और वह मध्यवर्गीय जीवन-दर्शन से बहुत दूर हटकर अवसरवादी बन जाता है।

'बड़ी-बड़ी आँखें' और 'पत्थर अलपत्थर' अश्क जी के लघु उपन्यास है जिसमें उन्होंने नए शिल्प का आग्रह दिखलाया है। विषयगत कोई नवीनता नहीं है। एक को यदि राजनीतिक उपन्यास की संज्ञा दी जा सकती है तो दूसरे को यथार्थवादी।

शहर में घूमता आईना

अश्क जी का यह बहुचर्चित छठा उपन्यास है जिसे लिखने में उन्होंने अपने जीवन के छः वर्षों से भी अधिक समय गुजारे हैं। उपन्यास के प्रमुख पात्र और उसकी कथाभूमि नई नहीं बल्कि पुरानी है। अश्क जी के प्रसिद्ध उपन्यास 'गिरती दीवारें' को जिन्होंने पढ़ा होगा उन्हें ऐसा अवश्य लगा होगा कि उपन्यासकार की ओर से अभी कुछ कहना शेष है। इस उपन्यास के अधूरे अन्त को ही उपन्यासकार ने 'शहर में घूमता आईना' में आगे बढ़ाया है। गिरती दीवारें की नीला, चन्दा और चेतन अपनी पुरानी कथा के साथ इसमें वर्तमान हैं। उपन्यास में चित्रित वातावरण और घटनास्थल पुराना ही है। चेतन की भूल के कारण ही उसकी सुन्दरी साली नीला का विवाह एक अधेड़ भोंड़े एवं भद्दी आकृति के एकाउन्टेंट से हो गया था जिसका चित्रण 'गिरती दीवारें' के अन्तिम अंश में हुआ था। नीला के प्रति सदय एवं सहृदय चेतन नीला का जीवन नष्ट करने का अपराध अपने सर पर रख वेदना से घुटने लग जाता है। उसकी आत्मा उसे कोसती है और अपनी बेचैनी को कम करने के लिए वह अपने चिरपरिचित शहर जालंधर में घूमने निकल पड़ता है। शहर और उसमें अपने परिचित लोगों को

चेतन ने अपनी मनोवृत्ति के आधार पर ही देखा है। नये पुराने न जाने कितने चित्र उसकी आँखों के सामने सिने रील की भाँति घूमने लग जाते हैं। अतीत की सुखद स्मृतियों में वह कभी गोता मारना भी चाहता है तो उसके अभाव की अनुभूति उसे वेदना-सिंधु में तत्काल डुबोने लग जाती है। उसे जितने मिले सभी अभावग्रस्त, दुःखी, प्रवंचित और पीड़ित। इसलिए तो नहीं कि दुःख देखकर दुःख हलका हो जाय। कुछ ऐसे भी मिले जिनकी समृद्धि देखकर चेतन को अपने अभाव का बोध हुआ जैसा कि प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में होता है। उपन्यासकार ने इस उपन्यास में अनेक ऐसे चित्रों की प्रदर्शनी लगा दी है जिनका परस्पर न तो कोई सम्बन्ध है और न तो वे सब मिलकर उपन्यास के कथ्य को आगे बढ़ाते हैं। कथा तत्व जैसी कोई वस्तु तो पाठकों को इस उपन्यास में मिल ही नहीं सकती। जितने चित्र आए हैं उनका अपना अलग स्वतंत्र अस्तित्व है, उनका सम्बन्ध केवल चेतन से है। चेतन का सम्बन्ध उपन्यास में आई सभी घटनाओं एवं उनके लिए गए चित्रों से है। अतः सभी चित्र उपन्यास के अंग हैं। इस उपन्यास में आए चित्रों को भी कालक्रम के अनुसार दो भागों में बाँटा जा सकता है। प्रथम भाग में तो उन चित्रों को रखा जा सकता है जो स्मृति के आधार पर खींचे गए हैं और दूसरे भाग में उन चित्रों को रखा जा सकता है जो चेतन की आँखों के सामने घूम रहे हैं।

प्रथम भाग के चित्रों में कुछ ऐसा आकर्षण है कि पाठक को इसकी थोड़ी अनुभूति होती है क्योंकि उनका सम्बन्ध उन तीव्र अनुभूतियों से है जो सहृदय को समान रूप से प्रभावित करती हैं। विवाह के पूर्व जब चेतन ने अपनी भावी पत्नी चंदा को देखने का प्रयत्न किया था तो उसी समय उसे उसकी सुन्दरी साली नीला के दर्शन हुए थे। नीला के सौंदर्य में कुछ ऐसा आकर्षण था कि चेतन का समस्त अन्तर्जगत एक अपूर्व रस गंध से भर गया। चन्दा से विवाह हो जाने के बाद तो अनेक ऐसे अवसर आए जबकि चेतन ने नीला के साहचर्य का लाभ उठाया। पत्नी को माध्यम बनाकर लिखे गए पत्रों में तो वह नीला के सम्मुख ही प्रकट होता रहा। चन्दा की सरलता, उसकी पारिवारिक सीमा और अटूट विश्वास के कारण चेतन नीला की एकांत सेवाओं से भी उपकृत हो चुका था। नीला के सहज स्वाभाविक आकर्षण से भी चेतन अपरिचित नहीं था पर वह अपनी पत्नी चन्दा और साली नीला के सम्बन्धों के प्रति इतना वफादार है कि मानसिक घुटन को केवल बर्दाश्त ही नहीं कर लेता बल्कि भविष्य में भी बचने के लिए नीला के शीघ्र विवाह की व्यवस्था में योगदान भी देता है। यहाँ पर लेखक की व्यक्ति की नैतिक निष्ठा के प्रति आस्था व्यक्त है। आदर्शयुक्त भावुकता से प्रेरित होकर उसने नीला को तो दूसरे के गले में बाँध दिया पर नीला ने जो उसके सम्पूर्ण अस्तित्व को भिगो दिया था, उसका क्या परिणाम होता। चेतन को उसका प्रायश्चित्त तो करना ही था। उसकी बेचैनी के मूल में है नीला के रूप-गुण और

हुआ है, उससे पाठकों को कुछ मिल नहीं पाता। उसका मनोरंजन भले हो जाता हो। उपन्यासकार को प्राए सभी चित्र लुभा सके हैं, पर उन्हें चित्रित करके वह पाठकों को नहीं लुभा पाया है। किसी भी प्रकार के व्यापक दृष्टिकोण का इस उपन्यास में नितान्त प्रभाव है। नीरस इतिवृत्तात्मक वर्णनों से उपन्यास भरा पड़ा है। पठनीयता उपन्यास की प्रमुख विशेषता होती है जिसका इस उपन्यास में प्रभाव है। चेतन के माध्यम से भी हिन्दी-जगत को कोई सशक्त पात्र की उपलब्धि नहीं हो सकी है। चाहे प्रेम का क्षेत्र हो अथवा जीवन-संघर्ष का, वह एक भीरु युवक के रूप में दिखलाई पड़ता है। या तो वह परिस्थितियों के सामने सर झुका देता है अथवा उनसे भाग कर दूर खड़ा हो जाता है। मुँह छिपा कर रोना जानता है और अपनी असमर्थता में प्रमाण देकर सन्तोष कर लेता है। नीला की अवस्था का ध्यान उसे बराबर बना रहा, वृद्ध विवाह के कुपरिणामों से वह सुपरिचित है पर सन्तोष की साँस लेने के लिए उसके लिए इतना ही पर्याप्त है कि "जब कुन्ती अपने वैधव्य से समझौता करके हँस सकती है तो नीला कैसे न हँसेगी।" चंदा का चरित्र भारतीय नारी के अनुकूल है जो अपनी मौन साधना से पति के जीवन पर अन्त तक सुख की लेप चढ़ाती रहती है।

शिल्प की दृष्टि से 'अश्क' जी का यह उपन्यास एक नया प्रयोग कहा जा सकता है। उन्होंने बारह घंटे में ही वर्षों पीछे की कथा को समेटते हुए इतने विविध चित्रों का समावेश इस उपन्यास में कर दिया है कि उपन्यास में हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष जैसी समस्या, नारी का वैधव्य, वृद्ध विवाह, वर्तमान समाज में पाये जानेवाले विविध प्रकार के लोगों का जीवन तथा वैयक्तिक अन्तर्द्वन्द्व आदि का अत्यन्त सजीव एवं यथार्थ चित्रण हो गया है। इसे स्वीकार किया जा सकता है कि शिल्प के क्षेत्र में 'अश्क' जी ने नए क्षितिज का उद्घाटन किया है पर सफलता की सम्भावना आगे लिखे जाने वाले उपन्यासों पर ही निर्भर करती है।

अमृतलाल नागर

'नवाबी मसनद', 'सेठ बांकेमल', 'महाकाल' 'बूँद और समुद्र', 'शतरञ्ज के मोहरे' तथा 'सुहाग के नूपुर' आदि उपन्यासों के यशस्वी लेखक अमृतलाल नागर का स्थान आधुनिक उपन्यासकारों में बड़े महत्त्व का है। इनके 'बूँद और समुद्र', 'शतरंज के मोहरे' तथा 'सुहाग के नूपुर' को अपेक्षाकृत अधिक ख्याति मिली है।

बूँद और समुद्र

रूढ़िग्रस्त समाज की दुर्बलताएँ, उसकी अव्यवस्थित मान्यताएँ, उसके बहुमुखी परम्परा-पालित विकार एवं दुर्व्यवस्था ही वह अथाह समुद्र है जिसमें लघु बूँद की भाँति प्रच्छन्न मानव विशाल लहरों की विभीषिका में अपना निजी अस्तित्व रखते हुए भी उससे पृथक् रहने को विवश है। लेकिन बूँद का अपना अस्तित्व है, वह स्वयं को इकाई

में पूर्ण है, उसकी आत्मा प्रभावपूर्ण है और उससे भी आशा है कि वह दुर्व्यवस्थाओं में अनमिल होकर समाजरूपी सागर को एक सुव्यवस्था प्रदान कर सकता है। एक वन-कन्या और एक सज्जन चाहे सारे-के-सारे समाज की दुर्बलताओं को भले ही न मिटा सकें, पर वे अपनी आत्मा का उत्सर्ग करके एक विशेष वर्ग, एक निश्चित दायरे के समाज को अवश्य ही लाभ पहुँचा सकते हैं; यही उपन्यास का मुख्य विषय है। जैसा लेखक का दावा है कि प्रस्तुत उपन्यास यथार्थवादी है, पाठक इससे पूर्णरूप से सहमत होंगे, ऐसी आशा है।

लेखक ने मध्यमवर्ग के समाज को लेकर उसकी सचाई का अनुभव जिस पैठ के साथ किया है वह अत्यन्त सराहनीय है। छोटे-से-छोटा चित्र भी फोटोग्राफी की भाँति निखर कर स्पष्ट हो गया है। हम इसे अवश्य स्वीकार करेंगे कि इसी चित्रण के मोह के कारण यह उपन्यास उस सीमा का भी उल्लंघन कर गया है जहाँ पाठक में उत्सुकता का स्थान वृहद्ता की उकसाहट ले लेती है। यथार्थ के चित्रण में केवल यही आवश्यक नहीं है कि उसके यथावत् रूप को प्रदर्शित करने के लिए अणु से लेकर ब्रह्मांड का ही पूरा चित्रण किया जाय। इस कार्य में संकेत एवं व्यंजना का सहारा कलाकार के लिए बहुत उपयुक्त सिद्ध होता है। उपन्यास में आधे से अधिक अंश ऐसा है जिसके न रहने पर भी उपन्यास का सम्यक् प्रभाव उतना ही रहता जितना इन सब अंशों को जोड़ने के उपरान्त। पचासों ऐसे पात्र केवल एक झलक दिखाकर ओझल हो जाते हैं जिनका कथा से कोई सीधा क्या टेढ़ा लगाव भी नहीं है। यह दोष यथार्थ के नाम पर भले ही क्षम्य हो सकता है, पर कथानक की शिल्प-कुशलता की दृष्टि से पूर्णतया दोषयुक्त है। ठीक यही अवस्था लम्बे-लम्बे अवांछनीय स्थलों की है। समाज के ज्वलंत प्रश्न उपन्यास में संवाद के माध्यम से मुखर होकर पाठक के लिए उतने प्रभावोत्पादक सिद्ध नहीं होते जितना कथानक का आधार लेकर। साहित्यकारों की गोष्ठी (जिसमें स्वयं अमृतलाल नागर विद्यमान हैं), मुहल्ले के लोगों की वार्ता तथा सज्जन, महिपाल एवं कर्नल के लम्बे-चौड़े तर्क आदि ने इस उपन्यास को बहुत भारी-भरकम बना दिया है।

यथार्थवादी चित्र उपन्यास में आने के साथ ही लेखक साम्यवादी सिद्धान्तों पर सोचने के लिए विवश हो जाता है। इसका लेखक भी इससे बच नहीं पाया है। साम्यवादी चेतना के प्रतीक के रूप में उसने 'वनकन्या' को उपस्थित किया है जिसका बूंद का अडिग अस्तित्व सारे लखनऊ के समाज में चर्चा का विषय बन जाता है। जीवन की रंगीनियों में मस्त रहनेवाले धनी वर्ग का प्रतीक 'सज्जन' अंत में उसी प्रभाव के कारण अपनी चित्रकारी भावना को दबा कर समाज-सुधारक के रूप में दिखाई देता है। वह अपना सारा वैभव समाज-सेवा के लिए सहर्ष अर्पित कर देता है। लेखक ने साम्यवादी मान्यताओं को ही दृष्टि में रख कर 'वनकन्या' के चरित्र का निर्माण किया है,

उससे नारी की आर्थिक स्वतन्त्रता का नारा लगवाया है। धन-सम्पदा का उपभोग मनुष्य को अवश्य ही नीचे गिरा देता है, इस पर लेखक ने 'सज्जन' को उदाहरण स्वरूप रखकर विशेष बल दिया है। सज्जन में मनुष्यत्व का वह प्रज्वलित दीपक अपनी सम्पूर्ण आभा एवं प्रकाश के साथ विद्यमान है, पर वैभव उपभोग की विषाक्त काली धूप उसे तब तक ढँके रहती है जब तक उसे उस वातावरण से अरुचि नहीं उत्पन्न हो जाती। वह शराब पीयेगा, वह मिसेज राजदान उर्फ विन्ना से संभोग करेगा ही क्योंकि उसके पास पैसा है, क्योंकि पैसे में तद्विषयक गुण विद्यमान हैं। पर वह साम्यवादी धारा के प्रतीक वनकन्या के सम्मुख नतमस्तक है जहाँ उसके पैसे की दाल नहीं गलती। वहाँ यदि कुछ प्रभावकारी सिद्ध होता है तो केवल मनुष्य का निजी गुण, उसका निजी व्यक्तित्व।

सम्पूर्ण उपन्यास पढने के उपरान्त पाठक के मन में यह प्रश्न तुरन्त उत्पन्न होता है कि सदाचार एवं सुव्यवस्था, जिसकी समाज को अपेक्षा है उसका वास्तविक रूप क्या है और यह समाज के किन किन लोगों में निहित है? लेखक ने समाज के कर्णधार के रूप मे जिन पात्रों को उपस्थित किया है उनमें सज्जन, वनकन्या, महिपाल, शीला स्विग, कर्नल आदि आते हैं। हम मानते हैं कि इन पात्रो मे कुछ अलौकिक गुण अवश्य विद्यमान हैं, पर जब हम इनके अन्तर्जगत की व्याख्या समाज की प्रचलित बुराइयो की तुलना में करते हैं तो हमें निराशा ही उत्पन्न होती है। सज्जन और महिपाल समाज को कुत्सित प्रवृत्तियो की खोज कर व्याख्या करते हैं, पर उनका स्वय का वास्तविक जीवन कैसा है? पत्नी और दर्जनों बच्चा के रहते हुए महिपाल शराब पीकर शीला स्विग के गले में बाँहे डालकर रात-रात उसके कमरे मे पडा रहता, सज्जन मिसेज राजदान को अपने कमरे मे बुलाकर रति-क्रीडा करता है, तो वे क्या इसीलिए कि समाज-सुधारक एवं समाज-शुभचिन्तक कहे जा सकते हैं। उनमें तर्क-बुद्धि है, वे आपस में बहस करना जानते हैं। बडी बहू एवं चिरहेश के प्रेम व्यवहार को देख कर नाक-भौं सिकोडने वाला व्यक्ति महिपाल क्या इसीलिए क्षम्य है कि उसमें कविता की शक्ति है अथवा उसमें विचार-शक्ति अधिक विद्यमान है? आखिर ये विचारक जिसे समाज का दोष बताते हैं, उससे ये कितनी दूर हैं। हम यह अवश्य स्वीकार करेंगे कि वनकन्या एव कर्नल के चरित्रो के अंकन में लेखक ने काफी सावधानी बरती है।

उपन्यास मे विशेष प्रशसा का विषय लेखक का समाज की यथार्थता का चित्रण है। इस कला मे उसे बहुत दूर तक सफलता मिली है। भभूती सुनार की बहुओं का जो प्रसग लेखक ने उठाया है, कथा से सीधा सम्बन्ध न होते हुए भी, उसमे विशेष मार्मिकता है। थोडी पढ़ी-लिखी लडकियाँ अपटुडेट बनने या सिनेमा-संसार मे अधिक दिलचस्पी लेने के कारण अपना भारतीय परम्परा-पालित दाम्पत्य जीवन किस प्रकार दुःखी बना लेती हैं, इसका अत्यन्त कारुणिक चित्र लेखक ने उपस्थित किया है। पाश्चात्य

सम्यता की भूलों को भद्दी नकल भाज हमारे नारी-समाज का स्तर किस तरह नीचे गिराती जा रही है, इसका चित्र लेखक ने बड़ी ही कुशलतापूर्वक प्रस्तुत किया है। कलाकार बन कर ग्रमर गीत लिखने वाले समाज के लफंगे किस प्रकार के शब्द लाकर समाज को पतन की ओर खींच रहे हैं; इन सब का जहाँ एक ओर चित्रण हुआ है ठीक वहीं दूसरा भी पहलू विद्यमान है। वह पहलू रूढ़िग्रस्त सदियों की चली आती हुई विधवा प्रथा जिसकी पूज्य भावना मिटकर अपने चरम अश्लील रूप में ही शेष रह गई। झूठे पूजापाठ का आडम्बर करके कुटनी एवं टोटका करनेवाली विधवाएँ ही उस श्रद्धा एवं पूज्य भावना के शेष रूप में बच गई हैं। 'नन्दो' और 'ताई' इसके प्रतीक रूप में प्रस्तुत की गई हैं। 'नन्दो' रोज सुबह गोमती स्नान करती है, पूजा-पाठ करती है, कंठी पहनती है, पर उसका वास्तविक कार्य कुटनी का कार्य है। पैसे के लिए वह सब कुछ करने-कराने को तैयार है। स्वयं अपने ही घर में वह चोरी करा सकती है और रात में दरवाजा खोलकर अपने प्रेमी को घर में बुला सकती है। यहाँ तक कि विरहेश जी के पास प्रेमिका-प्राप्ति-शुल्क न रहने के कारण उसकी घड़ी भी नन्दो छीन लेती है। टोना-टोटका करना उसके मनोरंजन का विषय है। आये दिन घरों के दरवाजों पर टोटका दिखाई देता है। कुटिल तो वह इतनी है कि एक ओर अपनी भाभी को 'विरहेश' के प्यार के लिए उकसाती है और पूर्ण अवसर प्रदान करने की सुविधा देती है और दूसरी ओर इस भेद को अपने भाई से बता भी देती है। कुटनी के सभी गुण उसमें पूर्ण रूप से विद्यमान हैं।

विधवा न होते हुए भी ताई का जीवन भी ठीक इसी प्रकार का है। इसके जादू-टोटके से सभी डरते हैं। उसका स्वभाव उसके पूर्व वातावरण के अनुसार कुछ ऐसा कर्कश एवं रूक्ष-सा बन गया है कि उसमें घृणा की भावना एक भार-सी हो गई। जादू-टोना तो उसका नित्य कर्म है। जबान भी इतनी तेज है कि बात-बात में गालियों की बौछार उड़ाती चलती है। नासपीटा, कलमुँहे आदि शब्दों से ही तो उसकी किसी बात का श्रीगणेश होता है। पति द्वारा उपेक्षित 'ताई' सारे संसार को एक उपेक्षा की दृष्टि से देखती है। सदैव पति को कोसना ही उसका कार्य-सा बन गया है। प्रायः इसके चरित्र से मिलती-जुलती स्त्रियाँ एकाध हर गाँव में पाई जाती हैं। लेखक ने 'ताई' के जिस चरित्र का निर्माण किया है वह पुरुष के ज्ञान के बाहर है, अतः इसके निर्माण के लिए उनकी धर्म-पत्नी को ही श्रेय मिलना चाहिए जिन्होंने लेखक को ऐसे चरित्र की पूर्ण सूचना दी जैसा कि वे प्रारम्भिक अंश में इसे स्वीकार कर चुके हैं।

सिनेमा का बढ़ता हुआ विषाक्त प्रभाव समाज के आचार एवं सदाचार की जड़ में पहुँचकर उसे किस प्रकार खोखला कर रहा है, इसका भी मार्मिक चित्र लेखक ने उप-

स्थित किया है। मिसेज वर्मा रेडियो सीलोन के समाप्त हो जाने पर उसकी सुई तुरन्त लाहौर पर घुमा देती हैं और गाना प्रारम्भ हो जाता है—

झुन झुन झुन बाजे पायल मोरी।
आ जा चोरी-चोरी आ जा चोरी-चोरी॥

इस प्रवृत्ति को देखते हुए उनके चरित्र के विषय मे लेखक यदि कहना है कि उन्होंने प्रेम-विवाह कर लिया है तो यह उनके अनुरूप ही है। इतना ही नहीं, कई प्रेमियो क पश्चात् मिस्टर वर्मा का नम्बर आता है। पूर्व प्रेमी अपनी वासना तृप्त करके उसे छोड देते है और इसी का अनुभव लेकर वह मिस्टर वर्मा को शरीर-दान विवाह के उपरान्त करती है। सिनेमा का कुप्रभाव 'बडी बहू' पर पडता है। सिनेमा के बारे में बात-चीत, उसके कलाकारो के बारे में पूज्य भावना ही उसके जीवन को सदैव के लिए कीचड़ में डाल देती है। उसकी हरी-भरी गृहस्थी यहाँ तक कि गोद का शिशु भी, बेचारी से छीन लिया जाता है और पीट-पीट कर सड़क पर डाल दी जाती है। विरहेश जी केवल आकर्षण के पात्र इसीलिए बनते हैं कि उन्होंने किसी सिनेमा का गीत लिखा था।

अनाथालय एवं विधवाश्रम की जो चर्चा लेखक ने उठाई है वह बहुत हद तक ठीक है। आये दिन हमें विधवाश्रमो के मैनेजरो एव मंत्रियो के भ्रष्टाचार की कथा सुनाई देती है। समाज के ये ठीकेदार समाज-सेवा की वृत्ति लेकर जिस वेश्यावृत्ति का पालन इन संस्थाओ मे करते हैं, उसका बहुत ही सटीक अनुमान लेखक ने लगाया है।

बाहर और भीतर में अन्तर है इसी का स्पष्टीकरण यथार्थ की मुख्य भूमिका है। सर्वत्र एक आडम्बर, एक बनावटीपन समाज के हर ओर छाया हुआ है। भीतर की वीभत्सता देखकर मन विक्षुब्ध हो उठता है और किसी का यह शेर याद आता है:—

न रीझें भूलकर भी आप बाहर की सफाई पर।
वरक चाँदी का चिपकाया है गोबर की मिठाई पर॥

लेखक ने कुछ ऐसी संस्थाओ का जिक्र किया है जहाँ वास्तव में सामाजिक कार्य होता है। गोमती के किनारे बाबाजी की कुटी ऐसी ही पवित्र जगह है जहाँ यह कार्य देखा जा सकता है। इनका विज्ञापन कहाँ हो पाता है? इनके लिये चन्दा उगाहने वाले कहाँ हैं? चन्दा तो वहाँ जाता है जहाँ पाप का नग्न प्रदर्शन होता है, समाज-सेवा के नाम पर कलंक का टीका से दोषित किया जाता है। भारतीय निःस्वार्थ सेवा के प्रतीक के रूप में हमें बाबाजी दिखाई देते हैं जिन्होंने अपना सारा जीवन इसके लिये उत्सर्ग कर दिया है, सुख एवं उपभोग से तिलांजलि ले ली है, जिनका सुख दु:खी एवं निःसहायो की सेवा ही है, जिसमें उन्हें आत्मतुष्टि मिलती है।

जहाँ तक चरित्र-चित्रण का प्रश्न है लेखक ने सदैव अपनी यथार्थ दृष्टि सामने रखी है। कुछ चरित्र आदर्शोन्मुख होते हुए भी यथार्थ की भूमि पर पूर्णतया पैर टेक

कर सके हैं। वनकन्या और सज्जन ऐसे ही चरित्रों मे से हैं। सज्जन विलास एवं वैभव का पला हुआ नवयुवक अपनी सम्पूर्ण धनराशि समाज की उन्नति के लिए दान दे देने को तैयार दिखाई देता है। 'कला' जो उसकी अपनी विशेषता है, चूँकि वह व्यक्ति-निष्ठ है, अतः उसकी रुचि उसकी ओर उठने लगती है। समाज की हालत देखकर चित्रकारी छूटती जान पड़ती है। धन की कुप्रवृत्तियाँ उसमें हैं पर उसके भीतर का वह कोमल मानव मन अब भी मरा नहीं है। कला करुणा मे परिवर्तित होती है और करुणा सेवा की वृत्ति उत्पन्न करती है। सज्जन एक कलाकार अन्त में समाज-सेवक के रूप मे हमें दिखाई देता है। समाज-सेवा का अपेक्षित लाभ देखते हुए हमे कला-त्याग का पछतावा अखरता नहीं।

आज कला से अधिक आवश्यक हमारे अन्न वस्त्र एवं शिक्षा संसार की समस्याएँ है। इनकी तुष्टि के उपरान्त ही मनुष्य कला एवं साहित्य का आनन्द प्राप्त कर सकता है। सज्जन में इसी भावना का विकास हुआ है और उसने इसी तथ्य को समझा है। उसके चरित्र में कुछ कमजोरियाँ अवश्य हैं पर वे अत्यन्त स्वाभाविक हैं। इसके भीतर कुप्रवृत्तियों को रोकने एवं संयम के निर्वाह की शक्ति है।

दूसरा प्रमुख चरित्र 'वनकन्या' का है। आज देश मे 'वनकन्या' ऐसी लड़कियों की आवश्यकता है जो अपनी माँगों के लिए वायुयान से शहर भर पर पर्चों की वर्षा कर सकें, अपनी आर्थिक स्वतंत्रता के लिए डटकर समाज से मोर्चा ले सकें और अपने धवल चरित्र का अमिट प्रभाव देकर विरोधियों को स्वपक्ष मे मिला सकें। 'वनकन्या' अपने सिद्धान्त एवं मान्यताओं के सम्मुख भ्रष्टाचारी पिता को भी सजा दिलवाने में हिचक नहीं सकती, उसके सामने उसका अडिग सिद्धान्त है जो नारी की कोमल भावनाओं को कुचल कर, मोह-ममता को त्याग कर कर्तव्य के रूप में आ खड़ा होता है। पिता के भ्रष्टाचार का प्रचार एवं उचित न्याय की माँग के लिए वह 'घूँघट का पट खोल दो' शीर्षक का पर्चा एक क्षण में सारे शहर भर में पहुँचा सकती है। आज मध्य-वर्ग का नारी समाज आर्थिक परतंत्रता के कारण जिस हद तक नीचे गिराकर दबा दिया गया है उसका रूप हमें वनकन्या की भाभी में मिलता है। आज नारी-समाज को उसके प्रति विद्रोह करना है, अपना खोया हुआ सदियों का अधिकार पुनः वापस पाना है और उसकी प्राप्ति तभी सभव है जब उसी वर्ग से आन्दोलनकारी उठकर सामने आयेंगे और रूढ़िग्रस्त मान्यताओं की जंजीरों को झनझना कर हमारे सम्मुख अपनी माग उपस्थित करेंगे।

जहाँ तक वनकन्या के चरित्र का प्रश्न है लेखक ने उसे बड़ी पवित्रता, अडिगता एवं विश्वास से निर्मित किया है। कहीं भी नारी की स्वाभाविक दुर्बलता उसमें नहीं आने पाई है। उसका अन्तर्मन भले ही बहुत दिनों से सज्जन का हो गया हो, पर मुँह पर कभी भी हृदय की वह स्वभाविक आकांक्षा व्यक्त नहीं होने पाई है। उसके

चरित्र से सभी प्रभावित हैं, सभी उसे गौरव की दृष्टि से देखते हैं, सभी उसकी प्रशंसा करते हैं।

दूसरा प्रमुख चरित्र ताई का है। दूसरे विषय मे यथार्थवाद की चर्चा करते हुए काफी कहा जा चुका है। ताई से सभी डरते हैं, पर ताई को चिढ़ाकर सभी आनन्द लेते हैं! ताई जहाँ एक ओर भय का कारण बनी है वही दूसरी ओर वह मनोरंजन का साधन भी है। परिस्थितियों एवं घटनाओं के प्रभाव से जीवन एक निश्चित धारा में चलने लगता है। मानव-मन में इसके परिणामस्वरूप अनेकानेक ग्रंथियाँ पड़ जाती हैं, पर आत्मा को मृत्यु सदा-सदा के लिए हो जाय यह असम्भव है। ताई दूसरो के बच्चो के लिए मारण-मंत्र और योग का कार्य करती है, पर वास्तविकता यह नही है कि उसे बच्चों से घृणा है। उसे उस कुत्सित समाज से घृणा है जिसने उसे ठुकरा दिया है और वह बच्चों का अनभल इसीलिये चाहती है कि वह समाज से प्रतिशोध ले। बिल्लो के तीन बच्चे उसे अपने बच्चों से भी अधिक प्यारे हैं जिनको स्वभाववश वह गाली देती हुई भी हर प्रकार स्नेह-सुविधा प्रदान करती है। मिसेज वर्मा के बच्चे में वह सब प्रकार का सहयोग देती है और अन्त में समाज के लिए वह सब कुछ न्योछावर करने को प्रस्तुत हो जाती है। वह वास्तव में भयावना नहीं, वरन् समाज ने उसे भयावना बना दिया है।

इसके उपरान्त मुख्य पात्रों में महिपाल दिखाई पड़ता है। महिपाल कवि एवं लेखक है। उसमें प्रतिभा है और वह उसका उपयोग करना जानता है। प्रायः कवि और लेखकों के चरित्र में जो दोष पाये जाते हैं उसे लेखक ने ले आकर महिपाल के चरित्र में आरोपित कर दिया है। वह शराब पीता है, हफ्तों घर से गायब रहता है। चूँकि कलाकार सदैव नवीनता को अधिक पसन्द करता है, अतः कल्याणी तक ही सीमित न रह कर वह शीलास्विग के यहाँ शराब पीकर रात-रात भर पड़ा रहता है। उसकी भी अपनी इच्छाएँ हैं, महत्त्वाकांक्षाएँ है, पर गरीबी के कारण वह मजबूर है। गरीबी के कारण ही चोरी जैसे घृणित कार्य भी उसे करने पड़ते हैं और जिसके पश्चात्ताप में उसे आत्महत्या तक करनी पड़ती है। लेखक ने वास्तव में एक लेखक, एक कवि के जीवन को भीतर से परखा है।

जहाँ तक भाषा-शैली का प्रश्न है लेखक को इसमें बहुत सफलता मिली है। पात्रानुसार सर्वत्र भाषा बदलती रहती है। अंग्रेजी पढ़े-लिखे आज के नवयुवक किस प्रकार आधी हिन्दी और आधी अंग्रेजी बोलते हैं, लेखक ने इसका यथार्थ चित्र दिया है। लखनऊ की ग्रामीण बोली का भी लेखक को निकट से ज्ञान है और कल्याणी तथा महिपाल के माध्यम से उसने इसे पाठकों के सम्मुख उपस्थित किया है। बीच-बीच में इस बोली के प्रयोग ने भाषा में जान डाल दी है। संवाद के स्थल यद्यपि बहुत बड़े-बड़े हैं, पर संवादों को छोटा ही रखने का लेखक ने भरसक प्रयास किया है।

सब मिलाकर प्रस्तुत उपन्यास एक प्रशंसात्मक कृति है और आशा है कि भविष्य में लेखक अपने अन्य प्रयत्नों द्वारा साहित्य को ऐसी कृति प्रदान करेगा।

शतरञ्ज के मोहरे

'बूंद और समुद्र' के पश्चात् नागर जी का उपन्यास 'शतरञ्ज के मोहरे' प्रकाशित हुआ जिसमें अपेक्षाकृत उनकी कला अधिक निखर कर सामने आई है। इस उपन्यास में लखनऊ के एक ऐतिहासिक समाज को विवेचना का विषय बनाया गया है। गदर के लगभग अर्द्धशताब्दी पूर्व जब कि लखनऊ को नवाबी डगमगा रही थी और लखनऊ के नवाब के अन्तर्गत अन्य छोटे-छोटे नवाब भी, जिनकी स्थिति बड़े जमींदारों की-सी थी, अपने को संकट में पाते जा रहे थे, उस समय अवध की जनता का जीवन अत्यन्त अरक्षित हो गया था। शासन-व्यवस्था ढोली पड़ती जा रही थी जिससे अवध के नवाब का शाही रोब भी बहुत कुछ कम हो चला था। अंग्रेजों की कम्पनी सरकार अपना जाल फैलाती जा रही थी जिसमें देशभक्ति को तिलांजलि देकर देशी गद्दार भी मिलते जा रहे थे। राजा और नवाबों के टुकड़ों पर पलने वाले नमक-हराम वेतनभोगी सरदार भी जासूसी का काम करते थे, जिसके लिये उन्हें चन्द चाँदी के टुकड़े अंग्रेजों द्वारा प्राप्त हो जाया करते थे। यह वह समय था जिसमें खबरें बिकती थीं और खरीदने वाले होते थे अंग्रेज जिसे पाकर वे नवाबों और राजाओं को पदच्युत करने का कानूनी स्वांग भरते थे। ऐसी स्थिति में प्रजा के तीन-तीन शासक और सरकारी कर्मचारियों की दो-दो सरकारें थीं।

इस उपन्यास का आरम्भ अवध के नवाब नाजिम साहब के वसूली जत्थे के साथ हुआ है। नवाब के करद नवाब अथवा जागीरदार जब समय से लगान का भुगतान नहीं कर पाते थे तो नवाब सज-धजकर सेना की एक छोटी टुकड़ा लेकर वसूली के लिये प्रस्थान करता था, जिसमें प्रजा को काफी बरबादी होती थी। नवाब नाजिम साहब के आगमन से 'रुस्तमनगर' में जो कुहराम मचा वह कुहराम केवल रुस्तम नगर का ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण नवाबी इलाके का था। नवाब तो छोटे नवाब का अतिथि बन जाता था पर उसके कर्मचारी आजाद होकर जनता की हरी-भरी खेती उजाड़ते तथा उनकी बहू-बेटियों की अस्मत लूटते। ज्योंही नवाब रुस्तमनगर के नवाब का अतिथि बना कि 'गन्ने के खेतों में फोलवान अपने हाथियों को धँसाने लगे, दूसरे खेतों को ओर घोड़ों के झुण्ड बढ़े, बैलों के रखवाले और चूल्हे जलाने के लिये लकड़ी की तलाश में निकले सिपाहियों ने बहरी बस्ती के घरों पर छापा मारा। सिपाही, फोलवान, साईस और शाही बैलों के रखवाले महमूद गजनवी और नादिरशाह बने अकड़े मारे आस्मान में अपना दम मिलाते घुड़कते और धकियाते थे।" यह थी अवध की नवाबी और उसकी प्रिय प्रजा की दशा जिससे १८५७ के विद्रोह में अंग्रेजों के

विरुद्ध प्रजा राजे-नवाबो का साथ न दे सकी। हिन्दू लडकियो को ब्याह लेना मुसलमानों के लिये एक सामान्य बात-सी हो गई थी और उनके साथ ब्याहता पति के सग सम्बन्धियो का भी आना-जाना कोई आश्चर्य की बात नही थी, दुलारी जिसका उदाहरण है। मुस्लिम परिवार के अभेद्य पर्दे को झाँक कर नागर जी ने उसके भीतर चलने वाली ऐयाशी तथा दाँव-पेंच का बडा ही विश्वसनीय चित्र उरेहा है। नवाबो की शान-शौकत तथा नाच-गानो एव वेश्याओ के प्रति उनकी अनन्य भक्ति का चित्रण कर ढलते हुए अवध के नवाबी ऐश्वर्य का जो चित्र इस उपन्यास में खीचा गया है वह इतिहास-सगत है।

नवाबो की सारी सम्पत्ति उत्तराधिकारी के अभाव मे अंग्रेजी कम्पनी की घोषित हो जाती थी। यह अंग्रेजो की ऐसी साम्राज्यवादी नीति थी कि अपने आप बिना किसी सघष एव कोलाहल के भारत-भूमि अंग्रेजी राज्य के झडे के नीचे आती जा रही थी क्योकि प्रायः विलासिता मे डूबे रहने के कारण देशी राजे नवाब अपना पुसत्व खो बैठने के कारण सतानहीन हुआ करते थे। यह एक बहुत बडी समस्या थी जिसका संकेत इस उपन्यास मे मिल जायगा। अवध के नवाब के महल मे जिस प्रकार गर्भवती दासियाँ रखी जाती हैं और यह निश्चय किया जाता है कि यदि बेगम को पुत्र न उत्पन्न हुआ तो किसी भी दासी-पुत्र को नवाबजादा घोषित कर दिया जायगा। यद्यपि दासियो के गर्भ मे भी नवाबो का ही वीर्य पलता था। फलतः धोबिन के गर्भ से उत्पन्न सन्तान को नवाबजादा घोषित करने का स्वाग रचा गया। ऐसे अवसरो पर ही अंग्रेजो के भारतीय जासूस अपने जौहर दिखलाते थे और महलो की वास्तविक स्थिति का पता लगाकर भारी मूल्य पर वे महल के रहस्य का व्यवसाय करते थे।

उपन्यास की भाषा तथा चित्रित देश-काल इतना कलात्मक एवं प्रसंगानुकूल है कि डेढ़ सौ वर्षों की लखनवी संस्कृति, जिसे नवाबी संस्कृति भी कहा जा सकता है, साकार हो उठी है। रोचकता एवं कथानक का सरस संगठन इस उपन्यास की प्रमुख विशेषता है जिससे इतने बडे उपन्यास को पढते समय पाठक जरा भी नही ऊबता क्योकि न तो वह कही कथा का आकर्षण खोता है और न तो उसे मनोरंजकता का अभाव ही कही खटकता। अनेक दृष्टियो से 'शतरञ्ज के मोहरे' नागर जी की एक सफल औपन्यासिक कृति है।

सुहाग के नूपुर

ईसा की प्रथम शताब्दी में महाकवि 'इलङ्गोवन' रचित तमिल महाकाव्य 'शिलप्पदिकारम्' भारतीय साहित्य की एक अनमोल रचना है। प्रस्तुत उपन्यास उक्त महाकाव्य की कथावस्तु पर आधारित होते हुए भी एक स्वतन्त्र रचना है। लेखक ने आवश्यकतानुसार कथानक को कल्पना के सहारे ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में संजोया भी है।

यद्यपि लेखक ने 'निवेदन' में स्वीकार किया है कि उपन्यास तमिल साहित्य के एक महाकाव्य पर आधारित है फिर भी एक स्वतंत्र रचना है। इस उपन्यास में, मानव-जीवन के कतिपय सत्यों को नग्न रूप में दिखलाना ही लेखक का अभीष्ट रहा है। नगर के एकमात्र धनी और प्रतिष्ठित सेठ का लडका और उसी प्रकार के एक दूसरे वैभवशाली व्यापारी सेठ का जामाता और परमसुन्दरी तथा प्रतिव्रता एवं सर्वगुणोपेत पत्नी का पति तथा स्वयं भी एक वैभवशाली और सुन्दर और व्यवहार-युक्त चतुर युवक कोवलन् मानव-सुलभ छोटी-सी दुर्बलता की उपेक्षा नहीं कर सकता और करता वही है जो परि-स्थितियाँ करवाती हैं। समाज की पारम्परिक रूढ़ियों से, समाज की अन्ध-मान्यताओं, मर्यादाओं से और अन्धविश्वासों से तथा थोड़ी लोकनिष्ठा से वह ऐसा बेतरह बँधा है कि जीवन ही उसका चौपट हो जाता है। वह प्रारम्भ में ही माधवी की ओर आकर्षित होता है, पर समाज में रहने के नाते वह बाध्य है, विवाह करने के लिये कन्नगी से। माधवी के प्रति वह कितना भी अधिक आकृष्ट क्यों न हो पर उसका वह प्रेम अवैध है, उससे सब कुछ पाकर भी वह समाज की उस शुभ कामना और सराहना को नहीं पा सकता जो कन्नगी के साथ वैध या समाज द्वारा स्वीकृत कानूनी प्रणय-बन्धन में बँधकर प्राप्त कर सकता है, चाहे उसके अन्दर कन्नगी के प्रति स्नेह और प्रेम न भी हो, या हो भी तो अपेक्षाकृत कम। सामान्य मनोभावों के प्रतिकूल आज का यह जो विवाह संस्कार होता है, यह इन तीन (कोवलन्, कन्नगी और माधवी) प्राणियों के जीवन को तो विपाक्त बनाता ही है, साथ ही साथ इनके आश्रय, आश्रित और पता नहीं कितने सगे सम्बंधियों के जीवन को कडुआ और किरकिरा बनाता है। दोष इन तीनों में से किसी का भी नहीं है, तीनों परिस्थितियों के खिलौने हैं और बेचारे जो चाहते हैं वह नहीं कर पाते। कोवलन्, कन्नगी को विवाहिता पत्नी के रूप में स्वीकार करके भी माधवी से मुँह नहीं मोड पाता, उसके लिये वह अपने पिता, श्वशुर, सम्बंधियों और समाज की घृणा और कुत्सा का भाजन बनता है। अपनी पत्नी कन्नगी को भी संतुष्ट नहीं कर पाता और पत्नी बनने की ललक रखने वाली वेश्या माधवी को भी नहीं प्रसन्न कर पाता। दो नावों पर चढ़ने का प्रत्याशी कोवलन्, एक पर भी पैर नहीं टिका पाता। परिणाम स्वरूप वह बीच धार में आकर निराश्रय होता है और निराश्रयता की अपार सरिता में अवगाहन करने की स्थिति में होता है। पिता और श्वसुर ने पहले ही साथ छोड दिया था, लक्ष्मी भी फटक गई थी, कन्नगी का स्वयं तिरस्कार कर दिया था और आज माधवी के यहाँ से भी तिरस्कार पाकर वह रेगिस्तान का पथिक बन जाता है, लेकिन संस्कार, संपन्ना सती पत्नी कन्नगी के हृदय मे उसके लिए वही स्थान है और वह उस स्थान को प्राप्त होता है। अन्त में लेखक चिर सत्य का उद्घाटन करता है कि एक निरट सती ही अपने पुरुष को बल प्रदान कर सकती है क्योंकि वह द्विविधारहित होती है।"

दूसरे चिर सत्य पर प्रकाश डाला है लेखक ने एक वेश्या के जीवन को लेकर। उसके माँ और बाप का पता नहीं। आभिजात्य-कुल-सम्भवा होकर भी वह पालित होती है एक वेश्या माँ के द्वारा और दीक्षिता होती है एक वेश्या मौसी द्वारा ही। उसके संस्कार इतने प्रबल हैं कि आरम्भ से ही वह एकनिष्ठ प्रेम की उपासिका है। वेश्या-वृत्ति की शिक्षा सुनकर वह कहती है कि मनुष्य को, एक चेतन प्राणी को, जड़ से, द्रव्य से नहीं बल्कि चेतन से ही प्रेम करना चाहिये। एक ओर तो संस्कार उसे दूसरी तरफ दबा रहे हैं और इधर उसको पालने वाली और जीवन देने वाली परिस्थितियाँ उसे दूसरी ओर मोड़ रही हैं। माधवी के नारी जीवन की दुविधा यहीं से प्रारम्भ होती है, जो उसके स्वर्णिम जीवन को मृत्तिकामय बना देती है। जन्म-जन्य संस्कार की प्रबलता से वह एकनिष्ठ प्रेम पर टिकती है और परिस्थिति-जन्य संस्कार की विवशता में भी वह द्रव्य लोभ को भी नहीं छोड़ पाती, इसी दुविधा में पड़कर वह अपनी दुनिया में आने वाले एकमात्र पुरुष कोवलन् को बल नहीं दे पाती। कभी एक भाव में रहती है कभी दूसरे में।

शुरू-शुरू में वह कोवलन् को देखती है और उसकी ओर आकृष्ट होती है। बीच में सैकड़ों पैसे वाले और वैभवशाली पुरुषों के यहाँ से उसके प्रेम की याचनाएं आती हैं पर सबको ठुकराती है और अन्त तक कोवलन् के प्रेम की प्रतीक्षा और परीक्षा में ही जीवन की बाजी लगा देती है। उसके इस आग्रह का मूल प्रीति की पुरातनता और उच्चकुल के प्रबल संस्कारों का परिणाम ही प्रतीत होता है। उसे तो प्रारम्भ से ही यह शिक्षा दी जाती है कि दम्पति का वियोग ही वेश्या का इष्ट है। वेश्या-जीवन की सार्थकता इसी में है कि वह जीवनपर्यन्त पतियों के गले का मोती और पत्नियों की आँखों की आँसू बनी रहे। माधवी के पालने में भी दो भिन्न-भिन्न प्रकार के संस्कारों का प्रभाव पड़ता है, उसकी तथाकथित माँ एक ओर उसे इस प्रकार का उपदेश और शिक्षा देती है और दूसरी ओर उसकी नृत्यगुरु चेलका उसके कुलवधू बनने के विचार का समर्थन भी करती है और कुलवधू के जीवन की कठिनाइयों का वर्णन करती हुई कहती है कि—"अरे! वेश्याओं के लिये तो सतियों पर मार पड़ती ही रही है, सतियों का धन-वैभव छीन कर ही वेश्याओं के महल खड़े होते हैं। मैंने वेश्या होकर भी सती होने की लालसावश यदि अपना सब कुछ गँवा दिया तो क्या।" कभी उसने भी सती होने की लालसा की थी, पर असफल रही, इसलिए माधवी को भी वह इन विचारों को शुरू से ही उखाड़ फेंकने को कहती है, वेश्यावृत्ति की कुंजी बतलाती हुई वह कहती है कि "तूं तप, पर जाड़े की धूप की तरह, जेठ की धूप की तरह नहीं" अर्थात् उतनी ही ऐंठ लाव जितने से कि अपार धन तेरे पास आये, सती बनने की ललक में इतनी अधिक ऐंठन मत ला कि जीवन के सामान्य साधनों से, द्रव्य से भी भेंट न हो। "हम वेश्या हैं, हमें वेश्या ही रहना चाहिये,""इस पर भी यदि तू

जीव की तरह जीव से प्रेम करने के सिद्धान्त में विश्वास रखे भी हो सकता है जैसा कि लोग मेरा मानते हैं।"

कोवलन् के प्रति प्रथम आकर्षण के समय माधवी मुग्धा कि कोवलन् तो उसके पद-पद्मों पर भ्रमर सरीखा मँडरायेगा विपाक्त मान्यताओं और धार्मिक विधान की धाराओं का क्या पता। वरवा... अपने जीवन के प्रति घृणा पैदा हो जाती है, वह किसी पुरुष के साथ प्रेम का सच्चा आदान-प्रदान चाहती है और खुले दिल से कोवलन् को आत्मसमर्पण करती है। वह देखती है तो अपने में कोई कमी नहीं पाती, रूप उसमें है, यौवन उसमें है, कला और गुणों की वह आश्रय ही है, सन्तान भी वह दे सकती है, तब वह कुलदेवी या कुलवधू कैसे नहीं बन सकती? अपने में और कन्नगी में कोई अन्तर न पाकर ही वह सुहाग के नूपुरों की आकांक्षा करती है क्योंकि ये ही उन दोनों में अन्तर के कारण हैं, इसलिए माधवी के लिए ईर्ष्या और स्पृहा के भी कारण हैं। इधर कन्नगी, कोवलन् से प्रत्याशित प्यार और स्नेह न पाकर अपने सुहाग के नूपुरों पर ही सन्तोष करती है और जान देकर भी उन्हें देना नहीं कबूल करती। हम देखते हैं कि एक नारी जिसको कि समाज ने वेश्या बनाया है, कुलवधू के आसन पर आसीन होना चाहती है पर उसके और उसके प्रेमी के चाहते हुए भी समाज ऐसा नहीं होने देता और अन्त समय तक अपने उस पद की प्रतीक्षा करने के बाद नारी का विकट रूप प्रकट होता है, समाज को और समाज के किसी भी सम्माननीय पद को लात मार कर वह एलानिया वेश्या बन जाती है, और अपने उस दम्भी, कायर और भीरु परन्तु परिस्थितियों से दबोचे हुए एकमात्र प्रेमी को लात मार कर दूसरे पुरुष के आश्रय में सहमते हुए प्रवेश करती है, पर उसे इस बात का महान् दुःख है, और जीवनभर दुःख रहता है कि वह सती पत्नी न बन सकी। उसकी सारी ईर्ष्या, स्पृहा, घृणा और दुःख समवेत रूप से उसके मस्तिष्क में ग्रंथि का रूप धारण कर लेते हैं और वह बौद्ध संघाराम में 'पगली' होकर रहने लगती है। उसके वास्तविक नारी-रूप का, समाज के उपेक्षित अर्धाङ्ग के मूर्त रूप का, दर्शन हम वहाँ करते हैं जब वह कहती है कि "पुरुष जाति के स्वार्थ और दम्भ-भरी मूर्खता से ही सारे *पापों का उदय होता है, उसके स्वार्थ के कारण* ही उसका अर्धांङ्ग—नारी जाति—पीड़ित है। एकांगी दृष्टिकोण से सोचने के कारण पुरुष न तो स्त्री को सती बनाकर ही सुखी कर सका और न वेश्या बनाकर ही। इसी कारण वह स्वयं ही झकोले खाता है और खाता रहेगा। नारी के रूप में न्याय रो रहा है, उसके आँसुओं में अग्नि-प्रलय भी समाया है और जल-प्रलय भी।"

यहाँ हम देखते हैं कि एक ओर पुरुष नारी के विविध स्वरूप की भर्त्सना करता है और अपने जीवन में आने वाली विषमता और तिक्तता का कारण उसे बतलाता है, दूसरी ओर नारी पुरुष को ढोंगी, स्वार्थी, दम्भी, प्रवंचक, कायर और भीरु बतलाती

और उसे अपने जीवन में आने वाली अव्यवस्थाओं के लिए उत्तरदायी ठहराती है, पर दोष न तो पुरुष का है, न स्त्री का, दोष है इन दोनों के संचालक समाज का और उसकी अंध मान्यताओं और रूढ़ियों का जो कि सब मटियामेट करके राजकुमार सरीखे कोवलन् को भटकते पथ का भिखारी और विशुद्ध नारी माधवी को वेश्या और पगली बनने के लिये विवश करता है। इस उपन्यास में कोवलन् और माधवी में हमें यशपाल-कृत दिव्या के, पृथुसेन और दिव्या के साक्षात् दर्शन होते हैं। नागर जी को भाषा-व्यवहार के क्षेत्र में अपनी कृतियों में कमाल की सफलता मिली है, चाहे वह 'बूँद और समुद्र' हो अथवा 'शतरंज के मोहरे' या 'सुहाग के नूपुर।'

धर्मवीर भारती

धर्मवीर भारती के 'गुनाहों का देवता' और 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' दो उपन्यास प्रकाशित हुए हैं और दोनों को पर्याप्त ख्याति मिली है।

गुनाहों का देवता

धर्मवीर भारती का यह अत्यन्त लोकप्रिय उपन्यास मसृण प्रेम की मनोरम भूमि में इन्द्र-धनुषी कल्पनाओं की रंगीनियों से रंग कर दुःखान्त प्रेम की मनोरम झाँकी प्रस्तुत करता है। उपन्यास की कथा एक प्रतिभावान छात्र चन्द्रकुमार को घेर कर चलती है। रिसर्च स्कालर चन्द्रकुमार कपूर प्रथम श्रेणी का विद्यार्थी तो है ही साथ ही उसके व्यक्तित्व में कुछ ऐसा आकर्षण भी है कि सम्पर्क में आने वाले लोग सहज ही उसके आत्मीय बन जाते हैं। उसके सीनियर टीचर डॉ० शुक्ला का तो उस पर पिता का-सा स्नेह और विश्वास है। चन्द्रकुमार डॉ० शुक्ला की कृपा और प्रेरणा से उत्तरोत्तर आगे बढ़ता गया। उसे इतनी अधिक सुविधाएँ सुलभ थीं कि छात्र-जीवन की विषमताओं से उसका परिचय ही नहीं हुआ। वह भोजन भी प्रायः डॉ० शुक्ला के यहाँ ही कर लिया करता था, उनकी कार पर उसका पूरा स्वामित्व था, नौकर और महराजिन आदि उसे परिवार का सदस्य ही समझते थे, डॉ० शुक्ला की एकमात्र पुत्री सुधा पर उसका बड़े भाई का-सा रोब चलता था, सुधा की बुआ की लड़की बिनती की भी क्या मजाल थी कि वह चन्द्रकुमार के इशारे पर न नाचती और चन्द्रकुमार में कुछ ऐसे गुणों का समन्वय हुआ था कि जिसके कारण लोग अनायास ही उससे प्रेम करने लग गए थे। यहाँ तक कि कर्कशा बुआजी भी चन्द्रकुमार का न तो जवाब देती थीं और युवती लड़कियों के बीच में घुल-मिल कर रहने पर भी न तो उन्होंने कभी किसी प्रकार की शंका की। समय अपना रंग दिखला कर ही रहता है। चन्द्रकुमार के प्रति किए गए प्रेम का विकास विभिन्न दिशाओं में पात्रोनुकूल हुआ और उसकी यह सबसे बड़ी विशेषता रही कि उसने अपने आचरण से किसी के प्रति विश्वासघात नहीं किया। डॉ० शुक्ला ने जिस रूप में उसे देखा चन्द्रकुमार अन्त तक वही रहा। सुधा

के प्रति जो उसका साहचर्यगत अव्यक्त प्रेम रहा उसमें अन्त तक पंकिलता नहीं आई पर मानसिक-जगत पर उसका प्रभाव पड़ कर ही रहा जो मनोवैज्ञानिक भूमि पर विकसित होता हुआ उपन्यास का प्रतिपाद्य बना है।

चन्द्रकुमार के सम्पर्क में सुधा, विनती और पम्पी नामक तीन सुन्दरियाँ आयी। पम्पी विवाहिता ईसाई लड़की थी जो अपने जातीय संस्कारों के अनुसार चन्द्रकुमार की कुछ काल तक भोग्या रह कर जीवन भर के लिए उससे दूर चली गई। उपन्यासकार का यह प्रसंग बड़े महत्त्व का है। यद्यपि ऐसे प्रसंगों से अश्लीलता को बढ़ावा मिलता है पर जिस कलात्मकता के साथ उपन्यासकार ने इसका निर्वाह किया है उससे एक अत्यन्त मनोवैज्ञानिक तथ्य का उद्घाटन हो गया है। नारी के प्रति पुरुष की आसक्ति मानव होती है और वह प्रेम के प्रतिदान स्वरूप उसके शरीर का आकण्ठ भोग करना चाहता है। सामाजिक नैतिकता एवं मानसिक संयम के कारण जब प्रेमी-जन आत्म-पीड़क अन्तर्द्वन्द्व को स्वीकार कर लेते हैं तो एक अजीब घुटनशील वातावरण की सृष्टि हो जाती है। यदि अन्यत्र कहीं देहीधर्म की तृप्ति न मिली तो सारे व्यक्तित्व के ही कुण्ठित हो जाने की सम्भावना रहती है। पम्पी के मांसल शरीर का भोग इसी तथ्य को प्रकट करता है। सुधा और चन्द्रकुमार जिस आदर्श प्रेम की गहराई में उत्तरोत्तर डूबते गए उसमें संयम एवं नैतिकता अपनी पराकाष्ठा को पहुँच गई थी। विनती का स्वच्छन्द स्वभाव अपने आकर्षण के जादू से चन्द्रकुमार को मांसल धरातल पर उतार सकता था पर सुधा की उपस्थिति और डॉ० शुक्ला के व्यक्तित्व का प्रभाव बाधक था। परिणामतः नैतिक परिधि से दूर रहने वाली पम्पी में चन्द्रकुमार को प्रतिक्रिया स्वरूप सुधा के अभाव की पूर्ति हुई और वह कुछ काल के लिए अपने व्यक्तित्व को ऐसा भूल गया कि सुधा का पवित्र प्रेम, विनती का श्रद्धासिक्त मूक आकर्षण तथा नैतिकता उसे प्रवंचना एवं छल जान पड़ी। उसने स्वीकार कर लिया कि स्त्री-पुरुष का प्रेम शारीरिक समर्पण को छोड़ कर और कुछ नहीं है। उसकी यह अवस्था तब हुई जब कि सुधा का ब्याह हो चुका था और चन्द्रकुमार की आज्ञा से ही इच्छा के विरुद्ध सुधा आत्म-बलिदान के लिए पतिगृह जा चुकी थी।

उपन्यासकार ने नारी पात्रों के निर्माण में अपूर्व कौशल का परिचय दिया है। आदर्श की साकार प्रतिमा सुधा से लेकर सहज आलिंगनबद्ध होने वाली पम्पी तक में उसने ऐसे गुणों का समन्वय दिखलाया है कि पाठक की सहानुभूति उनके साथ अन्त तक बनी रहती है। ईसाई लड़की पम्पी इस उपन्यास की एकमात्र पात्र है जो संस्कारतः यौन पवित्रता को महत्त्व न देकर प्रेम को शारीरिक भूख मानती है। उसका यह अनुभव अपना है, कुछ काल तक पति से दूर रहकर उसने इसका पूर्ण अनुभव कर लिया है और पुरुषों की छाया से दूर रहने का उसका संकल्प उस समय एकबारगी टूट जाता है जब वह चन्द्रकुमार कपूर की सुरम्य आकृति और उसकी

सौजन्यता के सम्पर्क में आती है। वह प्रेम को केवल मानसिक जगत की वस्तु न मानकर पूर्ण आत्मसमर्पण का कारण मानती है। जिस दिन उसने यह अनुभव कर लिया कि चन्द्रकुमार के मानसिक जगत में अब उसके लिए स्थान नहीं रह गया है और दोनों के संभोग में केवल पशु तृप्त हो रहा है, देवता अनुपस्थित है, उसने अपना सम्बन्ध समाप्त कर लिया। पम्पी के हृदय में चन्द्रकुमार के प्रति घृणा का न होना और चन्द्रकुमार की परिस्थितियों के साथ सहानुभूति बनाए रखना एक सामान्य नारी के लिए सम्भव नहीं था। यहीं आकर पम्पी अपनी दुर्बलता के होते हुए भी पाठकों की दृष्टि में बहुत ऊँचे उठ जाती है। चन्द्रकुमार के इस मानसिक परिवर्तन में 'गेसू' का ही हाथ था। गेसू सुधा की सहेली थी जो अपने प्रेमी को पति के रूप में न पाकर जीवन भर क्वाँरी रहने का संकल्प कर चुकी थी। उसके प्रेमी ने उसकी बहन को पत्नी के रूप में वरण किया था पर गेसू की भक्ति उसके प्रति पूर्ववत् बनी रही जिसका प्रभाव चन्द्रकुमार पर पड़ा और सुधा की परिस्थितियों तथा अपनी भूलों का उसे ज्ञान हुआ। भ्रम से उसने सुधा के पावन प्रेम को प्रवञ्चना समझ लिया था। बीच-बीच में तर्कसंगत परिस्थितियों का समावेश कराकर उपन्यासकार ने चन्द्रकुमार के भावुक प्रेम को जीवित रखा है। सुधा और विनती की प्रेमपरक भावुकता की तो सीमा ही नहीं है। चन्द्रकुमार और सुधा स्वयं परस्पर जिस आन्तरिकता का अर्थ नहीं समझ सके थे विनती उसे भाँप गई थी और चन्द्रकुमार की चारित्रिक दृढ़ता के कारण मन ही मन उस पर श्रद्धा करने लगी थी। सुधा के जीवन पर चन्द्रकुमार का व्यक्तित्व इतना छा गया था कि अपने एक इशारे पर वह सुधा का सर्वस्व लूट सकता था। पर हँसते, खेलते, रूठते और मनाते जिस प्रेम का सात्विक विकास हुआ था, दोनों ने उस पर पंकिलता की छाया भी नहीं पड़ने दी। डॉ० शुक्ला की जो धारणा चन्द्रकुमार के प्रति थी उसमें उसने कमी नहीं आने दी जिससे आगे चलकर डॉ० शुक्ला के कट्टरपंथी विचारों मे भी परिवर्तन हुआ। जाति-पाँति के कट्टर समर्थक शुक्ला जी अन्त तक इस निष्कर्ष पर पहुँच गए कि विनती का ब्याह चन्द्रकुमार कपूर से हो जाना चाहिए जो जातीय प्रथाओं के प्रतिकूल था।

विनती का श्रद्धालु हृदय दो आदर्श प्रेमियों के बीच व्यवधान बनकर नहीं पड़ना चाहता। यहीं आकर विनती के महान त्यागमय भावों के दर्शन होते हैं। विनती अपेक्षाकृत एक व्यावहारिक लड़की है और उसका हृदय मानसिक कुण्ठाओं से नितान्त मुक्त है। विवाह के पूर्व ही लड़कियाँ गाँवों में किस प्रकार सब कुछ सीख जाती हैं, चन्द्रकुमार से यह सब कुछ कहने में उसे संकोच नहीं होता। चन्द्रकुमार के प्रश्न करने पर कि क्या तुमने और सुधा ने भी सब कुछ सीख लिया है? वह नि.संकोच कह बैठती है कि सुधा बहिन के सम्बन्ध मे कुछ न पूछिए वे तो आरम्भ से ही ऐसी हैं, वे देवी हैं पर मैंने अवश्य ऐसी भूल की है। अपने इन्हीं सद्गुणों के कारण वह सुधा और

मिला। पति की इच्छाओं के सम्मुख उसने आत्म-समर्पण किया नहीं, बल्कि करना पड़ा। भावना शरीर का साथ न दे सकी जिसका परिणाम अच्छा नहीं हुआ। सुधा के इस आत्महनन को चन्द्रकुमार की वासना न समझ सकी और वह प्रेम-प्रसंग पर पम्पी के साहचर्य से नए सिरे से विचार करने लगा था जिससे चन्द्रकुमार के चरित्र में मानव-सुलभ दुर्बलताओं का भी समावेश हो गया है। यदि ऐसा न होता तो सुधा की भांति चन्द्रकुमार भी गुनाहों से दूर देवता ही रहता जिसके मानसिक उत्पीडन पर पाठक आंखों में आँसू भरकर सिसकता, पर वैचारिक भूमि पर उतरते ही उपन्यासकार की जादुई छडी का नशा काफूर हो जाता। चन्द्रकुमार की चचल मानसिक स्थिति उसे एक रीढहीन पात्र की श्रेणी में ला खडी करती है। वह सुधा के महत्व को समझता है, समझने का प्रयत्न करता है और तत्काल अपने भीतर छिपे पशु से पराजित हो जाता है। पतिगृह से लौटी अस्वस्थमना सुधा को एकांत में पाकर चन्द्रकुमार अपने भुजपाशों में भर कर अपमानित करना चाहता है और सुधा के इस कथन पर कि चन्द्रकुमार पागल न बनो मैं विवाहिता नारी हूँ, और यह शरीर मेरे पति का है, वह आलिंगन पाश तो ढीला कर देता है पर उपहास करता ही है। चन्द्रकुमार के इस पतन ने उसे एक विश्वसनीय पात्र बना दिया है। शीशे के सामने खडे होने पर जब वह अपनी ही प्रतिछाया को धिक्कारते सुनता है तो उसकी बन्द आँखें खुलती हैं। यह प्रसंग अत्यन्त मार्मिक है जो शिल्प एवं वर्णन दोनों दृष्टियों से उपन्यास को प्रौढ़ता प्रदान करता है। इलाहाबाद और दिल्ली तक घूमती कथा में अनेक ऐसे मार्मिक प्रसंग आए हैं जो पाठकों को करुणार्द्र बनाते हैं। सुधा अनिच्छित गर्भभार न वहन कर सकी और डाक्टरों के प्रयत्न भी उसके रक्तस्राव को न रोक सके। मृत्यु की इस बेला पर पहुँच कर चन्द्रकुमार और सुधा पुनः उस प्रेम की पावन भूमि को लौट आए थे

सौजन्यता के सम्पर्क में आती है। वह ... थी। मृत्युशय्या पर दिए सुधा के वचन को मानकर पूर्ण आत्मसमर्पण का कठिन था और जब विनती के साथ वह सुधा की राख लिया कि चन्द्रकुमार के मार्ग ... अपने को न सँभाल सका। उसने राख से ही विनती को और दोनों के संयोग में ... फूट पड़े। रुदन के संगीत में सुधा की इच्छा पूरी हुई और सम्बन्ध समाप्त हुआ, पति मिला पर उपन्यास का यह सुखान्त सुधा के आत्मबलिदान चन्द्रकुमार की कम कर पाने में समर्थ नहीं हुआ। पाठक विषादपूर्ण हृदय से उपन्यास लिए अंतिम पंक्तियाँ समाप्त करता है।

उपन्यास तीन खण्डों में समाप्त हुआ है और तीनों खण्डों की समाप्ति पर कोई न कोई प्रसंग अपनी चरम सीमा पर पहुँचता है। भाषा का जादू उपन्यास में सर्वत्र विद्यमान है। कथा की सरसता एवं उसकी चुस्ती अन्य उपन्यासकारों के लिए अनुकरणीय है। विषय की व्यापकता के दर्शन तो इस उपन्यास में नहीं मिलते पर मानव-जीवन के जिस सीमित क्षेत्र को उपन्यासकार ने लिया है उसके साथ पूर्ण न्याय किया है। यह दूसरी बात है कि उपन्यास में वर्णित प्रेम-प्रसंग प्रौढ़ मस्तिष्क को आह्लादित न कर सके पर किशोर वय के नारी और पुरुष तो इसके जादू से अपने को बचा नहीं सकते। एक बार पढ़ लेने पर अनेक बार पढ़ने की इच्छा बनी रहती है, जो उपन्यासकार की सफलता का रहस्य है। समाज के सभी वर्गों में इसकी लोकप्रियता श्रेयस्कर है। इस उपन्यास में एक ऐसा करुण संगीत है कि जो दूरागत वंशीरवका भांति मानस-पटल पर बजता रहता है। मनोवैज्ञानिक शैली के स्वस्थ उदाहरण के रूप में ही 'गुनाहों के देवता' को स्वीकार किया जा सकता है।

यज्ञदत्त शर्मा

आधुनिक सामाजिक उपन्यासकारों में 'यज्ञदत्त शर्मा' का महत्वपूर्ण स्थान है और अब तक उनके एक दर्जन से अधिक उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं। इनके सामाजिक उपन्यासों की जो सबसे बडी विशेषता है वह यह कि देश की बदलती हुई सामाजिक एवं राष्ट्रीय परिस्थितियों के साथ उनके विषय प्रतिपादन में भी परिवर्तन होता रहा है और अश्लील प्रसंगों के प्रति कहीं भी आग्रह नहीं प्रकट किया गया है। 'विचित्र त्याग' सम्भवतः शर्मा जी की प्रथम औपन्यासिक कृति है जिसके पश्चात् उनका दूसरा उपन्यास 'दो पहलू' प्रकाशित हुआ। हिन्दी पुस्तक एजेंसी को इस उपन्यास में चर्चा का विषय बनाया गया है। शांति या क्रांति की समस्या को लेकर इस उपन्यास में प्रश्नवाची चिह्न लगाया गया है। देश की सन् १६३०–३१ की राजनीतिक समस्या को भी इसमें समेटा गया है। परस्पर विरोधी विचार रखने पर भी इसके दो नायक एक दूसरे के प्रति सहयोग और सहानुभूति की भावना रखते हैं। इनके 'इंसान' नामक उपन्यास का कथानक सन् १९४७ में हुए हत्याकांड पर आधारित है। मानवता के

प्रति धर्म के नाम पर जो अत्याचार उस समय किया गया, उसका सजीव चित्रण इस उपन्यास में हुआ है। लगता है लेखक ने नर-संहार का रोमांचकारी दृश्य अपनी आंखों से देखा है जिसके कारण ही उपन्यास में वह शक्ति आ पाई है जिससे सहृदय पाठक द्रवित हुए बिना नहीं रह सकता। देश की राजनीतिक पार्टियों की कार्यप्रणाली की भी समीक्षा प्रस्तुत करने की शर्मा जी ने चेष्टा की है। देश के निर्माण और पारस्परिक सहयोग तथा सद्भावना के साथ राष्ट्र को आगे बढ़ाने और इंसानियत को कायम रखने का 'इंसान' में सन्देश है।

अपने 'निर्माणपथ' में शर्मा जी ने राष्ट्र के अन्दर फैली विध्वंसात्मक प्रवृत्तियों के विपरीत विचारधारा को लेकर नव स्वतन्त्रताप्राप्त राष्ट्र के सभी वर्गों को साथ मिलकर कंधे से कंधा मिला कर राष्ट्र को समुन्नत बनाने की कल्पना की है। पारस्परिक विरोधों को राष्ट्रनिर्माण की भट्ठी में झोंक देने का सन्देश है। इसके पश्चात् 'अन्तिम चरण' में देश के विभिन्न राजनीतिक दलों की स्वार्थप्रियता की खिल्ली उड़ाई गई है। देश की सभी पार्टियों के प्रतीक पात्र इस उपन्यास में मिल जायेंगे। समस्त उपन्यास व्यंग-प्रधान शैली में लिखा गया है। दिल्ली के एक वकील, उसकी पत्नी, स्वामी ज्ञानानन्द, उनका शिष्य आनन्द प्रकाश तथा वेश्यापुत्री सरोज इस उपन्यास के पात्र हैं। हिन्दू कोड बिल के प्रसंग को उठाकर अनेक आडम्बरों का भंडाफोड़ किया गया है। हिन्दू कोड-बिल के विरुद्ध होने वाली सभा में भाषण समाप्त करने के पश्चात् स्वामी ज्ञानानन्द चरण-रज वितरित करते हैं। चरण-रज के इस प्रसाद को नारियों में वितरित करने का कार्य-भार स्वामी जी ने अपने प्रिय शिष्य ब्रह्मचारी आनन्द प्रकाश को दे रखा था जिसे स्पष्ट आदेश था कि शूद्राओं को वह चरण-रज का प्रसाद नहीं दे सकता था। ब्रह्मचारी आनन्द प्रकाश सरोज नामक सुन्दरी के रूपाकर्षण के कारण उसकी जाति अथवा वर्ण न पूछ सका जिससे स्वामी जी अत्यन्त रुष्ट हो उठे। वह सुन्दरी वेश्यापुत्री थी जो स्वामी जी को क्रोधाभिभूत देख तर्क का सहारा लेकर उन्हें पाखंडी सिद्ध करने में पूर्ण समर्थ हुई।

उपन्यासकार ने बड़े अनूठे ढंग से आज के प्रगतिवादी विचारों को लेकर भारत का खाका तैयार किया है। भारत आज स्वतंत्र है, ऐसी अवस्था में प्रत्येक पार्टियाँ अपने-अपने क्षेत्र में किस प्रकार से अपना पार्ट अदा करती हैं, इसका बहुत ही सच्चा एवं सजीव चित्र प्रस्तुत किया गया है। स्वार्थ हेतु जनता के सामने सभी पार्टियाँ अपने गुणों का विवेचन करती हैं, परन्तु कार्य के नाम से इन्हें घृणा है। मंत्री संकटानन्द की जब तक स्वार्थसिद्धि होती है, तब तक वे 'हिन्दू कोड बिल' का विरोध करते हैं पर जब उन्हें वेला को फँसाने का सुअवसर प्राप्त होता है, तो वे उसके समर्थक बन जाते हैं। पुनः सोशलिस्ट पार्टी की शरण लेते हैं और जनता के सामने कांग्रेस-सरकार की निन्दा करते हैं।

स्वामी ज्ञानानन्द रूढ़िवादी परम्परा के समर्थक हैं, अतएव उन्हें अपने मार्ग में बहुत कम सफलता मिल पाई है, जिसका ज्ञान उन्हें सरोज के द्वारा होता है और पुनः वे अपने मार्ग में सफलता प्राप्त करते हैं। स्वामी जो सेठों से जो शोषण करते हैं उसमें उन्हें संतोष है क्योंकि वे कम्युनिस्ट विचारधारा को मानकर प्रगतिवाद की तरफ अग्रसर होते हैं। उपन्यासकार ने प्रगतिवाद के सिद्धान्तों का प्रतिपादन बड़े ही सफलता के साथ किया है।

वकीलों के वास्तविक चित्र का भी बड़ा मार्मिक ढंग से उल्लेख किया गया है। वकील साहब पुत्रहीन होने के कारण जहाँ स्वामी जी की सेवा-टहल करते थे, वहीं पर सरोज के मामले पर रुपया ऐंठने का काम भी सोचने लगते हैं।

उपन्यासकार अनमेल विवाह का समर्थक नहीं, अतएव वेला वकील के विचारों से सहमत नहीं है। जहाँ प्रेमचन्द कृत 'गबन' में वकील की स्त्री रतन अपने पति पर अनमेल विवाह होने पर भी संतुष्ट है, वहाँ 'अन्तिम चरण' में वकील की स्त्री वेला असंतुष्ट है। यहाँ उसके विपरीत विचारों का प्रस्फुटन हुआ है।

इस उपन्यास का मुख्य पात्र ब्रह्मचारी आनन्दप्रकाश केवल ज्ञान क्षेत्र में ही नहीं है, बल्कि वह भारत का एक जीता-जागता आदर्श पुरुष है। उसमें प्रत्येक व्यक्ति के गुणों तथा अवगुणों को पहचानने की शक्ति है। सरोज एक वेश्यापुत्री है, लेकिन उसके सामने कोई स्त्री टिक नहीं सकती। वह भारतीय नारी की प्रतीक है। इसकी पहचान केवल ब्रह्मचारी कर सका।

सरोज वेश्या-पुत्री होते हुए कला तथा नृत्य के साथ एक पवित्र आत्मा की झलक दिखाती है। वह तार्किक शक्तियों का अवलम्बन लेती है, जिसके सामने बड़े से बड़े लोगों को झुक जाना पड़ा है।

प्रासंगिक घटनाओं की उपमाएँ उपन्यासकार की कृति में लड़ी का काम करती हैं। मनोवैज्ञानिक ढंग से पात्रों के द्वारा उक्तियाँ एक चित्र उपस्थित कर देती हैं।

उपन्यासकार ने अपने सभी पात्रों का चुनाव विभिन्न पार्टियों के व्यक्तियों से किया है। स्वामी जी 'हिन्दू कोड बिल' के विरोधी हैं तो आचार्य तथा ठाकुर रायबहादुर कांग्रेस के नेता हैं। मंत्री जी सभी पार्टियों के लाभों को प्राप्त करना चाहते हैं।

'अन्तिम चरण' के पश्चात् 'महल और मकान' का प्रकाशन हुआ जिसमें देश के बड़े उद्योगों तथा कुटीर उद्योगों की चर्चा की गई है तथा कुटीर उद्योग की सफलता पर बल दिया गया है। इसमें सहकारिता के आधार पर राष्ट्र के निर्माण की कल्पना की गई है। देश के महल मिट जायँ और सबके लिए एक मकान मिल सके तब छोटे-बड़े की भावना निर्मूल हो, लेखक ने इस पर बल दिया है। अपने उपन्यास 'बदलती राहें' में उपन्यासकार ने देश की बदलती हुई परिस्थितियों पर प्रकाश डाला है। सहकारी खेती और कुटीर उद्योगों पर ही यह उपन्यास आधारित है। पटवारी और

साहूकारों की करतूतें, पैसे वालों के काले कारनामा तथा पुरानी रूढ़ियों को छिन्न-भिन्न कर देने की इसमें कहानी कही गई है। 'मधु' में अंग्रेजी सरकार के समय में जो वेश्याओं के रूप में स्त्रियों का बाजार खुला था उसमें मधु के क्रांतिकारी जीवन की एक सुन्दर कहानी को लेकर इस उपन्यास के कथानक का निर्माण किया गया है।

'मुनियाँ की शादी' के रूप में यह संक्षिप्त भेंट यथार्थ जीवन की एक अत्यन्त प्रकट व्याख्या है। इस उपन्यास में एक कर्मठ एवं निश्छल नारी की दयनीय परिस्थितियों का एक करुणापूर्ण एवं मर्मस्पर्शी विवरण प्रस्तुत किया गया है। रमधनियाँ का पति कुसंग में पड़कर चोरों और डाकुओं के दल में शामिल हो जाता है और इसी कारण उसे दीर्घ काल तक जेल की यातना भुगतनी पड़ती है। इस बीच अकेले रमधनियाँ पर बूढ़े ससुर और सास तथा अपनी बच्ची मुनियाँ के जीवनयापन का बोझ आ पड़ता है। ऐसी कठिन आर्थिक परिस्थिति में रहते हुए भी वह अपनी मुनियाँ के व्याह के लिए एक एक पैसा बचा कर कुछ दहेज इकट्ठा हो कर लेती है। इसी बीच उसका पति जल से छूटकर वापस आ जाता है और वह उस दहेज के लिये रखे रुपये को चुरा कर मुनियाँ को बेचना चाहता है। बड़ी कुशलता से रमधनियाँ दहेज का रुपया पति से पुनः प्राप्त कर लेती है और दामाद के साथ मुनियाँ को चोरी-चोरी विदा कर के माँ के कर्त्तव्य-ऋण से मुक्त होती है। कठिन से कठिन सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियों में रहते हुए भी कर्त्तव्य की उच्च भावना के प्रति जागरूकता रखना भारतीय सामाजिक जीवन की विशेषता रही है और इसी विशेषता को अत्यन्त यथार्थवादी पृष्ठभूमि पर रखकर लेखक ने उपन्यास में प्रस्तुत किए गये चरित्रों की विशेषताओं को उद्घाटित किया है।

अपने 'परिवार' नामक उपन्यास में शर्मा जी ने सम्मिलित परिवार की टूटती हुई शृंखलाओं का सजीव चित्र खींचा है। 'बाप बेटी' में एक आदर्श एवं कर्तव्यपरायण पिता और उसकी एकमात्र कन्या तथा एक अपने उत्तरदायित्वों से च्युत बाप की कहानी कही गई है। इसके बाद इनके 'भारत सेवक' उपन्यास का प्रकाशन हुआ जिसमें देश की सामाजिक प्रवृत्तियों को पात्रों के रूप में ढाला गया है। यह समस्त उपन्यास एक रूपक है। अन्त में पाठक इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि लेखक ही वास्तव में सच्चा भारत सेवक है जो राजनीति की आकांक्षाओं से दूर रहकर साधना करता है और राष्ट्र की उन्नति की कल्पना के साथ उस दिशा के साहित्य का निर्माण करता है। 'स्वप्न खिल उठा' में सन् १८५७ से सन् १९४२ तक की राष्ट्रीय चेतना का लेखा लिया गया है पर इस उपन्यास के लेखक की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि उसने एक गाँव को ही केन्द्र मान कर उपन्यास के कथानक का ताना-बाना बुना है। इसके अतिरिक्त 'मंगलू की माँ', 'बसंती बुआजी' तथा 'सब दा साथी' शर्माजी के अन्य

सामाजिक उपन्यास हैं जिसमें 'बसंती बुआजी' एक ऐसा रचना है जिसके माध्यम से उपन्यासकार ने औपन्यासिक प्रेम को एक अत्यन्त स्वस्थ भूमि प्रदान की है। फ्रायड के इस युग में जब कि अधिकांश उपन्यासों में अश्लील प्रेम-प्रसंगों को ही महत्वपूर्ण स्थान दिया जा रहा है, लेखक ने प्रमाणित कर दिया है कि काम-भावना के अतिरिक्त भी प्रेम का प्रसार सम्भव है। 'बसंती बुआ जी' में ऐसी ही एक ग्रामीण बुआ जी का निर्माण लेखक ने किया है जिसकी प्रेम-गंगा में गाँव की पवित्रता मुखर हो उठी है। जितने भी स्त्री-पुरुष पात्र इस उपन्यास में आये हैं वे सभी ग्रामीण जीवन की अत्यन्त सजीव एवं मनोरम झाँकी प्रस्तुत करते हैं। वीणा और 'एक स्वप्न' नामक दो अन्य छोटे उपन्यास भी शर्मा जी के हैं, पर उनकी सबसे महत्वपूर्ण कृति 'दबदबा' है जो पहले दीवान रामदयाल के नाम से प्रकाशित हुई थी।

दबदबा

यथार्थवादी जीवन की अत्यन्त साधारण स्तर-भूमि, व्यावहारिक वातावरण में निर्वाह करते हुए तथा किसी आदर्श या विशिष्ट आचरण के निर्वाह किए बिना भी मनुष्य अपनी व्यक्तिगत विशेषताओं और मानवजन्य भावनाओं की स्वाभाविकता का त्याग नहीं करता। बाह्य दृष्टि से अनेकानेक बुराइयों से आच्छन्न आज के मानव-समाज में हमें ऐसे मनुष्य बहुतायत से मिलेंगे जिनके निकट अध्ययन से अथवा उनके मन की विश्लेषणात्मक व्याख्या से हमें उनकी आन्तरिक गुरुता का स्पष्ट आभास मिलता है और यथार्थवादी साहित्य की यह विशेषता है कि ऐसी सामाजिक परिस्थितियों का कुप्रभाव धारण करने वाले पात्रों को चुन कर उनके अन्तर्मन का अध्ययन प्रस्तुत किया जाय जिनसे उन दूषित संस्कारों के आवरण को दूर करने में समाज को उचित सहायता प्राप्त हो तथा मानव मन की उच्च भावनाओं को सुसंस्कृत रूप में प्रस्फुटित होने का सुअवसर मिले।

उपर्युक्त उपन्यास में कठोर यथार्थ जीवन से उपन्यास-लेखक ने कुछ ऐसे ही पात्रों को चुनकर अशिक्षावश उन पर पड़े हुए कुसंस्कारों और उनके परिणाम स्वरूप तदनुकूल उनकी निर्मित मान्यताओं को एक ओर रखकर तथा मानव मन की स्वाभाविक वृत्तियों और मानव-स्वभाव के सहज गुणों को दूसरी ओर रखकर आज के समाज के जीवन की यथार्थवादी विवेचना बड़े अच्छे ढंग से प्रस्तुत की है। मानव स्वभाव की उच्च वृत्तियाँ, अशिक्षा, अज्ञान और उचित आदर्शों के अभाव में अप्रेय को अभिप्रेय मानकर उसकी पूर्ति में योगदान करने लगती हैं, इसका चित्रण लेखक ने बड़ी कुशलता से दीवान रामदयाल के जीवन को केन्द्र मान कर उपन्यास में प्रस्तुत किया है।

चरित्र-चित्रण की यथार्थवादी कला की दृष्टि से यह उपन्यास सफल कहा जा सकता है। रामदयाल आज के समाज का एक ऐसा पात्र है जिसमें पौरुष है, कर्मण्यता है और अपने व्यक्तित्व के व्यापक प्रभाव को फैलाने की अद्भुत क्षमता है पर उसको उचित रूप

में मार्ग निदर्शन नहीं प्राप्त है। मेरठ पुलिस लाइन और पुलिस जीवन की संकुचित सीमा के अतिरिक्त उसके सामने और कुछ नहीं है। त्याग, बलिदान, वचनबद्धता, कर्तव्यपरायणता आदि उसके उच्च गुण मात्र इसी सीमित जीवन में सिमिट कर रह जाते हैं। सर्वप्रथम एक सिपाही के रूप में रामदयाल हमारे सम्मुख आता है। इतने अधिक व्यक्तिगत गुणों के अनन्तर भी केवल उसके जीवन का चरम उद्देश्य दीवान बनने का ही है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह अपने अफसरों की मेमों को शराब पिलाना, उन्हें अपने लम्बे-चौड़े शरीर का सुख प्रदान करना तथा वेश्याओं का जशन दिखाना उसकी दृष्टि में अनैतिक उपचार नहीं है। वह इसे समझ ही नहीं सकता कि नैतिक उपचार और अनैतिक उपचार में क्या भेद है। वह कर्मठ है और अपने उद्देश्य की प्राप्ति मात्र ही उसका लक्ष्य है।

रामदयाल का चरित्र ऐसा है जो ऊपर से देखने में पुलिस-जीवन में व्याप्त दोषों से भरपूर है। प्रतिदिन शराब पीना, शहर की अच्छी से अच्छी वेश्याओं के यहाँ उठना-बैठना, पैसे वालों से ऐंठकर पैसा वसूल करना आदि कार्यों में रामदयाल उतना ही निपुण है जितना एक कुशल से कुशल पुलिस का आदमी हो सकता है। सबके ऊपर शासन और सबको अपने अधिकार में रखकर ही रामदयाल अपना 'दबदबा' बनाए रखता है। ऐसे बुरे कार्यों के लिए वह कल्लू पहलवान, शराब, वेश्या और अपने सहयोगियों की भरपूर मदद लेता है। पर इसके साथ ही रामदयाल के चरित्र में अच्छे गुणों की भी कमी नहीं है। अपने सहयोगी करीम खाँ के प्रति उसका भाई जैसा प्रेम, गुलाब वेश्या के प्रति उसकी सच्चाई और आजीवन पत्नी के समान उसके साथ आचार, अपने अफसरों की खुशी के लिए जीवन की बाजी लगा देने की क्षमता, अपने अकर्मण्य भाई के जीवन को सुखी बनाने के लिए अपने गाँव भर से बैर और उसके प्रति क्रूरता का प्रदर्शन तथा सबके प्रति एक आडम्बरहीन बर्ताव उसके चरित्र के कुछ खुले पहलू हैं।

रामदयाल के अतिरिक्त करीम खाँ, गुलाब वेश्या, रामप्यारी, सेठ दामोदर प्रसाद, हातम सिंह, कल्लू पहलवान, अब्दुलबेग, कासिम मिर्ज़ा, शीला, जनार्दन अष्ठाना, पंडित राम खेलावन, राम दुलारी आदि समाज के विभिन्न अंगों से विभिन्न पात्रों को चुनकर लेखक ने आज के समाज में रहने वाले व्यक्तियों के चाल-चलन, स्वभाव, उनकी मानसिक विचारधारा, सबलता और दुर्बलता का एक अत्यन्त सुन्दर खाका खींचा है। मुख्य चरित्रों की व्याख्या में प्रायः लेखक ने अध्ययन की आन्तरिक और बाह्य दोनों दृष्टियों से काम लिया है। इस प्रकार चरित्रचित्रण की दृष्टि से प्रस्तुत उपन्यास में लेखक को पर्याप्त सफलता मिली है।

चरित्रचित्रण के उपरान्त इस उपन्यास में दूसरा प्रमुख तत्व जो है वह देश-काल का वर्णन। अंग्रेजी शासन में जनता के प्रति शासक वर्ग का क्या रुख था और हंटर

के बल पर शासन किस प्रकार टिका हुआ था इसकी जानकारी के लिए लेखक ने इस समय के पुलिस कार्यों के अध्ययन को माध्यम बनाया है। धीरे धीरे नवजागरण का काल आया, सन् बयालीस का आन्दोलन और उसके उपरान्त समाज के कोने-कोने में जागृति हो उठी। पुलिस का पहले का दबदबा चला गया और साधारण से साधारण आदमी भी पुलिस के कर्मचारियों से टक्कर लेने को तैयार हो गया। इस अवधि में जो सामाजिक परिवर्तन हुए उन्हें लेखक ने अपने उपन्यास में समग्र करके प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। इसके अतिरिक्त आधुनिक भारतीय समाज की जो वास्तविक स्थिति है उसकी जो अपनी विचारधारा है तथा प्रगति के आडम्बर के पीछे जो असामाजिक भाव है, उनको लेखक ने सदैव ध्यान में रखा है। रामप्यारी और सेठ दामोदर प्रसाद जैसे पात्रों को लेकर लेखक ने आधुनिक परिवर्तन से लाभ उठाने वाले लोगों का भी एक सच्चा खाका प्रस्तुत किया है। विभिन्न चुने हुए पात्र भी इस उपन्यास में समाज के विभिन्न वर्ग के हैं और सारे व्यापक समाज पर समग्र रूप में लेखक की दृष्टि दौड़ गई है। यहाँ राजनीतिज्ञ, कवि, लेखक, किसान, नेता, वेश्या, गुंडे, सिपाही सभी वर्ग के लोग मौजूद हैं और अपने-अपने वर्ग के जीवन की विशेषताओं को प्रदर्शित करते हैं।

उपन्यास में जो दोष है वह है इसका कथा-शिल्प। कथा-शिल्प का अभिप्राय कथा से नहीं है। कथा तो उपन्यास की अत्यन्त सुगठित और क्रमिक है पर कथा की योजना उपन्यासकार की स्वयं उपन्यास का पात्र बन बैठने की इच्छा के कारण अत्यन्त विशृङ्खल हो उठी है। लगता है जैसे बहती हुई धारा में एक विशाल स्तम्भ आ गया हो जिसके कारण धारा की एकता समाप्त हो गई हो। उपन्यास के द्वितीय खंड में लेखक और उसके परिवार का प्रवेश कथा को एक प्रकार से भंग कर देता है। सभी उपन्यास के पात्र द्वितीय खंड में लेखक को केन्द्र मानकर अपनी-अपनी कथा समाप्त करते हैं। अन्त में उपन्यासकार कथा की समाप्ति तो कर ले जाता है पर कथा कहने की यह नवीन पद्धति पाठकों को झुँझला देती है और एक ऊब-सी होने लगती है। प्रायः ऐसा होता है कि कथा के अन्तिम अंश में पाठक अधिक विलम्ब और अनावश्यक नवीन पात्रों से परिचय की इच्छा नहीं रखता। प्रस्तुत उपन्यास में यदि लेखक अपने परिवार सहित उपन्यास में न आ टपका होता तो कथा-शिल्प की सुन्दरता का निर्वाह आद्यन्त अत्यन्त सुन्दर ढंग से सम्भव हो सकता।

फिर भी सब मिलाकर देखने से शर्माजी का यह उपन्यास एक सफल उपन्यास कहा जा सकता है और इसके पठन से उनकी उपन्यास-कला का अच्छा परिचय प्राप्त हो सकता है।

हृर्णनाथ

करमू और लगनी

हर्पनाथ के इस उपन्यास का कथानक उस स्थल से प्रारम्भ होता है, जहाँ शस्यश्यामला धरती अपने पूर्ण यौवन पर है। खेतों में मटर फूली है, जौ और गेहूँ की फसलें लहरा रही हैं, तीसी और सरसों के नीले-पीले फूल अपने सौन्दर्य पर इठला रहे हैं और अरहर एवं ईख अपनी मादकता में झूम रही हैं, किन्तु प्रकृति के इस अक्षय-वैभव के बीच भी इस उपन्यास के नायक करमू का शरीर शीत से काँप रहा है, उसके हाथ-पैर ठिठुरे जा रहे हैं, शरीर पर एक गजी है, वह भी फटी हुई। कानों को उसने अँगोछे से बाँध रखा है और आशा भरी दृष्टि से बार बार पूर्व-दिशा की ओर देख लेता है कि सूरज निकले तो उसके शरीर में जरा गर्मी आ जाये और यह हाड फोड देने वाली हवा जरा रुके। जीवन-संघर्ष के इस दुर्वह पथ पर अभावों के बीच करमू आगे बढ़ता है।

इस उपन्यास के माध्यम से लेखक ने ग्रामीण समस्याओं को उसके वास्तविक रूप में आँका है। ग्रामीण जीवन का इतना सूक्ष्म और विशद विवेचन इस बात को सिद्ध करता है कि लेखक ने ग्रामीण जीवन को पुस्तकों के माध्यम से नहीं अपितु नजदीक से उन्हें देखा-परखा है। प्रायः यह होता है कि शहरी जीवन के अभ्यस्त उपन्यासकार जब ग्रामीण जीवन का चित्रण करते हैं अथवा ग्रामीणों की सामाजिक, आर्थिक समस्याओं को उठाते हैं, तब पुस्तकीय एवं फिल्मी माध्यम से प्राप्त अपने छिछले ज्ञान से वे स्वयं तो हास्यास्पद बनते ही हैं, गाँवों को भी भोंडे और अवास्तविक रूप में चित्रित करते हैं। उनकी दृष्टि में तब गाँव की प्रत्येक षोडसी नायिका है और प्रत्येक नौजवान नायक, जिनके जीवन का सारभूत सिद्धान्त मात्र प्रेम करना है और एक रोमानी जिन्दगी गुजार देना है। इस उपन्यास में जो कुछ आया है, सहज और स्वाभाविक रूप से। एक धर्मभीरु, निरक्षर, परम्पराओं में जकडा बँधा नायक कथासूत्र को आगे बढ़ाता है और एक दिन वह राजनैतिक चेतना प्राप्त, अपने अधिकारों एवं दायित्व के प्रति जागरूक शिक्षित तथा कर्मठ नेता बन जाता है जिसके नेतृत्व में गाँव का वातावरण बदल जाता है और स्पष्टतया लोग बोध करते हैं कि केवल दो ही जातियाँ हैं—एक गरीबों की जाति और दूसरी अमीरों की जाति। ब्राह्मण, राजपूत, कायस्थ, अहीर आदि तो कहने के लिए ही हैं जहाँ कमजोरों को दबाने का प्रश्न आता है सभी सम्पन्न व्यक्ति एक साथ हो जाते हैं। इन वर्णनों में कहीं भी अस्वाभाविकता नहीं आ पाई है। उपन्यास का कथानक अपनी स्वाभाविक गति से आगे बढ़ता है। बड़ी जातियों की स्त्रियों के बजाय छोटी जातियों की स्त्रियाँ ज्यादा स्वाभिमानी हैं क्योंकि उनके साथ परिश्रम का बल है। वे अपने पतियों से लड़ भी

लेती हैं, अपने अधिकारों के लिए जिद भी करती हैं क्योंकि वे पुरुषों से ज्यादा मेहनत करती हैं। दिन भर खेतों में पुरुषों के साथ खटने के साथ घर आने पर वे गृहस्थी के दैनिक कामों में लग जाती हैं। उनमें एकपतित्व के प्रति सम्मान का भाव तो अवश्य है किन्तु पति के अन्याय करने पर वे उसे तलाक भी दे सकती हैं और समाज में इसके लिए कोई उन्हें बुरा नहीं कहता। पुरुषों के प्रति उनका एक तरह से साथी का भाव है, किन्तु बड़े घरों की स्त्रियों की स्थिति इसके विपरीत है।

जगह-जगह पर प्रकृति का अत्यन्त लुभावना दृश्य हमारे सामने आता है किन्तु कहीं भी ऐसा बोध नहीं होता कि वह स्थल अलग से जोड़ा हुआ है। जिस भाँति कृषकों एवं ग्रामीण खेतिहर मजदूरों का जीवन प्रकृति के आँचल में बीतता है, प्रकृति उनके सुख-दुःख की साथी है, उसी तरह इस उपन्यास की कथावस्तु भी प्रकृति के आँचल में ही चलती है। गाँवों में वर्तमान गरीबी का अत्यन्त मार्मिक चित्रण हुआ है। एक चमार की पत्नी अपने घर आये पड़ोस के अपने देवर के सामने जब नहीं आती है और वह इसका कारण जानना चाहता है तब मालूम होता है कि उसकी यह पड़ोस की भाभी साड़ी न होने के कारण टाट लपेट कर घर में बैठी है। गाँवों में पाले जाने वाले पशुओं में गाय, बैल, भैंस, सूअर आदि से लेकर गाँवों के बँसवारों तथा पलास के बनों-बगीचों में रहने वाले स्यार, लोमड़ी आदि भी इस उपन्यास में जगह-जगह आकर रोचकता प्रदान करते हैं। इस उपन्यास का नायक तथा उसके सहयोगी दूषित राजनैतिक, आर्थिक एवं सामाजिक व्यवस्था के शिकार रहे हैं किन्तु पराजित होकर जीवन-संघर्ष से वे विमुख नहीं हुए, जिन्दगी के प्रति उनकी आस्था डिगी नहीं और उनकी आशा का स्वर कभी कुंठित नहीं हुआ। हर्षनाथ जी का यह उपन्यास एक स्वस्थ एवं सशक्त रचना है।

राजा रिपुमर्दन

हर्षनाथ जी का यह उपन्यास आत्मकथा के रूप में लिखा गया है जिसमें एक जमीन्दार अपनी आत्मकहानी स्वयं कहता है। कथा का सूत्र सन् १८५७ के स्वातन्त्र्य-युद्ध से प्रारम्भ होता है जब भारत की जनता ने अंग्रेजों के विरुद्ध स्वतन्त्रता-संग्राम की पहली लड़ाई सामूहिक रूप से लड़ी थी। राजा रिपुमर्दन के खानदान में राजा का खिताब उसी समय से चला आ रहा है और वह बड़े गर्व के साथ इस बात की घोषणा करता है। दबे-छिपे शब्दों में इस बात का स्पष्टीकरण हो जाता है कि राजा रिपुमर्दन के परिवार में जमीन्दारी तथा राजा की उपाधि १८५७ में देशवासियों के साथ गद्दारी करने के पुरस्कार में ही प्राप्त हुई है और उसके पूर्वज राजपूत वंश से नहीं, मध्यप्रदेश के गोंडों के वंशज हैं। काशी के पंडितों का प्रचुर दक्षिणा से सत्कार करके उसके परदादा ने अपने परिवार की वंश-परम्परा इक्ष्वाकु वंश से जोड़ रखी थी। राजा रिपु-

मर्दन का बड़ा लड़का जब कांग्रेसी राज्य में मंत्री चुना जाता है और उसके सम्मान में आयोजित सभा में प्रान्त के मुख्य मंत्री गर्व से उल्लेख करते हैं कि राज्यभक्ति तो इनके वंश की परम्परा है। मुख्य मंत्री के इस कथन में कोई व्यंग नहीं था, किन्तु राजा रिपुमर्दन के मन में यह बात स्पष्ट रूप से उभरती है कि निःसन्देह राज्यभक्ति उनके वंश की परम्परागत विशेषता है। जब देश में अंग्रेजों का राज्य था तब उनके पूर्वज और वे स्वयं अंग्रेजों के भक्त थे और अब देश में कांग्रेस का शासन स्थापित हो जाने पर उनका लड़का कांग्रेस सरकार में मंत्री होकर राज्यभक्ति का प्रमाण दे रहा है। इस विडम्बना का व्यंग्य राजा रिपुमर्दन के अन्तःकरण में एक टीस-सी पैदा करता है, किन्तु वह क्षणिक है। अपनी आत्मकथा के रूप में इस उपन्यास की कथावस्तु को वे आगे बढ़ाते हैं। अपने बाल्य-जीवन के संस्मरणों को वे अंकित करते हैं जिसमें यह स्पष्ट होता है कि उनके पिता का ग्रामीण प्रजा पर कितना आतंक था। बालक राजा रिपुमर्दन के मनोरंजन के लिये उसके पिता के दीवान लंकादहन के अनुकरण में उसके हाथ से एक गरीब की झोपड़ी में आग लगवा देते हैं। अपनी बाल्य-स्मृतियों में वह यह कहना नहीं भूलता कि छोटी ही उम्र में उसमें कामवासना का उद्रेक हो जाता है और शहर में पढ़ने के लिये जब वह जाता है तब वासना के पंक में एकदम डूब जाता है। खर्च करने के लिये मनमाने पैसे और फूँकने के लिये उसी जैसे दो-चार सम्पन्न ताल्लुकेदारों-जमींदारों के लड़के थे। पढ़ाई में उसका मन लगता नहीं, किन्तु तो भी वह शहर में रहना ही पसन्द करता है क्योंकि गाँव में अपने पिता के सामने खुलकर भोग-ऐश्वर्य का उपभोग नहीं कर सकता। कथा-प्रसंग में यह भी चित्रित होता चलता है कि उसके दादा सामन्तशाही के मूर्त रूप थे। ऐयाशी, अत्याचार, दम्भ और झूठी मान-मर्यादा में ही उनका जीवन चलता है।

दो सौ पृष्ठों का यह छोटा-सा उपन्यास काफी गठा हुआ है। शैली के दृष्टिकोण से आत्मकथा के रूप में होने के कारण इसका अपना एक अलग महत्व है। व्यंग्य तो जगह-जगह ऐसा उभर कर आया है कि उसका तीखापन महसूस तो किया जाय किन्तु सुनने वाला तिलमिला कर चुप रह जाय। मुख्य मंत्री जब राजा रिपुमर्दन के परिवार की बड़ाई में कहते हैं कि राजभक्ति इनके परिवार की विशेषता है तब मुख्य मंत्री भले ही इसे राजा रिपुमर्दन के परिवार का महत्व बढ़ाने वाला समझें किन्तु यह करारा व्यंग्य उन जैसे सभी लोगों के लिये है, जो अंग्रेजी राज्य में अंग्रेजों के भक्त थे और जनता की लड़ाई में जीत हो जाने पर, जनता के हाथ से आज सत्ता छीन कर हथिया बैठे हैं और अपने को देशभक्त समझ बैठे हैं। उपन्यास में दो एक बातें ऐसी आई हैं जिनसे बोध होता है कि लेखक कहीं-कहीं पूर्वाग्रह से बाध्य है। ऐसे प्रसंगों में गांधी जी एवं विनोबा जी पर उसके आक्षेपों का उल्लेख किया जा सकता है।

टूटते बंधन

'टूटते बन्धन' में उपन्यासकार हर्षनाथ ने ग्रामीण जीवन के उपेक्षित वर्ग का सजीव एवं यथार्थवादी चित्रण किया है। इस उपन्यास की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें संघर्ष समाज के जीवन के एक उपेक्षित वर्ग में है। गांवों में प्रायः ही ऐसा होता है कि निम्नवर्ग एवं गरीबों को दबाने में सभी निहित स्वार्थ वाले एका कर लेते हैं। इसमें हम उसी भावना को देखते हैं।

इस उपन्यास में चमारों के सामाजिक जीवन पर प्रकाश पड़ता है। इसमें स्पष्ट हो जाता है कि उनके समाज में श्रम की ही महत्ता है। वैवाहिक सम्बन्धों में वहाँ काफी छूट है। पति के जीवित रहते भी पत्नी उसे छोड़ कर दूसरा पति वरण कर सकती है। इसके सिवा तथाकथित बड़े लोगों का आन्तरिक जीवन 'सेक्स' के बारे में नितान्त कलुषित है। वह एक स्त्री को व्याहता बनायेंगे और छिपकर अनेक स्त्रियों से सम्बन्ध रखेंगे।

वर्ग-संघर्ष की भावना भी इस उपन्यास में स्पष्ट रूप से सामने आई है, जातियों का भेद अपने-अपने निहित स्वार्थों के आधार पर दिखाई पड़ता है।

इस उपन्यास के कला-पक्ष और लोक-पक्ष दोनों ही प्रौढ़ हैं। लेखक ने ग्रामीण जीवन के शोषित-शासित वर्ग के सुख-दुःख, कशमकश-चेतना का सफल चित्रण किया है। स्थानीय शब्दों के व्यवहार, लोकगीतों की चर्चा एवं प्रकृति-वर्णन से लेखक की रचना में ग्रामीण-जीवन का खाका उभर कर सामने आया है।

रक्त के आँसू

'रक्त के आँसू' हर्षनाथ की अपेक्षाकृत सबसे प्रौढ़ रचना है। इस उपन्यास की मुख्य कथावस्तु दो ऐसी नारियों को वृत्त बना कर घूमता है, जिसमें एक ने अपनी यौवनावस्था में पतिव्रत धर्म का अटल व्रत निबाहा, किन्तु वही राजवंशी जब प्रौढ़ावस्था में विधवा होती है तब अपनी सम्पत्ति के मुन्तज़िमकार रिश्ते में देवर लगने वाले महीपत सिंह के प्रति आसक्त हो उठती है। किन्तु उसका यह प्रेम अन्त तक मौन, मूक और अनिवेदित ही रह जाता है। मर्यादा उसके मार्ग में आ खड़ी होती है और इस प्रेम की पीड़ा को अपने अन्तर्मन में छिपाये ही आत्म-हत्या द्वारा वह अन्त कर देती है। महीपत सिंह को इसका हलका आभास भर मिला कि राजवंशी देवी का झुकाव उनकी तरफ है, किन्तु जो महीपत अपनी व्याहता पत्नी के प्रति इतना निष्ठुर है कि जब चाहे मनमाने ढंग से निर्दयतापूर्वक पीट दे, गाँव की कहारिनें, खेतों में काम करने वाली मजदूरिनें उसकी कामाग्नि में अपना शरीर झुलसाने के लिए बाध्य हो जाती हैं, किसी को वह धमका कर और किसी को पैसे के बल पर

अपनी अंकशायिनी बनाता है, वही बर्बर महीपत सिंह राजवंशी देवी की शालीनता के सम्मुख आते ही पराजित हो जाता है। राजवंशी देवी के धन और शरीर दोनों पर उसकी आँखें हैं। दोनों ही का वह आकांक्षी है, किन्तु जब-जब पाने का सुयोग आता है, वह अपने को वहाँ असमर्थ पाता है। राजवंशी की ओर इंगित कर भी वह यह प्रकट करने का साहस नहीं कर पाता कि वह उससे प्रेम करता है।

इस उपन्यास की दूसरी नारी है—सुबासी। वह महीपत सिंह की व्याहता है, किन्तु जब वह ब्याह कर आती है तो उसकी उम्र मुश्किल से ग्यारह-बारह साल की है। व्याहने का तो एक आडम्बर था। दरअसल महीपत सिंह उसे खरीद कर लाते हैं और व्याह की रस्मअदाई कर लेते हैं। आते ही सुबासी चक्की के दो पाटों के बीच पड़ती है—एक तरफ तो महीपत की बूआ है जो सुबासी को कठोर-से-कठोर यंत्रणा देने में ही अपने सास पद की गरिमा का बोध करती है। यहाँ तक कि उसके ऊपर व्यभिचार का झूठा आरोप करके महीपत सिंह की मदद से सुबासी के गुप्तांगों को गर्म हँसिये से दागने में भी नहीं हिचकती। दूसरी ओर इस अबोध और कच्ची उम्र में सुबासी महीपत ऐसे बर्बर पुरुष की कामाग्नि में दग्ध होती है। ग्यारह-बारह साल की सुबासी रूखी-सूखी देह, सूखे बांस की तरह हाथ-पाँव लिए बलिष्ठ महीपत के सम्मुख बाल-हिरणी की भाँति काँप जाती है। भय से उसने अपने दोनों हाथों से अपने मुँह को ढँक लिया और बलपूर्वक महीपत ने उन हाथों को हटा दिया और "दूसरे दिन घायल चिड़िया-सी सहमी-सिकुड़ी सुबासी बूआ के सामने जाने में दुःख और लज्जा से डूब उठी थी। उन कच्ची आँखों में भय, दुःख और लज्जा एक साथ समाई हुई थी।" यही सुबासी कालान्तर में अपने इसी बर्बर पुरुष महीपत से संघर्ष करती है। अपने हक के लिए बार-बार पिटकर भी वह आवाज बुलन्द करती है। महीपत की चरित्र-हीनता के लिए उसे आड़े हाथों लेती है और महीपत परस्त्री-गमन को पुरुष का जन्म-सिद्ध अधिकार घोषित कर सुबासी को इस 'दखलन्दाजी' के लिए उसे कठोर-से कठोर शारीरिक दंड देता है। किन्तु सुबासी भय के सम्मुख सर नहीं झुकाती। उसका पति जब राजवंशी के रूप पर-मुग्ध होकर दिन-रात राजवंशी के बंगले पर डेरा डाल देता है, तब परम्परा से चली आई पर्दा-प्रथा को तोड़ कर वह अपने खेतों की रखवाली करती है, अपने पशु-धन की सार-सँभाल करती है। गाँव में होने वाली इस टीका-टिप्पणी का उस पर कोई असर नहीं पड़ता है। कालान्तर में वह महीपत से लड़कर अपने हिस्से का खेत अलग कर लेती है और उसकी देखभाल करती है। राजवंशी की मृत्यु के उपरांत जब उनका लड़का कुलदीप खुले आम दुश्चरित्रता में डूब जाता है और कुलदीप का मित्र शंकर, जो कि गाँव के मानिन्द मुंशीजी का लड़का है, कुलदीप की बहन लक्ष्मी पर नजर डालता है। और एक दिन जब कुलदीप अपनी सारी सम्पत्ति

ऐय्याशी में उडाकर लक्ष्मी को एक बूढ़े के हाथ व्याह के लिए बेचने पर आमादा हो जाता है, तब सुबासी साहस के साथ लक्ष्मी को अपने यहाँ आश्रय देती है और उसका अन्तर्मन इस बात को स्वीकार करता है कि उसके पति ने राजवंशी देवी के प्रति प्रेम का भाव रखा था और इसलिए राजवंशी की लड़की उसकी लड़की के समान हुई। अतएव, दुःख में उसकी सहायता करना उसका मातृ-धर्म है और उससे वह विमुख नहीं हो सकती। और लक्ष्मी को अपने अंक में समेटते हुए कहती है—"आओ बिटिया, आज से तुम मेरी बेटी हो, मैं तुम्हारा व्याह रचाऊँगी। मेरी दो बेटियाँ हुईं—लक्ष्मी और सरस्वती। धन्यभाग कि मेरे घर में लक्ष्मी और सरस्वती दोनों हैं।"

हर्षनाथ का यह उपन्यास कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। ग्रामीण जीवन को चित्रित करने वाले उपन्यास तो हिन्दी में काफी लिखे गये हैं, किन्तु उनमें कोई भी ऐसा नहीं है जो गाँवों की स्त्रियों को ही आधार मानकर रचा गया हो। इस उपन्यास के दो सशक्त चरित्र नारी ही हैं और एक गाँव के सम्पन्न परिवार की है, दूसरी जाति से ऊँची तो है किन्तु निर्धनता में डूबी हुई। इसके सिवा बड़ी जातियों में चली आती परम्परा का उल्लंघन करके सुबासी पर्दे से बाहर निकल अपनी गृहस्थी सँभालती है, अपने अधिकार और स्वाभिमान की रक्षा के लिए वह पति से अलग होकर अपना स्वतन्त्र अस्तित्व स्थापित करती है।

जिस प्रकार इसमें कुलीन स्त्रियों का चरित्र उभर कर सामने आया है, उसी प्रकार तथाकथित छोटी जातियों की स्त्रियों का भी चरित्र आता है। उसमें भी अशरफी ऐसी नारी है जो पैसे के लिए नहीं, प्रेम के लिए परपुरुष से शरीर सम्बन्ध स्थापित करती है, किन्तु उसका वही प्रेमी कुलदीप जब अपनी बहन को एक बूढ़े के हाथ बेचने के लिए आमादा हो जाता है, तब वह कुलदीप का विरोध करती है और व्याह में व्यवधान डालकर लक्ष्मी को सुबासी के आश्रय में पहुँचा देती है। यहाँ पर वह अपने कर्त्तव्य के सम्मुख प्रेम को न्यौछावर कर देती है।

कलात्मकता की दृष्टि से भी इस उपन्यास का अपना विशेष महत्व है। मानव-मन की अन्तर्वृत्तियों का इसमें कुशल अंकन हुआ है। हिन्दी उपन्यासों में हर्षनाथ का यह उपन्यास एक स्वस्थ मर्यादावादी परम्परा का मानदण्ड है।

हर्षनाथ के अन्य उपन्यास 'पत्थर और दूब,' 'उड़ती धूल', 'धरती धूप और बादल', 'रेखाएँ और रेखाएँ' तथा 'गवर्नेस' हैं। इनमें दो विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। 'पत्थर और दूब' में एक विशेष समुदाय का चित्रण किया गया है। इसमें स्टेशनों पर रिफ्रेशमेंट-रूमों एवं जलपान-गृहों में काम करने वाले कर्मचारियों का चित्रण है। 'उड़ती धूल' में अहीरों के जीवन का खाका सामने आया है। ये दो उपन्यास भाषा की दृष्टि से आंचलिकता का आभास नहीं देते, किन्तु एक सामाजिक वर्ग अथवा तबके का हो चित्रण देने के कारण ये कुछ सीमा तक आंचलिकता की सीमा में आ जाते हैं।

हिमांशु श्रीवास्तव

आधुनिक खेवे के उपन्यासकारों में हिमांशु श्रीवास्तव का नाम बडे ही आदर के साथ लिया जायगा। इनके दो उपन्यास 'चित्र और चरित्र' तथा 'लोहे के पंख', 'नदी फिर वह चली' के पूर्व ही प्रकाशित हो चुके थे। वे बराबर लिखते जा रहे हैं।

लोहे के पंख

हिन्दी उपन्यासों के क्षेत्र में स्वर्गीय प्रेमचन्दजी के 'गोदान' की परम्परा मरी नहीं, हिमांशु श्रीवास्तव का 'लोहे के पंख' इसका ज्वलन्त उदाहरण है। 'गोदान' का कथा-क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है, जिसकी परिधि में तत्कालीन समसामयिक सभी भारतीय समाज के प्रमुख वर्गों का प्रतिनिधित्व हो गया है, जिसकी तुलना में 'लोहे के पंख' का कथा-क्षेत्र अत्यन्त सीमित है और सम्भवतः यही कारण भी है कि उपन्यासकार अपने नायक को उभाड कर रखने में अधिक सफल भी हो सका है तथा उपन्यास कला की दृष्टि से भी वह 'गोदान' की परम्परा को आगे बढ़ाने में समर्थ हो पाया है। जब उपन्यासकार कथानक के अनावश्यक विस्तार तथा अधिकाधिक सूचना-संग्रह के मोह में पड जाता है, तो उसके द्वारा प्रस्तुत किये गये चित्रों अथवा चरित्रों की संख्या अधिक होती तो है, पर उनमें पूर्णता का अभाव होना अत्यन्त स्वाभाविक है। हिमांशु श्रीवास्तव ने अपने इस यथार्थवादी सामाजिक उपन्यास 'लोहे के पंख' में विवेचना की जो भूमि चुनी है, वह अत्यन्त सीमित है। पर अपनी प्राप्त लघुसीमा में ही लेखक ने अनुभव की इतनी अपार पूँजी लगा दी है कि जिससे उसने एक-एक इंच भूमि का उपयोग कर लिया है। हिन्दी कथा साहित्य की यह इमारत 'लोहे के पंख' बडी ही पायदार और कुशल इंजीनियर की अद्भुत सूझ की जीती-जागती मूर्ति है।

उपन्यास का नायक 'मंगरुआ' चमार प्रौढ होने पर अपने जीवन की संघर्षमयी घडियों की कहानी स्वयं लेखक को सुनाता है, जिसे वह अभी तक इसलिए नहीं भूल सका है कि उसे भूलने का अवकाश ही नहीं मिल पाया, क्योंकि जीवन में निरन्तर वह उन्हीं दुर्भाग्यपूर्ण परिस्थितियों से जूझता रहा है, जिसमें सुख के एक भी क्षण कल्पना में भी उसे नहीं मिल पाये हैं। जन्म लेने के पश्चात् जबसे उसने होश सँभाला है, उसे सर्वत्र दीनता, कटुता, स्वार्थपरता एवं शोषण की वृत्ति ही देखने को मिली है, जिसमें वह और उसके परिवार वाले जीवित ही नहीं थे बल्कि सन्तुष्ट भी थे। स्वर्गीय प्रेमचन्दजी का परिचय 'होरी' से चन्द दिनों का है और वह भी उस समय हुआ जब कि वह बिल्कुल टूट चुका था, जिससे होरी के माध्यम से भारतीय गाँवों की आर्थिक विपन्नता एवं उससे सम्बन्धित समाज का जो खोखलापन प्रकट हुआ है, उसकी सीमा अत्यन्त परिमित है। फलतः पाठकों के सम्मुख न तो कोई स्थायी

समस्या ही उपस्थित हो पाती है और न तो गोदान के माध्यम से वह किसी समाधान तक ही पहुँच पाता है। पहुँचना इसलिए सम्भव भी नहीं; क्योंकि वह काल भारतीय सामाजिक इतिहास का संक्रान्तिकाल था, जिस समय भारतीय समाज में परिवर्तन बड़ी ही तीव्र गति से उपस्थित हो रहे थे, पर 'लोहे के पंख' का 'मंगरुग्रा' जो कहानी कहता है वह केवल उसकी ही कहानी नहीं, बल्कि उसके चार पुश्त की कहानी है जिसमें उसके दादा, बाबू और लड़के तक की लम्बी गाथा सिमट कर आ गयी है। यही कारण है कि इस उपन्यास के माध्यम से भारतीय ग्रामीण समाज की दीर्घकालीन गति-विधि का आकलन बड़ी ही सफलतापूर्वक हो गया है, भले ही उसका प्रसार सीमित हो, क्योंकि मंगरुग्रा के सामाजिक सम्बन्धों की भी सीमा है, जिसमें अधिक-से-अधिक उसके गाँव के अशिक्षित और अर्धशिक्षित लोग, झूलन पंडित, फुरदेल साव, जमींदार बच्चा बाबू, मुंशीजी, अछैबरा महरिन, थोड़े सरकारी कर्मचारी, नाचनेवाले समाजी, मिल-मजदूर और मिल-मजदूर यूनियन के माध्यम से राजनैतिक दलों के कुछ छोटे-मोटे नेतागण ही आ पाते हैं तथा संयोग से ही एक प्रगतिशील लेखक से भी उसका परिचय हो गया है।

उपन्यास के पूर्वार्द्ध को देखकर तो पाठक के मन में एक बड़ी निराशा-सी उत्पन्न होती है; क्योंकि उसे ऐसा लगता है कि उपन्यासकार 'गोदान' में देखे हुए प्रेमचन्दजी के समाज की ही पुनर्व्याख्या कर रहा है, जो पृष्ठपेषण के अतिरिक्त और कुछ नहीं। अन्तर केवल इतना ही है कि 'होरी' किसान है और कभी-कभी आवश्यकता पड़ने पर मजदूरी भी कर लेता है, पर मंगरू का सारा परिवार मजदूरी पर ही आश्रित है और भविष्य में किसान बनने की बलवती इच्छा अपनी रंगीनियों के साथ उपस्थित होकर उसके सम्मुख एक अपूर्व कल्पित सुखमय जीवन की सृष्टि कर जाती है। मंगरू के बाप झगड़ू की किसान बनने की स्पृहा, होरी के गाय रखने की बलवती इच्छा के समान ही है जिसे दोनों ही पाकर सुखी नहीं हो पाते। जमींदारी राज्य में पले एक स्वामिभक्त नौकर का वास्तविक प्रतिनिधि-चित्र मंगरू का दादा है, जो भूखे रहकर भी अपने मालिक बचा बाबू के गोहराँव अर्थात् जुटहाँव में अपने जीवन की बलि देकर गिरे हुए अपनी प्रत्येक रक्त की बूँद से नमक अदा करने की इच्छाशक्ति रखता है। यदि उसके जीते जी कहीं उसके मालिक का खेत दूसरों के कब्जे में चला गया तो उसके जीवन को धिक्कार है। यह है उसकी स्वामिभक्ति जिसके बदले में स्वामी से उसे इतना भी अन्न नहीं मिल पाता कि उससे वह अपना और अपने परिवार का पेट भर सके। बचा बाबू के रूप में जमीन्दारों का वह शोषक-वर्ग है जो मजदूरों के जान की कीमत केवल बीस या पचीस रुपये से अधिक नहीं जानता। ये ऐसे मालिक हैं, जो मजदूर के पूरे परिवार से सेवा लेने पर भी उन्हें पारिश्रमिक के रूप में उतना भी नहीं देते कि वे कम-से-कम

पेट भर खा तो लें; क्योंकि काम तो एक व्यक्ति से लेते हैं और अधिक लोगों की तो बेगार ही करना होता है। मंगरुआ की माँ गोबर पाथने के लिये तो रोटी अथवा जूठे-भात पाती थी, पर दिन भर उसे 'गड़वर' फींचने तथा घर की सफाई का काम बेगार में ही करना पड़ता था। जो कुछ मजदूरी के रूप में मिल जाता था उसके लिये केवल बचा बाबू का ही कृतज्ञ नहीं, बल्कि उन्हें उनके मुँहलगे नौकरों का भी, जिनपर उनके मुंशी और स्वयं बचा बाबू की अधिक कृपा होती, कृतज्ञ होना पड़ता था। ये प्रायः नौकरानियाँ होतीं, जो केवल अपने काम से ही नहीं, बल्कि मुसकान से भी मालिकों को प्रसन्न रखती थीं। कभी-कभी मजदूर जमीन्दार के यहाँ यदि अपनी हर्ज-गर्ज लेकर जाना भी चाहता तो बेगार के भय से उनकी हिम्मत छूट जाती थी। मुंशी जी तथा जमीन्दार साहब भले ही बेगार लेना भूल जायँ, पर उनके मुँहलगे नौकर कभी भी असावधानी नहीं करते। वे अतिरिक्त कामों को सम्पन्न करने के लिये ही बेगार लेते हों ऐसी बात नहीं, वे तो अपने कामों को हल्का करने के लिये भी ऐसा दुराग्रह कर बैठते थे और उनकी आज्ञा का पालन करना झगड़ू के लिये इसलिये और भी आवश्यक था; क्योंकि जमीन्दारी जुल्म के अछैबरा जैसे नौकर ही हथियार थे; जिन्हें गरीब मजदूरों के गुप्त स्थानों तक में मिर्चा भरने तक का भी काम सौंपा जाता था। यह थी भारतवर्ष की जमीन्दारी और उसका जुल्म।

जिसके दादा ने मालिक के लिये खून दिये थे, उसी मालिक से उसके मरते हुए बेटे को खून देने के लिये एक पैसे भी नहीं मिले। यह था मालिकों और मजदूरों का सम्बन्ध, जिसके विरुद्ध मजदूरों में अपने हक तक माँगने की भी हिम्मत नहीं थी। इस प्रकार का चित्र उपन्यास के पूर्वार्द्ध में लेखक ने जो चित्रित किया है, वह प्रेमचन्दजी के 'गोदान' में आये हुए समाज से पहले का चित्र है, जिसे वे प्रेमाश्रम और कर्मभूमि में चित्रित कर चुके थे; क्योंकि 'गोदान' तक आते-आते सर्वहारावर्ग विद्रोह के लिये तैयार हो रहा था। किसानों के मन में विद्रोही भाव उमड़ने लग गये थे और यहाँ तक कि 'धनिया' ऐसी स्त्रियाँ भी न्याय की बातें करने लग गयी थीं और 'गोबर' तो विद्रोही ही बन गया था भले ही उसका विद्रोह अत्यन्त निष्क्रिय ही रहा। यह १९३६ के आस-पास का भारतीय शोषित समाज था, पर 'लोहे के पंख' की स्त्रियाँ तो मालिक की शिकायत भी सुनकर कानों पर हाथ रख लेती हैं, सामने निर्दोष पति को पशु की भाँति पिटते देखकर वे रो भी नहीं सकतीं, परदेश से कमा कर आने वाले झगड़ू जैसे अनेक मजदूरों को बेगार के भय से बीमारी का बहाना बनाना पड़ता था, फिर भी उसे बेगार करनी ही पड़ती थी और मार भी खानी पड़ती थी। बाप मर रहा है और मंगरू को बेगार करनी ही पड़ी, पर क्या वहाँ विरोध प्रकट हो सका है? उस समय के मजदूरों में न तो हिम्मत थी और न तो सोचने की शक्ति ही; क्योंकि जो कुछ उन्हें गाली, मार तथा

मजदूरों के रूप में मालिक से मिल जाता था, वे उसी पर उसे भाग्यफल समझ कर सन्तुष्ट थे। यह था हिमांशु श्रीवास्तव का मजदूर वर्ग जिसे उन्होंने 'लोहे के पंख' के पूर्वार्द्ध में चित्रित किया है।

सारा-का-सारा उपन्यास मजदूरों तक ही सीमित रह गया और वह किसानों तक आते-आते रुक गया है। इसका भी कोई-न-कोई कारण अवश्य होगा। लगता है यह उपन्यासकार के ऊपर पड़ा क्षेत्रीय प्रभाव ही है, जिसने उसे व्यापकता की भूमि से उतार कर एक सीमित घेरे में बन्द कर दिया है, पर इतना तो अवश्य है कि जितनी रेखाओं तक उसका रंग पहुँच सका है, वहाँ तक का चित्र अत्यन्त पूर्ण और जीवन्त है। क्षेत्रीय प्रभाव से हमारा तात्पर्य लेखक की आंचलिकता से है। इधर हिन्दी उपन्यास-साहित्य में आंचलिक उपन्यासों की स्वस्थ अथवा अस्वस्थ परम्परा चल पड़ी है जिसका बहुत शोरगुल सुनाई पड़ रहा है, पर काटने पर एक भी कतरा खून निकलेगा कि नहीं इस पर प्रश्नवाची चिह्न लगा ही है। ऐसे उपन्यासों में रेणुजी के दो उपन्यास 'मैला आंचल' और 'परती परिकथा' उल्लेखनीय हैं। इस प्रवृत्ति की लपेट में थोड़ा हमारा विवेच्य लेखक भी आ गया है। 'लोहे के पंख' को हम पूर्णतः आंचलिक उपन्यास तो नहीं कह सकते; क्योंकि उत्तरार्द्ध में आये मिल-मजदूरों की समस्या और राजनैतिक पार्टियों की स्वार्थपरता की समस्या सम्पूर्ण देश के भाग्य के साथ सम्बद्ध है। वह केवल बिहार अथवा सारन जिले की ही समस्या नहीं है। पूर्वार्द्ध का चित्रण अवश्य ही आंचलिक प्रभाव में आकर अन्य क्षेत्रीय पाठकों को अतिरंजित जान पड़ सकता है, पर जहाँ तक विवेच्य अंचल का प्रश्न है, इसमें सन्देह नहीं कि लेखक को कमाल की सफलता मिली है जो अन्य बहुप्रचारित आंचलिक उपन्यासों से सैकड़ों कदम आगे है।

उपन्यास का नायक मंगरू अदमुन माटी का बना व्यक्ति है। वह हाड़मास का बना पुतला नहीं, बल्कि फ़ौलादी आदमी है। वह उड़ना चाहता है पर उसके पंख लोहे के हैं जिन पर परिस्थितियों का इतना बोझ आ पड़ा है कि उसका आगे बढ़ना भी दूभर हो गया है, फिर भी क्या वह कभी हिम्मत हारता है? वह विपत्तियों से घबड़ाता नहीं बल्कि उनसे जूझता है। कष्ट और फाकाकशी उसके लिए कोई नयी चीज नहीं। सामाजिक उत्पीड़न और निराशा तो उसकी जिन्दगी ही है जिसने उसे एक असाधारण संघर्षपरायण व्यक्ति के रूप में परिवर्तित कर दिया है। लगता है कि मंगरुआ के निर्माण में आरम्भ से ही उपन्यासकार जागरूक है; क्योंकि वह तत्कालीन परिस्थितियों का ही प्रतिनिधित्व नहीं करता, बल्कि आगे चलकर लेखक के विचारों का वाहक भी जान पड़ता है। आरम्भ से ही उसमें विशिष्ट गुणों के दर्शन होने लग जाते हैं। अपनी कौटुम्बिक दीनता में वही एक ऐसा व्यक्ति है जिसे अनिवियों के आ जाने पर घर की इज्जत बचा लेने में हम समर्थ कह सकते हैं। उसके हाथ इतने सध गये

हैं कि फुरदेल साव के खेत से मुरखा के लिये टमाटर उड़ा लाने में क्षण भर की भी देर उसे नहीं लगती; क्योंकि यदि वह ऐसा न करता तो उसके मामू को शायद सूखे भात पर ही सन्तुष्ट रह जाना पड़ता। गरीब और अमीर सभी यथाशक्ति अतिथियों का स्वागत करते ही हैं। मंगरुआ का परिवार मकई के भूँजे और पानी पीकर भले ही अपने दिन काट देता था, सतुआ और बचा बाबू के घर मिलने वाले भात पर ही उन्हें भले ही रह जाना पड़ता था, पर घर आये मेहमानों का सत्कार तो करना ही है जिसका भार स्वाभाविक रूप से मंगरुआ के ऊपर ही पड़ता है। यह सब कार्य मंगरुआ तभी करने लग गया था जब उसकी आयु इतनी छोटी थी कि गाँती बाँध कर अपनी माँ के साथ बचा बाबू के यहाँ गोबर पाथने में सहायक बनने से अधिक और कुछ करने में समर्थ नहीं था। इसकी इस तस्कर वृत्ति को दिखाकर लेखक ने सचमुच भारतीय गरीबों से उत्पन्न अनैतिकता के मूल कारणों की परख की है, जिसके प्रति घृणा नहीं, बल्कि सहानुभूति उत्पन्न होती है। इस प्रकार हिमांशुजी ने जिस गरीबी को देखा है वह भारत की सच्ची जिन्दगी है जिसमें मंगरू संघर्ष कर रहा है और यह संघर्ष कुछ दिनों और वर्षों का ही नहीं बल्कि उसकी अवधि इतनी लम्बी है कि एक व्यक्ति की जिन्दगी ही खप सकती है। राष्ट्रीय आन्दोलन आया, वह चला भी गया, आजादी भी मिल गई, स्वतंत्र देश में औद्योगिक प्रगति भी हुई, पर उससे क्या हुआ? नये वस्त्रों में फिर वही पुराने आदमी और केवल अन्तर इतना ही पड़ा कि उनके शोषण का तरीका बदल गया। फलतः, जिनसे हम घृणा करते थे अब उन पर पुष्प-मालाएँ चढ़ाने लगे। जब बचवा बाबू ऐसे न जाने कितने जालिम जेल जाने के कारण कांग्रेसी एम० एल० ए० हो गये थे और जय-जय के नारों के बीच उनकी त्याग, तपस्या और उदारता के गीत गाये जाने लगे, तब तक मंगरुआ घर छोड़ चुका था, नाच के समाजियों को भी छोड़ चुका था और यहाँ तक कि देहात से भी उसका नाता टूट गया था। अब वह जमींदार का मजदूर नहीं बल्कि कल-कारखाने में काम करने वाला मिल-मजदूर कुली था, जिसके बाद रिक्शा वाला बन कर उसे जिन्दगी के शेष क्षण काटने होंगे।

उपन्यास के उत्तरार्द्ध में मिल-मालिकों की शोषण-वृत्ति और मजदूरों की विपन्नावस्था तथा उनकी असफलताओं के कारणों पर जो प्रकाश लेखक ने डाला है वह अत्यन्त तर्कसंगत एवं विश्वसनीय है। केवल वस्तुस्थिति के यथार्थ चित्रण से उसने हमें परिस्थितियों से परिचित कराके ही नहीं छोड़ दिया है, बल्कि उसने उसे इस प्रकार रक्खा है कि हम अपने-आप समाधान तक पहुँचने लग जाते हैं। जलते हुए पत्थर से भरी हुई ट्राली का उलट जाना और उसमें रकटू की मृत्यु का हो जाना तथा तेजाब की टंकी में गिरकर झपसी मिस्त्री की आकस्मिक मृत्यु का होना आदि दिखाकर पाठकों के हृदय में लेखक ने एक प्रकार से आधुनिक कल-कारखानों के प्रति विरक्ति का भाव उत्पन्न कर दिया है, जहाँ पर मानव-जीवन का अस्तित्व कीट-पतंगों से भी अधिक

गया-बीता है। इसका एक दूसरा पहलू और भी है, जो देश और देशवासियों की आर्थिक स्थिति में प्रभाव ला सकता है यदि उसका संचालन मानवीय नैतिकता के साथ किया जाय और प्रत्येक को उसका प्राप्य मिलने में किसी प्रकार का व्यवधान उपस्थित न हो, तब। यदि थोड़े से लोगों के बलिदान से देश की धरती हरी हो जाय तो देशवासियों को हँसते हुए ऐसे बलिदान के लिये प्रस्तुत होना चाहिये। पर, यहाँ तो केवल बलिदान ही बलिदान है, हरीतिमा के नाम पर तो शोषण और अन्याय की धूल ही उड़ती दिखाई पड़ती है।

मजदूर-संगठन के द्वारा मिल-मजदूरों का प्राप्य दिलाया जा सकता है यदि उसका निर्माण उचित ढंग पर किया जाय, ऐसा लेखक का विश्वास है, जो उचित भी है। पर, नेता नामधारी राजनैतिक जीवों के टाँग अड़ा देने तथा उनके स्वार्थपूर्ण नीति के कारण ही ये संगठन अपनी लक्ष्य-प्राप्ति में असफल रह जाते और अन्ततोगत्वा मजदूर पिस कर रह जाता है। सत्तारूढ़ कांग्रेस पार्टी पूँजीपतियों का समर्थक बन जाती है जिससे मजदूरों के हित में काम करनेवाले समाजवादी पार्टी के लोग असफल रहते हैं। समाजवादी और साम्यवादी कार्यकर्ताओं के भी दो दाँत हैं जो खाने के और दिखाने के और, जिससे वे सत्ता हथियाने तथा पार्टी के लिये रुपया इकट्ठा करके चुनाव लड़ने की ओर जितने सतर्क हैं, उतने मजदूरों के हित में कार्य करने के नहीं। सबसे बड़ी बात तो यह है कि भारत की जितनी राजनैतिक पार्टियाँ हैं वे जनकल्याण के कार्यों में उतनी प्रतिद्वन्द्विता नहीं रखतीं जितना कि एक दूसरे को परास्त करने में, नहीं तो कोई कारण नहीं था कि मजदूरों की हड़ताल विफल करने के लिए कांग्रेसी नेता अपनी शक्ति का प्रदर्शन करते जब कि ऊपर से वे भी मजदूरों के हितैषी बनने का दम भरते हैं। लेखक ने बातें बड़ी ही सटीक और व्यग्य, बड़े ही मार्मिक किये हैं जिससे भले ही लोग कह बैठें कि लेखक ने सभी राजनैतिक पार्टियों के प्रति अनास्था उत्पन्न कर दी है और इसे पढ़कर यही जान पड़ता है कि 'राजनैतिक पार्टियाँ सभी बेईमान हैं, ये जनता को धोखा देने के लिये ही हैं।' वस्तुतः ऐसी बात नहीं, लेखक एक तटस्थदर्शी व्यक्ति है, जो अपने विवेक और अनुभव के अध्ययन से ऐसे सूझों की सृष्टि करता है, जिससे सक्रिय जनकल्याणकारी राजनैतिक पार्टियाँ अपने अहम् एवं स्वार्थ भाव को छोड़कर उचित मार्ग का अवलंबन कर सकें। उसकी बातें इसलिये विश्वसनीय हैं कि वह किसी पार्टी के चश्मे से परिस्थितियों का निरीक्षण नहीं करता, जिससे वह पाठक का आत्मीय बन जाता है। जहाँ कहीं भी उसका आग्रह प्रकट होने लग जाता है, पाठक की तर्क-बुद्धि जागरूक हो जाती है और वह कार्य-कारणों पर अपने ढंग से सोचने लग जाता है जिससे लेखक के सारे भावुकतापूर्ण अथवा आदर्श सुझावों से भरे हुए कृतित्वों पर पानी फिर जाता है। लेखक की यह अपनी विशेषता है जो उपन्यास

के अन्तिम अंश को कमजोर नहीं बनाती, बल्कि पार्टी के कार्यकर्ताओं एवं समर्थकों को एक बार सोचने और समझने के लिये विवश करती है। मालिकों के विरुद्ध लेखक ने मजदूरों की इतनी जबर्दस्त वकालत इस ढंग से की है कि उसके मन्तव्यों को मुखर करने का कार्य पाठकों के भाव ही करते हैं और यही उपन्यासकार की सबसे बड़ी सफलता है। मैंने ऊपर ही कहा है कि सम्पूर्ण उपन्यास में कमर तोड़ डालनेवाली गरीबी का चित्रण है, जिसके कारण ही मिल-मजदूरों की हड़ताल असफल रहती है। दूसरे मजदूर अपने भाइयों के पेट पर लात मार कर, हड़ताल की उपेक्षा कर काम पर चले आते हैं. और इस प्रकार गरीबी है कि उन्हें गद्दारी करने के लिये बाध्य करती है।

लेखक ने इतनी मौतें दिखला दी हैं कि उससे पाठक की कोमल भावनाओं पर बड़ा ही निर्मम प्रहार होता है। लेखक का यह लक्ष्य सिद्ध हो ही जाता है कि उसका नायक मंगरुआ अपने कितने ही स्वजनों एवं मित्रों को खोकर भी हिम्मत नहीं हारता, बल्कि मजदूर-आन्दोलन में उसी प्रकार बराबर रुचि लेता है। कुछ हत्याएँ तो अनावश्यक जान पड़ती हैं। जैसे; 'बुधिया' का रेल के नीचे कट जाना। लेखक कह सकता है कि इससे मंगरुआ की गरीबी का चित्र और रंगीन हो गया है। उपन्यासकार को इस प्रकार के हथकण्डों से बचना चाहिये। उसे उतने ही पात्रों को चर्चा का विषय बनाना चाहिये, जितनों की वह अन्त तक व्यवस्था कर सके। जिन्हें बीच से ही उठा देना हो, ऐसे पात्रों के लाने की आवश्यकता ही नहीं। पाठक ऐसी श्रेष्ठ रचना से श्रेष्ठ कला की भी आशा करता है जिसका परिचय लेखक ने अन्यत्र दिया है।

आधुनिक उपन्यासकारों की सबसे बड़ी दुर्बलता स्त्री-पुरुष के उच्छृङ्खल यौन-संबन्धों की चर्चा में दिखलाई पड़ती है, पर इसका लेखक इससे बाल-बाल बच गया है। आदि से अन्त तक दो स्थानों को छोड़कर कहीं भी ऐसे प्रसंगों की चर्चा नहीं होने पाई है। एक चित्र अश्लीलता के निकट तक जाते-जाते बच गया है, पर लेखक को और भी बचाना चाहिए था। 'इस तरह बहुत रात बीत जाते पर जब नाच खत्म हो जाता, तो तुमसे क्या छिपाऊँ? मैली चादर और धोती से बनी तम्बू के घेरे में सोने लगता तो खुद मेरे समाजी मुझे दिक करने लगते। कोई कहता मेरी बगल में आओ, सोओ और कोई कहता मेरी बगल में सोओ। मैं परेशान हो उठता।' इसी प्रकार का दूसरा एक और प्रसंग है जिसमें तो लेखक ने अपनी कला और कल्पना का अद्भुत चमत्कार दिखलाया है, जिससे उसकी कलम चूम लेने की इच्छा होती है। गरीबी भी क्या जो मनुष्य के शरीर-धर्मों को भी घुटा कर न मार डाले। मगरू के मन में एक दिन अपनी बीबी 'सनिचरी' को देखकर काम-भाव का उदय होता है। उस दिन उसे गुदड़ी चाचा की पतोहू ने सिन्दूर दे दिया था जिसे उसने आधी माँग तक पहन रखा था, रात्रि में वह

मंगरू की प्रतीक्षा कर रही थी, वह रिक्शा चलाने के बाद अपने साम्यवादी लेखक अथवा कामरेड से बातें करने गया था। उसका लड़का जिवराखन भूखा सो गया था और सनिचरी भी भूखी थी, जिससे उसके ओठों पर पपड़ी पड़ गई थी। वह चलने-फिरने में भी भूखी रहने के कारण कांप रही थी, फिर भी मंगरू के लौटने पर वह हिन्दू-पतिपरायणा पत्नी की भाँति उसका स्वागत करती है। वह बार-बार टाट पर सोई-सोई मंगरू को बुलाती है 'आओ न, वहाँ क्या कर रहे हो?' जरा सिन्दूर पहनने और बाल सँवारने के कारण वह आज मंगरू को भी भली लग रही थी। उसका दिल बार-बार चाहता कि उसके पास जाकर बैठूँ, उसे जगाकर मुहब्बत की दो-चार बातें करूँ। 'मगर, तुरत ही यह बात याद आ जाती कि वह भूखी जो है। उसका बच्चा मारे भूख के रोता-रोता सो गया है। एक बार धीरे-से उठकर टाट के बिछावन तक गया भी। उसके पेट पर से आँचल हटाकर देखा, भूख से उसका पेट पीठ से सट चुका था। तब मुझे अपने ऊपर बड़ा गुस्सा आया। मुझे इस वक्त ऐसी बात सोचनी नहीं चाहिये थी। वह मेरी बीवी है-जनाना। उसकी माँ ने सिखलाया होगा कि औरतों को अपने मर्द के लिए हर तकलीफ बर्दाश्त करनी चाहिये। मगर दो मिनट की गुदगुदाहट के लिये क्या मैं राक्षस हो जाता? नहीं-नहीं, मेरे तो रोंगटे खड़े हो गये, मैंने उस की आँचल से उसका पेट ज्यों, का-त्यों ढँक दिया और फिर चौखट पर बैठा-बैठा ही मैं झपकियाँ लेने लगा।' गरीबी की यह एक ऐसी कारुणिक गाथा है जो पाठक के हृदय को झकझोर देती है। रति-भावना के प्रति मंगरू की विरक्ति और कुछ नहीं, 'फ्रायड' के मुँह पर 'मार्क्स' का जबर्दस्त तमाचा है। लेखक का यह दृष्टिकोण प्रशंसनीय है।

अपने ग्रामीण पात्रों की ओर लेखक की दृष्टि अन्य उपन्यासकारों के लिए अनुकरणीय कही जा सकती है। जो सहानुभूति और सद्भावना खेखर काका, टीपू भाई, झूलन पण्डित तथा राउत आदि ग्राम-वासियों से मँगरू और उसके परिवार को मिलती है, वह आज के भौतिकयुगीन सभ्य कहलाने वाले नागरिकों में कहाँ? स्त्रियों का चित्रण तो लेखक ने अलौकिक भूमि पर ही किया है। जिनके स्वभाव और चरित्र से ऐसी पावन, पावक गन्ध आती है जिसमें कुसंस्कारयुत मानवीय दुर्बलताओं का कहीं पता ही नहीं लग पाता और जो कोई उनके सम्पर्क में आता उनकी सच्चरित्रता की आँच में उसकी समस्त कुवासनाएँ जल जातीं। फटे चीथड़ों में ही हमें यहाँ सीता और सती साध्वी के दर्शन हो जाते हैं जिसमें मँगरुआ की पत्नी सनिचरी और टीपू की दुल्हन अर्थात् मंगरुआ की भौजी के नाम प्रमुख हैं। यहाँ हमें भारतीय नारी के आदर्शों के सर्वत्र दर्शन होते हैं।

लेखक ने यदि थोड़ी-सी और सावधानी बर्ती होती, तो कला की दृष्टि से इस उपन्यास में चार चाँद लग जाता। मँगरुआ मिश्र की नौकरी से हट जाने के बाद

रिक्शावाला के रूप में पटना लौटता है, तो उसका साक्षात्कार बच्चा बाबू से करा आवश्यक था जो इस समय कांग्रेसी एम० एल० ए० हो गये थे, क्योंकि ऐसा करा ो उपन्यास का कथानक जो दो भागों में विभक्त-सा जान पड़ता है, एकता के सूत्र में जाता। इसके अतिरिक्त जहाँ उसने स्त्री-पुरुष के कामुक सम्बन्धों की उपेक्षा करके उपन्यास को अश्लील स्थलों से साफ बचा लिया है, वहीं दूसरी ओर अपने चित्रों को रूप देने में अश्लील शब्दों के प्रयोग से नहीं बच पाया है जिसे काव्य में अश्लीलत्व के नाम से पुकारते हैं। आंचलिक शब्दों का प्रयोग बड़ी ही सावधानीपूर्वक करना है, क्योंकि सदैव इसका भय बना रहता है कि कहीं ऐसे प्रयोगों से कृति की व्यापकता आघात न पहुँच जाय। एक सबसे बड़ी समस्या जो उपन्यासकारों के सम्मुख दिखलाई है, वह पात्रानुकूल भाषा लिखने की है। यह समस्या आज की ही नहीं, बल्कि प्रेमचन्दजी के समय से चली आ रही है और जब उनके उपन्यासों में हिन्दू, म तथा ईसाई, अंग्रेज आदि सभी पात्र आने लगे, तो इस प्रकार की असफलता न उन्हें भी हो गया था। पात्रानुकूल भाषा से केवल इतना ही अर्थ लेना चाहिए त्रके बौद्धिक स्तर के अनुसार भाषा सरल और साहित्यिक होती जाय; क्योंकि पात्रानुकूल भाषा का निर्वाह कठिन ही नहीं, असम्भव भी है। मंगरुआ ने जो कही है, वह उस समय कही है जब वह दुनिया देख चुका था और हिन्दी ही कुछ-कुछ अंग्रेजी भी पढ़ लेता था। ऐसी स्थिति में उससे बचपन की भाषा ी के लिए प्राणायाम कराना कोई कलात्मक प्रयास नहीं कहा जा सकता। साथ-थ यदि वह बीती हुई घटनाओं का वर्णन ऐतिहासिक वर्तमान (हिस्टोरिक प्रेजेन्ट) ता है, तो उस शैली का निर्वाह होना आवश्यक है, यह नहीं कि एक ही स्थान ो लेटरबक्स को लेटर-बाकस कहे और वर्कशाप में काम करने वाले वायनर के ओहदे का शुद्ध उच्चारण भी करता चले। शैली में भाषा सम्बन्धी एकरूपता र्य है। लोकगीतों की व्यवस्था से 'लोहे के पंख' की स्वाभाविकता बढ़ी है और आये आंचलिक शब्दों की टिप्पणी भी लेखक ने यत्र-तत्र दी है। पर, यदि वह ष्ट के रूप में उन्हें उपन्यास के अन्त में टिप्पणी सहित संग्रहीत कर देता, तो विकासोन्मुख राष्ट्रभाषा हिन्दी, शब्दकोश को बहुत बड़ी सम्पत्ति मिल सकती; विद्वज्जन इस दिशा में शब्द-संग्रह करने को विवश हो जाते।

फिर वह चली.

लोहे के पंख' के बाद हिमांशु श्रीवास्तव की यह दूसरी औपन्यासिक कृति स प्रकार 'लोहे के पंख' में लेखक ने एक अछूत (चमार) मजूर 'मंगरुआ' ना नायक बनाकर, पूँजीवादी सभ्यता के लौह-कदमों से मर्दित एक दलित-वर्ग ाल चित्र उपस्थित किया था, उसी प्रकार प्रस्तुत उपन्यास में भी उसने एक

कहारिन की बेटी 'परवतिया' को अपने इस उपन्यास की नायिका बनाया है और उसके माध्यम से कथा के सूत्र बढ़ाता हुआ, कथानक के विशाल परिवेश का चुस्त-दुरुस्त निर्वाह किया है। कई ऐसे अच्छे उपन्यास देखने में आए हैं, जिनका परिवेश तो बड़ा होता है, किन्तु उस परिवेश की अपेक्षा काल की सीमा अति सीमित होती है। 'नदी फिर बह चली' का उपन्यासकार परिवेश और काल की गति का सतुलन सँजोने में अति प्रतिभासंपन्नता का परिचय देता है। परिवेश की ओर खीचने में ऐसा प्रतीत नहीं होता कि उसकी प्रतिभा केवल परिश्रमसाध्य है। यहाँ तो ऐसा लगता है कि उसने एक सधे हुए जासूस की तरह, जनजीवन के विभिन्न चित्र, विभिन्न स्थितियाँ, विभिन्न संस्कार, रीति रिवाजो का पर्यवेक्षण केवल आँखों से नहीं, बल्कि हृदय के मूवी कैमरे से किया है और वह मूवी कैमरा ऐसा, जिसका लेन्स अपने-आप, अपने इर्द-गिर्द तैरने वाली हवा का भी चित्र ले लेता है। मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि *उसने विभिन्न चरित्रों और कथा की आत्मा मे महत्वपूर्ण योग देने वाले दृश्यों का* यथातथ्य हृदयहारी चित्रण किया है। पाश्चात्य कथा-साहित्य के आलोचकों के अनुसार यथातथ्य चित्रण का महत्व इसमें नहीं है कि किसी उपन्यासकार ने अपने उपन्यास में किसी स्थल विशेष, समाज विशेष, दृश्य विशेष का ठीक वैसा ही चित्रण किया है, जैसा कि उपन्यासकार ने देखा है या जनजीवन द्वारा देखा जाता है, बल्कि यथातथ्य चित्रण में लेखक को इस बात के लिए बहुत सावधान रहना पड़ता है कि 'यथातथ्य' शब्द के साथ जो 'तथ्य' नामक शब्द है, वह कथा-सूत्र के साथ संपृक्त है अथवा नहीं। इस प्रकार कथा-साहित्य में यथार्थवाद की परिभाषा के परिप्रेक्ष्य में, यथातथ्य चित्रण के जिस धर्म की ओर संकेत किया गया है या किया जाता रहा है—ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक ने उस धर्म के मर्म को पहचाना है और तदनुसार अपनी प्रतिभा का उपयोग किया है। रीति से परे या विमुख होकर जिस प्रकार काव्य-सृष्टि का काम *अनधिकार चेष्टा कहा जा सकता है, उसी प्रकार नियमों और मान्यताओं को अवहेलना* करके अच्छे उपन्यास का सृजन संभव नही।

बिहार के सारन जिले मे एक गाँव है—नाम, हराजी। उपन्यास की नायिका इसी गाँव की बेटी है—परवतिया। परवतिया का पिता साधु महतो हलकारे का काम करता है और छोटे-से परिवार में खुश रहता है। परिवार में और है कौन ? एक परवतिया और दूसरा परवतिया की माँ। गौना होने के बारह वर्ष बाद, अनेकों व्रत रखने, देवताओं और ब्राह्मणों को पूजने के बाद यह परवतिया हुई थी। जब परवतिया पाँच-छह साल की थी, तभी उसकी माँ फुलझड़िया गर्भवती हुई और प्रसव की पीड़ा न सह पाने के कारण, बच्चा पेट में लिये मर गई। भूखंड-विशेष की परम्परा के *कारण फुलझड़िया का माँग भरा गया, लाल साड़ी पहनायी गई और* तलवे में सूआ ठोक कर, उसे श्मशान-घाट पहुँचाया गया और पड़ोसियो द्वारा चुड़ैल को भगाने

की कोशिश की गई। लेकिन, साधु महतो के सामने अब सबसे पहला सवाल यह था कि परबतिया का पालन-पोषण कैसे हो और साधु महतो का यह सवाल हल कर देता है, उसका श्वसुर—बिजली महतो। वह परबतिया को अपने घर लिवा ले आता है।

नाना के घर मे रहकर भी, उसे मामी की चेरी बनना पड़ा और इस प्रकार परिवार से ही इस नायिका ने सामाजिक संघर्ष का आलिंगन स्वीकार कर लिया। घर के बर्तन मांजना, मामी के बच्चे को सँभालना और फिर हृदय को कँपा देनेवाली सर्दी में मामी के एक ही धक्के पर, बगीचे में जाकर, सूरज निकलने के बहुत पहले, रात भर के टपके हुए महुए को चुनकर लाने में वह अभ्यस्त हो गई। दम घोट देने वाली स्थितियों ने परबतिया को इस योग्य बना दिया कि मन को उबा देने वाली स्थितियों मे भी वह अपने को आत्मसात कर ले।

उधर अपने गाँव पर साधु महतो का बुरा हाल था। औरत, मर्द सभी यह जोर देने लगे कि साधु को अब दूसरी शादी कर लेनी चाहिये। साधु बड़े धर्म-संकट में पड़ता है और अन्त में इच्छा न रहते हुए भी, परबतिया के सुख की खातिर वह अपनी विधवा साली से सगाई कर लेता है। नई माँ में, सौतेली माँ-सुलभ सारे अवगुण वर्तमान हैं और उसके वे सारे अवगुण परबतिया के बाल्य-जीवन में निराशा और अवसाद भर देते हैं।

सारन जिले मे छोकड़े का नाच प्रसिद्ध है। इस उपन्यास में भी, लेखक ने वहाँ की इस प्रथा का बड़ा ही जीवित चित्र प्रस्तुत किया है। इस प्रकार के नृत्य की शैली, गीतों के बोल और दर्शकों की ओर से आने वाली प्रशंसा की विचित्र बौछारें—सब कुछ लेखक की पैनी दृष्टि और सशक्त पर्यवेक्षण के उदाहरण स्वरूप हैं।

नई माँ गाँव के एक नवयुवक के साथ, परबतिया का यौन-सम्बन्ध बतला कर, उसे बदनाम भी करना चाहती है, मगर वह इसमें असफल होती है और वस्तुतः परबतिया का चरित्र गिरा भी नहीं है। कथा के क्रम में परबतिया एक बार हरिहर क्षेत्र के मेले में जाती है। मेले का दृश्य तो ऐसा है कि लगता है कि हम पुस्तक पढ़ते समय पूरा मेला ही घूम रहे हैं। लेखक बड़े कौशल से अपने मूवी कैमरे की आँखें चारों ओर घुमाता है, सब प्रकार की दुकानें गतिशील रूप में दिखलाता है। मेला-दर्शनार्थियों के कार्य व्यापार और उनकी बोलियों के आनन्द से हृदय गद्गद् हो उठता है। विशाल पर्यवेक्षण का यह प्रकार तुलनात्मक लेखकों मे बहुत कम पाया जाता है। लेखक के इस धैर्य और विशाल दृष्टि को देखकर चकित हो जाना पड़ता है। फिर लेखक दिखलाता है कि किस प्रकार 'चढ़ी गोनालगारी' खरीदते समय परबतिया मेले में खो गई, किस प्रकार गाँव पहुँची और प्रायश्चित्त स्वरूप साधु महतो को अपने बिरादरीवालों को

भोज-भात देना पड़ा; क्योंकि ऐसा सन्देह किया गया कि हो सकता है कि परबतिया का कौमार्य नष्ट कर दिया गया हो, लेकिन, यह संदेह है, सचाई नहीं।

सबसे अधिक आश्चर्य तो तब होता है, जब हम देखते हैं कि पूरे उपन्यास में लगभग दो सौ पात्र हैं और उपन्यास को सजीव तथा विश्वसनीय बनाने में उन सबों का महत्वपूर्ण योग है और यही लेखक है कि इन दो सौ पात्रों के व्यक्तित्व और हैसियत को भूल नहीं पाता। कथानक के इस विशाल रंगमंच पर वे समयानुसार आते हैं और अपना अभिनय समाप्त करके फिर ओट में हो जाते हैं। चरित्र-चित्रण का कार्य तो असाधारण है ही, इतने पात्रों के नाम याद रखना और उनके कार्य-कलापों के क्रम को संतुलित अभिव्यक्ति देना तो और कठिन है। इन सबको अपनी आँखों के सामने रखते हुए, चरित्रों की इतनी विभिन्नता प्रस्तुत कर, उपन्यासकार ने अपने कौशल का अच्छा परिचय दिया है।

आगे चलकर परबतिया का ब्याह निश्चित हो जाता है। उसका पति जगलाल, पटने में मोटर-ड्राइवर है। वह भाई-भौजाई को अपनी कमाई का एक पैसा नहीं देता। जब कभी जगलाल शहर से गाँव आता है, परबतिया उसे इस बात के लिए प्रेरित करती है कि वह अपने भाई-भौजाई को भी कुछ दे। मगर, जगलाल अपनी आदत से बाज आने वाला नहीं। वह परबतिया से पूछता है, "क्या मेरे पीछे वे लोग कुछ कहते हैं?" और परबतिया जवाब देती है "नहीं, कहते तो कुछ नहीं। मगर, यह तो तुम्हारा फर्ज है कि उनके हाथ पर कुछ रखो। यह कौन-सी बात है कि दिल्ली की कमाई और ढाके में गँवाई?" ऐसी स्थितियों में, परबतिया को मौन रखकर, और उसके द्वारा केवल अपने पति के सामने, उसके कर्त्तव्यों की याद दिला कर, लेखक ने भारतीय नारी के जीवन का महान् आदर्श उपस्थित किया है और एक प्रकार से उसने यह दिशा-निर्देश किया है कि संयुक्त परिवार में रहनेवाली महिलाओं को किस प्रकार घरेलू कलह को दबाने की चेष्टा करनी चाहिये।

शहर में रहकर, जगलाल अपने साथ काम करने वाले ड्राइवर, खलासी और कुलियों के बीच सामाजिक आदर्श को खो रहा है। वह शराबखाने में जाता है, शराब पीता है, यौन-संबंधी अनैतिक बातें करता है। शराबखाने का दृश्य, शराबियों की बोली, शराबखाने के आस-पास चिखना बेचनेवालों का मनोविज्ञान, उधार चिखना लेनेवाले शराबियों की मनःस्थिति और आसपास के वातावरण का चित्रण इतनी सजीवता से किया गया है कि सहज ही डास्ताएव्स्की की औपन्यासिक कृतियों का रसास्वादन होने लगता है। ऐसा प्रतीत होने लगता है कि लेखक ने सुनी-सुनायी घटनाओं के आधार पर विश्वास न करके, स्वयं इन स्थानों और स्थितियों का अध्ययन किया है। खिड़की पर बोतलों की टकराहट, नंबर लगाकर शराब न पाने की अधीरता

और शराब के नशे में बुत्त शराबियों का खुले दिल से अपनी-अपनी माशूकाओं की चर्चा, यह सब कुछ हमें सभ्यता की दुनिया से दर-किनार कर देते हैं।

मित्रों की राय पाकर जगलाल सोचता है कि उसे परबतिया को शहर ले आना चाहिये और इच्छा न रहते हुए भी वह अपने पति के साथ शहर इसलिये चली आती है कि पड़ोस की ननद ने कहा था—साथ में रहोगी, तो डरेगा। परन्तु, सचाई यह है कि परबतिया जगलाल के साथ शहर इसलिये नहीं आई कि वह उससे डरेगा, बल्कि वह अपने हृदय से उसे सुधारने आई थी। वह चाहती है कि किसी प्रकार, बिना अपने लोगों से ठोकर खाये सुबह का भूला शाम को घर लौट आये। परन्तु, बेचारा जगलाल जिस समाज में रह रहा है, उसका सामाजिक आग्रह उसे मुक्त नहीं कर पाता और उसी के वश होकर वह अपनी पत्नी को उसके लायक बनाना चाहता है। उदाहरण के लिए परबतिया को अपने दोस्तों के साथ सिनेमा ले जाना, छाती और माथे पर आंचल न रखने का आदेश देना। परबतिया के इन्कार करने पर बड़े घर की पढ़ी-लिखी लड़कियों के उदाहरण प्रस्तुत करना। लेकिन, परबतिया जब उसके इन आग्रहों का विरोध करती है, तब पता चलता है कि लेखक उन तथाकथित अभिजात्यवर्ग की औरतों से घृणा करता है, जो घर से बाहर निकलने पर अपने बेशक़ीमती कपड़ों के साथ ही अपने शरीर का भी प्रदर्शन करती हैं, क्योंकि अनेक स्थलों पर लेखक ने इस प्रकार के समाज पर इतने तीखे व्यंग्य किये हैं कि पाठक तिलमिला उठता है।

एक स्थल पर लेखक ने दिखलाया है कि परबतिया का पति शराब की बोतल लेकर कोठरी में आता है। उसका चार साल का बच्चा माँ की गोद में है। बच्चे का पिता जब शराब पीना शुरू करता है, तब बच्चा भी शराब के कटोरे की ओर ललकता है। मगर, परबतिया उसे खींचकर अपनी गोद में चिपका लेती है। हम समझते हैं कि लेखक ने यहाँ यह दिखलाने की चेष्टा की है कि किस प्रकार ऐसे वातावरण में संस्कारों के बीज पीढ़ी-दर-पीढ़ी में पड़ते जाते हैं। परबतिया अपने कुसंस्कारवान पति के साथ रहती अवश्य है, मगर उसके कुसंस्कारों से न तो स्वयं प्रभावित होती है और न अपनी संतान को प्रभावित होने देना चाहती है। कथानक के क्रम में लेखक ने एक ऐसे चकले का विशद वर्णन किया है, जिसे पढ़ कर रोंगटे खड़े हो उठते हैं। एक प्रकार से हम कह सकते हैं यहाँ का वर्णन भीषण और रोमांचक है और लेखक में प्रसिद्ध उपन्यास-लेखिका वर्जीनिया वुल्फ की वर्णन-शैली की प्रतिभा विद्यमान है।

दो छोटी-छोटी कच्ची कोठरियाँ, जिनके भीतर टाटें बिछी हुई। तकिया के बदले ईंट का उपयोग और निम्न तथा मध्यवर्ग के काम-पिपासुओं का जमघट। और, वे बदचलन औरतें, जो केवल दो रुपये चार आने पर मजदूर और किरानियों के काम की भूख को शान्त करती हैं। ऐसे लोग यहाँ अवसर अँधेरा होने पर जुटते हैं, नंबर लगता

है। एक स्त्री एक पुरुष को लेकर अन्दर जाती है। बाहर और लोग खड़े हैं। बाहर से ओस्तादिन की आवाज—'जल्दी करो।' और, अन्दर उस स्त्री का साथ के मर्द से कहना—'जल्द बैठो। बाहर और लोग हैं और यही कमाने का टैम है।' इन बदचलन औरतों की खास-खास बोलियों का प्रयोग करके लेखक ने अपनी क्षेत्रीय जानकारी का परिचय दिया है। इस दल में रहनेवाली सरदवा, कमलवा, लछमिया आदि विचित्र हैं। बगल में शराबखाना होने के कारण ये औरतें पीकर मस्त रहती हैं और दो रुपये चार आने के हिसाब से ग्राहकों के हाथ थोड़ी-थोड़ी देर के लिये शरीर बेचती हैं। किन्तु इन स्थलों, दृश्यों, स्थितियों आदि का सजीव वर्णन करने में लेखक न तो आसक्त हो गया है और न उसने रस-प्राप्ति की चेष्टा की है; क्योंकि उसने ऐसे कार्य-कलापों के दुष्परिणाम भी दिखलाये हैं।

परबतिया के आग्रह करने पर जगलाल ने डेरा बदला है और वह अब ऐसे बाड़े में रहने लगा है, जिसमें लगभग बीसियों कोठरियाँ हैं और प्रत्येक कोठरी में निम्नवर्ग के लोग बसे हुए हैं। इस बाड़े के माध्यम से भी लेखक ने निम्न और पिछड़े हुए समाज का सहज विश्वास्य चित्रण उपस्थित किया है। जनकिया की माँ, चमेलिया, दुरगिया की माँ, बाड़े का ठेकेदार मडल, सरदारजी और इस प्रकार के और भी अनेक चरित्र हैं, जो आँखों से सहज ही ओझल नहीं किये जा सकते। आर्थिक कठिनाइयों से ऊबकर, गाँव से भाग कर आई हुई नौकरानियों तथा रिक्शा-चालकों के मनोविज्ञान के विशद चित्र—कमाल के हैं। यहाँ रह कर परबतिया अपने पति जगलाल से मार खाती है; क्योंकि बगल की कोठरी में रहने वाली जनकिया की माँ, चमेलवा आदि बड़ी चालू औरतें हैं और अपनी चरित्र-हीनता के कारण जगलाल सहज ही उनके वश में आ गया है। जनकिया की माँ जनकिया पर पैसे कमाती है और बेटे को पढ़ाती है—दस-पाँच पास में रखती भी है। बातचीत के सिलसिले में, लेखक जनकिया की माँ के मुँह से यह कैफियत दिलवाता है कि किन सामाजिक दुर्व्यवस्थाओं के कारण वे बाबू लोगों के हाथ शरीर बेचने को मजबूर हैं। लेखक ने यह भी दिखलाया है कि ये गरीब औरतें जीने के लिए शरीर बेचती हैं और तथाकथित अभिजात्य वर्ग की औरतें, फैशन और सुख के वश होकर यौन-व्यापार करती हैं। अतः हमें कहना पड़ता है कि लेखक वर्ग-संघर्ष में विश्वास करने वाला और पूँजीवाद में अपनी आस्था नहीं रखनेवाला है। अपने पति द्वारा पीटे जाने पर परबतिया को शारीरिक और मानसिक क्लेश होता है, मगर वह तो अपने दिल को ही अपना दोस्त बनाती है, किसी दूसरे से कुछ नहीं कहती। यहाँ तक कि वह गला दाब कर ही रोती है, ताकि पड़ोस के लोग न सुनें। फिर भी यह बात छिपती नहीं और बगल की औरतें उसे मायके भाग जाने की सलाह देती हैं। ऐसी स्थिति में परबतिया का उत्तर ध्यातव्य है—"मैं भाग कर नहीं जाऊँगी। मेरी माँ कभी भाग कर मामा के यहाँ नहीं गई थी।"

और ऐसे सुसंस्कार को पालती रहनेवाली परबतिया कभी अपने पथ से विमुख नहीं हुई। गुलाब ड्राइवर को छुरा मारने के बाद जगलाल जेल चला जाता है। मगर, वह न तो झूठ बोल सकती है और न चरित्र ही खो सकती है, इसलिए उसे पटना छोड़ना पड़ा और वह मायके पहुँची। सौतेली माँ मुगिया उसे स्वीकार न कर सकी। पिता की मृत्यु हो चुकी थी और फलस्वरूप परबतिया को फुआ के घर जाना पड़ा। इस बीच उसके दोनों बच्चों को छोटी माता निगल आई है और फुआ के घर आकर वह देखती है कि यहाँ भी रोटी के लाले पड़ रहे हैं। देश आजाद तो जरूर हुआ, मगर यह देश सचमुच किसानों और मजूरों का न रहा। शायद इसीलिए देश की वर्तमान व्यवस्था से ऊबकर लेखक ने, एक ऐसे व्यक्ति को, जो वर्तमान सरकार का समर्थक है, एक पात्र से कहलवाया है—"जनता की आत्मा जमी हुई झील के समान हो गई है। आपलोग कहते हैं कि देश संघर्ष कर रहा है। वह सारा संघर्ष व्यर्थ है, अगर संघर्ष के दौरान में देश का विकास नहीं हो रहा है।"

आजादी मिलने के बाद दस-बारह वर्षों की अवधि में देश ने किस रूप में तरक्की की है, किस अर्थ में देश ने अवनति की है—लेखक ने बड़ी ईमानदारी से इस तथ्य पर प्रकाश डाला है।

सब जगहों से हार-थक कर परबतिया ससुराल लौटती है और गाँव की जातिगत राजनीति की चपट में पड़ जाती है। चूँकि यह उपन्यास बिहार के खास भूखंडों पर लिखा गया है, इसलिए बिहार की आतरिक राजनीतिक गति-विधि का पूरा चित्र यहाँ उपस्थित हो जाता है। नेतागण जनता की भलाई के लिए परेशान नहीं हैं। वे स्वार्थ, अधिकार और जातीय गठन के लिए जीते-मरते हैं। बाबू तेगा सिंह (राजपूत) की मृत्यु इसी जातिगत भावना के कारण हुई, एम० एल० ए० के आदमियों द्वारा। किसानों से तकावी वसूली जा रही है। किसानों के बैल खोले जा रहे हैं, चौसट उखाड़े जा रहे हैं और गाँव की बेटी परबतिया की आँखें खुल जाती हैं। उसका दृष्टिकोण बदल जाता है और यहीं 'लोहे के पंख' के ख्यातिप्राप्त उपन्यासकार का राजनैतिक दृष्टिकोण पहले की अपेक्षा अत्यधिक परिमार्जित प्रमाणित हो जाता है। 'लोहे के पंख' का नायक मंगरुआ वर्ग-संघर्ष से ऊब जाता है और थक कर बैठ जाता है। वह समझता है कि रिक्शा चला कर पेट पालने के सिवा मेरे सामने कोई निरापद मार्ग नहीं है। लेकिन, परबतिया यों थकनेवाली नहीं है। गाँव की एक औरत के यह कहने पर कि परबतिया के पास तो एक धुर की भी जमीन नहीं है, वह क्यों सरकार के खिलाफ दौड़ धूप रही है? परबतिया उत्तर देती है—"मेरे पास एक धुर की जमीन नहीं है तो क्या, लेकिन आखिर मैं किसान और मजूरों की ही बहू-बेटी हूँ—आगे बढ़ कर रोटी-रोजी के लिए लड़ने के सिवा हमारे पास रास्ता क्या है? हम थक कर बैठ नहीं सकते।"

हिमांशु श्रीवास्तव ने नई पीढ़ी के युवकों के कार्य-कलापों से जन-जीवन में जन-जागरण का शंख फूंका है और दिखलाया है कि नई पीढ़ी को जातिगत राजनीति में नहीं पड़ कर, विशाल जन-जीवन के सुख और शांति के लिए संघर्ष करना चाहिए और वस्तुतः यह काम कैसे होगा, लेखक ने संकेत भी किया है। मशाल-जुलूस, खेतिहर किसानों और मजदूरों की रैली, विधान सभा के सामने पुलिस की ओर से अश्रु गैस का प्रयोग, लाठी-चार्ज और परबतिया को लाठी की मार—ये सब प्रगतिशील वर्ग-संघर्ष का एक प्रकार से 'मेनिफेस्टो' हैं। उसने बतलाना चाहा है—नई पीढ़ी के लोगो, देखो, राह यह है। अश्रु-गैस के छूटते समय जगलाल का आना और चिल्ला चिल्ला कर परबतिया की खोज करना—इतने जीवित और विश्वसनीय चित्र हैं कि लगता है, जैसे घटना घटते समय लेखक वहां स्वयं उपस्थित रहा हो।

अन्त में परबतिया के इस महान जीवन का अन्त विसर्जन में होता है, मगर कब? जब जन-जीवन, किसान और मजदूरों की विजय होती है—अस्पताल के एक वार्ड में। परबतिया का विसर्जन आशा और उत्साह के परिवेश में होता है, निराशा और हिम्मत हारने वाली स्थिति में नहीं।

उपन्यास का भाषा-शिल्प और रचना-विधान भी प्रशंसनीय है। लेखक ने जिस समाज का चित्रण किया है, जिन स्थितियों का विश्लेषण किया है, ऐसा प्रतीत होता है कि वह उस समाज और उन स्थितियों में जिया है और उस वातावरण को सौभाग्य या दुर्भाग्य से भोगा भी है। उसने जिन क्षेत्रों का वर्णन किया है, वहां की भाषा, लोकोक्तियों, चित्रों, मुहावरों, लोकगीतों आदि का गहन अध्ययन किया है और यही कारण है कि उसकी शैली में स्वाभाविकता की स्रोतस्विनी स्वतः फूट पड़ी है। इस उपन्यासकार ने सबसे बड़ा कमाल तो यह किया है कि बिना स्वयं कहीं कुछ बोले, पात्रों के अंतराल में दहकती हुई भीषण ज्वालामुखी के सुराख उगलवा दिये हैं और उनसे वह स्वयं प्रभावित नहीं हुआ है।

सिकन्दर

यह एक ऐतिहासिक उपन्यास है जिसमें सिकंदर महान के जन्मकाल से लेकर मृत्यु तक की घटनाओं का आकलन किया गया है। उपन्यास का पूर्वार्द्ध तो बहुत ही अच्छा बन पड़ा है। सिकंदर के पिता फिलिप की विजय और प्रेम सम्बन्धी घटनाओं के बीच सिकंदर का जन्म, उसकी शिक्षा और पिता से उसका मतभेद जिस कौशल पूर्वक वर्णित है उससे प्रस्तुत कृति की औपन्यासिकता बढ़ी है। अरस्तू की प्रासंगिक चर्चा करके लेखक ने उस्ताद को वस्तुस्थिति का अत्यन्त सजीव चित्रण किया है। इन सभी घटनाओं को प्रविष्ट करने में उपन्यासकार ने जिस अनुपात-बोध का परिचय दिया है

उससे उसकी क्षमता का पूर्ण परिचय मिल जाता है। फिलिप की मृत्यु के पश्चात् घटने वाली घटनाओं को भी यदि इसी प्रकार रखने की चेष्टा की गई होती तो उपन्यास का महत्व और भी बढ़ गया होता। सिकन्दर के विजय अभियान में जिस नर-संहार और नायक के शौर्य-साहस का चित्रण किया गया है वह इतिहाससंगत तो है पर इतना तथ्यात्मक हो गया है कि उपन्यास की अपेक्षा इतिहास ही अधिक जान पड़ता है। यद्यपि दारा की कन्या के साथ सिकंदर के परिणय का प्रसंग निकाल कर उपन्यास के पूर्वार्द्ध को भी सरस बनाने की चेष्टा की गई है पर सिकन्दर के साहसिक कार्यों की कौंध में वह प्रसंग उभड़ नहीं पाया है। भाषा का स्वाभाविक एवं सरस निर्वाह इस उपन्यास की अपनी विशेषता है जिससे उपन्यास सुपाठ्य बन सका है। सिकन्दर अपने को जुपिटर का ही बेटा क्यों मानता गया है, इस प्रश्न का भी उत्तर इस उपन्यास में मिल जाता है। कुल मिलाकर इसे एक श्रेष्ठ कृति का सम्मान प्रदान किया जा सकता है।

कथा सूर्य की नई यात्रा

प्रस्तुत रचना द्वारा हिन्दी को अभिनव साहित्य रूप प्रदान किया गया है। स्व० प्रेमचन्द के माध्यम से हिन्दी साहित्यकारों, हिन्दी संस्थाओं तथा हिन्दी फिल्मों की विकृतियों एवं यथार्थ स्थितियों को जिस कलात्मक ढंग से चित्रित किया गया है, वह अत्यधिक रोचक और सशक्त है। इसमें सन्देह नहीं, प्रस्तुत कृति की विषय-सामग्री सामान्य पाठक के मतलब की नहीं है; पर जो हिन्दी साहित्य की गतिविधियों से परिचित हैं उनका इससे अवश्य मनोरंजन होगा। हिमांशु जी का व्यंग्य कहीं उन्हें हँसायेगा, कहीं सोचने-विचारने की सामग्री देगा, कहीं कचोटेगा तथा कहीं उन्हें विचलित कर देगा। हिन्दी कवि अथवा लेखक की अधोगति का ही चित्रण इसमें नहीं है, प्रत्युत् उसकी विषम आर्थिक विपदावस्था के करुण चित्र भी इसमें अंकित हैं।

'कथा सूर्य' शब्द प्रेमचन्द के लिये प्रयुक्त हुआ है। कल्पना यह की गयी है कि प्रेमचन्द स्वर्ग से उतर कर हिन्दुस्तान की यात्रा करते हैं" अपने सूक्ष्म वायवी रूप में। वे अनेक साहित्य साधकों, कवियों, फिल्म लेखकों, साहित्यिक संस्थाओं के बीच पहुँचते हैं तथा उनकी वर्तमान दयनीय स्थिति का अवलोकन करते हैं। प्रेमचन्द के माध्यम से लेखक ने हिन्दी साहित्य, साहित्यकारों, संस्थाओं, फिल्मों आदि पर तीखे व्यंग्य किये हैं। लेखकों की यशलिप्सा, उनका पारस्परिक ईर्ष्या भाव, पुरानी पीढ़ी के प्रति तथा-कथित नये लेखकों की अश्रद्धा, उनका अधकचरा ज्ञान, मनोविश्लेषण शास्त्र के नाम पर लेखकों में पायी जानेवाली सस्ती प्रवृत्ति, कवियों की गोष्ठियों की बातचीत का निम्न स्तर, पुरस्कार प्राप्ति के निकृष्ट हथकंडे, प्रकाशकों की शोषणवृत्ति, विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में निर्धारित पाठ्य पुस्तकों की खरीदारी, प्रकाशकीय भ्रष्टाचार, आलो-

ना का भ्रष्ट स्वरूप, मात्र नवीनता के नाम पर अनर्गल प्रलापी काव्य, लब्धप्रतिष्ठ
यकों का स्वयं पैसा देकर अपना अभिनंदन करवाना, अनुवाद-कार्य की अधोगति,
फल्मी लेखकों का धूर्त डायरेक्टर के इशारों पर नाचना आदि अनेक प्रसंग 'कथा सूर्य
ी नयी यात्रा' में वर्णित हैं। ये सभी प्रसंग लेखक के विशाल अनुभव के परिचायक
। साहित्यिक जीवन के अनेक पहलुओं को उसने निकट से देखा, परखा और भोगा
। उसके कथनों एवं व्यंग्यों में वास्तविकता मुखर हो उठी है। वे ही बातें, जिन्हें
म प्रायः सुनते रहते हैं, हिमांशुजी की लेखनी से चमत्कृत हो उठी हैं तथा अपनी
ार्थकता सिद्ध करती हैं। हो सकता है, कुछ प्रसंग नितान्त सत्य घटनाओं पर
ाधारित हों।

'कथा सूर्य की नयी यात्रा' की एक अन्य विशेषता उसके स्वाभाविक संवाद हैं।
था के मध्य अनेक पात्र आते-जाते रहते हैं। जिस वर्ग विशेष के वे पात्र होते हैं,
सकी विशेषताओं का उद्घाटन वे अपने वार्तालाप से करते जाते हैं। लेखक ने अपनी
र से पात्रों के बारे में कुछ नहीं कहा है। पात्रों के वार्तालाप को इस ढंग से रखा
ा है कि वे स्वतः अपनी विरूपताओं, दुर्बलताओं, मंतव्यों, कार्यविधियों को प्रकट
र देते हैं। प्रत्येक अध्याय अथवा घटना के लगभग अन्त में प्रेमचन्द का भूत व्यक्त
दा गया है, जो व्यंग्यपरक है। हमारे साहित्यिक जीवन की अनैतिकता पर 'कथा
र्य की नयी यात्रा' में यथार्थवादी दृष्टि से विचार किया गया है। शिल्प का नवीन
रेयान तथा लेखक द्वारा कही गयी बातें विचारणीय हैं और इस नाते उनका यह
थन सही है—'जो कुछ लिखा है, शुभ संकल्प से, रचनात्मक समन्वय के लिये।'

र्मचेता

'धर्मचेता' हिमांशुजी का सांस्कृतिक उपन्यास है, जो 'कथा सूर्य की नयी यात्रा' से
थ्य विषय से सर्वथा भिन्न है। यह रचना धर्माचरण की व्याख्या करती है।
ौस अध्यायों में उपन्यास का कथानक निबद्ध है। 'धर्मचेता' का औपन्यासिक
नातन परम्परागत नहीं है। उसमें विशिष्ट कलात्मक सौंदर्य है। 'धर्मचेता' के
थ्य को उसकी कला ने प्रभावशाली बनाया है।

उपन्यासकार ने वस्तु का सयोजन बड़े कौशल से किया है। इसमें धर्म के गूढ़
स्यों को सरल और रोचक घटना-प्रसंगों के द्वारा उद्घाटित किया गया है। राज-
ता सुकेशी से लेकर नगरसुन्दरी किन्नरी तक के जीवनानुभवों के विवरण उपन्यास
अत्यधिक सरसता प्रदान करते हैं। प्रत्येक विवरण के अन्त में धर्माचरण का
्यं सौंदर्य प्रस्फुटित होते देखकर पाठक आनन्दित होता है। प्रस्तुतीकरण का यह
शिष्ट रूप 'धर्मचेता' को एक सफल औपन्यासिक कृति सिद्ध करता है। प्रासंगिक
ु कथाएँ आधिकारिक कथा को स्पष्ट करती चलती हैं। ...ानों में कलिंग नरेश पद्म-

संभव और महारानी मेघलेखा का चरित्रांकन ही द्रष्टव्य है। वस्तुतः 'धर्मचेता' चरित्र-प्रधान उपन्यास नहीं है। लेखक का उद्देश्य संभवतः तत्कालीन सांस्कृतिक गरिमा को प्रस्तुत करना रहा है। वर्तमान अनास्थापूर्ण युग में 'धर्मचेता' के नैतिक मूल्यों की उपादेयता स्वयंसिद्ध है। किन्तु इस उपन्यास में भी लेखक की पूर्वस्वीकृत पर्यवेक्षण शैली में किसी प्रकार का गत्यवरोध नहीं आ सका है, जो लेखक की अपनी विशेषता रही है। समाशतः वर्तमान अनास्थापूर्ण युग में 'धर्मचेता' के नैतिक मूल्यों की उपादेयता स्वयंसिद्ध तो है ही, साथ ही संवाद और भाषा भी लेखक को प्रौढ़ साहित्य साधना के परिचायक हैं; क्योंकि महाराज पद्मसंभव का यह संदेश आज विश्व के शीर्षस्थ राजनेताओं के नाम अविस्मरणीय रहेगा और रहना चाहिए—"शासन-सूत्र का संचालन शास्त्रों को देखकर नहीं, जनता को देखकर किया जाना चाहिए।"

विश्वम्भर मानव

प्रेमिकाएँ

प्रेमिकाएँ, उजड़े घर, नदी और कावेरी उपन्यासों में 'मानव जी' ने शिक्षित मध्यवर्गीय युवक की अर्थनियंत्रित स्वच्छन्द प्रेम की ललक एवं उसकी असफलता से उत्पन्न अतृप्तिजन्य कुण्ठा का सजीव चित्रण किया है। उनका यह मध्यवर्गीय युवक जो कतिपय परिवर्तनों के साथ उनके सभी उपन्यासों में दिखलाई पड़ता है, इतने मोहक व्यक्तित्व वाला है, उसमें इतना चुम्बकीय आकर्षण है कि सम्पर्क में आने वाली शिक्षित नगर-कुमारियाँ टकराए बिना नहीं रहतीं। प्रेमिकाएँ जगदीश नामक युवक की प्रेमपरक कहानी है जो शिक्षित मध्यवर्ग के एक विशेष पक्ष का प्रतिनिधित्व करता है। नयन, प्रीति, सीमा, शारदा, कालिंदी और बानू जैसी रूपवती युवतियों के सम्पर्क में वह विद्यार्थी-जीवन में ही आ जाता है। कालिंदी और शारदा तो शीघ्र ही उसके जीवन से दूर हट जाती हैं पर शेष चार परस्पर आकर्षण के कारण प्रेमिकाओं की श्रेणी में रखी जा सकती हैं। वेश्यापुत्री नयन अपार धन की स्वामिनी होते हुए भी अधिकाधिक धन के लिए कोठे पर न बैठ कर दूर-दूर तक अभिसार के लिए स्वयं जाया करती थी। उसका महल एक सम्भ्रात नारी का आवास था जिसमें उसने अनायास कृपा कर के जगदीश को सभी सुविधाओं के साथ रख छोड़ा था। उसके शहर आते समय ट्रेन की मुलाकात में ही उस पर वह रीझ जो गई थी। अर्थ और काम की स्थूल तृप्ति तो वह अन्यत्र भी कर लेती थी, पर सूक्ष्म मानसिक तृप्ति तो उसे यहीं मिली। नयन का मौन सात्विक प्रेम जगदीश के प्रति ही रहा जिसका उसने अन्त तक निर्वाह किया। इस नारी पात्र को उपन्यासकार की सर्वाधिक सहानुभूति मिली है जिसके माध्यम से उसने नारी-पुरुष के शारीरिक सम्बन्धों को एक भौतिक आवश्यकता और मानसिक

सम्बन्धों को जीवन की अनिवार्यता प्रमाणित किया है। उपन्यासका सब कुछ भूल जाय पर यह करुण नारी मूर्ति पाठकों का हृदय कुरेदती रहती है। 'नयन' के सुखद द्वार जगदीश के लिए सदैव खुले रहे।

प्रीति ने केवल प्यार ही नहीं किया बल्कि उसने जगदीश को अपना पूर्ण शारीरिक समर्पण भी किया। कौमार्य जीवन में ही दोनों ने दाम्पत्य-जीवन का सुख भोगा। इस सम्बन्ध का अनुभव दोनो ने दो ढंग से किया। प्रीति प्रेम को विवाह से भिन्न मान कर अरविन्द नामक युवक से विवाह कर लेती है और जगदीश के अनुसार प्रेम के बीच जब शरीर आ जाता है तो प्रेम मुरझा जाता है जिससे वह अपने विगत सम्बन्धो पर पश्चात्ताप करता है। इन दोनो के सम्बन्धो को प्रस्तुत करके उपन्यासकार ने प्रेम और विवाह की नवीन सामाजिक व्याख्या प्रस्तुत की है। बंगाली लड़की सीमा, योग्यता और अच्छे स्वभाव के कारण जगदीश की ओर आकर्षित हुई थी जिससे विवाह हो जाने पर भी वह पति का त्याग करके जगदीश के द्वार पर प्रेम की भीख मागती है, पर शारीरिक सम्बन्ध स्थापित कर जगदीश इसे भी प्रीति की भाँति नही खोना चाहता क्योंकि वह उसे अत्यधिक प्यार करता था। मुस्लिम बानू जगदीश की शिष्या थी क्योंकि वह उसका ट्यूशन करता था। जगदीश ने हठ करके उसके घर का जल और जूठा हलवा ग्रहण किया था जिससे वह श्रद्धा करने लगी थी। इसे हम आदर्श प्रेमिका के रूप में स्वीकार कर सकते हैं जिसमें वासना की गंध तक भी नहीं आ पाती। उसने अपने पिता द्वारा जगदीश को आर्थिक सहायता करनी चाही थी जिससे वह विदेश जाकर उच्च शिक्षा प्राप्त कर सके जिसे उसने स्वीकार तो नहीं किया पर बदले में बानू के ऋण से दब अवश्य गया।

एक ओर तो इस उपन्यास की प्रेमिकाएँ इतनी उदार चित्रित की गई हैं कि जैसे वे प्रतिक्षण अपने शरीर और सौंदर्य का बोझ जगदीश पर उतार देना चाहती हैं, दूसरी ओर उनमे वैचारिक संकल्प और दृढ़ता का इतना प्राचुर्य्य दिखलाई पड़ता है कि उनके प्रति घृणा के स्थान पर पाठकों के मन मे श्रद्धा उत्पन्न होती है। नैतिकता की दृष्टि से नयन और प्रीति पतिता होते हुए भी सर्वाधिक जीवन्त नारियाँ हैं। सम्पूर्ण उपन्यास पढ़ लेने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि यदि प्रेम को जीवित रखना है तो शारीरिक सम्बन्ध से दूर रहना चाहिए। विभिन्न प्रेमिकाओं से सम्बन्धित घटनाएँ स्वतंत्र कहानियाँ बन सकती हैं, पर एक पुरुष से सम्बन्धित होने के कारण वे उपन्यास का अंग बन गई हैं। 'जगदीश' उपन्यासकार का एक प्रयोग चरित्र है। उसके चरित्र मे न तो कोई स्वाभाविकता है और न तो कोई आदर्श। एक देहाती एवं संकोची युवक में कौन-सा ऐसा आकर्षण था कि नगर की सभी सुन्दरियाँ मधु-मक्खी की भाँति उसके आस-पास भिन-भिनाने लगती हैं। ऐसा लगता है कि प्रेम और

प्रनैतिक चिंतन को छोड़कर उसे और कुछ करना ही नहीं है। यह न तो सम्भव है और न तो आवश्यक ही।

उजड़े घर

विश्वम्भर मानव का एक सामाजिक उपन्यास है। प्रस्तुत उपन्यास में लेखक ने मध्यवर्ग के लगभग आधे दर्जन से अधिक परिवारों के बसने और उजड़ने की गाथा कही है। अमरनाथ जो मध्यवर्ग के एक साधारण वर्ग का पुत्र है, घर की तंगी के कारण ही ननिहाल में पलता है। कुशाग्रबुद्धि वह अमरनाथ पढ़-लिखकर एक महाविद्यालय में अध्यापक बन जाता है। वह माँ-बाप के प्रति जैसा निष्ठावान है वैसा ही मामा मामी और ममेरे भाइयों के प्रति भी। संवेदना और सहानुभूति का अजस्र स्रोत उसका हृदय है। किसी का दुःख, किसी का रोना, किसी की वेदना उससे देखी नहीं जाती।

एक तरह से अमरनाथ उपन्यास की पूरी कथाधारा का मूल स्रोत है। उपन्यास की संपूर्ण छोटी-बड़ी घटनाओं का संबंध किसी-न किसी रूप में अमरनाथ से है। मध्यवर्गीय आधुनिक नवयुवक के मन में अपने स्वर और हैसियत के प्रति जिस प्रकार की एक स्वाभाविक कुण्ठा विद्यमान रहती है उससे अमरनाथ वंचित नहीं है। यही कारण है कि आगे की ५-६ (मोहिनी, अपर्णा, मीरा, जिनी, संतोष, शीला आदि) सुन्दरियों के संपर्क में आकर भी वह अन्त तक खुल नहीं पाता व्यथित ही रह जाता है।

एक मध्यवर्गीय युवक का व्यक्तित्व समय के थपेड़ों के साथ कैसे टूटता-जुड़ता रहता है अमरनाथ उसका उदाहरण है। उसके जीवन को विभिन्न मोड़ देकर लेखक ने समाज के विभिन्न वर्गों में पाठकों को टहलाया है। उच्चवर्ग के परिवारों में पति और पत्नी में किस प्रकार की कशमकश और परस्पर एक दूसरे के प्रति असंतोष व्याप्त रहता है कि पत्नी आत्महत्या की स्थिति तक पहुँच जाती है। मिस्टर मेहता और मिस्टर कौन के परिवार इसके उदाहरण हैं। लेखक की पैनी दृष्टि ने समाज के किसी भी पक्ष को कोरा नहीं छोड़ा है चाहे वकील हो, चाहे डाक्टर हो, चाहे प्रोफेसर हो, चाहे राजनीतिक, समाज-सेवक, ज्योतिषी, पंडित, दुकानदार, सिने व्यवसायी सभी लेखक की दृष्टि में आये हैं, और अपने समूचे रूप में, यथार्थ रूप में।

उपन्यास की शैली और भाषा की मन्थर गति अभिव्यक्तियों की फिसलन मानवजी के उपन्यासकार की कमजोरी को उद्घाटित कर देती हैं। अधिक स्थलों पर लेखक का उपदेशक या वक्ता का रूप भी स्पष्ट हो गया है। लगे हाथ लेखक ने हमारे देश में नारी से आत्मीयता प्राप्त करने के उपाय भी बतला दिये हैं।

नदी

इस उपन्यास में सुखवीर, महिमा और यशपाल के बीच चलने वाले त्रिकोणात्मक प्रेम का चित्रण है जो 'मानव' जी के उपन्यासों की सामान्य विशेषता है। इस प्रेम चित्रण के लिये मूलचन्द श्रीवास्तव और उसकी पत्नी मंजुश्री सरकार जैसे उदार दम्पति का आवास सर्वथा अनुकूल है। इस दम्पती ने जिनका परस्पर परिचय क्रान्तिकारी दल में हुआ था किया, महिमा और लल्लन नामक तीन सन्तानों को जन्म दिया तथा अपने कौशल से अपार सम्पत्ति अर्जित की। सुखवीर यशपाल का सहपाठी था जो मूलचन्द के यहाँ पारिभाषिक शब्दकोश का सम्पादन कर रहा था जहाँ बाद में यशपाल भी आ जाता है। वह हिन्दी विषय लेकर एम० ए० प्रथम श्रेणी में पास था। संस्कारों का निर्माण विद्यार्थी-जीवन में ही होता है और उस समय तनिक भी असावधानी से विद्यार्थी का भावी जीवन चौपट हो जाता है यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है। यशपाल में प्यार करने के संस्कार बचपन से दिखलाई पड़ने लग जाते हैं। वह क्रम से माँ, मास्टर साहब और सहपाठिनी शान्ता से प्यार का अर्थ पूछता है। एक ने कुछ भी उत्तर नहीं दिया, दूसरे ने दण्डित किया और तीसरे ने उत्तर चुम्बन से दिया जिसका प्रभाव उसके जीवन के साथ बढ़ता गया। महिमा से उसका मानसिक प्रेम आदर्श ही कहा जा सकता है। नारी का प्रेम किसी से हो और ब्याह किसी से, फिर भी प्रेमी पुरुष प्रेम करता रहे तो उसका वही अन्त होगा जो यशपाल के जीवन का हुआ। यशपाल का महिमा के प्रति प्रेम महिमामान ही है, वह सामाजिक नहीं बल्कि वैयक्तिक ही कहा जा सकता है। इसके ऐकान्तिक प्रेम का करुण अन्त देखकर मन मसोस उठता है।

सुखवीर आरम्भ से ही धूर्त रहा और अपने आश्रयदाता मूलचन्द की सम्पत्ति हड़पना चाहता है, जिसके लिये उसने लल्लन को आवारा बनाया, मूलचन्द को विष दिया और यशपाल के साथ में दाँव-पेंच खेलता रहा। जीवनभर उसे असन्तुष्ट दिखला कर उपन्यासकार ने एक प्रकार से उसके प्रति न्याय ही किया है, पर यशपाल की असफलता, भले ही स्वेच्छया ही रही हो, पाठकों को करुणार्द्र बना देती है। उपन्यास का अन्त अत्यन्त प्रभावपूर्ण है और भारतीय मर्यादा के अनुकूल है। प्रेम-प्रदर्शन के लिये उपन्यास के बीच-बीच में डायरी के पन्ने तिथि-क्रम से उद्धृत किये गये हैं। जीवन की घटनाओं को पूर्वस्मृतियों के आधार पर चित्रित किया गया है। अनसर निकाल कर लगे हाथों लेखकों और आलोचकों पर भी उपन्यासकार ने छींटाकशी की है और इलाहाबाद के साहित्यकारों एवं शहर की महत्ता का भी वर्णन किया है। इस प्रसंग के आधार पर वह उपन्यास के विषय को व्यापक बना सकता था पर आत्मपास की सीमित भूमि में बँध जाने के कारण ऐसा न हो सका।

कावेरी

यह एक सामाजिक उपन्यास है जिसमें समाज मे बढते हुए स्वच्छन्द मासल प्रेम के प्रति अनास्था व्यक्त की गई है। 'कावेरी' नामक क्वाँरी लडकी को केन्द्र मे रखकर उपन्यास की सम्पूर्ण काया निर्मित की गई है। विषय की दृष्टि से तो इस उपन्यास का कोई विशेष महत्व नही है क्योकि किसी-न-किसी रूप में यह उपन्यासकारो का चिर-परिचित विषय रहा है, पर शिल्प की दृष्टि से इसका अपना एक विशेष स्थान है इसे स्वीकार करना पडेगा। आत्मकथात्मक शैली में लिखा यह उपन्यास किसी पात्र विशेष द्वारा ही नही बल्कि एकाधिक पात्रो के परस्पर पत्राचार द्वारा अस्तित्व में आया है।

'कावेरी' मुरादाबाद की रहने वाली थी जिसकी आरम्भिक कला सबधी शिक्षा स्थानीय 'कला निकेतन' के मास्टर सागरमल की देखरेख में हुई जहाँ अन्य लडकियो के अतिरिक्त कावेरी हेमेन्द्र नामक लडके के भी सम्पर्क मे आई और दोनो में साहचर्यगत स्वाभाविक स्नेह भी उत्पन्न हो गया। शीघ्र ही प्रेम के पीछे छिपी मादक शक्ति ने उसे विचलित करना आरम्भ कर दिया और वह सुन्दरलाल एडवोकेट के लडके कुँवर के प्रति केवल अनुरक्त ही नहीं हुई बल्कि असमय गर्भधारण का भी पाप कर बैठी जिसका स्वाभाविक अन्त हुआ। कावेरी को मौसी के प्यार और आत्माराम डाक्टर की सहायता स गर्भ से मुक्ति मिल सकी, तब तक कुँवर पर जा चुका था। आरम्भ में मास्टर सागर मलके चरित्र को लेकर कीचड उछालने वाली लडकी का यह अंत स्वाभाविक ही था पर उपन्यासकार की सहानुभूति कावेरी को मिली है इसमें सन्देह नहीं। अस्थिरता का आभास पुरुष वर्ग मे दीखता है न कि नारी वर्ग की प्रतिनिधि कावेरी में। उसने समर्पण तो उसी व्यक्ति के सम्मुख किया जिसके सम्मुख उसका मन डोला हुआ था। नारी के स्वाभाविक व्यवहार से ही यदि पुरुष उसे अपनी प्रियतमा मान बैठे तो इसमें नारी कावेरी का क्या दोष? जो भी उसके सम्पर्क में आता और उसके हित में अपने सुझाव रखता बदले में उसके शरीर को पाना चाहता है। चाहे वह कुँवर हो अथवा हिन्दी से एम० ए० करने के लिये प्रोत्साहन देने वाला देवराज। तभी तो कावेरी निराश देवराज को पत्र लिखते हुए ठीक ही कहती है "नारी के सम्पर्क मे जो भी आता है, वह उससे एक ही प्रकार के सबन्ध की आशा करता है और वह सम्बन्ध जब उसे नही मिल पाता तो उसका प्रतिक्रिया बडी भयंकर होती है। हृदय का आतरिक प्रेम तो किसी एक ही को मिल सकता है। यह हो सकता है कि हमारे चुनाव में भूल हुई हो पर यदि प्रेम भी हमें किसी दूसरे की सम्मति से करना पडेगा तब तो जीवन भार हो जावेगा, देवजी।" इसमे सन्देह नहीं कि नारी जीवन में प्रेम एक बार ही एक व्यक्ति से करती है। इसके अतिरिक्त उसके अन्य पुरुष से सम्बन्ध परिस्थितिया क परिणाम प्रेमेतर ही माने जायँगे। इस उपन्यास की यही मूल स्थापना जान पडती है

जिसमे लेखक को सफलता मिली है। मुरादाबाद को भी वाराणसी और इलाहाबाद जैसा साहित्यिक गढ़ मानना चाहिये ऐसा कुछ आग्रह उपन्यासकार की ओर से जान पड़ता है। वह क्यो ऐसा चाहता है इसका उत्तर अपेक्षित नही ?

पहाड़ी (रामप्रसाद घिल्डियाल)

सराय

यह एक मनोवैज्ञानिक उपन्यास है, जिसमें उपन्यासकार ने पुरुष और नारी के मन और मस्तिष्क की समवेदना और सहानुभूति के हाथो से छू कर चित्रित करने का प्रयास किया है। रेखा एक ऐसी नारी है जो सबको समान रूप से आकर्षित करती है।

लेखक ने उपन्यास को मनोवैज्ञानिक कहा है, पर दो-चार मनहूस, कुण्ठित, टूटे व्यक्तित्व वाले पात्रो को जुटाकर एक निर्बल प्रभावहीन कथा-धारा को प्रवाहित करके और मरुस्थल में उसका मुहाना बनाकर कथा को समाप्त कर देना किस दर्जे की मनोवैज्ञानिकता है विचारणीय है ? उपन्यास की भाषा तो गम्भीर कही जा सकती है पर उसके सम्वाद, कथोपकथन प्रायः फिल्म नेताओ जैसे थोथे और हल्के हैं। पूरे उपन्यास में लेखक ने मनोवैज्ञानिकता की रक्षा के लिए नारी और पुरुष, पति और पत्नी वर्ग की मनोवृत्तियो, भावनाओ और परस्पर एक दूसरे के मन मे पलने वाली भावनाओं के घात प्रतिघातो को अत्यन्त सूक्ष्म रूप में चित्रित करने की चेष्टा की है। नारी, पुरुष, पति, पत्नी, प्रेमी, प्रेमिका और दाम्पत्य जीवन की सीमाओं और मर्यादाओ का स्पष्टीकरण उपन्यास की कथा-धारा मे स्वतः होकर चलता है। उपन्यासकार उपन्यास के शीर्षक और उसकी कथावस्तु की सगति नहीं बैठा पाया है।

निर्देशक

इस उपन्यास मे 'पहाड़ी' जी ने सामाजिक-क्रान्ति की एक ऐसी कहानी कही है जिसमें भारत के मजदूर वर्ग ने पूँजी के विरुद्ध, सरकार के विरुद्ध जेहाद बोल दिया है। अँग्रेजी राज की छत्रछाया में पैसे वाले मिल-मालिको ने सरकारी हाकिमो से साठगाँठ करके मजदूर नेताओं और क्रान्तिकारियो पर असह्य अत्याचार किए हैं। "नवीन" क्रान्तिकारी वर्ग का नेता, क्रान्ति का प्राण और उसका संचालक है। वह एक मध्य वर्गीय परिवार का युवक है जिसके पिता कभी एक अच्छे सरकारी नौकर थे जिनकी मृत्यु के बाद माँ और छोटी बहन तारा को लेकर उसे फिर गाँव वाले घर की शरण लेनी पडी थी। माँ की मृत्यु के बाद केवल भाई बहन रह जाते हैं। वह तारा का ब्याह सम्पन्न परिवार में करके अपने को एक बडे उत्तरदायित्व से मुक्त समझता है पर तारा का पति एक निकम्मा विद्यार्थी था जो विद्यार्थी जीवनोपरान्त एक निकम्मा पति सिद्ध हुआ जिससे तारा का पारिवारिक जीवन सुखी न रह पाया। नवीन

तारा के दुःख से उसके ब्याह के बाद भी मुक्त न रह पाया। तारा की अभिन्नहृदया सखी सरला भी इन बातों को लेकर दुःखी रहती। वह नवीन के जीवन में एक प्रकाश एक प्रेरणा लेकर आयी। वह एक सम्पन्न डाक्टर पिता की लड़की है जो एक बड़े शहर में रहते हैं और हजारों रुपए का इधर-उधर उनके लिए न के बराबर है। समय-समय पर सरला नवीन और तारा की सहायता करती रही और पूँजीवर्ग की लड़की होते हुए भी नवीन के नाते उसकी सहानुभूति मजदूर वर्ग के साथ रही।

नवीन के चरित्र को लेखक ने बड़ी सावधानी से चित्रित किया है और कहीं भी उसपर दाग नहीं लगने पाया है। सरला को लेकर वह कभी-कभी विचलित होता है और मास्टर जी की लड़की के प्रसंग में भी हम एकाध बार उसे फिसलने के रास्ते पर पाते हैं पर जिस महान कार्य के सम्पादन के लिए उसने विश्वविद्यालय छोड़ा तारा जैसी भोली बहन की ममता तोड़ी और उसके अरमानों पर पानी फेरा (उसके लिए भाभी न ला सका) वही महान कार्य सदैव उसे पथभ्रष्ट होने से बचाता रहा। क्रान्तिकारी दल के संगठन के निमित्त वह न जाने कितने परिवारों और नारियों के सम्पर्क में आया पर जलमग्न कमल दल के समान वह निर्लिप्त रहा। नवीन उदासीन अवश्य है अपने प्रवेश के प्रति, पर वह हृदयहीन नहीं है। अपने जमींदार मित्र के यहाँ से तारा को लिखे गये पत्र में उसके धैर्य का बाँध टूट जाता है। उसे तारा की याद आती है तो वह रो लेता है, माँ को याद पर आहें भर लेता है, पर अपने पथ से विचलित नहीं होता। जब कभी एकांत में होता है तो जमीन पर कोयले से हिन्दुस्तान का नक्शा बनाकर और उसके सामने इङ्गलैण्ड का नक्शा बनाकर उसकी तुच्छता पर हँस पड़ता है। इतना बड़ा देश गुलाम है जिसको स्वतंत्र करना, उसका, उसके दल का, उसके संगठन का उद्देश्य है।

किरण नामक एक लड़की है जो नवीन के क्रान्तिकारी संगठन की एक शक्ति है। उसकी अद्भुत शक्ति, अदम्य साहस और अडिग कर्मठता उसके दल के कार्यकर्ताओं के लिए एक प्रेरणा है। अपने संगठन के प्रति वह इतनी ईमानदार है कि अपने ममेरे भाई अविनाश को सिद्धान्तों की हत्या करते देखकर गोली मार देती है। वह क्रान्ति की ऐसी-ऐसी योजनाएँ बनाती है कि सब दंग रह जाते हैं। सरला के पिता की हत्या करने की योजना को लेकर नवीन और किरण में कुछ मतभेद उत्पन्न हुआ। केदार तो पहले ही पुलिस की गोलियों का शिकार हो चुका था उसके और साथी धीरे-धीरे कम होते रहे, एक सरला बची थी जो ठीक अपनी शादी के दिन अपने पिता के पास से मजदूरों वाली फाइल चुरा कर लाती है और नवीन तथा उसके साथियों के बीच नवीन की पिस्तौल लेकर आत्महत्या कर लेती है। इस आत्महत्या से नवीन बोखला जाता है।

वह सुरेश के यहाँ चला आता है यही। पर किरण भी आ जाती है जो सरला के अप्रत्याशित आत्महत्या से बड़ी दुखित है, सुरेश को भी फाँसी हो जाती है और उसी रात नवीन भी पुलिस द्वारा गिरफ्तार कर लिया जाता है। सुरेश की पत्नी इन्दिरा और किरण को अकेले में छोड़कर उपन्यास समाप्त हो जाता है। लेखक ने लगभग आधी दर्जन हत्याएँ विभिन्न प्रसंगों में कराई हैं, पर उन हत्याओं का उन क्रान्तियों का कोई निर्दिष्ट परिणाम नहीं निकल पाता। जितने पात्र हैं सबकी जीवनदिशाएँ अलग-अलग हैं उनमे कोई भी अपने जीवन मे सुखी नहीं है। चाहे पूँजीपति की लड़की सरला हो, चाहे मजदूर नेता केदार और विपिन हो, चाहे पत्रकार रमेश और उसकी पत्नी इन्दिरा हो। नवीन और किरण ने तो जानबूझ कर वह पथ अपनाया ही था। नवीन का अपना स्वयं का जीवन बहुत टेढ़ामढ़ा रास्ता तय करता रहता है और इसमें सन्देह नहीं कि वही अपनी बहन तारा तथा सरला सरीखे उपन्यास के अन्य कई पात्रो के जीवन को दुखी बनाने का उत्तरदायी है। सरला के यहाँ सरकार की लड़कियों के झुण्ड मे नवीन को छोड़ने की बात तो समझ में आती है पर अनावश्यक रूप से मास्टर जी के परिवार का तथा उनकी कुलटा एकलौती लड़की का प्रवेश अनावश्यक घटना सी लगती है। अन्त में नवीन असफल निर्देशक बन कर रह जाता है।

चलचित्र

पहाड़ी जी के इस उपन्यास की कहानी रेल के डिब्बे से आरम्भ होकर अन्त में फिर कुछ पात्रों को रल के डिब्बे में बैठाते हुए समाप्त हो जाती है। महेश नौकरीपेशे का एक अविवाहित युवक है। ट्रेन के सेकेन्ड क्लास के कम्पार्टमेन्ट में मनोहर और उसकी भाभी करुणा मे (जो एक देवी की माँ है) से परिचित होता है। परिचय के थोड़ी देर बाद ही वह उन लोगों के बहुत निकट आ जाता है। वह गाड़ी मंजिल पर पहुँचे कि उसके पहले ही रास्ते मे दुर्घटना हो जाती है। मनोहर उसका शिकार होता है और महेश को भी गहरी चोट लगती है, पर वह करुणा को अपने यहाँ लाकर ठहराता है। *दो दिन तक वह करुणा के पति की तलाश करता है पर पता लगता है कि ट्रेन दुर्घटना* में भाई और पत्नी की मृत्यु के समाचार स दुखित होकर छुट्टी लेकर वह घर चला गया है। इस बीच करुणा को विवश होकर महेश की मेहमानदारी स्वीकार करनी पड़ी।

ट्रेन मे लगी चोट से महेश का स्वास्थ्य बहुत प्रभावित हुआ था। एक दिन वह सीढ़ियों से उतरते समय गिरकर बेहोश हो गया और उसे अस्पताल ले जाना पड़ा। बूढ़ा डाक्टर बहुत ही हमदर्द और नेक आदमी है, उसकी एकलौती लड़की कुसुम तो और भी। कुसुम अपना खून देकर महेश को जीवनदान देती है—खून के अभाव मे कुसुम का स्वास्थ्य इतना गिर जाता है कि वह भी लाख प्रयत्न के बावजूद नहीं बच पाती। अस्पताल में ही कुसुम की सखी सावित्री से पाठकों का परिचय होता है। महेश

के स्वस्थ होने पर करुणा अपने पति के साथ घर चल देती है। महेश, सावित्री और डाक्टर उसे छोड़ने के लिए स्टेशन तक आते हैं। महेश और सावित्री की शादी में आने का वादा करके करुणा गाड़ी में बैठ जाती है।

प्रारम्भ में हम देखते हैं कि महेश के मन में नारी-जीवन को लेकर भिन्न-भिन्न चलचित्र बनते और मिटते हैं। उसका क्वाँरा हृदय नारी-जीवन की अनेक काल्पनिक अनुभूतियों से भरा पड़ा है। वह एक सहृदय और सहानुभूतिशील तथा चरित्रवान युवक है जिसका परिचय हमें करुणा के प्रति किए गये उसके सद्व्यवहारों से मिलता है। उपन्यासकार पूरे उपन्यास में केवल एक चित्र बना पाया है जो पाठकों को आकर्षित करता है। कुसुम का बलिदान भी कम नहीं है पर वह उपन्यास में देर तक टिक नहीं पाती। उसके ये शब्द "करुणा जीजी यह सब तो मैंने तुम्हें महेश की पत्नी जानकर तुम्हारे लिए किया था" पाठकों के हृदय को बरबस छू लेते हैं। उपन्यास की भाषा शैली उसके स्तर के अनुकूल है।

शान्तिप्रिय द्विवेदी

दिगम्बर

उपन्यासों के शिल्प-विधान को लेकर भी नये प्रयोग किये जा रहे हैं। परन्तु ये प्रयोगवादी उपन्यासकार भी इसका अनुभव कर रहे हैं कि केवल प्रयोग के लिए लिखी गयी कृति का कोई मूल्य न होगा, यदि उनमें किसी प्रकार के यथार्थ का चित्रण नहीं किया जाता। शान्तिप्रिय द्विवेदी का 'दिगम्बर' इसी प्रकार की रचना है। द्विवेदीजी आलोचक, निबंधकार एवं कवि के रूप में साहित्य-जगत में बहुत पहले से परिचित हो चुके हैं, परन्तु उपन्यास के क्षेत्र में इनका यह नया प्रयास है जो एक नयी 'थीम' लेकर प्रकट हुआ है। लेखक का दावा है कि वस्तु-विन्यास एवं शिल्प विधान की दृष्टि से उपन्यास-साहित्य को वह एक नयी देन दे रहा है। ऐसी स्थिति में इस पर थोड़ा विचार कर लेना आवश्यक हो जाता है। जैसा लेखक ने भूमिका में स्वीकार किया है कि 'आधुनिक उपन्यास-कला और पुरानी उपन्यास-कला का इसमें यत्किञ्चित सम्मिश्रण है' जिससे हम यह तो नहीं कह सकते हैं कि यह उपन्यासों की दुनिया में कोई नया प्रयोग है, पर इतना तो स्वीकार किया ही जा सकता है कि लेखक ने जो प्राचीनता और नवीनता का रसायन तैयार किया है वह अत्यन्त सुन्दर बन पड़ा है। पुस्तक यदि उपन्यास के रूप में न होती तो निश्चित ही यह लेखक की संस्मरणात्मक आत्मकथा थी। इस प्रकार के संस्मरण अभी हिन्दी में बहुत कम हैं। लेखक ने बिखरे संस्मरणों को इकट्ठा करके जो कवि 'विमल' के जीवन के साथ सम्बद्ध कर दिया है, उसमें विभिन्न स्थानों, समाज तथा धार्मिक परिस्थितियों का वास्तविक चित्र उतर पाया है।

भूमिका में इसका भी संकेत मिल जाता है कि लेखक इसे पहले यथार्थवादी दृष्टि से लिखना चाहता था। अच्छा हुआ कि उपन्यासकार ने अपना विचार बदल दिया जिससे हमें वह एक उत्तम नवीन अनुभव दे सका, नहीं तो जिस यथार्थवाद का उसने आरम्भ में परिचय दिया है, यदि उसका आद्योपान्त निर्वाह हो गया होता तो बहुत से नाक-भौं सिकोड़ने वाले मिल जाते।

जिस यथार्थवाद की उसने उपेक्षा की है वह सम्भवतः ऐसा ही यथार्थवाद होता जो एक अच्छे साहित्य के लिए वाञ्छनीय नहीं। आरम्भ में दो-एक ऐसे चित्र आ गये हैं जिनमें लेखक घोर यथार्थवादी बनने की चेष्टा करता जान पड़ता है। विमल के बाल-जीवन की चर्चा करता-करता वह अपने शैशव में उतर आया है जिससे वह भूल गया कि उसकी यह कृति वयस्क पाठकों के हाथ में जायगी जो उस स्थिति को पार कर चुके हैं जिसे वह बतलाना या दिखलाना चाहता है। "विमल को दो लड़कियों का सामीप्य मिला—घिरजिया, अनमरिया! न तो इनकी देह खिली थी, न मनसिज की गुदगुदी इन्हें गुदगुदा सकी थी। लेकिन यह क्या! खेतों के मचान पर घिरजिया विमल को अपनी पलड़ियों-सी इन्द्रिय विस्फारित करके दिखलाती थी। विमल को कौतूहल हुआ, वह कोई रहस्य पा जाने के लिए उसका स्पर्श करने लगा।" बात समझ में नहीं आती कि भावों तथा भाषा में परिष्कृत लेखक को ऐसा चित्र क्यों रुचिकर हो गया? जिसने स्त्री के कुच को, कुच कहने में शरम खायी है और उसे 'तारुण्य' कहा है, क्यों ऐसा अश्लील चित्र उतारा गया, विचारणीय है।

वर्तमान परिस्थितियों से क्षुब्ध होकर लेखक ने जो अपनी व्याख्या कहीं-कहीं प्रस्तुत की है, वह उसके तथा परिस्थिति का सम्यक् चित्र उपस्थित करने में पूर्ण समर्थ है। "मध्य-युग को सामंतवादी कहा जाता था, आधुनिक युग को साम्राज्यवादी और पूँजीवादी। तो क्या राष्ट्रीय आन्दोलन में जो लोग गाधी के पीछे पीछे चले वे इस युग की शोषित-पीड़ित जनता के दुःख-दैन्य से द्रवित होकर ही सार्वजनिक क्षेत्र में आये थे? नहीं, वे तो गांधी को ढाल बनाकर जनता के सत्त्व के नाम पर प्रभुता से अपने-अपने अधिकारों का संघर्ष कर रहे थे। इस संघर्ष में बलिदान गान्धी का ही हो गया, वरदान उन्हें मिल गया। अब स्वयं सत्तारूढ़ होकर वे उन्हीं साम्राज्यवादी और पूँजीवादी सुविधाओं का उपभोग कर रहे हैं जिनका वे कभी विरोध कर रहे थे।" इससे लगता है कि लेखक के मन पर वर्तमान सामाजिक स्थिति एवं शासन-नीति के प्रति घोर असन्तोष के भाव विद्यमान हैं, जिनका कि लेखक ने बीच-बीच में अत्यन्त ही कुशलता के साथ संकेत कर दिया है। लेखक को इस उपन्यास में इस दृष्टि से आशातीत सफलता मिली है जिसे सामने रखकर उसने अपनी रचना प्रस्तुत करनी चाही है।

भगवतीप्रसाद वाजपेयी

सूनी राह

भगवतीप्रसाद वाजपेयी हिन्दी के प्रसिद्ध उपन्यासकार हैं। वे 'मीठो चुटकी', 'अनाथ पत्नी,' प्रेम-पथ', 'लालिमा', 'उतार चढ़ाव,' 'चलते-चलते' 'पतिता की साधना', 'पिपासा', 'दो बहनें,' 'त्यागमयी', 'निमन्त्रण', 'गुप्तधन', 'पतवार', 'यथार्थ से आगे' आदि सामाजिक उपन्यासों के पुरानी पीढ़ी के लेखक हैं और आज भी लिखते चले आ रहे हैं। उनके कई उपन्यास साहित्य क्षेत्र में प्रसिद्धि पा चुके हैं। वाजपेयी जी के अधिकांश उपन्यास आदर्शोन्मुख उपन्यासों की श्रेणी में आते हैं। उनके कथा-साहित्य का प्रधान विषय प्रेम है। विश्वम्भर 'मानव' के शब्दों में 'आदर्शवादी नायकों के सम्पर्क में रहने के कारण उनके बहुत से स्त्री-पात्रों की आकांक्षाएँ अपूर्ण रह गयी हैं, परन्तु यह भी सत्य है कि उन्होंने मन की उद्दाम भावनाओं को एक उच्च स्तर पर ले जाकर प्रेम के अधिक गम्भीर आशय को व्यक्त किया है।

'सूनी राह' में परकीया का प्रेम चित्रित किया गया है, जिसका निर्वाह अन्त तक हुआ है। वैवाहिक और पारिवारिक जीवन को लेकर यह प्रश्न भी उठाने का प्रयत्न किया गया है कि पति का पत्नी या पत्नी का पति के प्रति प्रेम के बीच किसी अन्य से भी मधुर सम्बन्ध रखा जा सकता है या नहीं ? इसी प्रश्न को लेकर मनोवैज्ञानिक ग्रन्थियाँ भी उत्पन्न होती हैं। स्त्री-पुरुष के इस सम्बन्ध के सूक्ष्म और मनोवैज्ञानिक अन्तर्द्वन्द्व का उच्चतम, पर संयमित और बुद्धि तथा हृदयग्राह्य चित्रण उपस्थित करने में उपन्यासकार अत्यधिक सफल हुआ है। जैसे चित्रों की अवतारणा लेखक ने इस उपन्यास में की हैं वैसे चित्र हमें अपने सम्पूर्ण कलात्मक सौष्ठव के साथ 'शरत् बाबू' के उपन्यासों को छोड़ कर अन्यत्र नहीं मिलते। 'शरत् बाबू' का उपन्यासकार इस कला का माहिर है जिसका हिन्दी उपन्यासकारों में नितान्त अभाव है।

'सूनी राह' का 'निखिल' धन-सम्पदा में भले ही दीन है, किन्तु वह स्वभाव से दीन नहीं। वह 'करुणा' के सम्पर्क में आता है। 'करुणा' विधुर गोपाल बाबू की पुत्री है जो अपने विवाहित पति 'सत्याचरण' के विचित्र तथा रहस्यमय व्यवहार के कारण उस पर अविश्वास करती है और परिणामस्वरूप धीरे-धीरे 'निखिल' के प्रति उसकी उत्सुकता मधुर प्रेम का रूप धारण करने लग जाती है। 'निखिल' भी सम्भवतः इसी प्रेम को लेकर अपने चाचा से विद्रोह करता है और घर से निकाल दिया जाता है। दोनों का यह परकीया प्रेम बहुत आगे बढ़ने से झिचकता जान पड़ता है क्योंकि 'निखिल' सत्याचरण के प्रति 'करुणा' के उचित कर्तव्यों का ध्यान दिलाता है और 'सत्याचरण' को ही पति के रूप में स्वीकार करने के लिए बाध्य करता है।

इसमें परकीया प्रेम पर आधारित एक और कथा है जिसका सम्बन्ध 'करुणा' के पिता 'गोपाल बाबू' से है। 'गोपाल बाबू' प्रच्छन्न रूप से अमिता से प्रेम करते हैं। यह परकीया प्रेम साकार हो जाता है जिसका परिणाम पुत्र रूप में सामने आता है। सामाजिक कलंक और व्यक्तिगत अपमान का ध्यान करके 'गोपाल बाबू' पुत्र को त्याग कर 'अमिता' को मानपुर छोड़ देने की सम्मति देते हैं। किन्तु उसका पुत्र अविनाश जीवित रह जाता है। बड़ा होने पर अविनाश अपनी मानसिक ग्रंथियों के कारण पागल हो जाता है। वह सामाजिक रूढ़ियों के प्रति विद्रोह करता है। अविनाश को एक दिन अपने घर देखकर 'गोपाल बाबू' सहसा स्तब्ध रह जाते हैं और अपने को रोक न पाने के कारण 'अमिता' के पास प्रायश्चित्त करने के लिये दौड़ जाते हैं। 'डायरी' के हाथ लग जाने के कारण 'अविनाश' 'गोपाल बाबू' के सारे जीवन-रहस्यों से अवगत हो जाता है और वह उस डायरी को ले जाकर वैशम्पायन को दे देता है। इस प्रकार समाज में चरित्रवान तथा नैतिकता के उच्च सिंहासन पर आरूढ़ 'गोपाल बाबू' का वास्तविक चरित्र सामने आता है। परन्तु 'गोपाल बाबू' 'अमिता' को पुनः स्वीकार कर सारे कलुषित कर्मों का प्रायश्चित्त कर लेते हैं। पागल अविनाश ही के द्वारा 'निखिल' के चाचा के स्वार्थपूर्ण व्यवहार भी सामने आये हैं।

कथानक के सुसंगठित न होने के कारण कोई सम्यक् प्रभाव तो यह उपन्यास नहीं डाल पाता, किन्तु जीवन के यत्र-तत्र बिखरे यथार्थ चित्र अवश्य उभड़ कर आ गये हैं। गरीबी आदि के प्रश्न को लेकर उपन्यासकार ने कहीं-कहीं व्यंग्य किया है किन्तु वह इस समस्या को लेकर पारिवारिक सीमाओं में ही रह गया है। यथार्थ के नाम पर यौन विकृतियाँ जो आज के उपन्यासों का आवश्यक तत्व बनती जा रही हैं, इस उपन्यास में कहीं भी नहीं आने पाई हैं।

रमेशचन्द्र झा

आजादी की राह में

इस उपन्यास में जगदीशपुर के बाबू कुँवर सिंह के बलिदान की अपूर्व कहानी है जिन्होंने १८५७ का क्रान्ति-दीपक अपनी अन्तिम रक्त-बूँद तक जलाया। उपन्यासकार ने आरम्भ में जिस वातावरण का चित्रण किया है उससे स्पष्ट हो जाता है कि किसी प्रकार क्रान्ति के आरम्भ होने के पूर्व ही भारतीय क्षितिज पर क्रान्ति के बादल मँडराने लगे थे। वे कौन-सी ऐसी परिस्थितियाँ थीं जिन्होंने सदियों की सोई हुई त्रस्त भारतीय जनता को यह सोचने के लिए बाध्य किया कि उसे निश्चित रूप से आजादी की लड़ाई लड़नी है। अंग्रेजों के नित्य बढ़ते हुए अत्याचार, उनके ईसाई-धर्म प्रचार और उनकी साम्राज्यवादी नीति ने त्रस्त, धर्म-प्राण तथा अधिकार-च्युत भारतीय जनता को स्वतंत्रता-युद्ध के लिए तैयार हो जाने के लिए बाध्य कर दिया। हम देखते हैं कि किस प्रकार एक

के बाद एक ऐसे कारण आते गये जिससे देश की बिखरी शक्ति छिन्न-भिन्न जनता के रूप में एक झंडे के नीचे इकट्ठी होने लगी। सब ने स्वतंत्रता-युद्ध प्रारम्भ होने के पूर्व ही एक स्वर से अन्तिम मुगलसम्राट 'बहादुरशाह' को अपना सम्राट स्वीकार किया और वह स्वतंत्रता-संग्राम में एकता का प्रतीक बना।

ऐतिहासिक सामग्री का तद्‌वत् स्वरूप न प्राप्त होने के कारण यह आवश्यक हो जाता है कि बिखरी हुई ऐतिहासिक सामग्रियों के आधार पर वास्तविक वस्तुस्थिति की कल्पना की जाय। ऐतिहासिक कथानकों को क्रमबद्ध करने के लिए उपन्यासकार ने कल्पना का सहारा लिया है, किन्तु जितने भी ऐतिहासिक पात्रों की उसने अवतारणा की है वे अधिकांश अनैतिहासिक नहीं बल्कि ऐतिहासिक हैं जिनके बलिदान से देश की आजादी का पौधा जीवित रह सका और असमय में ही मुरझाने से बच गया। प्रारम्भ में कानपुर के नाना का प्रसंग उठाते हुए लेखक ने जो 'अजीमुल्लाखाँ' को इंगलैण्ड भेजने की चर्चा की है, वह ऐतिहासिक घटना है। 'अजीमुल्ला खाँ' ने वहाँ जाकर भरपूर प्रयत्न किया था कि यह इंगलैंड की सरकार को यह अवगत करा दे कि भारत में किस प्रकार कम्पनी सरकार अपनी अधिकार-सीमा का अतिक्रमण कर रही है, किन्तु उसे प्रयत्न में असफल ही होना पड़ा, जिसमें अंग्रेज जाति के न्याय सम्बन्धी रचे हुए स्वांग का भी भण्डाफोड़ हो जाता है। उसने लौटते समय योरोप के अन्य देशों का भी भ्रमण किया और उन्हें भारत की वास्तविक स्थिति का ज्ञान कराया, यह सत्य ऐतिहासिक घटना है। सारे प्रयत्नों के पश्चात् एक ही निष्कर्ष निकाला जा सका कि युद्ध अनिवार्य है। लेखक ने यह स्पष्ट करने के लिए कि १८५७ का युद्ध स्वतंत्रता का युद्ध था, न कि व्यक्तिगत स्वार्थों का, उसने 'शाहंशाह बहादुर शाह' के उस सन्देश को उद्‌धृत किया है जिसे उसने सम्पूर्ण भारतीय जनता के नाम भेजा था। देश-विदेश में हुई प्रतिक्रियाओं को दिखलाने के लिए उसने अनेक विद्वानों के लेख भी प्रमाणस्वरूप उद्‌धृत किए हैं। किन्तु हम देखते हैं कि उपन्यासकार का यह सारा उपक्रम अपने कथानायक 'बाबू कुँवर सिंह' के व्यक्तित्व को उभाड़ कर रखने के लिए है। यह एक प्रकार से 'बाबू कुँवर सिंह' की जीवन-कथा है, उपन्यास नहीं। अन्य राजाओं, सरदारों तथा फौजी सिपाहियों का जो प्रसंग आया है वह केवल कथा के प्रभाव को गम्भीर बनाने के लिए ही साधन के रूप में। पुस्तक में कुँवर सिंह, अमर सिंह तथा उनके अन्य सहयोगी शूरसामंतों के अपूर्व साहस और बलिदान की कथा है। जगदीशपुर पर अंग्रेजों का अधिकार हो जाने पर 'कुँवरसिंह' ने बाहर जाकर आजमगढ़, गाजीपुर, बलिया आदि स्थानों में स्वतंत्रता की अपूर्व लड़ाई लड़ी। उससे उनके कौशल, शौर्य और आकर्षक व्यक्तित्व का तो पता चलता ही है, साथ ही साथ यह भी ज्ञात हो जाता है कि देश की जनता किस प्रकार क्रान्ति का स्वागत करने के लिए तैयार थी। स्थान-स्थान पर जो कुँवरसिंह के पथ पर फूल बिछाये गये वे स्वतंत्रता की क्रान्ति के स्वागत के लिए बिछाए गए थे।

बीच-बीच में लेखक ने देश के गद्दार सिक्खों तथा कुछ लोभी रजवाड़ों का भी जिक्र किया है। उपन्यास का आरम्भ जितना ही उदात्त है, उसका अन्त भी उतना ही कारुणिक और प्रभावोत्पादक। सम्पूर्ण जीवन और अपनी एक बाँह को युद्ध में लगाकर भी अन्तिम क्षणों में जब हम कुँवर सिंह को युद्ध के लिए उतावला देखते हैं तो अपने आप मस्तक उनके चरणों में झुक जाता है। कुँवर सिंह ऐसे शहीदों की अन्तिम इच्छाओं का ही परिणाम आज का स्वतन्त्र भारत है।

सिद्धविनायक द्विवेदी

मुक्ति-दान

सिद्धविनायक द्विवेदी का 'मुक्ति-दान' एक आदर्श सामाजिक उपन्यास है जिसमें लेखक ने अतीत के पन्नों पर पड़ी भारतीय सामाजिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक परिस्थितियों को उभाड़ कर सामने रखना चाहा है। जहाँ तक पात्रों के चरित्र-चित्रण का प्रश्न है लेखक अत्यन्त आदर्शोन्मुख हो उठा है। 'महाराज विक्रम' एवं 'राजश्री' का पारस्परिक प्रणय-व्यापार इस लोक-जगत् की वस्तु नहीं जान पड़ता। राजश्री का अपने पिता 'प्रसेनजित' का त्याग करना, विक्रम के विद्रोही-दल का नेतृत्व ग्रहण करना तथा अहिंसा के माध्यम से संग्राम में विजय की कामना करना आदि सभी ऐसे चित्रण हैं जो उसकी असाधारणता का परिचय देते हैं। इसकी अपेक्षा महाराज विक्रम का चरित्र मानवीय है।

उपन्यासकार ने दोनों के जीवन का जो अन्त दिखलाया है वह अत्यन्त आदर्शवादी है। आधुनिक अनेक लेखकों में ऐतिहासिक पात्रों के प्रणय-व्यापारों का अन्त ऐसा दिखलाने की परम्परा-सी चल पड़ी थी। जयशंकर प्रसाद के 'स्कन्दगुप्त' में 'देवसेना' और 'स्कन्द' का अन्त ऐसी प्रवृत्तियों का ज्वलन्त उदाहरण है। ऐसा लगता है कि लेखक ने इन स्रोतों से प्रेरणा ग्रहण की है। 'मुक्ति-दान' के पात्रों एवं परिस्थितियों के चित्रण से उपन्यास के ऐतिहासिक होने का भ्रम होता है और इसमें सन्देह नहीं कि बहुत-सी ऐसी घटनाओं का वर्णन हुआ है जिनकी संगति इतिहास से मिलाई जा सकती है। इस उपन्यास के अतिरिक्त हिन्दी-साहित्य में 'वैशाली की नगरवधू' तथा 'दिव्या' ऐसे उपन्यास उपलब्ध हैं जिनकी व्याख्या आधुनिक विकसित शासन-प्रणाली ('जनतंत्र') को दृष्टि में रखकर की गई है। 'मुक्ति-दान' में भी इसी जनतंत्रीय शासन-प्रणाली का समर्थन कुछ अंशों में जान पड़ता है। भले ही लेखक ने राजतंत्रीय शासन-प्रणाली के बीच नेताओं के मन में उठने वाले द्वन्द्व दिखलाये हैं। जैसा कि विक्रम स्वयं सोचता है कि 'ये प्रधान अमात्य और प्रजा-परिषद् के बड़े-बड़े नेता क्या हैं ? एक प्रकार से मेरे प्रतिद्वन्द्वी, मेरी सत्ता के विपक्षी, माना कि वे प्रजा के कानों में सुख समृद्धि का सुरीला गान गा-गा कर, राजस्ववाद के प्रति युगों से समर्पित सद्भावना को कुचलते हुए प्रजा-

राज्य स्थापित करने की डींग मार रहे हैं, पर क्या ये प्रजा के सामूहिक हितों के संरक्षक बनकर शक्ति का स्वपक्ष में प्रयोग नहीं कर रहे हैं ? क्या प्रजा ने स्वतन्त्र निर्वाचन-पद्धति द्वारा चुनकर इन विपक्षियों एवं नेताओं को अपना प्रतिनिधि चुना है, अथवा ये बलात् शक्ति को हथिया कर ही समस्त देश में अपने मुँह मियाँ-मिट्ठू बन रहे हैं ?' परन्तु इन मानसिक द्वन्द्वों के बावजूद भी वह इसे स्वीकार कर सकता है कि "मैं बातों के झगड़ों में न पड़कर आदर्श शासन प्रणाली को स्वीकार करता हूँ। ऐसा शासन जिससे प्रजा की भुखमरी और गरीबी दूर होती है, जो सम्पन्नता के साथ-साथ प्रजा के स्वास्थ्य, शिक्षा-दीक्षा एवं भौतिक उन्नतियों को प्रोत्साहन देता हो, जो प्रजा को संस्कृति एवं आध्यात्मिकता के उच्चस्तर पर बिठलाने वाला हो, वह चाहे एकतंत्रवाद हो चाहे प्रजातंत्रवाद मुझे पसन्द है, किन्तु मैं जानता हूँ कि आज की शोषित एवं जागरूक जनता प्रजातन्त्रवाद को ही पसन्द करती है" इस प्रकार के स्थलों से ऐसा जान पड़ता है कि लेखक के ऊपर वर्तमान-कालीन शासन-व्यवस्था का, जिसे 'जनतंत्र' कहते हैं, अत्यधिक प्रभाव है जिसका आरोप 'मुक्ति-दान' के कथानक पर लेखक ने किया है।

बीच-बीच में भावुकता से रंगे अनेक स्थल आये हैं जिनमें उलझकर पाठक यथार्थ और अयथार्थ की सीमा को भूल जाता है। सामान्यतः भारतीयों को भावुक प्रवृत्ति का कहा गया है। भावुकता मन की तरल दशा है, और एक गर्म देश के लोगों का भावुक होना स्वाभाविक है। इसी से हमें सहिष्णुता, स्निग्धता और सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि मिली है। यह उपन्यास ऐसी ही भावुकता से परिपूर्ण है, परन्तु ऐसा लगता है कि लेखक सतर्क है कि कहीं उसके काल्पनिक चित्र बिल्कुल यथार्थ न हो जायँ। इनका श्वेत पद्मा नामक एक मौलिक सामाजिक उपन्यास और उपलब्ध है।

राजेन्द्र यादव

नई पीढ़ी के उपन्यासकारों में श्री राजेन्द्र यादव ने अपना विशिष्ट स्थान बना लिया है। इनके अब तक 'प्रेत बोलते हैं', 'उखड़े हुए लोग', 'कुलटा', 'शह और मात', 'अन देखे अनजान पुल' और 'एक इंच मुस्कान' (लेखक की लेखिका पत्नी मन्नू भण्डारी इस उपन्यास की सह-लेखिका हैं) नाम से छः उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं।

राजेन्द्र यादव का 'प्रेत बोलते हैं' उपन्यास 'सारा आकाश' के नाम से सन् १९६० ई० में संशोधित रूप में प्रकाशित हुआ है। इसमें एक शिक्षित मध्य-वर्गीय नवयुवक को कथा-केन्द्र में रख कर मध्यवर्गीय-जीवन की विषमता का यथार्थ चित्र उपस्थित किया गया है। मध्यवर्गीय जीवन की घुटन-शील परिस्थितियों से उत्पन्न वितृष्णा का ही चित्रण करना लेखक को अभीष्ट नहीं रहा है बल्कि वह एक नए श्रेयस्कर सामाजिक

जीवन की कल्पना भी करता है और उसके उपन्यास का स्वर आशावादी हो जाता है। परिस्थितियों एवं वातावरणों को सजीवता प्रदान करने वाले पात्रों का चित्रण अत्यन्त सहज स्वाभाविक बन पड़ा है।

साम्यवाद की शोषण विरोधी नीति एवं सामान्य जन-हितकारी भावना से पूरित 'नखडे हुए लोग' उपन्यास अत्याधुनिक सामाजिक व्यवस्था तथा सामाजिक संबंधों का एक अत्यन्त सजीव यथार्थवादी और व्यंग्यात्मक चित्र है। साम्यवाद की अनुपस्थिति में प्रजातंत्रात्मक व्यवस्था किस प्रकार पूँजीवादिता का रूप ग्रहण कर सकती है, इसे लेखक ने खोल कर दिखाया है। आधुनिक एम० पी० और एम० एल० ए० किस प्रकार गरीब जनता का प्रतिनिधित्व मात्र करते हुए भी उनके खून-पसीने की कमाई हथियाकर पूँजीपति बन बैठे हैं; बाहरी वेश-भूषा, आचार-व्यवहार बातचीत आदि के आडम्बर का सहारा लेकर समाज को धोखा देने वाले गणराज्य के नेता स्वार्थ-साधन एवं काम की लोलुपता के पीछे पड़ कर भयानक दानवीय दुष्कृत्यों को करते समय किस प्रकार तनिक भी झिझक का अनुभव नहीं करते, आदि दृश्यों का विधान लेखक ने अपने प्रत्यक्ष अनुभव के बल पर किया है जो अत्यन्त हृदयग्राहक, भीषण एवं मार्मिक है। देशबन्धुजी एम० पी० उर्फ 'नेता भैया' उन महान् व्यक्तियों में से एक हैं जिनके पास बड़ी बड़ी मिलें हैं, जिनके पास मजदूरों के उत्तर के रूप में गोलियों की बौछारें हैं, जिनकी कामुक भावनाओं की पूर्ति के लिए ऐसे-ऐसे प्रकोष्ठ विद्यमान हैं जहाँ अबलाएँ जबर्दस्ती ठूँस दी जाती हैं, जो अपनी इस इच्छा की पूर्ति के लिए अपनी तथाकथित बहिन मायादेवी के पति को विष देता है, यहाँ तक कि उसकी पुत्री पद्मा पर भी शराब के नशे में बलात्कार करना चाहता है, जिसने जनता को धोखा देने के लिए महल का नाम, स्वदेश-महल रख छोड़ा है। गिरगिट की भाँति रंग बदलने वाला यह 'जनप्रिय' नायक भोली-भाली जनता का रक्त चूस कर भी उसका प्रतिनिधि बना बैठा है।

उपन्यास में मध्यम वर्ग के प्रतिनिधि हैं शरद, जया, सूरज और कपिल। शरद और जया का विवाह प्रेम-विवाह है। आधुनिक बदलते हुए सामाजिक संबंधों को लेखक ने बड़ी ही कुशलता से दिखाया है। जया शरद को आत्मसमर्पण के बाद भी 'दादा' जी कहती है क्योंकि 'दादा' कहने के ही कारण दोनों समाज में स्वच्छन्दतापूर्वक एक दूसरे से मिल सकते थे। 'दादा' या 'भाई' जैसे शब्द का मूल्य अब सामाजिक संबंधों के विषय में कोई मूल्य नहीं रखता। भाई-बहिन, चाचा-भतीजी बन कर समाज की हर सुविधाओं को हस्तगत कर लेना कितना प्रचलित है! समय ऐसा आ गया है जिसमें नाम और संबंध एक दूसरे की पर्यायवाचिता खो बैठे हैं, यहाँ तक कि उसके उल्लंघन में अब पश्चात्तापजन्य मानसिक क्लेश भी नहीं रह गया है, जैसे 'पति' के लिए 'दादा' शब्द का प्रयोग कोई बहुत मामूली चीज हो। जया और शरद 'नेताभैया'

के आश्वासन पर उनके 'स्वदेशमहल' में दाखिल होते हैं जहाँ उनकी सुननेवाला कोई नहीं, आश्वासन मात्र ही उनका सहारा है। वे दम्पति ऐसी जगह प्रवेश करते हैं जहाँ वास्तव में उखड़े हुए लोगों की सच्ची तसवीरें उन्हें देखने को मिलती हैं।

शरद और जया का संबंध विचारणीय है क्योंकि लेखक ने इस संबंध पर चर्चा भी अधिक की है और साथ ही साथ उसकी सहानुभूति भी इस संबंध पर बराबर बनी हुई है। शरद का संबंध वैसे कुछ विशेष जया के घर से है। वह जया का दादा बनकर उसके यहाँ प्रायः आया-जाया करता है। जया किसी स्कूल की मास्टरनी है। शरद की प्रकृति कुछ ऐसी है जिसे अजीब कहा जा सकता है। उनमें बात ही बात में प्रेम हो जाता है और जया अपना घर, अपनी नौकरी सब कुछ छोड़ कर उसके साथ भाग निकलने को प्रस्तुत हो जाती है और अंत में वे देशबन्धु जी के यहाँ दम्पति के रूप में दिखाई देते हैं। युद्धोत्तरकालीन पुरुष के बिगड़ते-बदलते-बनते संबंधों में इस संबन्ध को लेखक ने स्थान दिया है। यही नहीं, इसके साथ लेखक ने गहरी सहानुभूति भी प्रकट की है। यह तो मानना ही होगा कि साम्यवादी सामाजिक व्यवस्था का पोषक होने के कारण लेखक ने इस संबंध को मान्य ठहराया है। प्रेम-विवाह यहाँ अवश्य है, पर प्रेम-विवाह का रूप दूसरा भी हो सकता है जहाँ लड़की उड़ाने के स्थान पर शास्त्रीय विधि से भी विवाह हो सकता है। जो हो, इसका निर्णय एवं इस संबंध पर विचार स्वयं पाठक करेंगे।

दूसरा प्रमुख पात्र सूरज है। चरित्र की दृष्टि से सूरज ऐसा पात्र उपन्यास में दूसरा नहीं है। आजीवन परिस्थितियों से जूझता हुआ यह मनुष्य अदम्य उत्साही एवं कर्मठ है। साम्यवादी विचारधारा के पोषक के रूप में लेखक ने इसका निर्माण किया। 'कम्युनिस्ट' शब्द के उच्चारण के साथ ही साधारण लोगों के मस्तिष्क में जिस प्रकार के मानव के आकार-प्रकार की सृष्टि होती है सूरज ठीक वही है। उसके माँ बाप का पता नहीं, बचपन में पेट भरने के लिये उसने क्या-क्या नहीं किया। जेब काटी, कुलीगीरी की, बोझा उठाया, अखबार बेचे। धीरे-धीरे सामाजिक कुण्ठाओं ने उसके मस्तिष्क में घर कर लिया और स्वतः राजनीति के प्रति आकर्षित हो उठा। यह असफल प्रेमी संसार के सभी अनुभव प्राप्त कर चुका है। अन्त में जनता के हित के लिए अपनी रोटी पर भी लात मार देता है। उसे देशबन्धु का राई-रत्ती सब कुछ पता है, पर वह सामाजिक व्यवस्था से विवश है, निःसहाय है। उखड़े हुए लोगों का यह नेता है। शरद और जया के प्रति उसकी सच्ची सहानुभूति है, उसे साम्यवाद से सहानुभूति है क्योंकि उसे साम्यवादी स्त्री-पुरुष-संबन्ध से सहानुभूति है।

परदिन एक ऐसा पात्र है जो आज के मध्यम वर्ग का असली प्रतिनिधि कहा जा सकता है। ऐसे ही पात्रों के कारण सच्चे साम्यवाद एवं समान जनप्रेम की सृष्टि में

विलम्ब हो रहा है। उसके विचार प्रतिक्रियावादी अवश्य हैं, पर सर्वत्र उसका स्वार्थ प्रबल है। देशबन्धु को यह लाख गाली एक स्वर से दे सकता है, पर उनसे चिट्ठी लिखाने के लिये वह कुत्ते की भाँति उनके सामने दुम हिलाने लगता है। उसे नारी-स्वतन्त्रता-आन्दोलन से प्रेम अवश्य है, पर वह अपनी स्त्री के बारे में ऐसा नहीं सोच सकता। वह उसे सती-साध्वी, घर की चहारदीवारी में बन्द एक प्राचीन स्त्री के ही रूप में देखना चाहता है। ऐसे ही लोगों के कारण समाज के मूल परिवर्तन में बाधा उत्पन्न होती है।

माया देवी की उम्र चालीस से ऊपर है। उनकी एक जवान लड़की है, पर उनमें अभी सौन्दर्य और लोलुपता समान रूप से संजोये रखने की अतुल इच्छा वर्तमान है। एक प्रकार से वे 'नेता भैया' की रखेली ही हैं। कामुकता उनमें इतनी प्रबल है कि शरद को बेटा कहकर भी उसके साथ ऐसे अशोभनीय व्यवहार पर उतर आती हैं कि शरद को ही नहीं, पाठक को भी लज्जा का अनुभव होने लगता है।

निम्न वर्ग की स्थिति का चित्रण करते हुए भी लेखक ने उसमें किसी ऐसे पात्र का निर्माण नहीं किया और न उनकी पूरी विवेचना ही हो पाई है। साम्यवाद पर जो प्रतिक्रियावादी होने का दोष है, वह इस उपन्यास में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। 'नेता भैया' के कुकृत्यों में लेखक इतना अधिक संलग्न हो गया है कि मजदूरों की स्थिति, उनकी अवस्था आदि का चित्रण करने का अवसर ही उसके हाथ से निकल गया है। फिर भी स्थान-स्थान पर उनकी स्थिति का चित्र मिलता है। देशबन्धु अपने समस्त दोषों के उपरान्त भी जनता में कितना प्रभाव एवं आतंक बनाये हुए है, इसको जानने के लिये एक रिक्शे वाले की बात सुनिये—'हाँ जी, वो कोठी रही 'नेता भैया' की, वो, जिस पर झंडा लगा है, बड़ा लम्बा-चौड़ा कारबार है इनका, गाँव है, जमीन जैजात है, दो-दो मिलें हैं। पर साब आदमी भौत ही भले हैं, एकदम शरीफ। हमेशा मुस्कुराते ही रहते हैं, बिना हाथ जोड़े बात नहीं करते। तभी तो इतनी बरक्कत है....'' एक स्थान पर एक मजदूर की वाणी सुनिये—

'रोओ मत, रोओ मत। हमारी किस्मत में यही बदा है—यही लिखा है। जिन्दा रहोगे तो तुम्हारा खून मिलों में निचोड़ा जायगा, हम बॉयलरों में जल-जल कर मरेंगे और वैसे मरने से इनकार कर देंगे तो नतीजा सामने है। जब तक यह खद्दर के दूध के धुले चोगे पहने राक्षस तुम्हारी हमारी छातियों पर हैं, हमारी किस्मत यही है....।'

यहाँ तक तो हो गई विषय और चरित्र-वार्ता। अब रह गया उपन्यास का शिल्प। इस दृष्टि से लेखक ने एक नवीनता लाई है, इसे स्वीकार करना पड़ेगा। विभिन्न प्रकरणों का नामकरण लेखक ने इतना आकर्षक किया है कि पाठक का कौतूहल सदैव जाग्रत रहता है। 'हेड-टेल', 'तीन कोनों वाला रहस्य', 'कुर्सी घूमती है', 'इक्कुदाए

इश्क है' आदि इसके उदाहरण हैं। लेखक में स्वतंत्र चिंतन-शक्ति विद्यमान है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता; पर कभी-कभी यह निरर्थक-सा उबाने वाला प्रतीत होता है। वादविवाद के द्वारा लेखक ने लक्ष्य पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है जो प्रायः उबा देने वाला है। बीसों पृष्ठ तक दो व्यक्तियों का समाज सम्बन्धी विवाद बिना अरोचक हुए नहीं रह सकता। उपन्यास में सेक्स पर प्रायः अधिक जोर दिया गया है और उसके चित्रण में लेखक अधिक अनुराग प्रदर्शित करता है। लेकिन आधुनिक उपन्यासकारों की रुचि को देखते हुए यह अपराध उसी प्रकार क्षम्य है जैसे दादा को पति मान लेना आज के समाज में क्षम्य है। भाषा बोलचाल की हिन्दी-उर्दू-अंग्रेज़ी मिश्रित है, अतः शिथिलता नहीं आने पाई है। यथार्थवादी दृष्टिकोण भाषा में भी प्रकट दिखाई देता है।

इनका उपन्यास 'कुलटा' आत्म-कथात्मक शैली में लिखा गया है। इसमें मध्य-वर्गीय जीवन का प्रमुख रूप से चित्रण तो हुआ है पर शहरी जीवन की कृत्रिम जिन्दगी भी इस उपन्यास में देखने को मिल जाती है। आफिस में चलने वाले छोटे-बड़े कर्मचारियों के परस्पर कार्यकलाप एवं क्लब, रेसकोर्स आदि से सम्बन्धित आधुनिक मनोरंजनों के महत्त्व एवं कुपरिणामों का भी इसमें दिग्दर्शन कराया गया है। कथा कहने की तो अद्भुत शक्ति उपन्यासकार में है जिसका अच्छा परिचय उसने अपने सभी उपन्यासों में दिया है। इस उपन्यास में नाटकीय तत्वों का पर्याप्त समावेश पाया जाता है। पात्रों का स्वाभाविक चित्रण हुआ है। 'शह और मात' में उदय और सुजाता नामक दो पात्रों की प्रेम कहानी का बारीकी के साथ चित्रण किया गया है। 'अन देखे अनजान पुल' में एक कुरूप स्त्री की मानसिक गतिविधियों का उल्लेख किया गया है। यह मनोविश्लेषण बड़ा ही रोचक एवं मनोवैज्ञानिक है। नारी का रूप ही उसकी सबसे बड़ी सम्पत्ति है, इस उपन्यास की नायिका निन्नी जिस सम्पत्ति से वंचित है। दर्शन नामक व्यक्ति से वह प्रेम करने लग जाती है पर वह दूसरी स्त्री को पत्नी बना कर दाम्पत्य-सूत्र में बँध जाता है। इस प्रकार निन्नी के सारे सपने टूट जाते हैं और जब एक दिन अंधकार में भूल से 'बैजल' नामक व्यक्ति ने उसे अपनी प्रेमिका समझ कर चूम लिया तो निन्नी का सारा नारीत्व झनझना उठा और उसकी तृप्ति के लिए वह सवेग उद्यत हो गई। शिल्प की दृष्टि से यह उपन्यास अपेक्षाकृत अधिक आकर्षक एवं सुगठित है। कथा में स्वाभाविक प्रवाह है।

'एक इंच मुस्कान' राजेन्द्र यादव और उनकी सह-धर्मिणी श्रीमती मन्नू भण्डारी की एक ऐसी कृति है जिसे उपन्यास के क्षेत्र में एक प्रयोग के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। यद्यपि उपन्यास की सारी कथा प्रेम-कथा से ऊपर नहीं उठ पाई है, पर क्रम से लिखे गए दो लेखकों के अध्यायों में जो तारतम्य बैठाने की चेष्टा की गई है उससे

उपन्यासों के क्षेत्र में नई सम्भावनाओं का उदय तो हुआ है। अब तक पुरुष अथवा नारी लेखिकाएँ अकेले दोनों वर्गों के मनोव्यापार का चित्रण कल्पना के आधार पर कर लिया करते थे और करते हैं, जिन्हें अस्वाभाविक और अप्रामाणिक की संज्ञा दी जा सकती है। इस उपन्यास के पति-पत्नी लेखकों ने इस चुनौती को स्वीकार कर लिया है। एक सीमित दायरे में यदि इस प्रकार लोग ईमानदारी बर्तें तो प्रेम-कथाओं का निर्माण तो हो सकता है; पर जीवन के व्यापक क्षेत्रों की कल्पना दो व्यक्ति करें और उनमें एकरूपता भी हो, सम्भव नहीं। यह दूसरी बात है कि लिखने वाला एक ही व्यक्ति हो, पाठकों को आकर्षित करने के लिए किसी नारी का नाम सह-लेखिका के रूप में जोड़ ले। इस उपन्यास में लेखक और उस पर अनुरक्त लेखक से प्रेम करने वाली नारी की उदारता और संयत प्रेम-व्यापारों का वर्णन है। मन्नू भण्डारी द्वारा लिखे अध्याय अपेक्षाकृत सरस लगते हैं। लेखक द्वय को भी इस उपन्यास के एकनिष्ठ प्रभाव के प्रति सन्देह बना हुआ है और इसके लिए मन्नू भण्डारी को अन्त में बड़ी सफाई देनी पड़ा है। इस सिलसिले में कुछ व्यक्तिगत बातों का भी उन्होंने उल्लेख किया है जिसका इस उपन्यास से कोई मतलब नहीं है। फिर भी एक प्रयोग के रूप में इस उपन्यास का स्वागत किया जा सकता है और भविष्य में इसकी सफलता की प्रतीक्षा समीचीन है। अमर और अमला जो इस उपन्यास के पुरुष और नारी पात्र हैं उपन्यासकार द्वय की अनुभूतियों एवं अनुभवों का बड़ी सचाई के साथ वहन करते हैं।

नरेश मेहता

अपनी कतिपय विशेषताओं के कारण श्री नरेश मेहता ने नई पीढ़ी के उपन्यासकारों में अपना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया है। अबतक इन के 'डूबते मस्तूल','धूमकेतु: एक श्रुति', 'यह पथ बन्धु था', और 'दो एकांत' नाम से चार उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं। मेहता जी का डूबते मस्तूल मनोवैज्ञानिक शैली में लिखा एक सामाजिक यथार्थवादी उपन्यास है जिस में एक रूपगर्विता नारी रंजना को विभिन्न सामाजिक परिस्थितियों में रख कर समाज की नैतिक दुर्बलताओं की ओर संकेत किया गया है। नारी की यौनगत प्राचीन मान्यताओं मे निरंतर होने वाले परिवर्तनों का भी संकेत इस उपन्यास मे मिल जाता है। प्रयोग का विशेष आग्रह मेहता जी में देखने को मिलता है। इस उपन्यास में शिल्पगत प्रयोग के दर्शन हो जाते हैं। उपन्यास की सारी कथा एक रात की घटना को आधार बना कर कह दी जाती है। रूपगर्विता नारी रंजना अकलंक नामक एक अपरिचित व्यक्ति को अकलंक नामक अपने प्रेमी को समझ कर अन्य प्रेमियों से सम्बन्धित कथा सुना जाती है और उसे सुनना पड़ता है। उपन्यास में परिचित और अपरिचित का भ्रम अन्त तक बना रहा और वह तब स्पष्ट हुआ जब कि पत्र द्वारा भेद खुल जाता है। जिज्ञासापूर्ण करुण अन्त में मेहता जी को विशेष सफलत

मिली है। आत्मकथात्मक शैली में लिखे शिल्पगत प्रयोग के क्षेत्र में इस उपन्यास को महत्वपूर्ण स्थान दिया जा सकता है।

'धूमकेतु : एक श्रुति' बाल मनोविज्ञान से आरम्भ होकर मनोविश्लेषण के आधार पर उदय नामक एक व्यक्ति की चारित्रिक विशेषताओं का उद्घाटन करता है। इस प्रकार के उपन्यास प्रायः योनविकृतियों को चित्रित करते रह जाते हैं, पर मेहता जी ने समाज की ह्रासोन्मुखी परिस्थितियों का अत्यन्त यथार्थ चित्र भी प्रस्तुत किया है। आत्मकथात्मक शैली में लिखे गए इस उपन्यास में एक भी ऐसी सामाजिक परिस्थिति का उल्लेख नहीं किया गया है जिसका योग उदय के चरित्रनिर्माण में नहीं है। स्वाभाविक चरित्र चित्रण और यथार्थ वर्णन की ओर उपन्यासकार बराबर सजग रहा है, यही इस उपन्यास की सफलता है।

यह पथ बन्धु था

बीसवीं शती के पूर्वार्द्ध के भारतीय जन-जीवन में व्याप्त सामाजिक चेतना के सन्दर्भ में एक मध्यवर्गीय युवक के संघर्ष-रत जीवन की विफलताओं को इस उपन्यास में वाणी दी गई है। भारतीय इतिहास का यह ऐसा युग था जब कि राष्ट्रीय चेतना की लहर देश में उठने लगी थी और अभावग्रस्त शिक्षित मध्य वर्ग पूर्णतः उसकी लपेट में आ गया था। उपन्यास का नायक श्रीधर एक ऐसा ही व्यक्ति है जो अपने स्वाभिमान की रक्षा होते न देख कर अपना एकमात्र आर्थिक सहारा छोड़ बैठता है। अपनी पुस्तक में अंग्रेज सम्राट के प्रति अनावश्यक महत्व देने की अपेक्षा वह अपने अध्यापक पद का त्याग श्रेयस्कर समझता है जब कि उसके अभाव में उसे अपने परिवार तक को त्याग कर चला जाना पड़ा। युग की माँग पर अपने को बलि देने वाले आत्मबलिदानियों की कहानी का श्रीगणेश हो श्रीधर ऐसे जागरूक युवकों के त्याग से आरम्भ हुआ था।

श्रीधर उपन्यास का केवल प्रमुख पात्र ही नहीं है बल्कि उपन्यास में वर्णित समस्त घटनाओं एवं सूचनाओं के माध्यम का भी कार्य करता है। देखने में उपन्यास का आकार-प्रकार तो पर्याप्त समृद्ध है पर कथातत्व का अपेक्षाकृत अभाव ही देखने को मिलेगा। वर्णनबाहुल्य एवं प्रसंगों के अनावश्यक भराव से उपन्यास को आकार दिया गया है पर उपन्यासकार ने ऐसे प्रसंगों की योजना की है कि कहीं भी वर्णन नीरस नहीं होने पाया है। अपनी भटकान में श्रीधर जितने लोगों के सम्पर्क में आ पाया वे इस उपन्यास के बोलते चेहरे हैं जिनके माध्यम से तत्कालीन भारतीय समाज के विभिन्न स्तरों का स्पष्ट ज्ञान हो जाता है। चाहे वे स्वार्थलिप्त श्रीधर के भाई श्री वल्लभ और श्री मोहन हों अथवा शोषण करने वाले नेता-रूपधारी वकील पुस्तके साहब। आदर्शों को जीवन में उतारने के पूर्व कितनी विघ्न-बाधाएँ सहनी पड़ती हैं, उन सभी राष्ट्रीय बाधक तत्वों का समावेश इस उपन्यास में हो गया है। साथ ही क्रान्तिकारी विरान बाबू,

बंगाली लड़की रत्ना एवं मालिनी दीदी (वेश्या) ऐसे पात्रों के भी दर्शन इस उपन्यास में हो जाते हैं जिनके उत्सर्ग से ही हम आगे चलकर देश को स्वतन्त्र करा सके थे।

इस उपन्यास मे कुछ प्रसंग ऐसे आए हैं जिनके साथ सहमति प्रकट करना कठिन है। श्रीधर को छोड़कर सभी क्रियाशील युवक पात्र यौन सम्बन्धी कुण्ठाओं के शिकार नहीं बल्कि उसके सम्बन्ध मे अत्यन्त स्वच्छन्दतावादी विचार रखने वाले हैं। उनका मन जहाँ कहीं भी जिसपर रीझ जाता है वे प्रस्ताव करने से बाज नहीं आते और अतृप्त रह जाने पर भी मानसिक उत्पीडन के शिकार नहीं बनते। मालिनी जिसे वेश्या ही कहा जाएगा अपने प्रेमी सरदार से अनेक गुप्त रोगों को सहज ही प्राप्त कर लेती है। यह तथ्य क्रान्तिकारी विशन से अपरिचित नहीं है, वय में भी वह छोटा है और उसने उसे दीदी जैसा सम्मानित पद भी दे रखा है, पर मानसिक सन्तुलन खोकर विवाह का प्रस्ताव कर बैठना है जिसपर मालिनी को भी आश्चर्य हुआ। एक दीदी नहीं मिली तो क्या हुआ विशन को कमल दीदी तो मिल कर ही रही, भले ही उसने अपने पिता पुस्तके साहब के दबाव में आकर बाद में विशन को अभियोगी घोषित किया। उपन्यास के नायक श्रीधर को भी दीदी इन्दु उसकी सरस वृत्तियों को कम प्रभावित नहीं करती। यह दूसरी बात है कि इन्दु के विवाह हो जाने तथा विधवा होने पर काशी चले जाने और स्वभाव से श्रीधर के संकोची होने के कारण हृदय की बात होठों तक न आ सकी और किसी प्रकार के असंयत प्रस्ताव की नौबत नहीं आई जिसकी पूरी सम्भावना थी। रत्ना की काम भावना जैसे उसके जीवन की व्याप्ति नहीं, बल्कि सामाजिक आवश्यकता है जिसकी आवश्यकता क्रान्तिकारी होने के नाते उसने जीवनभर नहीं समझी। पर तद्विषयक खुलकर चर्चा करने में उसे किसी प्रकार की झिझक नहीं होती। यह संयोग ही था कि श्रीधर चाहते हुए भी रत्ना के लिए आगे हाथ नहीं बढ़ा सका। इन प्रसंगों को देखते हुए यह निष्कर्ष निकालना कठिन नहीं है कि अस्वाभाविक संयम के कारण अतृप्त काम भावना जब कुण्ठा का रूप धारण कर लेती है तो जीवन की सभी गतिविधि अव्यवस्थित हो जाती है अतः इससे बचने का एकमात्र उपाय है नर-नारी के परस्पर भावों का स्वच्छन्द आदान-प्रदान। यहीं पर दूसरा प्रश्न यह खड़ा हो जाता है कि उपन्यासकार सामाजिक मान्यताओं को अस्वीकार क्यों करना चाहता है। उपन्यास में आए प्रेम प्रसंगों की अनिवार्यता के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहना है पर उन्हें दीदी के साथ न लाया गया होता तो क्या कुछ बिगड़ जाता ? लगता है उपन्यासकार यह कहना चाहता है कि नारी-पुरुष के सभी सामाजिक नाते झूठे हैं, सत्य है तो केवल उसका यौन सम्बन्ध। इसे कौन नहीं मानता, पर समाज को अनियमित होने से बचाने के लिए ही तो सामाजिक सम्बन्धों का निर्माण किया गया है जिनकी अनिवार्यता आज भी समाप्त नहीं हुई है। मालिनी के सम्मुख विशन का प्रस्ताव तो केवल बकवास है। उससे न

तो किसी आदर्श की स्थापना हो पाती है और न तो देही की काम भावना की अनिवार्यता ही सिद्ध होती है। पूरे उपन्यास में इस प्रसंग की कोई आवश्यकता नहीं थी। उपन्यास की सारी कथा 'गोदान' के 'होरी' की भाँति 'श्रीधर' अपने साथ-साथ लेकर घूमता और उसकी दौड़ भी काफी लम्बी है जिससे यह उपन्यास अनेक खण्ड जीवन-वृत्तों का अलबम बन गया है। श्रीधर अपने आस-पास प्रभावशाली वातावरण के निर्माण में असफल रहा है परिणामतः सशक्त कथातत्व का इसमें अभाव है। श्रीधर का जीवन ही एक ऐसे शोषित समाज एवं राष्ट्रसेवी का जीवन है जो जगत के लिए मशाल बनकर तो आते हैं पर स्वयं अन्धेरे में उपेक्षित जीवन बिताने के लिए विवश कर दिए जाते हैं। भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का इतिहास ही न जाने कितने श्रीधर ऐसे अभागों की छाती पर लिखा गया है। उपन्यास का यह करुण प्रसंग है और इसका अन्त भी कारुणिक है।

सामाजिक प्रसंगों की चर्चा यद्यपि गौण रूप में ही हुई है, पर वे अत्यन्त स्वाभाविक एवं प्रभावोत्पादक बन पड़े हैं। श्रीधर की पत्नी 'सरो' की जीवन-गाथा एवं उसका मूक बलिदान सहृदय पाठक को द्रवित कर देता है। माता-पिता के सहज स्नेह एवं भाइयों के कपटपूर्ण स्वार्थपरक आचरण समाज की यथार्थ झाँकी प्रस्तुत करते हैं।

भाषा सम्बन्धी उपन्यासकार के प्रयोग, भाषा की एकरूपता को दृष्टिपथ में रखते हुए स्वस्थ नहीं कहे जा सकते। उन्हें भाषादोष के रूप में स्वीकार करना ही पड़ेगा। भाषा की अशुद्धियाँ तो उपन्यास में हैं ही।

'दो एकांत' मेहता जी का नवीनतम् उपन्यास है जिसमें उन्होंने विवेक और वनीरा नामक प्रमुख पात्रों के माध्यम से आधुनिक सामाजिक ढाँचे में उत्पन्न प्रेम-परक नवीन मानवीय मूल्यों का उद्घाटन किया है। अपने सभी उपन्यासों में मेहता जी ने कोई न कोई नवीन प्रयोग किया है जो इसमें भी वर्तमान है।

मोहन राकेश

अंधेरे बन्द कमरे

मोहन राकेश ने अपने इस उपन्यास में एक अकिंचन पत्रकार को कथा का केन्द्र-बिन्दु बनाया है। उपन्यास का अधिकांश भाग दिल्ली के दूतावास और सांस्कृतिक कार्यक्रमों से लेकर कनाटप्लेस तक सीमित है। प्रसंगतः लन्दन तथा अन्य कुछ विदेशी नगरों के भी वर्णन आ गए हैं। मधुसूदन, हरिवंश, जोवन भार्गव, नीलिमा, दफ्तरी, उसकी पत्नी ठकुराइन और मकान-मालिक बुड्ढा इबादत अली इस उपन्यास के प्रमुख पात्र हैं। शुक्ला, सरोज तथा सरिता हरिवंश की पत्नी नीलिमा की बहनें थीं। हरिवंश शुक्ला का ब्याह पत्रकार मधुसूदन से करना चाहता था पर नीलिमा पहले से

ही जीवन भार्गव को मैदान में ला चुकी थी। शुक्ला हरिवंश को बहुत मानती थी, वह उसकी इच्छाओं को ही आदेश समझती थी। भार्गव को चाहते हुए भी हरिवंश की इच्छाओं को आदर देने के लिए शुक्ला ने उससे मन फेर लिया। हरिवंश के लन्दन चले जाने और उसके नीलिमा को भी वही बुला लेने पर अकेली रह गई शुक्ला के जीवन में सुरजीत नामक एक युवक का प्रवेश हुआ। सुरजीत लम्पट भी था, पर उसकी बातों में आकर शुक्ला ने उससे गन्धर्व विवाह कर लिया। इधर मधुसूदन के जीवन में एक मिस सुषमा श्रीवास्तव आ धमकी, जो उसी पत्र में कार्य करती थी जिसके प्रति लोगों की धारणा अच्छी नहीं थी, पर मधुसूदन के प्रति उसका प्रेम स्वाभाविक था।

शिक्षित दम्पति के परस्पर व्यक्तित्व के स्वतंत्र विकास में आने वाली बाधाओं का चित्रण इस उपन्यास में किया गया है। नारी शिक्षा के सामाजिक महत्व को देखते हुए दाम्पत्यजीवन की नवीन सन्दर्भ में व्याख्या करनी पड़ेगी। पूर्व की भाँति शिक्षित नारी को चहारदीवारी के भीतर बन्द कर रखना न तो सम्भव है और न तो आवश्यक ही। वह अब दासी नहीं बल्कि जीवनयात्रा की हिस्सेदार बनकर समाज में अपना अधिकार माँग रही है। ऐसी स्थिति में पढ़ा-लिखा युवक यदि अपने दुराग्रहों से मुक्त होकर परिस्थितिजन्य नई मान्यताओं को स्वीकार नहीं कर लेता तो सुखी दाम्पत्य-जीवन की सम्भावनाएँ समाप्त हो जायेंगी। समाज के सामने आज यह एक बहुत बड़ी समस्या है जिसे उपन्यासकार ने उठाया है। नीलिमा अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व चाहती है, पर वह आवारा नहीं है जैसा कि लोग समझते हैं। उसका पति हरिवंश भी उसे गलत समझता है और उसका स्वतंत्र रूप से समाज में मिलना-जुलना उसे अच्छा नहीं लगता। अर्थव्यवस्था का अधिकारी आज भी पुरुष ही है और नारी की कुछ शारीरिक सीमाएँ भी हैं जिससे प्रतिद्वन्द्विता में वह पुरुष के सम्मुख मात खा जाती है। सारे विरोधों एवं संघर्षों के बावजूद नीलिमा को हरिवंश की इच्छाओं के सम्मुख आत्म समर्पण करना ही पड़ा। पर इसे हम प्राचीन मान्यताओं की विजय नहीं बल्कि नारी की परवशता एवं पुरुषवर्ग की ज्यादती ही मानेंगे क्योंकि नीलिमा अपेक्षाकृत सहानुभूति की पात्र अधिक बनती है। उपन्यासकार ने वर्तमान दिल्ली और उसमें साँस लेने वाले समाज का अध्ययन बड़े निकट से किया है। आज जो सांस्कृतिक कार्यक्रमों के नाम पर सामाजिक पापों को प्रश्रय मिल रहा है उसकी पोल इस उपन्यास में खोलकर रख दी गई है। शक्तिसम्पन्न पुरुष दिल्ली की अट्टालिकाओं में अजगर की भाँति बैठे हैं और वर्तमान सुख-सुविधाओं को प्राप्त करने के लिए सचेष्ट नारी सांस्कृतिक कार्यक्रमों के नाम पर अपने आप उन नारीभक्षी अजगरों के पास पहुँचकर अपना सतीत्व नष्ट कर रही है, इसका सफल उद्घाटन 'अँधेरे बन्द कमरे' में हुआ है। दिल्ली की शिक्षित नारी प्रलोभनों का शिकार हो रही है जिससे लाभ उठाने में विदेशी

दूतावास नहीं चूकते। नारियों को वे अपने चंगुल में किस प्रकार फँसाते हैं, उपन्यासकार ने उनका सटीक वर्णन किया है।

आधुनिक साज-सज्जाओं से युक्त नई दिल्ली के चौराहों की अपेक्षा गलियों की सड़ाध में उपन्यासकार का मन विशेष रमा है। काठबाजार का बड़ा ही चित्रमय वर्णन इस उपन्यास में हुआ है। यह काठबाजार दिल्ली के लिए कलंक है जहाँ चवन्नी और अठन्नी के मूल्य पर वेश्याओं का व्यापार होता है। कनाट प्लेस से टहलकर लौटने वाले बाबू जिसमें जाकर अपने पशु को सन्तुष्ट करते हैं। ठकुराइन इस उपन्यास का अत्यन्त जीवन्त पात्र है तथा उसके मुहल्ले में रहने वाले मकान-मालिक मियाँ इबादत अली और उसकी लड़की खुरशीद का बड़ा सजीव चित्रण उपन्यासकार ने किया है। इबादत अली कभी-कभी आधीरात को ही उठकर सितार बजाने लग जाता था।

अन्त तक अहम् का शिकार लेखक पति अपना उपन्यास पूरा नहीं कर पाता और उसकी पत्नी स्वच्छन्द होकर अपने गुणों का विकास भी नहीं कर पाती। यह दम्पति असफल मानसिक ग्रन्थियों से युक्त भारतीय मध्यवर्गीय समाज का प्रतिनिधि है। अपनी सीमाओं के कारण 'अंधेरे बन्द कमरे' से निकल पाना उसके लिए कठिन हो गया है। केवल छटपटाहट उसके हाथ लग रही है। उपन्यास का अन्त कहानी के रूप में हुआ है। मधुसूदन और सुषमा के सम्बन्ध में पाठक को अलग से सोचना पड़ेगा। अनावश्यक भराव से उपन्यासकार यदि अपनी इस कृति को बचा ले गया होता तो, यह और कलात्मक हो पाता।

अमर बहादुर सिंह 'अमरेश'

'राजकलश', 'राणा वेना माधव, 'हिना के हाथ' और 'प्रवीन राय' अमरेश जी के सभी उपन्यास ऐतिहासिक सन्दर्भ में लिखे गए हैं। अमरेश जी के उपन्यासों को पढ़ने पर ऐसा लगता है कि उनकी प्रवृत्ति ऐतिहासिक तथ्यों की अपेक्षा जनश्रुतियों को विषय के रूप में अपनाने की ओर विशेष रही है। राजकलश और राणा वेना माधव दोनों उपन्यासों में बैसवारा (राय बरेली) क्षेत्र के प्रति गहरी आस्था व्यक्त की गई है। अन्य उपन्यासों की अपेक्षा राणा वेना माधव द्वारा चित्रित काल निकट का है। सन् १८५७ का भारतीय स्वतंत्रता संग्राम अवध के इलाके में किस प्रकार लड़ा गया तथा वीर राणा वेना माधव ने किस प्रकार इसमें अपना योगदान दिया यही इस उपन्यास का प्रमुख प्रतिपाद्य है। 'हिना के हाथ' जो अपने लघुकाय में ही प्रकाशित हुआ है, शाहजहाँ-कालीन सामाजिक एवं राजनैतिक परिस्थितियों पर प्रकाश डालता है। मुगल सम्राटों के अन्तःपुर में किस प्रकार की प्रेमलीलाएँ चला करती थी और यदा कदा किस प्रकार हिन्दू सामंत भी उस लीला के केन्द्र बिन्दु बन जाया करते थे आदि प्रसंगों का अत्यन्त मनोहारी चित्र इस उपन्यास में उतारा

गया है। अमरेश जी कल्पना और मनोरंजक शैली के धनी कलाकार हैं जिससे इनके उपन्यासों में पाठक का मन खूब रमता है। यदि वे अपनी साधना को अध्ययन का बल प्रदान कर देंगे तो इसमें सन्देह नहीं कि भविष्य में और भी गम्भीर साहित्यिक, ऐतिहासिक उपन्यासों की सृष्टि कर सकेंगे। राजकलश में उन्होंने थोड़ा श्रम किया अवश्य है, पर अधिक की अपेक्षा है। इस दृष्टि से 'प्रवीन राय' को विशेष महत्व दिया जा सकता है, पर यह उपन्यासकार की मंजिल नहीं बल्कि उसकी साधना का सोपान है।

'राजकलश'

इस उपन्यास का कथानक भारतीय इतिहास के उस परिवेश में स्थित है, जहाँ तथ्यात्मक ज्ञान-ज्योति की क्षीण रेखा ही दृश्य है। इन ज्योति-रेखाओं को पुंजीभूत कर उस प्रकाश में कतिपय मानव-जीवन के अनुराग विराग के उत्थान-पतन के साथ तत्कालीन सामाजिक और राजनैतिक स्थिति का दिग्दर्शन कराना ही उपन्यासकार का लक्ष्य है। मुख्यतः उपन्यास का कथानक 'डाल बाल' सम्बन्धी लोकप्रचलित जन-श्रुतियों पर ही आधृत है। इस की घटना भारतीय इतिहास की मुख्य धारा से नहीं उसके एक तरंग मात्र से सम्बद्ध है। उपन्यासकार की भाँति हम इस घटना को 'महान ऐतिहासिक घटना' नहीं मान सकते, क्योंकि भारतीय इतिहास में इसका तात्कालिक या दूरगामी प्रभाव नहीं दिखाई पड़ता। उपन्यास में इतिहास गौण ही है। उपन्यासकार के ही शब्दों में राजकलश डल गढ़ के अन्तिम राजा (डालदेव) के अन्तिम प्रेम एवं प्रेम की अन्तिम होली का प्रतीक है।" डालदेव और सलमा के प्रेम तत्व ने इसे ऐतिहासिक रोमान्स-सा बना दिया है।

उपन्यास के मुख्य पुरुष पात्र हैं—डालदेव, बलराज, देवन, साबर सैयद, सलीम और शातिर आदि तथा नारी पात्रों में सलमा, कचुकी, साविनी, श्यामा और वसुमती आदि प्रमुख हैं। उपन्यास के नायक डालदेव का चरित्र सीधा, गतिहीन, एक रूप और एक रस आदि से अन्त तक है। वह प्रेमी नहीं रूप लोभी है। वह वीर है किन्तु बुद्धिमान नहीं। कादम्ब और कामिनी की कामना ही उसमें प्रबल है। उपन्यास की नायिका सलमा उन सुन्दरियों में से है जिनकी सौन्दर्य-वेदी पर प्रायः अनेक साम्राज्यों और सम्राटों की आहुति हुई है। वह रूपगर्विता कामिनी है जो कंचुकी में कटार रखती है तो सीने में दिल भी। उसके चरित्र का विकास मनोवैज्ञानिक द्वन्द्वों के बीच हुआ है जिससे अधिक आकर्षक हो गई है। अन्य नारी पात्रों में कंचुकी का चरित्र अधिक आकर्षक है।

उपन्यास में चित्रित समाज हिन्दू और मुसलमान दोनों जातियों के चारित्रिक पतन और सास्कृतिक ह्रास का द्योतक है। मद्यपान दोनों समाज में खुलकर होता दिखाई देता

है। सुरा के हौज में तैरते-तैरते सारा डाल मऊ डालदेव के साथ डूब गया, जो फिर तैर न सका। बाबर सैयद के यहाँ भी कुरान की हिदायत के खिलाफ शराब का दौरा चलता है। हिन्दू समाज में बहुविवाह की प्रथा प्रचलित थी। समाज मे तंत्र साधना का भी प्रभाव स्पष्ट है।

उपन्यास में यत्र तत्र नारी धर्म पर विचार किया गया है; किन्तु उसमें वैचारिक भूमिका सघन नहीं है। लेखक ने लिखा है "जो पुरुष का अधर्म है वही नारी का धर्म है।" दोनो के धर्म अलग-अलग हैं, एक का अधर्म दूसरे का धर्म कैसे है ?

उपन्यास के कथानक का काल चौदहवीं शती का है जिस समय बन्दूक और तोप का प्रयोग कालदोष माना जायेगा।

उपन्यास की भाषा पात्रानुकूल सरल और तथ्यात्मक अधिक रागात्मक कम है। इस मे प्रयुक्त लोकगीत आधुनिक लगते हैं। अन्त तक इस उपन्यास की मनोरंजकता बनी रहती है, यही इसकी सफलता का रहस्य है।

'प्रवीनराय'

ओरछा नरेश नरेन्द्र इन्द्रजीत सिंह के सुरेन्द्रीय अखाड़े की एक कमनीय काव्य-प्रवीणा, लानेयी कामिनी प्रवीनराय ने अनजान में ही एक दिन अपने मानस काव्य-गुरु रबारी कवि केशवदास के वृद्धत्व पर व्यंग्य करते हुए उन्हें 'बाबा' सम्बोधित कर मन किया। युवक-हृदय केशव एक चन्द्रवदनी मृगलोचनी युवती से इस सम्बोधन के ये तैयार न थे। उनके दिल और देह में आग लग गई। वे दरबार से उठकर बाहर ले गये। दूसरे दिन प्रवीनराय को जब ज्ञात हुआ कि उसके उपहासके आलम्बन शवदास ही थे तो वह गुरुवर से क्षमा-याचना के लिये बेचैन हो गई। अनायास एक त राजमार्ग पर अवसर पा प्रवीनराय ने आचार्य के चरणों से लिपट कर क्षमा याचना । और याचना की आचार्य के आचरणो मे बैठकर काव्य-शिक्षा-ग्रहण के अधिकार । आचार्य ने एवमस्तु कहा। वृद्ध आचार्य ने युवती को काव्य शिक्षा देने का वचन दिया किन्तु घर पर आकर शान्तचित्त न रह सके। प्रत्यक्ष और कल्पना लोक प्रवीनराय ही दृष्टिगत हुई। रातभर की बेचैनी में ही उन्होंने 'कविप्रिया' की रचना । जिसको प्रातःकाल प्रवीनराय को दे दिया।

इन्द्रजीत सिंह के अखाड़े में कामिनियो की कला और कला-क्रीड़ा, आनन्द सागर तरंगायित होना और इन्द्रजीत सिंह का उसमें नखशिख डूबकर तैरना, और प्रवीन य से यौवनसुलभ साहचर्यगत प्रेम का दिनोदिन वृद्धिमान होना चल रहा था। दर-र में प्रवीनराय इन्द्रजीत सिंह के प्रेम और केशव के काव्य का आलम्बन थी।

पद्मिनी प्रवीनराय की सौन्दर्य-सुगन्धि लोक-चर्चा के गन्धवाह द्वारा दिल्लीश्वर न्दर्य-मधुप अकबर तक पहुँची। रहीम की सलाह से अकबर ने राजपूत सरदार

माधवसिंह से पत्र भेजकर प्रवीनराय को दिल्ली-दरबार की सेवा में भेजने का आदे दिया। मान की शान मे इन्द्रजीतसिंह ने आज्ञापालन से इन्कार किया। कि दूसरी बार एक करोड़ हर्जाने के साथ जब प्रवीनराय के डोले की दिल्ली दरबार माँग हुई तो ओरछा के राजा और प्रजा का दिल दहल गया। रंग में भंग हुआ महँकते सद्यःस्नात कमल दलों पर तुषारपात हुआ। अन्त में केशवदास के साथ शेरसि के संरक्षण में स्वेच्छया प्रवीनराय दिल्ली गई।

अकबर के दरबार मे धाक्प्रवीणा प्रवीनराय उपस्थित हुई। प्रथम दिन प्रवीणा के वाक्चातुर्य और कवित्वशक्ति पर मुग्ध हो अकबर ने एक करोड़ के हर्जाने को माफ कर दिया। लेकिन प्रवीनराय की लालसा शेष थी। दूसरे साक्षात्कार मे जब अकबर को प्रवीनराय के पातिव्रत्य और स्वकीयत्व का विश्वास हो गया तो उसने उसे सादर ओरछा लौटने का प्रबन्ध किया। अकबर भ्रमवश पतिव्रता प्रवीनराय को वेश्या मान बैठा था। प्रवीनराय लौट आयी। दो वियुक्त संयुक्त हो गये। दोनो मिलकर एक हो गये—लहर और धारा की भाँति।

इस मुख्य कथा के बीच-बीच में शेरसिंह और मीनाक्षी तथा सलीम और मेहरुन्निसा की लघु प्रेमगाथाएँ हैं।

उपन्यास के पात्र हैं प्रवीनराय, इन्द्रजीत सिंह, केशवदास, अकबर और रहीम। उपन्यास की नायिका और उपन्यास का एकमात्र जीवन्त पात्र प्रवीनराय के चरित्रांकन का आधार जनश्रुतियाँ ही हैं। उपन्यासकार ने प्रवीन सम्बन्धी प्रचलित सभी जनश्रुतियों को शृंखलाबद्ध कर उसे मधुकर शाह और एक लोहारिन की जारज सन्तान बताया है जो वेश्या द्वारा पालित हो बचपन में हो इन्द्रजीत सिंह के दरबाराश्रित हुई। वह अनिंद्य सुन्दरी-पद्मिनी काव्यप्रवीणा अति नागरी नारी थी जिसका इन्द्रजीत सिंह से ऐकांतिक सच्चा स्वकीया प्रेम था। अपने प्रेम की पवित्रता को उसने अकबर के दरबार में सत्य सिद्ध कर दिया।

केशवदास का चरित्र उपन्यास में अधिक विकसित नहीं हो पाया है। उनकी दरबारी शृंगारिक अलंकारिक मनोवृत्तियो का ही उद्घाटन हुआ है। अकबर का भी चरित्र ऐतिहासिक कम लोक-कथाश्रित अधिक है। लोकविश्रुत विनोदी बीरबल भी यहाँ अपने परिचित रूप में ही उपस्थित हैं। दरबार की पहेली तथा 'घोड़े का पयखाना' इन दो प्रसंगों में उनके विनोदी स्वभाव की झाँकी मिलती है।

उपन्यासकार ने उपन्यास की भूमिका में इसकी ऐतिहासिकता की रक्षा की घोषणा की है; किन्तु उपन्यास ऐतिहासिक कल्पना मात्र ही बन पाया है। ऐतिहासिक चरित्र भी अनैतिहासिक परिवेश में ही उपस्थित है। सत्य ही लेखक ने स्वीकार किया है कि उपन्यास लोककथाश्रित ही अधिक है। लेखक ने जनश्रुतियों में आवश्यकतानुसार

अपनी कल्पना के सहारे कुछ परिवर्तन किया है। केशव का प्रसिद्ध दोहा 'केशव केसन अस करो''''' को इन्होंने पनघट पर न मानकर दरबार मे माना है जो उपन्यास के लिये तो उपयुक्त है किन्तु पाठक की बुद्धि को संतुष्ट नही कर पाता। दूसरे एक राय थी केशव की रचना 'रामचन्द्रिका' मानी जाती है न कि 'कविप्रिया' जैसा कि इन्होंने माना है।

प्रायः हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यासो मे दिव्या, वाणभट्ट की आत्मकथा, आदि में नारी विषयक जिस प्रकार के शाश्वत सामाजिक नैतिक प्रश्नो को उठाया गया है इस उपन्यास मे वैसा कोई प्रयास नहीं है। इसलिये उपन्यास केवल मनोरंजक ही बन पाया है विचारोत्तेजक नही। इसमे मन रमता है लेकिन कुछ प्राप्त नही करता। लेखक ने एक प्रश्न लिया है कि क्या एक वेश्या नारी नहीं होती? लेखक का ही प्रश्नोत्तर है अगर उसे नारी धर्म का ज्ञान हो तो वह गंगा की तरह पावन हो सकती है। वास्तव में नारी धर्म का ज्ञान ही पर्याप्त नही है आचरण भी चाहिये। यदि ऐसा मान लिया जाय कि प्रवीनराय वेश्या होती हुई भी आदर्श नारी धर्म का ज्ञान ही नही रखती आचरण भी करती है तो कठिनाई यह है कि लेखक उसे वेश्या नहीं मानता। उपन्यास में प्रायः लेखक ने नारी को रूप की जलती हुई मशाल ही माना है। उसमें शीतलता नही दाहकता ही है—यह रीतिकालीन मनोवृत्ति तो हो सकती है लेकिन आधुनिक नही। इन्द्रजीत सिंह प्रवीनराय संवाद में जो नारी की उत्तम-मध्यम दो कोटियाँ हैं उनके लक्षण तुलसीदास जी की इन चौपाइयों के अनुवाद मात्र हैं—

उत्तम के अस बस मन माही। सपने आन पुरुष जग नाहीं॥
मध्यम पर पति देखै कैसे। भ्राता पिता पुत्र निज जैसे॥

उपन्यास में फ्रायड के इस सिद्धान्त का प्रभाव स्पष्ट है कि कला का उत्स प्रसुप्त दमित वासनाओं में ही है। इन्द्रजीत सिंह के लिये उपन्यासकार लिखता है "यौवन की उद्दाम दोपहरी मे प्रसुप्त वासना ने कला और सौन्दर्य का सहारा लिया।"

उपन्यास में कुछ खटकने वाली बातें यो हैं जैसे एक स्थल पर प्रवीनराय केशवदास से कहती है "''''आपको अपना काव्यगुरु उसी प्रकार मानती हूं जैसे—संत कबीर ने रामदास अथवा एकलव्य ने द्रोणाचार्य को माना था।" वास्तव में संत कबीर ने किसी रामदास को अपना गुरु नहीं माना था, हाँ रामानन्द को अवश्य माना था। रामानन्द रामदास कैसे बन गये? शायद प्रेस की कृपा से या लेखक की। दूसरे हिन्दी साहित्य के इतिहास तथा केशव के अन्तर्साक्ष्य के आधार पर 'रसिकप्रिया' की रचना सम्वत् १६४८ में 'कविप्रिया' की १६५८ में और इसके चार महीने पश्चात् 'रामचन्द्रिका की रचना हुई जबकि लेखक ने 'कविप्रिया' को 'रामचन्द्रिका' से परवर्ती माना है।

उपन्यास और उपन्यासकार की सफलता का रहस्य है उपन्यास भर में पात्रों की [मुगलकालीन शृंगारी मनोवृत्ति तथा दरबारी वातावरण को सुरक्षित रखना। उपन्यास की काव्यात्मक भाषा मूर्तिमती कविता कामिनी प्रवीनराय के चरित्रांकन में काफी सीमा तक सफल हुई है। इन्द्रजीत सिंह के कवि कामिनी और कलामय दरबार के संवादों की भाषा कभी-कभी पद्यात्मक हो गई है जो बहुत अनुचित नहीं लगता। उपन्यास का आकर्षण विषय और विचार में नहीं शैली में ही है।

यद्यपि उपन्यास आधुनिक नहीं बन पाया है न भावबाध, विचार या अनुभूति की दृष्टि से और भाषा की दृष्टि से ही किन्तु लेखक का मुगलकालीन भारत के सामन्ती दरबारी सभ्यता और संस्कृति के सीमित उद्घाटन का यह प्रयास श्लाघ्य है।

सरस्वती सरन 'कैफ'

ऊँची नीची राहें

'ऊँची नीची राहें' एक साम्यवादी कार्यकर्ता के प्रतीक 'रमानाथ' के जीवन-दर्शन, उसकी मान्यताओं, उसके आचार-विचार, रहन-सहन, एवं उसके व्यक्तित्व का वास्तविक चित्र है। लेखक ने साम्यवादी कार्यकर्त्ताओं के वास्तविक जीवन को निकट से देखा है। रमानाथ समाज का ठुकराया हुआ गरीब, पर उत्साही नवयुवक है। वह परिस्थितियों से जूझना जानता है, अपने सिद्धान्त के लिए अपने दल की उपेक्षा सहते हुए भी सतत कार्य करने के लिए तत्पर है, पर यदि कहीं उसे विवशता मिलती है तो उसकी सेक्स की भावना के सम्मुख। लेखक ने उसके चरित्र के इसी पहलू पर अधिक प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है जिसे वास्तव में एक साम्यवादी विशेष महत्त्व नहीं देता। उसका सारा जीवन रोमांस की घटनाओं पर ही आधारित है। हम इसे अवश्य स्वीकार करते हैं कि मार्क्सवाद में सेक्स सम्बन्धी मान्यताएँ यथावत चित्रित हैं पर लेखक ने पाठकों को आकर्षित करने के लिए सर्वत्र रमानाथ का जीवन इसी एक समस्या के साथ बाँध-सा दिया है। शायद लेखक ने यह अनुमान लगाया है कि उपन्यास भर में चार-छः बार रति-क्रिया का प्रदर्शन कराके पाठकों के मन को जीत लेगा। इन्हीं की नहीं, प्रायः आज के सभी सस्ते उपन्यासकारों की ऐसी ही स्थिति है।

सुषमा के चरित्र को लेकर लेखक ने जो खिलवाड़ उपस्थित किया है वह अत्यन्त दयनीय है। उसके आरम्भिक रूप को देखते हुए पीछे के नग्न रोमांस की तुलना करके उपन्यास और लेखक दोनों के प्रति मन खिन्न हो उठता है। यथार्थवाद के नाम पर और मार्क्सवाद के दर्शन की दुहाई देकर भारत की आत्मा को लेखक ने जिस प्रकार नीचे गिराया है वह निन्दनीय है। लेखक का दावा है कि अपनी कमजोरियों को छिपा कर हम चाहे कुछ समय के लिए वाहवाही लूट लें, लेकिन ठोस सामाजिक परिवर्तन

अपनी कमजोरियाँ खुले रूप में ही मानने से, स्पष्ट और ईमानदारी की बात कहने और निर्भीक रूप से कार्य करने से ही हो सकता है। परन्तु हमारे मन में यह सवाल उत्पन्न हो जाता है कि निर्भीक रूप से कार्य करने का क्या तात्पर्य है? क्या निर्भीकता का तात्पर्य यही है कि शराब पीकर वेश्या के कोठे पर लड़ाई करे, पत्नी रहते हुए भी विधवा के साथ रति-क्रीडा में संलग्न हो तथा दिन-दहाड़े नर्स को खींच कर उसका मुँह चूम ले?

हम इसे अवश्य स्वीकार करेंगे कि लेखक ने जिस चरित्र का निर्माण किया है वह यथार्थवादी है, पर यथार्थ के नाम पर भीतर की वीभत्सता को ही सम्मुख लाना उपन्यास का कर्त्तव्य नहीं रह जाता। लेखक का दावा है कि निरुद्देश्य साहित्य सर्जन करना उसका कार्य नहीं है। हम इसे स्वीकार करते हैं कि उपन्यास में उद्देश्य कुछ अवश्य है, पर वह समाज के हित के लिए है अथवा अहित के लिए, इसका निर्णय स्वयं पाठक उपन्यास पढ कर कर लेंगे।

भूख और तृप्ति

कैफ जी उर्दू के भी एक प्रतिष्ठित साहित्यकार रहे हैं, अतः भाषा पर ठीक प्रेमचन्द जी की तरह अधिकार है। उपन्यास का प्रत्येक पात्र अपनी ही भाषा मे बोलता है जिससे पात्रों के व्यक्तित्व की अभिव्यञ्जना में बड़ी ही सहायता मिलती है। वैसे इस उपन्यास के प्रत्येक पात्र के चरित्र की अभिव्यंजना में लेखक का दृष्टिकोण मनोविज्ञान से पूर्णरूपेण प्रभावित है। प्रियम्वदा, श्याममनोहर, प्रकाश और डाली को जिस मनोवैज्ञानिक परिस्थितियों में उपन्यासकार ने चित्रित किया है वे इस बात के द्योतक हैं कि उन्हें एक सफल औपन्यासिक प्रतिभा मिली है। उपन्यास में प्रासंगिक घटनाएं मुख्य कथानक में बड़ी कुशलता पूर्वक गूँथी गयी हैं। ये घटनाएँ १६३० तक की राजनीतिक गतिविधि का पूर्णरूपेण प्रतिनिधित्व करती हैं। नमक सत्याग्रह, मुस्लिम लीग की साम्प्रदायिक नीति, जगह-जगह साम्प्रदायिक दंगे, हिन्दू मुसलमानों का पारस्परिक वैमनस्य, कम्युनिस्टों की राजनीतिक गतिविधि तथा विभाजन के फलस्वरूप उत्पन्न शरणार्थी समस्या, इन सबका अत्यन्त ही सजीव चित्र इस उपन्यास में लेखक ने उपस्थित किया है। निःसन्देह लेखक ने गत तीन दशकों की घटनाओं को अत्यन्त समीप से, सूक्ष्म दृष्टि से देखा है।

उपन्यास के अन्तर्गत प्रियम्वदा, श्याममनोहर, डाली और प्रकाश का व्यक्तित्व अत्यन्त ही मनोवैज्ञानिक एवं प्रभावोत्पादक ढंग से अभिव्यंजित हुआ है। वैसे उपन्यास के पात्रों के सम्बन्ध में कहा गया लेखक का कथन कि इसके प्रत्येक पात्र या अपनी साधारणता के बावजूद एक ठोस और अलग-अलग व्यक्तित्व है, यदि शत-प्रतिशत नहीं तो पर्याप्त मात्रा में सार्थक सिद्ध होता है। प्रियम्वदा एक ऐसी नारी है जो

जीवन बिताने के लिए एक आधार की आकांक्षा हृदय में सँजोये रहती है पर उसे कोई आधार नहीं मिलता जो मिलते भी हैं वे स्थायी नहीं होते। परिस्थितियाँ उसम सभी आधार एक के बाद एक छीन लेती हैं। उसकी अभिलाषाओं की भूख का तृप्ति अत्यन्त मार्मिक एवं मनोवैज्ञानिक ढंग से होती है। डाली का व्यक्तित्व भी लेखक ने भलीभांति उभारा है। वह एक ऐसी नारी है जिसमें आत्म-समर्पण कूट-कूट कर भरा है। श्याममनोहर के इच्छानुसार वह पहले उसके साथ दाम्पत्य-जीवन व्यतीत करने के लिए पूर्णरूपेण प्रस्तुत हो जाती है पर उसके आदेश पर ब्राउन के साथ वैवाहिक सूत्र में आबद्ध होने से वह जरा भी नहीं हिचकती। श्याममनोहर के इस कथन में डाली का पूरा व्यक्तित्व उभार दिया गया है—'नारी की सार्थकता केवल पुरुष को 'इम्प्रेस' करने में नहीं है। उसका असली काम पुरुष को चकाचौंध करना नहीं, उसे आकृष्ट करना और उसके जीवन को मधुर बनाना है। आदमी की चकाचौंध होने की प्रवृत्ति ने उसकी कल्पना का सहारा लेकर अनगिनित देवी-देवताओं की सृष्टि कर डाली है। लेकिन जिन्दगी को केवल देवी-देवताओं के सहारे तो नहीं काटा जा सकता, उसे तो ठोस आधार चाहिए।

निश्चय ही उपन्यास अपने आप में सुन्दर बन पड़ा है, पर जिस उद्देश्य को लेकर लेखक ने उपन्यास लिखा है उसकी पूर्ति कहाँ तक हो सकी है इसे पाठक स्वयं समझ सकेंगे।

भैरवप्रसाद गुप्त

(सत्ती मैया का चौरा)

'मशाल', 'गंगा मैया', 'जंजीरें' और 'नया आदमी' आदि उपन्यासों के यशस्वी लेखक श्री भैरवप्रसाद गुप्त का बृहद् उपन्यास 'सत्ती मैया का चौरा' सन् १९५९ ई० में प्रकाशित हुआ। प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासकार कलात्मकता की ओर अधिक आकर्षित हुए थे जिससे अनावश्यक विस्तार देने की ओर से इनकी प्रवृत्ति कुछ हट-सी गई थी, पर कुछ उपन्यासकारों में इसकी भयंकर प्रतिक्रिया लक्षित हुई है और परिणाम स्वरूप कुछ भारी पोथे देखने में आये हैं। उदाहरण स्वरूप अमृतलाल नागर, यशपाल, भगवतीचरण वर्मा, प्रतापनारायण श्रीवास्तव तथा भैरवप्रसाद गुप्त आदि के अन्तिम खेवे के उपन्यासों को देखा जा सकता है। मेरे कहने का यह तात्पर्य नहीं कि इन उपन्यासकारों में कलात्मकता का अभाव है, पर इतना अवश्य है कि इन बृहत्काय उपन्यासों में उनकी उस प्रौढ़ कला के दर्शन नहीं होते जिसका परिचय उन्होंने अपने पूर्ववर्ती उपन्यासों में दिये थे। भैरवप्रसाद गुप्त का 'सत्ती मैया का चौरा' ७४३ पृष्ठों में बड़े सज-धज के साथ निकला है।

अधिकाश हिन्दी उपन्यासो में राजनीतिक पार्टियो का स्वरूप लगभग एक-सा ही होता है जो जीवन की वास्तविकता से बहुत दूर होता है किन्तु उसे भ्रमवश पाठक औपन्यासिक यथार्थ मान लेते हैं। 'सत्ती मैया का चौरा' निश्चित ही तथाकथित उपन्यासो से भिन्न है। इस उपन्यास में वर्णित विभिन्न पार्टियो का रूप हिन्दी के अन्य उपन्यासो से अलग है। लगता है उपन्यासकार का जीवन बहुत अर्से तक राजनीति से सम्बद्ध रहा है जिससे वह तद्विषयक जीवन्त चित्र प्रस्तुत करने में सफल हो सका है। 'सत्ती मैया का चौरा' के कथा-नायक मन्नी का निर्माण राजनीतिक पार्टियो की कुटिलताओ और कुण्ठाओ में आकण्ठ डूबा हुआ व्यक्ति ही कर सकता है।

मन्ने मुसलिम परिवार का एक छोटा-सा बालक जिसके सामने जीवन का सम्पूर्ण विस्तार है और जिस वह अपनी महत्वाकांक्षाओ और प्रतिभा से विजय करना चाहता है। उसका मित्र मन्नी जो सामान्य हिन्दू परिवार का लडका है, कुछ दूसरे प्रकार से उसी लक्ष्य तक पहुँचना चाहता है। पारिवारिक समस्याएँ—अपनी आकाक्षाएँ जीवन का ऐश्वर्य मन्नी के लिए आकर्षण हैं—वह व्यापार करता है, झूठ बोलता है, घूस लेता है, औरतो क साथ नाजायज सम्बन्ध रखता है। उसके आदर्शों की मीनारें टूट जाती हैं, केवल कुछ समय के लिये जीवन के सघर्षों से गुजरते हुए वह पुनः आदर्शों के उसी मलबे तक वापस आता है और उसके अवशेषो से एक नई मीनार बनाता है। उसका मित्र मन्न जो शुरू से पाक साफ रहा, एक दूसरे प्रकार के जीवन का प्रतिनिधित्व करता है। पाठक की सहानुभूति मन्नी को मिलती है जिसने जीवन क क्षण क्षण को जिया। बचपन से धार्मिकता के नामपर उसके मन में एक विचित्र घृणा है और जो उसकी कार्यक्षमता की शक्ति भी है। अन्त में धर्म के दिशानान उसके प्राण ले लिए। मूलकथा के साथ-साथ पिछली पीढ़ी की भी कहानी है जिसमें मौलवी साहब हैं, मुशी जी हैं और तमाम सेठ साहूकार और गाँव के किसान जिनके बीच वही पुराना संघर्ष है, वही पुरानी बातें हैं जो प्रेमचन्द के समय थी, अब नहीं हैं लेकिन तबक उपन्यासकारो के मस्तिष्क में हैं।

जहाँ तक दो मित्रो के बचपन की कहानी है, वह अंश बेजोड है। भैरवप्रसाद गुप्त को उसके वर्णन मे आश्चर्यजनक सफलता मिली है। यथार्थ क मोह में कुछ ऐंग भाडे शब्दो का प्रयोग लेखक ने किया है जो पाठक की रुचि और उपन्यास के सौन्दर्य को भ्रष्ट करते हैं। एक विचित्र बात है कि हर पात्र इस उपन्यास में जब एक गहरी ठडी सास लेता है तो उसके स्वर शेरो शायरी में परिवर्तित हो उठते हैं। शेरो की इतनी अधिकता ऊब पैदा करती है और ये शेर भी बहुत गलत जगह उद्धृत किये गये हैं। वैसे हर आदमी स्वतन्त्र है उद्धरणों के लिए। फिर भी गुप्तजी ने यदि इतनी स्वतन्त्रता से इनका उपयोग किया तो हिन्दी पाठकों को आपत्ति न होनी चाहिए। वैसे पाठक और लेखक समझें।

उपन्यास की मूल समस्या है साम्प्रदायिकता। धर्म के जर्जरित अस्थिपंजरों पर और भी उपन्यास लिखे गये हैं, बल्कि इस तरह की समस्याओं पर लिखे गये उपन्यासों की एक परम्परा है। किन्तु यह उपन्यास उस परिदृश्य से कुछ अलग है। इस भिन्नता से मेरा तात्पर्य अपनी आस्थाओं और संस्थापनाओं की विशिष्टता से है।

किसी रचनात्मक कृति की विशिष्टता उसके लेखक के जीवन-दर्शन पर आधारित होती है, और यह जीवन-दृष्टि ही उस रचना की आत्मा होती है। हिन्दी में बहुत से ऐसे उपन्यास हैं जो मात्र तथ्यवक्ता हैं। तथ्य-वक्तव्य और जो कुछ भी हो, कला नहीं है। कला अर्थात् औपन्यासिक कला। और किसी उपन्यास का रूपगत विस्तार उपन्यासकार के कलात्मक संयम से संबद्ध होना है। भावों की व्यापकता और गहराई का आधार केवल विस्तार को मानना एक भ्रांतिपूर्ण आकर्षण है। 'सत्ती मैया का चौरा' अपने रूप-विन्यास में इसी कलात्मक संयम की ओर एक संकेत है। वैसे बहुत से हिन्दी उपन्यास लेखक 'गोदान' को उसके भारी, भरकम कलेवर के लिये आदर्श मानने लगे हैं। यह छूत इस बार भी बंगला उपन्यासों की ओर से ही आया है। युग धर्म को व्यापकता को समझना एक बात है, तो व्यापकता को ही युग-धर्म मान लेना दूसरी बात है। भैरवप्रसाद गुप्त ने इस उपन्यास में विस्तार की व्यापकता की स्थापना की, किन्तु युगधर्म को वे पहचान भी न सके। व्यापकता और भावों की गहराई का सम्बन्ध किसी लेखक की सम्वेद-शक्ति से जुड़ी होती है और यह संवेदनशीलता किसी कृति की महत्ता का परिचायक बन जाती है। मुझे नहीं मालूम कि हिन्दी के कथा-लेखक अपनी संवेद-शक्ति से प्रेरित होकर लिखते हैं या लेखक बनने की महत्वाकांक्षा के नाते।

उपन्यास में जो कहानी होती है उसके भीतर एक और कहानी होती है जो सफर काटने वाले पाठकों के लिए अलक्षित ही रह जाती है। किन्तु जिसकी आन्तरिक एक-सूत्रता उपन्यास की जीवन्त शक्ति होती है और इस अलक्षित कहानी की सृष्टि कोई कलाकार ही कर सकता है। मात्र पृष्ठ-लेखक नहीं! यही कारण है कि राजनीतिक पार्टियों और नारों के बुलन्द आवाजों के परिवेश में जिस उपन्यास की रचना कृतिकार करता है उसमें उसी कलागत विशिष्टता का अभाव होता है। इस कलागत विशिष्टता से मेरा तात्पर्य जीवन से पलायन नहीं है। 'सत्ती मैया का चौरा' एक ओर तो राजनीतिक पार्टियों का विचित्र इतिहास है तो दूसरी ओर दो पीढ़ियों के बीच का संघर्ष। परम्परा और पीढ़ियों के संघर्ष की अभिव्यक्ति वही लेखक कर सकता है जिसकी चेतना में पीढ़ीगत-बोध हो। टी० यस० इलियट के अनुसार यह पीढ़ीगत बोध ही किसी लेखक की महानता की कसौटी होती है। 'सत्ती मैया का चौरा' में इसका अभाव है।

यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र'

पथहीन

'पथहीन' एक ऐसे भ्रांत युवक की कहानी है जिसके पीछे न कोई सिद्धांत है और न आदर्श समाज-व्यवस्था। नारी के साथ यौन सम्बन्धों तक की बात तो वह समझना

है, लेकिन उसको विवाह का बन्धन स्वीकार नहीं क्योंकि उसकी दृष्टि में विवाह के द्वारा स्त्री बन्धन में बँध जाती है और वह पति की चेरी हो जाती है। लेकिन यह उन्मुक्त और बन्धनहीन प्रेमस्वरूप, स्त्री की रक्षा न कर उसको ही यौन-स्वच्छन्दता प्रदान करता है तथा वह एक के बाद दूसरे फिर तीसरे द्वार तक जाता है और कुछ अन्य कारणों तथा अपने असंयम और बहक के कारण निराश हो जाता है। वह स्त्री को मायापूर्ण प्रवंचना और अविश्वास की मूर्ति के रूप में देखता है, लेकिन उसी स्त्री का प्यार पाने के लिए वह छटपटाता रहता है। यौन विकृतियों से उत्पन्न मन की अतृप्त वासनाएँ उस पर भूत बन कर आती हैं और वह पागल हो जाता है। अतीत का सब कुछ भुला देता है।

सामाजिक यथार्थ-चित्रण को दृष्टि में रख कर एक प्रश्न उठता है कि क्या यौन विकृतियों को नग्नतम रूप में रख कर समाज में अस्वस्थ वातावरण पैदा करना ही कथाकार का लक्ष्य होना चाहिए? मैं समझता हूँ साहित्य में कुछ भी हो, जीवन का नग्न या आवरणप्रच्छन्न वर्णन ही श्रेष्ठ है, वह अमांगलिक नहीं होना चाहिए। लोक-मंगल तो साहित्य की प्राणशक्ति है। कौन सी अतृप्त मानसिक भावना अचेतन मस्तिष्क में प्रविष्ट कर क्या प्रभाव उत्पन्न करती है, यह मनोवैज्ञानिक चिकित्सा-शास्त्र का अध्ययन है, कथा साहित्य का विषय नहीं, यद्यपि कथा-तत्त्व के कारण लेखकों को बच-बचाव का अवसर अवश्य मिल जाता है।

सामाजिक यथार्थ के चित्रण के समय लेखक को भारतीय संस्कृति की कुछ परम्परा-गत मान्यताओं को सामने अवश्य रखना चाहिए। अस्वस्थ मान्यताओं का विरोध भी करना चाहिए। लेखक ने 'पथहीन' के नारी पात्रों की रचना, लगता है, जान-बूझकर पूर्वनिश्चित योजना के आधार पर की है जो छल-प्रपंच और अविश्वास की मूर्ति हैं। हमारे वास्तविक जीवन में विनाश की अपेक्षा जीवन की शक्ति अधिक है। इसीलिए नवीन निर्माण की आशा है।

लेखक को इस जीवनी शक्ति के प्रति आस्था और विश्वास रखना चाहिए। उपन्यास की एक पात्र चन्दा का यह कथन तो कोरा प्रलाप है। वह कहती है—'विवाह का बन्धन नारी को अपंग बना देता है। बन्धनयुक्त नारी पुरुष की पिपासा को सही रूप में तृप्त नहीं कर सकती, अपिहित वस्तु पर प्यार नहीं जगता, बलात्कार जगता है।' उपन्यास का नायक जिसके विभिन्न तीन प्रेम-व्यापारों का उपन्यास में चित्रण है, इसी सिद्धान्त को अपना सिद्धान्त मानता है। लेकिन हम जानते हैं कि प्रणय-सूत्र मानवीय जीवन का पवित्रतम बन्धन है। यह आज तक की मानवीय सभ्यता के विकास की मधुर सम्पत्ति है। इस मान्यता को इस ढंग से रख देना आज का जागरूक पाठक सहन नहीं कर सकता। यद्यपि उपन्यास के अन्त में 'आनन्द' को

बुद्धि ठिकाने आ जाती है, लेकिन उपन्यास पढ़ते समय एक घृणा का भाव मन में रहता है। हम आनन्द के साथ सहानुभूति भी नहीं कर पाते। लेखक का सम्भवतः इस प्रकार का यह प्रथम प्रयास है।

सन्यासी और सुन्दरी

'संन्यासी और सुन्दरी' यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र' का यौद्धयुगीन वातावरण पर आधारित एक उपन्यास तो है परन्तु किसी युग की पृष्ठभूमि पर कोई उपन्यास लिखने के लिये जिस अनुशीलन एवं समुचित तथ्यों की अपेक्षा होती है उसका इस लेखक द्वारा कथित 'मौलिक उपन्यास' में पूर्णरूपेण अभाव है। भूमिका में लेखक ने इस उपन्यास की रचना के पूर्व अपने जिस अध्ययन एवं विद्वानों के परामर्श की चर्चा की है, पता नहीं उपन्यास में लेखक ने तथाकथित बातों का उपयोग क्यों नहीं किया। उपन्यास का आरम्भ देखकर ऐसा लगता है कि लेखक ने 'चित्रलेखा' तथा उसी प्रकार की पृष्ठभूमि पर लिखे गये कुछ अन्य उपन्यासों की असफल अनुकृति उपस्थित करने का प्रयास किया है। उपन्यास के किसी भी पात्र का अपना कोई व्यक्तित्व नहीं है। अपने 'टाइप' के सभी व्यक्तियों की मनोभावना के जिस प्रतिनिधित्व का प्रयास 'चन्द्र' जी ने उपन्यास के चरित्रों के माध्यम से किया है, वह भी पूर्णरूपेण असफल है। भाषा में व्याकरण की त्रुटि को जैसे लेखक त्रुटि मानता ही नहीं।

इत्वर

चन्द्रजी का यह उपन्यास डेढ़ दिन की घटनाओं का अनुभव है। लेखक ने उपन्यास को अपने ही माध्यम से कहा है। यह एक सामाजिक उपन्यास है।

अनावृत

इस उपन्यास की नायिका किसे कहा जाय यह निश्चित नहीं किया जा सकता। फिर भी फागली नाम की एक अन्त्यज स्त्री ही उपन्यास में सबसे पहले आती है। चार्वाक, उसकी स्त्री सुधि और उसका देवर शैलेश, जहरधर बाबा, सेठ, यमुना, यमुना की माँ, सेठानी सरला आदि इसके अन्य पात्र हैं। इसमें समाज की बुराइयों को अनावृत कर के देखने का प्रयत्न किया गया है।

कमल शुक्ल

देवता

'देवता' आदर्शोन्मुख सामाजिक उपन्यास है।

विषय और शैली की दृष्टि से इसमें कोई नवीन विशेषता नहीं है। भारतीय नारी की करुण गाथा जिसमें वह पति के सुख और संतोष के लिए अपने जीवन को बलिदान

कर देती है, इस उपन्यास मे चित्रित है। दहेज की विकट समस्या और उससे उत्पन्न सामाजिक व्याधियाँ उपन्यास मे दिखाई गई हैं। लेकिन समस्या को सामाजिक दृष्टि से उठाने का प्रयत्न नही किया गया है। जुहारी देवी, जो मध्यम वर्ग की एक अध्यापिका हैं, विधवा हैं। उनकी एकमात्र पुत्री सविता सन्तोष से प्रेम करती है। जुहारी देवी सविता का सन्तोष से विवाह कर अपने मातृपद के उत्तरदायित्व से मुक्त होने की कल्पना करने लगती हैं। दहेज में अधिक से अधिक धन देने के लिए ढलती उम्र मे भी अथक परिश्रम करती हैं, लेकिन उनका स्वप्न सहसा भंग हो जाता है और सन्तोष के पिता दहेज मे मिलने वाली लम्बी धनराशि के लोभ मे सन्तोष का विवाह उसकी इच्छा के विपरीत चन्दा से कर देते हैं। संतोष अपने पिता के इस अनुचित कार्य का सक्रिय प्रतिरोध नहीं करता। चन्दा के साथ विवाह कर संतोष का जीवन दुःखी हो जाता है। उसके विवाह के पश्चात् उसके पिता दिवालिया हो जाते हैं और चन्दा के उग्र स्वभाव के कारण तथा अन्तस्तल में छिपे सविता के प्रति मधुर भाव के कारण संतोष खिन्न बना रहता है। सविता का विवाह भी दूसरे व्यक्ति के साथ हो जाता है, लेकिन उसका पति जो पहले से यक्ष्मा से पीडित था, मर जाता है और ससुराल की यंत्रणाओ को झेलती एक दिन वह अपनी मां के पास चली आती है। सविता और संतोष के चिर मधुर पारस्परिक प्रेम में नवीन विकास आता है और दोनो विवाह सूत्र में बँध जाते हैं। लेकिन उनका विवाहोत्तर जीवन सुखी नहीं रह पाता। चन्दा अपने पिता के घर से पुनः संतोष के पास आती है। सविता संतोष के प्रति अपने उचित कर्त्तव्यो का निर्वाह करते हुए भी अपने देवता को खो देती है। यही उपन्यास की ट्रेजेडी है। अंत समय मे सविता के त्याग-बलिदान से प्रभावित संतोष त्यक्ता सविता के समीप जाता है, लेकिन तब तक सविता के प्राण-पखेरू उड जाते हैं। देवता को अपने पाप का ज्ञान होता है और पश्चात्ताप की अग्नि मे जलता रहता है।

विवाह और दहेज तथा संतोष के मन के असन्तुलन से उत्पन्न सामाजिक समस्याएँ परिवार के घेरे में ही बँध कर रह जाती हैं। इसी कारण संतोष के चरित्र में असगतियाँ उत्पन्न होती है। लेखक सविता के, जो उपन्यास की नायिका है, त्याग और बलिदान के आदर्श रूप के चित्रण के लिये संतोष द्वारा उसके परित्याग का उचित कारण नही दे पाया है। कुल मिलाकर पाठक के मन पर कथानक का स्वस्थ प्रभाव पडता है, लेकिन पाठक को झकझोर देने और उसके अंतस्तल में सुप्त समाज की मान्यताओ के प्रति विद्रोह की भावना को उग्र करने मे समर्थ नहीं हो सका है। सविता के प्रति करुण सहानुभूति आवश्यक होती हैं। उपन्यास व्यक्तिगत जीवन की करुण कहानी मात्र बन कर रह गया है। लेखक का प्रयत्न सम्भवतः प्राथमिक है। इनका दूसरा उपन्यास 'किस का कौन' राजनैतिक एवं सामाजिक बुराइयो को आधार मान कर लिखा गया है।

प्यारेलाल 'बेदिल'

अब तुम ही बताओ

'अब तुम ही बताओ' प्रोफेसर प्यारेलाल 'बेदिल' का एक शिक्षाप्रद ऐतिहासिक उपन्यास है। इसके कथानक का आधार ईसा की चौदहवीं शताब्दी है। उपन्यास दो खण्डों में विभक्त है। भूमिका के रूप में उपन्यासकार ने एक लम्बी-चौड़ी भूमिका दी है जिसमें उसने केवल अपनी स्तुति की है जिससे 'अपने मुँह मियाँ मिट्ठू' बनने की कहावत पूर्णतः चरितार्थ हो जाती है। जिस साहित्यिक भ्रष्टाचार का उदाहरण इस उपन्यास में प्रस्तुत किया गया है, उसके प्रति लेखक सतर्क अवश्य है। यही कारण है कि उसने अपने अथक परिश्रम की सूचना देकर पाठक को भुलवाना चाहा है। जैसा उसने कहा है कि मैंने इस उपन्यास को लिखने के लिये पाँच वर्ष खर्च किये हैं। इसमें सन्देह नहीं इसमें पाँच वर्ष खर्च हुए होंगे, किन्तु वे इसके निर्माण में नहीं, बल्कि अन्य पुस्तकों से कथानक तथा सम्वाद जुटाने में। इस प्रकार की प्रवृत्ति साहित्य और साहित्यकार, दोनों के लिये अभिशाप है, कलंक है।

कविता के अन्दर भाव चुराकर अपनी शैली का रंग चढ़ाया जा सकता है, नाटकों के कथानक पर अपनी कल्पना से नाटकों का निर्माण किया जा सकता है, किन्तु उपन्यास की कथा की पुनरावृत्ति का यह एक असफल नमूना है। कथानक लेने में भी उपन्यासकार ने होशियारी से काम नहीं लिया है। उसे चाहिये था कि किसी ऐसे उपन्यास से वह कथावस्तु उठा लाता जिसे सर्वसाधारण न जानते होते और अपनी काल्पनिक प्रतिभा के द्वारा सुन्दर रचना प्रस्तुत कर देता। किन्तु उसने यह धृष्टता ऐसे उपन्यास के साथ की है जिसके सम्बन्ध में हिन्दी का एक भी व्यक्ति अपरिचित नहीं। उपन्यास का प्रथम खण्ड भगवतीचरण वर्मा के 'चित्रलेखा' का भावानुवाद ही नहीं, बल्कि नकल मात्र है। पृष्ठ-के-पृष्ठ लेखक ने एकाध अक्षर बदल कर घसीट लिये हैं। सम्वाद, कथा का सारा स्वरूप, समस्या तथा प्रतिपादन सभी कुछ पात्रों के नाम को छोड़कर 'चित्रलेखा' का है। 'चित्रलेखा' के कुमारगिरि, चित्रलेखा तथा 'अब तुम ही बताओ' के महाप्रभु गौराग और नर्तकी पार्वती में कोई भेद नहीं है। सारे सम्वाद तथा चारित्रिक विकास में ही समानता नहीं है, बल्कि उसके वाक्य तथा विराम तक उद्धृत कर रख दिये गये हैं। बीजगुप्त का अभिनय इसमें बंगाल के मुसलमान शासक से कराया गया है। दोनों में केवल नाम और जाति का ही भेद है।

ऐसे उपन्यासों की व्याख्या प्रस्तुत करना भी समीक्षा साहित्य का अपमान करना है। मेरे कथन से यदि उपन्यासकार को कोई आपत्ति होगी तो मैं उसके सामने दोनों उपन्यासों के पृष्ठ और लाइन तक उद्धृत करके उसे सन्तुष्ट कर सकता हूँ। साहित्यिक

पाठकों से मेरा निवेदन है कि वे दोनों उपन्यासों को पढ़ कर इस साहित्यिक वतरव्योंत तथा भ्रष्टाचार से अवगत हों। ऐसे साहित्य-निर्माण पर अवश्य ही प्रतिबन्ध लगा देना चाहिये।

इस उपन्यास के सम्बन्ध में मैं इससे अधिक लिखना सरस्वती का अपमान समझता हूँ।

सुधाकर पाण्डेय

साँझ सकारे

'साँझ सकारे' प्रेमचन्द की उपन्यास परम्परा के विकास की अगली कड़ी है। प्रेमचन्दजी के पश्चात् ऐसे उपन्यासों की दिशा में एक गतिरोध-सा उत्पन्न हो गया था, किन्तु इस उपन्यास ने स्पष्ट कर दिया कि प्रेमचन्द की आत्मा मरी नहीं, बल्कि उसका विकास हुआ है। यों तो 'साँझ सकारे' द्वारा लेखक ने कोई ऐसी नयी समस्या नहीं उठाई है जिसे प्रेमचन्दजी ने न उठायी रही हो, किन्तु प्रेमचन्दजी के बाद के विकसित औपन्यासिक कौशलों तथा प्रवृत्तियों से लेखक लाभान्वित अवश्य हुआ है जिसका सुअवसर प्रेमचन्दजी को नहीं मिला। पाण्डेयजी के कहने की शैली अपनी है। इसके अन्दर मध्यवर्गीय दुर्बलता का जीता-जागता चित्र उपस्थित किया गया है। बूढ़ी माँ के मन में किस प्रकार मनौती पूरी करने की साध है, वह किस उत्सुकता से पैसे गिन रही है, बुड्ढा बाप जानता है कि उसके पास इतने पैसे नहीं हैं कि वह अपनी आवश्यकताओं को पूरी कर सके, पर इस भय से कि लोग उसे दीन समझ लेंगे, वह रामन्योछावर द्विवेदी को पन्द्रह रुपये संकट में रहते हुए भी दे ही देता है। प्राचीन संस्कारों से जकड़े हिन्दू ब्राह्मण के घर का एक यथार्थ चित्र उपन्यास में उतर आया है। बुढ़िया की बनारसी बोली उपन्यास को और सजीव बनाती है। इसके अतिरिक्त रचना-कौशल की दृष्टि से इस उपन्यास में जो विशेषता है वह यह कि इसका आरम्भिक अधिकांश भाग प्रश्नोत्तरों में सफलता के साथ सम्पन्न होता है। इसके अन्दर पुरुष पात्रों की अपेक्षा स्त्री पात्रों के आदर्श चरित्र अधिक निखार कर सामने लाये गये हैं जैसे अनुराधा और शान्ति। केशर एक सामान्य व्यक्ति की दुर्बलताओं और सबलताओं का प्रतीक है। विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से सर्गों का विभाजन उपन्यासकार की अपनी मौलिक सूझ है। पाण्डेय जी का दूसरा उपन्यास 'स्वार्थ और सिद्धि' नाम से प्रकाशित हुआ है जिसमें व्यंग्यात्मक शैली का उपयोग किया गया है।

सत्यदेव शर्मा

पथ का अन्त

यह उपन्यास सामाजिक है जो समाज के एक विशेष पक्ष तक ही सीमित रह गया है, जिसमें समाज का सर्वाङ्गीण चित्र न तो उभर कर आ सका है और न तो लेखक

की ऐसी प्रवृत्ति ही जान पडती है। बीच-बीच में लेखक ने साधारण जन-जीवन की चहल-पहल तो दिखाई है और समाज की एक हल्की-सी झाँकी भी दी है, किन्तु उसका विशेष आग्रह सन्तों तथा भक्तों के कार्य-व्यापारों से ही अधिक है। नायक 'धर्मदेव' सत्य की खोज में सत्य से दूर ही भटकता रहता है। लेखक का प्रयत्न इतना शिथिल है कि वह जो कुछ कहना चाहता है, कह नहीं पाता। मूल रूप से उसने यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि साधु-संत क्यों अपने को धोखा देते हैं, अपनी पूजा कराकर अपना चरणामृत और चरण-धूलि बाँटकर इन्हें क्यों प्रसन्नता होती है और क्यों वे अपने को पुजवाते-पुजवाते पत्थर नहीं हो जाते? इसी समस्या को लेकर एक सौ छब्बीस पृष्ठों का यह उपन्यास समाप्त हो जाता है।

बच्चन सिंह

'लहरें और कगार'

बचन सिंह का लघु उपन्यास, लघु उपन्यासों में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। अपने इस केवल सत्तानवे पृष्ठों के उपन्यास में श्री सिंह ने आधुनिक समाज के तीन-चार ऐसे प्रतिनिधि चित्रों को उभाड कर रखा है कि पूरा-पूरा भारतीय गाँव सामने आ जाता है। जमींदारी समाप्त हो जाने के पश्चात् खेतों के नवीन प्रबन्ध में जो धाँधलियाँ हुई हैं अथवा हो रही हैं उनका संकेत तो लेखक ने दिया ही है, इसके अतिरिक्त जमींदारों और उनके दलालों के उन हथकंडों का जो जमींदारी के पश्चात् भी शेष हैं, अत्यन्त सजीव चित्रण इस उपन्यास में हुआ है। ठाकुर महिपाल सिंह, रमई महराज तथा शुकदेव व्यक्ति नहीं, बल्कि वर्ग के प्रतीक होकर आये हैं। ग्राम पंचायतों तथा बिरादरियों का खासा चित्र उपन्यास में खींचा गया है।

साहित्याचार्य 'मग'

अतृप्त

अविश्वसनीय घटनाओं एवं कार्य-व्यापारों पर आधारित 'अतृप्त' उपन्यास सोद्देश्य लिखा जान पडता है। सम्पूर्ण उपन्यास में उदयेश्वर नामक एक युवक की अतृप्त काम-पिपासा की कहानी कही गई है। इस वासना को उपन्यासकार ने अनेक स्थानों पर उसे वर्तमान से हटाकर जन्म-जन्मान्तर के संस्कारों के साथ जोड देने के कारण अत्यन्त अव्यावहारिक अथवा शुद्ध सैद्धान्तिक बना दिया है। जिन काल्पनिक, अस्वाभाविक एवं तिलस्मपूर्ण घटनाओं के बीच उपन्यास के कथानक का विकास हुआ है उस पर पाठक की सहज बुद्धि का विश्वास नहीं जम सकता। यदि उपन्यास की मूलवृत्ति दैवी एवं दानवी शक्ति, जन्म-जन्मान्तर के प्रेम-संस्कार तथा भौतिक एवं आध्यात्मिक सुख आदि की लम्बी व्याख्याओं को इससे निकाल दिया जाय तो आधुनिक उपन्यास के तत्वों को

इस उपन्यास में ढूँढ पाना पाठकों के लिये बालू में से तेल निकालना ही हो जायगा। इसके अतिरिक्त आलोचक बेरोकटोक इसे जासूसी उपन्यासों की श्रेणी में रख देंगे। उपन्यासकार ने जिन गम्भीर दार्शनिक एवं धार्मिक विश्वासों को विवेच्य विषय बनाया है वे इतने नीरस एवं शुष्क हैं कि पाठकों तक उन्हें पहुँचा पाना साधारण कार्य नहीं है। इस प्रसंग में इतना तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि ऐसे शुष्क प्रसंगों को भी उपन्यास का रूप देकर लेखक ने कड़वी दवा को मीठे के माध्यम से मरीज के गले के नीचे उतार दिया है। उपन्यास की सारी घटनाएँ नायक उदयेश्वर से जुड़ी हुई हैं जो लेखक के इच्छानुसार सम्भव-असम्भव सभी स्थानों पर जाकर सम्भव और असम्भव शक्तियों का अर्जन कर उपन्यासकार के सैद्धान्तिक मन्तव्यों को सुस्पष्ट करने में सहायक सिद्ध होता है।

इस उपन्यास की एक भी घटना पर विश्वास नहीं होता। पर उपन्यासकार ने जन्म-जन्मान्तर के संस्कार, मन्त्रों की शक्ति, योग साधना, जादू के महत्व आदि के अस्तित्व को स्वीकार करते हुए जो चमत्कारों का वर्णन किया है वह अपूर्व है। साथ ही साथ भौतिक सुखों पर पिशाच की साया रहती है जिसे पाकर भी व्यक्ति सुखी नहीं रह सकता और सच्चा सुख तो संस्कारगत वृत्तियों को तुष्ट करने में ही है। यही सौन्दर्योपासक उदयेश्वर, मालती, जहाँनारा एवं रौशन के माध्यम से कहा गया है।

डा० देवराज

देवराज जी मुख्यतः मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार हैं। अब तक उनके 'पथ की खोज', 'बाहर भीतर', 'रोड़े और पत्थर' तथा 'अजय की डायरी' नाम से चार उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं। इस विशिष्ट शैली में देवराज जी ने पर्याप्त ख्याति अर्जित की है। दो भागों में प्रकाशित 'पथ की खोज' को पर्याप्त ख्याति मिल चुकी है।

अजय की डायरी

'अजय की डायरी' डायरी शैली में लिखा गया एक उपन्यास है। इसके अतिरिक्त उपन्यास को किसी और औपन्यासिक विधा या वर्ग में रख सकना कठिन है। उपन्यास में जो कुछ भी है वह बस एक अभिनव शैली का प्रयोग मात्र है। पूरे उपन्यास के पढ़ जाने के बाद कोई भी एक समष्टि प्रभाव पाठक के ऊपर नहीं पड़ता। आरम्भ में लेखक द्वारा विश्वविद्यालय के प्राध्यापकों और अनुसंधायकों तथा उच्चश्रेणी के विद्यार्थियों के विद्यार्थी-जीवन सम्बन्धी कतिपय मोटी (आधुनिक) बातों पर प्रकाश डाला गया है। विश्वविद्यालय के प्राध्यापकों के वैचारिक अविवेक और विद्यार्थी विशेष के प्रति कुत्सित और पक्षपातपूर्ण मनोवृत्ति का अच्छा और स्वाभाविक अध्ययन लेखक ने प्रस्तुत किया है। उपन्यास की घटनाएँ अजय (जिसे नायक ही कहा जा सकता है) की डायरी न

इर्दगिर्द चक्कर लगाती रहती हैं। प्रारम्भ में ही कतिपय पात्रो का परिचय मात्र देकर उपन्यासकार सभी को एक लम्बे टूर पर लाद देता है। टूर का नियोजन केवल अजय और हेम के प्रेम-प्रसंगो की उद्भावना के लिए भूमिका का कार्य करता है और उस उद्भावना के साथ ही टूर भी समाप्त होता है। यही उपन्यास का प्रथम भाग समाप्त होता है। दूसरे भाग में अजय और हेम के प्रेम-प्रसंगो पर कुछ और प्रकाश पडता है। इसी बीच अजय को अमरीका की सस्कृति के अध्ययन के लिए सरकार की ओर से एक वृत्ति मिलती है। ६ महीने के लिए उसे प्रवासी होना पडता है। अजय की अमेरिका यात्रा के माध्यम से लेखक ने अमेरिका के जीवनका यथार्थ रूप प्रस्तुत किया है। अमेरिका के बनावटी आकर्षण से पूर्ण सुन्दरियो और वहाँ के नाइट क्लबो में लेखक की वृत्ति अधिक रमी है। लेखक बार-बार यह दुहराता है कि नारी और पुरुष की पूर्णता एक दूसरे के प्रति सागोपाग आत्मसमर्पण में ही है। अमेरिका मे भी अजय कई सुन्दरियो के प्रति आकर्षित होता है, लेकिन हेम की याद उसे बराबर बनी रहती है। वह अमेरिका में है तभी हेम की शादी यहाँ हो जाती है। घर आने पर उसे रुग्ण पत्नी की परिचर्या मे समय बिताना पडता है। हेम के प्रेम ने उसके पारिवारिक जीवन को भी दुःखद बना दिया। हेम में थोडे से साहस के अभाव ने उसके और अजय दोनो के भविष्य का खून कर दिया। उपन्यास का अन्त, अजय द्वारा लिखे गये एक लम्बे पत्र से होता है। लेखक अजय के शब्दो मे अन्त मे यह घोषणा करता है कि "विकासमान पुरुष जीवन की दो अनिवार्य जरूरतें—महापुरुषो का विवेक और नारी का ममत्वाश्वासन—दोनो ही समाजों और सरकारो द्वारा खडी की गई हजार बाधाएँ पार करके उसके मन प्राण तक पहुँचने का मार्ग निकाल लेते हैं।"

सम्पूर्ण उपन्यास के पढ़ने से लगता ऐसा है कि लेखक भिन्न-भिन्न प्रकार की गुत्थियों और complexes का शिकार है। लेखक की नारी विषयक धारणा बहुत ही उलझनपूर्ण है, वह अन्त तक नारी को नही समझ पाता। उपन्यास में शुरू से अन्त तक केवल एक ही प्रेमप्रसग अजय और हेम का चल पाता है, और भी कई हैं पर वे प्रासंगिक कथा को तरह बीच में ही समाप्त हो जाते हैं, रेल के डिब्बे और काफी हाउस तक सीमित रहने वाले प्रेम की श्रेणी तक हो रह गये हैं। उपन्यास भर में शुरू से अंत तक उपन्यास के कतिपय पात्रो की दैनन्दिन गतिविधियों, यात्रा के विषयो और स्वय अजय की अपनी मनोवृत्तियों और मानसिक गतिविधियो के चित्रण हैं। स्थान-स्थान पर लेखक ने आधुनिक सभ्यता के उपकरणो से सम्बन्धित प्रश्न उठाये हैं और आधुनिक मनोविज्ञान के परिवेश में मानव मन की कुछ आधुनिक गुत्थियो—सेक्स और लव सम्बन्धी और उलझनो पर विस्तृत चर्चाएँ की हैं।

उपन्यास पढते समय, उपन्यास शब्द के साथ स्थापित मानसिक साहचर्य के कारण,

उपन्यास के प्रति जो लेखक का अन्याय दिखलाई पड़ता है उस अन्याय का मार्जन, उपन्यास के शीर्षक का स्मरण होने पर हो जाता है।

गुरुदत्त

न्यायाधिकरण

'पथिक', 'स्वराज्यदान', 'भावुकता का मूल्य', 'उमड़ी घटा', 'प्रवंचना,' 'बहती रेती' आदि अनेक उपन्यासों के लेखक गुरुदत्त के 'न्यायाधिकरण' में समाज में फैली सभी प्रकार की बुराइयों विशेषकर चोरी, डाके, हत्याएँ, लड़ाई, झगड़े आदि का विस्तृत उल्लेख करते हुए उनके कारणों का विस्तृत उद्घाटन भी किया गया है, आश्चर्य नहीं कि उन कारणों का शमन यदि हो सके तो ये बुराइयाँ भी निर्मूल हो जायेंगी। निःसंदेह इस प्रकार की बुराइयाँ कानून के विरुद्ध आचरण करने से ही पैदा होती हैं, परन्तु ऐसा होता क्यों है ? लेखक का मत है कि इसके मुख्य कारण जीवन की भौतिकवादी कल्पना (Materialisic conception of life) ही है। लेखक आदि से अन्त तक कानूनी पेशे की भर्त्सना करता है। उसका मत है कि वकील का होना तो कोई बुरी बात नहीं है, पर पेशेवर वकील होना—जो दाम लेकर किसी को न्याययुक्त सिद्ध करने का यत्न करता है, बुरी बात है। इसी से खराबी उत्पन्न होती है। इनसे अभियोगों में वृद्धि, इनका लम्बे काल तक चलना, न्यायाधीशों का स्वयं न्याय करते समय प्रभाव में फँसना इत्यादि कितने ही अवगुण उत्पन्न होते जाते हैं। सबसे बुरा परिणाम पेशेवर वकीलों के होने से यही हो रहा है कि न्याय नाम की वस्तु बाजार की वस्तु बनती जा रही है।

समाज में फैली इन बुराइयों की विस्तृत प्रदर्शनी लेखक ने उपन्यास के रूप में पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत की है। लेखक ने स्वयं स्वीकार किया है कि यह एक उपन्यास है, जिसके पात्र और घटनाएँ सब कल्पित हैं, इनका किसी के मानापमान से कुछ प्रयोजन नहीं है। उपन्यास की भूमिका में लेखक ने वैदिक काल से लेकर अब तक के जीवन में, कानून का स्थान, इसकी महत्ता और उसका उचित उपयोग आदि दिखलाकर एक तरह से उपन्यास की पृष्ठभूमि तैयार कर दी है। उसने स्वीकार किया है कि कानून की, न्याय की स्थापना के लिए राज्य की स्थापना होनी चाहिए न कि राज्य की रक्षा के लिए कानून को आधार बनाना चाहिये। हमारे देश में प्राचीन काल में सुदृढ़ राज्यों और शासकों का एकमात्र उद्देश्य होता था सच्चे न्याय का उन्मुक्त दान, परन्तु आजकल—(चाहे वह अंग्रेजी राज्य रहा हो चाहे वर्तमान सरकार हो) राज्य की रक्षा के लिए कानून को कवच बनाया जा रहा है। जैसे भी राज्य की रक्षा हो कानून को उसी रूप में हिलना-डुलना है, चाहे न्याय की रक्षा हो रही हो या नहीं।

उपन्यास की समाप्ति तक लेखक ने कुछ पात्रों के अन्दर साम्यवादी (commun-istic view) विचारधारा का अंकुर भी दिखलाया है और उसने एक स्थान पर ट्रामों

में आग भी लगवा दी है। इस तरह से लेखक ने अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए जिस काल और स्थान की घटनाओं को चुना है उस काल और स्थान विशेष (भारतवर्ष के अधिकाश प्रान्त) मे मानव मस्तिष्क की सामान्य जागृतियों और मनोभावों को भी अच्छी तरह से चित्रित किया है। कांग्रेसी नेताओं के आन्दोलनों, सत्याग्रहों और भूख हड़ताल, नमक कानून आदि की चर्चा जब लेखक करने लगता है तो लगता ऐसा है कि लेखक अपने प्रतिपाद्य विषय से दूर जा रहा है लेकिन वह इतना सतर्क है कि एक व्यक्ति-व्यजक निबध के लेखक की तरह वह अपने प्रतिपाद्य विषय के इर्द-गिर्द ही चक्कर लगाया करता है और उन आन्दोलनों मे उसे कोई-कोई घटना ऐसी मिल ही जाती है जिसे उसे न्यायालय और वकीलों से सम्बन्धित करना ही पड़ता है। निर्वाचन के समय हाईकोर्ट से मोहिनी के द्वितीय निर्वाचन के रद किये जाने की घटना ही उदाहरण स्वरूप ली जा सकती है भले ही यह घटना डा० राम जैसे कुछ विरोधियों के षड्यन्त्र का परिणाम रही हो।

कहने की आवश्यकता नही कि लेखक को अपने उद्देश्य की सिद्धि मे आशातीत सफलता मिली है। साध्य पक्ष की सिद्धि के लिए उपयुक्त साधन पक्ष का नियोजन ही इसके लिये अधिक उत्तरदायी है और इन सबका श्रेय लेखक की औपन्यासिक कला को ही है।

गोविन्द सिंह

गोविन्द सिंह के उपन्यासों की दीर्घ काल तक उपेक्षा होती रही, पर उनका उपन्यासकार उससे विचलित नहीं हुआ। किसी भी साहित्यकार के प्रति पूर्वाग्रह से प्रेरित होना उचित नहीं और हिन्दी समीक्षकों का यह दुर्भाग्य रहा है कि वे स्वनाम-धन्य लेखकों की कृतियों को ही अपनी विवेचना का विषय बनाते रहे हैं। इस प्रकार वे यशस्वी लेखकों की ही सहायता से स्वयं यश अर्जन करना चाहते हैं। आज तो हिन्दी उपन्यास-साहित्य मे एक ऐसी विचित्र स्थिति उत्पन्न हो गई है कि मूर्धन्य उपन्यास-कारों में भी उन बुराइयों का बाहुल्य मिलने लगा है जिन बुराइयों के कारण हम कुछ उपन्यासकारों की कृतियों को अस्वस्थ साहित्य कहकर टाल दिया करते थे। निश्चित ही गोविन्द सिंह ने कुछ ऐसे उपन्यास लिखे हैं जिनमे वर्तमान समाज पर किये गये उनके सटीक व्यग्य उतर आये हैं। इस प्रकार के इनके उपन्यासों का मुख्य विषय सामाजिक, राजनैतिक एवं धनी-मानीवर्ग के हेय जीवन का चित्रण है। इस दृष्टि से 'नरक के आदमी', 'अठारह सौ सत्तावन', 'लालकुँवर', 'त्यागमूर्ति', 'फरेब' तथा 'जिस्म के सौदागर' आदि गोविन्द सिंह की प्रमुख रचनाएँ हैं। 'नरक के आदमी' मे वर्तमान समाज को दृष्टिपथ मे रखते हुए एक करारा व्यंग्य किया गया है। 'अठारह सौ सत्तावन', प्रथम भारतीय स्वातंत्र्य सग्राम के विशाल परिवेश मे लिखा एक विशाल-

काय उपन्यास है जिसमें ऐतिहासिक तथ्यों की उपेक्षा किये बिना औपन्यासिकता का भरसक निर्वाह करने का उपन्यासकार ने प्रयत्न किया है। इसी प्रकार 'लालकुँवर' भी मुगलकालीन भारत पर आधारित ऐतिहासिक उपन्यासों की श्रेणी में रखा जा सकता है जिसमें उस समय को चित्रण का आधार बनाया गया है जब कि औरंगजेब के बाद तख्त-ताऊस भाइयों के रक्त से शराबोर हो रहा था। उपन्यासकार का दावा है कि उसने इस उपन्यास को अपनी कल्पना के सहारे नहीं बल्कि इतिहास से पूछकर लिखा है। 'त्यागमूर्ति' गोविन्द सिंह की एक प्रौढ़ सामाजिक कृति है जिसमें एक पूँजीपति के बाह्य एवं आन्तरिक जीवन की पोल खोलकर रख दी गई है। इस लघु उपन्यास में शान्तिलाल को केन्द्र बनाकर पूँजीपतियों की हृदयहीनता, उनकी कामुकता, शोषण की वृत्ति और उसके तरीके तथा जन साधारण की आँखों में रुपये के बल से धूल झोंकने की प्रवृत्ति आदि का बड़ा ही सजीव वर्णन किया गया है। अपनी लघु सीमा में उपन्यासकार ने समस्त बातों को इतनी सूक्ष्मता एवं कलात्मकता के साथ उपस्थित किया है कि उसका प्रभाव अनुभूति की एक अन्तिम इकाई में स्थिर होकर पाठकों के मन पर सदैव के लिये अमिट हो जाता है। 'जिस्म के सौदागर' में भूदान आन्दोलन के सामाजिक आकर्षण में खिंचे चले जाते उन रसिक युवकों एवं युवतियों की मनोवृत्ति का चित्रण है जो किसी भी पुनीत संस्था को अपनी उपस्थिति से बदनाम कर देते हैं। निश्चित ही इसमें उपन्यासकार ने पाठकों को सोचने के लिये एक नवीन भूमि दी है।

सुपाठ्य शैली का निर्वाह गोविन्द सिंह के उपन्यासों की अपनी विशेषता है और यदि वे अपनी व्यावसायिक बुद्धि से ऊपर उठकर सुरुचिपूर्ण पाठकों के लिये लिखना आरम्भ करें तो उनमें ऐसी प्रतिभा है कि वे हिन्दी साहित्य को उत्तरोत्तर अच्छी कृतियाँ प्रदान कर सकते हैं।

भिक्खु

सोने का मृग

भिक्खुजी के दो उपन्यास 'सोने का मृग', और 'सोमदेवता की घाटी में' मैंने देखा जिससे मुझे ऐसा लगता है कि भिक्खुजी को उपन्यासकार की प्रतिभा मिली है।

'सोने का मृग' वर्णनात्मक शैली में लिखा चरित्र-प्रधान मनोवैज्ञानिक उपन्यास है जिसमें जीवन नामक एक व्यक्ति के जीवन की सम्पूर्ण कथा कही गई है। मानव-जीवन एक सरिता के समान है जो अनुकूल भूमि पाकर मोड़ लेता रहता है जिसमें किसी भी व्यक्ति के आरम्भिक जीवन को देखकर उसके भविष्य के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ कह देना सरल कार्य नहीं है। इस उपन्यास का नायक जीवन बचपन में ही माता-पिता का प्यार खोकर अपने सौतेले बड़े भाई द्वारा उपेक्षित किया जाता है जिसका प्रभाव उसके जीवन पर अच्छा नहीं पड़ा। जीवन का बड़ा भाई उसको पहली

माँ से था जिसकी वहू जीवन को पुत्रवत् प्यार करती थी। बड़े भाई द्वारा उपेक्षित किये जाने का जो कारण उपन्यासकार ने ढूँढ निकाला है, वह अत्यन्त मनोवैज्ञानिक है। जीवन के बड़े भाई को पिता का उचित प्यार इसलिये नही मिला कि उसने नयी शादी कर ली थी जिससे आगे चलकर जीवन उत्पन्न हुआ और जीवन की युवती भाभी उसे इतना प्यार करती है कि रात्रि को उसे अपने पास ही सुलाती है—क्योंकि ऐसा न करने से जीवन को नींद ही नही आती, जिसका यह परिणाम होता कि वह पति की सेवा मे अधिक न रह पाती। जीवन के बड़े भाई के मन में यह धारणा घर कर गई थी कि इसी बालक के कारण उसे पिता के प्यार से वचित रहना पड़ा और आज पत्नी के रमण सुख से भी वचित रहना पड़ रहा है। परिणामस्वरूप भाई के मन मे जीवन के प्रति एक कटुता भर गई थी जिससे वह बात बात में उसे फटकार देता और एक बार तो उसने उसे पीट भी दिया था। बालसुलभ जीवन की जिज्ञासाएँ उसी प्रकार हैं जैसा कि 'अज्ञेय' जी ने 'शेखर . एक जीवनी' मे शेखर मे दिखलाया है, पर भिक्षुजी ने भरसक अवाछित प्रसंगो को उपन्यास में आने से रोका है। आरम्भिक विद्यार्थी-जीवन तथा पड़ोस की एक महिला के सम्पर्क में आकर जीवन किस प्रकार अपने भाई की नाराजी और भाभी की परेशानी का अर्थ समझता गया आदि का बड़ा ही तात्विक एव युक्तिसगत चित्रण इस उपन्यास में मिलेगा। अपने विश्वविद्यालयी जीवन मे वह किस प्रकार लड़कियो के सम्पर्क में आया, एक जमीदार के लड़के की सगति मे पड़ कर किस प्रकार वेश्या के कोठे तक गया तथा सहपाठिनी प्रियतमा को समझने मे उसने किस प्रकार भूल की, आदि का बड़ा ही सजीव चित्रण उपन्यास मे हुआ है।

भाई की मृत्यु हो जाने पर रोजी-रोटी के चक्कर में पड़कर जीवन बम्बई जाता है जहाँ उसे रास्ते में ही एक ऐसा मस्त मित्र मिलता है जिसका सम्पर्क सिनेमा-जगत से था। इस नये मित्र का एक और मित्र परिचय मे आया, जो यौन सम्बन्धी मामलो में अत्यन्त दुर्बल था। जिस स्थान पर जीवन अन्य दो बम्बइया मित्रो के साथ रहता था उसी से लगी एक ग्वाले की दूकान थी जिसकी युवा लड़की को उसके दूसरे मित्र ने फँसा रखा था और पैसा देकर उसके साथ अमानवीय कार्य अन्य लोगो से थोड़ी दूर हट कर एक ही कमरे मे करता था। जीवन को इस जीवन से घृणा थी, पर वह लड़की जीवन की ओर आकर्षित होती गई और बीमारी की हालत में उसने जीवन को बड़ी सेवा की। एक आकस्मिक दुर्घटना मे जब लड़की की मृत्यु हो गई तो उसकी मौन मनुहार का प्रभाव जीवन पर पड़ा और वह मन ही मन उसके प्रति श्रद्धालु हो उठा, पर अब समय निकल चुका था। इस प्रकार लेखक ने जीवन को बम्बई लाकर तथा उसे एक दफ्तर में नौकरी दिला कर मध्यवर्गीय आर्थिक विषमताओ का वर्णन भी कर डाला है। बम्बई में चलने वाले अनैतिक व्यापारो, गेट-वे आफ इंडिया पर लड़कियो का सौदा करने के

लिए घूमने वाले दलालो तथा लड़कियो की मक्कारी आदि का बड़ा ही सजीव चित्रण इस उपन्यास में हो गया है। ऐलिजाबेथ जो एक प्रकार से जीवन की एकमात्र प्रेमिका बन जाती है, ईसाई होते हुए भी आदर्श प्रेमिका के रूप में चित्रित की गई है। वह जीवन के लिये अपना घर जो छोड देती है क्योंकि उसकी माँ का दूसरा पति भी उसकी जवानी पर हाथ मारना चाहता था। अन्त मे उसी के सहारे जीवन बीमारी की हालत में अपनी पुरानी प्रेमिका से भी मिलता है जिससे उसने पढते समय विश्वविद्यालय मे प्रेम किया था, पर अब सब कुछ बेकार था। उसके दिन करीब आ गये थे और वह ट्रेन में चढ़ कर अन्तिम बार अपनी प्रिय भाभी का दर्शन करने गाँव चल चुका था।

उपन्यासकार की जो सबसे बडी विशेषता रही है वह यह कि कही भी अश्लील प्रसग नही आने पाये हैं जब कि उसके आने की पूरी सम्भावनाएँ थी। भाषा इतनी मजी हुई है कि उपन्यास की रोचकता में चार चाँद लग गया है। नायक के बदलते हुए विचारो अथवा भावो के आधार पर उपन्यास के अध्यायों का नाम रखा गया है और सम्पूर्ण उपन्यास तो मध्यवर्गीय युवक जीवन के अरमानो का प्रतीक है ही जो आर्थिक विषमता मे झुलस कर सोने के मृग बन गये हैं। भिक्खु का यह उपन्यास अनेक दृष्टियो से नयी पीढ़ी के उपन्यासों में महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

सोमदेवता की घाटी में

'सोने के मृग' की ही शैली पर लिखा भिक्खु जी का यह दूसरा उपन्यास है जिसमे मसूरी को सारी कथा का केन्द्र-स्थान बनाया गया है। उपन्यास की नायिका दूर्वा अपने प्रेमी के अभाव में जो पिछले जीवन की याद करती है, वही सचित्र उपन्यास का रूप धारण कर गया है। दूर्वा को माँ हेलन ने, जिसका पहले का नाम हरदेई था, दूर्वा को विवाह के पूर्व ही उत्पन्न किया था और दूर्वा का पिता उसके पैदा होने के पूर्व ही उसकी माँ को छोडकर चला गया था, पर माँ की ममता विचित्र होती है। हेलन ने दूर्वा के लिए क्या-क्या नहीं किया! वासना के कीडो का मनोविनोद किया, सगीत अध्यापिका बनी तथा उसने पीटर नामक ईसाई से ब्याह किया।

पीटर एक अग्रेज गोरे का ड्राइवर था जिसने भारत स्वतत्र होने पर इगलैण्ड जाते समय मसूरी का अपना समर-विला बगला जहाँ गर्मियाँ बिताई जाती हैं, पीटर को दे दिया था। अब पीटर का क्या पूछना था! उसने हेलन से ब्याह किया, उसे छोटे घर से निकल कर कोठी म आने के लिए विवश किया और नयी जिन्दगी के अनेक नये मसूबे बनाने लगा। वह कोठी के प्रबन्ध के लिए किस प्रकार से बेचैन रहता है, उपन्यासकार ने इस का चित्रण करके एक ऐसे व्यक्ति का सजीव चित्रण किया है जो जीवन भर तो दरिद्र का जीवन व्यतीत करता रहा और सहसा रातों रात अमीर हो गया। पीटर को अधिकाधिक पैसे को चाट लगी। वह समर विला मे किरायेदार रखता है और यहाँ तक

कि जवान छोकरी दूर्वा की जवानी को भी रुपये कमाने का साधन बनाना चाहता था, पर हेलन के संस्कारों के कारण और दूर्वा के स्वयं के संस्कार जिसमें बाधक होते हैं और वह असफल रहता है। पहला किरायेदार सुरेश आया जो बीमारी की हालत में था, पर उसे मालदार समझ कर पीटर दूर्वा को उसके पास भेजता है। बाद को मिस्टर टडन रेलवे कण्ट्रैक्टर, मि० ग्रियर्सन और वीरेश्वर भूगर्भवेत्ता आदि आते हैं और एक के बाद दूसरे को धनी समझकर पीटर की धारणा उत्तरोत्तर बदलती जाती है। इस स्थल पर पीटर के परिवर्तित होते स्वभाव का चित्रण करने में उपन्यासकार ने अपनी शैली की पराकाष्ठा दिखला दी है। पिकनिक आदि की व्यवस्था करके उपन्यासकार ने पहाड़ी जीवन के बड़े ही मनोरम चित्र उपस्थित किये हैं। दूर्वा मि० टण्डन की आँख में गड़ जाती है। वह रुपये देकर मिसेज ग्रियर्सन को भी मिलाता है, पर दूर्वा का प्रेम सुरेश की ओर ही बढ़ता है। उपन्यासकार भिक्षु की नायिकाओं की जैसे यह दुर्बलता है कि वे अपने प्यार का अमृत-घट एक मरीज युवक पर ही उड़ेलती है। अंग्रेज साहब के बुलावे पर पीटर इगलेंड चला गया है। हेलन कहीं बाहर चली गयी है और बूढ़ा शेरसिंह ही केवल समर-विला में रह गया है। उसी समय सुरेश के अभाव में दूर्वा ने जो कुछ सोचा है वही उपन्यास बन गया है। शेरसिंह एक स्वामिभक्त नौकर के रूप में चित्रित किया गया है। पीटर ने साँप काटने पर शेरसिंह की जान बचाई थी जिससे वह जीवन भर उसका आभारी रहा। फिजूलखर्ची के कारण जब पीटर-दम्पति का गहना तक बिक गया था तो भी वह उन्हें छोड़कर कहीं नहीं गया।

मंसूरी के क्षेत्रीय जीवन, उसमें होने वाली दावत-पार्टियाँ तथा चलने वाले सस्ते रोमांस आदि का बड़ा ही सजीव चित्र इस उपन्यास में आया है। ऐसा लगता है कि 'सोने के मृग' के ही कुछ पात्र इसमें निकल कर विकसित हो गये हैं। दूर्वा ऐलिजाबेथ और सुरेश जीवन के मोहपाश से जान पड़ते हैं।

कन्हैयालाल ओझा

मकड़ी का जाला

इस उपन्यास की नायिका कमला अपने स्वाभाविक नारी अधिकार के लिये जूझती है और उपन्यास का नायक नटनागर पौरुष से अक्षम होते हुए भी अपने पुरुष अधिकार से उस पर कुठाराघात करता है। नारी बिखरती है और पुरुष उसके बिखरे तत्व को अपने अधिकार के मकड़ी के जाले में फँसाने की चेष्टा करता है। सम्पूर्ण उपन्यास में रेलवे दफ्तर में काम करने वाले बाबुओं के सस्ते प्रेम-प्रसंगों का वर्णन भरा पड़ा है। नटनागर जो रेलवे दफ्तर मे एक वरिष्ठ क्लर्क है जिसका सहायक कमल अथवा कमल-नयन उसके परिवार के सम्पर्क में आता है। नटनागर के घर प्रथम दावत समारोह में ही कमलनयन ने साहस करके स्वागत करती कमला की अंगुलियाँ धीरे से दबा दी थी

जो भविष्य में उसके आकर्षण का कारण बना। नटनागर में पौरुष की कमी थी जिसका अनुभव किये बिना उन्होंने अपनी युवती पत्नी को कमलनयन की शिष्या बना दिया। कमलनयन ने कमला को पढाकर हाई स्कूल और पुनः बी० ए० पास कराया जिसके दौरान दोनों के बीच मनैतिक शारीरिक सम्बन्ध भी स्थापित हो गया था। इसी बीच नटनागर को डाक्टरों ने टी० बी० का मरीज घोषित कर दिया जिससे उसे चिकित्सा के लिये बाहर जाना पड़ा और कमलनयन पूर्णतः उसके घर का इंचार्ज हो गया। घर पर एक स्वामिभक्त नौकर दादू को छोडकर युवती कमला को देख रेख करनेवाला दूसरा कोई नहीं था। दादू अपना एक हाथ खो चुका था जिसकी आरम्भिक चिकित्सा चोट लगने पर कमला के ही द्वारा हुई थी और उसी के ही सत्प्रयत्नों से वह असमर्थ होते हुए भी पुनः सेवा में ले लिया गया था। दादू को नया जीवन मिला था जिसे वह कमला का ही समझता था। कमला की प्रसन्नता ही उसके लिये सब कुछ थी। जिससे वह जानते हुए भी उसकी सारी बुराइयों पर पर्दा डालता रहता था। इस पात्र का निर्वाह बड़ा ही जीवन्त हुआ है।

उसी रेलवे दफ्तर का हेड क्लर्क धर्मप्रकाश जिसे उपन्यासकार ने बच्चा उत्पन्न करने में विशेषज्ञ के रूप में दिखलाया है, कमला को गर्भवती बना देता है। इसमें सन्देह नहीं कि कमला के पर-पुरुष-गमन के मूल मे उसके पति की पुंसत्वहीनता ही थी। पर विचित्र बात तो यह है कि उपन्यासकार ने कमलनयन और धर्मप्रकाश का ऐसा समझौता दिखलाया है कि दोनों एक दूसरे के कमला विषयक सम्बन्धों को जानते हुए परस्पर प्रतिद्वन्द्वी नहीं बन पाते जो अत्यन्त असम्भव था। वह नटनागर के पास बम्बई चली जाती है जहाँ एक नर्स की सहायता से कमला का बच्चा रेलवे के एक अधिकारी मिस्टर कपूर की पागल पत्नी को दे दिया जाता है, जिसे वह बाद में मिस्टर ओझा (उपन्यासकार) की सहायता से पुनः प्राप्त कर लेती है। बच्चे के आकर्षण के कारण ही कमला मिस्टर कपूर के स्कूल में चली जाती है जिससे नटनागर का सन्देह बढ़ता है और दोनों में अनबन रहने लगती है। नटनागर कमला के पर-पुरुष-गमन से परिचित है, वह अपनी आँखों से कमलनयन को कमला के साथ देख चुका है, पर अपनी शारीरिक असमर्थता के कारण न तो वह प्रतिकार कर पाता है और न तो नारी-मोह के कारण पत्नी का त्याग ही करता है। इस विचित्र स्थिति में वह बराबर अपने मन से समझौता करता रहता है और कमला का असन्तुष्ट काम चाहकर भी उसे पति के प्रति आस्थावान नहीं बनने देता। एक स्थिति ऐसी आती है जब कि संयम का बाँध टूटकर ही रहता है और उसी स्थिति में पहुँच कर अपने बच्चे के रक्षार्थ कमला अपने पति नटनागर की हत्या करती है जिसका अपराध कमला को बचाने के लिए दादू अपने ऊपर लेना चाहता है। दादू का चरित्र इस स्थान पर पहुँचकर अपनी पराकाष्ठा को पहुँच जाता है। इसी समय मिस्टर ओझा पुनः आते हैं जिन्होंने कमला को बहन कहा

था। कमला शोभा की ओर आकर्षित भी हुई थी क्योंकि वह कमलनयन को छोड़कर उसके साथ पहाड़ तक खिचती चली गई थी। कमला का जीवन घृणित अवश्य रहा है, पर उपन्यास का अन्त इतना प्रभावशाली है कि उसके समस्त बुरे कर्मों के प्रति पाठकों के मन में सहानुभूति ही जगती है। यह पूर्णतः मनोवैज्ञानिक उपन्यास है जिसमें समाज के एक विशेष अंचल, रेलवे दफ्तर के क्लर्कों का वर्णन किया गया है।

मन्मथनाथ गुप्त

'रक्षक-भक्षक', 'दुश्चरित्र', 'अवसान', 'जययात्रा', 'अन्धेर नगरी', 'जिच', 'सुधार' आदि उपन्यासों के प्रणेता मन्मथनाथ गुप्त का अपराजिता उपन्यास उनकी बाद की रचना है। उपन्यास स्वतन्त्रता-आन्दोलन की पृष्ठभूमि मे लिखे जाने वाले उपन्यास सप्तक की चौथी कड़ी है। इसमें क्रांतिकारियों के उस समय की गतिविधि का वर्णन है जब कि भगतसिंह को फाँसी दी जा चुकी थी और प्रेमचन्द भी फाँसी के तख्ते पर झूल चुके थे। कानपुर के हिन्दू मुस्लिम दंगे मे हुए शहीद गणेश शंकर विद्यार्थी की मृत्यु से हिन्दुओं में क्षोभ का वातावरण व्याप्त था और मुसलमान भेष में छिपे हिन्दू क्रांतिकारियों को भी कभी-कभी हिन्दुओं से बचने मे कठिनाई हो जाती थी। प्रसिद्ध क्रांतिकारी अमिताभ अपने भाई डा० अरविन्द तथा अपर्णा जो पहले प्रेमचन्द की प्रेमिका रही और अब अमिताभ से प्रेम करने लगी है, के साथ संकट मे फँस गया था। सम्पत्ति ऐसे ही गोल का सरदार है जो मुसलमानों को निकाल भगाना चाहता है जिससे वह तमोली की हत्या हो जाने के कारण जेल भी जाता है। थानेदार सुल्तानसिंह उपन्यास मे अत्यन्त नीच स्वभाव के व्यक्ति के रूप मे चित्रित किये गये हैं, जो अमिताभ को अपने सम्बन्धी शिवचरन के साथ गिरफ्तार कर बीस हजार रुपये के पुरस्कार की लालच में अपनी विस्तौल 'शिशु' को जिसका असली नाम श्रीकान्त था दे आया। शिशु की पत्नी सुधा उसे क्लीव कह कर पाँच वर्ष बाद पुरन्दर के साथ चली गई थी क्योंकि वह मद्रसेन को न मार सका।

रजत तारा से प्रेम करता है जो प्रेमचन्द से प्रेम करती थी, पर रजत के साथ भी मनबहलाव कर लेती थी। पूरे उपन्यास मे क्रान्ति की ओट मे चलने वाले क्रांतिकारियों के ही प्रेम-प्रसगों की चर्चा हुई है, पर ऐसे स्थलों पर उपन्यासकार ने सयम से ही काम लिया है। अपवादस्वरूप उपन्यासकार डा० अरविंद की पत्नी सरोज के चित्रण मे अपनी कलात्मकता का परिचय नहीं दे पाया है। सरोज एक दुर्बल नारी है जिसे पुलिस के जासूस इसलिए उठा ले गये थे कि उसके द्वारा अमिताभ का पता लगा सकेंगे। उन लोगों के बीच सरोज को अनेक यातनाएँ सहनी पड़ी फिर भी जब उसने अमिताभ का पता नहीं बताया तो उन लोगों ने उसके सारे वस्त्र उतार कर अनावरण कर दिया। लेखक केवल संकेत मात्र से इस घटना का चित्रण कर सकता था और उसके उद्देश्य की

सिद्धि मे किसी प्रकार की बाधा भी न आ पाती, पर उसने इस स्थल पर हमें ऐसा घिनौना रूप दिखाया है कि कल्पना की आँखें भी मुंद जाती है। घर आने पर डा० अरविंद ने सरोज को इसलिए जहर देना चाहा कि अमिताभ को पुलिस की जानकारी से दूर रख सके जिसका अमिताभ ने भयंकर प्रतिरोध किया। यहाँ पर हमें डा० अरविंद तथा अमिताभ के पारस्परिक स्नेह का सुन्दर परिचय मिल जाता है। सुधा भी एक दुर्बल नारी के रूप में चित्रित की गई है जिसे किसी पुरुष ने तो आवरणहीन नही किया पर वह एकान्त में कामुकता के प्रवाह मे स्वयं वस्त्रहीना हो कोच से लिपट जाती है। यह एक रीढ़हीन नारी है। अर्चना का चरित्र सभी दृष्टियो से सुन्दर एवं आदर्श है। पुस्तक समाप्त कर लेने पर कथा अधूरी मालूम पडती है जिससे पाठक के मन में किसी प्रकार का वातावरण नही बन पाता। कथानक का प्रमुख भाग काशी से सम्बन्धित है और कुछ प्रमुख घटनाएँ कानपुर की भी हैं, पर इतना तो स्वीकार करना ही पडेगा कि क्रांतिकारियो के जीवन का बडा ही सरस चित्रण इस उपन्यास मे हुआ है।

देवेन्द्र सत्यार्थी

उपन्यासकार देवेन्द्र सत्यार्थी के 'दूध-गाछ', 'कथा कहो उर्वशी' और 'ब्रह्मपुत्र' प्रमुख उपन्यास हैं।

दूध-गाछ

यह उपन्यास 'दो परछाइयाँ, मीना बाजार और कोजागरी तीन खण्डों में विभक्त है। उपन्यास की सृष्टि सोद्देश्य हुई है जो शीर्षक से ही स्पष्ट है। दूध-गाछ का प्रयोग सृजन शक्ति के अर्थ मे हुआ है, माँ जिस शक्ति की प्रतीक होती है। यदि इस शब्द की हम उदारतापूर्वक व्याख्या करें तो कह सकते हैं कि परम्परा के क्रमिक विकास का आधार ही दूध-गाछ है। यह वह शक्ति है जो समय आने पर स्वाभाविक रूप में विकसित होने के लिए संघर्ष करने लग जाती है। चाहे वह नारी में मातृत्व की भावना के रूप में हो, साहित्यकार की दृष्टि के रूप मे हो अथवा संगीतज्ञ के संगीत रूप में हो। नारी माता के रूप में, साहित्यकार आचार्य के रूप में और संगीतज्ञ संगीत-गुरु के रूप में अपनी परम्परा को विकसित करते रहते हैं।

इस उपन्यास की अभिनेत्री 'इरा' माँ बनने के लिए और शंखधर अपने संगीत-गुरु रुद्रपदम् की विद्या-परम्परा को विकसित करने के निमित्त पंचानन जैसे शिष्य के निर्माण के लिए अज्ञात शक्ति से प्रेरित हो कर व्याकुल हैं, यही है सत्यार्थी जी का दूध-गाछ जिस दृष्टिपथ मे रख कर उन्होंने उपन्यास की सरस एवं कलात्मक कथा का निर्माण किया है।

शास्त्रीय संगीत के प्रति पूर्ण निष्ठा व्यक्त करने के लिए ही इस उपन्यास की सृष्टि हुई है जिसकी कथा को केरल स्थित वरकला के सागर तट की वाणी और बम्बई के तटीय संगीत मे घुले-मिले छिने कलाकारो के मन्द्र नूपुररणन की गतिमय थिरकन मिली

है। संगीनाचार्य रुद्रपदम् जो अपनी शास्त्रीय परम्परा के विकास के निमित्त चिंतित हैं और उससे दूर भाग कर बम्बई के सिनेमा जगत के हलके-फुलके सस्ते संगीत के माध्यम से धनोपार्जन के पीछे पागल अपने एकमात्र पुत्र गोविन्दन की प्रवृत्ति से दुखी भी हैं। यद्यपि वे पुत्र के रूप में तो अपनी विद्या का विकास नही कर सके पर मानसपुत्र शंखधर, जो उनका योग्य शिष्य था, के रूप में उन्होंने अपना दायित्व पूरा किया। उन्होंने जो अपनी एक आत्म-कथा लिख छोड़ी थी शंखधर उसका प्रचार करके गुरु-ऋण से मुक्त होना चाहता था जिसके लोभ में वह गोविन्दन के साथ बम्बई चला आया कि वह वहाँ 'गुरुदेव' नामक फिल्म का निर्माण कराने मे सफल होगा। इस प्रकार प्रथम खण्ड दो परछाइयाँ मे उपन्यासकार ने शंखधर के बम्बई जाने के पूर्व तक की कथा को लिया है। कथा का अंश बहुत थोड़ा है पर केरल को प्राकृतिक सुषमा, अनेक स्थानो के साथ लिपटी पौराणिक कथा, लोगो के हृदय में शास्त्रीय संगीत के प्रति अपार प्रेम, प्राचीन कलात्मक देव मन्दिरो की महिमा तथा रुद्रपदम् की साठवी वर्ष-गाँठ के अवसर पर संगीत समारोह में प्रसिद्ध गायक फैय्याज खाँ का आगमन और गाते-गाते रुद्रपदम् की अलौकिक मृत्यु आदि का जो कलात्मक वर्णन इस उपन्यास में हो पाया है वह अपनी विशेषता के कारण हो नीरस होने से बच गया है और पाठक उसे चाव-पूर्वक पढ ले जाता है। आचलिक उपन्यासो की शैली मे लिखा यह उपन्यास संस्कृत महाकाव्यो की वर्णन-शैली की स्मृति दिलाता है और उपन्यासकार का जो दावा है कि वह उपन्यास नहीं 'महाकाव्य' लिख रहा है यदि यह महाकाव्य है तो इसका आदर्श संस्कृत महाकाव्य ही है। वरकला से कथा को उठा कर बम्बई में जो लेखक ने प्रतिष्ठित कर दिया है उससे यह उपन्यास आचलिक होने और कथातत्व के अभाव से मुक्त हो गया है।

'मीना बाजार' खण्ड में सिनेमा-जगत की रंगीनियों, अभिनेता-अभिनेत्रियो के जोडे, निर्माता-निर्देशक के हथकण्डो तथा नये चेहरो की परेशानियो आदि का बडा ही हृदयग्राही चित्र उतारने में लेखक को सफलता मिली है। सागर की लहरो से तो उसे ऐसा लगाव है कि जैसे उनका आकर्षण उसके जीवन का एक अंग ही बन गया है। जहाँ कही भी उपन्यास के पात्र एक दूसरे से मिलकर उपन्यास की कथा को आगे बढाते, वहीं सागर को लहरें साक्ष्य देने के लिए दिखलाई पड जाती हैं। यदि इन लहरो का साक्ष्य न होता तो निःसन्देह लेखक 'मीना बाजार' में खो जाता। उपन्यास का अधिकाश महत्वपूर्ण भाग सिनेमा-जगत में ही घूमता रहा है, पर कही भी अश्लीलता को गंध भी नहीं आ पाई है, जिसके लिए लेखक को साधुवाद देना ही पडेगा। हिन्दी मे अनेक उपन्यास सिनेमा-जगत की कुरीतियो को लेकर लिखे गए हैं पर सत्यार्थी जी ने उन्हें बहुत पीछे छोड दिया है। लम्बे-लम्बे पत्रो, अभिनेता और अभिनेत्रियो के व्याख्यानो के उद्धरण से भी यदि उपन्यासकार बच निकला होता तो उपन्यास में चुस्ती भी आ गई होती। लोकगीतो का मोह भी कथा-प्रवाह में यत्र-तत्र बाधक हुआ है।

शंखधर और इरा उपन्यासकार की अनुपम सृष्टि हैं। कीचड़ में जिस प्रकार कमल खिलता है वैसे ही उपन्यास के दोनों पात्र अपने परिवार की सीमा से ऊपर उठे हैं। यदि मूर्तिकार का परिवार शंखधर को अपनी सीमाओं में न बाँध सका तो वेश्या मैना के चोचले भी पुत्री अभिनेत्री इरा को उसके आदर्शों से नीचे नहीं उतार सके। शंखधर का मातृत्व को प्रकट करने वाली मूर्ति इरा को देना और उसका प्रेम प्राप्त कर लेना जिसमें उसका स्वभाव और शास्त्रीय संगीत भी सहायक हुआ अत्यन्त स्वाभाविक एवं मनोवैज्ञानिक भी है। इरा को छोड़कर शंखधर का धरकला वापस आना उसकी मानसिक उलझन का प्रतीक है। जिस प्रकार बम्बई ने '/गुरुदेव' फिल्म को बाद में समझा उसी प्रकार शंखधर ने भी इरा को बाद में ही समझा। इरा का धरकला आना और जया को छोड़कर पुनः बम्बई लौटना तथा परिणाम स्वरूप जया के कारण ही शंखधर का हठ छोड़कर बम्बई के लिए तैयार होकर चल पड़ना अत्यन्त कलात्मक है। इस अधूरे अन्त से उपन्यास पाठकों के हृदय में जो टीस पैदा कर देता है, उसे पाठक नहीं भूल पाता और उपन्यास के कहानी तत्व की यही सबसे बड़ी विशेषता है जिसमें 'दूध-गाछ' के स्रष्टा को पूर्ण सफलता मिली है। उपन्यास की कथा का आरम्भ भी रेलवे स्टेशन से हुआ था और उसका अन्त भी, जिससे स्पष्ट हो जाता है कि कथा के निर्माण में उपन्यासकार अत्यन्त सजग है।

वनकाम सुनील

सामंत बीजगुप्त

भगवतीचरण वर्मा के प्रसिद्ध उपन्यास 'चित्रलेखा' से प्रेरित होकर यह उपन्यास लिखा गया है। उपन्यास में वर्णित घटनाएँ और प्रमुख पात्र दोनों के एक से ही हैं यहाँ तक कि उनके नामों में भी अन्तर नहीं है। पाप और पुण्य की समस्या को ही 'चित्रलेखा' की भाँति इसमें चर्चा का विषय बनाया गया है पर कथा के वर्णनक्रम में थोड़ा अन्तर आ गया है। भगवतीचरण वर्मा की 'चित्रलेखा' की भाँति इस उपन्यास की चित्रलेखा विधवा नहीं बल्कि कुमारी के रूप में अवैध गर्भ धारण करती है। उसका साक्षात्कार सर्वप्रथम बीजगुप्त और कुमारगिरि से सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य की राजसभा में न होकर काशी में उस समय हुआ था जब वह अपनी अवैध नवजात सन्तान को गंगा की लहरों को सौंपने जा रही थी और महाप्रभु रत्नाम्बर द्वारा बचा ली गई थी। कालांतर में शीघ्र ही उपन्यास के सभी पात्र पाटलिपुत्र की राज-सभा में एकत्र होते हैं। राज्य दिवस के अवसर पर महती राजसभा के समारोह में भाग लेने के लिए दूर-दूर के कलाविद् इकट्ठे हुए थे। काशी की महानर्तकी, जिसने शिष्या बाद में चित्रलेखा को नर्तकी जीवन में प्रविष्ट किया था, चित्रलेखा को साथ

लेकर समारोह में आयी थी। कान्यकुब्ज की प्रसिद्ध नर्तकी सुनयना जिसे लौटते समय बीजगुप्त समारोह में भाग लेने के लिए साथ लेता आया था, इस उपन्यास की नई अवतारणा है। बीजगुप्त के वीणावादन पर नृत्य करना सामान्य नर्तकियों के लिए सरल नहीं था। सुनयना और चित्रलेखा एक साथ इस शर्त पर नृत्यरत होती हैं कि पराजित होने वाली को यावज्जीवन दासी जीवन बिताना होगा। सुनयना बीजगुप्त की वीणा का साथ न दे सकी और चित्रलेखा ने ऐसा अद्भुत नृत्य किया कि सभा मात्र विभोर हो उठी। बीजगुप्त ने अपने गले की मोती माला चित्रलेखा और सम्राट ने बीजगुप्त के गले में डाल दी। यहीं सम्राट ने तिष्या को चित्रलेखा के नाम से विभूषित किया, वह राजनर्तकी बनी और सुनयना को दासी बनना पड़ा जिसे उसने प्रसन्नता-पूर्वक स्वीकार किया, इसी बीच कुमारगिरि ने आकर केवल चित्रलेखा का ही नहीं बल्कि उसके माध्यम से समस्त राजसभा का अपमान किया।

काशी से लौटते समय मातुल गृह से लौटती सामंत मृत्युंजय की कन्या यशोधरा की डाकुओं से रक्षा सामंत बीजगुप्त ने की जिसमें उसे घायल भी होना पड़ा था। परिणामतः यशोधरा बीजगुप्त के प्रेम फाँस में पड़ गई थी, पर चित्रलेखा के प्रति बीजगुप्त का प्रेम उससे छिपा न रह सका। इस समय तक महाप्रभु रत्नाम्बर के दो शिष्य विशाल देव और श्वेतांक पाप-पुण्य की जानकारी के निमित्त योगी कुमारगिरि और भोगी बीजगुप्त के पास पहुँच चुके थे।

इस उपन्यास में चित्रलेखा और यशोधरा की मानसिक प्रतिक्रिया देखने योग्य है। चित्रलेखा अपमानित करने वाले योगी कुमारगिरिको पराजित करती है, उसे बीजगुप्त की हत्या के प्रयत्न के अपराध में न्यायालय के सम्मुख उपस्थित भी होना पड़ता है, पर इस उपन्यास का कुमारगिरि भगवतीचरण वर्मा के कुमारगिरि से अधिक स्वाभाविक जान पड़ता है। लगता है भगवतीचरणजी ने कुमारगिरि के माध्यम से जिस भारतीय अध्यात्मवाद का मखौल उड़ाया था उसका इस उपन्यास में प्रायश्चित्त किया गया है। मानव सुलभ दुर्बलता के कारण योगी गिरता अवश्य है पर बाद में वह अपनी जिस दृढ़ता का परिचय देता है उससे वह अत्यन्त महान हो गया है और यशोधरा की सुख शांति के प्रयत्न में वह चित्रलेखा को जल मार्ग में रोक रखने के निमित्त प्रयत्न में जो स्वयं आकस्मिक जल समाधि ले बैठता है उसमें तो वह श्रद्धा-मिश्रित करुणा की एक टीस पाठकों के हृदय पटल पर छोड़ जाता है।

चित्रलेखा भी जलावर्त में समाधि ले लेती है नहीं तो वह यशोधरा और बीजगुप्त के परिणय में बाधा डालने का संकल्प कर चुकी थी। भगवतीचरण वर्मा ने बीजगुप्त का परिणय यशोधरा से न कराकर यशोधरा और श्वेतांक का परिणय कराया है क्योंकि उन्हें बीजगुप्त के वैभव त्याग का ढिंढोरा पीटकर विरक्त जीवन का महत्व

दिखाना था। इस उपन्यास में यशोधरा की मानसिक प्रतिक्रिया का अत्यन्त सजीव चित्र खींचा गया है जो भगवतीचरण वर्मा की चित्रलेखा को बहुत पीछे छोड़ देता है। विलासी वातावरण का चित्रण तो इस उपन्यास में भी है पर असंयम को यहाँ भी स्थान नहीं मिला है जो उपन्यासकार की सब से बड़ी विशेषता है। बीजगुप्त का चरित्र भी अपेक्षाकृत अधिक महान है। जहाँ तक कलात्मकता का प्रश्न है मुझे कुछ नहीं कहना है, भगवतीचरण जी लेखनी के धनी हैं पर अनेक दृष्टियों से सामंत बीजगुप्त के महत्त्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

रघुनाथ सिंह

संस्कार

कवि चन्द के 'पृथ्वीराजरासो' के साक्ष्य पर आधारित 'संस्कार' एक ऐतिहासिक उपन्यास है जिसमे मूलतः इतिहासप्रसिद्ध मुहम्मद गोरी के अनुज 'हुसेन' तथा हिन्दू युवती 'चित्ररेखा' के स्वच्छन्द प्रेम को केन्द्र में रखकर भारतीय वीरोचित राष्ट्रीय संस्कारों का ही सजीव चित्रण हुआ है। प्रेम हृदय की स्वाभाविक वृत्ति है जिसे धर्म, जाति एवं राष्ट्र की सीमित परिधि में नहीं बाँधा जा सकता। चित्ररेखा का जन्म हिन्दू परिवार में हुआ था पर वह लूट में प्राप्त वस्तु की भांति बर्बर यवनों के हाथों सतीत्व खोकर गजनी के शाह मुहम्मद गोरी के दरबार में नर्तकी बनने के लिये विवश पहुँचाई जाती है। जिस चित्ररेखा को पातुर अर्थात् वेश्या की संज्ञा दी गई उसके भी जातीय संस्कार पूर्ववत् बने रहे। वह यवनों को शरीर देने एवं रिझाने के लिये भले ही बाध्य हुई, अनिच्छा से ही सही, उसे गोरी की बगल में सटकर भले ही बैठना पड़ा था, उसने हिन्दू रमणी की भांति जो 'हुसेन' को अपना जीवनसाथी एक बार चुन लिया तो अन्त तक उसका साथ निभाया। शाह का ऐश्वर्य और प्राणों का भय उसे अपने प्रेम-पथ से न डिगा सका भले ही उसे चोरों की भाँति 'हुसेन' के साथ चलकर महामानवों के देश भारतवर्ष के तत्कालीन सम्राट पृथ्वीराज की शरण लेनी पड़ी जिसने भी राष्ट्र को संकट में डालकर भारत के ऐतिहासिक गौरव की रक्षा की।

पृथ्वीराज पर मुहम्मद गोरी के एकाधिक आक्रमण और उनमे बार बार उसके पराजित होने की घटना वीररससिद्ध कवियों का अत्यन्त प्रिय विषय रहा है पर इस आक्रमण के मूल में नारी को ला उपस्थित करना श्रीरघुनाथ सिंह की अपनी विशेषता है जिसने इस लोकविश्रुत घटना को स्वाभाविकता का आधार मिल गया है। गोरी द्वारा भेजे गये दूत को पृथ्वीराज के सामंतों ने जैसी चुनौती दी है तथा भावी संकट पर पृथ्वीराज ने कैमास, कन्ह तथा चन्द आदि परिषदों से जैसी मंत्रणा की है उससे तत्कालीन स्वस्थ राजतंत्र की झाँकी मिल जाती है। उपन्यास में अनेक ऐसे मर्मस्पर्शी स्थल भरे पड़े हैं जिनमें पाठक की बुद्धि विह्वल हो करुणार्द्र हो जाती है। उपन्यास का

अन्त तो अत्यन्त प्रभावोत्पादक है। 'हुमेन' के शव के साथ चित्ररेखा का जीवित कब्र में बैठना तथा पृथ्वीराज का वीरोचित अभिवादन और गोरी की सेना का साधुवाद के लिए विवश होना स्वयं में एक मार्मिक घटना है।

चित्ररेखा को रामायण का पाठ करते हुए उपन्यासकार ने दिखलाया है जिसे कुछ लोग अस्वाभाविक एवं अनैतिहासिक कह सकते हैं क्योंकि रामायण के पाठ के साथ तुलसीकृत रामायण का ही सहसा स्मरण हो उठता है, जबकि तुलसीकृत रामायण उस समय अस्तित्व मे ही नही था। इसे असगत वर्णन कहकर इसलिये नही टाला जा सकता क्योंकि वाल्मीकि रामायण का भी पाठ किया जा सकता है, पर 'चित्ररेखा' की शिक्षा-दीक्षा की भी चर्चा उपन्यासकार को पूर्व में ही कर देनी थी जिससे आलोचकों का मुँह बन्द हो जाता? कथा का परिवेश व्यापक न होने के कारण गठा हुआ है और ऐसा लगता है कि मार्मिक तत्वो की पकड उपन्यासकार में है क्योंकि गजनी के शाहीबाग मे मिले 'हुमेन' के शाल मे हो उपन्यास में बन्धु-कलह आरम्भ हुआ है और वही शाल अन्त में दोनो प्रेमियो का कफन भी बना। इसमें सन्देह नही कि सर्वत्र आर्योचित भारतीय संस्कारो को उभाड़ कर रखने का इस उपन्यास में प्रयत्न किया गया है।

फणीश्वरनाथ रेणु

रेणु जी के आंचलिक उपन्यासो ने हिन्दी उपन्यास-साहित्य में एक विशेष विधा को गौरवान्वित किया है। उनके 'मैला आंचल' और 'परती परिकथा' की विशद चर्चा मैंने आंचलिक उपन्यास के सन्दर्भ में की है। दीर्घतपा उनका नवप्रकाशित उपन्यास है।

दीर्घतपा

अपने इस लघु एवं महत्वपूर्ण उपन्यास मे रेणु जी अपने पूर्व उपन्यासो की भूमि से कुछ खिसकते जान पडते हैं, जो कथात्मकता की दृष्टि से शुभ ही माना जायगा। मैला आँचल और परती परिकथा में कथातत्व का अभाव पाठको को बहुत खटका था और उनके इतिवृत्तात्मक वर्णनो से कही-कही ऊब का भी अनुभव उन्होंने किया था पर इस उपन्यास में ऐसी कोई शिकायत नही है। सुधारवादी सामाजिक महिला संस्थाओं में चलनेवाले अनैतिक व्यापारो की पोल उपन्यास-साहित्य मे बहुत पहले से ही खोली जा रही है, जिससे विषय-चयन की दृष्टि से इस उपन्यास के माध्यम से रेणु जी कोई नवीन विषय हिन्दी उपन्यास-साहित्य को दे सके हैं, ऐसा नही कहा जा सकता, पर विषय को प्रस्तुत करने का उनका ढंग नया है, इसे स्वीकार करना पडेगा। राष्ट्रीय आन्दोलन के आस-पास की भूमि रेणु जी को बहुत प्यारी है और इस सन्दर्भ में गाँवो के बदलते हुए संस्कार और विचार उन्हे अपनी ओर बरबस खींच लेते हैं, ऐसा जान पड़ता है। मैला आँचल और परती परिकथा में 'भी जिस अंचल को स्थान मिला है

उसका जनजीवन भी राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रकाश में चंचल दीखता है। दीर्घतपा को भी उपन्यास के प्रमुख पात्र 'बेला गुप्ता' की स्मृति के आधार पर उपन्यासकार क्रान्तिकारियों की गतिविधि तक खींच ले गया है और असली-नकली क्रांतिकारियों की चर्चा कर गुजरा है। मुख्यतः महिला छात्रावास में चलनेवाले पाप व्यापारों का उद्घाटन करना ही उपन्यासकार का उद्देश्य रहा है। व्यावसायिक शिक्षा देने वाले ट्रेनिंग केन्द्रों का विकास भारत में स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद हुआ है। ऐसी संस्थाओं का संचालन गैर सरकारी गलत व्यक्तियों के हाथों में पड़ कर किस प्रकार पापाचार को प्रश्रय दे रहा है इसे व्यक्त करने के लिए 'रेणु' जी ने 'वर्किङ्ग विमेन्स होस्टल' की बाँकीपुर पटना में कल्पना की है और लगे हाथों बांकीपुर पटना की क्षेत्रीय विशेषताओं को चित्रित करने का उन्हें अवसर मिल गया है। यद्यपि उपन्यास में वर्णित पटना भारत के किसी भी कोने का प्रतिनिधित्व कर सकती है पर सामाजिक आचार-विचार-भाषा-व्यवहार तथा गाली गलौज के लिए जिस आदर्श को उपन्यासकार ने सामने रखा है उससे अंचल विशेष का बोध उपन्यास में आरम्भ से अन्त तक बना रहता है। इस प्रकार आंचलिकता का आग्रह रेणुजी इस उपन्यास में भी नहीं छोड़ सके हैं, पर आंचलिकता के दोषों को एक सीमा तक ही इसमें स्वीकार किया गया है, उपन्यास की समस्या, प्रतिपाद्य एवं कथात्मकता को उससे किसी प्रकार की बाधा नहीं पहुँची है।

उपन्यासकार ने आरम्भ और अन्त में सफाई देने की भी कोशिश की है जिसकी आवश्यकता नहीं थी, बातें बहुत साफ हैं, और पाठक बड़ी आसानी से उन्हें समझ लेता है, केवल कथा-गठन में नवशिल्प का आग्रह प्रकट करने के लिए ही लगता है उन्होंने ऐसा किया है। उपन्यास का आरम्भ और अन्त प्रसंग नाटकीय ढंग पर हुआ है और कुतूहल को बराबर बनाए रखने की चेष्टा रेणुजी ने की है जो उनकी शिल्पगत नवीनता का परिचायक है। कहानी-कला का सुन्दर नमूना इस उपन्यास में मिलता है। 'यह उपन्यास' शीर्षक से जो वक्तव्य रेणुजी ने आरम्भ में दिया है वह इसलिए विचारणीय है कि जब कृतिकार अपनी कृति के सम्बन्ध में कुछ कहता है तो समीक्षक का कार्य कुछ आसान हो जाता है। 'यह उपन्यास ''''' नहीं आंचलिक नहीं हां आंचलिक ही '' किन्तु अर्थात् यह उपन्यास है।' लगता है रेणुजी कहना चाहते हैं कि 'दीर्घतपा' केवल आंचलिक उपन्यास नहीं है। उनके आंचलिक उपन्यासों में जो कथात्मकता का अभाव एवं विषय की व्यापकता में सर्वदेशीय भाव-भूमि का अभाव देखने को मिला था उस दोष से यह उपन्यास मुक्त है। कथाक्रम में न तो कोई व्यवधान ही आने पाया है और न तो वह कहीं भी शिथिल होने पाया है। बड़ी ही क्षिप्रगति से कथा प्रारम्भ होकर आगे बढ़ती है और कथा नायिका की स्मृति के आधार पर प्रारम्भ से पीछे की घटनाओं को भी वह समेटती चलती है जिसमें श्रीमती आनन्द समान रूप से योग देती हैं। स्मृति को जगाने वाली घटनाओं की ऐसी सटीक व्यवस्था इस उपन्यास में है कि उपन्यास की

स्वाभाविकता में किसी प्रकार का विकार नहीं उत्पन्न होने पाता, बल्कि उपन्यासकार की मनोवैज्ञानिक पकड़ का ही परिचय मिल जाता है। उपन्यास का सम्पूर्ण कलेवर बेला गुप्ता की जीवन-गाथा के ताने-बाने से निर्मित किया गया है। लेखक ने आरम्भ में ही स्वीकार किया है कि वह इस उपन्यास में पांच (प्रेनिनियों) देवियों को अलग अलग रूपायित कर के एक अलबमनुमा उपन्यास—अशित वक्तव्यों से (कमेंट्री) गूँथ-गाँथकर पंचकन्या के नाम से प्रस्तुत करना चाहता था। सम्भवतः ये पंचकन्याएँ मुनिरा, फातिमा, सरस्वती, आयशा और बेला गुप्ता ही थीं जिनकी व्यवस्था आगे चलकर रमला बनर्जी अर्थात् रमला दीदी ने की। उन्हीं के प्रयत्न से मेटेरनिटी सेन्टर को जनकल्याणकारी रूप मिल सका है बांकीपुर में जिसमें उन्होंने बेला गुप्ता को नियुक्त कर दिया था। वह वर्किंग विमेन्स होस्टल में रहती थी। रमला दीदी प्रसिद्ध बैरिस्टर नगेन्द्रनाथ की धर्मपत्नी थीं और विद्यार्थी-जीवन में बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न छात्रा थीं। स्वेच्छया सम्मानित सदस्यता अस्वीकार कर उन्होंने नर्सिङ्ग ट्रेनिंग लेकर सेवा कार्य को जीवन का आदर्श बनाया और पतिदेव के मर जाने के बाद तो वे पूर्णतः समाज-सेविका बन गयीं और रमला दीदी के नाम से पुकारी जाती थीं। ये सारी कथाएँ उपन्यास के आरम्भ में न आकर यथावसर बीच बीच में आती रहती हैं। वर्किंग विमेन्स होस्टल का फाटक ग्यारह बजे अस्वाभाविक ढंग से खोलकर उपन्यासकार ने कथा आरम्भ कर दी है। रमला दीदी के स्थान पर मनोनीत सिक्रेटरी श्रीमती ज्योति आनन्द जो पहले एक महापात्र की पत्नी थी, फिर महाती की पत्नी बनी जिसने दलाल आनन्द के प्रेरित करने पर लकड़ी के थोक विक्रेता नेपाली जेनरल नर बहादुर की भोग्या बनने के लिए विवश किया और उससे लाभ उठाकर ज्योति ने महाती को धता बताकर सोम सुन्दर आनन्द के साथ स्वतंत्र व्यवसाय आरम्भ कर लिया और कानपुर में आकर श्रीमती महाती से श्रीमती आनन्द बन गई, की उपस्थिति में उपन्यास आरम्भ होता है। वह लड़कियों का व्यवसाय करना चाहती है, बेला गुप्ता को बाधक समझ कर उसे गाली-गलौज देती है। सेन्टर में आई कुछ देहाती लड़कियाँ जिनमें कुछ अधेड़ भी थी, वातावरण को दूषित बनाती है। विभावती नामक लड़की जो किशनगंज के एक शिक्षक की लड़की और बेला की मौसेरी बहन लगती थी, के आ जाने से बेला का अतीत जीवन उसके सामने झूमने लग जाता है और उपन्यास की कथा बेला के प्रारम्भिक जीवन से लेकर सेन्टर में आने तक का समय जब तक समाप्त नहीं कर लेती, स्मृति के आधार पर बेला की संघर्षमयी कहानी कहती है। वह किस प्रकार अपने शिक्षक पिता के प्रिय शिष्य बिहारी की चिकनी-चुपड़ी बातों में आकर क्रान्तिकारी पार्टी में कार्य करने के लिए उसके साथ भाग आती है, वह किस प्रकार उसके सतीत्व को नष्ट करता है और पेशावर के कोरोनेश होटल कमरा नम्बर सोलह में सरफरोज खाँ के हवाले कर के उसके साथ किस प्रकार विश्वासघात करता

है जहाँ बेला संघर्ष कर के भी सरफराज खाँ से अपने को न बचा सकी, तथा बाद में वह किस प्रकार असली क्रान्तिकारी रमाकान्त से प्रभावित होती है जिसकी भी मृत्यु हो जाती है आदि प्रसगो की बडी रोचक एवं हृदयद्रावक कहानी लेखक कह जाता है। बाँके बिहारी द्वारा उसने जो गर्भ धारण किया था उससे अन्नपूर्णा नामक लड़की उत्पन्न हुई थी जिसका उद्घाटन उपन्यासकार तब कराता है जब निरपराध बेला स्वेच्छा से जेल की यातना भुगतने जा रही है। रुपयों का गबन किया है ज्योति आनन्द ने पर बेला को वर्तमान समाज से जेल अधिक सुरक्षित जान पड़ा जहाँ नारी की प्रतिष्ठा तो बचेगी। लोगो के लाख मना करने और समझाने पर कि वह निर्दोष है जिसके प्रमाण न्यायालय मे उपस्थित किए जा सकते हैं बेला सभी अपराधो को, जो उसके नही थे, स्वीकार कर लेती है चाहे गौरी और विभावती के साथ किया गया बलात्कार हो अथवा सेन्टर मे दिए गए रुपये का दुरुपयोग हो। इस प्रकार पाठकों की आशा के प्रतिकूल न तो वह न्यायालय में कोई भावुकतापूर्ण व्याख्यान ही देती है और न तो वास्तविक पापियों का भण्डाफोड़ ही करती है। वह मसोस एवं करुणा का वातावरण उत्पन्न करती जेल के सींकचों के भीतर से झाँकती हुई उपन्यास की कहानी समाप्त कर देती है। पाठको की ओर से सम्भवतः उपन्यासकार स्वीकार भी कर लेता है कि बेला ने हमें निराश कर दिया। बेला के रूप मे एक ऐसी विश्वसनीय नारी का सशक्त चरित्र उपन्यासकार दे सका है जो न तो आदर्श की केवल पुत्तलिका मात्र है और न तो वह केवल यौन विकृतियों को सजाग मे गिरकर घृणा उत्पन्न करने का कारण। उपन्यासकार की पूर्ण सहानुभूति बेला गुप्ता को मिली है जिसे केन्द्र में रखकर वह समाज के विविध पक्षो पर करारा व्यंग्य कर सका है। सरकारी कर्मचारी, पूँजीपति तथा उनके लग्गू-भग्गू आदि किस प्रकार अपने पद और शक्ति का दुरुपयोग करते हुए क्वाँरी लड़कियों का जीवन नष्ट करते है, श्रीमती आनन्द के मेहमानो के बार-बार यह कहने से कि वे शुद्ध ग्रामोद्योगी माल अर्थात् देहाती लड़कियाँ चाहते हैं, और अजु मंजु को चाइल्ड- हसबेंड नाटक के लिए राजी करके छात्रावास की लड़कियों को रात्रि मे फार्म-हाउस देखने के लिए ले जाना और बिजली गुल करके गौरी देवी और विभावती अर्थात् ग्रामोद्योगी माल का उड़ा ले जाना आदि इसके स्पष्ट प्रमाण हैं। गौरी देवी ने तो आत्म-हत्या ही कर ली। वह ग्रामीण बालिका हँसती-खेलती और कोयल की कूक को चुनौती देती हुई ट्रेनिंग के लिए आई थी पर अपना सब कुछ गँवाकर जान देकर चली गई। उसकी मौत का प्रायश्चित्त उपन्यासकार तो नही करा सका है पर वैसा करने के लिए एक सामाजिक क्रान्ति की आवश्यकता है, नहीं तो ये नम्य चलते जाते रहेंगे और श्रीमती आनन्द ऐसी पतिताओं के माध्यम से मि० बागे ऐसे न जाने कितने लोग समाज के मुख पर कालिख लगाते रहेंगे। 'सेन्ट्रल वाला' मामला तय करने वाले मि० हबीब साहब ऐसे कर्मचारी बेला गुप्ता को हथियाने के लिए जबतक अपने पद एवं

प्रभाव का दुरुपयोग करते रहेंगे तब तक समाज का कल्याण सम्भव नहीं। श्रीमती आनन्द ऐसी अधेड़ स्त्रियाँ जब तक पैसे के लिए अनेक पुरुषों के गले लगती रहेंगी और महिला सेन्टर की सिक्रेटरी बनी रहेंगी तब तक भारत की भावी पीढ़ी का उद्धार कैसे होगा? यह आज सबसे बड़ी समस्या है।

कुन्ती देवी, तारा देवी तथा जानकी जैसी अधेड़ नारी पात्रों का कुत्सित जीवन ही उपन्यास में चित्रित किया गया है जिसकी सहायता से गौरी देवी और विभावती का जीवन नष्ट कराया गया। इनका बीड़ी पीना, गन्दे गीत गाना, गन्दी-गन्दी बातें करना, लड़कियों को बिस्तर पर जाकर तंग करना और बेला गुप्ता के पूछने पर यह कह देना कि यह क्यों नहीं कहती कि हम जनाना नहीं मर्द हैं आदि उपन्यासकार के अवांछित सकेत हैं। आधुनिक सभ्यता के आलोक में आविष्कृत नूतन साधन के द्वारा बालिकाओं का परस्पर स्वलिंगी रति की ओर आकर्षित होना दिखलाकर उपन्यासकार कौन सी बड़ी बात कह रहा है यह बात समझ मे नहीं आती। रंडीबाज, चूतड चलाक ऐसे ग्रामीण शब्दों का यदि उपन्यास मे प्रयोग न किया गया होता तो इसकी विशेषता कुछ घट न जाती। रेणु जी को इन गन्दगियों में विशेष रस मिलता है नहीं तो किसी लड़की के सम्बन्ध में यह कहलाने से कोई लाभ नहीं कि उसके अधो पृष्ठभाग के वस्त्र पर लाल पान का दाग नहीं है जो लाल भुभुक्क दिखलाई पड़ रहा है। जो कुछ उपन्यासकार कहना चाहता है, सकेतों के द्वारा भी कहा जा सकता है। वे क्यों भूल जाते हैं कि उनका उपन्यास आंचलिक हो सकता है पर पाठक आंचलिक नहीं हैं वे काफी पढ़े-लिखे भी हो सकते हैं। जब रेणु जी काफी माने जाने उपन्यासकार हो गए हैं, उन्हें यह गाली गलौज बन्द कर देनी चाहिए।

जिन चित्रों को उरेहने मे उपन्यासकार ने संयम का परिचय दिया है वे काफी अच्छे बन पड़े हैं। अविवाहिता अध्यापिकाओं की मनोवृत्तियों का बड़ा ही मनोवैज्ञानिक चित्र उपन्यास में खींचा गया है, प्रोफेसर रमा निगम और रेखा वर्मा जिसके उदाहरण हैं। सजीव वातावरण चित्रण मे रेणुजी का जवाब नहीं। उपन्यास के लघु कलेवर में उपन्यासकार ने इतनी चुटीली बातें कही हैं कि 'ज्यों नाविक के तीर' वाली बात चरितार्थ होती है। इसके लिए रेणु जी बधाई के पात्र हैं। कहानी अत्यन्त कलात्मक और सशक्त है। अभी और चार प्रेतिनियाँ (देवियाँ) चार उपन्यासों के रूप में आनी शेष हैं, यदि उनमें इस उपन्यास के दोषों का कुछ मार्जन हो सका तो 'रेणुजी' हिन्दी उपन्यास-साहित्य को बहुत कुछ दे सकेंगे।

प्रभाकर माचवे

शिल्प और भावाभिव्यक्ति की दृष्टि से माचवे जी के उपन्यास अत्यधिक लोकप्रिय हुए हैं। माचवे जी एक सजग, जागरूक एवं विचारक लेखक हैं। सामाजिक

समस्याओं के प्रति जागरूकता उनके उपन्यासों में भी परिलक्षित होती है। अनावश्यक वर्णन की उपेक्षा करके भी प्रभावोत्पादक उपन्यास लिखे जा सकते हैं, प्रभाकर माचवे के उपन्यास इसके प्रमाण हैं। इनकी प्रवृत्ति लघु उपन्यास लिखने की ओर रही है और उसमें इन्हे सफलता भी मिली है। परन्तु, साँचा, द्वाभा और एकतारा माचवे जी के बहुचर्चित उपन्यास हैं। 'परन्तु' में मध्यवर्गीय सामाजिक जीवन पर करारा व्यंग्य किया गया है जिसका उल्लेख पूर्व में ही किया जा चुका है।

साँचा

लेखक ने इस उपन्यास में उस समाज का वास्तविक चित्र खीचा है जो स्वचालित मशीनो के चक्को की चपेट में घायल कराह रहा है। उपन्यासकार ने आधुनिक भारत के उस काल को चर्चा का विषय बनाया है जबकि केवल भारत के कुछ बड़े बड़े शहरो में ही मिलो की स्थापना हो पायी थी, कांग्रेस के नेतृत्व में राष्ट्रीय आन्दोलन अपनी सफलता की मंजिल पर पहुँच चुका था, यूरोप युद्ध की विभीषिका से कराह रहा था, विदेशी मिशनरियाँ भारत मे जंगलो मे बसनेवाले भीलो तक पहुँच चुकी थी, पाश्चात्य शिक्षालोक में स्थापित विश्वविद्यालयो से भारतीय छात्र बी० ए०, एम० ए० करके निकलने लग गए थे और महँत नेताओ का उदय हो चला था, जो वृद्धावस्था में भी भौतिक सुखो में आकण्ठ डूबे रहकर नवयुवको को निवृत्ति मार्गो के उपदेश का कडवा घूँट पिलाने मे जरा भी लज्जित नहीं होते थे। उपन्यासकार ने अपनी सफल लेखनी से समाज के जिन पक्षो एवं समस्याओ का चित्र खींचा है वे आज भी हमारे सामने विकट पहेली बन कर खड़े हैं, उनका कोई समाधान आज भी नहीं मिल पाया है और भारतीय जन-जीवन उसी प्रकार उत्तरोत्तर टूटता जा रहा है।

जिस प्रकार साचे मे द्रव्य अपना स्वरूप खोकर साँचे की आकृति में ढल जाता है उसी प्रकार यन्त्र-युग द्वारा निर्मित व्यवस्था में फिट होने के लिए आधुनिक जन-जीवन बाध्य-सा हो रहा है चाहे वह गाँव में रहने वाला केशव हो अथवा उदारमना शिक्षित युवक मनोहर। यदि वे अपने को ढाल नही सकते तो उन्हें मिटना तो है ही। आज की दुनिया तो माँगीराम और शरण की है, कामिनी और 'मुकफुंतला सांवली शिप्या' की है न कि केशव, मनोहर, गौरा और लिखा की।

उपन्यासकार ने चर्चा के लिये इतने व्यापक विषय को उठा लिया है कि वह उपन्यास के लघु कलेवर मे चरमरा कर रह गया है। उसने 'मनोहर' द्वारा लिखे 'लिखा' के पत्रव्यवहारों और उसके "शकुन्तला प्रहसन" को उपन्यास का अंग न बनाया होता तो विशेष हानि नहीं होती और कथा का प्रवाह भी बना रहता। मुरारी का प्रसंग निकाल कर कवि-सम्मेलनीय गीतकारो तथा मजदूर यूनियनों पर जो व्यंग्य उपन्यासकार ने किये हैं वे बड़े ही सटीक हैं पर उपन्यासकार की निष्पक्षता पर सन्देह

हुए बिना नहीं रहता क्योंकि ऐसा लगता है कि वह निन्दा इस लिए कर रहा है कि उसकी भी अपनी कुछ मान्यताएँ हैं, वह जिनकी स्तुति करना और कराना चाहता है। कुल मिला कर 'साँचा' एक सफल कृति है जिसमें लेखक ने सामाजिक, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय धरातल को स्पर्श करने का प्रयत्न किया है। मनोहर और लिज़ा की मौन प्रेम व्यथा, गीता और राजो की बर्बादी तथा मिल-मजदूरों का करुण शोषण पाठकों को अभिभूत किए बिना नहीं रह सकता। मनोहर की कारागार में छटपटाती देखनी न जाने कितने भारतीय नवयुवकों की कहानी है।

'आभा' उपन्यास में माचवे जी ने समाज द्वारा प्रवंचित एक नारी आभा की समस्या का चित्रण किया है। इस उपन्यास का ताना बाना प्रेम-प्रसंगों की सहायता से बुना गया है। स्त्रियों के प्रति सहानुभूति और रंगे घूमनेवाले पुरुषों के प्रति वितृष्णा का भाव उत्पन्न कराना उपन्यास का प्रमुख प्रतिपाद्य जान पड़ता है। समाज में सम्मानित बड़े पर पूजे जाने वाले व्यक्ति किस प्रकार नारियों के साथ अनुत्तरदायित्वपूर्ण व्यवहार करके उन्हें समाज में कलंकिनी की संज्ञा से विभूषित करा देते हैं, यह एक सामाजिक समस्या है जिसका संकेत इस उपन्यास में मिल जायगा।

वाल्मीकि त्रिपाठी

श्री त्रिपाठी ने अपने ऐतिहासिक उपन्यासों के लिए भारतवर्ष के उस पराभव काल को चुना है जिसमें मुगलों के आगमन के कारण भारतीय शौर्य कुंठित हो रहा था, पर राजपूती तलवारें शान्त नहीं हुई थीं। पराधीनता और शौर्य विघटन के कारणों की चर्चा करते हुए उन्होंने कुछ मौलिक प्रश्नों की उद्भावना भी की है और अपने ढंग से अपने उपन्यासों में उसका उत्तर भी देना चाहा है। अबतक उनके जहाँदार शाह, विकलाग, प्रजाप्रिय प्रजेश, तथा सत्ता और संघर्ष नामक चार ऐतिहासिक उपन्यास प्रकाशित हुए हैं। इनमें जहाँदार शाह तथा सत्ता और संघर्ष में चित्रित देश-काल की सीमाएँ एक-दूसरे के निकट हैं और विकलाग तथा प्रजाप्रिय प्रजेश में चित्रित घटनाओं में परस्पर नैकट्य है। जहाँदार शाह और सत्ता और संघर्ष मुगल साम्राज्य के पराभवकालीन परिस्थितियों का चित्रण करता है तो विकलाग और प्रजाप्रिय प्रजेश राजपूती शौर्य एवं बलिदान का।

ऐतिहासिक तथ्यों का पूर्ण समावेश करते हुए आधुनिक राष्ट्रीय जीवन का संकेत भी त्रिपाठी जी के उपन्यासों में मिल जाता है। उस काल के विलासी सामंती जीवन को चित्रित करने के लिए जिन प्रेम-प्रसंगों की कल्पना लेखक ने की है उससे सस्ती भावुकता के शिकार पाठक अत्यधिक आकर्षित होंगे, इसमें सन्देह नहीं। पर ऐसा करने के कारण ही उपन्यासकार ऐतिहासिक नीरसता को सरसता में बदल सका है।

जहाँदार शाह

प्रस्तुत उपन्यास के परिचय अंश में ही लेखक ने यह स्वीकार किया है कि मानव जिज्ञासु होता है और यह जिज्ञासा जितनी भविष्य की होती है, भूत की भी उससे कम नहीं। भविष्य की तो कल्पना ही विगत के आधार पर की जाती है। इसी प्रेरणा ने लेखक ने इतिहास का सहारा लिया। इसमें ध्वस्त होते हुए मुगल साम्राज्य के दुर्बलतम शासक जहाँदार शाह को उपन्यास के नायक के रूप में ग्रहण किया गया है। आदि से अन्त तक सम्पूर्ण कथानक जहाँदार शाह का ही दामन पकड़े रहता है।

लेखक ने अपनी रचना में 'ऐतिहासिक' विशेषण जोड़ कर इतिहास से ली गई केवल प्रेरणा का ही परिचय नहीं दिया है अपितु ऐतिहासिक घटनाओं का सम्यक् समावेश भी कराया है। कथा, लेखक की कोरी कल्पना के सहारे नहीं चलती है, उसे निरंतर इतिहास की सुप्रसिद्ध घटनाओं का संबल मिलता गया है। जहाँदार शाह का लालकुँवरि वेश्या से सम्बन्ध और फिर उसे बेगम बना लेना, नित्य दीवाली मनाना, नशे में शाह और बेगम का रात भर रथखाने में पड़ा रहना, संतानोत्पत्ति के लिए शेख नसीरुद्दीन की कब्र पर जाना और तालाब में नंगे स्नान करना आदि घटनाएँ इतिहास-प्रसिद्ध हैं।

मुगल वंश के घोर अकर्मण्य शासक जहाँदार शाह जो कि दिन रात सुरा और सुंदरी में ही डूबा रहता था, विलास एवं व्यसन ने जिसे जर्जर बना दिया था, में भी दुर्लभतम गुणों की कल्पना लेखक के सहज औदार्य का परिचय देती है। मुगल सम्राट् के मुँह से यह कहला कर कि वास्तविक शासक तो रियाया है, शाह तो उसका वजीर अथवा नुमाइंदा है; लेखक ने दो सौ वर्ष पूर्व ही वर्तमान भारत को देखने की अभिलाषा की है। कथा में आए संवादों में स्थान-स्थान पर लेखक ने सामाजिक समस्याओं को बड़े ही मनोयोग पूर्वक उभाड़ने का प्रयत्न किया है। लाल कुँवरि एवं जहाँदार शाह के संवाद में एक स्थल पर वेश्याओं की बेबसी और समाज का उनके प्रति निर्मम व्यवहार सजीव रूप से दर्शाया गया है। वेश्याओं के पास भी हृदय होता है, वे भी सम्मान के साथ जीना चाहती हैं पर स्वार्थी समाज उन्हें घृणित कर्म करने के लिये विवश कर देता है। यदि समाज उन्हें आश्रय दे तो वे भी सदाचरण का परिचय दे सकती हैं। लाल कुँवरि की वफादारी का सबूत देकर लेखक ने अपने विचारों की पुष्टि की है।

लेखक ने कथा को रोचक बनाने में संवादों का अधिक सहारा लिया है और अधिकांशतः सफल भी रहा है। हाँ, जहाँ कहीं प्राकृतिक चित्रण अथवा युद्धादि का वर्णन आया है वहाँ लेखनी कुछ हल्की सी हो गई है; चित्र उभड़ नहीं सके हैं। लेखक पात्रानुकूल भाषा के प्रयोग का वादा करके भी उसे निभा न सका। जहाँ मुगल सम्राट् अथवा शाही सरदार शुद्ध संस्कृत शब्द बोलने लग जाते हैं वहाँ पाठक को खटका लगता है।

भाषा एवं उच्चारण सम्बन्धी अशुद्धियाँ न होती तो रचना अधिक निर्दोष होती। पर जिस प्रकार का परिचय उन्होंने अपने ऐतिहासिक उपन्यासों में दिया है उससे उनके भावी यशस्वी ऐतिहासिक उपन्यासकार के जीवन की कल्पना तो की ही जा सकती है।

विकलांग

चरित्रप्रधान ऐतिहासिक उपन्यास है। इसमें इतिहासप्रसिद्ध राजपूत वीर राणा सांगा की वीरता, साहस और उसकी कठिनाइयों का बड़ा ही हृदयग्राही चित्रण किया गया है। सांगा के चरित्र विकास की जिन रेखाओं को उपन्यास में उरेहा गया है उससे नायक का चरित्र अत्यन्त स्वाभाविक बन पड़ा है। राणा सांगा की पराजय और उसके संगठन के प्रश्न को उठा कर उपन्यासकार ने इतिहास की रक्षा करते हुए भी ऐतिहासिक मूलों का पूर्ण मार्जन किया है। राजपूती जातीय जीवन और वीरवर राणा सांगा की उज्ज्वल कीर्तिमयी जीवनी इस उपन्यास में घो मिल ही जाती है, साथ ही राजपूतों मे व्याप्त सामाजिक दोषों के चित्रण में भी उपन्यासकार पूर्ण तटस्थ रहा है।

प्रजाप्रिय प्रजेश

वीर-प्रसू भूमि राजस्थान के हृदयदेश चित्तौड़ ने उपन्यासकार को बरबस आकृष्ट कर लिया है। चित्तौड़ राजवंश के महान कर्मठ योद्धा 'चूड़ावत' के निर्मल चरित्र ने 'प्रजाप्रिय प्रजेश' का रूप धारण कर लिया है। चित्तौड़ नरेश राणा लाखा के दरबार मे घटी एक दिन की घटना ने राजस्थान के इतिहास में नवीन अध्याय की सृष्टि की है। मारवाड़ के राजपुरोहित ज्येष्ठ कुमार 'चूड़ावत' के लिए टीका ले कर गये थे और श्वेत दाढ़ी पर हाथ फेरते हुए राणा जी ने विनोद में अपने विवाह की चर्चा चलायी। बस क्या था कुमार चूड़ावत का कर्तव्य जग पड़ा और विवश होकर उस विवाह के लिए चूड़ावत के पिता राणा लाखा को ही तैयार होना पड़ा। यह त्याग चूड़ावत के लिए महँगा पड़ा, उन्होंने उत्तराधिकार का भी त्याग किया। राणा लाखा के अवकाश ले लेने पर विमाता-पुत्र मोकल को किशोरावस्था मे ही अपने हाथों अभिषिक्त करके उसकी तथा राज्य की रक्षा का भार निःस्वार्थ भाव से अपने ऊपर ले लिया। इसी बीच दिल्ली सुल्तान मुहम्मद तुगलक का आक्रमण हुआ पर प्रत्याक्रमण द्वारा सुल्तान को पराजित कर चूड़ावत ने जिस अदम्य शौर्य का परिचय दिया उससे चित्तौड़ राज्य के सभी शत्रुओं के हौसले एक साथ ही टूट गए।

चूड़ावत जी स्वभाव से ही शांतिप्रिय थे। अवांछनीय लिप्सा वश नरेशों के कलह एवं नरसंहार उनके हृदय को विदीर्ण कर देते थे। अतः उन्होंने शान्ति-स्थापन हेतु देश के विभिन्न स्थानों का परिभ्रमण किया। स्नेह एवं सौहार्द का मन्त्र फूँकने वाले सरदार चूड़ावत का जन-जन ने हृदय से स्वागत किया और उन्हे 'शान्तिदूत' की उपाधि से

विभूषित किया। इधर कालचक्र ने चित्तौड को अपनी कुटिल गति का प्रभाव दिखा ही दिया। चाचा और मेरा दो कृतघ्न सरदारों द्वारा मोकल की हत्या कर दी गई। चित्तौड़ की राजगद्दी पर राणा कुंभा बैठाए गए। मंडोर नरेश रणमल अपनी राठौर सेना के साथ कुम्भा के सहायतार्थ आए तथा चाचा और मेरा का वध करके राणा एवं राजमाता की दृष्टि में महान विश्वासपात्र बन गए। 'रणमल' ने विश्वास का अनुचित लाभ उठाकर सिसोदिया सरदारो के प्रति दुर्भाव जगाना भी प्रारम्भ कर दिया और चूडावत को भी षड्यन्त्रकारी तथा राजद्रोही घोषित किया। एक दिन राजमाता द्वारा तिरस्कृत होने पर 'चूडावत' ने चित्तौड राज्य सीमा का त्याग कर दिया। सभी सिसोदिया राठौर के शत्रु हो गए। सिसोदिया युवती भारमली को, जो राजमाता की अत्यन्त प्रिय दासी थी, 'रणमल' ने अपने महल में छिपाकर ऐसी घोषणा कर दी कि वह सीढियो से गिरकर मर गई। भारमली ने अपना सतीत्व तो अवश्य खोया किन्तु रणमल की प्रत्येक गति-विधि पर बडी ही बुद्धिमानी से दृष्टि रखने लगी। अन्ततोगत्वा एक दिन रणमल के षड्यन्त्र का रहस्य खुल ही गया। अपनी पूर्वव्यवस्था के अनुसार चूडावत की सहायता से राणा ने रणमल तथा षड्यन्त्रकारियो का विनाश करके चित्तौड की रक्षा की।

प्रमुख कथा के साथ-साथ इस उपन्यास में कई प्रासंगिक सहायक कथाएँ भी हैं जो चरित-नायक चूडावत के ही चरित्र को सँवारने का कार्य करती हैं। उपन्यास में चूडावत को महान त्यागी, पितृभक्त एवं सशक्त चित्रित किया गया है जिसे देखकर महाभारत-कालीन महात्मा भीष्म का स्मरण हो उठता है। चित्तौड के तीन-तीन राणा चूडावत द्वारा उपकृत हुए। चूडावत का घूम घूम कर शान्ति के लिए प्रयत्न करना ऐतिहासिक घटना भले न हो पर उपन्यासकार की आत्मा की पुकार तो अवश्य है कि 'संगठन ही शक्ति है विभाजन ही राष्ट्र की सबसे बडी दुर्बलता एवं समाज का कलंक है।' भारमली द्वारा सतीत्व जैसी अमूल्य निधि खोकर भी मातृभूमि की रक्षा का अद्भुत उदाहरण इस उपन्यास मे प्रस्तुत किया गया है। रचना के प्रत्येक स्थल यद्यपि सबल नहीं हैं फिर भी समग्र रूप से कृति को सबल ही कहा जा सकता है।

सत्ता और संघर्ष

जहाँदार शाह की भाँति ही इस उपन्यास में भी उपन्यासकार ने मुगल साम्राज्य के पराभव का चित्रण किया है। जिस समय फर्रुखसियर नाममात्र का सम्राट् था वास्तविक राजसत्ता का उपभोग सय्यद भाई कर रहे थे। राजधानी के पूँजीपति रुपये के बल पर शासन के नियमो को अपने अनुसार बनवा लेते थे। फौजी अधिकारी से लेकर राज्य के विशिष्ट कर्णधार तक उन्ही के हाथो मे खेल रहे थे। सर्वत्र सत्ता हथियाने की होड़ लगी थी। रक्तपात, अनाचार का बाजार गर्म था, सम्राटो तक की

हत्या कर दी जाती थी। इन्हीं परिस्थितियों ने लाभ उठा कर आगे चल कर विदेशियों ने सत्ता अपना ली और हमें दीर्घकाल तक पराधीनता की बेडी में बँधना पड़ा।

उमाशङ्कर

उमाशंकर जी के 'नाना फड़नवीस', 'पेशवा की कंचनी', 'कावेरी के किनारे', 'जब भारत जागा', 'भुवन विजयम्' और 'नीर भर आए बदरा' उपन्यास मुझे देखने को मिले। इनके ऐतिहासिक उपन्यासों को देखने पर ऐसा लगता है कि ऐतिहासिक उपन्यासकार के प्रभूत गुण इनमें वर्तमान हैं। 'नाना फड़नवीस' में उपन्यासकार ने राष्ट्रीय भावनाओं को समाहित किया है। अंग्रेजों का भारत से निकाल बाहर करने के लिए जिस राष्ट्रीय चेतना का उदय हुआ था, आरम्भ में उसका समुचित विकास मराठों में दिखलाई पड़ा था। मराठों ने अंग्रेजों को निष्कासित करने के लिए राष्ट्रीय एकता का अनुभव करके किस प्रकार भारत की बिखरी शक्तियों को एक सूत्र में पिरोकर शौर्यपूर्ण आचरण किया था, इसका गौरवमय इतिहास पाठकों को इस उपन्यास में मिल जायगा। नाना फड़नवीस इतिहासप्रसिद्ध पुरुष हैं जिसकी सूझ, पराक्रम और कूटनीति का बड़ा ही सजीव वर्णन उमाशंकर जी ने इस उपन्यास में प्रस्तुत किया है। तत्कालीन सामन्ती परिस्थितियों के घात प्रतिघात में उपन्यास के नायक 'नाना फड़नवीस' को रखकर उसका चारित्रिक मूल्यांकन करना ही इस उपन्यास का मुख्य उद्देश्य ज्ञात होता है।

'पेशवा की कंचनी' की कथा का आधार भी मराठा इतिहास है। प्रथम पेशवा बाजीराव के कार्यकाल को इस उपन्यास के लिए चुना गया है। उपन्यास की सारी कथा पूना की प्रसिद्ध नर्तकी मस्तानी जो पेशवा की प्रेयसी भी थी, के आस पास उसे केन्द्र मान कर विकसित होती है। उपन्यासकार ने सौंदर्य, शौर्य, पराक्रम, साहस, नृत्य तथा संगीत आदि गुणों का समन्वय मस्तानी में किया है। स्वभावतः एक ऐसी नारी को घेरकर चलने वाला उपन्यास अत्यन्त सरस एवं आकर्षक होगा।

'कावेरी के किनारे' में इतिहासप्रसिद्ध व्यक्ति नवाब हैदरअली की उपलब्धियों का सजीव वर्णन किया गया है। दक्षिण भारत की तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक परिस्थितियों का बड़ा विश्वसनीय चित्र उपन्यासकार इसमें उतार सका है। हैदरअली की प्रारम्भिक कठिनाइयों से लेकर उसके जीवन-संघर्षों एवं सफलताओं का वर्णन अत्यन्त आकर्षक शैली में इस उपन्यास में प्राप्त हो जाता है जिसे देखकर उपन्यासकार की शैलीगत सफलता पर सन्तोष होता है।

इस ऐतिहासिक उपन्यास में नवाब हैदरअली के साहस, उसकी कर्मठता, महत्वाकांक्षा, विलासिता तथा उसके स्वार्थी एवं नीच विचारों का तर्कसंगत चित्रण किया

गया है। ऐतिहासिक तथ्यों से अधिक इसमें तत्कालीन सामाजिक रोमांस का चित्रण मिल जायगा।

'जय भारत जागा' की पृष्ठभूमि में भारत का सन् १९४२ का राष्ट्रीय आन्दोलन है जिसको सामने रखते हुए उपन्यास में नारी-पुरुष के स्वाभाविक आकर्षण से उत्पन्न प्रेम की सरिता भी बही है।

'भुवन विजयम्' भी ऐतिहासिक उपन्यास है जिसमें विजयनगर साम्राज्य से सम्बन्धित घटनाओं का वर्णन है। सभी ऐतिहासिक उपन्यासों की वर्णनशैली एक-सी है, पर औपन्यासिकता के कारण पाठकों को पुनरावृत्ति का आभास तक नहीं हो पाता। उमाशंकर जी के इन ऐतिहासिक उपन्यासों में उनका भावी सशक्त उपन्यासकार छिपा दिखलाई पड़ता है।

नीर भर आये बदरा

आंचलिक शैली में लिखा यह एक स्वस्थ सामाजिक उपन्यास है जिसमें आधुनिक समाज के कुछ महत्त्वपूर्ण पक्ष अपनी क्षेत्रीय विशेषताओं के साथ उभर कर सामने आये हैं। उपन्यास का आरम्भ बनारस के एक निकटवर्ती ग्राम से होता है जहाँ ग्रामीण दृश्यों के हास-विलास युक्त कलरव-कोलाहल के बीच दो तरुण प्रेमियों (युवक-युवती) के रूढ़ि-युक्त प्रणय की साहसपूर्ण अभिव्यक्ति की जाती है। पर यह सारा केलि-कलाप शीघ्र ही उग्र राजनीतिक प्रक्रिया में पर्यवसित हो गया है। कथावस्तु की चुस्ती और उसके पैनेपन के लिए लेखक ने घटना का काल स्वतंत्रताप्राप्ति के पूर्व का ही रखा है और तत्कालीन घटनाओं का आकलन करते हुए उपन्यासकार ने नायक धीरज पंडित को एक उग्र राजनीतिक दल से सम्बद्ध कर दिया है जिसकी राजनीतिक गतिविधि क्रान्तिकारी दलों की सी ही है।

श्रृंगारिक चेष्टाओं और राजनीतिक संघर्षों के इसी धूप-छाँह के बीच भारतीय स्वराज्य की घोषणा होती है और उपन्यास का नायक धीरज पंडित समाज में विशिष्ट राष्ट्रीय व्यक्तित्व का गौरव पाता है तथा वह भारतीय संसद् में जनता का प्रतिनिधि बन जाता है। उसकी पूर्वप्रेमिका धनियाँ भी अब प्रियतमा अथवा पत्नी के पद पर सामाजिक सम्मान प्राप्त कर अपने पति (प्रेमी) के स्थायी निवास आजमगढ़ में गृहस्थी बसा कर रहने लगती है। यहीं से उपन्यास की कथा को नया आयाम मिलता है और धीरज पंडित एम० पी० के रूप में दिल्ली के नूतन सामाजिक परिवेश में घिरने लग जाते हैं। वे दिल्ली-प्रवास-काल में अत्याधुनिक समाज की रंग-रेलियों और मोहक हास-परिहासमयी भावाभिव्यक्तियों में पूर्ण रस लेने लग जाते हैं। फलस्वरूप उनका आकर्षण रंजना नामक एक युवती के प्रति होता है और वे रूप-विमुग्ध हो असंयत भावनाओं का परिचय देने लग जाते हैं।

रंजना का प्रेम पाने के लिए धीरज पंडित धीरज खो देते हैं और अनावश्यक रूप से वे दिल्ली रहने लग जाते हैं और रुनियाँ आजमगढ़ में उनकी बाट देखती ही रहती है। रुनियाँ के दिल्ली पहुँच जाने पर रंजना के प्रेम-प्रसंगो में जो बाधा पड़ी तो उसने गृह-कलह का रूप धारण कर लिया और फलतः रुनियाँ को अपमानित होकर अपनी जन्मभूमि परसों में रहने के लिए विवश होना पड़ा। नए चुनाव में धीरज पंडित का हार जाना और रंजना का नरेश नामक एक युवक से विवाह रचा लेना जो धीरज पंडित का मित्र था, वास्तविकता को सामने खोलकर रख देता है। एक पतिपरायणा और स्वेच्छाचारिणी नारी में क्या अन्तर होता है, यही इस उपन्यास का मुख्य प्रतिपाद्य है। धीरज पंडित की किंकर्तव्यविमूढ मन स्थिति तथा अवसादपूर्ण जीवन-चित्र के साथ उपन्यास समाप्त हो गया है। अवसर निकाल कर बीच में रंजना के कार्यालय अधिकारी एक डाइरेक्टर महोदय के चरित्र के माध्यम से सरकारी कर्मचारियो एवं उच्चपदस्थ व्यक्तियो मे व्याप्त भ्रष्टाचार एवं अनैतिक आचरणों पर छीटाकशी भी की गई है। उपन्यास की भाषा सरस प्रवाहयुक्त तथा जीवंत है। कुल मिला कर यह कृति पाठकों के मस्तिष्क पर एक चिन्तनपरक प्रभाव डालती है।

युगल

द्विधा

आत्मकथात्मक शैली में लिखा हुआ यह उपन्यास मनकी द्विधा का निरूपण करता है। उपन्यास की नायिका 'नीरू' (निरुपमा) ही उपन्यास की सम्पूर्ण कथा आरम्भ से लेकर अन्त तक कहती है। 'कुमार' को लेकर नीरू के अन्तर्मन में चलने वाले द्वन्द्वो का ही मनोवैज्ञानिक चित्रण करने का प्रयास इस उपन्यास मे हुआ है। 'कुमार' पति रूप में नीरू के जीवन में तब आया जब उसी के मित्र 'राजीव' द्वारा नीरू का कौमार्य भंग हो चुका था। पारिवारिक दबाव के कारण ही नीरू ने कुमार को पति रूप में वरण किया था। दोनो का परिणय प्रेम का परिणाम नहीं बल्कि नीरू के पक्ष से पारिवारिक विवशता थी, जो आगे चल कर मानसिक अन्तर्द्वन्द्व के लिए भूमि प्रस्तुत करती है। नीरू ने स्पष्ट स्वीकार किया है कि "विवाह को मैंने किस्मत मान कर वरण किया था, 'वरण' इसलिए कहती हूँ कि विवाह के प्रति मेरा कोई चाव नहीं था।"

उपन्यासकार ने अपनी कृति द्वारा जिस मनोवैज्ञानिक चित्रण को उपस्थित करना चाहा है उसके लिए आवश्यक था कि कुमार और नीरू के परिणय को वह एक अप्रत्याशित घटना के रूप में प्रस्तुत करता। परिणाम स्वरूप प्रथम श्रेणी मे इन्टर की परीक्षा में उत्तीर्ण होने के उपलक्ष्य मे नीरू को बधाई देने वाला कुमार नीरू के अभिभावको द्वारा नीरू के लिए वरण कर लिया जाता है। इस प्रकार कुमार और नीरू का विवाह हो

अन्तर्द्वन्द्वों के बीच हुआ। नीरू ससुराल चली आयी, पर परिस्थितियों के बीच कुमार के सन्निकट रहने का उसे अवसर कम मिला क्योंकि वह इलाहाबाद विश्वविद्यालय का एक विद्यार्थी था। एम० ए० का मेधावी छात्र होने के साथ ही कुमार एक समाचार पत्र का सम्पादक भी था, और अंग्रेजी शासन के विरुद्ध समाचार छापने के कारण उसे छः माह की जेल यातना भी भुगतनी पड़ी। अवधि समाप्त हो जाने पर, स्वतंत्र भारत के एक नागरिक के रूप में, दूतावास की सेवा में, वह रूस डेढ़ वर्षों के लिए चला गया जहाँ उसकी भेंट राजीव से हुई। राजीव को आर्थिक सहायता देने में कुमार ने अपनी कमाई के पैसे भी खर्च कर डाले और वह जब लौटकर घर आया तो उसने बाहर जाने के लिए नीरू से पैसे माँगे। यह स्पष्ट हो जाने पर कि कुमार ने अपने पैसे राजीव को दे डाले हैं नीरू ने पैसे देने से इन्कार कर दिया। कुमार रुकता नहीं वह बाहर चला जाता है और अपनी बहन उमा से विवाह के अवसर पर खर्च करने के लिए रुपया लेकर लौटता है और विवाह हो जाता है। लेखक ने उमा की चर्चा उसकी माँ के मुख से आगे की है पर तब की है जब उसकी माँ नीरू को आचरणभ्रष्ट कह कर त्याग चुकी थी, तथा उमा भी आचरण सम्बन्धी दोष के कारण जल मरी थी। इन्हीं दुविधापूर्ण वातावरणों में उपन्यास की कथा आगे बढ़ती रहती है और उसमें गति तब आती है जबकि राजीव भी कुमार के यहाँ रहने लग जाता है जहाँ पर वह नीरू से अपने पूर्वप्रेम का प्रतिदान चाहता है और असफल रहता है। असफल राजीव भागकर डॉ० शैलबाला के यहाँ रहने लगता है, लेखक कुमार तथा नीरू दोनों वहाँ पहुँचते हैं। कुमार को लेखक की सर्वाधिक सहानुभूति मिली है, वह अपना मानसिक सम्बन्ध तो कई नारियों के साथ स्थापित करता है पर आत्मसमर्पण के अभाव में नहीं। कुमार में आसपास जिस संयम-युक्त घुटनशील वातावरण का निर्माण होता गया है उससे ऊबकर नीरू एम० ए० करती है। परीक्षा के बाद कुछ लोगों के विरोधों के बावजूद भी मैसूर आदि की यात्रा करती है और लौटने पर उसकी भेंट राजीव से पुनः एक 'पोलिटिकल कान्फ्रेन्स' में हो जाती है जहाँ से वह उसे डॉ० शैलबाला के यहाँ ले जाता है। वहाँ पहुँचकर वह नीरू से भाग चलने का आग्रह करता है, पर उसका 'चेतन मन' जो अचेतन के प्रभाव को अतिक्रमण नहीं होने देता—उसे रोकने में सहायक होता है। निराश 'राजीव' मजदूर और मिल-मालिकों के संघर्ष में गोली से बम्बई में घायल होता है। कुमार नीरू को अपनी ससुराल से घर पहुँचाकर बम्बई बिना किसी को सूचित किए चला जाता है। नीरू उसे ढूँढ़ती डॉ० शैलबाला के यहाँ पहुँचती है जहाँ पर उसे कुमार के आने का पता चलता है। बम्बई से लौटने पर कुमार को पहली बार इस बात का ज्ञान हुआ कि घर वालों ने नीरू को परित्यक्त कर दिया है और वह विद्रोह कर बैठता है। नीरू उसके साथ न जा कर रात्रि में उससे डॉ० शैलबाला के यहाँ भेंट करती है और दोनों इलाहाबाद चले जाते हैं। वहाँ वे स्कूल इंस्पेक्टर्स 'पुष्पा' के यहाँ ठहरते हैं।

नीरू को प्राप्त करने के लिए राजीव डाकू बनता है, अस्सी हजार का डाका डालता है और रिवाल्वर सहित नीरू के पास उस समय पहुँचता है जब पुष्पा, कुमार और नौकरों में कोई वहां नहीं होता। उसे पुनः निराशा हाथ लगती है और नीरू के अस्वीकार करने पर रुपये सहित अटैची छोड़कर वह चला जाता है जिसे लिए हुए कुमार पकड़ा जाता है जिसके परिणामस्वरूप सेन्ट्रल जेल में उसे तेरह बरस की सजा भुगतनी पड़ी।

देखने में उपन्यास का कलेवर तो बहुत छोटा है, पर इसका गठन उपन्यासकार ने इस ढंग से किया है कि एक विस्तृत परिवेश के साथ कथा की व्याप्ति सिमट कर अपनी पूर्ण बसावट के साथ एक चुस्त कथा का निर्माण करती है। उपन्यासकार ने जिस चिरपरिचित विषय को अपनी रचना का माध्यम बनाया है उसमें सामाजिक संयम की रक्षा प्रायः नहीं हो पाता और उपन्यासकार प्रायः अपनी ही कुण्ठाओं को पात्रों के माध्यम से व्यक्त करने लग जाते हैं। 'युगल' जी की यह सबसे बड़ी विशेषता है कि उन्होंने अपने पात्रों को बेकाबू नहीं होने दिया है। साथ ही साथ उन्हें कोरे आदर्श की भूमि पर उतारने का दुराग्रह भी जो उन्होंने नहीं किया है उससे उपन्यास की सजीवता बढ़ी है। निरुपमा के जिस अन्तर्प्रदेश में उपन्यासकार ने पैठने की कोशिश की है उससे तो मनमें भरोसा उत्पन्न कर देने वाला एक चरित्र हिन्दी साहित्य को मिला है इसमें सन्देह नहीं। शैली में पोल का निर्वाह इस मनोवैज्ञानिक उपन्यास की सबसे बड़ी विशेषता है। इस उपन्यास में मानसिक द्वन्द्व का समावेश तो उपयुक्त ढंग से हुआ है पर उसके विकास के लिए अनुकूल भूमि का निर्माण उपन्यासकार नहीं कर सका है। मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के अनुसार जब किसी प्रकार का अन्तर्द्वन्द्व मानसिक ग्रन्थि (Complex) को जन्म देता है तो वह उसका समाधान भी करता है और ऐसा न होने पर व्यक्ति का असामान्य (Abnormal) हो जाना प्रायः निश्चित हो जाता है इस ओर उपन्यासकार ने ध्यान नहीं दिया है। राजीव के निर्माण में उपन्यासकार को इस दिशा में थोड़ी सी सफलता मिली है ऐसा कहा जा सकता है। क्या कुमार, क्या नीरू, क्या राजीव, क्या पुष्पा सभी पात्रों में किसी न किसी प्रकार की ग्रन्थि उपस्थित है जिनका रूप भी एक सीमा तक विकृत ही कहा जा सकता है, पर राजीव को छोड़कर किसी भी पात्र के आचरण समाज-विरोधी नहीं कहे जा सकते। इसे एक मनोवैज्ञानिक स्वीकार नहीं कर सकता। इस प्रकार यदि उपन्यास को मनोवैज्ञानिक कसौटी पर कसा जाय तो इसमें सभी पात्र खरे नहीं उतर सकते। कुल मिलाकर 'द्विधा' को एक स्वस्थ मनोवैज्ञानिक कृति के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

शान्तिकुमारी वाजपेयी

व्यवधान (बिखरी आस निखरी प्रीति) वाजपेयी जी का चरित्रप्रधान पारिवारिक उपन्यास है जिसमें सम्भ्रान्त कान्यकुब्ज ब्राह्मण परिवार के आचार-विचार, संस्कार एवं

सीमाओं को अत्यन्त प्रामाणिक बनाने वही गई है। पारिवारिक जीवन से सम्बन्धित विविध पक्षों की ओर हल्का सा संकेत करते हुए वाजपेयी जी ने उपन्यास की कथा को सघन प्रेम प्रसंगों की ओर मोड़ दिया है। छोटी बहू जिसका बचपन का नाम कनक था, उसकी एकलौती पितृहीन बेटी चन्दो, बड़ी बहू की लाडली बेटी चपला, छोटी बहू की बाल सखी मणि, मणि का एकमात्र पितृहीन बेटा जलद, दिनेश और कुकुम इस उपन्यास के प्रमुख पात्र हैं। उपन्यास की सम्पूर्ण महत्वपूर्ण घटनाएँ लखनऊ, बनारस और चन्द्रनगर में घटती हैं। जीवन के विविध पक्षों को विषय सीमा में स्थान न देकर केवल वात्सल्य और प्रेम प्रसंगों तक ही उसे सीमित रखते हुए, व्यवधान ऐसे बृहद्-काय उपन्यास की सृष्टि करना और जिज्ञासा, कुतूहल, जीवन गति की क्षिप्रता एवं घटनाओं का ऐसा मनोरम विधान कर देना कि पाठक कहीं भी न तो उबास का अनुभव कर सके और न तो उसे कहा उपन्यास की इतिवृत्तात्मक नीरसता का शिकार होना पड़े, उपन्यास लेखिका की शिल्पपटुता एवं भाव बोध की तीव्रतम अनुभूतिजन्य वेदना की छटपटाहट का परिचायक है।

विधवा छोटी बहू के धर्मपरायण जीवन से आरम्भ हो कर उपन्यास उसके शैशव-कालीन परिस्थितियों एवं घटनाओं का उल्लेख करने लग जाता है, जिसमें यदि कनक को विमाता की झिड़कियाँ मिला तो पिता का अपार स्नेह भी, मणि ऐसी आत्मीया सहेली मिली तो मणि की माँ ऐसी ममतामयी माँ जिसे पाकर वह माँ का अभाव भी भूल बैठा। कनक का जन्म ही वेदना एवं उत्पीड़न को लेकर हुआ था जिसे उसने जीवन भर स्वयं भोगा और जिस पर उसकी स्नेह-छाया पड़ी उसे भी उसका साथ देना पड़ा। एक बालिका को जन्म देकर युवावस्था में यदि वह विधवा हुई तो सहेली मणि भी पीछे नहीं रही, जलद को जन्म देकर उसे भी विधवा होना पड़ा। विधवाओं की पारिवारिक स्थिति का संकेत भी कनक और उसकी जेठानी के प्रसंग से लग जाता है। वाजपेयी जी ने नारी चरित्र का उद्घाटन निष्पक्ष होकर किया है, यदि पक्षपात कहीं है तो पुरुष पात्रों के साथ। सभी पुरुष पात्र उदार चित्रित किए गए हैं, चाहे व छोटी बहू के जेठ हों अथवा मणि के पिता, जबकि नारियों की ईर्ष्यालु प्रकृति का लेखिका ने जमकर वास्तविक चित्रण किया है। चन्दो के जन्म के साथ ही छोटी बहू ने उसके लिए मणि का बेटा जलद माँग लिया था, जिसका निर्वाह मणि करने का भरसक प्रयत्न करती है और अन्त तक उसे सफलता भी मिलती है, यह दूसरी बात है कि वधू बनी चन्दो के प्राणपखेरू उसके आराध्य देव मुरारी के चरणों के नीचे से उड़ गए। ईश्वरी विधान को न कोई रोक सका है और न तो मणि रोक पाती है। रोगग्रस्त शय्या पर पड़ी छोटी बहू अपने जेठ स वचन ले लेती है कि उसके मरने के उपरान्त वह चन्दो को मणि के साथ जाने देगा, जिसका उन्होंने इच्छा न रहते हुए भी पालन किया। सहेली के अन्तिम दर्शन करने आई मणि चन्दो को अपने साथ बनारस लेती जाती है, जिससे

मातृहीन चन्दो को न तो बड़ी काकी की झिड़कियाँ सहनी पड़ी और न तो माता का अभाव ही उसे खटक पाया। हाँ चपला का साथ छोड़ना उसे अवश्य खटका था जो चन्दो का पक्ष लेकर अपनी माँ से भी बराबर लड़ती रहती थी।

चन्दो ने एक नए उल्लासमय वातावरण मे अपने को पाया जहाँ जलद और उसका साहचर्यगत मूकप्रेम आरम्भ हुआ। चन्दो को तो पता था कि जलद उसका भावी पति है, पर जलद अन्त तक इससे अपरिचित रहा कि चन्दो उसकी भावी पत्नी है जिससे इच्छा रहते हुए भी उसकी ओर आँखें न उठा पाता, पर समय अपना रंग दिखला कर ही रहता है। दोनो एक दूसरे के प्रति अपने भावो को प्रकट करने का प्रयत्न करने लगे। चन्दो के गुणो पर सारा परिवार मुग्ध था और यहाँ तक कि जलद अपने को उसके लिए अयोग्य समझने लग जाता है क्योंकि वह चन्दो की भाँति पवित्र नहीं है क्योंकि उसने एक मित्र के बहकावे मे आकर वेश्यागमन तक किया है। पत्र मे चन्दो से उसका यह स्वीकार कर लेना उसकी चारित्रिक दृढ़ता का परिचायक है। दोनो के एक होने में कोई बाधा नही थी, ब्याह की तैयारियाँ भी आरम्भ हो गई थी पर शिक्षाप्राप्ति के निमित्त चपला का बनारस आ जाना व्यवधान सिद्ध हुआ। चपला ने जलद पर डोरे डालना आरम्भ कर दिया इच्छा न रहते हुए भी जलद उसकी ओर खिचता गया। चन्दो मे आवश्यकता न अधिक संयम था जो विवाह के पूर्व जलद के सम्मुख आत्मसमर्पण नही करना चाहती थी, जिस कमी की पूर्ति चपला कर सकती थी और उसने एक दिन बरबस अर्द्धरात्रि में जाकर जलद का सर्वनाश किया। लेखिका का यह चिरपरिचित विषय इतना स्वाभाविक, मार्मिक, मनोवैज्ञानिक एवं तर्कसंगत है कि उसने इस क्षेत्र मे लिखनेवाले न जाने कितने उपन्यासकारो को बहुत पीछे छोड दिया है। चपला की स्वार्थपरता, प्राणों से प्यारी बहन चन्दो के साथ विश्वासघात, जलद की स्वीकारोक्ति चन्दो के सम्मुख और इसके पूर्व ही चपला से विवाह करने का जलद के आग्रह आदि ऐसे प्रसग है जो उपन्यास की महत्ता को बढ़ाते हैं। चपला और जलद का विवाह मणि की इच्छा के विरुद्ध हुआ जिसमें चन्दो का हाथ रहा, पर चपला के आपरेशन ने जब उसका मातृत्व उससे सदा के लिए छीन लिया तो उसमें परिवर्तन हुआ और ईर्ष्यालु स्वार्थी चपला पुन आदर्श की ओर उन्मुख होकर चन्दो-जलद का परिणय कराने का प्रयत्न करती है। इस समय तक चन्दो चन्द्रनगर के मन्दिर के मुरारी के चरणो मे अपने को अर्पित कर चुकी थी। धार्मिक भावना उसे अपनी माँ से मिली थी। मणि को प्रसन्न करने के लिए उसने विवाह तो कर लिया पर वधू वेश में मुरारी का आशीर्वाद ग्रहण करने के लिए ज्यो ही झुकती है त्योंही उसकी तन्मयता इतनी बढ़ जाती है कि उसके प्राणपखेरु उड कर नन्ददास को मधुर रसमें डुबो जाते हैं। जलद और मणि तो अवाक् रह गये, पर दिनेश की

विक्षिप्त हो गया, जिसका आदर्श मूकप्रेम चन्दो के प्रति कभी प्रकट तक न हो पाया और चपला ने यदि उसकी डायरी चुरा न ली होती तो इस रहस्य का भी उद्घाटन सम्भव नहीं था। नारी पात्रों का चित्रण बड़ा जीवन्त हुआ है पर चन्दो को वाजपेयी जी ने आदर्श के साथ इतना बाँध दिया है कि वह नारी से देवी बन गई है। उसपर हम श्रद्धा के फूल चढ़ा सकते हैं, पर सहसा विश्वास नहीं कर सकते। लेखिका ने यदि उसे मृत्यु से बचा लिया होता अथवा अन्त तक अविवाहित हो रखा होता तो चरित्र अपेक्षाकृत अविश्वसनीय हुआ होता। उपन्यास इतना कारुणिक हो गया है कि पाठक का हृदय अन्त तक भरा ही रहता है। कथा इतनी समर्थ है कि उपन्यास आरम्भ कर देने पर समाप्त किए बिना छोड़ना कठिन हो जाता है नहीं तो पाठक आरम्भ से ही जिस वेदना का अनुभव करने लग जाता है उसमें इसे पढ़ पाना सरल नहीं है और उपन्यास की सफलता का यही रहस्य भी है। पाठक जो पाना चाहता है आनेवाले 'व्यवधान' उसे नहीं पाने देते। चपला एक शिक्षित नारी समाज का प्रतिनिधित्व करती है जिसमें इस वर्ग की अच्छाइयों बुराइयों का स्वाभाविक संयोग हुआ है। पुरुष पात्रों के प्रति लेखिका का दृष्टिकोण आदर्शवादी है, यहाँ तक कि जलद ऐसे स्वच्छन्द यौन-जीवन के शिकार पात्र को भी उसने पूर्ण सहानुभूति दी है जिससे वह पाठकों की दृष्टि में कभी भी नहीं गिर पाता। नौकर-चाकर से लेकर धार्मिक वातावरण तक का बड़ा ही सजीव चित्रण इस उपन्यास में हुआ है। धनी मानी वर्ग तक सीमित रहने के कारण आर्थिक विषमता से उत्पन्न परिस्थितियों को उभाड़ कर रखने का इसमें प्रश्न ही नहीं उठने पाया है। उपन्यास के अन्त को यदि धार्मिक भावनाओं की अतिरंजना से वाजपेयी जी ने बचाया होता तो इसका मूल्य न जाने कितना और बढ़ गया होता। यह उपन्यास न रहकर पौराणिक प्रसंग बन गया है। पर इतना तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि जहाँ तक भाषा, शिल्प, वस्तुविन्यास, कथात्मकता और मार्मिक प्रसंगों की योजना का प्रश्न है 'व्यवधान' अपने ढंग का अनूठा उपन्यास है।

तेजरानी पाठक

हृदय का काँटा

यह एक सामाजिक उपन्यास है जिसमें नारीगत सामाजिक आदर्शों का बड़ा जोरदार समर्थन किया गया है। लड़कों की अपेक्षा लड़कियों की कम कद्र की जाती है और नारी जाति को समझने में पुरुष बराबर भूल कर जाते हैं जिसके प्रति लेखिका को सख्त शिकायत है। परिवार के लोगों की असावधानी के कारण बचपन से ही यह धारणा बद्धमूल होने लग जाती है जिससे उनका समुचित विकास नहीं हो पाता। प्रतिभा की पुत्री कनक को बचपन में इसका आभास मिल जाता है, क्योंकि उसकी माँ प्रतिभा बराबर सास की डाँट खाती रहती है। प्रेम के आन्तरिक मूल्यों के प्रति

इस उपन्यास में आस्था प्रकट की गयी है। प्रतिमा के फैशनेबुल पति महेशचन्द्र पत्नी से इसलिए घृणा करने लग जाते हैं कि उसने एक पुत्री को जन्म दिया है, वह माता बन गयी है। आधुनिक युवकों में बाह्य सौन्दर्य के साथ स्वच्छन्द रूप से खेलने की जो प्रकृति बढ़ती जा रही है, नारी का मातृत्व उसमें बाधक सिद्ध हो रहा है। इस प्रवृत्ति के साथ अनास्था व्यक्त कर तेजरानी ने समाज को एक प्रकार सावधान ही किया है। महेशचन्द्र का प्रतिमा की विधवा बहन की ओर आकर्षित हो जाना, जो उन्हीं की तीमारदारी करके प्रतिमा का हाथ बटाने आयी थी एक सामाजिक अभिशाप है जिसमें न जाने कितने परिवार बरबाद हो जाते हैं। यही वह काँटा था जो दम्पति के हृदय में चुभने लगा था। पर शीघ्र ही मालती की ऐहिक लीला समाप्त करके जो भ्रम का निराकरण कर दिया गया है इससे उपन्यास के नारी पात्र अनुकरणीय तो हो ही जाते हैं साथ ही महेशचन्द्र के भूल सुधार से यह उपन्यास आदर्श की ओर उन्मुख हो गया है जिसकी उज्ज्वल परम्परा मुंशी प्रेमचन्द स्थापित कर चुके थे।

प्रकाश भारती

वरदान

इस उपन्यास में शिक्षित लड़कियों की चर्चा का विषय बनाकर यह स्पष्ट करने का एकांगी प्रयत्न किया गया है कि तितली कही जाने वाली लड़कियों का चरित्रबल असाधारण होता है और वे किसी भी दिलफेंक नवयुवक को सबक देकर बेदाग निकल जाती हैं।

निर्मला और मधु की परस्पर मैत्री के आधार पर ही उपन्यास की कथा निर्मित की गई है। मधु अद्वितीय सुन्दरी है जो अपनी सखी निर्मला के घर उससे मिलने आई थी कि पहले ही निर्मला के भाई प्रबोध से उसकी टक्कर हो गई। उसने एकांत पाकर मधु को घर दबाया परन्तु मधु के पड़ते थप्पड़ों के कारण उसे निराश होना पड़ा। मधु साफ बचकर निकल गई। मधु अत्यन्त चंचल, रूपगर्विता एवं वाचाल लड़की के रूप में चित्रित की गई है, जिस पर लड़के ही नहीं लड़कियाँ भी मरती हैं। ऐसी लड़की का भगवान मालिक! पर, उपन्यास में तो एक आदर्श की स्थापना कर ही दी गई है जो समाज के लिए हितकर है, परन्तु दोनों सखियों के बीच जो काम सम्बन्धी नग्न बातें करायी गई हैं। वे उचित नहीं कही जा सकतीं। वे किसी न किसी कुण्ठा के परिणाम अवश्य हैं।

वीरेन्द्रकुमार गुप्त

मध्य-रेखा

इस उपन्यास की नायिका 'प्रमिला' आधुनिक शिक्षा के आलोक में नारी की महत्त्वाकांक्षाओं को उसके वास्तविक रूप में प्रस्तुत करती है। नारी अपनी शारीरिक

सीमाओं एवं आर्थिक पराधीनता के कारण सदैव से पुरुषों द्वारा उत्पीडित रही है। यद्यपि वर्तमान शासनप्रणाली एवं सभ्यता ने उसे प्रत्येक क्षेत्र में पुरुष के साथ कन्धे से कन्धा मिला कर चलने की छूट दे रखी है, कानून द्वारा भी उसे समानता का अधिकार मिल चुका है। आधुनिक शिक्षा-दीक्षा ने उसे स्वाभिमानिनी बनाया है पर इसमे उसका अभीतक बहुत लाभ नहीं हो पाया है। उसके प्रवाह को रोकने वाली जंजीरें तो टूट चुकी हैं पर संस्कारों के अमोघ बन्धन से वह अपना पीछा नही छुड़ा पा रही है। पहले भी उसका शोषण होता रहा और आज भी हो रहा है। पर शोषण का रूप बदल अवश्य गया है। उपन्यास में आये सभी नारी पात्रों को कालेजो मे शिक्षा मिली है और वे अपने स्वतंत्र विकास के लिए संघर्ष करती जान पड़ती हैं। पर उनके संकल्प, उनके संस्कारों के कारण अधूरे हो रहते हैं और वे बार-बार सुशील पंडित जैसे लोगों की चाल में फंसकर अपना शोषण कराती रहती हैं। एक ओर तो नारी अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व के लिए संघर्ष कर रही है दूसरी ओर पुरुष उसका प्राप्य देने को तैयार नहीं। वह नारी को वस्तु मात्र मानता है और अपनी इच्छानुसार उसका हर सम्भव उपयोग करना चाहता है। उपन्यास की नायिका 'प्रमिला' को विवाह के पूर्व ही मंगेतर सुशील के संस्कारों का ज्ञान हो चुका था। उसे इसका पूरा ज्ञान था कि सुशील विवाह को नैतिक मूल्य प्रदान करने को तैयार नहीं और वह 'सरला' के जीवन के साथ तो खिलवाड़ कर ही चुका है अब उसकी छोटी बहन 'तरला' के भविष्य के साथ खेल रहा है। जान बूझ कर कोई भी नारी सुशील ऐसे पति को स्वीकार नहीं कर सकती, पर पारिवारिक संस्कारों के कारण सुशिक्षिता 'प्रमिला' 'सुशील' को स्वीकार करने के लिए विवश है। उसका स्वाभिमान उसकी महत्त्वाकांक्षा और उसकी सारी शिक्षा व्यर्थ सिद्ध होती है। सुशिक्षित नारियों के विडम्बनापूर्ण जीवन का चित्रण करना ही इस उपन्यास का उद्देश्य जान पड़ता है। 'प्रमिला' एक ऐसी नारी है जिसमें स्वाभिमान और दृढ़ता का तो अभाव नहीं है, पर नारी सुलभ दुर्बलताओं की भी उसमें कमी नहीं। सोहागरात में ही पति का तिरस्कार कर भाई के घर लौट आने वाली नारी प्रमिला, कालेज की प्राध्यापिका और बाद में पी० एच० डी० प्राप्त कर लेने पर विभागाध्यक्ष बन कर अपने जिस अनुकरणीय स्वरूप का परिचय देती है, वहीं दूसरी ओर केवल अग्नि की साक्षी में दिये गये पति के वचनों को, संस्कारबद्ध होने के कारण अन्तर्मन मे इस सीमा तक जमाए रहती है कि सुशील के तनिक आग्रह पर उसके साथ दाम्पत्य जीवन में लौट आने के लिए विकल हो उठती है। ज्यों ही उसे पता लगता है कि सुशील चिकनी-चुपड़ी बातों में फँसा कर तलाक देकर उससे मुक्त होना चाहता है जिससे वह तरला से विवाह कर सके तो एक बार फिर प्रमिला के पांव के नीचे की धरती खिसक जाती है। सुशील अर्थ की शक्ति में विश्वास रखता है जिससे व्यक्ति को खरीदने का भी वह हौसला रखता है। उपन्यास की कथा में उस सीमा तक अद्भुत

प्रवाह दिखलाई पड़ता है जहाँतक कि प्रमिला उसका सचालन करती है। पर जब उपन्यासकार इस प्रसंग से हट कर आवश्यकता से अधिक पूँजीवादी हथकण्डो की चर्चा करने लग जाता है तो कथा का सरस प्रवाह अवरुद्ध हो जाता है। प्रमिला के रूप में नारी चरित्र की जिन सम्भावनाओ की ओर उपन्यासकार ने संकेत किया है उसके विकास की अपेक्षा है।

डॉ० श्याम परमार

मोर झाल

'मोर झाल' एक आंचलिक परिधि मे विरचित डॉ० श्याम परमार का लघु-उपन्यास है। कला के माध्यम से लेखक ने आदिवासियो की बस्ती नयन गाँव और उसके सन्निकट मे अवस्थित बाघ गुफा के भित्तिचित्रो को वाणी प्रदान करने का सदुद्योग किया है। जीवनवृत्त प्रधान आंचलिको के सर्जन मे गहरी दृष्टि एवं क्रियाकलापो में अतन्-शायिनी प्रेरणा शक्ति को परखने की सूक्ष्मानुभूति की महती आवश्यकता होती है। साथ ही जीवन की लहरो मे तरंगो-सी घुलमिल जाने वाली भाषा का होना भी आवश्यक हो जाता है, अन्यथा विवेच्य जीवन से अनमिल भाषा रसाभास का ही बोध करा पाती है, जब कि सर्जना की पूर्णता रसानुभूति की सामर्थ्य मे निहित होती है। डॉ० परमार की भाषा भील-जीवन के प्रचलित शब्दो का मुक्त आदान करती है, आवश्यकता के अनुसार खडी बोली का रूपान्तर उनमें और भी स्पष्टता ला देती है। फिर भी वह खडी बोली समाज के ही अधिक निकट है शायद यही लेखक का लक्ष्य भी रहा है।

विवेच्य भील जीवन को प्रकाश में लाने का उद्योग सोम-पुरातत्वशोधार्थी एवं चित्रकार, वर्मा-डाक्टर, चिकित्सक, शर्मा-बाघ गुफाओ का निर्देशक, के द्वारा सम्पन्न हुआ है। इनमें भी अधिक उपलब्धि सोम के द्वारा होती है जो भील समाज में पूरी आत्मीयता से घुलमिल कर उनके जीवन की सारी परिस्थितियों का साक्षात्कार करता है।

कथा के मूलाधार में नाथ्या, सुन्दऱ्या, उमऱ्या, हान्या, वेस्ता, राई और बना भील पात्रो मे प्रमुख हैं, जिनके जीवन की परछाई तक की परख लेखक ने कौशल से की है। रोचकता के लिए प्रेम-प्रसंगो का सन्निवेश किया गया है, पर वे आदिम जातियो के जीवन की पृष्ठभूमि में ठीक-ठीक बैठने हैं रोमानी हवा उनपर नही चढाई गई है। सोम का तो कहना है कि 'सभ्यता के बडे कैनवास पर बैठकर माधवी अपने आकार में भले ही 'राई' से भिन्न हो, पर अन्तर में बहने वाला उसका रक्त जंगल में छिपे रहनेवाले आदिम मानव से किसी तरह अलग नही लगता। ''''''अगर राई माधवी के कपडे पहन कर सामने आ जाये तो कौन उसे भीलनी कहेगा।''

आदिवासियो का जीवन सीधा-सादा तो है ही पर उनमें परस्पर का विद्वेष भी कम नहीं। बात की बात में तीर का खिंच जाना कठिन नहीं। यद्यपि आदिवासियों के

बीच बहुपत्नित्व की प्रथा समृद्धिसूचक है पर यह बहुपत्नित्व उनमें भी निरन्तर कलह का सूत्रपात करता रहता है और यह राँड़ी झगड़ा हान्ना के अनुसार आदमी को खा जाता है।

जहाँ तक शीर्षक का प्रश्न है 'मोर झाल' का उल्लेख एक बार झाड़फूँक के लिए अवश्य हुआ है, पर पूर्ण या अपूर्ण किसी रूप में उपन्यास पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

सन्तोष व्यास

कालिदास

यह एक ऐतिहासिक उपन्यास है जो महाकवि कालिदास के जीवन पर आधारित है। कालिदास का वर्तमानकाल विवादास्पद है पर बहुचर्चित सम्राट विक्रमादित्य के काल को ही लेखक ने स्वीकार किया है। उपन्यास में गुप्तकालीन सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनैतिक परिस्थितियों का व्यापक चित्रण इस उपन्यास में नहीं हो पाया है क्योंकि उपन्यासकार ने इसे कवि के प्रेम-प्रसंगों तक ही सीमित रखा है जब कि कालिदास के ग्रन्थों के अन्तःसाक्ष्य के आधार पर भी बहुत कुछ लिखा जा सकता है। आचार्य वररुचि का कालिदास और सम्राट की कन्या प्रियंगुमंजरी के गुरु के रूप में उपस्थित किया गया है जिन्होंने पशुपाल को कालिदास बनाया। पशुपालने उन्हें वीरान जंगल में दूध पिलाया या और करचएडी शब्द का ज्ञान कराया था जिससे आचार्य ने उसे गुरु मान लिया और आगे चलकर आचार्य वराहमिहिर जी के प्रियंगुमंजरी के सम्बन्ध में हस्तरेखा के आधारपर कहे गये वचन और वररुचि के शाप को भी रक्षा हो सकी। सम्राट के जामाता के रूप में कालिदास का मेनका (मालविका) से वीणा ज्ञान करना और प्रियंगु के सन्देह का कारण बनकर विदिशा में जाकर ग्रन्थ रचना करना तथा वहाँ से रामगिरि जाना आदि ऐसे प्रसंग हैं जिसमें लेखक ने अपनी कल्पना-प्रवणता का परिचय दिया है। कवि के चरित्र को अत्यन्त सहानुभूति पूर्वक चित्रित किया गया है। प्रियंगु में भी पर्याप्त स्वाभाविकता है तथा मेनका का चरित्र तो अत्यन्त रमणीय है जिसे कालिदास ने भगिनी के रूप में स्वीकार कर लिया था। कुल मिलाकर यह एक प्रेमपरक उपन्यास है जिसमें लेखक के श्रम का अभाव खटकता है।

क्षीरसागर

क्षीरसागर की प्रवृत्ति सामाजिक उपन्यास लिखने की ओर दिखलाई पड़ रही है। अभी तक उनके दो सामाजिक उपन्यास 'सुनन्दा' और 'बरगद की छाँह' प्रकाशित हुए हैं। अपने 'सुनन्दा' उपन्यास में उपन्यासकार ने एक बंगाली बालिका सुनन्दा के दृढ़ एवं आदर्श चरित्र की कहानी कही है। काशी भारत की ऐसी नगरी है जहाँ सभी प्रान्त एवं सभी जाति के लोग निवास करते हैं। इसी नगरी के बंगाली एवं मराठी परिवारों को घेर कर उपन्यास की कथा का विकास हुआ है जो आकर पड़ोसी के

रूप में रहने लग गए हैं। किस प्रकार जाति-पाँति या भेदभाव दो प्रेमियों के बीच दीवार बनकर खड़ा हो जाता है, आदि का सजीव चित्रण इस उपन्यास में हुआ है। काशी के समस्त आचार-विचार एवं बोलचाल उपन्यास में अत्यन्त यथार्थ रूप में चित्रित हैं।

अपने दूसरे सामाजिक उपन्यास 'बरगद की छाँह' में क्षीरसागर ने प्रेम के उसी चिरपरिचित दायरे को अपनाया है जिसे उन्होंने सुनन्दा में चित्रित किया था। स्वस्थ सामाजिक प्रेम के समर्थ शिल्पी क्षीरसागर में संयम का कहीं अभाव नहीं दिखलाई पड़ता। सम्पूर्ण उपन्यास लगभग आत्म-कथात्मक शैली में लिखा गया है जिसे 'शंकर' नामक पात्र उपस्थित करता है। शंकर साहित्यिक रुचिका व्यक्ति है और कुछ लिख-पढ़ भी लेता है। दफ्तर में कार्य करके जीविका चलानेवाला वह एक मध्यवर्गीय युवक है। उसमें कुछ ऐसा आकर्षण है कि उसके बहनोई के साथ आई ललिता नामक सुन्दर लड़की के आकर्षण का वह कारण बनता है। दोनों ने विवाह कर लेने का निश्चय भी कर लिया था, पर पिता के आग्रह के कारण ललिता एक प्रोफेसर से व्याह दी गई और इधर शंकर को भी उमा नामक साध्वी लड़की मिल गई और वह अब एक लड़की का बाप भी बन गया है। शंकर का दाम्पत्यजीवन किसी भी सम्भ्रान्त व्यक्ति के लिए स्पृहा का कारण बन सकता है। बहुत दिनों के बाद ललिता का पत्र आकर शंकर की स्मृति को जगा देता है। वह इलाहाबाद आ रही थी। उसकी उदार पत्नी और माँ ने ललिता को काशी लाने के लिए शंकर को प्रेरित किया जो वह हृदय से चाहता था। प्रोफेसर और शंकर का परिवार ऐसा परस्पर मिला मानो वह एक ही परिवार का अंग हो। कहीं भी सन्देह और कलह की गुंजाइश तक नहीं आने पाई है जिसकी पूर्ण सम्भावना थी। ललिता और शंकर का पूर्व प्रेम पुनः उद्दीप्त हो जाता है पर माँ की शीतल ममता ने उसे जलन से हटाकर मृदुलता में परिवर्तित कर दिया। प्रेमिका बहन में परिणत हो गई। बरगद की छाँह का प्रयोग प्रतीकात्मक हुआ है। जिस प्रकार बरगद की छाँह शीतल होती है वैसे ही वासनाविहीन प्रेम शान्तिदायक होता है और पारिवारिक विघटन से समाज को बचाता है। क्षीरसागर ने इस उपन्यास के लिए जो भूमि चुनी है उस पर उपन्यासकार खूब गरमागरम साहित्य लिखते आ रहे हैं पर इसमें एक भी अश्लील एवं अवांछित चित्र नहीं आया है। उपन्यासकार की यह सफलता पारिवारिक उपन्यास लिखने वालों के लिए अनुकरणीय है। भाषा-शिल्प की दृष्टि से भी यह उपन्यास अच्छा बन पड़ा है।

रांगेय राघव

हिंदी साहित्य के एकाधिक क्षेत्रों में रांगेय राघव ने कार्य किया है। उनके घरौंदे, मुर्दों का टीला, चीवर, सीधासादा रास्ता, अंधेरे जुगनू, रत्न की बात, उबाल, काले

खण्डहर, कब तक पुकारूँ आदि उपन्यासों से हिन्दी उपन्यास-साहित्य की भी वृद्धि हुई है। आंचलिक उपन्यास के क्षेत्र में 'कब तक पुकारूँ' का विशेष महत्त्व है।

राजेन्द्र अवस्थी के आंचलिक उपन्यास भी अच्छे बन पड़े हैं। तुषिन, सूरज किरन की छाँव, जंगल के फूल, पाप के परे, तथा बादलों के आरपार, उनकी कृतियाँ हैं।

सुरेश सिन्हा नई पीढ़ी के उपन्यासकारों में नई सम्भावनाओं के साथ लिख रहे हैं। तुमने मुझे पुकारा तो नहीं, एक और अजनबी, तथा सुबह अँधेरे पथ पर उनकी प्रमुख रचनाएँ हैं।

रामदरश मिश्र कृत पानी के प्राकारें, उत्तर प्रदेश के पूर्वाञ्चल पर लिखा एक सशक्त आंचलिक उपन्यास है जिसे भाषा, भाव और वस्तुविन्यास की दृष्टि से स्वस्थ रचना की संज्ञा दी जा सकती है।

ठाकुर प्रसाद सिंह का उपन्यास 'कुब्जा सुन्दरी' प्रयोग की एक नई दिशा लेकर आया है। उपन्यास में वैयक्तिक संस्मरणों की भरमार है जिसका मजा उनसे सम्बन्धित व्यक्ति ही ले सकते हैं। उपन्यासकार का व्यक्तित्व भी बराबर झलक मारता रहता है। संथालों के जीवन की झाँकी भी यथास्थान देखने को मिल जाती है जिससे उपन्यासकार का पुराना परिचय है। अनेक दृष्टियों से उपन्यास महत्वपूर्ण है, पर यदि उपन्यासकार मौलिक विचारों को विशेष महत्व देता तो उपन्यास और भी अच्छा बन पड़ता।

लक्ष्मीनारायण लाल का उपन्यास 'रूपाजीवा' वर्तमान भौतिकवादी जीवन की निस्सारता प्रकट करता है। जीवन में धन के बढ़ते हुए महत्व और टूटती हुई मानवता की वास्तविक व्याख्या इस उपन्यास में हुई है।

राघवेन्द्र मिश्र

स्नेहलता

'स्नेहलता' बाजारू ढंग का उपन्यास है। सारनाथ रोडवर स्थित एक मकान में एक पंडितजी नवीं कक्षा में एनीबेसेंट में पढ़नेवाली एक लड़की रानू को उसकी माँ की जानकारी में लाते हैं जहाँ मनजीत, जो कानपुर में सीनियर राशनिंग इंसपेक्टर है, उसका बनारसी दोस्त रमेन्द्र, जो छोटी-मोटी दूकानदारी कर लेता है और रानू वनर्ज जाते हैं और शराब पीकर लड़की की इच्छा से उसके नंगे शरीर को चूसते हैं। रमेन्द्र की पत्नी स्नेहलता असन्तुष्ट हो मनजीत की ओर आकर्षित हो जाती है और फिर बाद में तो रमेन्द्र स्वयं उसे अनैतिक व्यापार करने के लिए बाध्य करता है जिसके ग्राहक दलाल अब्दुल तथा गिरधारीलाल आदि खरीदार हैं। स्नेहलता के द्वारा मनजीत ने रमेन्द्र की जब ये करतूतें सुनी तो उसने उसकी (रमेन्द्र) हत्या कर दी जिससे उसे फाँसी

की सजा भुगतनी पड़ी। वैसे वाले स्नेहलता की ओर आंख लगा लेते हैं। अन्य कुमारी तथा विवाहिता लड़कियों की भी चर्चा इस उपन्यास में हुई है। कई बार तो उपन्यासकार ने उनके गुप्त स्थानों तक की भी चर्चा की है, 'वे तौलिया से रक्त पोंछती हैं' आदि बातें भी लिखना वह नहीं भूलता। इसे हम स्वस्थ साहित्य की श्रेणी में नहीं रख सकते।

मनमोहन मदारिया

चार दीवारी

'चार दीवारी' एक सामाजिक उपन्यास है। शिल्प की दृष्टि से यह उपन्यास से अधिक कहानी के निकट है। समाप्त होने के पश्चात् भी परिणाम के लिये उत्सुकता बनी रहती है। लेखक, जिसे मनू कहते हैं, का एक कालेज मित्र ज्ञानेन्द्र अथवा ज्ञानू है, वही अपनी बीती कहानी पत्र द्वारा सुनाता है। ग्राम-सेविका-ट्रेनिंग की अधीक्षिका कामिनी जिससे ट्रेन में प्रेम हो जाने से चड्ढा ने सी० एन० मिश्रा के नाम से सिविल मैरेज किया था, पर रहस्योद्‌घाटन हो जाने पर कामिनी ने सम्बन्ध तोड़ लिया। ज्ञानू दादा की लड़की रत्ना से विवाह की तैयारी करके भी 'नयी रचना' में भाग आया जिसे पंडित दीक्षित ने बसाया था। वहाँ पर कामिनी के सम्पर्क में ज्ञानू भलीभाँति आ गया। उसने उसके पति चड्ढा का पता भी लगाया, पर उसने आत्महत्या कर ली। ज्ञानू ने जब यह समाचार कामिनी को दिया तो वह क्रोध से उबल पड़ी क्योंकि उसे ऐसा लगा कि ज्ञानू उसे अपनी पत्नी बनाने के लिये विवश कर रहा है। ज्ञानू कामिनी के साथ पुनः लखनऊ लौट आया। दोनों का पुन. विवाह हुआ कि नहीं यह अनिर्णीत है।

राजकुमार त्रिवेदी

कौन किसका

'कौन किसका' एक सामाजिक उपन्यास है जिसकी कथा का विकास घटनाओं के आधार पर हुआ है। चन्द्रा नामक एक लड़की की नादानी से यह उपन्यास आरम्भ होकर सेठ छदमीलाल की आदर्श मानवता एवं प्रमोद के अनोखे आदर्श के साथ समाप्त हुआ है। दिनशचन्द्र के लड़के उमेश के साथ चन्द्रा कालेज से ही अपने पिता दीनानाथ के कुछ रुपये और गहने लेकर भाग जाती है। उमेश लम्पट स्वभाव का छात्र है और वह चन्द्रा के शरीर और धन के साथ खेल खेल चलता है। पूर्ण तृप्ति और रुपयों तथा गहनों को समाप्त कर वह एक दिन उसे छोड़कर पुनः लखनऊ चला आता है जहाँ लड़कियों को छेड़ने के अपराध में कोतवाली का दरवाजा देखता है। आदर्श के प्रति लेखक का आग्रह अधिक है। हिन्दू-मुस्लिम के सौमनस्य का इसमें सन्देश है। कथा का सगठन आकर्षक रूप में हुआ है।

श्रीराम शर्मा 'राम' का 'नींव का पत्थर' मजदूर आन्दोलन को लक्ष्य कर के लिखा गया है जिसमें पूँजीपतियों और मजदूरों के बीच चलने वाली आवश्यक संस्थाओं की ओर संकेत है। मजदूरों के प्रति लेखक की सहानुभूति कहीं-कहीं इतनी अधिक हो गई है कि वर्णन एकपक्षीय हो गया है। यही कारण है कि उपन्यास वर्गवाद के जितने निकट है उतना सामाजिक उपन्यास के निकट नहीं। यदि लेखक तटस्थ रह पाया होता तो यह अपने ढंग का अकेला उपन्यास होता।

इनका दूसरा उपन्यास 'उभरते खण्डहर' भाषा, शैली एवं विषय-प्रतिपादन को दृष्टि से एक सफल कृति कही जा सकती है।

'कल्पना के आँसू' में पहुँच कर उपन्यासकार 'राम' की शैली में और भी निखार आया है।

यह एक सामाजिक उपन्यास है जिसमें दो प्रमुख पात्रों के माध्यम से आदर्श और यथार्थ के सुन्दर उदाहरण एक ही कथा में प्रस्तुत किये गये हैं। 'सुधीर' लेखक के आदर्श और 'कल्पना' उसके यथार्थ के सजीव चित्र हैं। सुधीर एक दीन किसान चौधरी शिवदास का पुत्र था और कल्पना एक बहुत बड़े जमींदार विक्रम चौधरी की इकलौती बेटी थी जिसका विवाह भी एक बड़े जमींदार अवध बाबू के साथ हुआ था जो वकील भी थे। कल्पना और सुधीर बचपन ही से साथ रहे, जिससे उनमें सहज स्वाभाविक प्रेम हो गया था। एक ही पाठशाला में दोनों पढ़ने जाते और कल्पना अपने हिस्से का कलेवा खाने के लिए सुधीर को भी देती। उमर के साथ ही साथ दोनों का प्रेम भी बढ़ता गया, पर उसमें पंकिलता की गंध नहीं आ पायी थी। मार्ग में वर्षा हो जाने के कारण एक दिन वे दोनों एक झोपड़े में ही रह गये जिसे शिवदास चौधरी के शत्रुओं ने बहुत तूल दे दिया। सुधीर और कल्पना चाह कर भी जीवन-साथी के रूप में नहीं रह पाये क्योंकि सुधीर की गरीबी बीच में एक बहुत बड़ी दीवार बन कर खड़ी हो गई। सुधीर का प्रेम कल्पना के प्रति कम न होकर बढ़ता ही गया और कल्पना के विवाहोपरान्त तो लौकिकता से ऊपर उठ कर आध्यात्मिकता की कोटि में आ गया। जंगल विभाग में एक हजार रुपया वेतन पाने वाला आफिसर बन जाने पर भी सुधीर ने कल्पना की मधुर स्मृति में अपना ब्याह नहीं किया। कल्पना के पिता ने उसे सुधीर के सम्बन्ध में अवगत कराते समय इतना और जोड़ दिया कि लोगों का मत है कि उसने किसी लड़की से ब्याह कर लिया है। पढ़े-लिखे लोगों के प्रति ग्रामीणों की दृष्टि बहुत स्वस्थ नहीं हुआ करती जिससे लोगों का यह समझ लेना कि सुधीर अभी तक कुँवारा नहीं है, अत्यन्त स्वाभाविक ही है।

सुधीर का निर्माण आदर्श की भूमि पर हुआ है पर कल्पना यथार्थ की ही सृष्टि है। लेखक ने घटनाओं का संगठन ऐसे कौशल से किया है कि उनके द्वारा चरित्रों पर पड़ने वाले प्रभाव अस्वाभाविक नहीं होने पाये हैं जब कि उनमें पर्याप्त मोड़ आये हैं। परि-

स्थितियों में बदलने वाले पात्रों के चित्रांकन में उपन्यासकारों के असफल होने की सम्भावनाएँ अधिक रहती हैं पर इस उपन्यास का लेखक पूर्णतः सफल रहा है।

अमरकांत

सूखा पत्ता

आत्मकथात्मक शैली मे लिखे गये 'सूखा पत्ता' उपन्यास की घटनाओं को अमरकांत ने सहजता का जो रंग और गति दिया है; यह उनकी अपनी विशेषता है। बलिया शहर की संस्कृति का उल्लेख हमारी रोज की बातचीत में एक विशेष संदर्भ के साथ किया जाता है। जिस शहर में 'लंठई' (उजड्डता) का प्रयोग एक फैशन के रूप में होता है और 'जिस शहर की धरती पर उस समय एक विचित्र मानव चल रहा था। संक्षेप मे न वह देहाती था, न शहरी,' उस आदमी की कथा कहने के प्रलोभन में इस बात की ज्यादा आशंका थी कि कथाकार का आंचलिकता के प्रति दुराग्रही झुकाव हो जाता। किन्तु इस उपन्यास में बहुत दूर तक अंचल विशेष अपनी पूरी सार्थकता के साथ चित्रित होते हुए भी आंचलिक बोझिलता से परे है। यह शायद इसलिए भी कि लंठई और सत्तू जैसे दो चार शब्दों को छोड़ कर 'डायलेक्ट्स' बोल-चाल की भाषा का प्रयोग नही किया गया है। अमरकांत की 'पारदर्शी भाषा' में तटस्थ वक्तव्य देने की अद्भुत शक्ति है। यह दूसरी बात है कि इस तरह की भाषा बहुत ही उलझी हुई मनःस्थितियों और घटनाओं की अभिव्यक्ति में सहायक नही होती।

वस्तुतः इस कृति का महत्त्व प्रेम-प्रसंगों के नाते अधिक है। प्रेम-भावना में प्रत्येक साधारण वस्तु में आकर्षक उत्सुकता और एक विचित्र सौंदर्य-चेतना होती है। पवित्र प्रेम जीवन की व्यापकता को समझने की दृष्टि प्रदान करता है। किशोर जीवन की वास्तविकता यही है कि वास्तविकता कहीं नहीं होती और जीवन के प्रति एक प्रकार का उन्माद, उत्साह और उसकी प्रतिक्रिया में कभी-कभी घोर निराशा के भाव अनायास मन मे उमड़ते रहते हैं। 'सूखा पत्ता' के तीसरे खण्ड मे इनके मार्मिक चित्र मिलेंगे। सद्यःस्नाता के रूप-प्रभाव की स्मृति कृष्णकुमार की आँखों के सामने चाँदनी में खिली वायु-प्रकम्पित रजनी-गंधा के समान झूम उठती है और जैसे हवा में तिनका उड़ता है, उसी तरह वह निस्सीम आह्लाद में उड़ा चला जा रहा था। जब-एक निर्दोष मुस्कराहट तथा झरने के शीर्ष भाग को छूती हुई ऊषा की प्रथम आभा जैसी कपोलों की लाली' का पुरस्कार किसी युवक को पहली बार मिलता है तो उसका 'रुई के बादलों की तरह हल्का होकर श्वेत बादलों के समान आकाश में उड़ना' स्वाभाविक ही है।

उपन्यासकार प्रतीकों के सहारे बहुत गहराई तक सत्य के स्पष्टीकरण का प्रयत्न करता है, किन्तु इस स्पष्टीकरण को जो लोग सामाजिक समस्याओं तक ही ढूँढ कर रह

जाते हैं वे किसी भी कथाकार की मान्यताओं का सही निर्धारण नहीं कर सकते। इस उपन्यास के लेखक का लक्ष्य केवल एक सूखा पत्ता था, विराट वृक्ष नहीं। यदि इसमें घनी पत्तियाँ और हरीतिमा न मिले तो यह कृति का दोष नहीं। लेखक ने उपन्यास की दूसरी किस्त की घोषणा की है और हम उसकी प्रतीक्षा करेंगे।

इसके बावजूद उपन्यास का मूल्य कदापि कम नहीं होता। सन् १९५० के बाद के उपन्यासों में कृष्णबलदेव वैद के 'उसका बचपन' की तरह इसका भी एक निश्चित स्थान है और यह उपन्यास एक महत्वपूर्ण अभाव की पूर्ति करता है।

अन्य उपन्यासकार

श्रीराम वेरी का लिखा "प्यार की जीत" एक शिक्षाप्रद उपन्यास है जिसमें यथार्थता से अधिक लेखक का शिक्षक रूप विशेष उभड़ा जान पड़ता है। प्रो० श्री सत्यन रायण शर्मा ने अपनी 'टूटती हुई जंजीरें' नामक मौलिक गद्य-काव्यात्मक उपन्यास में स्वदेश की सीमा पार कर 'फ्रांस' देश में घटित घटना को कथावस्तु के रूप में अपनाया है जिसमें कल्पना का प्राधान्य है, किन्तु लेखक वैयक्तिकता के साथ इतना चिपका हुआ है कि कल्पना यथार्थता को बिल्कुल छोड़ नहीं पायी है। इधर हाल में भगवतीप्रसाद वाजपेयी के कुछ नवीन प्रकाशित उपन्यासों में सामाजिक यथार्थ का सुन्दर चित्रण मिल जाता है। छविनाथ पांडेय का 'माँ की ममता' तथा साधुशरण जी का 'नातिन' ऐसे ही सामाजिक उपन्यास हैं।

गुलशन नन्दा कृत 'सितारों से आगे' उपन्यास सामन्ती लकीरों पर चलता हुआ बच्चों की स्कूली दुनिया में आकर रम गया है। जैसा कि लेखक ने दावा भी किया है कि "यह एक नन्हे मुन्ने बालक की आकांक्षाओं का समुच्चय है" जिसे इस विशाल जगत में तूफानों का एकाकी सामना करना पड़ा, और अपनी प्रत्येक आकांक्षा के लिए आकाश की उन नीली गहराइयों की ओर देखना पड़ता था जहाँ आकाश के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं, जिसमें हर पग पर मृत्यु और नाश पलते थे।

यादवचन्द्र जैन का 'असीम की सीमा' एक अच्छा सामाजिक उपन्यास है। इतना मैं अवश्य कह सकता हूँ कि कुछ उपन्यासों को छोड़कर हम प्रेमचन्द जी सामाजिक उपन्यासों के क्षेत्र में जहाँ छोड़ गये थे, हम या तो वहीं हैं, अथवा उससे भी पीछे खिसक आये हैं।

कुमारिल देव कृत 'बन्धन मुक्त' उपन्यास में लेखक को भी अग्रेमिस कहलाने वाले उपन्यासों से प्रेरणा मिली है, ऐसा जान पड़ता है। लेखक का मन कुछ कहने के लिए बौखला तो रहा है, किन्तु लगता है मानो उसे अपने तर्कों पर स्वयं विश्वास नहीं है।

विष्णु शर्मा का 'सूरज डूबने से उगने तक' एक लघु उपन्यास है। इसमें विचार और चेतना की प्रधानता है। इस उपन्यास में दर्दीलो जिन्दगी की कहानी है।

ओमप्रकाश एम० ए० के 'पतन का अन्त' में सामाजिक विषमता और मजदूर सगठन का चित्रण हुआ है। इस प्रकार के वर्ग सघर्ष के साथ समाज की चेतना गतिविधि की नाडी पहचानने वाले उपन्यासकार हमें इधर के लघु उपन्यासों में मिलेंगे।

रमेश चौधरी 'आरिगपूडि' अपने उपन्यासों के माध्यम से हिन्दी साहित्य की अच्छी सेवा कर रहे हैं। इनके दो प्रमुख उपन्यास 'खरे-खोटे' और 'आदरणीय' विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से अच्छे बन पाये हैं। 'आदरणीय' उपन्यास मे उन्होंने समाज में बने उन आदरणीय व्यक्तियों की पोल खोली है जिनका वास्तविक जीवन प्रकट से नितात भिन्न है। एम० सी० चेट्टियार के माध्यम से उपन्यासकार न पूँजीपतियों की पाप लीला, उनकी कामुकता, राष्ट्र-विरोधी कार्य एवं पैसे के बल से सरकारी आफिसरों को लोलुपता के जाल मे फँसाकर अन्यायपूर्ण आचरण करवाना आदि का सजीव चित्रण किया है। किस प्रकार काग्रेसी मंत्री जनता के साथ विश्वास-घात करते हैं तथा पूंजीपति लेखकों को पैसे से खरीद कर अपनी जलन आत्मकथा लिखवाते हैं आदि का सजीव वर्णन 'आदरणीय' मे हुआ है।

कुमारी लीला अवस्थी के दो सामाजिक उपन्यास 'दो-राह' और 'बिखरे काँटे' मुख्यत नारी वर्ग की यथार्थ जीवन चर्या प्रस्तुत करते हैं। लेखिका द्वारा प्रस्तुत किए गए चित्र इस लिए विश्वसनीय हैं कि उसने उसे निकट से देखा और स्वय उसका अनुभव किया है। शैली मे सुरुचि पूर्ण पद्धति का सफल निर्वाह पाठकों को सर्वत्र देखने को मिल जायगा।

कोमल सिंह सोलकी का सतह के नीचे' एक सामाजिक उपन्यास है जिसको स्वाभाविकता प्रदान करने के लिए लेखक ने बीच-बीच में पत्रात्मक शैली का भी उपयोग किया है।

हितवल्लभ गौत का सामाजिक उपन्यास 'नकली' नकल नापा शैली को दिशा में एक प्रयास है जिसमें लेखक की भावुकता का भी कहीं-कहीं परिचय पाठकों को मिल जाता है।

वृन्दावनलाल वर्मा के इधर दो सामाजिक उपन्यास 'उदय किरण' और 'आहत' प्रकाशित हुए हैं। उदय किरण मे आधुनिक सहकारिता आन्दोलन का समर्थन किया गया है और 'आहत' में छोटी कक्षाओं मे पढ़ने वाले बालकों का अत्यन्त मनोवैज्ञानिक चित्रण तो है ही साथ ही साथ म्युनिसिपैल्टी के अध्यापकों की दयनीय अवस्था का भी सजीव चित्रण किया गया है।

गोविन्दवल्लभ पत का नवीनतम उपन्यास 'फारगेट मोनाट' नैनीताल के प्राकृतिक सौंदर्य की पृष्ठभूमि में लिखा एक सफल सामाजिक उपन्यास है। सारा

उपन्यास पहाड़ी होटल की दुनिया में रमता और प्रकृति के मनोरम दृश्यों में झूमता रहता है।

सम्पतलाल पुरोहित कृत 'ऊपर नीचे' और डाक्टर कंचनलता सब्बरवाल कृत 'अनजान राहें' और 'अनचाहा' भी सामाजिक उपन्यास हैं।

जगदीशकुमार 'निर्मल'

निर्मल जी के दो ऐतिहासिक उपन्यास 'साका' और 'विदिशा की देवी' देखने को मिले। 'साका' उपन्यास बाबर-कालीन भारत पर आधारित चन्देरी में हुए जौहर की करुण कहानी कहता है, जिसमें सर्दार हिम्मत सिंह की गद्दारी का ऐतिहासिक चित्रण है जिसकी अनेक पुनरावृत्ति से भारतीय इतिहास की असफलता काली स्याही से अनेक बार अंकित हुई है। कुछ 'हमीदा' ऐसे पात्रों का भी चित्रण हुआ है जो अत्यन्त अस्वाभाविक से लगते हैं।

'विदिशा की देवी' में अशोक-कालीन भारत की हल्की-सी झांकी प्रस्तुत की गई है निर्मल जी को इतिहास की वीर रमणियां पुरुषों से अधिक छुआ सकी हैं। इस उपन्यास में भी उन्होंने अशोक की प्रणयिनी 'असन्धिमित्रा' की सशक्त जीवन-रेखाओं को उभारा है। इस महिमामयी नारी ने ही हिंसक अशोक को अहिंसक बनाकर विश्व को शान्ति-सन्देश देने के लिए प्रेरित किया, ऐसा उपन्यासकार का अपना मत है। विदिशा की रहनेवाली यह प्रणयिनी कभी भी पाटलिपुत्र नहीं गई बल्कि अशोक को उससे मिलने के लिए स्वयं विदिशा आना पड़ता था, यही शीर्षक की सार्थकता है। यद्यपि उपन्यासकार ने इतिहास के व्यापक परिप्रेक्ष्य में इस उपन्यास को नहीं उतारा है, पर जीवन के जिस सीमित पक्ष को उसने उठाया है, उसे सफलता मिली है।

सत्यदेव चतुर्वेदी

चतुर्वेदी जी के 'रानी तिष्यरक्षिता', 'किरण प्रभा', 'अन्तरिक्ष की लहरें', 'अमित-वेग' और 'अज्ञात के दिन' उपन्यास देखने को मिले। 'रानी तिष्यरक्षिता' ऐतिहासिक उपन्यास है। प्रधान पात्र तिष्यरक्षिता के चरित्र द्वारा लेखक ने यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है कि एक निम्नकोटि की परिचारिका जो दरिद्र थी, अपार वैभव के लोभ से अपना व्यक्तित्व समर्पित कर देती है, किन्तु उसकी कामवासना वैभव से शान्त नहीं हो सकती, क्योंकि वह तरुणी थी, अतः अपनी इच्छापूर्ति के लिए वह उच्छृंखल हो जाती है और क्रमशः पतन की ओर बढ़ने लगती है। उसी के कुटरय से सम्पूर्ण राजपरिवार ही नहीं, मौर्य साम्राज्य का भी पतन हो जाता है।

'किरणप्रभा' भी तिष्यरक्षिता की भांति ऐतिहासिक उपन्यास है। यह महाराज छत्रसाल और उनकी दृढचरित्र रानी 'किरणप्रभा' के जीवन की उत्कट एवं उत्प्रेरक

घटनाओं पर आधारित है। यह अनेक मर्मस्पर्शी, रोमांचकारी एवं आकर्षक कथा-प्रसंगों से परिपूर्ण रचना है।

'अन्तरिक्ष की लहरें' की सारी कथा काल्पनिक है, पर वह ऐतिहासिकता का भ्रम उत्पन्न करती है। वस्तुविन्यास, कथोपकथन तथा पात्रों का चरित्र-चित्रण इतना सहज एवं स्वाभाविक ढंग से हुआ है कि घटनाएँ यथार्थ प्रतीत होती हैं।

'अमितवेग' उपन्यास के ढर्रे पर लिखा गया है जिससे चाहे तो इसे भी उपन्यास कह सकते हैं अन्यथा रामायण के प्रमुख पात्र हनुमान से सम्बन्धित अनेक प्रचलित कथाओं को ही कथा का रूप दे दिया गया है।

'अज्ञात के दिन' चतुर्वेदी जी का पौराणिक उपन्यास है। इसमें धर्मप्रेमी पाण्डवों के अज्ञातवास पर्व की मार्मिक कथा कही गई है।

वैजनाथ राय

राष्ट्रीय आंदोलन को सम्मुख रखते हुए काफी उपन्यास लिखे गए हैं। वैजनाथ राय का उपन्यास 'बलिदान' मातृभूमि के लिए बलिदान होने वाले ऐसे ही वीरों की कहानी कहता है जिनके रक्त से सिंचकर ही आजादी का पौदा लहलहाया है। इसे एक राष्ट्रीय ऐतिहासिक उपन्यास की संज्ञा दी जा सकती है क्योंकि सन् १८५७ से लेकर स्वतन्त्रता प्राप्ति तक की घटनाओं का यथा तथ्य संकलन इस उपन्यास में हो गया है। घटनाओं के संयोग में उपन्यासकार ने यद्यपि कल्पना का ही सहारा लिया है पर कुछ वास्तविक पात्रों के साथ गूंथ देने के कारण उसमें ऐतिहासिकता का आभास होने लग जाता है। कुछ कल्पित पात्रों के माध्यम से सही पात्र बोलते दिखलाई पड़ते हैं। पवित्री नाथ, तुषारकांति, याकूब, अमरनाथ जैसे इतने पात्रों का जमाव इस उपन्यास में हो गया है कि देश के सभी भागों और सम्प्रदायों का प्रतिनिधित्व हो गया है। नारी पात्र काफी सशक्त है, भाषा भी वातावरण को सजीव बनाती है।

डॉ० लक्ष्मीनारायण टण्डन

टण्डन जी मूलतः सामाजिक उपन्यासकार हैं। सामाजिक जीवन के एक विशेष पहलू प्रेम और विवाह की नैतिक और अनैतिक मान्यताओं की व्याख्या में उनका मन विशेष रमता है और वे भरसक युगानुकूल समाधान देने की चेष्टा करते भी दिखाई पड़ते हैं। उनके पुराने रास्ते नए मोड़, आँधी के बाद, वचन और प्रगति, भाग्य का विधान और प्रेम की अंतिम मोड़ अब तक प्रकाशित हो चुके हैं। इनमें आँधी के बाद और प्रेम की अंतिम मोड़ विशेष उल्लेख्य हैं। 'आँधी के बाद' में अन्तर-जातीय विवाहों को सामाजिक स्वीकृति दिलाने की वकालत की गई है जो आधुनिक समाज की सबसे बड़ी समस्या है। टण्डन जी के विचार से ब्राह्मण, क्षत्री, बनिया तथा कायस्थ आदि में परस्पर विवाह सम्बन्ध करने में कोई असुविधा नहीं है। पात्रों के निर्माण में उपन्यास-

कार ने अपनी परिपक्व बुद्धि का परिचय दिया है, वे पर्याप्त विश्वसनीय लगते हैं। प्रेम की अंतिम मोड़ की भूमि भी पारिवारिक ही है।

अनूपलाल मण्डल के सामाजिक उपन्यास वर्तमान सामाजिक समस्याओं का संस्पर्श करते हैं। 'मीमांसा' उनका समस्यामूलक सामाजिक उपन्यास है।

आदिल रशीद का उपन्यास 'काली घटा' भी सामाजिक उपन्यासों की श्रेणी में आता है।

दिनेशचन्द्र पाण्डेय का 'एक मोती गंध' आज के बदलते हुए समाज का सजीव एवं सशक्त चित्र प्रस्तुत करता है। आज जिस प्रकार संस्कारों को ढोता, उनसे उलझता समाज नवीनता के लिए संघर्ष कर रहा है, यही इस उपन्यास का प्रमुख विषय है। प्रयोगवादी कवियों की भांति इस उपन्यास में भी लेखक ने 'फ्रेकचर्ड स्वप्न', 'प्रोपोजल' जैसे शीर्षकों की व्यवस्था करके आकर्षण लाने का प्रयत्न किया है।

उपन्यासकारों से

हिन्दी उपन्यास की गतिविधि को लक्ष्यकर कभी कभी परस्पर विरोधी बातें सुनने को मिल जाया करती हैं। कभी तो लोग यह कहते हुए पाए जाते हैं कि हिन्दी उपन्यास साहित्य के विकास में गतिरोध उपस्थित हो गया है और कभी यह कहा जाता है कि उसका बहुमुखी विकास हुआ है। इन दोनों परस्पर विरोधी बातों को आंशिक रूप में ही स्वीकार किया जा सकता है। व्यापक जातीय जीवन को चित्रित करने वाली कृतियों के निर्माण में यदि एक ओर गतिरोध-सा उपस्थित दिखाई पड़ता है तो वहीं दूसरी ओर विषय वैविध्य एवं शिल्प की दृष्टि से विकास भी परिलक्षित होता है। प्रेमचन्द युगीन एवं उनके कुछ बाद की रचनाओं का स्पष्ट विभाजन, विषय एवं शिल्प की दृष्टि से जो कर देना अत्यन्त सरल था, अब सरल नहीं रह गया है। विकास के अनेक सोपानों से होता हुआ हिन्दी उपन्यास आज जहाँ पहुँचा है, वह पूर्ववर्ती उपन्यासों की विशेषताओं को किसी न किसी रूप में अपने साथ लेता आया है। आज हमें ऐसे भी उपन्यासकार मिल जायेंगे जो नवीनता का संकल्प लेकर तो लिखने बैठते हैं, पर प्रेमचन्द जी के आदर्शोन्मुख यथार्थवाद से अपने को मुक्त नहीं कर पाते। प्रेमचन्दजी ने तो युग के साथ अपनी कृतियों का सोद्देश्य प्रणयन किया था, पर आज तो प्रेमचन्दयुगीन राष्ट्रीय आन्दोलन, सामाजिक संघर्ष एवं धार्मिक गतिविधियों की उद्देश्यहीन उद्धरणी की जा रही है। राष्ट्रीयता की जिस समग्र चेतना का अनुभव प्रेमचन्द जी ने किया था और उसका जो स्वस्थ रूप उनकी कृतियों में आ सका था, उस सीमा तक पहुँचते-पहुँचते वर्तमान उपन्यासकारों की लेखनी लँगड़ाने लगती है, चाहे वे फणीश्वरनाथ रेणु हों अथवा नरेश मेहता।

विश्व के महान् आन्दोलनों अथवा युद्धों ने अभी धरित्री को भले ही परिवर्तित न किया हो, पर मनुष्य एवं उसे चतुर्दिक घेरने वाले वातावरणों में परिवर्तन हो गया है, अतएव अन्तः और बाह्य दोनों ही दृष्टियों से आज मनुष्य के अन्दर कुण्ठा का संचार हुआ है। वह जिधर घूमता है उधर उसे अपना विरूप दृष्टिगोचर होता है। परिणाम स्वरूप इस झंझावात से बचने के लिये वह शुतुर्मुर्ग की तरह आज के साहित्य-सिद्धान्त-रूपी रेगिस्तान में अपना सिर छिपाना चाहता है और ऐसी कला की अवतारणा में सतत व्यस्त है जो विरूपता, कुण्ठा, अवसाद, निराशा, और आधुनिक मूल्य-हीनता का दिग्दर्शन तो करा सकती है, मानव मूल्यों की सतत विघटनशील परिस्थितियों के आत्मप्रवंचक, पर साथ ही आत्म प्रवाचक स्थिति तो प्रस्तुत कर सकती है, पर अखण्ड सत्य की अनुपम चमत्कृति के समक्ष वह छुई मुई की तरह कुम्हला जाती है।

इस प्रकार अनिश्चितता एवं युगबोध के इस संकीर्ण वैविध्यपूर्ण चाक-चिक्य में कलाकार भी दिग्भ्रमित होकर आपस में निरन्तर टकराते हुए सामाजिक अन्तःस्पन्दनों का प्रतिध्वनि को सुनना और सुनिश्चित स्वरूप प्रदान करना तो चाहता है, पर इसमें वह पूर्ण सफल न होने के कारण एक परकटे पक्षी की तरह धराशायी होकर उसाँसें भरने लगता है। आज सम्पूर्ण साहित्य इसी खण्डित चेतना एवं खण्डित व्यक्तित्व का प्रतिफलन बन गया है।

हमारा निश्चित मत है कि निर्माण नाश की ही क्रोड़ में पल्लवित और पुष्पित होता है। आधुनिक उपन्यासों में पूर्ववर्ती स्वरूपों के परित्याग की स्थिति को परम्परित दृष्टि से गत्यवरोध की संज्ञा दी गई है। पर द्रष्टव्य है कि जहाँ उपन्यासकार भाषा, भाव और शैली की दृष्टि से परम्परा का परित्याग कर प्रयोग की नवीन दिशा की ओर उन्मुख हुआ है, वहीं इसके विकास का परिचय भी मिलता है। मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, विज्ञान तथा दर्शन आदि की नवीन निष्पत्तियों ने मानव-रहस्य को समझने और इसे सूक्ष्मता से चित्रित करने की नवीन विधाओं से लोगों को परिचित कराया है। 'युद्ध' से उत्पन्न विभीषिका के प्रत्यक्ष दर्शन के कारण लोगों में यथार्थ के चित्रण के प्रति विशिष्ट आग्रह परिलक्षित हुआ है। इसकी प्रतिक्रियास्वरूप जहाँ एक ओर मानवता एवं शान्ति की प्रबल इच्छा की ओर लोग उन्मुख हुए हैं, वहीं जाति, धर्म और दर्शन की अन्धविश्वासपूर्ण मान्यताओं में परिवर्तन भी हुआ है। कलाकार भी आत्मनिष्ठ कलाकार है और वह परम्परा के स्थान पर प्रयोग में विशेष रूप से विश्वास करता है। इस 'प्रयोग' की पृष्ठभूमि में सामाजिक एवं मानसिक घात-प्रतिघातों को अधिक से अधिक स्पष्ट एवं संयत भाषा प्रदान करने के लिये लेखकों ने नवीन प्रतीकों, बिम्बों, संवेदन के स्तरों की अवतारणा भी की है। विज्ञान के चमत्कृत प्रयोगों ने आज एक ओर अगर धरित्री के अन्तराल में पड़े हुए मूल्यवान खजाने से हमारा परिचय कराया है तो दूसरी ओर नक्षत्र-लोक की यात्रा एवं सम्भावनाओं के प्लावन द्वार को जनता के समक्ष मुक्त किया है। इस प्रकार वैविध्य की दृष्टि से भी अनन्त विषय नील-गगन के नक्षत्रों की तरह जन-मनीषा के समक्ष प्रस्तुत हुए हैं और इनके अभिनव प्रस्तुतीकरण द्वारा उपन्यासकार ने साहित्य का संवर्द्धन और परिवर्द्धन किया है। इस दृष्टि से आधुनिक उपन्यास-साहित्य का विकास हुआ है और अगर हम शुद्ध और सतर्क एवं जागरूक होकर इसकी ओर उन्मुख हों तो यह अत्युच्च स्तर भी प्राप्त कर सकता है।

इसी सन्दर्भ में इसकी सम्भावनाओं की कतिपय आशंकाओं की ओर भी दृष्टिपात कर लेना समीचीन है। हम इस बात को तो मान्यता प्रदान करते हैं कि अनुभूति के अंश विशेष में भी अनन्तता का परिचय किसी-न किसी रूप में निहित रहता है और वह अपने व्यष्टि स्वरूप में समष्टि स्वरूप की परिचायक होती है। पर आज उपन्यास ने

क्षेत्र में अनुभूति के स्थान पर व्यापक बौद्धिक निरीक्षण के कारण सूक्ष्म दर्शन का तो समावेश हुआ है, पर हमने इसके चित्रण के लिये ऐसे स्वरूप को मान्यता प्रदान करना आरम्भ कर दिया है जो सार्वजनीन न होकर वैयक्तिक है। इन्हीं वैयक्तिक आशाओं एवं आकांक्षाओं की सूक्ष्म रेखाओं को उपन्यास की सीमा में आबद्ध करने के लिये ऐसे प्रतीक, भाषा एवं बिम्बों की योजना की जाने लगी है जो यथार्थ में जनता एवं पाठक के बीच में एक अस्पष्ट दुरूहता के स्वप्निल तानों-बानों को प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार लेखक का चिन्तन पाठक की चर्वणा के लिये अनुपयुक्त साधन सिद्ध हो रहा है। आज के युग-बोध में खण्डित मानव की कल्पना के स्थान पर अखण्डित मानव की परिकल्पना अगर स्वयंसिद्ध विडम्बना है तो खण्डित चित्रों को भी दुरूह और अस्पष्ट रूप में प्रस्तुत करना साहित्यिक दृष्टि से स्वयं-सिद्ध निरर्थकता है। प्रातिभज्ञान एवं अवचेतन की निष्पत्तियों से आन्तरस्वरूप की खण्डता का जहाँ अवबोध होता है, वहीं इन चित्रों को और भी दुरूह और अस्पष्ट बनाकर प्रस्तुत करने से वे मात्र कलात्मक वैचित्र्य के परिचायक बनकर अप्रभावकर सिद्ध होते हैं। यथार्थ में संस्कृति का रहस्य लालित्यबोध की प्रक्रिया का अनुपम और चिरन्तन साधन है। युगवैषम्य के कारण इसके खण्डबोध से ऐसे तत्वों को प्राप्त करना जो संस्कृति के बीच हमारी अखण्ड चेतना के अग्रदूत बन सकें, एक दुष्कर कार्य अवश्य है, पर असम्भव नहीं। हम उपन्यास को जीवन का चित्र मानते हैं, पर इसमें ऐसे कलाकार का व्यक्तित्व आकलित होता है जो तथ्य और अतथ्य तथा विवेक एवं अविवेक के बीच स्पष्ट सीमा निर्धारित करता है। ह्रासोन्मुखी परिस्थितियाँ साहित्य के लिये चुनौती रही हैं और रहेंगी, पर ह्रास के अन्तराल से मुक्त होकर जीने के लिये जीवन का एक सुनिश्चित एवं तर्कसम्मत दृष्टिकोण प्रस्तुत करना आज के उपन्यासकार का प्रमुख कर्तव्य है। आज जीवन के स्पन्दन विभीषिका-पूर्ण आस्थाहीन आदर्शों के चंगुल में पड़कर छटपटा रहे हैं। ये परिस्थितियाँ हमारे ही प्रवंचनापूर्ण कार्यों की परिणति हैं। इनसे सम्बन्धित अनुभूति को एक सुनियोजित एवं नियमबद्ध स्वरूप प्रदान करना हमारा परम कर्तव्य है।

आज उपन्यास के लिये जो सबसे बड़ा खतरा खड़ा हो गया है, वह यह कि हम अपनी ही चित्तवृत्तियों, परिस्थितियों एवं प्रभावों के अन्तराल में प्रविष्ट होकर इनके सूक्ष्म स्वरूपों को उद्घाटित करने के लिये प्रयत्नशील हैं। अतएव उपन्यास के क्षेत्र में कथानक के मूर्तस्वरूप के स्थान पर लेखक की मानसिक उलझन के ही चित्र अधिक आ रहे हैं। इस प्रकार जिस सूक्ष्म चित्रण एवं मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की अनुपम प्रक्रिया ने उपन्यास के वैभव को सूचित किया था वही आज उसके लिये समस्या बन गई है। उपन्यासकार इस प्रकार दमित कैशोर वृत्ति के उद्घाटन में ही विशेष रूप से संलग्न पाया जाता है और इसी के असामाजिक चित्रण में अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ लेता

है। सचमुच यह वृत्ति उसकी आत्मसन्तोष की भावना की परिचायिका होने के साथ ही उसे नैतिक एवं सामाजिक समस्याओं से भी क्षणिक मुक्ति प्रदान करती है। पर, उपन्यास इस प्रकार के 'यूतोपिया' की ओर उन्मुख होकर जीवन के यथार्थ चित्रों को प्रस्तुत करने में असमर्थ है। उसका यह स्वरूप कैशोर दिवास्वप्नों के ही आकलन एवं आनयन से सम्बन्धित माना जा सकता है। 'ह्रासोन्मुख' काल की यह भी एक प्रमुख विशेषता है। 'यथार्थवाद' के नाम पर भी आधुनिक उपन्यास में कम अन्याय नहीं हो रहा है। हमें इस बात पर भी दृष्टिपात करना है कि क्या यथार्थ की सार्थक अर्थवत्ता आधुनिक उपन्यासों से प्रमाणित की जा सकती है? अगर कुछ स्पष्ट होकर इस बात को अभिव्यक्त करें तो हम सरलता से इसे प्रतिपादित कर सकते हैं कि आज तथ्य के नाम पर सत्य के अतिरंजित स्वरूप, और सत्य-प्रेम के नाम पर हमें जुगुप्सित विश्व का अस्पृहणीय चिन्तन ही हाथ लगा है। आज हम अपने ही बौद्धिक स्वातंत्र्य के कैदी हैं। हम सत्य के उद्घाटन का दम्भ तो भरते हैं, पर असत्य की दुनिया के गोरखधन्धे से मुक्त नहीं हैं। परिणामस्वरूप हम भविष्यवाणी तो करते हैं, पर यह जीवन की न होकर जीवन की विरूपता एवं वीभत्सता की भविष्यवाणी होती है। इस प्रकार हम इलियट की तरह अपने को 'बंजरभूमि' के निवासी तो मानते हैं, पर इस बंजर को उर्वरा बनाने के सभी प्रयत्नों को छोड़ बैठे हैं। इसीलिये उपन्यासकारों को अपने विषय में भी कुछ कहने और स्पष्ट करने की आवश्यकता पड़ती है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व जितनी समस्याएँ देश के सम्मुख थीं, आज उनसे कुछ अधिक ही हैं। हम आन्तरिक समस्याओं को कुछ काल के लिये भूल कर विदेशी सत्ता से मोर्चा लेने के लिये एक मंचपर खड़े हो गए थे और अनजाने जिस जातीय जीवन एवं राष्ट्रीय एकता के भाव का उदय हो गया था, उसका आकलन हिन्दी उपन्यासकारों ने जमकर किया और इस प्रकार उन्होंने अपने युगीन सामाजिक दायित्व का निर्वाह किया था। आज का उपन्यासकार साहित्य के इस महान् संकल्प से कोसों दूर दिखलाई पड़ रहा है। भारतीय जनजीवन में विघटनकारी प्रवृत्तियों की सक्रियता जिस तेजी से बढ़ रही है और उसके प्रचार प्रसार में हिन्दी उपन्यासकार जिस प्रकार अपना योग दे रहे हैं उससे न तो समाज का कल्याण होगा और न तो हिन्दी उपन्यास-साहित्य का। राष्ट्र, उत्तर-दक्षिण प्रान्त, जाति, वर्ग के रूप में टूटता हुआ समाज से व्यक्ति में सिमिटता जा रहा है। समस्त संसार से अलग रह कर अभावग्रस्त व्यक्ति अपने सुखी जीवन का दिवास्वप्न देखने लगा है। समस्त सामाजिक व्यवस्था एवं जातीय परंपरा पर जो एक प्रश्न चिह्न आज लग गया है क्या उपन्यासकार को उसीका प्रचार और प्रसार करना है अथवा उसे उन मूल कारणों का अन्वेषण करना है जिनके उन्मूलन से हम विघटनकारी प्रवृत्तियों की चुनौती का जवाब दे सकें। चारों तरफ एक तनाव की-सी स्थिति दिखाई पड़ती है। सुबह से शाम तक व्यक्ति जिस वातावरण

में घूमता है, वह अपने का तनाव में पाता है। प्रान्तीयता उसे अपनी ओर खींचती है, तो भाषा की समस्या अपनी ओर, जातीयता अपनी ओर खींचती है तो राजनैतिक आस्था अपनी ओर, धार्मिक भावना अपनी ओर तो स्वार्थ अपनी ओर। इसके अतिरिक्त आर्थिक विषमताओं ने उसकी समस्त नैतिक मान्यताओं को चूर चूर कर दिया है। यह युग का सत्य हो सकता है पर इसे आदर्श रूप में कभी नहीं स्वीकार किया जा सकता। आज हिन्दी उपन्यासों को इसी भारतीय जीवन को विषम स्थलों पर स्वस्थ सामाजिक जीवन का बीजारोपण करना है, जिसमें वे अपने को असमर्थ पा रहे हैं। जिस वातावरण एवं वैषम्य से आज हम गुजर रहे हैं, ऐसी परिस्थितियाँ ही युगांतकारी साहित्य को जन्म देने मे समर्थ होती हैं। अभावग्रस्तता ही सक्षम साहित्य की खूराक है। हिन्दी उपन्यास से ही हमे आशा है कि वह युग की चुनौती स्वीकार करेगा।

उपवन और विशाल वनस्थली की मनोरम छटा को छोड़कर उपन्यास गमलों में रमने लगा है। उसे आम्र-मंजरी और देवदारु सन्तुष्ट नहीं कर पा रहे हैं और वह अपनी नूतनता प्रमाणित करने के लिये भारतीय भूमि पर यूरोप के कलमी पौदे लगाने मे गर्व का अनुभव कर रहा है। हिन्दी उपन्यास-साहित्य मे ऐसी भी कृतियों के दर्शन होने लगे हैं जिनका न तो परिवेश भारतीय है और न तो वातावरण, पर लेखक भारत-भूमि में पैदा हुआ है और भारत की भाषा मे बोलता-लिखता भी है। हम विदेशी लेखकों की कृतियो को समादर देते हैं। आदरपूर्वक उनका अध्ययन करते हैं, जिससे उनकी कला और जातीय जीवन की प्रमुख विशेषताओं से हमारा परिचय होता है, पर जब भारतीय लेखक विदेशी भूमि पर लिखने लग जाता है तो उसकी कृतियो को हम किस रूप मे लें, उनके पाठक भी देश में कितने मिलेंगे, यह एक बहुत बड़ी समस्या है। उपन्यासकार जिस सामाजिक जीवन की कटुता एवं अकटुता का अनुभव करता है उन्हीं परिस्थितियों की किसी-न-किसी रूप मे अपनी कृतियों में रूपायित करता है जिस से परिस्थितियों के मारे पाठक भी उसे चाव से पढ़ते हैं। जीवन के वास्तविक तथ्यों को जब उपन्यासकार आत्मीयतापूर्वक देखता है तो उसका लेखक-जीवन प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। उस प्रभाव को वह केवल अपने तक ही सीमित नहीं रखना चाहता बल्कि उसे पात्रों पर आरोपित कर उपन्यास के माध्यम से व्यक्त करता है। इस प्रकार उसकी कृति उसकी तुष्टि का सुन्दर माध्यम बनती है जिसे पढ़कर पाठक भी तुष्ट होता है। पर भारतीय लेखक द्वारा चित्रित विदेशी वातावरण में, भारतीय पाठक का मन कितना रमेगा, यदि इसे देखना हो तो 'अज्ञेय' कृत 'अपने अपने अजनबी' उपन्यास पढ़ें।

हिन्दी उपन्यास साहित्य विकास की अपनी किसी भी अवस्था में क्यों न रहा हो, पर उसने वास्तविक जीवन की अभिव्यक्ति किसी-न-किसी रूप में अवश्य की है जो

उसकी लोकप्रियता का रहस्य है। उपन्यासो के अध्ययन का प्रारम्भिक रूप अवकाश के क्षणो को सुखपूर्वक बिताना था। पाठक पात्रो एवं चरित्रो का अध्ययन बिना किसी तर्क-वितर्क के करते थे और उनमे प्राप्त जीवन की तुलना वास्तविक जीवन से कर लिया करते थे। इससे स्पष्ट है कि उपन्यासकार के सम्मुख वही सामाजिक जीवन रहता था जिसमें उसके पाठक भी साँस ले रहे है न कि विदेशी जीवन जिसकी उसके पाठको ने कभी कल्पना भी नही की है।

उपन्यासकार की कल्पना का आधार वास्तविक जीवन ही होता है। वह अपने आसपास के समाज से प्राप्त अनुभूत सामग्री का उपयोग करता है। ऐसी स्थिति में उपन्यासकार हमसे भी कुछ चाहता है। इस सन्दर्भ मे 'स्टर्न' का मत बड़े महत्व का है। वह स्वीकार करता है "मैं पचास मीलो की पदयात्रा उस व्यक्ति के हाथो को चूमने के लिये कर सकता हूँ जिसने अपने सद्हृदय को कल्पना को लेखक के हाथों मे सौंप दिया है। अर्थात् जिसने लेखक की कल्पना को अपनी कल्पना के रूपमे स्वीकार कर लिया है। तात्पर्य यह कि उपन्यासकार की ऐसी कल्पना जिसके साथ पाठक के जीवन का मेल न बैठ सके व्यर्थ है। ऐसी स्थिति मे भारतीय साहित्य-भूमि पर जो युरोपीय कलमी पौदे लगाए जा रहे हैं उनका क्या अर्थ होगा।

उपन्यासकार जो कुछ अनुभव करता है और उस अनुभव का उस पर जो प्रभाव पड़ता है उपन्यास केवल उसीकी ही परिणति नही है। उस पर उपन्यासकार के मन, मस्तिष्क एवं आत्मा की छाप भी पड़ती है। यदि उपन्यासकार ने जीवन के कुछ कटु अनुभवो का चयन किया है और उसने उसमे अतिरंजना नही आने दी है तथा उसे तटस्थ दृष्टि से देखता हुआ लिपिबद्ध करता है, तो उसे निस्संकोच भावसे जीवन की वास्तविक झाँकी के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में लेखक और पाठक का परस्पर सम्बन्ध कृति की लोकप्रियता का कारण तो बनता ही है, साथ ही कृतिकार के उद्देश्य एवं संकल्प का प्रचार एवं प्रसार भी संभव हो पाता है। आधुनिक उपन्यासकार प्रयोग और प्रतीकों के इतने चक्कर में पड़ते जा रहे है कि पाठकों की अभिरुचि एवं उनके बौद्धिक स्तर की ओर उनकी दृष्टि ही नही जा रही है जो साहित्यिक क्षयग्रस्तता का लक्षण है। हिन्दी उपन्यास-साहित्य को इससे बचना पड़ेगा। यह दोष नई पीढ़ी के उपन्यासकारो में दिखलाई पड़ रहा है जिससे और भी खतरा उत्पन्न हो गया है क्योकि स्वस्थ विकास का दायित्व तो इन्ही पर है।

पुरानी पीढ़ी के कुछ प्रमुख उपन्यासकार जो जीवित हैं, बराबर लिखते जा रहे हैं जो केवल लिखने के लिए लिख रहे हैं ऐसा जान पड़ता है। न तो उनमें अब कोई ताजगी रह गई है और न तो कहने को कोई नई बात। भगवतीचरण वर्मा के उपन्यास 'रेखा' को पढ़कर तो मुझे ऐसा ही लगा। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' की परम्परा में 'चारु चन्द्रलेखा' के प्रकाशन से आशा की नई किरण दिखाई पड़ी है। एक ओर जहाँ खण्डित

मानव के चित्रण के प्रति आग्रह दिखलाया जा रहा है वहो दूसरी ओर आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ऐसे उपन्यासकार भी हैं जो समस्त सास्कृतिक चेतना को समेट कर अतीत और वर्तमान की सफलतापूर्वक संगति हो नहीं बैठा रहे हैं, बल्कि आधुनिक युग-बोध की सफल झाँकी भी प्रस्तुत करने मे सफल हुए हैं। द्विवेदी जी के सास्कृतिक ऐतिहासिक उपन्यासों ने हिन्दी उपन्यास-साहित्य को संजीदगी और व्यापक परिवेश प्रदान किया है। इस प्रकार वर्तमान हिन्दी उपन्यास-साहित्य में यदि एक ओर विषय-संकोच, कथात्मकता का अभाव और सस्ती भावुकता के दर्शन हो रहे हैं तो 'चारु चन्द्रलेखा' जैसी सुसंस्कृत प्रौढ़ कृतियों का सिंहद्वार भी खुलता दिखलाई पड रहा है। उपन्यासकारो के वैयक्तिक राग-द्वेष को चित्रित करने के कारण जो उपन्यास-साहित्य खण्ड असम्बद्ध चित्रो की प्रदर्शनी बनने लगा है इससे बडी निराशा हुई थी यदि दूसरी ओर से आशा की किरण दिखलाई न पडती। 'शहर मे घूमता आईना' का कथानक हिन्दी उपन्यास-साहित्य में आने वाले कथात्मकता के संकट का सूचक है। एक ओर तो पाठक समयाभाव के कारण लघु उपन्यासो की ओर आकर्षित हो रहा है दूसरी ओर उपन्यासकार असम्बद्ध कथाओ को एक साथ रखकर उपन्यासो को विस्तार देने के लिए तुला बैठा है। लघु उपन्यासो की लोकप्रियता ने ही प्रकाशकों को 'पाकेट बुक' मे उपन्यासो को प्रकाशित करने के लिये विवश किया है। 'पाकेट बुक' में निकले उपन्यासो के सम्बन्ध मे कुछ भी कहना समीक्षक के लिये खतरे से खाली नही है। बडे उपन्यासों का सक्षेप छाप दिया जा रहा है और उसकी सूचना तक नही दी जाती, किसी प्रमुख पात्र के नाम को शीर्षक के रूप में स्वीकार करके मौलिकता का भ्रम उत्पन्न कर दिया जा रहा है और मूल उपन्यास के सौंदर्य को नष्ट कर दिया जाता है। अनूदित उपन्यासो पर भी कभी-कभी मूल लेखक के नाम नही दिखलाई पडते। ऐसी स्थिति में कथा साहित्य का यह आन्दोलन विचारणीय नहीं, यद्यपि इनमे कुछ मौलिक और अच्छे उपन्यास भी देखने मे आये हैं।

हिन्दी उपन्यास का वर्त्तमान परिवेश कलात्मक है। कला को प्रश्रय देकर उपन्यासकार कथा से कही दूर न जा पडे इसके लिये उसे जीवन के साथ अपने सम्बन्धो को और भी दृढ़ करना आवश्यक है। औद्योगिक युग की अतिशय क्षिप्रता एवं गत्यात्मकता के वेग में, सीमित समय में व्यापक परिवेश का समाहार कठिन भले हो, असम्भव तो नही हो सकता। फलतः सामयिक सन्दर्भों में युगीन समस्याओ से कलाकार का हाथ खीच लेना उचित नही होगा। यदि व्यापक जीवन परिवेश को समाहित करने के लिये लेखक एक विशाल क्षेत्र नही दे पा रहा है तो यह उसकी कथ्य विषयक कमजोरी नहीं, अपितु यह तो उसकी कला को चुनौती है। सजग कलाकार एक सीमित रंगमच (प्लेटफार्म) पर हो उक्त उत्तरदायित्व का सफल निर्वाह कर स

प्रभावों या परिस्थितियों से प्रेरित कलाकार समष्टि से व्यक्ति की ओर सिमटता जा रहा है। व्यक्तिगत रचनाओं में कला का प्राधान्य हो ही जाता है, पर यह कला भी समष्टि से कटी-कटी नहीं रह सकती। समष्टि का सम्पर्क उसे पूर्णरूपेण समृद्ध बनाने में सक्षम है। दुर्भाग्य से कतिपय कलाकारों ने समष्टि से सम्बन्धविच्छेद ही अपना लक्ष्य मान लिया और इसीमें गौरव का भी अनुभव करने लगे। पर वे यदि ध्यान से अपनी इन स्वयंनिष्ठ रचनाओं को देखें तो निराशा, अनास्था, अवसाद, कुण्ठा, वैयक्तिक राग-द्वेष, प्रवंचना, संकीर्णता, क्षोभ, विभीषिका, आत्मप्रवंचना और आत्महत्या के अतिरिक्त शायद ही कुछ दिखाई दे। माना कि यह सब कला का अंश हैं और वर्त्तमान परिस्थितियों में जीवन में इनका प्रसार इतना अधिक होता जा रहा है कि इन्हें कला से विरत भी नहीं किया जा सकता पर ये ही कला तो नहीं हैं। कला के अंग के रूप में इनकी सार्थकता सदा बनी रहेगी पर सब कुछ खोकर इन्हें पाने का दम्भ तो, मृगमरीचिका मात्र है।

हिन्दी के कुछेक उपन्यासों में आत्मप्रशंसा या अपने-अपने आत्मीयों की चर्चा परिचर्चा का भी समावेश होता जा रहा है। ऐसी कृतियाँ या कृतियों में सम्बद्ध ऐसे वक्तव्य यदि पाठक के लिये अत्यावश्यक न हों तो लेखकों को इन्हें देकर अपनी शक्ति का अपव्यय करना उचित नहीं। इधर कुछ रचनाएँ सहयोग से भी रची गई हैं। कारयित्री प्रतिभा के क्षेत्र में सहयोग मौलिकता को कोई विशेष प्रश्रय नहीं देता। इस कारण इस प्रकार की कृतियों में विच्छिन्नता की बड़ी सम्भावना रहती है, फलतः सफल समन्विति में बाधा पड़ती है। यदि इन कमजोरियों से किसी प्रकार बचा जा सके तो नए प्रयोग अच्छे बन सकते हैं पर अभी इस प्रकार की सफल कृतियों के लिये हमें भविष्य की प्रतीक्षा करनी होगी।

उपन्यासों के क्षेत्र में वणिग्वृत्ति को भी प्रश्रय मिलता जा रहा है। खेद तो इस बात का है कि कुछ जाने-माने अच्छे कलाकार भी अपना नाम अब भी अपनी कृतियों के साथ छापते देखने के लोभ में जो चलती रचनाएँ करने लगे हैं उनमें भी आत्मप्रचार का वही सम्बल ग्रहण किया गया है जो उपन्यास-जगत का निम्न वर्ग लेता रहा है। ऐसे लोगों में यह विश्वास-सा जम गया है कि यौन समस्याओं का अधिकाधिक व्याख्यान साहित्य में धाक जमाने का टिकाऊ सिक्का है। यदि इस प्रकार की प्रवृत्ति को नियन्त्रित नहीं रखा गया तो इस प्रकार की कृतियों से लाभ की अपेक्षा हानि होने की सम्भावनाएँ अधिक हैं।

आज का तथाकथित नया रचनाकार इस बात का प्रचार करता है कि उसने लेखक और पाठक के बीच कोई अन्तराल नहीं रहने दिया है और वह पाठक के अधिकाधिक निकट होता जा रहा है, पर वस्तुस्थिति इससे सर्वथा भिन्न है। 'कविता' के समान उपन्यास क्षेत्र में भी कलाबाजियाँ दिखाने में व्यस्त कतिपय कृतिकार इसी बात

मे फूने नहीं समाते कि उनका कहा कोई नहीं समझ पाता, प्रतीकों के नाम जितना कुल जटूल उपन्यासो मे भरा जा रहा है वह सबका सब नए लेखको के सहचरण का सहयोग मिलने पर भी पाठक के चर्वण से परे होता जा रहा है। पता नही इस प्रकार की रचनाओं का प्रकाशन करके प्रकाशक कागज क्यो बर्बाद किये जा रहे हैं।

हिन्दी उपन्यासो में भाषा के भी किसी शुद्ध एवं सामान्य स्तर की अपेक्षा है। साहित्यिक उत्कर्ष के गत कुछ वर्षों में हिन्दी उपन्यास-साहित्य मे सबसे अधिक प्रयोग हुए हैं। फलतः नानाविधि प्रयोगो के साधिका के रूप में भाषा के रूप मे वैभिन्न्य आ गया है। गूढ़ अज्ञात मन की प्रक्रिया के प्रकाशनार्थ चिन्तन बहुल शब्दावली से लेकर आंचलिक परिवेश के घिसे-पिटे शब्दों की तत्तत् क्षेत्र में सार्थकता की उपेक्षा नही की जा सकती पर इस आयाम मे रचना को अति तक पहुँचा देने की बढ़ती हुई प्रवृत्ति के कारण भावबोध का माध्यम भाषा, सामान्य पाठक को भावबोध कराने मे अक्षम हो जायगी। कृतिकारों के लिए निश्चय ही यह परिस्थिति विचारणीय है। आवश्यकता इस बात की है कि माध्यम के रूप मे वे उच्च हिन्दी (खड़ी बोली) के रूप को समत बने रहने दें और यदि समुचित वातावरण उत्पन्न कराने के लिये पारिभाषिक प्रतीकबद्ध या आंचलिक शब्दावली अत्यन्त आवश्यक हो तो इसका यद्वत् प्रयोग करते हुए पाठक की सुविधा के लिये उसका उच्च हिन्दी सुलझा हुआ रूप भी देने का औदार्य दिखलावें। भाषा के क्षेत्र में धाक जमाने के अभिप्राय से कुछ लोग विदेशी शब्दो का भी अधिकाधिक प्रयोग करने लगे हैं। कुछ परिस्थितियो में ऐसे प्रयोग आवश्यक हो जाते हैं, विशेषकर वहाँ जहाँ उक्त भावबोध कराने में सक्षम कोई शब्द हिन्दी मे नहीं होता, पर जहाँ उद्धृत विदेशी शब्दों की अपेक्षा अधिक शुद्ध एवं प्रचलित हिन्दी शब्दों को छोड़ दिया जाता है वहाँ लेखक का अपनी भाषा का अज्ञान तो खुलता ही है, साथ-ही-साथ उसकी रचना की मौलिकता के प्रति भी पाठक के मन मे शंका उठ जाती है। लेखन की सार्थकता तभी सिद्ध है जब पाठक का विश्वास उसके प्रति अविचल हो। यदि भाषा की कमजोरी पाठक के विश्वास को हिला दे तो यह लेखक की सबसे बड़ी पराजय होगी। विषय-संग्रह, शिल्प और भाषा को लेकर आधुनिक हिन्दी उपन्यासों मे जो सफल प्रयत्न किए जा रहे हैं, इससे हिन्दी उपन्यास साहित्य के भविष्य की शुभ सूचना मिलती है, इसमें सन्देह नहीं।

परिशिष्ट (क)

अस्तित्ववाद

अस्तित्ववाद अपेक्षाकृत दार्शनिक तथा साहित्यिक चिंतनपद्धति है। इसका आरम्भ यूरोप के दार्शनिक चिंतनों में विशेष परिस्थिति में हुआ। अपनी कतिपय क्रान्तिकारी विचारसरणि के कारण आज यह सर्वाधिक चर्चा का विषय बना है। सर्वप्रथम इसका आरम्भ दर्शन के क्षेत्र में हुआ और विभिन्न विद्वानों द्वारा विवेचित होकर आगे चलकर अन्य समस्याओं की ओर भी उन्मुख होता गया। यूरोप की भूमि पर दो महायुद्ध लड़े गये और युद्धकालीन विभीषिकाने मानव-जीवन की क्षुद्रता, नृशंसता, स्वार्थपरता एवं कटुता का ऐसा पर्दाफ़ाश किया कि मानवता के शुभ पक्षों पर से आस्था ही डिगने लग गई। सर्वत्र निराशा, वेदना और करुणा का वातावरण छा गया जिससे चिंतन की समस्त परम्परागत मान्यताएँ लड़खड़ा गईं। मृत्यु के जिस भयंकर स्वरूप एवं परिणाम के दर्शन लोगों को विश्व महायुद्ध में हुए उसने एक प्रतिक्रिया का रूप धारण कर लिया और जीवन के प्रति एक नवीन दृष्टिकोण का आविर्भाव अनिवार्य हो गया। अतीत और भविष्य को लेकर मानव-जीवन में जो स्वर्णिम कल्पनाएँ होती रहीं युद्ध के भयंकर परिणामों ने उसकी निस्सारता प्रकट कर दी, जिसे न तो धार्मिक अन्धविश्वास रोक पाये और न तो काल्पनिक आश्वासन। जीवन की यथार्थता का ऐसा अनुभव हुआ कि जागरूक चिंतक जिंदगी को नए सिरे से सोचने लगे। यथार्थ का भी कोई निश्चित रूप स्थिर करना सम्भव नहीं, क्योंकि किसी भी क्षण वर्तमान स्थिति में परिवर्तन हो सकता है। स्थिर सत्य एवं यथार्थ की तलाश करते-करते दो ऐसे तत्व दिखलाई पड़े जिनमें परिवर्तन की कोई सम्भावना नहीं थी। जन्म और मरण दो स्थिर सत्यों के बीच मानव-जीवन की अस्थिरता उससे आँख-मिचौनी किया करती है। जन्म के साथ मृत्यु अनिवार्य रूप से लगी रहती है और ये मानव-जीवन की दो ऐसी अवस्थाएँ हैं जिनमें व्यवधान उपस्थित करना मानव-शक्ति के परे है। उसने जन्म लिया है तो उसे मरना अवश्य पड़ेगा। इन दो अवस्थाओं में से उसे चुनाव भी नहीं करना है। वह स्वयं परतंत्र है, चुनने की उसे स्वतंत्रता नहीं है। मरण-क्षणका उसे तनिक भी ज्ञान नहीं रहता। मृत्यु कब आ धमकेगी कहा नहीं जा सकता। अतएव जन्म और मरण के बीच कोई एक ऐसा अल्प क्षण ही हो सकता है जिसे व्यक्ति अपना अथवा जिंदगी का क्षण कह सकता है। ऐसी स्थिति में कम-से-कम समय में ही व्यक्ति को अपने व्यक्तिगत जीवन को एक अर्थ देकर सार्थक बनाना है। यही वह मूल बिन्दु है जहाँ पहुँच कर व्यक्ति अपने को समाज से अलग रखकर जीने

की प्रक्रिया का चिंतन करने लग जाता है। साहित्य और दार्शनिक विचारों के माध्यम से यह भावना आरम्भ में यत्र तत्र व्यक्त हुई थी और सुव्यवस्थित सिद्धान्त का स्वरूप इसे आगे चलकर फ्रांस के 'जॉपॉल सार्त्रे' ने दिया। जितने भी अस्तित्ववादी विचारक और लेखक अब तक हो गये हैं, उनके विचारों में भी एकरूपता के दर्शन नहीं होते हैं और न तो एक विचारक अथवा लेखक के विचारों में ही आरम्भ से लेकर अन्त तक एकरूपता रही है। परिस्थितियों का जाने अनजाने प्रभाव जागरूक साहित्यकार पर पड़ता ही है। भले ही वह सैद्धान्तिक आग्रह से प्रेरित होकर सर्जन-रत न होता हो पर उसके संकेत का मिल जाना उसकी कृतियों में कठिन नहीं। 'दास्तावस्की' यद्यपि सर्जक साहित्यकार था, पर अस्तित्ववादी विचारों के सूत्र उसकी रचना में मिल ही जाते हैं। विश्व-साहित्य में क्रान्ति उपस्थित करने वाली 'दास्तावस्की' की पुस्तक 'नोट्स फ्राम अन्डर ग्राउन्ड' सन् १८६४ ई० में प्रकाशित हुई, जिसमें उसने मनुष्य के आन्तरिक जीवन को उसके निर्माण में महत्वपूर्ण स्थान दिया। उसके अनुसार उसका आन्तरिक जीवन उसकी अन्तर्दशाएँ, चिन्ताएँ तथा उसके आत्मनिर्णय ही उसके जीवन के निर्धारक तत्व हैं, जबकि पूर्ववर्ती चिंतकों ने इस सम्बन्ध में अपने प्रतिकूल मत स्थिर किये थे। यद्यपि 'दास्तावस्की' को पूर्णतः अस्तित्ववादी स्वीकार करना कठिन है, फिर भी उसकी इस सुप्रसिद्ध पुस्तक 'नोट्स फ्राम अन्डर ग्राउन्ड' के प्रथम भाग में अस्तित्ववादी विचारधारा के प्रमुख सूत्र परिलक्षित होने लग जाते हैं। 'कीर्के गार्ड' से लेकर काम् तक के अस्तित्ववादी विचारकों के प्रमुख विचार तत्व 'दास्तावस्की' में उपलब्ध हैं।

'कीर्के गार्ड' को ही प्रथम अस्तित्ववादी के रूप में स्वीकार करना समीचीन होगा। यह डेनिश था और इसका जन्म डेनमार्क में सन् १८१३ ई० में हुआ था तथा सन् १८५५ ई० तक वह जीवित रहा। यह ईश्वरवादी धार्मिक ईसाई था और उसने वैयक्तिक चेतना को ही महत्वपूर्ण माना है। 'कीर्के गार्ड' व्यक्ति को जगत से अलग करके देखना पसन्द करता है। अपनी पहली पुस्तक 'आइदर आर' (Either or) में उसने उस कठिनाई का प्रतिपादन किया है जो एक स्वतन्त्रचेता व्यक्ति को विशिष्ट अवसरों पर निर्णय लेने में होती है। उसने अन्य दो पुस्तकें 'फिलासोफिकल फ्रागमेंट्स' (Philosophical Fragments) और 'कनक्लूडिंग अन साइन्टिफिक पोस्ट स्क्रिप्ट' (Concluding unscientific post Script) में भी अपने विचारों को व्यक्त किया है जो क्रम से उसे समझने में सहायक है। 'कीर्के गार्ड' के जीवन के दो उद्देश्य थे, एक 'हीगेल' की समष्टिवादिता का विरोध और दूसरा ईसाई धर्म की पुनर्व्याख्या। वह ईसाई धर्म की मान्यताओं की बुद्धिसंगत व्याख्या करना चाहता था। उसने व्यक्ति को चिन्तन में एक स्वतन्त्र तत्व के रूप में स्थापित किया। 'कीर्के गार्ड' ने स्वीकार किया कि 'हीगेल' के समष्टिवाद में तो व्यक्ति का अस्तित्व ही समाप्त हो जायगा

क्योंकि 'हीगेल' का कहना है कि व्यक्ति अपने अस्तित्व की रक्षा समष्टि में ही कर सकता है, उससे अलग उसकी कोई स्थिति नहीं है और समष्टि के हितों के लिए व्यष्टि के हितों को समर्पित होना पड़ेगा, इसी में उसका हित निहित है। पर 'कीर्केगार्ड' के अनुसार ऐसा करने से तो व्यक्ति की स्वतन्त्रता ही समाप्त हो जायगी, वह अपने को एक ऐसे घुटनशील वातावरण में पायेगा जहाँ उसका साँस लेना भी दूभर है, ऐसी स्थिति में व्यक्ति को व्यक्ति के रूप में सोचना पड़ेगा। वह जो कुछ करता है स्वतः अपने निर्णयानुसार करता है जिसकी उसकी अपनी व्यक्तिगत जिम्मेदारी होती है। व्यक्ति के कार्यकलापों का निर्धारण कोई परम सत्ता अथवा परम ब्रह्म नहीं बल्कि वह स्वयं करता है। इसी स्थल पर 'कीर्केगार्ड' ईसाई धर्म की बुद्धिसंगत व्याख्या करने का प्रयत्न करता जान पड़ता है। कोरी भावुक आदर्शवादिता में उसका विश्वास नहीं है। वह व्यक्ति को नैतिक दृष्टि से जीवित रहते हुए वास्तविक जीवन के सन्दर्भ में संघर्षशील एवं धर्मरत देखना चाहता है। 'नैतिक निर्णय और प्रयत्न को बचा कर केवल अनुचिन्तन में लीन रहना अकर्मण्यता है।' अस्तित्ववादी व्यक्ति (Existential Individual) केवल विचारक ही नहीं, बल्कि कर्म करनेवाला मनुष्य होता है।

जर्मन विचारक 'नीत्से' (Frederich Nietzsche) जिसका जन्म सन् १८४४ और मृत्यु सन् १९०० ई० में हुई, भावनाओं के समर्थन एवं रूढ़ियों के आलोचन में 'कीर्केगार्ड' से किसी भी प्रकार कम नहीं है। अन्तर इतना ही है कि इसने तर्क की उपेक्षा करके अपने विचारों का प्रतिपादन नहीं किया है। उसने अपनी पुस्तक 'एन्टी क्राइस्ट' (Antichrist) 'द विल टु पावर' (The will to power), 'द गे साइंस' (The Gay-Science) और 'जेराथुस्ट्र' (Zarathustra) में अस्तित्ववादी विचारों को व्यक्त किया है। उसकी रचनाओं में किसी वैचारिक सम्प्रदाय से सम्बन्ध स्थापन का बहिष्कार, किसी भी प्रकार के विश्वास में आस्था का न होना, दार्शनिक पद्धतियों का विरोध, परम्परागत दर्शन की निरर्थकता, केवल अनुचिन्तनमूलक और जीवन से उसे दूर मान कर उनके प्रति असन्तोष का पाया जाना उसे अस्तित्ववादी घोषित करने के लिये पर्याप्त है क्योंकि ये अस्तित्ववादी गुण 'नीत्से' में 'कीर्केगार्ड' 'यास्पर्स' और 'हेडगर' से किसी प्रकार कम नहीं हैं। मृत्यु की भयंकरता से ग्रस्त होना 'कीर्केगार्ड' 'यास्पर्स', 'हेडगर' और 'सार्त्र' की प्रमुख विशेषता है जो 'नीत्से' में भी पाई जाती है। परवर्ती सभी अस्तित्ववादियों ने 'नीत्से' को चर्चा का विषय बनाया है।

'कीर्केगार्ड' और 'नीत्से' ने जिस अस्तित्ववाद का बीज वपन किया उसका प्रस्फुटन यास्पर्स में हुआ। यास्पर्स का जन्म फरवरी सन् १८८३ ई० में हुआ। सन् १९१४ के प्रथम विश्वमहायुद्ध की भयंकरता से वह प्रभावित हुआ था। उसने देखा कि युद्धोपरान्त

यूरोप की आध्यात्मिकता, और उदात्तजीवन पुनः उस रूप मे नही लौट सका। यही कारण है कि इस काल में अस्तित्ववादी दर्शन को अपेक्षाकृत अधिक गम्भीरता और महत्त्व मिला। 'यास्पर्स' ने रूढ़िबद्ध ईसाई धर्म और 'प्लेटोनिक' आदर्शवाद का विरोध किया। सभी पूर्ववर्ती सिद्धान्तग्रस्त दर्शनो के प्रति उसके मन मे विरोध था जिसे उसने अपने निबन्ध 'प्रान माई फिलोसोफी' (On my Philosophy) में व्यक्त किया है। उसने व्यक्ति के अस्तित्व की स्थिति पर विचार किया। इसके अनुसार विश्व में एक-मात्र मनुष्य की ही ऐसी सत्ता है जो उसकी पहुँच के भीतर है। यहाँ, वर्तमान, निश्चलता, पूर्णता और जीवन है। मनुष्य वह स्थल है, जहाँ और जिसके द्वारा वह सत्य का रूप धारण करता है। मनुष्य ही वह केन्द्र-स्थल है जिसमें हमारे लिए जो भी यथार्थ और सत्य है उसकी स्थिति है। जन्म लेकर जो मानव नही बन सका उसकी जीवन यात्रा निरर्थक और शून्यगामिनी है। मनुष्य क्या है और क्या हो सकता है, उसके सम्मुख यही मूल प्रश्न है 'यास्पर्स' ने अपनी पुस्तक 'जेनेरल साइको पैथोलाजी' (General Psysho Pathology) और 'माई फिलासोफी' (My Philosophy) जो क्रम से सन् १९१३ और सन् १९३२ में प्रकाशित हुई थीं, में अपने इन विचारो को व्यक्त किया है। इसने 'स्वप्न सिद्धान्त' को स्वीकृति प्रदान की है। यास्पर्स ने ही नही बल्कि सभी अस्तित्ववादियो ने मनोविज्ञान को विशेष महत्त्व प्रदान किया है।

'हिडगर' (सन् १८८९) ने अपनी कृति 'सीन एण्ड जिट' (Scin and zeit) जो सन् १९२७ मे प्रकाश मे आयी, मे प्रतिपादित किया है कि विश्वसत्ता को 'आत्म-सत्ता' या मानव-सत्ता के सन्दर्भ में नही जाना जा सकता। आत्मसत्ता या मानव-सत्ता को वह 'डेसीन' (Dasein) के नाम से पुकारता है। उसके अनुसार मनुष्य की यथार्थ परिभाषा सम्भव नही, क्योंकि मनुष्य-जीवन की सम्भावनाएँ बदलती रहती हैं और इन सम्भावनाओ में से वह चुनाव करता चलता है। मनुष्य की सत्ता का विश्व की सत्ता से सम्बन्ध है। जगत व्यक्ति के प्रयोजनो की पूर्ति का क्षेत्र है। व्यक्ति जगत की वस्तुओ को अपने प्रयोजनो के अनुरूप व्यवस्थित करता है। एक व्यक्ति का अस्तित्व अन्य व्यक्तियो के अस्तित्व से निर्मित होता है। व्यक्ति कुछ व्यक्तियों से सम्बन्ध तोड़ सकता है, पर मनुष्य मात्र से नही। पर इस सामान्य जीवन - क्रम से बराबर भय बना रहता है कि व्यक्ति का व्यक्तित्व ही कहीं न खो जाय। अस्तित्ववाद के अनुसार इस प्रकार का खोया हुआ निर्वैयक्तिक जीवन अवांछनीय और मिथ्या है। वास्तविक जीवन वह है जिसमें व्यक्ति को अपनी सम्भावनाओ के चुनाव की स्वतन्त्रता हो। व्यक्ति को अपनी जीवन-दिशा का निर्धारण स्वयं करना है। व्यक्ति जब जीवन-दिशा के निर्धारण में लगता है तो उसमें एक अज्ञात आशंका और भय की उत्पत्ति होती है। ऐसे समय में व्यक्ति के सामने केवल दो विकल्प होते हैं। या तो वह पूर्व-

निश्चित मिथ्या लोकों पर विना सोचे-समझे चले अथवा अपने अस्तित्व की नाव के स्वयं खेने का जोखिम उठाये। व्यक्ति जब दिशा निर्धारण करना चाहता है तभी उसे यथार्थ की तीव्र चेतना की अनुभूति होती है। 'हेडगर' के अनुसार व्यक्तिगत अस्तित्व का अन्त मृत्यु में होता है। मृत्यु ही सत्य है, यथार्थ है और तात्विक है, शेष सब मिथ्या है। मृत्यु जीवन की सबसे बड़ी सम्भावना है। भय और चिन्ता तथा मृत्यु की भावना व्यक्तिगत अस्तित्व का प्रमुख विशेषता है तथा वेदना मनुष्य के अस्तित्व का एक अभिन्न अंग है। 'हेडगर' के अनुसार व्यक्ति न अपने अतीत को जानता है और न भविष्य को। वह दोनो ओर शून्य या नकार से घिरा है। नकारात्मकता का अर्थ है अस्तित्व का अभाव, सार्थकता का अभाव। 'हेडगर' अपने विचारों में नास्तिक है।

फ्रांस का प्रसिद्ध कथाकार और नाटककार 'जॉपॉलसार्त्र' (जन्म सन् १९०५) अस्तित्ववादी सिद्धांत का प्रमुख व्यवस्थापक है। वह नास्तिक अस्तित्ववादी दार्शनिक है। इसने अस्तित्ववादी दर्शन को अपने साहित्य में उतार कर दर्शन और साहित्य का नवीन गठबन्धन विश्व के सम्मुख प्रस्तुत किया। उसने अस्तित्ववादी दर्शन को अपने साहित्य के माध्यम के अस्तित्ववादी पात्रों के निर्माण द्वारा प्रस्तुत किया। सार्त्र के प्रमुख ग्रन्थ 'ल ग्रातं एला निग्रांत' (L, Etre etle Neat) एक्जिस्टेन्शियलिज्म (Exestentialism) और एक्जिस्टेन्शियलिज्म एण्ड ह्यूमेनिज्म' (Existentialism and humanism) मे उसके अस्तित्ववादी विचारो के दर्शन होते हैं। 'सार्त्र' के अनुसार (भाव तत्व या सत्ता (Being) दो प्रकार की होती है। एक है 'सत्ता अपने में' (En Soi) और दूसरी है 'सत्ता अपने लिए' (Pour Soi)। पहली सत्ता भौतिक अपारदर्शी और अपने से परे सचेतन करनेवाली है तथा दूसरी सत्ता चेतन और पारदर्शी है। चेतना सदैव किसी चीज की होती है और उसके लिए विषय अपेक्षित है। स्वयं चेतना अपने विषय से भिन्न होती है। अपने को विषय से भिन्न करती हुई चेतना ही अस्तित्ववान होती है। चेतना सदैव दूसरे की होती है। यह मत 'मीमांसा' के मन्तव्य से भी समानता रखता है और 'काण्ट' के मत से भी। मनुष्य द्रव्य (Substance) नहीं है, वह जो सोचता है, वह सब द्रव्यों की भिन्नता है। इस भिन्नता द्वारा चेतना-व्यक्तित्व सम्पन्न होती है। व्यक्तित्व सम्पन्न चेतना या आत्मचेतना अपने को नूतन सम्भावनाओं की ओर क्षिप्त करती है। इस क्षिप्त करने का प्रतीक ही इच्छा है। आत्मचेतना, अतीत का तथ्य के रूप में, और भविष्य का सम्भावना के रूप में ग्रहण या अनुचिंतन करती है। 'सत्ता अपने में' की सम्बद्धता में ही, चेतना भोगवती और क्रियाशील होती है।

'सार्त्र' ने व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध पर विचार किया है। उसके अनुसार व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध को उचित व्याख्या करने में अध्यात्मवाद और यथार्थवाद दोनों ही असफल हैं। उसने व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध को

चर्चा करते हुए लिखा है कि एक व्यक्ति दूसरे को केवल वस्तु रूप में ही नहीं जानता बल्कि उसे विषयी या कर्ता-भोक्ता के रूप में जानता है। जिस प्रकार एक व्यक्ति स्वयं अपना विषय नहीं होता, उसी प्रकार दूसरे व्यक्ति भी केवल उसके विषय ही नहीं होते। एक व्यक्ति दूसरों के लिए रहस्य बना रहता है। जब एक व्यक्ति का दूसरों के साथ तादात्म्य हो जाता है तो वह-वस्तु रूप बन जाता है। 'सार्त्र' के दर्शन में स्वतन्त्रता का महत्त्वपूर्ण स्थान है। स्वतन्त्रता मनुष्य का स्वभाव है और इसी में मनुष्य की सत्ता भी है। मनुष्य ब्रह्माण्ड के प्रयोजन की पूर्ति का एक यंत्र मात्र नहीं है। वह स्वतन्त्र है और अपने मूल्यों का निर्माण करता है। 'सार्त्र' का मत है कि 'मनुष्य का अस्तित्व उसकी सारसत्ता का पूर्ववर्ती है। (Man's Existence precedes His Essence) 'निष्कर्ष यह है कि मनुष्य का कोई निश्चित लक्ष्य या गन्तव्य नहीं है, मनुष्य स्वयं अपने भविष्य का निर्माण करता है, मनुष्य स्वतन्त्र होने को और एकाकी निर्णय या चुनाव करने को बाध्य है, स्वतन्त्रता का उपयोग करनेवाला मनुष्य एकाकीपन तथा असहायता का अनुभव करता है, जो स्वयं चुनाव करके दूसरा के पीछे चलता है, वह स्वतन्त्र नहीं है। 'सार्त्र' घोर व्यक्तिवादी है।''[१]

अस्तित्ववाद कोई दर्शन नहीं बल्कि परम्परागत दर्शन के विरुद्ध चलने वाले विभिन्न आन्दोलनों का नाम है।[2] विचार सम्प्रदायों का बहिष्कार किसी प्रकार के विश्वास समूह में अनास्था, विशेषतः पद्धतियों में और परम्परित दर्शन को निरर्थक शुद्ध अनुचिन्तनमूलक तथा जीवन से दूर मानकर उनसे असन्तोष की अभिव्यक्ति ही अस्तित्ववाद के मूल प्रेरक तत्त्व हैं।

अस्तित्ववाद प्रकृतिवादी यन्त्रवाद का विरोधी है। जगत में कार्यकारण नियम का अबाधित शासन है, ऐसा अस्तित्ववादी नहीं मानते। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के विरोधी प्रत्येक सिद्धान्त से अस्तित्ववाद का विरोध है। अस्तित्ववाद अध्यात्मवाद और भौतिकवाद दोनों के विरुद्ध व्यक्ति की स्वतंत्र सत्ता और महत्ता की प्रतिष्ठा करता है। व्यक्ति का स्वतंत्र अस्तित्व है और वह स्वयं अपना भविष्य-निर्माता है। अस्तित्ववाद का यह निश्चित मत है कि मनुष्य एक सिद्ध पदार्थ नहीं है। उसका स्वभाव और उसकी सारसत्ता पहले से निश्चित नहीं है। मनुष्य स्वतन्त्र है और स्वयं वह अपने जीवन की सम्भावनाओं का निर्धारण करता है। प्रत्येक व्यक्ति को दूसरे की स्वतंत्रता का अनुमोदन

१—डॉ० देवराज—साहित्य और संस्कृति, प्र० सं०, पृ० ५१

2. Existentialism is not a philosophy but a lebel for several widely different revolts against traditional philosophy.
(Kaufmann Existentialism from Dostavsky to Sartre.)

और समर्थन करना चाहिए। संक्षेप में अस्तित्ववाद व्यक्तिगत जीवन या अस्तित्व का दर्शन है, वह उस व्यक्ति की स्थिति को समझने का प्रयत्न है जो वास्तविक अर्थ में स्वतन्त्रता का उपभोग करते हुए अपनी जीवन-दिशा का स्वयं निर्धारण करते हुए, अपने कर्मों के लिए स्वयं पूरी जिम्मेदारी महसूस करते हुए जीवनयापन करता या करना चाहता है। व्यक्तियों की स्वतंत्रता की सचेत अवगति रखते हुए अस्तित्ववादी यह विश्वास नहीं करते कि इतिहास की व्याख्या की जा सकती है और उसके भविष्य का सफल अनुमान किया जा सकता है। अस्तित्ववादी व्यक्ति की स्वतन्त्रता में आस्था रखता है और चाहता है कि व्यक्ति को उसकी स्वतन्त्रता और जिम्मेदारियों के प्रति जागरूक बनाया जाय।"[१]

मानव-जीवन को निरर्थक समझना, तर्क को अक्षम समझ कर उसका बहिष्कार करना, ईश्वर की परम्परागत मान्यताओं में अनास्था, धर्मनिरपेक्ष स्तर पर मानवजीवन की कल्पना करना, प्रत्येक क्षण का अतुलनीय महत्व स्वीकार करते हुए जीवन को एक मानवीय अर्थ तथा मूल्य देने की चेष्टा करना तथा वैयक्तिक स्वतन्त्रता का प्रबल समर्थन करना अस्तित्ववाद अपना परम धर्म मानता है।

'जूलियन बेन्द्रा' ने इसे 'भाव तथा विचार के प्रति जीवन का विद्रोह' कहा है।[२] 'एमानुएल मौनियर' के अनुसार 'भावों तथा वस्तुओं के प्रतिवादी दर्शन के विरोध में मानवीय दर्शन ही अस्तित्ववाद है।'[३] 'एलेन' का कहना है कि 'अस्तित्ववाद परम्परागत दर्शक की दृष्टि न होकर अभिनेता की दृष्टि है।'[४] इसके अनुसार जीवन की समस्याओं पर विचार भुक्तभोगियों की ओर से होता है। अस्तित्ववाद को समझने में यह मत अधिक सहायक है।

ऊपर ही मैंने संकेत किया है कि अस्तित्ववादी विचारक ईश्वरवादी और अनीश्वरवादी दो वर्गों में विभक्त हो गये हैं। ईश्वरवादी जिन्हें प्रायः 'क्रिश्चियन इक्जिस्टेन्शियलिस्ट' कहते हैं, मानवजीवन को ईश्वर से संयुक्त कर उसे उसका वास्तविक मूल्य देना चाहते हैं जिसका प्रतिनिधित्व 'कीर्केगार्ड' और यास्पर्स करते हैं। पूर्णतः अनीश्वरवादी सिद्धान्तों का प्रतिनिधित्व 'सार्त्र' करता है। इस मत का जीवन से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है जिसके कारण इसका राजनैतिक पक्ष भी उभर कर सामने आया है। सैद्धान्तिक राजनीति का प्रामाणिक विवेचन अस्तित्ववाद में 'अलबर्ट केमुस' की प्रसिद्ध कृति 'लहोमेरिवोल्ते' में हुआ।

१—डॉ० देवराज—साहित्य और संस्कृति, प्र० सं०, पृ० ४५

२—हिन्दी साहित्य कोष—प्र० सं०, पृ० ८५

३— " " "

४— " " "

काल्पनिक साहित्य सर्जन में विश्वास न करके दैनिन्दिन संघर्षों को सर्जन के क्षेत्र में लानेवाले साहित्यकार 'सार्त्र', 'अलबर्ट केमुश्र' तथा सिमोनदेब्युवोई' ही हैं। हिन्दी में अस्तित्ववादी कृतियों का नितान्त अभाव है। 'अज्ञेय' की एकमात्र रचना अपने-अपने अजनबी' को अस्तित्ववाद के भीतर स्वीकार किया जा सकता है। हिन्दी में इसके भविष्य को लेकर अभी कुछ कहना कठिन है। नई पीढ़ी के कहानीकारों में अस्तित्ववाद की ओर झुकाव देखने को मिल रहा है। हिन्दी में अस्तित्ववाद की लोकप्रियता और औचित्य के सम्मुख अभी तो प्रश्नचिन्ह ही लगा है। अपने जन्मस्थल यूरोप में भी इसे जितनी लोकप्रियता साहित्य में मिलनी चाहिए थी नहीं मिली। 'सार्त्र' के नाटक 'इन कैमरा, द फ्लाइज, रेसपेक्टेबल प्रौस्टीच्यूट, लूसीफर एण्ड द लार्ड कीन, इन द मैश) ही अस्तित्ववाद की अमूल्य निधियाँ हैं, जिसकी परम्परा में नामों का उल्लेख करना कठिन है। जिस निराशा, वेदना और असन्तोष को प्रश्रय अस्तित्ववादी देना चाहते हैं, वह वह साहित्य के लिए कितना उपयोगी सिद्ध होगा, स्वयं में एक विचारणीय प्रश्न है।

परिशिष्ट (ख)

प्रमुख हिन्दी उपन्यासों का रचना-काल

उपन्यास	लेखक	सन्
भाग्यवती	श्रद्धाराम फिल्लौरी	१८७७
परीक्षा गुरु	लाला श्रीनिवासदास	१८८२
नूतन ब्रह्मचारी	बालकृष्ण भट्ट	१८८६
सौ अजान एक सुजान	,,	१८९२
श्यामास्वप्न	डा० जगमोहन सिंह	१८८६
त्रिवेणी	किशोरीलाल गोस्वामी	१८८८
स्वर्गीय कुसुम वा कुसुमकुमारी	,,	१८८९
हृदयहारिणी वा आदर्श रमणी	,,	१८९०
लवंगलता वा आदर्श बाला	,,	१८९०
प्रणयिनी परिणय	,,	१८९०
प्रेममयी	,,	१८९१
लावण्यमयी	,,	१८९१
सुख शर्वरी	,,	१९०१
राजकुमारी	,,	१९०१
तारा	,,	१९०२
लीलावती	,,	१९०२
चपला	,,	१९०३
कनक कुसुम	,,	१९०३
चन्द्रिका वा जड़ाऊ चंपाकली	,,	१९०४
सुल्तान रजिया बेगम का रंगमहल में हलाहल	,,	१९०४
चन्द्रावली वा कुलटा	,,	१९०५
हीराबाई वा बेहयाई का बोरका	,,	१९०५
तरुण तपस्विनी वा कुटीर वासिनी	,,	१९०५
यमज सहोदरा	,,	१९०६
जिन्दे की लाश	,,	१९०६
इन्दुमती वा वनविहंगिनी	,,	१९०६
पुनर्जन्म वा सौतिया डाह	,,	१९०७

माधवी माधव	किशोरीलाल गोस्वामी	१६०६
सोना और सुगंध वा पन्ना बाई	,,	१६०६
मल्लिका देवी	,,	(द्वि० सं०) १६१०
लालकुंवर	,,	१६१३
कटे मूँड की दो-दो बातें	,,	१६१४
खूनी औरत का सात खून	,,	१६१६
गुलबहार या आदर्शभ्रातृस्नेह	,,	१६१६
लखनऊ की कब्र	,,	१६१७
अँगूठी का नगीना	,,	१६१८
गुप्तगोदना	,,	१६२२–२४
चन्द्रकान्ता	देवकीनन्दन खत्री	१८६१
नरेन्द्र मोहिनी	,,	१८६३
वीरेन्द्रवीर	,,	१८६५
चन्द्रकान्ता सतति	,,	१८६६ के बाद
काजर की कोठरी	,,	१८६६
नौलखा हार	,,	१८६६
कुसुम कुमारी	,,	१६००
गुप्त गोदना (भाग १)	,,	१६०२
अनूठी बेगम	,,	१६०५
भूतनाथ	,,	१६०६
चतुर चंचला	गोपालराम गहमरी	१८६३
नये बाबू	,,	१८६४
मानमनी	,,	१८६४
नेमा	,,	१८६४
बड़ाभाई	,,	१८६८
सास पतोहू	,,	१८६६
गुप्तचर	,,	१८६६
बेगसूर की फाँसी	,,	१६००
सरकती लाश	,,	१६००
खूनी कौन है	,,	१६००
बेगुनाह का खून	,,	१६००
जमुना का खून	,,	१६००
डबल जासूस	,,	१६००

गेरुआ बाबा	गोपालराम गहमरी	१९१४
भोजपुर की ठगी	,,	१९११
मेम की लाश	,,	१९२९
प्रद्युम्न खून	,,	१९०६
मायाविनी	,,	१९०१
जादूगरनी मनोरमा	,,	१९०१
लड़की चोरी	,,	१९०१
जासूस की भूल	,,	१९०१
थाना की चोरी	,,	१९०१
भयङ्कर चोरी	,,	१९०१
देवरानी-जेठानी	,,	१९०१
देवीसिंह	,,	१९०१
मालगोदाम में चोरी	,,	१९०२
डबल बीबी	,,	१९०२
उड़न खटोला	,,	१९०३
दो बहन	,,	१९०३
घर का भेदी	,,	१९०३
डाक्टर की कहानी	,,	१९०३
काशी की घटना	,,	१९०४
चक्करदार चोरी	,,	१९०४
ठनठन गोपाल	,,	१९०४
तीन पतोहू	,,	१९०४
गुमनाम चिट्ठी	,,	१९०४
रहस्य विप्लव	,,	१९०५
हंसा देवी	,,	१९०६
भयंकर भेद	,,	१९०७
खूनी भेद	,,	१९०९
ठनठन जासूस	,,	१९१२
जाली बीबी	,,	१९१४
जासूस की ऐयारी	,,	१९१४
मेम की लाश	,,	१९१४
जासूस की जवांमर्दी	,,	१९१४
गाड़ी में लाश	,,	१९२०

प्रेमकान्ता		
राधारानी	अयोध्या सिंह उपाध्याय	१८९४
ठेठ हिन्दी का ठाट	,,	१८९७
अधखिला फूल	,,	१८९९
धूर्त रसिक लाल	,,	१९०७
कपटी मित्र	मेहता लज्जाराम शर्मा	१८९९
आदर्श दम्पत्ति	,,	१९००
हिन्दू गृहस्थ	,,	१९०४
सुशीला विधवा	,,	१९०५
बिगड़े का सुधार	,,	१९०६
बिपत्ति की कसौटी	,,	१९०६
झुझार तेजा	,,	१९१०
आदर्श हिन्दू	,,	१९१४
स्वतंत्र रमा और परतंत्र लक्ष्मी	,,	१९१५
हवाई नाव	,,	१९९९
वीर पत्नी	गंगाप्रसाद गुप्त	१९०३
कुमार सिंह सेनापति	,,	१९०३
पूना में हलचल	,,	१९०३
हम्मीर	,,	१९०३
कुँवर सिंह	,,	१९०४
कृष्णकान्त	,,	१९१४
अद्भुत प्रायश्चित	,,	१९३६
विस्मृत सम्राट्	ब्रजनन्दन सहाय	१९१०
राधाकान्त	,,	१९१०
सौन्दर्योपासक	,,	१९१२
अरण्य बाला	,,	१९१२
लालचीन	,,	१९१५
किशोरी	,,	१९१६
फूलकुमारी	जयरामदास गुप्त	१९०५
काला चँदवा सौतेली माँ	,,	१९०५
रोशन आरा	,,	१९०५
सूर-शिरोमणि	,,	१९०६
लँगड़ा खूनी	,,	१९०६
	,,	१९०७

रंगभंग	जयरामदास गुप्त	१९०७
काश्मीर का पतन	,,	१९०७
नवाबी परिस्तान	,,	१९०७
भूतों का डेरा	,,	१९०८
चपा	,,	१९०८
बिना सवार का घोड़ा	,,	१९०८
मायारानी	,,	१९०८
मलका चाँद बीबी	,,	१९०९
कलावती	,,	१९०९
राजदुलारी	,,	१९१०
चन्द्रलोक की यात्रा	,,	१९१०
विधवा विपत्ति	राधाचरण गोस्वामी	१८८८
कल्पलता	,,	१८९०
कामिनी	बालमुकुन्द वर्मा	१८८८
गुलाब	,,	१८९०
मालती	,,	१९०४
निस्सहाय हिन्दू	राधाकृष्ण दास	१८९०
चतुर सखी	काशीनाथ शर्मा	१८९०
सच्चा मित्र	देवदत्त	१८९१
कमलिनी	जैनेन्द्र किशोर	१८९१
गुलेनार	,,	१९०७
आश्चर्य वृत्तान्त	अम्बिकादत्त व्यास	१८९३
चन्द्रकला	हनुमन्त सिंह रघुवंशी	१८९३
मेरी दुःखगाथा	,,	१९१५
सुदामा	रामगुलाम	१८९४
पुष्पावती	गोकुलनाथ शर्मा	१८९५
जया	कार्तिकप्रसाद खत्री	१८९६
दीनानाथ वा गृह चरित्र	,,	१८९९
बसन्तमालती	जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी	१८९९
संसार चक्र	,,	१८९९
तूफान	,,	१८९९
विचित्र विचरण	,,	

अनारकली	बलदेवप्रसाद मिश्र	१९००
पानीपत	,,	१९०२
पृथ्वीराज चौहान	,,	१९०२
कुलनंदिनी	,,	१९०३
ससार	,,	१९०७
त्रिया चरित्र	रक्षापाली	१९०२
सती सुखदेवी	अमृतलाल चक्रवर्ती	१९०२
हसीना उर्फ सलीमा	रामप्रसाद लाल	१९०३
हम्माम का मुर्दा	,,	१९०३
विद्याधरी	गिरिजानंदन तिवारी	१९०४
नूरजहाँ बेगम व जहाँगीर	मथुराप्रसाद शर्मा	१९०५
मदनरंजिनी	शंकरदयाल श्रीवास्तव	१९०५
फूल मे काँटा	रामजीदास वैश्य	१९०६
धोखे की टट्टी	,,	१९०७
सुन्दर गवाँरिन	,,	१९३३
सच्ची झूठ	,,	१९४०
सच्चा मित्र या जिन्दे की लाश	अम्बिकाप्रसाद गुप्त	१९०६
दो मित्र	लोचन प्रसाद पाण्डेय	१९०६
वीरबाला	लालजी सिंह	१९०६
स्वर्ग में महासभा	रुद्रदत्त शर्मा	१९०६
माता का उपदेश	कृपाराम मेहता	१९०७
रमा बाई	,,	१९०६
रमा बाई	चन्द्रशेखर पाठक	१९०७
अबला की आत्मकथा	,,	१९१०
अमीर अली ठग	,,	१९११
भारतीय	,,	१९१३
मायापुरी	,,	१९१४
हेमलता	,,	१९१८
वारांगना रहस्य	,,	१९१४-१९२२
मनुष्य बलिदान	जगमोहन विकसित	१९०७
सुन्दर सरोजिनी	देवीप्रसाद उपाध्याय	१८९३
चंपावती या सुर्ख तलवार	हरदेव प्रसाद मुदर्रिस	१९०७
रामकौतुक या आशिकों की कम्बख्ती	,,	१९०९
सूरजमुखी	,,	१९११

धराऊ घटना	भुवनेश्वर मिश्र	१६०८
चन्द्रलोक की यात्रा	विनय गोपाल बख्शी	१६०८
पत्नी वियोग	जगन्नाथ सिंह वर्मा	१६०८
भीषण भविष्य	गोस्वामी लक्ष्मणाचार्य	१६०८
तारामती	केदारनाथ	१६०६
किरण शशि	रामप्रसाद सत्यपाल	१६०६
प्रेमलता	,,	१६०६
डबल जोरू का परिणाम	रूपकिशोर जैन	१६१०
श्री देवी	,,	१९११
सूर्य कुमार संभव	,,	१६१२
त्रैलोक्य सुन्दरी	आत्माराम देवकर	१६१०
स्वर्णमयी	ईश्वरी प्रसाद शर्मा	१६१०
नलिनी बाबू	,,	१६११
चन्द्रधर	,,	१६१२
चन्द्रकला	,,	१९३४
मेंहदी का बाड़ा	रामलाल वर्मा	१६११
अलबेला रागीया	,,	१६१२
राजपूत रमणी	जुगल किशोर नारायण सिंह	१६१०
आदर्श रमणी	शालिग्राम गुप्त	१६११
दर्शनी हुंडी	लक्ष्मीनारायण गुप्त	१६१२
सावित्री सत्यवान	द्वारिका प्रसाद चतुर्वेदी	१९१२
मारवाड़ी और पिशाचिनी	रामनरेश त्रिपाठी	१६१२
कटा-हुआ सिर	सूरजभान वैश्य	१६१२
युग-मालती अर्थात् धूर्त-परिणाम	वल्लभदास वर्मा	१६१२
सच्चा उपन्यास	,,	१९१६
जिन्नों की महफ़िल	बांकेलाल चतुर्वेदी	१६१२
खौफनाक खून	,,	१६१२
सुरंग	,,	१६१२
मोहनी	राधिका प्रसाद सिंह अखौरी	१६१२
आदर्श नगरी	वेणी प्रसाद	१९१३
जयाकुसुम	लक्ष्मी दत्त जोशी	१६१३
किस्मत का खेल	विट्ठल दास नागर	१६१३
सत्य प्रेम	जगचन्द्र रमोला	१६१३

निर्मल कुमारी अर्थात् ऐयारी का मंडल	मौजीलाल जैन	१९१३
मनोरंजन	जालिम सिंह	१९१४
रामप्रताप	"	१९१-
ब्रह्मदर्पण	"	१९१७
मानवती	योगेन्द्र नाथ	१९१४
भारतमाता	हरस्वरूप पाठक	१९१५
प्रेममाधुरी वा अनंग कान्ता	प्रेमविलास वर्मा	१९१५
प्रताप सिंह का बनवास	रामगोपाल मिश्र	१९१५
चपा	कृष्णलाल वर्मा	१९१६
राधा	किशोरी लाल गुप्त	१९१६
काशी यात्रा	श्यामकिशोर वर्मा	१९१६
राजनैतिक षड्यन्त्र	मंगल दत्त शर्मा बहुगुणा	१९१७
पुष्प कुमारी	टीकाराम तिवारी	१९१७
शीलमणि	"	१९१८
वीर मणि	मिश्र बन्धु	१९१७
विक्रमादित्य	"	१९१८
पुष्य मित्र	"	१९२०
बैलून बिहारी	शिवसहाय चतुर्वेदी	१९१८
वन देवी	बालदत्त पाडेय	१९१८
रामलाल	मन्नन द्विवेदी	१९१७
कल्याणी	"	१९२०
देवी द्रौपदी	रामचरित उपाध्याय	१९२०
प्रेमा	प्रेमचन्द	१९०५
सेवा सदन	"	१९१८ (उर्दू में बाजारे हुस्न के नाम १९०७)
वरदान	"	१९१८ के बाद
प्रेमाश्रम	"	१९२१
रंगभूमि	"	१९२२
कायाकल्प	"	१९२४
निर्मला	"	१९२८
प्रतिज्ञा	"	१९२६
गबन	"	१९३०
कर्मभूमि	"	१९३२

गोदान	प्रेमचन्द	१९३६
मंगल सूत्र	,,	अधूरा
कंकाल	जयशंकर प्रसाद	१९२९
तितली	,,	१९३४
इरावती	,,	अधूरा
माँ	विश्वंभरनाथ शर्मा 'कौशिक'	१९२९
भिखारिणी	,,	१९२९
संघर्ष	,,	१९४५
नीलमणी	चतुरसेन शास्त्री	१९४०
सोमनाथ	,,	१९५४
अमर सिंह	,,	१९६०
आभा	,,	१९६०
दादा	,,	१९६१
मोती	,,	१९६१
सुमदा	,,	१९६२
हृदय की परख	,,	१९१८
व्यभिचार	,,	१९२४
खवास का ब्याह	,,	१९२७
हृदय की प्यास	,,	१९३२
अमर अभिलाष	,,	१९३३
आत्मदाह	,,	१९३७
मन्दिर की नर्तकी	,,	१९३९
रक्त की प्यास	,,	१९४०
वैशाली की नगर वधू (१)	,,	१९४८
वैशाली की नगर वधू (भाग २)	,,	
नरमेध	,,	१९५०
अपराजिता	,,	१९५२
आलमगीर	,,	१९५४
धर्म-पुत्र	,,	१९५४
वयं रक्षामः (दो भाग)	,,	१९५५
गोली	,,	१९५६
उदयास्त	,,	१९५८
पत्थरयुग के दो बुत	,,	१९५९

खग्रास	चतुरसेन शास्त्री	१९५९
सोना और खून (भाग २)	,,	१९६०
सह्याद्रि की चट्टानें	,,	१९६०
खग्रास	,,	१९६०
गढ़ कुंडार	वृन्दावनलाल वर्मा	१९२७
लगन	,,	१९२७
संगम	,,	१९२७
प्रत्यागत	,,	१९२८
प्रेम की भेंट	,,	१९२८
कुण्डली चक्र	,,	१९२८
मृगनयनी	,,	१९५०
विराटा की पद्मिनी	,,	१९३०
कभी न कभी	,,	१९४५
झांसी की रानी	,,	१९४६
मुसाहिब जू	,,	१९४६
कचनार	,,	१९४७
अचल मेरा कोई	,,	१९४८
सोना	,,	१९५२
टूटे कांटे	,,	१९५४
अहिल्या बाई	,,	१९५५
माधोजी सिंधिया	,,	१९५६
अमर बेल	,,	१९५३
भुवन विक्रम	,,	१९५७
उदय किरण	,,	१९६०
आहत	,,	१९६०
रामगढ़ की रानी	,,	१९६१
परख	जैनेन्द्र कुमार	१९२९
सुनीता	,,	१९३४
त्यागपत्र	,,	१९३७
कल्याणी	,,	१९३९
विवर्त	,,	१९५३
व्यतीत	,,	१९५३
सुखदा	,,	१९५२

तपोभूमि	(ऋषभचरण जैन, सहलेखक)	१९३२
स्पर्धा	,,	१९३०
जयवर्धन	,,	१९५६
घृणामयी	इलाचन्द्र जोशी	१९२९
संन्यासी	,,	१९४१
पर्दे की रानी	,,	१९४२
प्रेत और छाया	,,	१९४६
मुक्ति पथ	,,	१९५०
सुबह के भूले	,,	१९५२
निर्वासित	,,	१९४६
जिप्सी	,,	१९५२
जहाज का पंछी	,,	१९५७
लज्जा (घृणामयी कानामान्तर)	,,	१९५०
गोद	सियारामशरण गुप्त	१९३३
अंतिम आकांक्षा	,,	१९३४
नारी	,,	१९३७
विदा	प्रतापनारायण श्रीवास्तव	१९२७
विजय	,,	१९३६
विकास (दो भाग)	,,	१९३८
विसर्जन	,,	१९४९
बयालीस	,,	१९४७
बेकसी का मजार	,,	१९५७
विषमुखी	,,	१९५८
वेदना	,,	१९५९
विश्वास की वेदी पर	,,	१९५६
वन्दना	,,	१९६१
वंचना	,,	१९६२
विनाश के बादल	,,	१९६३
पतन	भगवतीचरण वर्मा	१९२८
चित्रलेखा	,,	१९३४
तीन वर्ष	,,	१९३६
टेढ़ेमेढ़े रास्ते	,,	१९४६
आखिरी दाँव	,,	१९५०

भूले बिसरे चित्र	भगवतीचरण वर्मा	१९५९
वह फिर नहीं आई	,,	१९६०
अपने-अपने खिलौने	,,	१९५७
सामर्थ्य और सीमा	,,	१९६२
रेखा	,,	१९६४
तरंग	राधिकारमण प्रसाद सिंह	१९२१
राम-रहीम	,,	१९३६
सावनीसमा	,,	१९३८
टूटा तारा	,,	१९४१
गांधी टोपी	,	१९३८
देव और दानव	,,	१९४५
सूरदास	,,	१९५०
चुम्बन और काँटा	,,	१९५६
पुरुष और नारी	,,	१९४०
नारी एक पहेली	,,	१९५०
पूरब और पश्चिम	,,	१९५१
जागरण	श्रीनाथ सिंह	१९३७
उलझन	,,	१९३८
एक और अनेक	,,	१९४६
दादाकामरेड	यशपाल	१९४१
देशद्रोही	,,	१९४३
दिव्या	,,	१९४५
पार्टीकामरेड	,,	१९४६
मनुष्य के रूप	,,	१९४९
अमिता	,,	१९५६
झूठा-सच (१)	,,	१९५९
,, (२)	,,	१९६०
शेखर : एक जीवनी (भा० १)	अज्ञेय	१९४१
,, ,, (भा० २)	,,	१९४४
नदी के द्वीप	,,	१९५१
अपने अपने अजनबी	,,	१९६१
अप्सरा	सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला'	१९३१
अलका	,,	१९३३

निरुपमा	सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला'	१९३६
प्रभावती	,,	१९३६
चोटी की पकड़	,,	१९४६
काले कारनामे	,,	१९५०
दो बहनें	भगवतीप्रसाद वाजपेयी	१९४०
पतिता की साधना	,,	१९३६
पिपासा	,,	१९३७
चलते-चलते	,,	१९५१
पतवार	,,	१९५२
यथार्थ से आगे	,,	१९५५
हिलोर	,,	१९५६
उतार-चढ़ाव	,,	१९५८
त्यागमयी	,,	१९३२
लालिमा	,,	१९३४
निमंत्रण	,,	१९४२
गुप्तधन	,,	१९४६
सूनी राह	,,	१९५६
विश्वास का बल	,,	१९५६
रात और प्रभात	,,	१९५७
उनसे न कहना	,,	१९५७
प्रेम-पथ	,,	१९२६
मीठी चुटकी	,,	१९२७
अनाथ पत्नी	,,	१९२८
प्रेम निर्वाह	,,	१९३४
मनुष्य और देवता	,,	१९५४
धरती की साँस	,,	१९५५
भू दान	,,	१९५५
एक प्रश्न	,,	१९५६
पाषाण की लोच	,,	१९५६
दरार और धुआँ	,,	१९६०
सपना बिक गया	,,	१९६१
टूटा टी-सेट	,,	१९६२
चंदन और पानी	,,	१९६२
टूटते बन्धन	,,	१९६३

सितारों का खेल	उपेन्द्रनाथ अश्क	१९३६
गिरती दीवारें	,,	१९४७
गर्म राख	,,	१९५२
बड़ी बड़ी आँखें	,,	१९५५
पत्थर अलपत्थर	,,	१९५७
शहर में घूमता आइना	,,	१९६३
चढ़ती धूप	रामेश्वर शुक्ल 'अचल'	१९४५
उल्का	,,	१९४७
नई इमारत	,,	१९४७
मरु प्रदीप	,,	१९५१
महाकाल	अमृतलाल नागर	१९४७
सेठ बाँकेमल	,,	१९५५
बूँद और समुद्र	,,	१९५६
शतरंज के मोहरे	,,	१९५९
सुहाग के नूपुर	,,	१९६०
ये कोठे वालियाँ	,,	१९६१
बाणभट्ट की आत्मकथा	हजारीप्रसाद द्विवेदी	१९४६
चारुचन्द्र लेख	,,	१९६३
पथ की खोज	डा० देवराज	१९५१
बाहर-भीतर	,,	१९५४
रोड़े और पत्थर	,,	१९५८
अजय की डायरी	,,	१९६०
परन्तु	प्रभाकर माचवे	१९४१
एकतारा	,,	१९५२
साँचा	,,	१९५६
द्वाभा	,,	१९४९
सूरज का सातवाँ घोड़ा	धर्मवीर भारती	१९५२
गुनाहों का देवता	,,	१९५५
चाँदनी के खंडहर	गिरधर गोपाल	१९५५
रतिनाथ की चाची	नागार्जुन	१९४८
बलचनमा	,,	१९५२
नई पौध	,,	१९५३
बाबा बटेसरनाथ	,,	१९ ८

दुखमोचन	नागार्जुन	१६५७
वरुण के बेटे	,,	१९५७
कुंभी पाक	,,	१९६०
हीरक जयन्ती	,,	१९६१
उग्रतारा	,,	१९६३
दिगम्बर	शांतिप्रिय द्विवेदी	१९५५
मैला आंचल	फणीश्वरनाथ रेणु	१९५४
परती परिकथा	,,	१९५७
दीर्घतपा	,,	१९६४
बलिदान	रघुवीरशरण मित्र	१९४७
श्वेतपद्मा	सिद्ध विनायक द्विवेदी	१९५७
मुक्ति-दान	,,	१९५७
प्यासी मीन	,,	१९५५
प्यार की जीत	श्रीराम वेरी	१९२७
मालिन	साधुशरण	१९४५
लहरें और कगार	बच्चन सिंह	१९५६
सांझ-सकारे	सुधाकर पाण्डेय	१९५६
पथ का अन्त	सत्यदेव शर्मा	१९५५
झुनियाँ की शादी	यज्ञदत्त शर्मा	१९५४
परिवार	,,	१९५५
बाप-बेटी	,,	१९५६
निर्माण पथ	,,	१९५६
दबदबा	,,	१९५६
मंगलू की माँ	,,	१९५६
वसंती बूआजी	,,	१९६०
सबका साथी	,,	१९६०
स्वप्न खिल उठा	,,	१९६०
देवता	कर्मल शुक्ल	१९५६
दिल्ली	,,	१९५८
गुंजार	,,	१९५८
कोई कुछ कह गया	,,	१९५६
किसका कौन	,,	१९६०

पथहीन	यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र'	१९५६
मिट्टी का कलंक	,,	१९५६
अम्मा अन्नदाता	,,	१९५८
सपना	,,	१९५८
अनावृत	,,	१९५९
प्रोफेसर	,,	१९५९
बन्धन मुक्त	कुमारिल देव	१९५६
लहरों से पूछिये	प्रो० प्यारेलाल एम० ए० 'वेदिल'	१९१९
अब तुम ही बताओ	,,	१९५६
ऊँची-नीची राहें	सरस्वतीसरन 'कैफ'	१९५६
भूख और तृप्ति	,,	१९५८
अतृप्ता	साहित्याचार्य मग	१९५८
पथनिर्देश	श्रीराम शर्मा 'राम'	१९५२
नींव का पत्थर	,,	१९५६
धरती के आँसू	,,	१९५६
रास्ते का मोड़	,,	१९५६
टेढ़ी-मेढ़ी दीवारें	,,	१९५६
कल्पना के आँसू	,,	१९५८
टेढ़ी रेखाएँ	,,	१९५८
उमड़ते खण्डहर	,,	१९५९
प्रेत बोलते हैं	राजेन्द्र यादव	१९५२
उखड़े हुए लोग	,,	१९५६
कुलटा	,,	१९५८
शह और मात	,,	१९५९
अनदेखे अनजान पुल	,,	१९६३
एक इंच मुस्कान	,,	१९६४
पतन का अन्त	ओम् प्रकाश एम० ए०	१९५६
नरक के आदमी	गोविन्द सिंह	१९५५
अठारह सौ सत्तावन	,,	१९५६
दिल्ली का व्यभिचार	ऋषभचरण जैन	१९२८
बुर्केवाली	,,	१९३०
चाँदनी रात	,,	१९३१
दुराचार के अड्डे	,,	१९३६

जादू का महल	निहालचन्द्र वर्मा		१६१५
आनन्द भवन	,,		१६२०
सोने का महल	,,		१६५३
गुलाब कुमारी	,,		१६६२
मशाल	भैरवप्रसाद गुप्त		१६५१
सत्तीमैया का चौरा	,,		१६५६
जंजीर और नया आदमी	,,		१६५६
जिच	मन्मथनाथ गुप्त		१६४६
सुधार	,,		१६४६
दुश्चरित्र	,,		१६४६
अवसान	,,		१६५०
अंधेरनगरी	,,		१६५१
रक्षक-भक्षक	,,		१६५२
रैन अँधेरी	,,		१६५६
अपराजिता	,,		१६६०
रंग-मंच	,,		१६६०
साकी	अनूपलाल मंडल		१६३२
दस बीघा जमीन	,,		१६४१
आवारों की दुनिया	,,		१६४५
दर्द की तस्वीरें	,,		१६४६
बुझने न पाया	,,		१६४६
मीमांसा	,,		१६४७
सदाचारी बालक	अमीर अली मीर	(द्वि० सं०)	१६१७
बीज	अमृत राय		१६५३
नवाब लटकन	अरुण	(तृ० सं०)	१६४६
सरला की भाभी	इन्द्र विद्यावाचस्पति		१६४६
अधूरी नारी	उदयराज सिंह		१६४६
रोहिणी	,,		१६४६
वह जो मैंने देखा	उदयशंकर भट्ट		१६४५
डा० शेफाली	,,		१६५०
सागर लहरें और मनुष्य	,,		१६५६
लोक-परलोक	,,		१६५८
शेष अशेष	,,		१६६०
दो अध्याय	,,		१६६३

जादू का महल	निहालचन्द्र वर्मा	१६१५
आनन्द भवन	,,	१६२०
सोने का महल	,,	१९५३
गुलाब कुमारी	,,	१९६३
मशाल	भैरवप्रसाद गुप्त	१९५१
सत्तीमैया का चौरा	,,	१९५६
जंजीर और नया आदमी	,,	१९५६
जिच	मन्मथनाथ गुप्त	१९४६
सुधार	,,	१९४६
दुश्चरित्र	,,	१९४९
अवसान	,,	१९५०
अंधेरनगरी	,,	१९५१
रक्षक-भक्षक	,,	१९५२
रैन अँधेरी	,,	१९५९
अपराजिता	,,	१९६०
रंग-मंच	,,	१९६०
साकी	अनूपलाल मंडल	१९३२
दस बीघा जमीन	,,	१९४१
आवारों की दुनिया	,,	१९४५
दर्द की तस्वीरें	,,	१९४६
बुझने न पाया	,,	१९४६
मीमांसा	,,	१९४७
सदाचारी बालक	अमीर अली मीर	(द्वि० सं०) १९१७
बीज	अमृत राय	१९५३
नवाब लटकन	अरुण	(तृ० सं०) १९४६
सरला की मामी	इन्द्र विद्यावाचस्पति	१९४६
अधूरी नारी	उदयराज सिंह	१९४६
रोहिणी		१९४९
वह जो मैंने देखा		१९४५
डा० शेफाली		१९५०
सागर लहरें और मनुष्य		१९५६
लोक-परलोक		१९५८
शेष अशेष		१९६०
दो अध्याय		१९६३

वचन का मोल	उषा देवी मित्रा	१६३६
जीवन की मुस्कान	,,	१६३६
पथचारी	,,	१६४०
आवाज	,,	१६४६
सोहिनी	,,	१६४६
अंतिम बेला	ओंकार शरद्	१६४४
आँचल का आसरा	,, (द्वि० सं०)	१६४८
मूक प्रश्न	कुमारी कंचनलता सब्बरवाल	१६४४
संकल्प	,,	१६४६
त्रिवेणी	,,	१६५०
भटकती आत्मा	,,	१६५१
अनचाहा	,,	१६६०
युगुल कुसुम	कमलदेव नारायण शर्मा	१६२३
नील और चट्टा	करतारसिंह दुग्गल	१६५३
सत्यानन्द	कल्याणसिंह शेखावत	१६२४
शुक्ल और सोफिया	,,	१६२६
प्रेमनिकुञ्ज	कार्तिकेयचरण	१६३६
काले निशान	कुशवाहा कांत	—
पागल	,,	१६४४
आहुति	,,	१६४६
निर्मोही	,,	१६४६
भँवरा	,,	१६४६
बसेरा	,,	१६४६
नागिन	,,	१६४७
पपिहरा	,,	१६४८
प्रेम की पीड़ा	गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश'	१६२५
पाप की पहेली	,,	१६२६
बाबू साहब	,,	१६३०
बहता पानी	,,	१६३४
बहता पानी	,,	१६३५
नादिरा	,,	१६४०
नादिरा	,,	१६४०
लम्बोदर त्रिपाठी	,,	१६४३
लम्बोदर त्रिपाठी	,,	

अफिसर	गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश'	१६४५
बुद्धू	,,	१६५०
उमड़ी घटा	गुरुदत्त	१६४५
भावुकता का मूल्य	,,	१६५०
प्रवंचना	,,	१६५३
पत्रलता	,,	१६५७
धरती और धन	,,	१६५७
दासता के नये रूप	,,	१६५७
मानव	,,	१६५८
एक और अनेक	,,	१६५८
विडम्बना	,,	१६५८
गुंठन	,,	१६५८
बहती रेता	,,	१६५६
पुष्यमित्र	,,	१६५६
विलोम गति	,,	१६५६
वाममार्ग	,,	१६५६
स्खलन	,,	१६५६
दिग्विजय	,,	१६५६
जनप्रवाह	,,	१६५६
स्नेह का मूल्य	,,	१६६०
पाणिग्रहण	,,	१६६०
आवरण	,,	१६६०
जीवन ज्वार	,,	१६६०
न्यायाधिकरण	,,	१६६०
पंकज	,,	१६६०
द्रष्टा	,,	१६६१
विश्वास	,,	१६६१
काँटा	गुलाबरत्न वाजपेयी	१६३६
मृत्युञ्जय	,,	१६४०
हलाहल	,,	१६४१
सत्याग्रही	,,	१६४६
समाजविप्लव	,,	१६४७
प्रतिमा	गोविन्दवल्लभ पंत	१६३४
मदारी	,,	१६३५

झूनिया	गोविन्दवल्लभ पन्त	१६३८
एकसूत्र	,,	१६४६
अमिताभ	,,	१६४६
अनुरागिनी	,,	१६४७
नूरजहाँ	,,	१६४६
मुक्ति के बन्धन	,,	१६५०
चक्रकांत	,,	१६५१
यामिनी	,,	१६५३
पर्णा	,,	१६५५
जल समाधि	,,	१६५५
मैत्रेय	,,	१६५६
तारों के सपने	,,	१६६०
फारगेट मी नॉट	,,	१६६०
प्रोत्साहन	छविनाथ पाण्डेय	१६२१
अनोखा आदमी	,,	१६५०
अधकार	,,	१६५१
खरा सोना	जगदीश झा 'विमल'	१६२१
जीवन ज्योति	,,	१६२२
आशा पर पानी	,,	१६२५
केशर	,,	१६२६
सरिता	,,	१६३७
गरीब की मार	,,	१६३८
गरीब	,,	१६४१
लीलावती	,,	१६४२
सती वेश्या	जगमोहननाथ अवस्थी	१६४७
चित्रा	जानकीप्रसाद पुरोहित	१६४३
अवनिका	,,	१६४४
मनोरंजन	जालिम सिंह	१६१४
रामप्रताप	,,	१६१६
ब्रह्म दर्पण	,,	१६१७
अमृत कन्या	झब्बूलाल मुल्तानियाँ	१६५१
मरघट	,,	१६५२
कर्त्तव्याघात	देवनारायण द्विवेदी	१६२३

	देवनारायण द्विवेदी	१९३५
पश्चाताप	,,	१९३७
रूठी रानी	मुं० देवी प्रसाद	१९०६
रथ के पहिये	देवेन्द्र सत्यार्थी	१९५३
ब्रह्मपुत्र	,,	१९५६
दूधगाछ	,,	१९५८
कथा कहो उर्वशी	,,	१९६१
सुशील एक असफल आदमी	द्वारकाप्रसाद एम० ए०	१९३७
घेरे के बाहर	,,	१९४७
गुनाह बेलज्जत	,,	१९५३
तैमूर	प्रो० धर्मेन्द्र	१९५१
प्रेम का मूल्य	परिपूर्णानन्द वर्मा	१९२७
मेरी आह	,,	१९३२
चलचित्र	रमाप्रसाद पहाड़ी	१९४१
समय	,,	१९४४
निर्देशक	,,	१९२७
चन्द हसीनों के खतूत	बेचन शर्मा उग्र	१९२७
दिल्ली का दलाल	,,	१९२७
बुधुआ की बेटी	,,	१९२८
घटा	,,	१९३७
सरकार तुम्हारी आँखों में	,,	१९३७
जीजी जी	,,	१९५५
कला का पुरस्कार	,,	१९५५
फागुन के दिन चार	,,	१९५५
लोहे के पंख	हिमांशु श्री वास्तव	१९५८
नदी फिर बह चली	,,	१९६१
सिकंदर	,,	१९६३
कथा सूर्य की नई यात्रा	,,	१९६४
धर्म चेता	,,	१९६४
इरावती	अमरलनदास	१९४७
हार या जीत	ब्रजेश्वर वर्मा	१९४८
मनोरमा	चण्डीप्रसाद हृदयेश	१९२४
मंगल प्रभात	,,	१९२६

भाई-बहन	मोहनलाल महतो	१६४०
पथ-विपथ	,,	१६४६
फरार	,,	(द्वि० सं०) १६५१
विसर्जन	,,	(तृ० सं०) १६५१
शैतान की देन	,,	१६५१
उर्दू बेगम	भगवान प्रसाद (एम० बी० ए०)	१६०५
घरौंदे	रांगेयराघव	१६४१
विषाद मठ	,,	१६४६
मुर्दों का टीला	,,	१६४८
चीवर	,,	१६५१
हुजूर	,,	१६५२
काका	,,	१६५३
अँधेरे की भूख	,,	१६५५
बोलते खण्डहर	,,	१६५५
सीधा-सादा रास्ता	,,	१६५५
रत्ना की बात	,,	१६५६
यशोधरा जीत गयी	,,	१६५६
लोई का ताना	,,	१६५६
ललमा की आँखें	,,	१६५७
बौने और घायल फूल	,,	१६५७
जब आवेगी कालघटा	,,	१६५८
बन्दूक और बीण	,,	१६५८
कबतक पुकारूँ	,,	१६५८
पक्षी और आकाश	,,	१६५८
राह न रुकी	,,	१६५८
राई और पर्वत	,,	१६५८
पाँच गधे	,,	१६६०
कल्पना	,,	१६६१
करमू और जगनी	हर्षनाथ	१६५४
पत्थर और दूब	,,	१६५५
राजा रिपुमर्दन	,,	१६५६
टूटते बंधन	,,	१६५६
धरती, धूप और बादल	,,	१६५७

प्रणय	देवनारायण द्विवेदी	१६३५
पश्चाताप	"	१६३७
रूठी रानी	मुं० देवी प्रसाद	१६०६
रथ के पहिये	देवेन्द्र सत्यार्थी	१६५३
ब्रह्मपुत्र	"	१६५६
दूधगाछ	"	१६५८
कथा कहो उर्वशी	"	१६६१
सुशील एक असफल आदमी	द्वारकाप्रसाद एम० ए०	१६३७
घेरे के बाहर	"	१६४७
ह बेलजम्रत	"	१६५३
:	प्रो० धर्मेन्द्र	१६५१
का मूल्य	परिपूर्णानन्द वर्मा	१६३७
आह	"	१६३१
चिन	रमाप्रसाद पहाड़ी	१६४१
य	"	१६४४
राक	"	१६२७
: हसीनों के खतूत	बेचन शर्मा उग्र	१६२७
तों का दलाल	"	१६२७
मा की बेटी	"	१६२८
[illegible]	"	१६३७
कार तुम्हारी आंखों में	"	१६३७
जी जी	"	१६५५
ा का पुरस्कार	"	१६५५
ुन के दिन चार	"	१६५५
ई के दांत	हिमांशु श्रीवास्तव	१६५८
ी फिर वह चली	"	१६६१
ंदर	"	१६६६
रा सूर्य की नई यात्रा	"	१६६४
ं चेता	"	१६६४
नजी	ब्रजरत्नदास	१६४७
र का जीत	ब्रजेश्वर वर्मा	१६४८
ीरमा	चण्डीप्रसाद हृदयेश	१६२४
न प्रभात	"	१६२६

भाई-बहन	मोहनलाल महतो	१९४०
पथ-विपथ	,,	१९४९
फरार	,,	(द्वि० सं०) १९५१
विसर्जन	,,	(तृ० सं०) १९५१
शैतान की देन	,,	१९५१
उर्दू बेगम	भगवान प्रसाद (एक बी० ए०)	१९०५
घरौंदे	रांगेयराघव	१९४१
विषाद मठ	,,	१९४६
मुर्दों का टीला	,,	१९४८
चीवर	,,	१९५१
हुजूर	,,	१९५२
काका	,,	१९५३
अँधेरे की भूख	,,	१९५५
बोलते खण्डहर	,,	१९५५
सीधा-सादा रास्ता	,,	१९५५
रत्ना की बात	,,	१९५६
यशोधरा जीत गयी	,,	१९५६
लोई का ताना	,,	१९५६
लखमा की आँखें	,,	१९५७
बौने और घायल फूल	,,	१९५७
जब आवेगी कालघटा	,,	१९५८
बन्दूक और बीण	,,	१९५८
कबतक पुकारूँ	,,	१९५८
पक्षी और आकाश	,,	१९५८
राह न रुकी	,,	१९५८
राई और पर्वत	,,	१९५८
पाँच गधे	,,	१९६०
कल्पना	,,	१९६१
करमू और जगनी	हर्षनाथ	१९५४
पत्थर और दूब	,,	१९५५
राजा रिपुमर्दन	,,	१९५६
टूटते बंधन	,,	१९५६
धरती, धूप और बादल	,,	१९५७

धूल	हर्षनाथ	१९५७
[illegible]क के आँसू	,,	१९५६
रेखायें और रेखायें	,,	१९६०
महायात्रा	,,	१९६०
मेरी भव बाधा हरो	,,	१९६०
गवर्नेस	,,	१९६०
कमला	रामचन्द्र तिवारी	१९४३
सागर, सरिता और अकाल	,,	१९४६
सोना और नर्स	,,	१९४७
देहाती दुनिया	शिवपूजन सहाय	१९२६
उदयन	शुकदेवबिहारी मिश्र	१९५१
धुआँ और लपेट	श्रीचन्द्र अग्निहोत्री	१९५३
माटी खायँ जनावरा	सर्वदानन्द वर्मा	१९६०
प्रश्न	,,	१९३८
नरमेघ	,,	१९४१
निकट की दूरी	,,	१९४१
अनागत	,,	१९५१
डूबते मस्तूल	नरेश मेहता	१९५४
धूमकेतु : एक श्रुति	,,	१९६२
यह पथ बन्धु था	,,	१९६२
दो एकान्त	,,	१९६४
सोने की ढाल	राहुल सांकृत्यायन	१९३७
विस्मृति के गर्भ में	,,	१९३७
जादू का मुल्क	,,	१९३८
जीने के लिए	,,	१९४०
सिंह सेनापति	,,	१९४२
जययौधेय	,,	१९४४
शैतान की आँख	,,	१९४५
किन्नरों के देश में	,,	१९४८
मधुर स्वप्न	,,	१९५०
राजस्थानीय रनिवास	,,	१९५३
रूपान्तर	राधाकृष्ण	१९५२
बया का घोसला और साँप	लक्ष्मीनारायण लाल	१९५३
रूपा-जीवा	,,	१९५६

राजपूतों की बहादुरी	हरिदास माणिक	१६२०
प्रायश्चित	हरिमोहन लाल श्रीवास्तव	१९५२
पर्दे के पीछे	किशोर साहू	१६६०
भग्न मन्दिर	मनन्तगोपाल शेवडे	१६६०
ऊपर नीचे	सम्पतलाल पुरोहित	१६६०
मकड़ी का जाला	कन्हैयालाल ओझा	१६६०
नवेली	हितवल्लभ गौतम	१६६१
दो राहे	लीला अवस्थी	१६५८
बिखरे काँटे	,,	१६६०
दुरभि सन्धि	राधेश्याम विगत	१६५८
साका	जगदीशकुमार निर्मल	१६५६
विदिशा की देवी	,,	१६६१
सतह के नीचे	कोमलसिंह सोलंकी	१६५६
सुनंदा	क्षीर सागर	१६५७
बरगद की छाँह	,,	१६६५
कल्पना के आँसू	श्रीरामशर्मा 'राम'	१६५८
उभरते खण्डहर	,,	१६५६
काँटे	,,	१६५६
आदरणीय	भारिग पूडि	१९५८
धन्यभिक्षु	,,	१६५८
अपने पराये	,,	१६५८
सोने का मृग	श्रीकृष्णचन्द्र शर्मा भिक्खु	१६६०
सोमदेवता की घाटी में	,,	१६६०
नेपाल की बेटी	बलभद्र ठाकुर	१६५८
जलता जीवन बहता आँसू	रघुवीरप्रसाद 'चक्र'	१६५८
आँधी या दीया	महेशकुमार शर्मा	१६५८
थानेदार	अमरनाथ मल्होत्रा	१६५८
कुब्जा सुन्दरी	ठाकुरप्रसाद सिंह	१६६३
आँधी के बाद	डॉ० लक्ष्मीनारायण टण्डन	१६६१
पुराने रास्ते : नये मोड़	'प्रेमी'	१६६२
भाग्य का विधान	,,	१६६२
प्रेम की अन्तिम मोड	,,	१६६३
तुमने मुझे पुकारा तो नहीं	सुरेश सिन्हा	१६६१
एक और अजनबी	,,	१६६३

.१ शाह	वाल्मीकि त्रिपाठी	१९५९
वकलाङ्ग	,,	१९६०
प्रजाप्रिय प्रजेश	,,	१९६१
सत्ता और संघर्ष	,,	१९६३
नाना फडनवीस	उमाशंकर	१९५६
भुवन विजयम्	,,	१९६१
नीर भर आए बदरा	,,	१९६२
जब भारत जागा	,,	१९६४
राजकलश	अमरबहादुर सिंह 'अमरेश'	१९६०
राना वेनीमाधव	,,	१९६१
हिना के हाथ	,,	१९६०
प्रवीन राय	,,	१९६०
इन्दिरा	आचार्य जगदीशचन्द्र मिश्र	१९२१
और वह हार गई	,,	१९६०
हाथी के दाँत	,,	१९६२
सीमा के पार	,,	१९६२
दुर्बल के पाँव	,,	१९६२
संस्कार	रघुनाथ सिंह	१९६२
कालिदास	सन्तोष व्यास	१९६०
द्विधा	युगल	१९६१
पानी की प्राचीरें	रामदरश मिश्र	१९६१
प्रेमिकाएँ	विश्वम्भर 'मानव'	१९६०
उजडे घर	,,	१९६१
नदी	,,	१९६२
कावेरी	,,	१९६३
कालीघटा	आदिल रशीद	१९६४
बलिदान	आचार्य ब्रजनाथ राय	१९५६
व्यवधान	शांतिकुमारी वाजपेयी	१९६३
सामन्त बोज गुजगुप्त	वनकाम सुनील	१९५६

नामानुक्रमणिका

ग्रन्थानुक्रमणिका

सहायक हिन्दी ग्रन्थ-सूची

ग्रन्थ	लेखक	संस्करण
हिन्दी-साहित्य का इतिहास	—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल,	संशोधित और परिवर्द्धित संस्करण, सं० २००३, काशी नागरी प्रचारिणी सभा।
हिन्दी साहित्य	—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी	अत्तरचन्द्र कपूर एण्ड संस, देहली १६५२।
विचार और वितर्क	— ,, ,,	द्वितीय संस्करण।
आलोचना इतिहास और सिद्धान्त	—एस० पी० खत्री	प्र० संस्करण, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।
आधुनिक-साहित्य	—पं० नन्ददुलारे वाजपेयी,	प्रथम संस्करण, भारती-भंडार, लीडर प्रेस, प्रयाग।
बीसवीं शताब्दी	— ,,	प्र० सं०
हिन्दी-काव्य में प्रगतिवाद	—प्रो० विजयशंकर मल्ल	संशोधित संस्करण, सरस्वती मंदिर, जतनबर, बनारस।
आधुनिक हिन्दी-साहित्य का विकास	—डा० श्रीकृष्ण लाल	द्वितीय संस्करण, हिन्दी परिषद, प्रयाग।
हिन्दी कहानियाँ : भूमिका :	— ,, ,,	सातवाँ संस्करण।
रवीन्द्र-साहित्य भाग २४	—	
साहित्य के पथ पर	—अनु० हंसकुमार तिवारी	कलकत्ता।
नई समीक्षा	—अमृतराय	प्रथम संस्करण।
आदर्श और यथार्थ	—पुरुषोत्तम लाल	द्वितीय संस्करण।
काव्य और कला तथा अन्य निबंध	—जयशंकर प्रसाद	तृतीय संस्करण, सं० २००५, भारती भंडार, लीडर प्रेस, प्रयाग।

ENGLISH BOOKS

History of English Literature	—*Legouis & Cazamian.*
" " " "	—*Campton Rickett.*
Study in European Realism	—*George Lukacs.*
Literature & Reality	—*H. Fast.*
The Novel & People	—*Rolf Fox.*
Illusion & Reality	—*Christopher Caudwel*
Soviet Literature & World Culture	—*Tomara May leva.*
Problem of Art & Literature	—*Mao Tse-Tung.*
Talkes At the Yenon Forum on Art & Literature	—*Mao Tse Tung.*
Marxism & Poetry	—*George Thomson.*
Aspects of Novel	—*E. M. Forster.*
Development of Eng. Novel	—*Cross.*
The Progress of Romance	—*Clara Reeve.*
A Guide to Modern Thought	—*C. E. M. Joad.*
New Realisun	—*Stephen Spender.*
Surrealism	—*Herbert Read.*
A Treatise on Novel	—*Robert Liddle.*
Creative Technique in Fiction	—*Francis Vivian.*
An Introduction to Study of Literature	—*H. Hudson.*
Dictionery of World Literature	—*Joseph T. Shipley. & others.*
The Modern Writer & His World	—*G. S. Fraser.*
Literature & Western Man	—*J. B. Pristley.*
Six Existentialist Thinkers	—*Blackham.*
An Introduction to Eng. Novel	—*(Two Vols.) Arnold Kettle.*

ग्रन्थ	लेखक	संस्करण
हिन्दी गद्य के युग निर्माता	—डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा	प्रथम संस्करण
गद्य काव्य-तरंगिणी	—सं० ,,	तृतीय संस्करण
कहानी का रचना-विधान	— ,,	प्रथम संस्करण
हिन्दी-उपन्यास	—शिवनारायण श्रीवास्तव	तृतीय संस्करण
हिन्दी साहित्य कोष		—प्रथम संस्करण ज्ञानमण्डल
साहित्य सिद्धान्त	—डा० रामअवध द्विवेदी	—प्र० सं० राष्ट्रभाषा प्रकाशन
हिन्दी अंग्रेजी शब्द कोश	—डॉ० हरदेव बाहरी	—प्र० स० ज्ञानमण्डल वाराणसी
आधुनिक कथा-साहित्य	—श्री गंगा प्रसाद पांडेय	प्रथम संस्करण
प्रेत और छाया : भूमिका	—इलाचन्द्र जोशी	प्रथम संस्करण
वैशाली की नगर वधू: भूमिका:	—आचार्य चतुरसेन शास्त्री	प्रथम संस्करण
मुर्दों का टीला : भूमिका ।	—रांगेयराघव	प्रथम संस्करण
प्रेमचन्द और उनका युग	—रामविलास शर्मा	प्रथम संस्करण
कुछ विचार	—प्रेमचन्द	प्रथम संस्करण

पत्र-पत्रिकाएँ

पत्रिका	प्रकाशन
आलोचना—१९५२, उपन्यास अंक ।	—राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, बम्बई ।
कल्पना—अक्टूबर १९५२ ।	—हैदराबाद ।
सरस्वती—जुलाई १९४२ ।	—इंडियन प्रेस, इलाहाबाद ।
साहित्य-सन्देश	—आगरा ।

rench Literature	—*Cazamian.*
rench Novel	—*George Saintsburry.*
Criticisun A Short Hist.	—*Welliam K. Wimsalt & Cleanth Brooks.*
Russian Literature	—*D. S. Mirsky.*
l Approach to Literature	—*David Diaches.*
aedia Britannica	—*Novel Portion.*
paedia Americana	—*Regional Novel Portion*
paedia of Religion & Ethics	—
Encyclopaedia of rature	—
Existentialism	—*J. Von Rintelen.*
l & the Nightingale from kespeare to Existantialism	—*W. Kaufmann.*
entialist Thinkers	—*H J. Blackham.*
alism from Dostoevsky rtre	—*W. Kaufmann.*
alism & Humanisun	—*Sartre.*
ed Mind	—*Erich Hiller.*